अज्ञेय
रचना संचयन
(मैं वह धनु हूँ...)
सम्पादक
डॉ. कन्हैयालाल नन्दन

अज्ञेय रचना संचयन
(मैं वह धनु हूँ...)

अज्ञेय रचना संचयन

(मैं वह धनु हूँ...)

संकलन एवं सम्पादन :

डॉ. कन्हैयालाल नन्दन

भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 978-81-263-1997-8

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐंड प्रिंटर्स, दिल्ली-32

आवरण : राधेश्याम अग्रवाल

AJNEYA RACHANA SANCHAYAN
(Main Voh Dhanu Hoon...)
Compiled and edited by Kanhaiya Lal Nandan

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

प्रस्तावना

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' हिन्दी रचना-संसार का विलक्षण प्रतिभावाला नाम। हिन्दी कविता में युग-परिवर्तन कर सकने का जोखिम उन्होंने उठाया लेकिन परम्परा का पल्ला नहीं छोड़ा। दद्दा मैथिलीशरण गुप्त को इसीलिए वे कभी नहीं भूलते, क्योंकि 'अज्ञेय' जी को परती ज़मीनें तोड़ने में गहरी रुचि थी और दद्दा ने अपनी रचनाशीलता द्वारा हिन्दी कविता में वही काम किया था।

हिन्दी रचनाशीलता की कोई ऐसी विधा नहीं है जिसमें अज्ञेय ने अपना अवदान न दिया हो। उन्होंने न केवल कविता के क्षेत्र में नयी ज़मीन तोड़ी और 'नयी कविता' का मंच तैयार किया बल्कि कहानियाँ लिखीं, उपन्यास लिखे जिन में 'शेखर : एक जीवनी' सबसे अधिक चर्चित हुआ। उन्होंने निबन्ध लिखे— ललित भी और दार्शनिक भी। डायरी, यात्रावृत्त, आलोचना, नाटक से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। जो नहीं लिखा वह अन्त:वार्ताओं और इंटरव्यू में बोला। विरोधियों की परवाह किये बिना नयी रचनाशीलता के आन्दोलन खड़े किये। ऐसी विलक्षण प्रतिभा हिन्दी संसार में दूर तक दिखायी नहीं देती।

उनके सोलह कविता-संग्रह, आठ कहानी संग्रह, पाँच उपन्यास, अनेकानेक निबन्ध, एक सम्पूर्ण गीतिनाट्य, यात्रावृत्त तथा लेखकीय वैविध्य की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। हिन्दी में सप्तक परम्परा की शुरूआत उन्होंने की जो अपने समय में सर्वाधिक चर्चित रही। अनुवाद का बहुत सारा काम किया। अनेक पुस्तकों का सम्पादन किया जिनमें 'रूपाम्बरा' जैसी संचयन कृति सम्मिलित है। 'दिनमान', 'नवभारत टाइम्स', 'एवरी मैंस वीकली' के अतिरिक्त 'प्रतीक' और 'नया प्रतीक' जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। देश का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान ज्ञानपीठ पुरस्कार उन्हें मिल चुका है जिसकी सम्मान राशि में अपनी ओर से धन मिला कर 'वत्सल निधि' की स्थापना की। साहित्य अकादेमी, भारत-भारती, अन्तर्राष्ट्रीय गोल्डन रीथ आदि अनेक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित। अमेरिका, यूरोप, एशिया के अनेक देशों में अध्यापन, व्याख्यान एवं काव्य पाठ। 'अज्ञेय' के कृतित्व एवं साहित्यिक अवदान को याद करने के लिए पन्ने भर जाएँगे फिर भी उसकी पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती।

अज्ञेय के साहित्य की विपुलता स्तब्ध करती है और उसके द्वारा गहरे पानी पैठने को प्रेरित करती है। उनकी किताबें बाज़ार में हैं लेकिन सारे कृतित्व की मुकम्मल तस्वीर तभी बनती है जब सब पर दृष्टि डाली जाये। प्रसन्नता की बात है कि उनकी रचनावली भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित की जा रही है।

तब फिर इस संचयन की ज़रूरत क्या थी? ज़रूरत थी और अत्यधिक थी। क्योंकि समूची रचनावली हर किसी के वश में नहीं होगी कि वह ख़रीद सके और अगर अलग-अलग संग्रह या पुस्तकें प्राप्त की जाएँ तो समग्रता में 'अज्ञेय' जी को नहीं देखा जा सकता। दूसरे, जो पिपासु पाठक वर्ग है, छात्र वर्ग, उसके लिए अलग-अलग रचनाएँ इकट्ठा कर 'अज्ञेय' की समग्रता को समझना असम्भव है। इसलिए मेरी यह मंशा हुई कि 'अज्ञेय' को समग्रता में समझने के लिए एक ऐसा संचयन तैयार किया जाये जिसमें 'अज्ञेय' जी के रचना-संसार को बानगी के रूप में ही सही, देखा जा सके। इस बात को ध्यान में रखकर यह संचयन तैयार किया गया।

यह संचयन न तो 'अज्ञेय' जी की रचनाशीलता का क्रम निर्धारण करने के लिए है और न इस दृष्टि से इसे देखा जाना चाहिए। सिर्फ़ 'अज्ञेय' अपने रचना-वैविध्य के साथ उपस्थित हैं, यही इस संचयन का लक्ष्य है। प्रारम्भ 'कविता' से किया गया है क्योंकि कविता की दुनिया में 'अज्ञेय' ने सबसे ज़्यादा प्रयोग किये और उसके अनुयायी बनाये।

उन्हें समझने में चूकें हुई हैं। उन पर लांछन लगते रहे कि वे अमरीकी सरकार के पिट्ठू हैं, उन्हें वहाँ से धन मिलता है। किन्तु मेरे जैसे अनेक अज्ञेय-प्रेमी यह जानते हैं कि 'अज्ञेय' में स्वाभिमान किस सीमा तक उदग्र था। जो व्यक्ति अपने देश की आज़ादी के संघर्ष में बम बना सकता है, जेल जा सकता है, वह अपने साहित्यिक अवदान के लिए परमुखापेक्षी होगा, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने अपनी कृति 'अज्ञेय: कवि कर्म का संकट' में लिखा है : "कैसा दुर्भाग्य है कि हिन्दी आलोचना अज्ञेय को विदेश का नकलची ही सिद्ध करती रही। अथवा व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद का समर्थक कहकर नीचट कलावादी सिद्ध करती रही। उन्हें परम्परा भारतीयता, भारतीय आधुनिकता, नवीन प्रयोगधर्मिता, शब्द का सच्चा पारखी, सम्पूर्ण अर्थ में सांस्कृतिक अस्मिता और जातीय स्मृति से जोड़कर समझने में असमर्थ रही है।"

अज्ञेय शब्द से परे जाकर घोषित करते हैं: "शब्द में मेरी समायी नहीं होगी, मैं सन्नाटे का छन्द हूँ।"

अज्ञेय अपने जीवन भर किसी विचारधारा की गुलामी स्वीकार करने को तैयार नहीं रहे, बल्कि यह स्वीकार किया कि "मैं वह धनु हूँ... जिसे साधने में प्रत्यंचा

टूट गयी है।''

इस टूटी प्रत्यंचा वाले धनु ने अपने स्वाभिमान को झुकने नहीं दिया, रचना में शब्दों के भीतर का सच पहचाना और उसे मुखर किया। यह मुखरता भारतीयता की मुखरता है जिसमें मनुष्य तो है ही, उसके लीलानामक, पर्व-तीर्थ-नदियाँ सभी उपस्थित हैं। यही नहीं 'अज्ञेय' की रचनाओं में पशु-पक्षी जगत भी बहुत है। पूरी प्रकृति से तदाकार हैं 'अज्ञेय', जिसे आज काटा-उजाड़ा जा रहा है। 'अज्ञेय' उस दर्द को शब्दों की चीख़ बना देते हैं।

जीव जगत में अज्ञेय ने 'साँप' पर अनेक कविताएँ लिखी हैं। लगता है कि अपने ऊपर लगे लांछनों को कवि ने उसी प्रतीक से देखने की कोशिश की है। एक कविता तो बहुत ही ज़्यादा प्रसिद्ध हुई है:

''साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं,
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया
एक प्रश्न पूछूँ? उत्तर दोगे?
तब फिर कैसे सीखा डसना
यह विष कहाँ पाया?''

अनेक लोग अच्छी तरह जानते हैं कि 'अज्ञेय' को किसने कितना और कहाँ-कहाँ डसा, लेकिन 'अज्ञेय' बहुत गहरे मनुष्य थे, कभी किसी का नाम नहीं लिया।

मुझे प्रसन्नता है कि मैं ऐसे गहरे, अन्तर्वर्ती प्रवृत्ति वाले रचनाकार के सम्पर्क में रहा। याद करूँ तो मेरी उनसे पहली मुलाकात इलाहाबाद में, जब वे नये-नये बने एक्सप्रेस अपार्टमेंट्स में रहते थे, तब उनके बरामदे में हुई थी जहाँ मैं भारती जी के सम्पादन में निकलने वाले अर्द्धवार्षिक संकलन 'निकष' की सामग्री लेने जाता था। वात्स्यायन जी अपने छोटे या बड़े सभी को यथोचित आदर देते थे, लेकिन अपने स्वाभिमान और लेखकीय गरिमा को कभी झुकने नहीं देते थे। एक प्रसंग याद आ रहा है। इस देश में तब प्रतापचन्द्र 'चन्दर' नामक लेखक शिक्षामन्त्री था और कानपुर विश्वविद्यालय के पदाधिकारी के नाते वहाँ के वरिष्ठ रचनाकार श्री गिरिराज किशोर को अनैतिक ढंग से सताया जा रहा था। वात्स्यायन जी को यह बात नागवार गुज़र रही थी और गिरिराज जी के अनेक मित्र इस से दुखी थे। गिरिराज की इच्छा थी कि यह बात शिक्षामन्त्री तक पहुँचायी जाए और हो सके तो वात्स्यायन जी जैसा बड़ा लेखक उनसे इस चूक की ओर इंगित करे। अन्ततः मैंने वात्स्यायन जी से प्रार्थना की और वे इस बात को सहर्ष मान गये।

हम लोग वात्स्यायन जी की अगुआई में 'शास्त्री भवन' गये और उनके सामने सारा केस रखा।

प्रतापचन्द्र 'चन्दर' इससे बिलकुल न पसीजे और बात खंडित हो गयी। वात्स्यायन जी ''लौट आये समन्दर की मानिन्द हम, ले के अपने इशारों की तनहाइयाँ''। वात्स्यायन जी ने कहा कि मुझे अफसोस है, इस देश का शिक्षामन्त्री ऐसा गैर सरोकारी शिक्षामन्त्री है जो शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे एक अन्याय को दूर करने में अपने को अक्षम पाता है। वात्स्यायन जी का तमतमाया हुआ चेहरा देखने क़ाबिल था।

*

वात्स्यायन जी जब दिल्ली आकर मोती बाग़ में रहने लगे तो उनसे एक ऐसी दोपहर में, तमतमाती हुई दोपहर में, मुलाक़ात करने गया जब मैं मुम्बई (जो तब बम्बई था) रहने लगा था! वात्स्यायन जी मेरे जैसे युवा से उस दोपहर में मिलकर मुझे धन्य कर गये। संयोग से जब मैं भी दिल्ली आकर बस गया तो उनसे असंख्य मुलाक़ातों का क्रम चला। कभी इंडिया इंटरनेशनल सेंटर कभी कनाट प्लेस, कभी ग्रीन पार्क, कभी निज़ामुद्दीन और फिर अन्तिम दिनों में उनके निवास में जहाँ से उन्होंने हम सबसे अन्तिम विदा ली।

उनकी एक मुलाक़ात कभी भुलाये नहीं भूलेगी जब मेरे मन में यह पहचान करने की हठ ठन गयी कि देखें, वात्स्यायन जी भी कभी हमें याद करते हैं या नहीं। अबोला दो तीन हफ़्ते टला जब लखनऊ से भगवतीशरण सिंह आये और उनके जाते ही वात्स्यायन जी का फोन आया कि ''नन्दन जी, अवधी में 'फलाँ' शब्द को क्या कहते हैं।''

शब्द तो ख़ैर मैं क्या बताता उस शब्द-शिल्पी को लेकिन पश्चाताप से मेरे आँसू छलक पड़े। तत्काल मिलने का तय हुआ और मेरी सुविधा से इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में मिलना तय हुआ।

वे मनुष्य को बहुत गहराई से प्यार करते थे और उसका आदर करते थे। सम्पादकीय दायित्व इस सीमा तक निभाते थे कि किसी सम्पादक को रचना छपने के लिए देते हुए उसका नख-शिख दुरुस्त करके देते थे। नवभारत टाइम्स को रचनाएँ प्रकाशनार्थ प्राप्त करते समय के इसके अनेक उदाहरण मेरे पास हैं।

मैं अपनी बात को यहीं विराम देकर उनकी स्मृति को प्रणाम करता हूँ और सन् को उनकी जन्मशती के सन्दर्भ में यह संचयन हिन्दी जगत को अर्पित करता हूँ।

132, कैलाश हिल्स
नयी दिल्ली 110 065

कन्हैयालाल नन्दन

अनुक्रमणिका

कविताएँ

असाध्य वीणा

आ गये प्रियंवद! केशकम्बली! गुफा-गेह!
राजा ने आसन दिया। कहा :
'कृतकृत्य हुआ मैं तात! पधारे आप।
भरोसा है अब मुझ को
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी!'

लघु संकेत समझ राजा का
गण दौड़े। लाये असाध्य वीणा,
साधक के आगे रख उस को, हट गये।
सभी की उत्सुक आँखें
एक बार वीणा को लख, टिक गयीं
प्रियंवद के चेहरे पर।

'यह वीणा उत्तराखंड के गिरि-प्रान्तर से
—घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी—
बहुत समय पहले आयी थी।
पूरा तो इतिहास न जान सके हम :
किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस
अति प्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढ़ा था—

उस के कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
कन्धों पर बादल सोते थे,
उस की करि-शुंडों-सी डालें
हिम-वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उस के वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे।
और—सुना है—जड़ उस की जा पहुँची थी पाताल-लोक,
उस की ग्रन्थ-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था।
उसी किरीटी-तरु से वज्रकीर्ति ने
सारा जीवन इसे गढ़ा :
हठ-साधना यही थी उस साधक की—
वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवन-लीला।'

राजा रुके साँस लम्बी ले कर फिर बोले :
'मेरे हार गये सब जाने-माने कलावन्त,
सबकी विद्या हो गयी अकारथ, दर्प चूर,
कोई ज्ञानी गुणी आज तक इसे न साध सका।
अब यह असाध्य वीणा ही ख्यात हो गयी।
पर मेरा अब भी है विश्वास
कृच्छ्र-तप वज्रकीर्ति का व्यर्थ नहीं था।
वीणा बोलेगी अवश्य, पर तभी
इसे जब सच्चा-स्वरसिद्ध गोद में लेगा।
तात! प्रियंवद! लो, यह सम्मुख रही तुम्हारे
वज्रकीर्ति की वीणा,
यह मैं, यह रानी, भरी सभा यह :
सब उदग्र, पर्युत्सुक,

जन-मात्र प्रतीक्षमाण!'

केशकम्बली गुफा-गेह ने खोला कम्बल।
धरती पर चुप-चाप बिछाया।
वीणा उस पर रख, पलक मूँद कर, प्राण खींच
कर के प्रणाम,
अस्पर्श छुअन से छुए तार।
धीरे बोला : 'राजन्! पर मैं तो
कलावन्त हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ—
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी।
वज्रकीर्ति!
प्राचीन किरीटी-तरु!
अभिमन्त्रित वीणा!

ध्यान-मात्र इन का तो गद्गद् विह्वल कर देने वाला है!'

चुप हो गया प्रियंवद।
सभा भी मौन हो रही।

वाद्य उठा साधक ने गोद रख लिया।
धीरे-धीरे झुक उस पर, तारों पर मस्तक टेक दिया।
सभा चकित थी— अरे, प्रियंवद क्या सोता है?
केशकम्बली अथवा हो कर पराभूत
झुक गया वाद्य पर?
वीणा सचमुच क्या है असाध्य?

पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा—
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड़ में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी-तरु को।
कौन प्रियंवद है कि दम्भ कर
इस अभिमन्त्रित कारुवाद्य के सम्मुख आवे?
कौन बजावे
यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही?
भूल गया था केशकम्बली राज-सभा को :
कम्बल पर अभिमन्त्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
जिस में साक्षी के आगे था
जीवित वही किरीटी-तरु
जिस की जड़ वासुकि के फण पर थी आधारित,
जिस के कन्धों पर बादल सोते थे
और कान में जिस के हिमगिरि कहते थे अपने रहस्य।
सम्बोधित कर उस तरु को, करता था
नीरव एकालाप प्रियंवद।

'ओ विशाल तरु!
शत-सहस्त्र पल्लवन-पतझरों ने जिस का नित रूप सँवारा,
कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी,
दिन भौंरे कर गये गुंजरित,
रातों में झिल्ली ने
अनथक मंगल-गान सुनाये,
साँझ-सवेरे अनगिन

अनचीन्हे खग-कुल की मोद-भरी क्रीड़ा-काकलि
डाली-डाली को कँपा गयी—
ओ दीर्घकाय!
ओ पूरे झारखंड के अग्रज,
तात, सखा, गुरु, आश्रय,
त्राता महच्छाय,
ओ व्याकुल मुखरित वन-ध्वनियों के
वृन्दगान के मूर्त्त रूप,
मैं तुझे सुनूँ,
देखूँ, ध्याऊँ
अनिमेष, स्तब्ध, संयत, संयुत, निर्वाक् :
कहाँ साहस पाऊँ
छू सकूँ तुझे!
तेरी काया को छेद, बाँध कर रची गयी वीणा को
किस स्पर्धा से
हाथ करें आघात
छीनने को तारों से
एक चोट में वह संचित संगीत जिसे रचने में
स्वयं न जाने कितनों के स्पन्दित प्राण रच गये!

'नहीं, नहीं! वीणा यह मेरी गोद रखी है, रहे,
किन्तु मैं ही तो
तेरी गोदी बैठा मोद-भरा बालक हूँ,
ओ तरु तात! सँभाल मुझे,
मेरी हर किलक
पुलक में डूब जाय :

मैं सुनूँ,
गुनूँ, विस्मय से भर आँकूँ
तेरे अनुभव का एक-एक अन्त:स्वर
तेरे दोलन की लोरी पर झूमूँ मैं तन्मय—
गा तू :
तेरी लय पर मेरी साँसें
भरें, पुरें, रीतें, विश्रान्ति पाएँ।

'गा तू!
यह वीणा रक्खी है : तेरा अंग-अपंग!
किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्म-भरित,
रस-विद्
तू गा :
मेरे अँधियारे अन्तस् में आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का—
तू गा, तू गा, तू गा, तू गा!

'हाँ, मुझे स्मरण है :
बदली—कौंध—पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पट-पट।
घनी रात में महुए का चुप-चाप टपकना।
चौंके खग-शावक की चिहुँक।
शिलाओं को दुलराते वन-झरने के
द्रुत लहरीले जल का कल-निनाद।
कुहरे में छन कर आती
पर्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप।

गड़रियों की अनमनी बाँसुरी।
कठफोड़े का ठेका। फुलसुँघनी की आतुर फुरकन :
ओस-बूँद की ढरकन—इतनी कोमल, तरल
कि झरते-झरते मानो
हरसिंगार का फूल बन गयी।
भरे शरद् के ताल, लहरियों की सरसर-ध्वनि।
कूँजों का क्रेंकार। काँद लम्बी टिट्टिभ की।
पंख-युक्त सायक-सी हंस-बलाका।
चीड़-वनों में गन्ध अन्ध उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट
जल-प्रपात का प्लुत एकस्वर।
झिल्ली-दादुर, कोकिल-चातक की झंकार पुकारों की यति में
संसृति की साँय साँय।

'हाँ, मुझे स्मरण है :
दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़
हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो यूथ।
घरघराहट चढ़ती बहिया की।
रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप।
झंझा की फुफकार, तप्त,
पेड़ों का अररा कर टूट-टूट कर गिरना।
ओले की कर्री चपत।
जमे पाले से तनी कटारी-सी सूखी घास की टूटन।
ऐंठी मिट्टी का स्निग्ध घाम में धीरे-धीरे रिसना।
हिम-तुषार के फाहे धरती के घावों को सहलाते चुप-चाप।
घाटियों में भरती
गिरती चट्टानों की गूँज—
काँपती मन्द्र गूँज—अनुगूँज—साँस खोयी-सी, धीरे-धीरे नीरव।

'मुझे स्मरण है :
हरी तलहटी में, छोटे पेड़ों की ओट ताल पर
बँधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तृप्त पुकारें
गर्जन, घुर्घुर, चीख, भूँक, हुक्का, चिचियाहट।
कमल-कुमुद-पत्रों पर चोर-पैर द्रुत धावित
जल-पंछी की चाप
थाप दादुर की चकित छलाँगों की।
पन्थी के घोड़े की टाप अधीर।
अचंचल धीर थाप भैंसों के भारी खुर की।

'मुझे स्मरण है :
उझक क्षितिज से
किरण भोर की पहली
जब तकती है ओस-बूँद को
उस क्षण की सहसा चौंकी-सी सिहरन।
और दुपहरी में जब
घास-फूल अनदेखे खिल जाते हैं
मौमाखियाँ असंख्य झूमती करती हैं गुंजार—
उस लम्बे विलमे क्षण का तन्द्रालस ठहराव।

और साँझ को
जब तारों की तरल कँपकँपी
स्पर्शहीन झरती है—
मानो नभ में तरल नयन ठिठकी
निःसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद—
उस सन्धि-निमिष की पुलकन लीयमान।

'मुझे स्मरण है :
और चित्र प्रत्येक
स्तब्ध, विजड़ित करता है मुझ को।
सुनता हूँ मैं
पर हर स्वर-कम्पन लेता है मुझ को मुझ से सोख—
वायु-सा नाद-भरा मैं उड़ जाता हूँ...।
मुझे स्मरण है—
पर मुझ को मैं भूल गया हूँ :
सुनता हूँ मैं—
पर मैं मुझ से परे, शब्द में लीयमान।

'मैं नहीं, नहीं! मैं कहीं नहीं!
ओ रे तरु! ओ वन!
ओ स्वर-सम्भार!
नाद-मय संसृति!
ओ रस-प्लावन!
मुझे क्षमा कर—भूल अकिंचनता को मेरी—
मुझे ओट दे—ढँक ले—छा ले—
ओ शरण्य!
मेरे गूँगेपन को तेरे सोये स्वर-सागर का ज्वार डुबा ले।
आ, मुझे भुला,
तू उतर वीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा—
अपने खग-कुल को मुखरित कर

अपनी छाया में पले मृगों की चौकड़ियों को ताल बाँध,
अपने छायातप, वृष्टि-पवन, पल्लव-कुसुमन की लय पर
अपने जीवन-संचय को कर छन्दयुक्त,
अपनी प्रज्ञा को वाणी दे!
तू गा, तू गा—
तू सन्निधि पा—तू खो
तू आ—तू हो—तू गा! तू गा!'

राजा जागे।
समाधिस्थ संगीतकार का हाथ उठा था—
काँपी थीं उँगलियाँ।
अलस अँगड़ाई ले कर मानो जाग उठी थी वीणा :
किलक उठे थे स्वर-शिशु।
नीरव पद रखता जालिक मायावी
सधे करों से धीरे धीरे धीरे
डाल रहा था जाल हेम-तारों का।

सहसा वीणा झनझना उठी—
संगीतकार की आँखों में ठंडी पिघली ज्वाला-सी झलक गयी-
रोमांच एक बिजली-सा सब के तन में दौड़ गया।
अवतरित हुआ संगीत
स्वयम्भू
जिस में सोता है अखंड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय।

डूब गये सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।

राजा ने अलग सुना :
जय देवी यश:काय
वरमाला लिये
गाती थी मंगल-गीत,
दुन्दुभी दूर कहीं बजती थी,
राज-मुकुट सहसा हलका हो आया था, मानो हो फूल सिरिस का
ईर्ष्या, महदाकांक्षा, द्वेष, चाटुता
सभी पुराने लुगड़े-से झर गये, निखर आया था जीवन-कांचन
धर्म-भाव से जिसे निछावर वह कर देगा।

रानी ने अलग सुना :
छँटती बदली में एक कौंध कह गयी—
तुम्हारे ये मणि-माणक, कंठहार, पट-वस्त्र,
मेखला-किंकिणि—
सब अन्धकार के कण हैं ये! आलोक एक है
प्यार अनन्य! उसी की
विद्युल्लता घेरती रहती है रस-भार मेघ को,
थिरक उसी की छाती पर उस में छिप कर सो जाती है
आश्वस्त, सहज विश्वास-भरी।
रानी
उस एक प्यार को साधेगी।

सब ने भी अलग-अलग संगीत सुना।

इस को
वह कृपा-वाक्य था प्रभुओं का।
उस को
आतंक-मुक्ति का आश्वासन!
इस को
वह भरी तिजोरी में सोने की खनक।
उसे
बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुदबुद।
किसी एक को नयी वधू की सहमी-सी पायल-ध्वनि।
किसी दूसरे को शिशु की किलकारी।
एक किसी को जाल-फँसी मछली की तड़पन—
एक अपर को चहक मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की।
एक तीसरे को मंडी की ठेलमठेल, गाहकों की आस्पर्धा भरी बोलियाँ,
चौथे को मन्दिर की ताल-युक्त घंटा-ध्वनि।
और पाँचवें को लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें
और छठे को लंगर पर कसमसा रही नौका पर लहरों की
अविराम थपक।
बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाप सातवें के लिए—
और आठवें को कुलिया की कटी मेंड़ से बहते जल की छुल-छुल।
इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की।
उसे युद्ध का ढोल।
इसे संझा-गोधूली की लघु टुन-टुन—
उसे प्रलय का डमरु-नाद।
इस को जीवन की पहली अँगड़ाई
पर उस को महाजृम्भ विकराल काल!
सब डूबे, तिरे, झिपे, जागे—

हो रहे वशंवद, स्तब्ध :
इयत्ता सब की अलग-अलग जागी,
संघीत हुई,
पा गयी विलय।

वीणा फिर मूक हो गयी।

साधु! साधु!!

राजा सिंहासन से उतरे—
रानी ने अर्पित की सतलड़ी माल,
जनता विह्वल कह उठी 'धन्य!
हे स्वरजित्! धन्य! धन्य!'

संगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक—मानो
गोदी में सोये शिशु को पालने डाल कर मुग्धा माँ
हट जाय, दीठ से दुलराती—
उठ खड़ा हुआ।
बढ़ते राजा का हाथ उठा करता आवर्जन,
बोला :
'श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,

न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।'

नमस्कार कर मुड़ा प्रियंवद केशकम्बली।
ले कर कम्बल गेह-गुफा को चला गया।
उठ गयी सभा। सब अपने-अपने काम लगे।
युग पलट गया।

प्रिय पाठक! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई।

उधार

सवेरे उठा तो धूप खिल कर छा गयी थी
और एक चिड़िया अभी-अभी गा गयी थी।
मैंने धूप से कहा : मुझे थोड़ी गरमाई दोगी उधार?
चिड़िया से कहा : थोड़ी मिठास उधार दोगी?
मैंने घास की पत्ती से पूछा : तनिक हरियाली दोगी-

तिनके की नोक-भर?
शंखपुष्पी से पूछा : उजास दोगी—
किरण की ओक-भर?
मैंने हवा से माँगा : थोड़ा खुलापन—बस एक प्रश्वास,
लहर से : एक रोम की सिहरन-भर उल्लास।
मैंने आकाश से माँगी
आँख की झपकी-भर असीमता—उधार।

सब से उधार माँगा, सब ने दिया।
यों मैं जिया और जीता हूँ
क्योंकि यही सब तो है जीवन—
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला,
गन्धवाही मुक्त खुलापन,
लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोध भव्य निर्व्यास निस्सीम का :
ये सब उधार पाये हुए द्रव्य।
रात के अकेले अन्धकार में
सपने से जागा जिस में
एक अनदेखे अरूप ने पुकार कर
मुझ से पूछा था : 'क्यों जी,
तुम्हारे इस जीवन के
इतने विविध अनुभव हैं
इतने तुम धनी हो,
तो मुझे थोड़ा प्यार दोगे उधार जिसे मैं
सौ-गुने सूद के साथ लौटाऊँगा—
और वह भी सौ-सौ बार गिन के—

जब-जब मैं आऊँगा?'

मैंने कहा : प्यार? उधार?
स्वर अचकचाया था, क्योंकि मेरे
अनुभव से परे था ऐसा व्यवहार।
उस अनदेखे अरूप ने कहा : 'हाँ,
क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं—
यह अकेलापन, यह अकुलाहट,
यह असमंजस, अचकचाहट,
आर्त अननुभव,
यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय
विरह-व्यथा,
यह अन्धकार में जाग कर सहसा पहचानना कि
जो मेरा है वही ममेतर है।
यह सब तुम्हारे पास है
तो थोड़ा मुझे दे दो—उधार— इस एक बार—
मुझे जो चरम आवश्यकता है।'
उसने यह कहा,
पर रात के घुप अँधेरे में
मैं सहमा हुआ चुप रहा; अभी तक मौन हूँ :
अनदेखे अरूप को
उधार देते मैं डरता हूँ :
क्या जाने
यह याचक कौन है!

रहस्यवाद

मैं भी एक प्रवाह में हूँ—
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है
मैं उस असीम शक्ति से सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ
अभिभूत होना चाहता हूँ—
जो मेरे भीतर है।
शक्ति असीम है—मैं शक्ति का एक अणु हूँ
मैं भी असीम हूँ।
एक असीम बूँद असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है,
उस असीम अणु, उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है।
उसकी रहस्यमयता का परदा खोलकर उसमें मिल जाना चाहता है—
यही मेरा रहस्यवाद है।

1937, सदानीरा, भाग-1

उड़ चल हारिल

उड़ चल हारिल, लिये हाथ में यही अकेला ओछा तिनका।
ऊषा जाग उठी प्राची में—कैसा वाट, भरोसा किन का।

शक्ति रहे तेरे हाथों में—छुट न जाए यह चाह सृजन की;
शक्ति रहे तेरे हाथों में—रुक न जाए यह गति जीवन की।

ऊपर-ऊपर, ऊपर-ऊपर—बढ़ा चीरता चल दिङ्मंडल :
अनथक पंखों की चोटों से नभ में एक मचा दे हलचल।

1938, सदानीरा, भाग-1

सावन-मेघ

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा, विशद, श्वासाहत, चिरातुर—
छा गया इन्द्र का नील वक्ष-वज्र-सा, यदि तड़ित से झूलता हुआ-सा।
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त : तुम कहाँ हो नारि?
मेघ व्याकुल गगन को मैं देखता था, बन विरह के लक्षणों की मूर्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ, शास्त्रसंगत प्रेम क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों में आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी।
जबकि सहसा तड़ित के आघात से घिरकर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक। बाह्य देखा :
स्नेह से आलिप्त, बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल,
बद्ध-वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री-सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी, औ' समर्पित।

1939, सदानीरा, भाग-1

ऋतुराज

शिशिर ने पहन लिया वसन्त का दुकूल
गन्ध वह उड़ रहा पराग धूल झूल,
काँटों का किरीट धारे बने देवदूत
पीत-वसन दमक उठे तिरस्कृत बबूल
अरे ऋतुराज आ गया।
पूछते हैं मेघ, 'क्या वसन्त आ गया?'
हँस रहा समीर, 'वह छली भुला गया!'
किन्तु मस्त कोपलें सलज्ज सोचतीं
'हमें कौन स्नेह स्पर्श कर जगा गया?'
वही ऋतुराज आ गया।

1941, सदानीरा, भाग-1

जन्म-दिवस

मैं मरूँगा सुखी
क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था—
(पिता कहलाते हो तो जीवन के तत्त्व पाँच
चाहे जैसे पुंज बद्ध हुए हों, श्रेय तो तुम्हीं को होगा—)
उससे मैं निर्विकल्प खेला हूँ—
खुले हाथ उसे मैंने वारा है—
धज्जियाँ उड़ाई हैं।
तुम बड़े दाता हो :

तुम्हारी देन मैंने नहीं सूम-सी सँजोयी;
पाँच ही थे तत्त्व मेरी गूदड़ी में—मैंने नहीं माना उन्हें लाल
चाहे यह जीवन का वरदान तुम नहीं देते बार-बार—
(अरे मानव की जोनि! परम संयोग है!)
किन्तु जब आये काल
लोलुप विवर-सा प्रलम्ब कर, खुली पाए प्राणों की मंजूषा
जावें पाँचों प्राण शून्य में बिखर
मैं भी दाता हूँ। विसर्ग महाप्राण है।
मैं मरूँगा सुखी।
किन्तु नहीं धो रहा मैं पाटियाँ आभार की।
उनके समक्ष
दिया जिन्होंने बहुत कुछ, किन्तु जो अपने को दाता नहीं मानते—
नहीं जानते :
अमुखर नारियाँ, धूलभरे शिशु, खग
ओस-नभे फूल, गन्ध मिट्टी पर पहले अषाढ़ के अयाने कार बिन्दु की,
कोटरों से झाँकती गिलहरी
स्तब्ध, लयबद्ध. भौंरा टँका अधर में,
चाँदनी से बसा हुआ कोहरा
पीली धूप शारदीया प्रात की
बाजरे के खेतों को फलाँगती डार हिरनों की बरसात में—
नत हूँ मैं सबके समक्ष, बार-बार मैं विनीत स्वर
ऋण : स्वीकारी हूँ—विनत हूँ।
मैं मरूँगा सुखी
मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ाई हैं।

1946, सदानीरा, भाग-1

देखती है दीठ

हँस रही है वधू-जीवन तृप्तिमय है
प्रिय-वदन अनुरक्त यह उसकी विजय है
गेह है, गति है, गीत है, लय है, प्रणय है
सभी कुछ है।
देखती है दीठ—
लता टूटी, कुरमुराता मूल में सूक्ष्म भय का कीट।

1945. सदानीरा, भाग–1

एक ऑटोग्राफ

अल्ला रे अल्ला
होता न मनुष्य मैं, होता करमकल्ला।
रूखे कर्म जीवन से उलझता न पल्ला।
चाहता न नाम कुछ, माँगता न दाम कुछ
करता न काम कुछ, बैठता निठल्ला—
अल्ला रे अल्ला

1946. सदानीरा, भाग–1

पराजय है याद

भोर वेला—नदी तट की घंटियों का नाद।
चोट खाकर जग उठा सोया हुआ अवसाद।
नहीं, मुझको नहीं, अपने दर्द का अभिमान।
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद।

1946, सदानीरा, भाग-1

दूर्वांचल

पार्श्व गिरि का नभ्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा—पुन: आऊँगा
(भले ही बरस-दिन—अनगिन युगों के बाद)
क्षितिज ने पलक-सी खोली
तमककर दामिनी बोली—
'अरे यायावर! रहेगा याद?'

1946, सदानीरा, भाग-1

शरणार्थी-6 समानान्तर साँप

केंचुलें हैं, केंचुलें हैं, झाड़ दो।
छल मकर की तनी झिल्ली फाड़ दो।
साँप के विष-दाँत तोड़ उघाड़ दो।
आजकल यह चलन है, सब जन्तुओं की खाल पहने हैं—
गले गीदड़ लोमड़ी की
बाघ की है खाल काँधों पर
दिल ढँका है भेड़ की गुलगुली चमड़ी से
हाथ में थैला मगर की खाल का
और पैरों में
जगमगाती साँप की केंचुल
बनी है श्रीचरण का सैंडल
किन्तु भीतर कहीं
भेड़-बकरी, बाघ-गीदड़, साँप के बहुरूप के अन्दर
कहीं पर रौंदा हुआ अब भी तड़पता है
सनातन मानव—
खरा इनसान—
क्षण भर रुको उसको जगा लें।
नहीं है यह धर्म, ये तो पैंतरे हैं उन दरिन्दों के
रूढ़ि के नाखून पर मरजाद की मखमल चढ़ाकर
यों विचारों पर झपट्टा मारते हैं—
बड़े स्वार्थी की कुटिल चालें
साथ आओ—
गिलगिले ये साँप बैरी हैं हमारे
इन्हें आज पछाड़ दो

यह मगर की तनी झिल्ली फाड़ दो
केंचुलें हैं, केंचुलें हैं, झाड़ दो।

1947, सदानीरा, भाग-1

सो रहा है झोंप

सो रहा है झोंप अँधियाला नदी की जाँघ पर :
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उझककर झाँक जाती है।
प्रस्फुलन के दो क्षणों का मोल शेफाली
विजन की धूल पर चुपचाप
अपने मुग्ध प्राणों से अजाने आँक जाती है।

1948, सदानीरा, भाग-1

हमारा देश

इन्हीं तृण फूस-छप्पर से
ढँके ढुलमुल गँवारू
झोंपड़ों में ही हमारा देश बसता है।
इन्हीं के ढोल-मादल बाँसुरी के

उमगते सुर में
हमारी साधना का रस बरसता है।
इन्हीं के मर्म को अनजान
शहरों की ढँकी लोलुप
विषैली वासना का साँप डँसता है।
इन्हीं में लहरती अल्हड़
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूत हँसता है।

1949, सदानीरा, भाग-1

नयी व्यजना

तुम जो कहना चाहोगे विगत युगों में कहा जा चुका :
सुख का आविष्कार तुम्हारा? बार-बार वह सहा जा चुका!
रहने दो, वह नहीं तुम्हारा, केवल अपना हो सकता जो
मानव के प्रत्येक अहं में सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका।
एक मौन ही है जो अब भी नयी कहानी कह सकता है;
इसी एक घट में नवयुग की गंगा का जल रह सकता है;
संसृतियों की, संस्कृतियों की तोड़ सभ्यता की चट्टानें—
नयी व्यंजना का सोता बस इसी राह से वह सकता है।

1949, सदानीरा, भाग-1

कवि, हुआ क्या फिर

कवि, हुआ क्या फिर
तुम्हारे हृदय में यदि लग गई है ठेस?
चिड़ी दिल की जमा लो मूँठ पर (ऐहे, सितम, सैयाद!)
न जाने किस झरे गुल की सिसकती याद में बुलबुल तड़पती है
न पूछो दोस्त, हम भी रो रहे हैं लिये टूटा दिल।
('मियाँ, बुलबुल, लड़ाओगे?')
तुम्हारी भावनाएँ जग उठी हैं।
बिछ चलीं पनचादरें ये एक चुल्लू आँसुओं की डूब मर, बरसात!
सुनो कवि! भावनाएँ नहीं है सोता, भावनाएँ खाद हैं केवल
जरा उनको दबा रखो— जरा-सा और पकने दो, ताने और तपने दो
अँधेरी तहों की पुट में पिघलने और पचने दो;
रिसने और रचने दो—
कि उनका सार बनकर चेतना की धरा को कुछ उर्वरा कर दे;
भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।
कवि, हृदय को लग गई है ठेस? धरा में हल चलेगा।
मगर तुम तो गरेबाँ टोहकर देखो
कि क्या वह लोक के कल्याण का भी बीज तुममें है।

1949, सदानीरा, भाग 1

पहला दौंगरा

गगन में मेघ घिर आए।
तुम्हारी याद

स्मृति के पिंजड़े में बाँधकर मैंने नहीं रखी
तुम्हारे स्नेह को भरना पुरानी कुप्पियों में स्वत्व की
मैंने नहीं चाहा।
गगन में मेघ घिरते हैं
तुम्हारी याद घिरती है
उमड़कर विवश बूँदें बरसती हैं
तुम्हारी सुधि बरसती है—
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता। क्योंकि तुमने भी निकट से दुःख जाना था
दुःख सबको माँजता है
और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।
मगर जो हो
अभी तो मेघ घिर आए
पड़ा यह दौंगरा पहला
धरा ललकी, उठी, बिखरी हवा में
बास सोंधी मुग्ध मिट्टी की।
भिगो दो, आह
ओ रे मेघ, क्या तुम जानते हो
तुम्हारे साथ कितने हियों में कितनी अस[illegible] उमड़ आई हैं?

1949, सदानीरा, भाग-1

कलगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।
अगर मैं तुमको ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद् के भोर की नीहार न्हायी कुँई।
टटकी कली चम्पे की, वगैरह, तो
नहीं, कारण कि मेरा हृदय उथला या सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही : ये उपमान मैले हो गए हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है
मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के, तुम हो, निकट हो, इसी जादू के
निजी किस सहज गहरे बोध से, किस प्यार से मैं कह रहा हूँ-
अगर मैं यह कहूँ—
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे की?
आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच पर सँवरी जुही के फूल-से
सृष्टि के विस्तार का, ऐश्वर्य का, औदार्य का
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा एक प्रतीक
बिछली घास है
या शरद् की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर दोलती
कलगी अकेली

बाजरे की।

और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ

यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट जाता है

और मैं एकान्त होता हूँ समर्पित।

शब्द जादू हैं—

मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है?

1949, सदानीरा, भाग-1

नदी के द्वीप

हम नदी के द्वीप हैं।

हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाए।

वह हमें आकार देती है।

हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकतकूल—

सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।

माँ है वह, इसी से हम बने हैं।

किन्तु हम हैं द्वीप।

हम धारा नहीं हैं।

स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के

किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।

हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।

पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जाएँगे।

और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?

रेत बनकर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।

अनुपयोगी ही बनाएँगे।

द्वीप हैं हम।

यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।

हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।

वह बृहत् भूखंड से हमको मिलाती है।

और यह भूखंड अपना पितर है।

नदी, तुम बहती चलो।

भूखंड से जो दाय हमको मिला है। मिलता रहा है,

माँजती, संस्कार देती चलो :

यदि ऐसा कभी हो

तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से अतिचार—

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे

यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा, कीर्तिनाशा, घोर कालप्रवाहिनी बन जाए

तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर

फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टकेंगे।

कहीं फिर भी खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार।

मातः उसे फिर संस्कार तुम देना।

1949, सदानीरा, भाग-1

काँगड़े की छोरियाँ

काँगड़े की छोरियाँ कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ

लालाजी, जेवर बनवा दो खाली करो तिजोरियाँ

काँगड़े की छोरियाँ।

ज्वार-मका की क्यारियाँ हरियाँ-भरियाँ-प्यारियाँ

धान खेतों में लहरें हवा की सुना रही हैं लोरियाँ
काँगड़े की छोरियाँ।
पुतलियाँ चंचल कलियाँ कानों झुमके बालियाँ
हम चौड़े में खड़े लुट गए बनी न हमसे चोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ
काँगड़े की छोरियाँ, कुछ भोरियाँ, सब गोरियाँ।

1950, सदानीरा, भाग-1

आज तुम शब्द न दो

आज तुम शब्द न दो, न दो, कल भी मैं कहूँगा।
तुम पर्वत हो अभ्रभेदी शिलाखंडों के गरिष्ठ पुंज
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो।
तुम्हारे रन्ध्र-रन्ध्र से तुम्हीं को रस देता हुआ फूटकर मैं बहूँगा।
तुम्हीं ने दिया यह स्पन्द।
तुम्हीं ने धमनी में बाँधा है लहू का वेग यह मैं अनुक्षण जानता हूँ।
गति जहाँ सब कुछ है, तुम धृति पारमिता, जीवन के सहज छन्द
तुम्हें पहचानता हूँ
माँगो तुम चाहे जो, माँगोगे दूँगा; तुम दोगे जो मैं सहूँगा
आज नहीं, कल सही
कल नहीं, युग-युग बाद ही :
मेरा तो नहीं है यह
चाहे वह मेरी असमर्थता से बँधा हो।
मेरा भाव यन्त्र? एक मढ़िया है सूखी घास-फूस की

उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान—
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो।
आज नहीं, कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाये यह आग मैं रहूँगा?
आज तुम शब्द न दो, न दो कल भी मैं कहूँगा।

1953, सदानीरा, भाग 1

यह दीप अकेला

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गाएगा?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लाएगा?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला विरला सुलगाएगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग संचय
यह गोरस : जीवन कामधेनु का अमृत-पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकना निर्भय,
यह प्रकृत, स्वयंभू, ब्रह्म, अयुत : इसको भी शक्ति को दे दो।
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह वह विश्वास नहीं, जो अपनी लघुता में भी काँपा,

वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा;
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र।
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर अखंड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय, इसको भी भक्ति को दे दो :
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

1952, मदानीरा, भाग 1

साँप

साँप! तुम सभ्य तो हुए नहीं—
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ— (उत्तर दोगे?)
तब कैसे सीखा डँसना—विष कहाँ पाया।

1954, मदानीरा, भाग 1

मैं वहाँ हूँ

दूर-दूर-दूर... मैं वहाँ हूँ।
यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—जो है और जो होगा दोनों को मिलाता हूँ-
मैं हूँ, मैं यहाँ हूँ, पर सेतु हूँ इसलिए

दूर-दूर-दूर... मैं वहाँ हूँ।
यह तो मिट्टी गोड़ता है। कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है
उसकी मैं साधना हूँ।
यह जो मिट्टी फोड़ता है, मड़िया में रहता है और महलों को बनाता है
उसकी मैं आस्था हूँ।
यह जो कज्जलपुता खानों में उतरता है
पर चमाचम विमानों को आकाश में उड़ाता है,
यह जो नंगे बदन, दम साध, पानी में उतरता
और बाजार के लिए पानीदार मोती निकाल लाता है।
यह जो कलम घिसता है, चाकरी करता है पर सरकार को चलाता है
उसकी मैं व्यथा हूँ।

यह जो कचरा ढोता है
यह जो झल्ली लिये फिरता है और बेघरा घूरे पर सोता है,
यह जो गदहे हाँकता है, यह जो तन्दूर झोंकता है।
यह जो कीचड़ उलीचती है
यह जो मनियार सजाती है
यह जो कन्धे पर चूड़ियों की पोटली लिये गली-गली झाँकती है,
यह जो दूसरों का उतरन फींचती है
यह जो रद्दी बटोरता है
यह जो पापड़ बेलता है, बीड़ी लपेटता है, वर्क कूटता है
धौंकनी फूँकता है, कलई गलाता है, रेढ़ी ठेलता है
चौक लीपता है, बासन माँजता है, ईंटें उछालता है
रुई धुनता है, गारा सानता है, खटिया बुनता है
मशक से सड़क सींचता है
रिक्शा में अपना प्रतिरूप लादे खींचता है

जो भी जहाँ भी पिसता है, पर हारता नहीं, न मरता है—
पीड़ित श्रमरत मानव
अविजित, दुर्जेय मानव
कमकर, श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा—
उसकी मैं कथा हूँ।

दूर-दूर-दूर... मैं वहाँ हूँ।
यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—जो है और जो होगा, दोनों को मिलाता हूँ
पर सेतु हूँ इसलिए
दूर-दूर-दूर... मैं वहाँ हूँ।
किन्तु मैं वहाँ हूँ तो ऐसा नहीं है मैं यहाँ नहीं हूँ।
मैं दूर हूँ, जो है और जो होगा उसके बीच सेतु हूँ
तो ऐसा नहीं है कि जो है, उसे मैंने स्वीकार कर लिया है।

मैं आस्था हूँ तो मैं निरन्तर उठते रहने की शक्ति हूँ?
मैं व्यथा हूँ, तो मैं मुक्ति का श्वास हूँ
मैं गाथा हूँ तो मैं मानव का अलिखित इतिहास हूँ
मैं साधना हूँ तो मैं प्रयत्न में कभी शिथिल न होने का निश्चय हूँ
मैं संघर्ष हूँ जिसे विश्राम नहीं,
जो है मैं उसे बदलता हूँ, जो मेरा कर्म है, उसमें मुझे संशय का नाम नहीं,
वह मेरा अपनी साँस-सा पहचाना है,
लेकिन घृणा/घृणा से मुझे काम नहीं
क्योंकि मैंने डर नहीं जाना है।
मैं अभय हूँ,
मैं भक्ति हूँ,

मैं जय हूँ।
दूर-दूर-दूर... मैं सेतु हूँ
किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं,
वह सेतु, जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है
जो हृदय से हृदय को, श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
कल्पना के पंख से कल्पना के पंख को,
विवेक की किरण से विवेक की किरण को
अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है
जो मानव को एक करता है
समूह का अनुभव जिसकी मेहराबें हैं
और जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से बहती है
मुड़ती, बल खाती, नये मार्ग फोड़ती, नये कगारे तोड़ती,
चिर परिवर्तनशीला, सागर की ओर जाती, जाती, जाती...
मैं वहाँ हूँ— दूर-दूर-दूर।

1954, सदानीरा, भाग

सर्जना के क्षण

एक क्षण भर और रहने दो मुझे अभिभूत :
फिर जहाँ मैंने सँजोकर और भी सब रखी हैं ज्योति:शिखाएँ
वहीं तुम भी चली जाना—शान्त तेजोरूप।
एक क्षण भर और
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूँद स्वाती की भले हो, बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से

वज्र जिससे फोड़ता चट्टान को
भले ही फिर व्यथा के तम में बरस कर बरस बीतें
एक मुक्ता-रूप को पकते।

1956, सदानीरा, भाग-1

शब्द और सत्य

यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं
प्रश्न यही रहता है :
दोनों अपने बीच जो दीवार बनाए रहते हैं
मैं कब, कैसे उनके अनदेखे
उसमें सेंध लगा दूँ
या भर विस्फोटक
उसे उड़ा दूँ?
कवि जो होंगे, हों, जो कुछ करते हैं, करें,
प्रयोजन बस मेरा इतना है
ये दोनों जो
सदा एक-दूसरे से तनकर रहते हैं,
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में,
इन्हें मिला दूँ
दोनों जो हैं बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे।

1957, सदानीरा, भाग-1

पूनो की साँझ

पति सेवारत साँझ
उचकता देख पराया चाँद
ललाकर ओट हो गई।

जापान-1957, सदानीरा, भाग-2

मानव अकेला

भीड़ों में
जब-जब
जिस-जिस से आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे सा— भगवान्-सा
अकेला।
और हमारे सारे लोकाचार
राख की युगों-युगों की परतें हैं।

1958, सदानीरा, भाग-2

चिड़िया की कहानी

उड़ गई चिड़िया
काँपी, फिर
थिर—
हो गई पत्ती।

1958, मदानीरा, भाग-2

नया कवि : आत्म-स्वीकार

किसी का सत्य था,
मैंने सन्दर्भ से जोड़ दिया।
कोई मधु-कोष काट लाया था
मैंने निचोड़ लिया।
किसी की उक्ति में गरिमा थी,
मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार दिया
किसी की संवेदना में आग का-सा ताप था
मैंने दूर हटते-हटते उसे धिक्कार दिया।
कोई हुनरमन्द था :
मैंने देखा और कहा, 'यों!'
थका भारवाही पाया--
घुड़का या कोंच दिया, 'क्यों?'
किसी की पौध थी,
मैंने सींची और बढ़ने पर अपना ली,

किसी की लगायी लता थी,
मैंने दो बल्ली गाड़ उसी पर छवा ली
किसी की कली थी :
मैंने अनदेखे में बीन ली,
किसी की बात थी।
मैंने मुँह से छीन ली।
यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ :
काव्य-तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक-एक शब्द सराहते हुए पढ़ें।
पर प्रतिमा— अरे वह तो
जैसी आपको रुचे आप स्वयं गढ़ें।

1958, सदानीरा, भाग 2

इशारे ज़िन्दगी के

ज़िन्दगी हर मोड़ पर करती रही हमको इशारे
जिन्हें हमने नहीं देखा।
क्योंकि हम बाँधे हुए थे पट्टियाँ संस्कार की
और हमने बाँधने से पूर्व देखा था—
हमारी पट्टियाँ रंगीन थीं
ज़िन्दगी करती रही नीरव इशारे :
हम छली थे शब्द के।

'शब्द ईश्वर है, इसी में वह रहस्य है :
शब्द अपने आप में इति है—
हमें यह मोह अब छलता नहीं था।
शब्द-रत्नों की लड़ी हम गूँथकर माला पिन्हाना चाहते थे
नये रूपाकार को
और हमने यही जाना था
कि रूपाकार ही तो सार है।
एक नीरव नदी बहती जा रही थी
बुलबुले उसमें उमड़ते थे
रह : संकेत के :
हर उमड़ने पर हमें रोमांच होता था।
फूटना हर बुलबुले का हमें तीखा दर्द होता था।
रोमांच! तीखा दर्द!
नीरव रह : संकेत—हाय।
ज़िन्दगी करती रही
नीरव इशारे
हम पकड़े रहे रूपाकार को।
किन्तु रूपाकार
चोला है
किसी संकेत शब्दातीत का,
ज़िन्दगी के किसी
गहरे इशारे का।
शब्द :
रूपाकार :
फिर संकेत
ये हर मोड़ पर बिखरे हुए संकेत—

अनगिनती इशारे ज़िन्दगी के
ओट में जिनकी छिपा है
अर्थ।
हाय, कितने मोह की कितनी दिवारें भेदने को—
पूर्व इसके, शब्द ललके।
अंक भेंटे अर्थ को
क्या हमारे हाथ में वह मन्त्र होगा, हम इन्हें संपृक्त कर दें।
अर्थ दो अर्थ दो
मत हमें रूपाकार इतने व्यर्थ दो।
हम समझते हैं इशारा ज़िन्दगी का—
हमें पार उतार दो—
रूप मत, बस सार दो।
मुखर वाणी हुई : बोलने हम लगे :
हमको बोध था वे शब्द सुन्दर हैं—
सत्य भी हैं, सारमय हैं।
पर हमारे शब्द
जनता के नहीं थे,
क्योंकि जो उन्मेष हम में हुआ
जनता का नहीं था,
हमारा दर्द
जनता का नहीं था
संवेदना ने ही विलग कर दी
हमारी अनुभूति हमसे।
यह जो लीक हमको मिली थी—
अन्धी गली थी।
चुक गई क्या राह! लिख दें हम

चरम लिखतम् पराजय की?
इशारे क्या चुक गए हैं
ज़िन्दगी के अभिनयांकुर में?
बढ़े चाहे बोझ जितना
शास्त्र का, इतिहास,
रूढ़ि के विन्यास का या सूक्त का—
कम नहीं ललकार होती ज़िन्दगी।
मोड़ आगे और है—
कौन उसकी ओर देखो, झाँकता है?

1958, सदानीरा, भाग-2

नन्दा देवी

नन्दा,
बीस-तीस-पचास वर्षों में
तुम्हारी वनराजियों की लुगदी बनाकर
हम उस पर
अखबार छाप चुके होंगे
तुम्हारे सन्नाटे को चीर रहे होंगे
हमारे धुँधुआते शक्तिमान ट्रक,
तुम्हारे झरने-सोते सूख चुके होंगे
और तुम्हारी नदियाँ
ला सकेंगी केवल शस्य-भक्षी बाढ़ें
या आँतों को उमेठने वाली बीमारियाँ
तुम्हारा आकाश हो चुका होगा

हमारे अतिस्वन विमानों के
धूम-सूत्रों का गुंझर।
नन्दा,
जल्दी ही—
बीस-तीस-पचास बरसों में
हम तुम्हारे नीचे एक मरु बिछा चुके होंगे
और तुम्हारे उस नदी धौत सीढ़ी वाले मन्दिर में
जला करेगा
एक मरुदीप।

जियो, मेरे

जियो, मेरे आज़ाद देश की शानदार इमारतो
जिनकी साहिबी टोपनुमा छतों पर गौरव ध्वज तिरंगा फहरता है
लेकिन जिनके शौचालयों में व्यवस्था नहीं है
कि निवृत्त होकर हाथ धो सकें।
(पुरखे तो हाथ धोते थे न? आज़ादी ही से हाथ धो लेंगे, तो कैसा?)

जियो, मेरे आज़ाद देश के शानदार शासको
जिनकी साहिबी भेजे वाली देशी खोपड़ियों पर
चिट्टी दूधिया टोपियाँ फब दिखाती हैं,
जिनके बाथरूम की सन्दली, अँगूरी, चम्पई, फ़ाख्तई
रंग की बेसिनी, नहानी, चौकी तक की तहज़ीब
सब में दिखता है अँग्रेज़ी रईसी ठाठ

लेकिन सफाई का कागज़ रखने की कंजूस बनिए की तमीज़..

जियो, मेरे आज़ाद देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधियो
जो विदेश जाकर विदेशी नंग देखने के लिए पैसे देकर
टिकट खरीदते हो
पर जो घर लौटकर देसी नंग ढकने के लिए
ख़ज़ाने में पैसा नहीं पाते,
और अपनी जेब में—पर जो देश का प्रतिनिधि हो वह
जेब में हाथ डाले भी
तो क्या ज़रूरी है कि जेब अपनी हो?

जियो, मेरे आज़ाद देश के रौशन ज़मीर लोक-नेताओ :
जिनकी मर्यादा वह हाथी का पैर है जिसमें
सबकी मर्यादा समा जाती है—
जैसे धरती में सीता समा गई थी!
एक थे वह राम जिन्हें विभीषण की खोज में जाना पड़ा,
जाकर जलानी पड़ी लंका :
एक है यह राम-राज्य, बजे जहाँ अविराम
विराट् रूप विभीषण का डंका!
राम का क्या काम यहाँ? अजी राम का नाम लो।
चाम, जाम, दाम, ताम-झाम, काम— कितनी
धर्म-निरपेक्ष तुकें अभी बाकी हैं।
जो सधे, साध लो, साधो—
नहीं तो बने रहो मिट्टी के माधो।

देवता अब भी

देवता अब भी
जलहरी को घेरे बैठे हैं
पर जलहरी में पानी सूख गया है।
देवता भी धीरे-धीरे
सूख रहे हैं
उनका पानी
मर रहा है।
यूप-यष्टियाँ
रेती में दबती जा रही हैं
रेत की चादर-ढँकी अर्थी में बँधे
महाकाल की छाती पर
काल चढ़ बैठा है।
मर रहे हैं नगर—
नगरों में
मरु-थर—
मरु-थरों में
जलहरी में
पानी सूख गया है

नेपाल-1987, मरुथल

कहीं की ईंट

कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा
भानमती ने कुनबा जोड़ा
कुनबे ने भानमती गढ़ी
रेशम से भाँड़ी, सोने से मढ़ी
कवि ने कथा गढ़ी, लोक ने बाँची
कहो-भर तो झूठ, जाँचो तो साँची

मरुथल, अज्ञेय की अन्तिम कविताएँ

अपने प्रेम के उद्वेग में

अपने प्रेम के उद्वेग में मैं जो कुछ भी तुम से कहता हूँ, वह सब पहले कहा जा चुका है।

तुम्हारे प्रति मैं जो कुछ भी प्रणय-व्यवहार करता हूँ, वह सब भी पहले हो चुका है।

तुम्हारे और मेरे बीच में जो कुछ भी घटित होता है उस से एक तीक्ष्ण वेदना-भरी अनुभूति मात्र होती है— कि यह सब पुराना है बीत चुका है, कि यह अभिनय तुम्हारे ही जीवन में मुझ से अन्य किसी पात्र के साथ हो चुका है!

यह प्रेम एकाएक कैसा खोखला और निरर्थक हो जाता है!

दिल्ली जेल, 16 मार्च, 1933

चुक गया दिन

'चुक गया दिन'— एक लम्बी साँस
उठी, बनने मूक आशीर्वाद—
सामने था आर्द्र तारा नील,
उमड़ आयी असह तेरी याद!
हाय, यह प्रतिदिन पराजय दिन छिपे के बाद!

चम्पानेर, 23 सितम्बर, 1939

घृणा का गान

सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!
तुम, जो भाई को अछूत कह वस्त्र बचा कर भागे,
तुम, जो बहिनें छोड़ बिलखती, बढ़े जा रहे आगे!
रुक कर उत्तर दो, मेरा है अप्रतिहत आह्वान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो बड़े-बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में,
तुम, जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जल-दान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो महलों में बैठे दे सकते हो आदेश,
'मरने दो बच्चे, ले आओ खींच पकड़ कर केश!'
नहीं देख सकते निर्धन के घर दो मुट्ठी धान
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो पा कर शक्ति कलम में हर लेने की प्राण-
'निःशक्तों' की हत्या में कर सकते हो अभिमान!

जिनका मत है, 'नीच मरें, दृढ़ रहे हमारा स्थान'—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो मन्दिर में वेदी पर डाल रहे हो फूल,
और इधर कहते जाते हो, 'जीवन क्या है? धूल!'
तुम, जिस की लोलुपता ने ही धूल किया उद्यान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन,
जीवन के चिर-रिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन,
तुम, श्मशान के देव! सुनो यह रण-भेरी की तान—
आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

लाहौर, 30 जनवरी, 1935

अचरज

आज सवेरे
अचरज एक देख मैं आया।

एक घने, पर धूल-भरे-से अर्जुन तरु के नीचे
एक तार पर बिजली के वे सटे हुए बैठे थे—
दो पक्षी छोटे-छोटे,
घनी छाँह में, जग से अलग; किन्तु परस्पर मलग।
और नयन शायद अधमीचे।
और उषा की धुँधली-सी अरुणाली थी सारा जग सींचे।
छोटे, इतने क्षुद्र, कि जग की सदा सजग आँखों की एक भकेली झपकी—
एक पलक में वे मिट जाएँ, कहीं न पाएँ—
छोटे, किन्तु द्वित्व में इतने सुन्दर, जग-हिय ईर्ष्या से भर जावे;
भर क्यों—भरा सदा रहता है—छल-छल उमड़ा आवे!

—सलग, प्रणय की आँधी में मानो ले दिन-मान,
विधि का करते-से आह्वान।
मैं जो रहा देखता, तब विधि ने भी सब कुछ देखा होगा—
वह विधि, जिस के अधिकृत उन के मिलन-विरह का लेखा होगा—
किन्तु रहे वे फिर भी सटे हुए, संलग्न—
आत्मता में ही तन्मय, तन्मयता में सतत निमग्न!
और—बीत चुका जब मेरे जाने समय युगों का—
आया एक हवा का झोंका—काँपे तार—झरा दो कण नीहार—
उस समय भी तो उन के उर के भीतर
कोई ख़लिश नहीं थी—कोई रिक्त नहीं था—
नहीं वेदना की टीसों को स्थान कहीं था!
तब भी तो वे सहज परस्पर पंख से पंख मिलाये
वाताहत तम की झकझोर में भी अपने चारों ओर
एक प्रणय का निश्चल वातावरण जमाये
उड़े जा रहे थे, अतिशय निर्द्वन्द्व—
और विधि देख रही—निःस्पन्द!
लौट चला आया हूँ, फिर भी प्राण पूछते जाते हैं
क्या वह सच था! और नहीं उत्तर पाते हैं—
और कहे ही जाते हैं
कि आज मैं
अचरज एक देख आया।

लाहौर, 1935

मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

प्रिय, मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
वह गया जग मुग्ध सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

तुम विमुख हो, किन्तु मैंने कब कहा उन्मुख रहो तुम?

साधना है सहसनयना—बस, कहीं सम्मुख रहो तुम!
विमुख-उन्मुख से परे भी तत्त्व की तल्लीनता है—
लीन हूँ मैं, तत्त्वमय हूँ अचिर चिर-निर्वाण में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

क्यों डरूँ मैं मृत्यु से या क्षुद्रता के शाप से भी?
क्यों डरूँ मैं क्षीण-पुण्या अवनि के सन्ताप से भी?
व्यर्थ जिस को मापने में हैं विधाता की भुजाएँ—
वह पुरुष मैं, मर्त्य हूँ पर अमरता के मान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

रात आती है, मुझे क्या? मैं नयन मूँदे हुए हूँ,
आज अपने हृदय में मैं अंशुमाली को लिये हूँ!
दूर के उस शून्य नभ से सजल तारे छलछलाएँ—
वज्र हूँ मैं, ज्वलित हूँ, बेरोक हूँ, प्रस्थान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

मूक संसृति आज है, पर गूँजते हैं कान मेरे,
बुझ गया आलोक जग में, धधकते हैं प्राण मेरे।
मौन या एकान्त या विच्छेद क्यों मुझ को सताये?
विश्व झंकृत हो उठे, मैं प्यार के उस गान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

जगत है सापेक्ष, याँ है कलुष तो सौन्दर्य भी है,
हैं जटिलताएँ अनेकों—अन्त में सौकर्य भी है।
किन्तु क्यों विचलित करे मुझ को निरन्तर की कमी यह-
एक है अद्वैत जिस स्थल आज मैं उस स्थान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

वेदना अस्तित्व की, अवसान की दुर्भावनाएँ—
भव-मरण, उत्थान-अवनति, दुःख-सुख की प्रक्रियाएँ
आज सब संघर्ष मेरे पा गये सहसा समन्वय—

आज अनिमिष देख तुम को लीन मैं चिर-ध्यान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

बह गया जग मुग्ध-सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
प्रिय, मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

दिल्ली, 21 जुलाई, 1936

आज थका हिय-हारिल मेरा!

इस सूखी दुनिया में प्रियतम मुझ को और कहाँ रस होगा?
शुभे! तुम्हारी स्मृति के सुख से प्लावित मेरा मानस होगा!

दृढ़ डैनों के मार थपेड़े अखिल व्योम को वश में करता,
तुझे देखने की आशा से अपने प्राणों में बल भरता,

ऊषा से ही उड़ता आया, पर न मिल सकी तेरी झाँकी
साँझ समय थक चला विकल मेरे प्राणों का हारिल-पाखी :

तृषित, श्रान्त, तम-भ्रान्त और निर्मम झंझा-झोंकों से ताड़ित—
दरस प्यास है असह, वही पर किये हुए उस को अनुप्राणित!

गा उठते हैं, 'आओ आओ!' केकी प्रिय घन को पुकार कर
स्वागत की उत्कंठा में वे हो उठते उद्भ्रान्त नृत्य पर!

चातक-तापस तरु पर बैठा स्वाति-बूँद में ध्यान रमाये,
स्वप्न तृप्ति का देखा करता 'पी! पी! पी!' की टेर लगाये;

हारिल को यह सह्य नहीं है— वह पौरुष का मदमाता है :
इस जड़ धरती को ठुकरा कर उषा-समय वह उड़ जाता है।

'बैठो, रहो, पुकारो-गाओ, मेरा वैसा धर्म नहीं है;
मैं हारिल हूँ, बैठे रहना मेरे कुल का कर्म नहीं है।

तुम प्रिय की अनुकम्पा माँगो, मैं माँगूँ अपना समकक्षी
साथ-साथ उड़ सकने वाला एकमात्र वह कंचन-पक्षी!'

यों कहता उड़ जाता हारिल ले कर निज भुज-बल का सम्बल
किन्तु अन्त सन्ध्या आती है— आखिर भुज-बल है कितना बल?

कोई गाता, किन्तु सदा मिट्टी से बँधा-बँधा रहता है,
कोई नभ-चारी, पर पीड़ा भी चुप हो कर ही सहता है;

चातक हैं, केकी हैं, सन्ध्या को निराश हो सो जाते हैं,
हारिल हैं— उड़ते-उड़ते ही अन्त गगन में खो जाते हैं।

कोई प्यासा मर जाता है, कोई प्यासा जी लेता है
कोई परे मरण-जीवन से कड़वा प्रत्यय पी लेता है।

आज प्राण मेरे प्यासे हैं, आज थका हिय-हारिल मेरा
आज अकेले ही उस को इस अँधियारी सन्ध्या ने घेरा।

मुझे उतरना नहीं भूमि पर तब इस सूने में खोऊँगा
धर्म नहीं है मेरे कुल का— थक कर भी मैं क्यों रोऊँगा?

पर प्रिय! अन्त समय में क्या तुम इतना मुझे दिलासा दोगे—
जिस सूने में मैं लुट चला, कहीं उसी में तुम भी होगे?

इस सूखी दुनिया में प्रियतम मुझ को और कहाँ रस होगा?
शुभे! तुम्हारी स्मृति के सुख से प्लावित मेरा मानस होगा।

वड़ोदरा, 30 अगस्त, 1936

आशी :

(वसन्त के एक दिन)

फूल काँचनार के,
प्रतीक मेरे प्यार के!
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली,
पत्तियों का सम्पुट, निवेदिता ज्यों अंजली।
आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के
—फूल काँचनार के!

सुमन-वृन्त बावले बबूल के!
झोंके ऋतुराज के वसन्ती दुकूल के,

बूर बिखराता जा पराग अंगराग का,
दे जा स्पर्श ममता की सिहरती आग का।
आवे मत्त गन्ध वह ढीठ हूल-हूल के
—सुमन वृन्त बावले बबूल के!

कली री पलास की!
टिमटिमाती ज्योति मेरी आस की
या कि शिखा ऊर्ध्वमुखी मेरी दीप्त प्यास की।

वासना-सी मुखरा, वेदना-सी प्रखरा
दिगन्त में, प्रान्तर में, प्रान्त में
खिल उठ, झूल जा, मस्त हो,
फैल जा वनान्त में—
मार्ग मेरे प्रणय का प्रशस्त हो!

शिलांग, मार्च, 1944

वीर-बहू

एक दिन देवदारु-वन बीच छनी हुई
किरणों के जाल में से साथ तेरे घूमा था।
फेनिल प्रपात पर छाये इन्द्र-धनु की
फुहार तले मोर-सा प्रमत्त-मन झूमा था

बालुका में अँकी-सी रहस्यमयी वीर-बहू
पूछती है रव-हीन मखमली स्वर से :
याद है क्या, ओट में बुरूँस की प्रथम बार
धन मेरे, मैंने जब ओठ तेरा चूमा था?

शिलांग, मार्च, 1944

पानी बरसा!

ओ पिया, पानी बरसा!

घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर-सी झूमी मधु मालती
झर पड़े जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना बिरानी।
बादलों का हाशिया है आसपास—
बीच लिखी पाँत काली बिजली की—
कूँजों की डार, कि असाढ़ की निशानी!
ओ पिया, पानी!
मेरा जिया हरसा।

खड़खड़ कर उठे पात, फड़क उठे गात।

देखने को आँखें घेरने को बाँहें।
पुरानी कहानी?
ओठ को ओठ, वक्ष को वक्ष—
ओ पिया, पानी!
मेरा हिया तरसा।
ओ पिया, पानी बरसा!

जालन्धर 2 जुलाई, 1945

राह बदलती नहीं

राह बदलती नहीं— प्यार ही सहसा मर जाता है,
संगी बुरे नहीं तुम— यदि निःसंग हमारा नाता है।
स्वयंसिद्ध है बिछी हुई यह जीवन की हरियाली—
जब तक हम मत बुझें सोच कर— 'वह पड़ाव आता है!'

रूपनारायणपुर, 18 अक्टूबर, 1946

शक्ति का उत्पात

क्रान्ति है आवर्त्त, होगी भूल उसको मानना धारा :
उपप्लव निज में नहीं उद्दिष्ट हो सकता हमारा।
जो नहीं उपयोज्य, वह गति शक्ति का उत्पात भर है
स्वर्ग की हो— माँगती भागीरथी भी है किनारा।

इलाहाबाद, 13 नवम्बर, 1946

पावस-प्रात, शिलांग

भोर बेला। सिंची छत से ओस की तिप्-तिप्! पहाड़ी काक
की विजन को पकड़ती-सी क्लान्त बेसुर डाक—
'हाक्! हाक्! हाक्!'

मत सँजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना—
रहेगी बस एक मुट्ठी ख़ाक!
'थाक्! थाक्! थाक्!'

शिलांग, 12 जुलाई, 1947

सागर के किनारे

तनिक ठहरूँ। चाँद उग आये, तभी जाऊँगा वहाँ नीचे
कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे। चाँद उग आये।

न उस की बुझी फीकी चाँदनी में दिखें शायद
वे दहकते लाल गुच्छ बुरूँस के जो
तुम हो।

न शायद चेत हो, मैं नहीं हूँ वह डगर गीली दूब से मेदुर,
मोड़ पर जिस के नदी का कूल है, जल है,
मोड़ के भीतर— घिरे हों बाँह में ज्यों— गुच्छ लाल बुरूँस के उत्फुल्ल

न आये याद, मैं हूँ किसी बीते साल के सीले कलेंडर की
एक बस तारीख, जो हर साल आती है।
एक बस तारीख— अंकों में लिखी ही जो न जावे
जिसे केवल चन्द्रमा का चिह्न ही बस करे सूचित—

बंक— आधा— शून्य; उलटा बंक- काला वृत्त,
यथा पूनो— तीज-तेरस— सप्तमी,
निर्जला एकादशी— या अमावस्या।

अँधेरे में ज्वार ललकेगा—
व्यथा जागेगी। न जाने दीख क्या जाए जिसे आलोक फीका सोख लेता है।
तनिक ठहरूँ। कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे
तभी जाऊँ वहाँ नीचे— चाँद उग आये।

बान्द्रा, 9 अगस्त, 1947

दूर्वाचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में।
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा— पुन: आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन— अनगिन युगों के बाद!)
क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली—
'अरे यायावर! रहेगा याद?'

शिलांग, 22 सितम्बर, 1947

शरणार्थी 11 : जीना है बन सीने का साँप

हम ने भी सोचा था कि अच्छी चीज़ है स्वराज
हम ने भी सोचा था कि हमारा सिर

ऊँचा होगा ऐक्य में। जानते हैं पर आज
अपने ही बल के
अपने ही छल के
अपने ही कौशल के
अपनी समस्त सभ्यता के सारे
संचित प्रपंच के सहारे

जीना है हमें तो, बन सीने का साँप उस अपने समाज के
जो हमारा एक मात्र अक्षंतव्य शत्रु है
क्योंकि हम आज हो के मोहताज
उस के भिखारी शरणार्थी हैं।

मुरादाबाद स्टेशन, आधी रात, 12 नवम्बर, 1947

कतकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी, मदमाती उन्मा[illegible]नी
कलगी-मौर सजाव ले कास हुए हैं बावले
पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगती—
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती!

कुहरा झीना और महीन, झर-झर पड़े [illegible]सनीम
उजली-लालिम मालती गन्ध के डोरे डालती,
मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की—
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की!

इलाहाबाद-लखनऊ (रेल में) 30 नवम्बर, 1947

माहीवाल से

शान्त हो। काल को भी समय थोड़ा चाहिए।

जो घड़े— कच्चे, अपात्र! —डुबा गए मँझधार
तेरी सोहनी को चन्द्रभागा की उफनती छालियों में
उन्हीं में से उसी का जल अनन्तर तू पी सकेगा
औ' कहेगा, 'आह, कितनी तृप्ति!'

क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर तो मत समझ
वह अनुष्टुप् बाँचता है संगिनी से स्मरण के—
जान ले, वह दीमकों की टोह में है।
कविजनोचित न हो चाहे, यही सच्चा साक्ष्य है :
एक दिन तू सोहनी से पूछ लेना।

इलाहाबाद, 8 अगस्त, 1948

हरी घास पर क्षण भर

आओ बैठें
इसी ढाल की हरी घास पर।
माली-चौकीदारों का यह समय नहीं है,
और घास तो अधुनातन मानव मन की भावना की तरह
सदा बिछी है— हरी, न्यौतती, कोई आ कर रौंदे।

आओ, बैठो।
तनिक और सट कर, कि हमारे बीच स्नेह-भर का व्यवधान रहे,
बस,
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।

चाहे बोलो, चाहे धीरे-धीरे बोलो, स्वगत गुनगुनाओ,
चाहे चुप रह जाओ—
हो प्रकृतस्थ : तनो मत कटी-छँटी उस बाड़ सरीखी,
नमो, खुल खिलो, सहज मिलो
अन्त:स्मित, अन्त:संयत हरी घास-सी।

क्षण भर भुला सकें हम
नगरी की बेचैन बुदकती गड्ड-मड्ड अकुलाहट—
और न मानें उसे पलायन;
क्षण भर देख सकें आकाश, धरा, दूर्वा, मेघाली,
पौधे, लता दोलती, फूल, झरे पत्ते, तितली-भुनगे,
फुनगी पर पूँछ उठा कर इतराती छोटी-सी चिड़िया—
और न सहसा चोर कह उठे मन में—
प्रकृतिवाद है स्खलन
क्योंकि युग जनवादी है।

क्षण-भर हम न रहें रह कर भी :
सुनें गूँज भीतर के सूने सन्नाटे में
किसी दूर सागर की लोल लहर की
जिस की छाती की हम दोनों छोटी-सी सिहरन हैं—
जैसे सीपी सदा सुना करती है।

क्षण-भर लय हों—मैं भी, तुम भी,
और न सिमटें सोच कि हम ने
अपने से भी बड़ा किसी भी अपर को क्यों माना!

क्षण-भर अनायास हम याद करें :
तिरती नाव नदी में,
धूल-भरे पथ पर असाढ़ की भभक, झील में साथ तैरना,
हँसी अकारण खड़े महा-वट की छाया में,
वदन घाम से लाल, स्वेद से जमी अलक-लट,
चीड़ों का वन, साथ-साथ दुलकी चलते दो घोड़े,

गीली हवा नदी की, फूले नथुने, भर्रायी सीटी स्टीमर की,
खंडहर, ग्रथित अँगुलियाँ, बाँसे का मधु,
डाकिये के पैरों की चाँप
अधजानी बबूल की धूल मिली-सी गन्ध,
झरा रेशम शिरीष का, कविता के पद,
मसजिद के गुम्बद के पीछे सूर्य डूबता धीरे-धीरे,
झरने के चमकीले पत्थर, मोर-मोरनी, घुँघरू,
सन्थाली झूमुर का लम्बा कसक-भरा आलाप,
रेल का आह की तरह धीरे-धीरे खिंचना, लहरें,
आँधी-पानी,
नदी किनारे की रेती पर बित्ते-भर की छाँह झाड़ की
अँगुल-अँगुल नाप-नाप कर तोड़े तिनकों का समूह,
लू,
मौन।

याद कर सकें अनायास : और न मानें
हम अतीत के शरणार्थी हैं;
स्मरण हमारा—जीवन के अनुभव का प्रत्यवलोकन—
हमें न हीन बनावे प्रत्यभिमुख होने के पाप-बोध से।
आओ बैठो · क्षण-भर :
यह क्षण हमें मिला है नहीं नगर-सेठों की फ़ैयाज़ी से।
हमें मिला है यह अपने जीवन की निधि से ब्याज सरीखा।

आओ बैठो : क्षण-भर तुम्हें निहारूँ।
अपनी जानी एक-एक रेखा पहचानूँ
चेहरे की, आँखों की—अन्तर्मन की
और—हमारी साझे की अनगिन स्मृतियों की :
तुम्हें निहारूँ,
झिझक न हो कि निरखना दबी वासना की विकृति है!

धीरे-धीरे
धुँधले में चेहरे की रेखाएँ मिट जाएँ—

केवल नेत्र जगें : उतनी ही धीरे
हरी घास की पत्ती-पत्ती भी मिट जावे लिपट झाड़ियों के पैरों में
और झाड़ियाँ भी घुल जावें क्षिति-रेखा के मसृण ध्वान्त में;
केवल बना रहे विस्तार—हमारा बोध
मुक्ति का,
सीमाहीन खुलेपन का ही।

चलो, उठें अब,
अब तक हम थे बन्धु सैर को आये—
(देखे हैं क्या कभी घास पर लोट-पोट होते सतभैये शोर मचाते?)

और रहे बैठे तो लोग कहेंगे
धुँधले में दुबके प्रेमी बैठे हैं।

—वह हम हों भी तो यह हरी घास ही जाने :
(जिस के खुले निमन्त्रण के बल जग ने सदा उसे रौंदा है और वह नहीं बोली),
नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिन की भाषा में अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है करुणा

उठो, चलें, प्रिय।

इलाहाबाद, 14 अक्टूबर, 1949

छन्द है यह फूल

छन्द है यह फूल, पत्तो प्रास।
सभी कुछ में है नियम की साँस।
कौन-सा वह अर्थ जिसकी अलंकृति कर नहीं सकती
यही पैरों तले की घास?

समर्पण लय, कर्म है संगीत,
टेक करुणा—सजग मानव-प्रीति।
यति न खोजो—अहं ही यति है! —स्वयं रणरणित होते रहो, मेरे मीत!

इलाहाबाद, 29 सितम्बर, 1949

तुम फिर आ गये, क्वाँर?

भाले की अनी-सी बनी बगुलों की डार,
फुटकियाँ छिट-फुट गोल बाँध डोलतीं
सिहरन उठती है एक देह में
कोई तो पधारा नहीं, मेरे सूने गेह में—
तुम फिर आ गये, क्वाँर?

दिल्ली, अक्टूबर, 1950

बावरा अहेरी

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :
छोटी-छोटी चिड़ियाँ, मँझोले परेवे, बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले डौल के बेडौल
उड़ने जहाज,
कलस-तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली उपयोग-सुन्दरी
बेपनाह काया को :

गोधूली की धूल को, मोटरों के धुएँ को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि रूप-रेखा को
और दूर कचरा जलाने वाली कल की उद्दंड चिमनियों को, जो
धुआँ यों उगलती हैं मानो उसी मात्र से अहेरी को हरा देंगी!

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है :
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जाएगा?
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा-शिरा छेद दे आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे :
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से ये कनक-तार तेरे —
बावरे अहेरी।

दिल्ली, 2 सितम्बर, 1951

जो कहा नहीं गया

है, अभी कुछ और जो कहा नहीं गया।

उठी एक किरण, धायी, क्षितिज को नाप गयी,
सुख की स्मिति कसक-भरी, निर्धन की नैन-कोरों में काँप गयी,
बच्चे ने किलक भरी, माँ की वह नस-नस में व्याप गयी।
अधूरी हो, पर सहज थी अनुभूति :
मेरी लाज मुझे साज बन ढाँप गयी—

फिर मुझ बेसबरे से रहा नहीं गया।
पर कुछ और रहा जो कहा नहीं गया।

निर्विकार मरु तक को सींचा है
तो क्या? नदी-नाले ताल-कुएँ से पानी उलीचा है
तो क्या? उड़ा दूँ, दौड़ा दूँ, तेरा हूँ, पारंगत हूँ,
इसी अहंकार के मारे
अन्धकार में सागर के किनारे ठिठक गया : नत हूँ
उस विशाल में मुझ से बहा नहीं गया।
इसलिए जो और रहा, वह कहा नहीं गया।

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।
शायद केवल इतना ही : जो दर्द है
वह बड़ा है, मुझ से ही सहा नहीं गया।
तभी तो, जो अभी और रहा, वह कहा नहीं गया।

दिल्ली, 27 अक्टूबर, 1953

आगन्तुक

आँख ने देखा पर वाणी ने बखाना नहीं।
भावना ने छुआ पर मन ने पहचाना नहीं।
राह मैंने बहुत दिन देखी, तुम उस पर से आये भी, गये भी,
—कदाचित्, कई बार—
पर हुआ घर आना नहीं।

डार्टिंगटन हॉल, टॉटनेस, 18 अगस्त, 1955

जितना तुम्हारा सच है

1.
कहा सागर ने : चुप रहो!
मैं अपनी अबाधता जैसे सहता हूँ, अपनी मर्यादा तुम सहो।

जिसे बाँध तुम नहीं सकते
उसमें अखिन्न मन बहो।
मौन भी अभिव्यंजना है : जितना तुम्हारा सच है उतना ही कहो।
कहा नदी ने भी : नहीं, मत बोलो,
तुम्हारी आँखों की ज्योति से अधिक है चौंध जिस रूप की
उस का अवगुंठन मत खोलो
दीठ से टोह कर नहीं, मन के उन्मेष से
उसे जानो : उसे पकड़ो मत, उसी के हो लो।
कहा आकाश ने भी : नहीं, शब्द मत चाहो
दाता की स्पर्द्धा हो जहाँ, मन होता है मँगते का।
दे सकते हैं वही जो चुप, झुक कर ले लेते हैं।
आकांक्षा इतनी है, साधना भी लाये हो?
तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है उसी को निबाहो
2.
यही कहा पर्वत ने, यही घन-वन ने,
यही बोला झरना, यों कहा सुमन ने।
तितलियाँ, पतंगे, मोर और हिरने,
यही बोले सारस, ताल, खेत, कुएँ, झरने।
नगर के राज-पथ, चौबारे, अटारियाँ,
चीखती-चिल्लाती हुई दौड़ती जनाकुल गाड़ियाँ।
अग-जग एक मत! मैं भी सहमत हूँ।
मौन, नत हूँ।

तब कहता है फूल : अरे, तुम मेरे हो।
वन कहता है : वाह, तुम मेरे मित्र हो।

नदी का उलाहना है : मुझे भूल जाओगे?
और भीड़-भरे राज-पथ का : बड़े तुम विचित्र हो!
सभी के अस्पष्ट समवेत को
अर्थ देता कहता है नभ : मैंने प्राण तुम्हें दिये हैं,
आकार तुम्हें दिया है, स्वयं भले मैं शून्य हूँ।
हम सब सब-कुछ, अपना, तुम्हारा, दोनों दे रहे हैं तुम को
अनुक्षण; अरे ओ क्षुद्र-मन!
और तुम हम को एक अपनी वाणी भी हो
सौंप नहीं सकते?

सौंपता हूँ।

एडिनबरा-लन्दन (रेल में), 20 अगस्त, 1955

खुल गयी नाव

खुल गयी नाव
घिर आयी संझा, सूरज डूबा सागर तीरे।
धुँधले पड़ते से जल-पंछी
भर धीरज से मूक लगे मँडलाने,
सूना तारा उगा, चमक कर, साथी लगा बुलाने।
तब फिर सिहरी हवा, लहरियाँ काँपीं,
तब फिर मूर्छित व्यथा विदा की जागी धीरे-धीरे।

स्वेज-अदन (जहाज में) 5 फरवरी, 1956

तुम हँसी हो

तुम हँसी हो—जो न मेरे ओठ पर दीखे,
मुझे हर मोड़ पर मिलती रही है।
धूप—मुझ पर जो न छायी हो,
किन्तु जिस की ओर
मेरे रुद्ध जीवन की कुटी की खिड़कियाँ खुलती रही हैं।

तुम दया हो जो मुझे विधि ने न दी हो,
किन्तु मुझ को दूसरों से बाँधती है
जो कि मेरी ही तरह इनसान हैं।
आँख जिन से न भी मेरी मिले,
जिन को किन्तु मेरी चेतना पहचानती है।

धैर्य हो तुम : जो नहीं प्रतिबिम्ब मेरे कर्म के धुँधले मुकुर में पा सका,
किन्तु जो संघर्ष-रत मेरे प्रतिम का, मनुज का,
अनकहा पर एक धमनी में बहा सन्देश मुझ तक ला सका,
व्यक्ति की इकली व्यथा के बीज को
जो लोक-मानस की सुविस्तृत भूमि में पनपा सका।

हँसी ओ उच्छल, दया ओ अनिमेष,
धैर्य ओ अच्युत, आप्त, अशेष।

जहाज 'आसिया' में (लालसागर), 6 फरवरी, 1956

ब्राह्म-मूहूर्त : स्वस्तिवाचन

जियो उस प्यार में
जो मैं ने तुम्हें दिया है,
उस दुख में नहीं जिसे
बेझिझक मैं ने पिया है।

उस गान में जियो
जो मैं ने तुम्हें सुनाया है,
उस आह में नहीं जिसे
मैं ने तुम से छिपाया है।

उस द्वार से गुज़रो
जो मैं ने तुम्हारे लिए खोला है
उस अन्धकार से नहीं
जिस की गहराई को
बार-बार मैंने तुम्हारी रक्षा की
भावना से टटोला है।

वह छादन तुम्हारा घर हो
जिसे मैं असीसों से बुनता हूँ, बुनूँगा;
वे काँटे-गोखरू तो मेरे हैं
जिन्हें मैं राह से चुनता हूँ, चुनूँगा।

वह पथ तुम्हारा हो
जिसे मैं तुम्हारे हित बनाता हूँ, बनाता रहूँगा;
मैं जो रोड़ा हूँ, उसे हथौड़े से तोड़-तोड़
मैं जो कारीगर हूँ, क़रीने से
सँवारता-सजाता हूँ, सजाता रहूँगा।

सागर के किनारे तक
तुम्हें पहुँचाने का
उदार उद्यम ही मेरा हो :
फिर वहाँ जो लहर हो, तारा हो,
सोन-तरी हो, अरुण सवेरा हो,
वह सब, ओ मेरे वर्य!
तुम्हारा हो, तुम्हारा हो, तुम्हारा हो।

नयी दिल्ली, 6 अप्रैल, 1957

हरा-भरा है देश

हरे-भरे हैं खेत
मगर खलिहान नहीं :
बहुत महतो का मान—
मगर दो मुट्ठी धान नहीं।
भरा है दिल
पर नीयत नहीं :
हरी है कोख—
तबीयत नहीं।

भरी हैं आँखें
पेट नहीं :
भरे हैं बनिये के काग़ज़—
टेंट नहीं।

हरा-भरा है देश :
रुँधा मिट्टी में ताप
पोसता है विष-वट का मूल—
फलेंगे जिस में शाप।

मरा क्या और मरे
इसलिए अगर जिये तो क्या :
जिसे पीने को पानी नहीं
लहू का घूँट पिये तो क्या;

पकेगा फल, चखना होगा
उन्हीं को जो जीते हैं आज :
जिन्हें हैं बहुत शील का ज्ञान-
नहीं हैं लाज।

तपी मिट्टी जो सोख न ले
अरे, क्या है इतना पानी?
कि व्यर्थ है उद्बोधन, आह्वान—
व्यर्थ कवि की बानी?

कोणार्क-कटक, 15 अप्रैल, 1957

सोन-मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँफ रही है मछली।

रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

क्योतो, 10 सितम्बर, 1957

मैं देख रहा हूँ

मैं देख रहा हूँ
झरी फूल से पँखुरी
—मैं देख रहा हूँ अपने को ही झरते।

मैं चुप हूँ :
वह मेरे भीतर वसन्त गाता है।

तोक्यो, 15 सितम्बर, 1957

सम्राज्ञी का नैवेद्य-दान

हे महाबुद्ध!
मैं मन्दिर में आयी हूँ
रीते हाथ :
फूल मैं ला न सकी।

औरों का संग्रह
तेरे योग्य न होता।

जो मुझे सुनाती
जीवन के विह्वल सुख-क्षण का गीत-
खोलती रूप-जगत् के द्वार जहाँ

तेरी करुणा
बुनती रहती है
भव के सपनों, क्षण के आनन्दों के
रह:सूत्र अविराम—
उस भोली मुग्धा को
कँपती
डाली से विलगा न सकी।

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली,
जो फूल जहाँ है,
जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर
अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल,
हे महाबुद्ध!

अर्पित करती हूँ तुझे।

वहीं-वहीं प्रत्येक भरे प्याला जीवन का,
वहीं-वहीं नैवेद्य चढ़ा
अपने सुन्दर आनन्द-निमिष का,
तेरा हो,
हे विगतागत के, वर्तमान के, पद्मकोश!
हे महाबुद्ध!

तोक्यो, 25 सितम्बर, 1957

जापान की सम्राज्ञी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध मन्दिर में जाते समय असमंजस में पड़ गयी थी कि चढ़ाने को क्या ले जाए और फिर रीते हाथ गयी थी। यही घटना कविता का आधार है।

निरस्त्र

कुहरा था,
सागर पर सन्नाटा था :
पंछी चुप थे।
महाराशि से कटा हुआ
थोड़ा-सा जल
बन्दी हो
चट्टानों के बीच एक गढ़िया में
निश्छल था—
पारदर्श।

प्रस्तर- चुम्बी
बहुरंगी
उद्भिज-समूह के बीच
मुझे सहसा दीखा
केंकड़ा एक :
आँखें ठंडी
निष्कौतूहल
निर्निमेष

जाने
मुझ में कौतुक जागा
या उस प्रसृत सन्नाटे में
अपना रहस्य यों खोल
आँख-भर तक लेने का साहस
मैंने पूछा : क्यों जी,
यदि मैं तुम्हें बता दूँ
मैं करता हूँ प्यार किसी को—
तो चौंकोगे ?
ये ठंडी आँखें झपकेंगी
औचक ?

उस उदासीन ने
सुना नहीं :
आँखों में
वही बुझा सूनापन जमा रहा।
ठंडे नीले लोहू में
दौड़ी नहीं
सनसनी कोई।

पर अलक्ष्य गति से वह
कोई लीक पकड़
धीरे-धीरे

पत्थर की ओट
किसी कोटर में
सरक गया

यों मैं
अपने रहस्य के साथ
रह गया
सन्नाटे से घिरा
अकेला
अप्रस्तुत
अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र,
निष्कवच,
वध्य।

बर्क्ले (कैलिफोर्निया), अक्टूबर 1962

मन बहुत सोचता है

मन बहुत सोचता है कि उदास न हो
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय?

शहर के दूर के तनाव-दबाव कोई सह भी ले,
पर यह अपने ही रचे एकान्त का दबाव सहा कैसे जाय!

नील आकाश, तैरते-से-मेघ के टुकड़े,
खुली घासों में दौड़ती मेघ-छायाएँ,
पहाड़ी नदी : पारदर्शी पानी,
धूप-धुले तल के रंगारंग पत्थर,
सब देख बहुत गहरे कहीं जो उठे,

वह कहूँ भी तो सुनने को कोई पास न हो—
इसी पर जो जो में उठे वह कहा कैसे जाय!

मन बहुत सोचता है कि उदास न हो, न हो,
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय!

जुलाई 1966

प्रार्थना का एक प्रकार

कितने पक्षियों की मिली-जुली चहचहाट में से
अलग गूँज जाती हुई एक पुकार :
मुखड़ों-मुखौटों की कितनी घनी भीड़ों में
सहसा उभर आता एक अलग चेहरा :
रूपों, वासनाओं, उमंगों, भावों, बेबसियों का
उमड़ता एक ज्वार
जिस में निथरती है एक माँ ।, एक नाम—
क्या यह भी है
प्रार्थना का एक प्रकार?

नयी दिल्ली, 5 जून, 1968

औपन्यासिक

मैं ने कहा : अपनी मनःस्थिति
मैं बता नहीं सकता। पर अगर
अपने को उपन्यास का चरित्र बताता, तो इस समय अपने को
एक शराबखाने में दिखाता, अकेले बैठकर
पीते हुए— इस कोशिश में कि सोचने की ताक़त

किसी तरह जड़ हो जाए।
कौन या कब अकेले बैठ कर शराब पीता है?
जो या जब अपने को अच्छा नहीं लगता—अपने को
सह नहीं सकता।
उस ने कहा : हुँ:, कोई बात है भला? शराबखाना भी
(यह नहीं कि मुझे इस का कोई तजुरबा है, पर)
कोई बैठने की जगह होगी—वह भी अकेले?
मैं वैसे में अपने पात्र को
नदी किनारे बैठाती—अकेले उदास बैठकर कुढ़ने के लिए।

मैं ने कहा : शराबखाना
न सही बैठने लायक जगह! पर अपने शहर में
ऐसा नदी का किनारा कहाँ मिलेगा जो
बैठने लायक हो—उदासी में अकेले
बैठकर अपने पर कुढ़ने लायक?

उस ने कहा : अब मैं क्या करूँ अगर अपनी नदी का
ऐसा हाल हो गया है? पर कहीं तो ऐसी नदी
ज़रूर होगी?

मैं ने कहा : सो तो है—यानी होगी। तो मैं
अपने उपन्यास का शराबखाना
क्या तुम्हारे उपन्यास की नदी के किनारे
नहीं ले जा सकता?

उसने कहा : हुँ:! वह कैसे हो सकता है?
मैंने कहा : ऐसा पूछती हो, तो तुम उपन्यासकार भी
कैसे बन सकती हो?

उस ने कहा : न सही—हम नहीं बनते उपन्यासकार।
पर वैसी नदी होगी
तो तुम्हारे शराबखाने की ज़रूरत क्या होगी, और उसे

नदी के किनारे तुम ले जा कर ही क्या करोगे?

मैं ने ज़िद कर के कहा : ज़रूर ले जाऊँगा! अब देखो, मैं
उपन्यास ही लिखता हूँ और उस में
नदी किनारे शराबखाना बनाता हूँ!

उस ने भी ज़िद कर के कहा : वह
बनेगा ही नहीं! और बन भी गया तो वहाँ तुम अकेले बैठ कर
शराब नहीं पी सकोगे!

मैं ने कहा : क्यों नहीं? शराबखाने में अकेले
शराब पीने पर मनाही होगी?

उस ने कहा : मेरी नदी के किनारे तुम को
अकेले बैठने कौन देगा, यह भी सोचा है?

तब मैं ने कहा : नदी के किनारे तुम मुझे अकेला
नहीं होने दोगी, तो शराब पीना ही कोई
क्यों चाहेगा, यह भी कभी सोचा है?

इस पर हम दोनों हँस पड़े! वह
उपन्यास वाली नदी और कहीं हो न हो,
इस हँसी में सदा बहती है,
और वहाँ शराबखाने की कोई ज़रूरत नहीं है।

नयी दिल्ली, अक्टूबर, 1968

काँपती है

पहाड़ नहीं काँपता,
न पेड़, न तराई

काँपती है ढाल पर के घर से
नीचे झील पर झरी
दिये की लौ की
नन्ही परछाईं।

बर्क्ले, नवम्बर, 1969

शहतूत

वापी में तूने
कुचले हुए शहतूत क्यों फेंके, लड़की?
क्या तूने चुराये—
पराये शहतूत यहाँ खाये हैं?

क्यों नहीं बताती?
अच्छा, अगर नहीं भी खाये
तो आँख क्यों नहीं मिलाती?

और तूने यह गाल पर क्या लगाया?
ओह, तो क्या शहतूत इसीलिए चुराये —
सच नहीं खाये?

शहतूत तो ज़रूर चुराये, अब आँख न चुरा !
नहीं तो देख, शहतूत के रस की रंगत से
मेरे ओठ सँवला जाएँगे
तो लोग चोरी मुझे लगाएँगे
और कहेंगे कि तुझे भी चोरी के गुर मैं ने सिखाये हैं।
तब, लड़की, हम किसे क्या बताएँगे!
कैसे समझाएँगे?

अच्छा, आ, वापी की जगत पर बैठ कर यही सोचें।
लड़की, तू क्यों नहीं आती?

अक्टूबर, 1969

देलोस से एक नाव

दाडिम की ओट हो जा, लड़की?
भोर-किरणों की ओट
देलोस की ओर से
एक नाव आ रही है!
क्या जाने, भोर-पंछियों के शोर के साथ
खित्तारे के स्वर भी उमड़ते हुए आने लगें!
मैं ने तो इसीलिए अंजीर की ओट ली है
और वंशी बजा रहा हूँ:
दाडिम की ओट हो जा, लड़की!
और सुन, तुझे बुला रहा हूँ!

अक्टूबर 1969

देलोस : एजियन सागर (पूर्वी भूमध्य सागर) के किक्लदीस (साइक्लैंडीज़) द्वीप समूह का सबसे छोटा द्वीप। अपोलो का जन्म यहीं हुआ था, यहीं उसकी पूजा का प्रधान केन्द्र था।

कहाँ

मन्दिर में
मैं ने एक बिलौटा देखा :
चपल थीं उस की आँखें

और विस्मय-भरी
उस की चितवन :
और उस का रोमिल स्पर्श
न्यौतता था
सिहरते अनजान खेलों के लिए
जिन का आश्वासन था उस के
लोचीले बिजली-भरे तन में!

बाहर
यह एक अजनबी नारी है :
आँखों में स्तम्भित, निषेधता अँधेरा,

बदन पर एक दूरी का ठंडा ओप!

भद्रे तुम ने मेरा बिलौटा
कहाँ छिपा दिया?

अक्टूबर 1969

नीमाड़ : चैत

1.
पेड़ अपनी-अपनी छाया को
आतप से
ओट देते
चुपचाप खड़े हैं।

तपती हवा
उन के पत्ते झराती जाती है।

2.

छाया को
झरते पत्ते
नहीं ढँकते,
पत्तों को ही
छाया छा लेती है।

देखिए न मेरी कारगुज़ारी

अब देखिए न मेरी कारगुज़ारी
कि मैं मँगनी के घोड़े पर
सवारी कर
ठाकुर साहब के लिए उन की रियाया से लगान
और सेठ साहब के लिए पंसार-हट्टे की हर दूकान
से किराया
वसूल कर लाया हूँ

थैली वाले को थैली
तोड़े वाले को तोड़ा
—और घोड़े वाले को घोड़ा।

सब को सब का लौटा दिया
अब मेरे पास यह घमंड है
कि सारा समाज मेरा एहसानमन्द है।

हरा अन्धकार

रूपाकार
सब अन्धकार में हैं :
प्रकाश की सुरंग में
मैं उन्हें बेधता चला जाता हूँ,
उन्हें पकड़ नहीं पाता।

मेरी चेतना में इस की पहचान है
कि अन्धकार भी
एक चरम रूपाकार है,
सत्य का, यथार्थ का विस्तार है,
पर मेरे शब्द की इतनी समाई नहीं-
यह मेरी भाषा की हार है।

प्रकाश मेरे अग्रजों का है
कविता का है, परम्परा का है,
पोढ़ा है, खरा है :
अन्धकार मेरा है,
कच्चा है, हरा है।

बर्मिंगहम-लन्दन (रेल में), 14 नवम्बर, 1970

जो पुल बनाएँगे

जो पुल बनाएँगे
वे अनिवार्यत:
पीछे रह जाएँगे
सेनाएँ हो जाएँगी पार
मारे जाएँगे रावण

जयी होंगे राम,
जो निर्माता रहे
इतिहास में
बन्दर कहलाएँगे।

नन्दा देवी–1

ऊपर तुम, नन्दा!
नीचे तरु–रेखा से
मिलती हरियाली पर
बिखरे रेवड़ को
दुलार से टेरती–सी
गड़रिये की बाँसुरी की तान :

और भी नीचे
कट गिरे वन की चिरी पट्टियों के बीच से
नये खनि–यन्त्र की
भट्ठी से उठे धुएँ का फन्दा।
नदी की घेरती–सी वत्सल कुहनी के मोड़ में
सिहरते–लहरते शिशु धान।

चलता ही जाता है यह
अन्तहीन, अन–सुलझ
गोरख–धन्धा!

दूर, ऊपर तुम, नन्दा!

विनसर, सितम्बर 1972

नन्दा देवी–3

तुम
वहाँ से
मन्दिर तुम्हारा
यहाँ है।
और हम—
हमारे हाथ, हमारी सुमिरनी—
यहाँ से—
और हमारा मन
वह कहाँ है?

नन्दा देवी–8

यह भी तो एक सुख है
(अपने ढंग का क्रियाशील)
कि चुप निहारा करूँ
तुम्हें धीरे-धीरे खुलते!
तुम्हारी भुजा को बादलों के उबटन से
तुम्हारे बदन को हिम-नवनीत से
तुम्हारे विशद वक्ष को
धूप की धाराओं से धुलते!

यह भी तो एक योग है
कि मैं चुपचाप
सब कुछ भोगता हूँ
पाता हूँ
सुखों को,

निसर्ग के अगोचर प्रसादों को,
गहरे आनन्दों को
अपनाता हूँ
पर सब कुछ को बाँहों में
समेटने के प्रयास से
स्वयं दे दिया जाता हूँ!

सितम्बर, 1972

नन्दा देवी–14

निचले
हर शिखर पर
देवल :
ऊपर
निराकार
तुम
केवल...

फूल की स्मरण–प्रतिमा

यह देने का अहंकार
छोड़ो।
कहीं है प्यार की पहचान
तो उसे यों कहो :
'मधुर, यह देखो
फूल। इसे तोड़ो
घुमा-फिरा कर देखो,

फिर हाथ से गिर जाने दो :
हवा पर तिर जाने दो—
(हुआ करे सुनहली) धूल।'

फूल की स्मरण-प्रतिमा ही बचती है।
तुम नहीं। न तुम्हारा दान।

नयी दिल्ली, नवम्बर, 1968

काल की गदा

काल की गदा
एक दिन
मुझ पर गिरेगी।

गदा
मुझे नहीं भाएगी :
पर उस के गिरने की नीरव छोटी-सी ध्वनि
क्या काल को सुहाएगी?

नयी दिल्ली, नवम्बर, 1968

नाच

एक तनी हुई रस्सी है जिस पर मैं नाचता हूँ।
जिस तनी हुई रस्सी पर मैं नाचता हूँ
वह दो खम्भों के बीच है।
रस्सी पर मैं जो नाचता हूँ

वह एक ख़म्भे से दूसरे खम्भे तक का नाच है।
दो खम्भों के बीच जिस तनी हुई रस्सी पर मैं नाचता हूँ
उस पर तीखी रोशनी पड़ती है
जिस में लोग मेरा नाच देखते हैं।
न मुझे देखते हैं जो नाचता है
न रस्सी को जिस पर मैं नाचता हूँ
न खम्भों को जिस पर रस्सी तनी है
न रोशनी को ही जिस में नाच दीखता है :
लोग सिर्फ़ नाच देखते हैं।
पर मैं जो नाचता हूँ
जो जिस रस्सी पर नाचता हूँ
जो जिन खम्भों के बीच है
जिस पर जो रोशनी पड़ती है
उस रोशनी में उन खम्भों के बीच उस रस्सी पर
असल में मैं नाचता नहीं हूँ।
मैं केवल उस खम्भे से इस खम्भे तक दौड़ता हूँ
कि इस या उस खम्भे से रस्सी ख़ोल दूँ
कि तनाव चुके और ढील में मुझे छुट्टी हो जाए—
पर तनाव ढीलता नहीं
और मैं इस खम्भे से
उस खम्भे तक दौड़ता हूँ
पर तनाव वैसा बना ही रहता है
सब कुछ वैसा ही बना रहता है
और वही मेरा नाच है जिसे सब देखते हैं
मुझे नहीं
रस्सी को नहीं
खम्भे नहीं
रोशनी नहीं
तनाव भी नहीं
देखते हैं—नाच!

मार्च, 1976

महावृक्ष के नीचे

(पहला वाचन)

जंगल में खड़े हो?
महारूख के बराबर
थोड़ी देर खड़े रहो
महारूख ले लेगा तुम्हारी नाप।
लेने दो।
उसे वह देगा तुम्हारे मन पर छाप।
देने दो।

जंगल में चले हो?
चलो चलते रहो।
महारूख के साथ अपना नाता बदलते रहो।
उस का आयाम
उस का है, बहुत बड़ा है।
पर वह वहाँ खड़ा है।
और तुम चलते हो चलते हुए ही भले हो।

वह महारूख है
अकेला है, वन में है।
तुम महारूख के नीचे—
अकेले हो, वन तुम में है।

ग्रोस पेर्टहोल्ज़ (आस्ट्रिया), 15 मई, 1976

महावृक्ष के नीचे

(दूसरा वाचन)

वन में
महावृक्ष के नीचे खड़े

मैं ने सुनी
अपनी दिल की धड़कन।
फिर मैं चल पड़ा।
पेड़ वहीं
धारा की कोहनी से घिरा
रह गया खड़ा।

जीवन : वह धनी है, धुनी है
अपने अनुपात गढ़ता है।
हम : हमारे बीच जो गुनी है
उन्हें अर्थवती शोभा से मढ़ता है।

ग्रोस पेर्टहोल्ज़ (आस्ट्रिया), 15 मई, 1976

सभी से मैं ने विदा ले ली

सभी से मैं ने विदा ले ली :
घर से,
नदी के हरे कूल से,
इठलाती पगडंडी से
पीले वसन्त के फूलों से
पुल के नीचे खेलती
डाल की छायाओं के जाल से।

सब से मैं ने विदा ले ली :
एक उसी के सामने
मुँह खोला भी, पर
बोल नहीं निकले।

हम
न घरों में मरते हैं न घाटों-अखियारों में

न नदी-नालों में
न झरते फूलों में
न लहराती छायाओं में
न डाल से छनती प्रकाश की सिहरनों में
इन सब से बिछुड़ते हुए हम
उन में बस जाते हैं।
और उन में जीते रहते हैं
जैसे कि वे हम में रस जाते हैं
और हमें सहते हैं।

एक मानव ही—हर उस में जिस पर हमें ममता होती है
हम लगातार मरते हैं,
हर वह लगातार
हम में मरता है,
उस दोहरे मरण की पहचान को ही
कभी विदा, कभी जीवन-व्यापार
और कभी प्यार
हम कहते हैं।

हाइडेलबर्ग, मई, 1976

पत्ता एक झरा

सारे इस सुनहले चँदोवे से
पत्ता कुल एक झरा
पर उसी की अकिंचन
झरन के
हर कँपने में
मैं कितनी बार मरा!

बिनसर, 1978

मेरे देश की आँखें

नहीं, ये मेरे देश की आँखें नहीं हैं
पुते गालों के ऊपर
नकली भँवों के नीचे
छाया प्यार के छलावे बिछाती
मुकुर से उठायी हुई
मुस्कान मुस्कुराती
ये आँखें--
नहीं, ये मेरे देश की नहीं हैं...

तनाव से झुर्रियाँ पड़ी कोरों की दरार से
शरारे छोड़ती घृणा से सिकुड़ी पुतलियाँ-
नहीं, ये मेरे देश की आँखें नहीं हैं...

वन डालियों के बीच से
चौंकी अनपहचानी
कभी झाँकती हैं
वे आँखें,
मेरे देश की आँखें;
खेतों के पार
मेड़ की लीक धारे
क्षिति-रेखा को ख़ोजती
सूनी कभी ताकती हैं
वे आँखें...

उसने
झुकी कमर सीधी की
माथे से पसीना पोंछा
डलिया हाथ से छोड़ी
और उड़ी धूल के बादल के

बीच में से झलमलाते
जाड़ों की अमावस में से
मैले चाँद-चेहरे सकुचाते
में टँकी थकी पलकें
उठायीं—
और कितने काल-सागरों के तार तैर आयीं
मेरे देश की आँखें...

पुरी-कोणार्क, 2 जनवरी, 1980

मैं ने पूछा क्या कर रही हो

मैं ने पूछा
यह क्या बना रही हो?
उस ने आँखों से कहा
धुआँ पोंछते हुए कहा :
मुझे क्या बनाना है! सब-कुछ
अपने आप बनता है
मैं ने तो यही जाना है।
कह लो मुझे भगवान ने यही दिया है।

मेरी सहानुभूति में हठ था :
मैं ने कहा : कुछ तो बना रही हो
या जाने दो, न सही—
बना नहीं रही—
क्या कर रही हो?
वह बोली : देख तो रहे हो
छीलती हूँ
नमक छिड़कती हूँ
मसलती हूँ
निचोड़ती हूँ

कोड़ती हूँ
कसती हूँ
फोड़ती हूँ
फेंटती हूँ
महीन बिनारती हूँ
मसालों से सँवारती हूँ
देगची में पलटती हूँ
बना कुछ नहीं रही
बनता जो है—यही सही है—
अपने-आप बनता है
पर जो कर रही हूँ—
एक भारी पेंदे
मगर छोटे मुँह की
देगची में सब कुछ झोंक रही हूँ
दबा कर अँटा रही हूँ
सीझने दे रही हूँ।
मैं कुछ करती भी नहीं—
मैं काम सलटती हूँ।

मैं जो परोसूँगी
जिन के आगे परोसूँगी
उन्हें क्या पता है
कि मैंने अपने साथ क्या किया है?

नयी दिल्ली, मार्च, 1980

घर

1.
मेरा घर
दो दरवाजों को जोड़ता

एक घेरा है
मेरा घर
दो दरवाजों के बीच है
उसमें
किधर से भी झाँको
तुम दरवाजे से बाहर देख रहे होंगे
तुम्हें पार का दृश्य दीख जाएगा
घर नहीं दीखेगा।

मैं ही मेरा घर हूँ।
मेरे घर में कोई नहीं रहता
मैं भी क्या
मेरे घर में रहता हूँ
मेरे घर में
जिधर से भी झाँको...

2.
तुम्हारा घर
वहाँ है
जहाँ सड़क समाप्त होती है
पर मुझे जब
सड़क पर चलते ही जाना है
तब वह समाप्त कहाँ होती है?
तुम्हारा घर...

3.
दूसरों के घर
भीतर की ओर खुलते हैं
रहस्यों की ओर
जिन रहस्यों को वे खोलते नहीं।
शहरों में होते हैं

दूसरों के घर
दूसरों के घरों में
दूसरों के घर
दूसरों के घर हैं।

4.
घर
हैं कहाँ जिनकी हम बात करते हैं
घर की बातें
सब की अपनी हैं
घर की बातें
कोई किसी से नहीं करता
जिनकी बातें होती हैं
वे घर नहीं हैं।

5.
घर
मेरा कोई है नहीं
घर मुझे चाहिए :
घर के भीतर प्रकाश हो
इसकी भी मुझे चिन्ता नहीं है
प्रकाश के घेरे के भीतर मेरा घर हो-
इसी की मुझे तलाश है।
ऐसा कोई घर आपने देखा है?
देखा हो
तो मुझे भी उसका पता दें
न देखा हो
तो मैं आपको भी
सहानुभूति तो दे ही सकता हूँ
मानव होकर भी हम-आप
अब ऐसे घरों में नहीं रह सकते

जो प्रकाश के घेरे में हैं
पर हम
बेघरों की परस्पर हमदर्दी के
घेरे में तो रह ही सकते हैं!

चीनी चाय पीते हुए

चाय पीते हुए
मैं अपने पिता के बारे में सोच रहा हूँ।

आपने कभी
चाय पीते हुए
पिता के बारे में सोचा है?

अच्छी बात नहीं है
पिताओं के बारे में सोचना।

अपनी कलई खुल जाती है।

हम कुछ दूसरे हो सकते थे।
पर सोच की कठिनाई यह है कि दिखा देता है
कि हम कुछ दूसरे हुए होते
तो पिता के अधिक निकट हुए होते
अधिक उन जैसे हुए होते।

कितनी दूर जाना होता है पिता से
पिता जैसा होने के लिए!
पिता भी
सवेरे चाय पीते थे

क्या वह भी
पिता के बारे में सोचते थे—
निकट या दूर?

छन्द

मैं सभी ओर से खुला हूँ
वन-सा, वन सा अपने में बन्द हूँ
शब्द में मेरी समाई नहीं होगी
मैं सन्नाटे का छन्द हूँ।

वसीयत

मेरी छाती पर
हवाएँ लिख जाती हैं
महीन रेखाओं में
अपनी वसीयत
और फिर हवाओं के झोंके ही
वसीयतनामा उड़ा कर
कहीं और ले जाते हैं।
बहकी हवाओ! वसीयत करने से पहले
हलफ़ उठाना पड़ता है
कि वसीयत करनेवाले के
होश-हवास दुरुस्त हैं :
और तुम्हें इसके लिए
गवाह कौन मिलेगा
मेरे ही सिवा?

क्या मेरी गवाही
तुम्हारी वसीयत से ज़्यादा टिकाऊ होगी?

मैं वह धनु हूँ

मैं वह धनु हूँ, जिसे साधने
में प्रत्यंचा टूट गयी है
स्खलित हुआ है बाण यदपि ध्वनि
दिग्दिगन्त में फूट गयी है—

प्रलयस्वर है वह, या है बस
मेरी लज्जाजनक पराजय—
या कि सफलता! कौन कहेगा
क्या उसमें है विधि का आशय!

क्या मेरे कर्मों का संचय
मुझको चिन्ता छूट गयी है—
मैं बस जानूँ मैं धनु हूँ, जिस
की प्रत्यंचा टूट गयी है!

इत्यलम्, पृष्ठ 71

डायरी

मैं स्वल्प-सन्तोषी हूँ। पतझर के झरते पत्ते से अधिक सुन्दर किसी चीज़ की कल्पना नहीं कर पा रहा हूँ। यह धीरे-धीरे, लय के साथ डोलते हुए झरना—मानो धरती के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होकर,भार-मुक्त तिरना—और उस मुक्त होने में लय पहचानना और उसके साथ एक-प्राण होना—सृष्टि-मात्र में इससे बड़ा सौभाग्य क्या और इससे बड़ा सौन्दर्य क्या... पत्ते यों झरते जाएँ और मैं उन्हें देखता जाऊँ—लगता है कि इसी में कालमुक्त हो जाऊँगा!

यों यह बात पत्ते के बारे में जितनी है, खुद मेरे बारे में उससे अधिक है। यों भी जानता हूँ कि लययुक्त गति का मेरे लिए प्रबल आकर्षण है—कोई भी लययुक्त गति—फुलचुही का पंख फड़फड़ाते हुए क्षण-भर को अधर में अटक जाना; अच्छी तैराकी; घुड़-दौड़ की सरपट; अबाबील की लहराती या बाज की सीधी उड़ान: हिरन की छलाँग जो अपने शिखर पर एक साथ ही निश्चेष्ट और निरायास अग्रसरण हो जाती है—कथकिये के चक्कर या ततकार, पुङ्वादक की कूद... और यही क्यों, साँप का डोलना, नाली में काही का लहराना, केंचुए की चाल में लहराता-बढ़ता संकुचन-आस्फालन... लट्टू का घूमना, कुम्हार के चाक पर सकोरे का रूपायन, एंजिन के शाफ़्ट की खड़कन के साथ भाप की सीटी की 'ताल वाद्य कचहरी', कड़ाही में जलेबी के घोल की चुअन... सूची का कोई अन्त है?

एकाएक सोचता हूँ कि कितनी सुन्दर है दुनिया—क्योंकि कितनी लययुक्त गतियाँ दीखती हैं इसमें!

यह हो कैसे सकता है कि कोई अपना रास्ता चुने भी, और उस पर अकेला भी न हो? राजमार्ग पर चलने वाले रास्ता नहीं चुनते; रास्ता उन्हें चुनता है।

नहीं। मैं अकेलापन चुनता नहीं हूँ, केवल स्वीकार करता हूँ।

इसमें, और अपनी परिस्थिति सम्प्रेष्य बनाना चाहने में, कोई विरोध नहीं है। अकेलेपन को मैंने वरीयता नहीं दी, लेखक होने के नाते दूसरे तक पहुँचना—उसके भीतर पैठ कर उसे अपने भीतर पैठने देना—पैठाना—मैंने अनिवार्य माना है।

जो मेरा हो वह अनन्य मेरा हो, पर वह सह-संवेद्य अवश्य हो—नहीं तो उसके मेरा होने का भी और क्या प्रमाण है—होने का ही क्या प्रमाण है? अनुभूति स्वत:प्रमाण होती है, पर उसकी पहचान स्वत:प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि पहचान जिस यन्त्र से होती है वह साझा है।

सर्जन-प्रक्रिया की जितनी चर्चा इधर हुई है उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए कि सर्जन एक यन्त्रणा-भरी प्रक्रिया है। 'भोगने वाले व्यक्ति' और 'रचने वाली मनीषा' के अलगाव की पुरानी चर्चा में जब कहा गया था कि दोनों के बीच एक दूरी है और जितना बड़ा कलाकार होगा उतनी अधिक दूरी होगी, तब यह नहीं स्पष्ट किया गया था कि दूरी लाने की यह प्रक्रिया भी—और वही तो सर्जन-प्रक्रिया है!—कष्टमय है। न यही बताया गया था कि बड़ी दूरी ही आवश्यक है या कि जो भोगा गया (और जिससे दूरी चाही गयी) उसका भी बड़ा होना आवश्यक है? दूसरे शब्दों में क्या भावों से उन्मोचन ही महत्त्वपूर्ण है, या कि इसका भी कुछ मूल्य है कि वे भाव कितने प्रबल थे?

पुरानी चर्चा यहाँ फिर नहीं उठाना चाहता, न उलझन बढ़ाना चाहता हूँ। उसकी ओर ध्यान गया तो इसलिए कि वह एक दूसरे प्रश्न की पूर्व-पीठिका है। जो पुस्तक रची नहीं गयी, केवल जुड़ गयी है, उसके सन्दर्भ में क्या रचना-प्रक्रिया और इस यन्त्रणा का उल्लेख कुछ सार्थकता रखता है?

कहना चाहता हूँ कि हाँ, रखता है। जिन छोटे-छोटे प्रकरणों को जोड़कर यह पुस्तक बनी है, वे प्राय: सभी छोटे-छोटे युद्धों के इतिहास हैं : प्रत्येक के पीछे एक 'यन्त्रणा-भरी प्रक्रिया' रही है। इतना ही है कि समूची पुस्तक में एक ही रचना की प्रक्रिया में पायी हुई यन्त्रणा से मिलने वाली संहति नहीं है, यह फुटकर प्रक्रियाओं का कलन है जिनके पीछे उतनी ही फुटकर, विविध और वैचित्र्यमयी यन्त्रणाएँ रही हैं। संहति उसमें है तो रचना के माध्यम से नहीं, रचयिता के जीवनानुभव के माध्यम से। संवेदनशील यन्त्र के लिए भावानुभव का संग्रह, भोग और उससे उन्मोचन एक सतत् प्रक्रिया है। इस लिए अगर यह भी न कहें कि यह पुस्तक 'बन गयी है' या 'जुड़ गयी है', केवल यह कहें कि उपशीर्षक में बतायी गयी अवधि में 'जितनी बनी' या 'जितनी जुड़ी' उतनी ही है, तो भी सही होगा—बल्कि वही अधिक सही होगा। इसमें से कुछ छोड़ भी दिया जा सकता था, इस में कुछ जोड़ भी दिया जा सकता था। इसी अवधि में लिखा गया दूसरा कुछ या इससे पूर्व लिखा गया कुछ या आगे लिखा जाने वाला कुछ भी पुस्तक का अंग हो सकता था। क्रम भी बदला जा सकता था—जैसा कि चयन के दौरान कई बार बदला भी जाता रहा क्योंकि 'जोड़ी

हुई' चीज़ में भी तो कुछ तारतमता होनी चाहिए...

इसी काल में 'रचना' भी हुई जो अलग छपी है और कुछ छपेगी। पाठक-वर्ग को उसी तक न रख कर लेखक के कुछ निकटतर आने देने का यह उपक्रम—उसका 'वर्कशाप' या 'कंट्रोल पैनेल' भी देखने का यह निमन्त्रण—ऐसा नहीं है कि अभूतपूर्व हो : मेरे लिए भी नहीं। और अगर यह प्रश्न हो कि ठीक इस समय क्यों, तो उसका भी उत्तर है; यद्यपि यह नहीं जानता कि वह उत्तर मुझे देना चाहिए या कि पाठक को स्वयं पाना चाहिए—अभी या कुछ समय बाद। मैंने कहा कि यह संकलन इससे पहले भी रुक सकता था, इससे आगे भी चलता रह सकता था; फिर भी यहीं 'पूरा' कर दिया गया। उसका कारण यही दे सकता हूँ कि अपने भीतर अनुभव किया कि यहीं-कहीं एक पड़ाव है, यहीं-कहीं से यात्रा एक नया मोड़ लेगी। ऐसा मैंने स्वयं जाना या अनुभव किया; किसी और के पास ऐसा मानने का कारण होगा या नहीं मैं नहीं जानता, न यही कह सकता हूँ कि मेरी बात को मानने या काटने के लिए उसके पास अभी यथेष्ट प्रमाण होगा या कि उसे और प्रतीक्षा करनी होगी, जब तक कि किसी नये मोड़ का कोई स्पष्ट संकेत परवर्ती रचना में ही उसे न मिले।

जिन्होंने इस अवधि की रचनाएँ भी पढ़ी हैं, उन्हें जगह-जगह उनकी अनुगूँज सुनाई देगी। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि उन में एक समान्तर यात्रा है—देश-काल दोनों में समान्तर। बल्कि यह कहें कि 'यात्रा' उन्हीं रचनाओं में है, यह उस यात्रा की 'लॉग बुक' है, जिसमें जब-तब दिक्काल की माप की टीप लिखी जाती रही है, जिसके आधार पर यात्रा के पथ-चिह्न, अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियाँ तथा धाराएँ, जोखम, भटकन, प्रत्युत्पन्न सूझ आदि का ब्यौरा मिलता रहे।

तो इस अवधि की अन्त:प्रक्रियाएँ देखने के इस 'अन्तरिम' निमन्त्रण का उद्देश्य यही है कि मेरे पाठक उस पूरे परिदृश्य, उस सागर-पथ का एक बार अवलोकन करके उसे पहचान लें जिसमें से मैं गुजरता आया हूँ। मेरे यान (अथवा नौका) के 'कंट्रोल पैनेल' (अथवा 'एंजिन-रूम') को भी देख लें जिसके सहारे मैं अपनी अवस्थिति, गति और दिशा शोधता रहा हूँ, और लॉग बुक देखकर प्रत्येक निर्णय तथा निर्णय करने वाली बुद्धि की भी परख कर लें। और, हाँ यह भी देख लें कि जो शक्ति चलाने वाली है वह सधती कैसे है।

लेखक के नाते मेरी यात्रा काफ़ी अकेली रही है, मैं जानता हूँ। कभी कोई कुछ दूर साथ चल लिये हैं तो मैं उनके लिए यात्रा के संयोगों का भी और उनका भी आभारी हूँ। ऐसी अकेली यात्रा में मैं भटक न जाऊँ या पाठक-समुदाय से सम्पर्क न गँवा बैठूँ, इसके लिए आवश्यक जान पड़ता है कि जब-तब उसे आमन्त्रित करके वह पूरा देश दिखा दूँ जिसमें से मैं अपनी राह ख़ोजता रहा हूँ, वे यन्त्र-उपकरण भी दिखा दूँ जिनका मुझे सहारा रहा है, और उन यन्त्रों से लक्ष्य जितना, जैसा, जिधर

दीखता है उसकी भी एक झाँकी उन्हें दिखा दूँ। मेरा पाठक-वर्ग बहुत बड़ा कभी नहीं होगा, निरी संख्या की मुझे आकांक्षा भी नहीं है, पर जितने भी पाठक हों वे मूल्यों के उस समूह के साझीदार हो सकें जिनकी खोज ही मेरी यात्रा का लक्ष्य और प्रेरणा-स्रोत रही है, तो मेरी अकेली यात्राओं में भी उन सबका साथ मुझे मिल गया होगा, मैं अपने कृति-कर्म को सफल मानूँगा।

सर्जनात्मक अन्त:प्रक्रिया एक सतत प्रक्रिया है; जिसमें नैरन्तर्य का भी उतना ही महत्त्व है जितना पूर्वापरता का। उस सतत प्रक्रिया में पाठक को सहयात्री के रूप में पा सकना या पाने का भरोसा बनाये रख सकना वह सम्बल है जो सर्जक को यात्रान्त तक ले जाता है। इसके बदले मैं पाठक को यही आश्वासन दे सकता हूँ कि मैं भी भरसक इस अन्त:प्रक्रिया में उसकी दिलचस्पी कम नहीं होने दूँगा—कि सह-यात्रा उसके लिए रोचक और स्फूर्तिप्रद बनी रहेगी। यह गर्वोक्ति नहीं है; एक आस्था की अभिव्यक्ति है। यदि मैं कृत-संकल्प हूँ कि केन्द्रीय प्रयोजनों और मूल्यों से विमुख नहीं होऊँगा, तो निश्चय है कि मेरा पाठक भी मेरे प्रयास को चित्ताकर्षक पाएगा—क्योंकि यह हो नहीं सकता कि उनसे उसका भी गहरा सरोकार न हो। अपने पाठक के प्रति यह निष्ठा मैंने जीवन-भर जो कुछ लिखा-रचा और प्रकाशित किया है उसकी मूल निष्ठा रही है।

जवाब? जवाब मैं नहीं जानता। दो-टूक एक जवाब—निर्विकल्प जवाब। यों रास्ते कई दीखते हैं इस जंगल में से निकलने के; पर जिधर भी थोड़ा बढ़ता हूँ एक सन्देह (जिसे सन्देह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि वह एक प्रतिकूल निश्चय ही होता है) धर दबोचता है कि नहीं, यह रास्ता भी बाहर को नहीं है, जंगल के भीतर ही को मुड़ जाएगा! ध्रुव निश्चयपूर्वक इतना ही जान पाया हूँ कि जो जीवन जी रहा हूँ यह मेरा नहीं है। ऐसे नहीं जीना चाहता, ऐसे नहीं जी सकूँगा। जीना चाहता हूँ। पर जीना ऐसे नहीं। यह ऐसापन ही गलत है, जीवन नहीं।

कोरा असन्तोष होता तो वह भी बेकार होता। सिर्फ 'जंगल से बाहर निकलने' की आतुरता होती तो सोचता कि क्या वह भी एक प्रतीप पलायन नहीं है—कहाँ नहीं है जंगल? नहीं; कहाँ जाना-पहुँचना चाहता हूँ, उसका कुछ चित्र मन के सामने है। बल्कि वह न होता तो शायद इतना कष्ट भी न होता! समस्या यही है कि किस रास्ते से जाने से वहाँ पहुँच सकूँगा : इसी सवाल का साफ सीधा जवाब सामने नहीं है। लक्ष्य सन्दिग्ध नहीं है, कम से कम उतना नहीं, शायद कुछ द्विधा वहाँ भी

हो, रास्ते ही सब सन्दिग्ध हैं।

और—फिलहाल—मैं स्वस्थ नहीं हूँ : अस्वस्थ हूँ और कष्ट में हूँ और नहीं जानता कि क्या करूँ। और शरीर का हाल पूछने वाले ये सब मुझे पागल किये दे रहे हैं!

म्युनिख के होटल के गलियारे में स्टीफेन स्पेंडर से अचानक मुठभेड़ हो गयी। बदहवास दीख रहे थे। दोनों ही ओर के 'तुम यहाँ कैसे?' के बाद (स्पेंडर बवेरिया सरकार के अतिथि होकर आए हुए थे और उनकी बड़ी आव-भगत हो रही थी), मैंने परेशानी का कारण पूछा तो बोले, "मुझे कुछ ऐसा लग रहा है कि मुझे बनाया जा रहा है।" मुझे याद आया, कई बरस पहले बम्बई में एक दूसरे अवसर पर भी स्पेंडर ने इससे मिलती-जुलती बात और भी जोरदार शब्दों में मुझसे कही थी : "आइ हैव एन अनकम्फर्टेब्ल् फ़ीलिंग आइ'म बीइंग मेड ए स्टूज ऑफ़, बट आइ डोंट नो बाई हूम!"

पता नहीं स्पेंडर अपनी परेशानी का हल अभी तक जान पाए हैं कि नहीं। पर बात उनकी शायद आज के बौद्धिक की वास्तविक स्थिति का अच्छा-खासा चित्र प्रस्तुत कर देती है : कि यह अस्वस्ति-भाव तो आपके मन में है कि आपके निमित्त से कोई अपना उल्लू सीधा कर रहा है, पर यह समझ में नहीं आता कि कौन! तीस-एक बरस पहले उन के लँगोटिये साथी ऑडेन ने अपने समय के बौद्धिक की नियति का जो चित्र खींचा था—'टु डिफेंड द बैड अगेंस्ट द वर्स' उससे स्पेंडर की स्थिति ज्यादा दर्दनाक पर शायद ज्यादा सच भी है। ऑडेन को काम अगर रद्दी जान पड़ता था तो कम-से-कम पता तो था कि क्या उससे अपेक्षित है! आज के बौद्धिक की समस्या यह नहीं है कि उसे 'अच्छा' चुनने की स्वतन्त्रता नहीं, केवल बदतर और बद के बीच चुनाव करने-भर की उसे छूट है। उसकी समस्या यह है कि वह यही जानने को स्वतन्त्र नहीं है कि उससे क्या चुनवाया जा रहा है—कि जिस मत-पत्र पर उससे हस्ताक्षर कराये जा रहे हैं उस पर क्या लिखा है यह उसे नहीं जानने दिया गया है।

परिणाम? वही 'अनकम्फर्टेब्ल् फ़ीलिंग'—लेकिन बौद्धिक महोदय, आप करेंगे क्या?

लन्दन में एक लेखक-अध्यापक के घर में रहना हुआ था। वह स्वयं छुट्टी मनाने विदेश गया था, घर बन्द कर के ताली उसने बाहर पायदान के नीचे मेरे लिए

रख दी थी कि जब भी पहुँचूँ घर खोल लूँ। और सब छूट थी, एक शर्त उसकी ओर से थी कि उसके अध्ययन-कक्ष की हर चीज़ 'ज्यों की त्यों' रहे : पुस्तकें मैं पढ़ना चाहूँ तो पढ़ूँ, कागज आदि भी गोपनीय नहीं हैं, पर कोई भी चीज़ अपने स्थान से हटी न पायी जानी चाहिए! पुस्तकें मैं यों भी देखना चाहता, पर इस शर्त के कारण 'स्टडी' में कौतूहल अधिक हुआ। घर में अपना सामान रख कर पहले उसी को देखने गया।

हर पढ़ने-लिखने वाले को दूसरे की पढ़ने-लिखने की जगह अव्यवस्थित लगती है, अपनी चाहे वह जैसे रखता हो। पर यह— ! कमरे में दो बछड़ों को, या दो-चार अमेरिकी बच्चों को, ऊधम करने को छोड़ दिया जाता तो भी शायद इससे अधिक गड़बड़ी वे न कर पाते! तीन मेजों पर किताबें-कागज छितरे पड़े थे, फ़र्श पर भी कुछ ढेर और कुछ बिखरे कागज : बीच में जहाँ-तहाँ सीपियों, कटोरों, डिब्बों में बरसों नहीं तो महीनों की सिगरेटों की राख और मसले हुए टुकड़े, चिट्ठियाँ, धूल, चाकलेट की पन्नी, पुराने स्लीपर, मैले मोजे, प्याले जिनमें चाय की तलछट सूख चुकी थी और फफुँदिया गयी थी, टूटी कंघियाँ, बियर के खाली डिब्बे... पूरी सूची की जरूरत नहीं है, इससे आगे स्थाली-पुलाक न्याय लागू हो सकता है। (सोचने की बात यह है कि अगर यह दाना है तो पूरी स्थाली क्या होगी!)

'स्टडी' मैंने 'ज्यों की त्यों' रहने दी! किताबें भी नहीं छुईं। शर्त के डर से नहीं, अपनी जान की खातिर।

जब मकान छोड़ा, तब घर बन्द कर के ताली पायदान के नीचे रख देने से पहले एक बार सारे कमरे देख लिए—सब कुछ पूर्ववत् है न? तब खयाल आया, यूरोप में कितने लोग कितना समय इसमें बिताते होंगे कि 'सब कुछ पूर्ववत्' छोड़ कर जाएँ—अपना निशान कहीं न छोड़ जाएँ! 'गतिशील'—डायनैमिक—समाज का यह मूल्य है शायद; और अपनी छाप मिटाने तथा अपनी अस्मिता के मिटने में स्वयं योग देने में क्या बहुत बड़ा अन्तर है?

क्या समाज की गतिशीलता, समाज के भीतर इकाई की चलनशीलता (जो प्रगति का लक्षण मानी जाती है) का अनिवार्य परिणाम एक बना-बनाया 'आइडेंटिटी क्राइसिस' है?

एक दूसरी भी आग है जहाँ से शिखा ऊपर को उठती है।

यह मेरी देह है।

क्या ज़रूरी है कि यह आग चिता की आग हो? क्या यह यज्ञ की ज्वाला नहीं हो सकती?

चिति दोनों में है। आग के लिए मैंने क्या जुटाया, इससे क्या? यह तो सिर्फ जलने के लिए है। आग में मैं आहुति क्या दे रहा हूँ, इसी पर तो सब-कुछ है। क्या मैं फूँक रहा हूँ, या किसी चीज़ को शोध रहा हूँ?

थोड़ा-सा अस्वस्थ होता हूँ तो लोग चिन्तित हो उठते हैं। जो चिन्तित नहीं होते—यानी जिन्हें इससे वास्तव में कोई प्रयोजन नहीं है, वे भी 'हाल पूछना' अपना कर्त्तव्य समझते हैं और पूछ-पूछ कर बेहाल कर देते हैं।

सोचता हूँ : इस शरीर के थोड़े कष्ट की इतनी चिन्ता, और इसके भीतर जो जीव घुटन से छटपटा रहा है, धीरे-धीरे मर रहा है, उसके कष्ट का किसी को पता भी नहीं है!

नीम-बेहोशी के पार से डॉक्टर की आवाज़ (नीम-बेहोशी में ऐसा लगता है, जैसे गहरी डुबकी के दौरान कुछ सुन रहे हों—एक तरफ़ तो ठीक से सुनाई नहीं देता, दूसरी तरफ ऐसा लगता है कि सिर्फ कान से नहीं, सारी देह से सुन रहे हैं!) पूछती है : 'दर्द कैसा है?'

मैं कहता हूँ, "बहुत है।"

"इज इट इंटालरेबल्? (क्या असह्य है?)"

मैं फिर कहता हूँ, "इट इज़ सिवीयर। (तीखा है।)"

वह ज़िद करते हैं "इज़ इट इंटालरेबल्?"

नशे की झील में मुझे लगता है, वह व्यर्थ का सवाल पूछ रहे हैं—अर्थहीन सवाल। मैं चिढ़-सा कर उत्तर देता हूँ : "कहा तो, डॉक्टर, कि सिवीयर है। इंटालरेबल् का मतलब है कि या तो मैं चीखूँ-चिल्लाऊँ, या फिर बेहोश हो जाऊँ। आप देख रहे हैं कि होश में हूँ, और सह रहा हूँ।"

डॉक्टर थोड़ी देर अचकचाये-से मेरी ओर देखते हैं। फिर सिर एक ओर को झुका कर चल देते हैं।

बाद में मुझे बताया गया, डॉक्टर कह रहे थे, "अजीब पेशेंट है। दिल के दौरे में और मार्फ़िया के नशे में लफ़्ज़ों पर बहस करता है।"

क्यों न करूँ? इंटालरेबल् : यानी जो सहा न जाए। सह तो रहा हूँ—भाषा के साथ आप का अन्याय भी तो सह ही रहा हूँ!

हमारे मध्यवर्ग की प्रतिभा मर गयी है, सचमुच बिलकुल मर गयी है। शायद उस वर्ग के लेखकों की भी। या कि अँग्रेज़ी घुन सब को खा गया है। (तभी एक आयातित राजरोग को 'फिरंगदोष' कहा गया था!) हर मध्यवर्गीय घर में कमबख़्त मनीप्लांट पनप रहा है, या बेशर्म कैक्टस कंटकित हो रहे हैं; हर घर में न पाये जाएँ तो हर समकालीन कहानीकार या उपन्यासकार (नर या मादा) की कल्पना पर तो छाये ही हुए हैं। पर अभी तक किसी को किसी देशी भाषा में इसका नाम नहीं सूझा—न अँग्रेज़ी नाम को ही ठोक-पीट कर देसी बना लिया गया। इस से तो पिछली पीढ़ी कहीं अच्छी थी जिसने डैफोडिल को गुण-केसरी नहीं भी कहा तो बूगोनविलिया को बेगमबेली तो बना ही लिया। सुना है कि पश्चिम के नृतत्त्वविदों ने प्रयोग के लिए एक आदिम जाति के कुछ परिवारों को हटा कर एक नितान्त अपरिचित भौगोलिक परिवेश में बसा दिया तो एक वर्ष बाद पाया कि नये द्वीप-देश में उन्होंने चार सौ से अधिक पेड़-पौधों को न केवल अपने नाम दे दिये थे वरन् उनकी तासीर को भी सूचीबद्ध कर लिया था। यह होती है जीवन्त जाति की परम्परा-सृष्टि; और वह होती है—क्या? मनीप्लांट असल में प्लांट नहीं है, एक परोपजीवी उद्भिज है : मनीप्लांट—मणि बेल—मणियर बेल—कौड़िया बेल... इतने ठट्ठ के ठट्ठ कवि बिम्ब-रचना पर पिल पड़े है; उतने ही कहानीकार प्रतीक पर प्रतीक उगल रहे हैं—क्या सामूहिक कल्पना चार-छह नाम नहीं चस्पाँ कर दे सकती?

म्हे लोग तो मिडिल क्लास
जीको खीशा माँ पीशा को'नी।
मगर माडर्न तो म्हाने होणा,
फैशन की लादी तो पूरी ढोणी।
विंडो में कैक्टस सँवारने, वेरांडा में
मनीप्लांट जरूर बोणी।

अच्छा, मुझे तो कह देते हैं कि अँग्रेज़ी शिक्षा पाकर ही जो बना सो बना; अब अगर हिन्दी का अच्छा लेखक हूँ भी तो क्या—अँग्रेज़ी के सहारे ही तो बुद्धि विकसित हुई! पर राममोहन राय तो अँग्रेज़ी शिक्षा से नहीं बने थे? वह और उनका युग एकाएक जो नवोन्मेष दर्शाता है, वह तो अँग्रेज़ी शिक्षा की देन नहीं था? राममोहन राय जैसे सुलझे हुए स्पष्टदर्शी, तीक्ष्णबुद्धि, सुतर्कित सोचने-बोलने और लिखने वाले कम ही हुए (और बाद की अँग्रेज़ी-पढ़ी पीढ़ियों में और भी कम!); और उनकी मेधा पुष्ट हुई थी तो अरबी-फ़ारसी-संस्कृत (और, हाँ, बांग्ला) शिक्षा

के, आधार पर। परम्परा पर पली हुई बुद्धि ने ही अँग्रेज़ी के सहारे पश्चिम का मुकाबला किया था। लोग कहते हैं कि राय 'अँग्रेज़ी शिक्षा के समर्थक' थे और समझ लेते हैं कि इसका अर्थ यह है कि वह 'अँग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा' के समर्थक थे, जो कि बिलकुल दूसरी बात है। राय ने जो प्रश्न उठाया था वह यह था कि हम अँग्रेज़ से (और पश्चिमी परिपाटी से) संस्कृत और फारसी क्यों पढ़ें जब इन्हें हम सदियों पहले से अधिक अच्छे ढंग से (और सस्ते में!) पढ़ते आ रहे हैं? अँग्रेज़ी से हमें यह चाहिए जो अँग्रेज का विशिष्ट है—आधुनिक विज्ञान; उनके शिक्षा-संस्थान से हमें वही चाहिए।

न हम अपनी भाषा दूसरे से सीख सकते हैं; न दूसरों की भाषा में हम अपने को पहचान सकते हैं। अपनी भाषा सीख और अपने को पहचान कर फिर हमें दूसरों की भाषाएँ भी सीखनी चाहिए, उनका ज्ञान भी ग्रहण करना चाहिए : उसके सहारे अपना शोध भी करना चाहिए।

संस्कृति जीवित हो, इसके लिए उसमें एक सजग नियति-बोध—सेंस ऑफ डेस्टिनी—होना चाहिए। वही आज हममें नहीं है। गाँधी के समय तक वह था। नेहरू में भी वह था—जब तक कि चीन ने उन्हें झँझोड़ कर वह निकाल नहीं दिया। (दोनों में उसके मूल-स्रोत अलग-अलग थे, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।) आज किसी 'नेता' में ऐसा बोध नहीं है, न किसी समाज में है, न पूरे राष्ट्र-समाज में है; सारा देश एक टुक्कड़खोर ज़िन्दगी जी रहा है—क्या राजनीति में, क्या संस्कृति में, क्या शिक्षा में, क्या धर्म में... हाथ अगर टुक्कड़ मुँह तक पहुँचाने में व्यस्त नहीं है, तो टुक्कड़ की भीख माँगने के लिए पसरा हुआ है। खाने की भीख, विचारों की भीख, कल्पना की भीख, आत्म-विश्वास की भीख... ऐसे में सर्जनशीलता कैसी जब पुंसत्व ही नहीं है? नियति-बोध होगा तभी आत्म-विश्वास होगा, तभी सृजन की सम्भावना।

नियति-बोध में खतरा भी हो सकता है; हाँ। वह 'नेता' में ही हो, तब वह एक मसीहाई स्वप्न भी हो सकता है जिससे वह सारे देश को कुछ समय के लिए मोहाविष्ट कर ले सकता है। पर उस खतरे की काट इसमें नहीं है कि सब स्वयं भी क्लीव हो जाएँ और दूसरों को भी बनाते चलें; काट इसमें है कि पूरी संस्कृति का आत्म-दर्शन उसके नेताओं को अनुप्राणित करे...

उस ने मुँदरी में से पूरी साड़ी गुजार दी और कहा, "देखिए!" मैंने साड़ी

फैलायी और देखता रहा : कितने बेल-बूटे, फल-फूल, कैरियाँ, कमल-वन, गुलाब-गाछी : और फिर जहाँ-तहाँ पशु-पक्षी—मोर-मुरैले, हंस, हाथी, हिरनों के जोड़े—और ये क्या हैं? सांकेतिक बँगले या कुटीर... एक साड़ी के फैलाव पर पूरा विश्व-दर्शन। कल्पना एक सरल ग्रामवासी की रही होगी, पर उस कल्पना ने खुल कर विहार किया था यह वस्त्र बुनते समय। मैंने श्रद्धा-भरे हाथों से उसकी सलवटें निकाल कर उसे सीधा किया कि सफ़ाई से तहाया जा सके, कि उसने साड़ी अपनी ओर खींच ली और उसे समेटते हुए दोबारा कहा, "देखिए!" और फिर सर्र से पूरी साड़ी अँगूठी में से गुज़ार दी।

और मैं नहीं सोच पा रहा कि किस से ज्यादा प्रभावित हूँ : साड़ी के फैलाव पर रचे गये जगत् से, या मुँदरी के वृत्त में से उसके गुजार दिए जा सकने से।

झरे हुए पत्तों के बीच से मैं चलता हूँ और रौंदे जाते पत्तों की सरसराहट-खड़खड़ाहट मुझे अच्छी लगती है। उसमें एक सख्य है, सामीप्य है जिसके कारण मैं अकेला नहीं रहता—न अपने में न उस निर्जन परिवेश में।

पर कभी-कभी कोई झरा हुआ पत्ता एकाएक थोड़ा-सा मेरे पीछे दौड़ पड़ता है। मैं मुड़ कर देखता हूँ, तब तक वह रुक जाता है—उसके रुकने-रुकने भर की गति मुझे दीखती है, फिर वह निश्चल हो जाता है।

यह क्यों मुझे अच्छा नहीं लगता, जब कि वह पत्ते का मुझसे स्वतन्त्र काम है, फिर चाहे दूसरे जिस भी उपकरण से सधा हो?

तो। तुमने अपना रास्ता खुद चुना। क्यों चुना? इसलिए कि रामजी के चुनाव में आस्था नहीं थी?

सभी कुछ तो ईश्वर देता है—शैतान के नाम सिफ़ारिशी चिट्ठी थी!

अच्छी बात है, गॉड मेड मैन इन हिज़ ओन इमेज। लेकिन बनाया क्यों? जब कि उससे पहले ही वह देख चुका था कि 'सब-कुछ अच्छा है'। क्या ज़रूरत थी?

अन्यत्र उत्तर है : एकोऽहं बहुस्याम। अद्वैत ख़ुद उससे नहीं सहा गया : सत्ता की कामना उसे भी थी! तब मानव कैसे उसका प्रतिपुतला न होता? उसमें भी सत्ता की मौलिक कामना है : यानी मौलिक असत् या पाप है। बाइबल तो स्पष्ट ही कहता है कि स्रष्टा ने उसे बनाते समय ही आदेश दिया कि धरती को भरो-पूरो और

अपने अधीन करो! मसीही धर्म में असत् की स्वतन्त्र सत्ता भी है : शैतान भी प्राक्‌पुरुष है। वैसा मानने में, यों, कई सुविधाएँ भी हैं : पाप का सारा बोझ मानव को अपने पर ही नहीं ओढ़ना पड़ता। लेकिन जहाँ वैसी सुविधा नहीं है वहाँ? यों तो वहाँ भी एक दूसरा प्राक्‌पुरुष है, काम—कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्। उसे आरम्भ से ही असत् या पापमय नहीं माना गया, पर शीघ्र ही उसे पद वही दे दिया गया : जैसे 'ज्योतिपुत्र' 'तमस् का राजा' हो गया, वैसे ही मानव की दुष्टता की लादी काम को ढोनी पड़ने लगी!

मानव ने ही ऐसा क्यों किया? क्योंकि वास्तव में मैन मेड गॉड इन हिज ओन इमेज : यूनानी कवि ठीक कहता है कि मनुष्य की शक्ल घोड़े की होती तो उसके देवता भी घोड़े के मुँह वाले होते! (स्रष्टा का प्रतिम अपने को बना कर भी मानव क्या करता है? अपने को छोटा ईश्वर बना लेता है!) मानव में सत् और असत् का वह द्वैत आरम्भ से था : भीतर के असत् को देखने से इनकार करके ही तो उसने उसे सारे संसार में फैला रखा है!

मैं मृत्यु का गीत नहीं गाता। पर मृत्यु है, इसलिए गाता हूँ। इसी लिए गीत स्तवन हो जाता है—जीवन का।

चाल : कतार की कतार कोठरियाँ। प्रत्येक के बाहर उसका दारिद्र्य ही नहीं, उसके सब रहस्य टँगे हैं : फटे लहँगे-साड़ियाँ, धुल कर भी मैले साये, चोलियाँ, जाँघिये, पोतड़े। सब रहस्य बाहर टँगे हैं, और भीतर—केवल नंगा मानव प्राणी—जो स्वयं अपना दुर्भेद्य रहस्य है। 'हमारे पास छिपाने को कुछ नहीं है'—कितने बड़े रहस्य की ओट, कि हमें यह भी सन्देह न हो कि यहाँ कुछ रहस्य है!

• कई बार उसे एक-टक देखते हुए एकाएक पहचानता हूँ कि मैं सोच रहा हूँ, पूछ रहा हूँ, कि क्या वह मुझे प्यार करती है? या कि क्या मैं उसे प्यार करता हूँ? और यह ज़रूरी नहीं है कि यह एक-टक देखना उसके अनजाने ही हो, या कि जानते हुए ही हो, आँख मिला कर ही हो या आँख बचा कर ही हो। उसे सोते भी कई बार एक-टक निहारता रहा हूँ, जागते भी; कभी उसे कुछ दिखाते हुए भी मैं स्वयं उसी को देखता रहा हूँ—जैसे साथ-साथ सागर के किनारे खड़े सागर को देखते हुए भी मुझे चेत रहा है कि मैं स्वयं सागर को नहीं, उसे देख रहा हूँ।

क्या यह कभी पूछना चाहिए? दोनों में से कोई भी सवाल—कि क्या कोई मुझे प्यार करता है, या क्या मैं किसी को प्यार करता हूँ? शायद इस व्यक्ति-निरपेक्ष रूप में नहीं; न उसका कोई अर्थ रहता है। व्यक्ति से, व्यक्ति के बारे में ही यह पूछा जा सकता है : क्या तुम (या वह) मुझसे प्यार करती हो (या करती है) ? क्या तुम्हें (या उसे) मैं प्यार करता हूँ?

जवाब पाना ज़रूरी नहीं है। जब तक प्रश्न जीवित प्रश्न है—यानी जब तक वह जिज्ञासा हमारे जीवन में महत्त्व रखती है, तब तक इस से कुछ नहीं बिगड़ता अगर स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता; तब तक प्रश्न पूछ सकना ही अपने आप में एक सुख है, परमात्मा की अनुकम्पा है।

पर—एक बात और भी देखता हूँ। जब प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, या धुँधला मिलता है, तब बारीकी से देखने पर यह पहचानता हूँ, उस धुँधलेपन का कारण यह नहीं है कि प्यार का होना धुँधला है यानी यह धुँधला है कि जो राग-सम्बन्ध है वह प्यार है या नहीं। धुँधला यह है कि 'वह' या 'तुम' और 'मैं' के आकार धुँधले हैं। राग-बन्ध धुँधला नहीं, जिन इकाइयों के बीच वह है वे इकाइयाँ धुँधली हैं! इसीलिए, जहाँ एक ओर उत्तर स्पष्ट रहा है वहाँ दूसरी ओर एक मधुर मोह भी छा गया है जिसमें दोनों पक्षों की अलग इयत्ता खो गयी है—उस मोह में ऐसा लगा है कि इस भाव में 'वह' और 'मैं' सोचने का अर्थ नहीं रहा, तब कौन किसे प्यार करता है यह सवाल भी व्यर्थ हो गया।

मैंने कहा, मोह। हाँ, क्योंकि इस अर्थ में 'वह' और 'मैं' (या 'तुम' और 'मैं') का बोध धुँधला होना इस बात का प्रमाण या लक्षण बिलकुल नहीं है कि प्यार इतना व्यापक है। प्यार में वह (या तुम) और मैं जितना ही एक-दूसरे के निकट आते हैं, उतना ही वह 'वह' (या तुम 'तुम') होता जाता है और मैं 'मैं'... प्यार वह ताप है जिसमें मैल जल जाता है (जल कर 'एक' हो जाता है—राख में!) और धातु निखर आता है—निखर कर और भी अलग, अद्वितीय।

अनुकम्पा के ऐसे भी क्षण मुझे मिलते हैं जब प्रश्न का उत्तर पाते हुए पहचानता हूँ कि वह कितनी एकान्त 'वह' है—तुम कितनी एकान्त 'तुम' हो, और मैं कितना एकान्त मैं। प्यार यों मिलाने में भी प्रखरतर व्यक्तित्व देता रहता है : और फिर उसी को देखता, पहचानता, स्मरण पर उकेरता, विस्मय-भरा मैं निहारता रह जाता हूँ—एक टक, जाने या अनजाने...

हाथ पड़ गयी परायी चिट्ठियाँ खोलकर पढ़ लेने की प्रवृत्ति मेरी नहीं है—हिन्दुस्तानी होने के बावजूद। इसे मैं जघन्य भी मानता हूँ। पर आज एक परायी

चिट्ठी मैंने पढ़ी है। तब से स्तब्ध बैठा हूँ।

डाकिया वह चिट्ठी दो बार पहले भी लाया था और मैंने दोनों बार लौटा दी थी। आज मेरी अनुपस्थिति में वह तीसरी बार इसे डाल गया। गँवई हाथ की लिखावट में लिखा पता मेरे यहाँ का ही है, पर चिट्ठी किसी दूधनाथ मल्लाह के नाम है। पास-पड़ोस के घरों में भी मैंने पुछवा लिया है, इस नाम का कोई व्यक्ति वहाँ नहीं रहता, न किसी की जानकारी में पहले रहता था। जिस मकान में मैं हूँ, उसमें भी कभी कोई नहीं रहा—नौकर-चाकर चौकीदार भी नहीं—मैंने मकान मालिक से भी पूछ लिया है।

भीतर शायद कोई पता हो तो चिट्ठी पलटायी जा सके, इस खयाल से मैंने खोली थी। पर भीतर कोई पता नहीं है, नीचे भेजने वाले का नाम नहीं। थोड़ी-सी पढ़ी तो देखा कि बाहर नाम दूधनाथ मल्लाह अकेले का भले ही रहा हो, चिट्ठी एक-साथ कई व्यक्तियों को कई व्यक्तियों की ओर से सम्बोधित कर रही है। इससे थोड़ा और हताश हुआ, पर चिट्ठी फेंक देने में भी धर्म-संकट देखा इसलिए सारी पढ़ गया।

खुल कर परायी आँखों द्वारा पढ़ी जाकर यह धर्षिता चिट्ठी किसी की नहीं रही या सब की हो गयी—निजता का उसका नाता टूट गया है। उसे दोबारा भी पढ़ सकता हूँ—पढ़ा है। आशीर्वाद देने वाले रामदुलारे, रामरतन, रामजनम और पवलगी करने वाले रामनाथ, रामविलास, रामनरेस और रामसत्तो, राम-राम बँचवाने वाले राजदेव और राजबहादुर उतने ही अनजाने और दूर हैं जितने पहले थे; हालाँकि अब नहीं जानता कि वे अब भी उतने ही पराये हैं या कि अनपहचाने रहते हुए भी पराये कम हो गये हैं। यही बात सम्बोधित राजेन्दर, शिवलोचन और दूधनाथ के बारे में भी कह सकता हूँ। बलिक दूधनाथ मल्लाह के साथ तो असमंजस के अद्‌भुत बन्धन में बँध गया हूँ और बँधा रहूँगा...

"आप की राजी खुशी स्री काली जी से" माँग कर चिट्ठी चल पड़ती है :

आगे दूधनाथ को मालूम यहाँ का समाचार सब अच्छा है। आगे बारिस बहुत हुई गंगा जी में बाढ़ आ गयी खेती में कुछ नहीं बचा कटरी में किसी का कोई चीज़ नहीं बचा और देस पर भी बाढ़ आ गयी थी चिट्ठी आयो थी रामसत्ती के यहाँ। आगे दूधनाथ को मालूम हो आप के छोकड़ा पैदा हुआ सावन सुदी दुआदसी के दिन मंगल की रात। आगे दूधनाथ को मालूम कि खाने-पीने की तकलीफ नहीं उठाना परदेस में जाकर दुखसुख दोनों पड़ना मुशीबत ही है पर भगवान सब काटेंगे घबड़ाने से नहीं होगा। आगे भगवान देखो चैत तक कैसे पार करेगा आगे कोई उपाय नहीं चलता कुल खेती चौमासी हो गयी आगे घबड़ाना नहीं आगे दो बारा बाढ़ आ गयी सो बड़ी मुशीबत का समय है लड़के बच्चे बांगर में रामलाल के डेरा में 8-10 रोज

रहे थे। रामलाल पुराने डेरा में अड़ा रहा पीतराही अमावस को घर गए। खेतों में दोबारा बाढ़ आने से कुल चौपट हो गया आगे कोई उपाय नहीं कि बैलों की जोड़ी ले आवें कोशिश करते हैं। आगे क्या लिखूँ थोड़ा लिखा बहुत समझना आप खुद समझदार हैं। आगे टोला मोहला सब बाढ़ में चले गये। आगे काम ठीक-ठाक कोई मिले तो करना नहीं तो खरबूजा की जमीन मिलेगी तो पत्र भेजेंगे ज्यादा जमीन मिली तो बुलावेंगे आगे ज्यादा क्या लिखना थोड़ा लिखना बहुत समझना।

और यहाँ बिना उपचार के चिट्ठी एकाएक समाप्त हो जाती है।

अब कातिक जा रहा है। बाढ़ें उतर चुकी हैं। देस पर भी और जहाँ भी रामदुलारे, रामरतन और रामजनम असीसने वाले, रामनाथ, रामनेस और रामसत्ती पवलगी करने वाले हैं यहाँ भी। गंगा जी की बाढ़ सब बहा ले गयी, टोला-मुहल्ला कुछ नहीं बचा; पर यह चिट्ठी में की बाढ़ मेरे मन में एक नयी (यद्यपि अत्यन्त संकटापन्न) दुनिया बसा गयी है। खरबूजा की जमीन मिली या नहीं? ज़्यादा मिली या नहीं? जानता हूँ ये सब फिजूल के सवाल हैं और इसलिए हैं कि मुझे इन फ़िज़ूलियात के लिए फ़ुरसत है, नहीं तो कितनी सीधी बात है कि 'कोई उपाय नहीं चलता' पर 'घबराने से नहीं होगा' कोशिश करते हैं। 'आगे भगवान देखो चैत तक कैसे पार करेगा'—कितनी सहजता से चखने वाला पक्षी देखने वाले पक्षी में बदल गया है और सब दुखसुख सह्य हो गये हैं! यहाँ का समाचार सब अच्छा है! आगे...आगे...आगे... रामदुलारे, रामरतन, रामजनम, तुम्हें मेरी भी पवलगी; रामनाथ, रामनरेस, रामजनम, तुम्हें मेरी भी पवलगी; रामनाथ, रामनरेस, रामबिलास, रामसत्ती, तुम्हें मेरा भी आशीर्वाद; राजदेव और राजबहादुर, तुम्हें मेरा भी राम-राम। नहीं, मैं घबड़ाऊँगा नहीं; खरबूजा की जमीन मिलेगी और ज्यादा मिलेगी तो मुझे भी बुलाना; नहीं मिलेगी तो यह जो टोला-मुहल्ला तुमने मेरे मन में बसा दिया है उसे कोई बाढ़ बहा ले जाने वाली नहीं है। आगे दूधनाथ मल्लाह, तुम्हारा छोकड़ा बहुत दिन जिये और अगर मल्लाही करे तो गंगा की छाती पर खुशी से विहरे, फले-फूले; तब तक यह टोला उसकी अमानत है। और यह खुली चिट्ठी तुम्हारी अमानत, दूधनाथ मल्लाह। आगे क्या लिखूँ? यहाँ का भी समाचार सब अच्छा है; थोड़ा लिखा बहुत समझना!

मैंने भी, आखिर, पढ़कर हिन्दी सीखी; पर जब हिन्दी पढ़ाने वालों के बीच अपने को पाता हूँ तो भाषा-सम्बन्धी इनकी ओर अपनी दृष्टि और आग्रहों के अन्तर को देख कर दंग रह जाता हूँ।

पढ़ कर सीखी, तो मैंने भी मानक भाषा ही सीखी. ऐसी भाषा सीखी जिसका

एक स्पष्ट निर्दिष्ट रूप है। पर लेखक के नाते मैंने अपने को कभी अधीत न माना, न पाया; न मानना चाहा, और पाता तो उससे कुछ सन्तोष न होता, परेशानी ही होती। पढ़कर मैं अधीत्सु ही रहा; मेरी खोज भाषा के स्थिर रूप की नहीं, गतिमान रूप की रही। अध्यापक-समाज (और क्या यह हिन्दी के लिए अच्छा है कि उसके अधिसंख्य लिखने वाले अध्यापक हैं—वह भी हिन्दी के ही अध्यापक?)एक सुव्यवस्थित जल-प्रणाली से स्वच्छ निथरा जल प्राप्त करता है और बाँटता है; मैं रोज बल्कि हर बार प्यास लगने पर कुआँ खोदता हूँ, (और प्यास बुझाने के बाद उसमें उमड़ता स्रोत पास की जिस भी बस्ती के लिए छोड़ कर आगे चल देता हूँ। एकदम अवश, जैसे कोई चारा मेरे लिए न हो।)

असल में हम दो प्रतिकूल दिशाओं में चलते हैं। अध्यापक गतिमान को पकड़ कर, ठहरा कर उसमें स्थिर तत्त्व की खोज करता है; मैं स्पष्ट आदिष्ट से आरम्भ करके वह खोजता, पाता, बाँटता हूँ जो स्थिर नहीं है; जो—कह सकते हैं—स्वैराचारी है।

यों तो देश में कम-से-कम एक भाषा ऐसी भी है जो दावा करती है कि उसमें हजार साल से कुछ नहीं बदला। जैसे कि ऐसा कभी हो भी सकता है। यह दावा झूठा है, बकवास है; इसके मूल में भाषा की जो परिकल्पना है वही भ्रान्त है; भाषा के विकास के बारे में जो धारणाएँ हैं वे सब मिथ्या हैं। यह भ्रान्ति (या अगर यह एक राजनैतिक फरेब है तो वह फरेब) भाषा का घोर अहित कर रही है। दूसरों के मार्ग में रोड़ा अटकाने की नीयत से फैलायी जाकर वह स्वय अपनी भाषा का ही विकास अवरुद्ध करती है। यह बात सच होती तो कहना होता कि तब भाषा हज़ार साल से मरी हुई है, हज़ार साल पहले मर चुकी थी; सच नहीं है तब भी उसका आग्रह करते रहने का नतीजा यही है कि लोग बनी-बनायी और बनती भाषा को फिर दरिद्र बना रहे हैं।

हिन्दी में भी ऐसी प्रवृत्ति रही, पर किसी प्रतिष्ठित साहित्यकार ने उसे प्रश्रय या प्रोत्साहन नहीं दिया, यह हिन्दी का सौभाग्य और उसकी शक्ति रही।

पर हिन्दी में समस्या दूसरी है। स्थिर स्वरूप की, बँधे नियम की, सर्व-सुबोध भाषा के नाम पर एक चरित्रहीन, प्राण-रहित हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद देने का प्रयत्न भी कुछ कम भ्रान्त या आपज्जनक नहीं है। थोड़े-से आसान नियमों से नियन्त्रित कृत्रिम भाषा 'राष्ट्रभाषा' नहीं हो सकती, न होगी। सरकारी सूचनाओं-आदेशों के लिए (जो चरित्रहीन, प्राणहीन होने में ही अपनी ख़ैर और अपनी शान समझते हैं, उन्हें गढ़ने वाली नौकरशाही की तरह) वैसी भाषा पर्याप्त हो, हुआ करे; साक्षरता-प्रसार के लिए भी वह उपयोगी हो, हो। न सरकार और राष्ट्र पर्यायवाची हैं (न उन्हें होने देना चाहिए!); न साक्षरता-प्रसार के तर्क राष्ट्रभाषा के तर्क हैं, न एक

तात्कालिक प्रयोजनवती भाषा को राष्ट्रभाषा मानने की भूल करनी चाहिए।

मेरी हिन्दी राष्ट्रभाषा हो या न हो, राष्ट्र के जीवन में संयोगकारक कड़ी का पद उसे कानूनन दिया जाये या न दिया जाये, वह सबसे पहले और अनिवार्यतया एक विकासमान भाषा है। विकासमान है, इसलिए वह निरन्तर बदल भी रही है और साथ ही उसका एक स्थिर, प्रामाणिक और मानक रूप भी है। ऐसा है, तभी उसकी प्रतिमा और प्रतिष्ठा का विचार हो सकता है; ऐसी ही भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है, ऐसी ही भाषा के बारे में यह विचार भी किया जा सकता है कि उसे यह पद मिले या कब और कैसे दिया जावे—नहीं तो विचार भी आवश्यक नहीं।

विकासमान है, इसीलिए बदलती है, इसीलिए स्थिर है। इसीलिए—और दोनों रूपों के साथ यह बात एक-सी सच है—उसकी गहरी जड़ें हैं। यह जन-मानस की गहराई में से उपजी है—अंकुरित होकर पल्लवित-पुष्पित हुई है। एस्पेरान्तो की भाँति वह एक गढ़ी हुई चीज़, एक निर्मिति नहीं है। वह 'देवानां पूरयोध्या' के सबसे भीतरी कक्ष में पनपने वाला अक्षय वृक्ष है, चल-दल किन्तु बद्ध-मूल...

क्या हुआ गर मैंने पढ़कर वह सीखी थी? तबसे तो मैं बराबर उसके चल रूप का अनुधावक रहा हूँ। मैंने कहा था कि मैं हर बार कुआँ खोद कर प्यास बुझाता हूँ; लोक-मानस ही वह भूमि है जिसमें मैं कुआँ खोदता हूँ...

नंगा होने, नंगे हो जाने, नंगा करने में फ़र्क़ है। गहरा फ़र्क़। शिशु और जन्तु का नंगा होना सहजावस्था है; आदमी जब नंगा हो जाता है तब वह ग्लानि अथवा अपमान की स्थिति होती है। स्त्री जब नंगी की जाती है तब वह भी अपमान और जुगुप्सा की स्थिति होती है—या आपकी बुद्धि वैसी हो तो हँसी की हो सकती है। स्त्री का लहँगा उतारना, या बँदरिया को लहँगा पहनाना—दोनों इन प्राणियों की प्रकृत परिविष्ट अवस्था को हीन दृष्टि से देखने के परिणाम हैं।

'वो जिस्म, चाँदनी में जैसे छूटता हो अनार' : 'फ़िराक़' ने हुस्न की देवी के सौन्दर्य का यों बखान किया है। पारम्परिक उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं के समूह के बीच यह उपमा अच्छी ही है; पर मुझे इससे 'उस जिस्म' को मूर्त्त करने में खास मदद नहीं मिली—उधर ध्यान ही कम गया। मुझे ध्यान आया कि यही तो उर्दू के काव्य-शरीर का सौन्दर्य भी है : चाँदनी जैसी धुली निखरी भाषा के आकाश में अनार की तरह चमक कर, फूल तारे बरसा कर क्षण-भर के लिए चमत्कृत कर जाने वाली विशिष्ट उक्ति।

यह सौन्दर्य वाचिक परम्परा का है। मुक्तक का है। ग़ज़ल का है (क्योंकि शेर

का है)। यही उर्दू कविता की कमजोरी (या यह भी कह सकते हैं कि उसकी ख़ूबी की कमज़ोरी, उसके गुण का दोष!) रही है, और अब भी है। उद्यान-वीथियों को छोड़कर बीहड़ वन में रास्ते निकालने का काम अभी उर्दू कवि ने नहीं किया है—यह उसका काम हो सकता है यह भी शायद उसने नहीं सोचा। फारसी के पारम्परिक चमन से निकलकर कुछ शायरों ने हिन्दी की ठेठ फुलवाड़ियों का भी मुआयना किया है ('फ़िराक़' ने सूझ और सहानुभूति के साथ), पर रहते हैं वे अब भी फुलवाड़ी में ही।

नज़्म में अनार-फुलझड़ी से काम नहीं चलता। आधुनिक मुद्रित काव्य में भी वह नितान्त नाकाफ़ी साबित होता है। वहाँ लगातार देर तक जलने वाली मशाल या कम से कम महताबी तो चाहिए ही—भले ही थोड़ा धुआँ भी देती रहे। न सही एकाएक चमत्कृत कर जाने वाला रूपाकार; देर तक स्पष्ट दीखता हुआ गलियारा अधिक काम का है क्योंकि हमें उसी से 'यहाँ' से 'वहाँ' जाना है, खड़े नहीं रहना है।

गजल पर्फ़ार्मेंस है, बज्म की चीज़ है, बैठा हुआ प्रत्यक्ष सामाजिक माँगती है। नज़्म यात्रा है : खुले देश की चीज़ है, धैर्यवान् सहयात्री की अपेक्षा रखती है—पर कवि तो पहले चलें!

'चाँदनी में जैसे छूटता हो अनार' : तटस्थ भाव से देखा हुआ रूप-खिलौना। मैंने दिन-दहाड़े की दावाग्नि भी देखी है। और सदैव बाहर से ही नहीं; एकाधिक बार वन में गुजरते हुए उसकी पकड़ में आ गया हूँ। वह सौन्दर्य दूसरा है।

वाचिक से पठित (छपी हुई) कविता तक आने में काव्य का स्वरूप बदला, इसका अर्थ केवल इतना नहीं है कि कविता को नया छन्द:शास्त्र मिल गया या मिला नहीं तो मिलने की सम्भावना भो हो गयी और अनिवार्यता भी। उससे अधिक महत्त्व की बात है कि नये छन्द ने उस वस्तु को भी प्रभावित किया जो उस छन्द में निबद्ध थी : वस्तु और रूप के अभिन्न सम्बन्ध का पूरा आशय यही है कि दोनों पक्ष दोनों को बदलते और अपने अनुकूल ढालते हैं।

नया काल-बोध—काल से नये सम्बन्ध का बोध—लय : काल-प्रत्यय का एक प्रकार—मात्रा पर नहीं, तनाव पर आधारित लय—काल : तनाव की एक प्रणाली—आधुनिक काल : न निर्झर, न आवर्त्त, न कसी हुई कमानी पर एक ओर से पड़ता हुआ बल... पारम्परिक छन्द के ढाँचे में आधुनिक कालबोध की अभिव्यक्ति की सम्भावना नहीं हो सकती थी।

काल से नया सम्बन्ध—एक नयी जीवन-दृष्टि, नया विश्व-दर्शन, वर्ल्ड व्यू...

बहुत दिन से सुनता आ रहा था न —'नेकी कर और कुएँ में डाल'? दिन में मुझसे नेकी हो गयी थी। रात को चुप-चाप उसे कुएँ में डाल आया; सोचा, छुट्टी हुई। सवेरे कुएँ पर हल्ला है। रात को कोई कुछ उसमें डालने आया था—न जाने क्या डाल गया हो! इसमें कुछ गहरा राज है—कुछ भी हो सकता है...

और हाँ, कितने लोग रात में जाग रहे थे और सिर्फ यह देख रहे थे कि कौन कुएँ की तरफ गया—क्योंकि कई तो कसम खाने को तैयार हैं कि मैं गया था : और गया तो क्यों गया था? क्या करने गया था? पहले भी कभी-कभी गया हूँ—क्यों जाता हूँ? क्या छिपाया है वहाँ? हो न हो, काला धन है, या कोई राज है, या पाप है।

ठीक ही तो है। नेकी से और स्पष्ट काला धन या पाप क्या होगा!...

जिस थाली में से खाते हैं, उसमें छेद नहीं करते। निषेध है। पर वट जिस चबूतरे से उगता है, अपनी झूलती जड़ों से उसी की नींव कितने जगह से उखाड़ता है, और उसको इसके लिए हम पूजते हैं!

सिद्धान्त : थाली में छेद मत करो; थाली वाले के घर में सेंध लगाओ!

समाज को हम बदलना जरूर चाहते हैं। लेकिन इस बदलना चाहने की प्रवृत्ति के लिए एक लक्ष्य ढूँढ़ना निरन्तर कठिनतर होता जाता है। समय था जब एक लक्ष्य आसानी से मिल जाता था। जैसे कि 'राजा को हटाओ।' राजा क्योंकि पार्थिवेश्वर भी था, इसलिए विधि-विधान को भी बदलना राजा को बदलने का पर्याय हो जाता था। आज के राजा-रहित समाजों में यह उपाय सुलभ नहीं रहा। आज राजनीति में भी यह उलझन होती है कि लड़ें तो किससे लड़ें। उत्पादन के साधनों पर कब्जा करने के लिए भी लड़ाइयाँ लड़ी जा चुकीं, हमने यह भी देख लिया कि उससे ज़रूरी तौर पर न्यायमय समाज की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती : यह भी ज़रूरी नहीं है कि उससे अपेक्षया भी अधिक न्यायमय या अधिक स्वाधीन समाज की रचना हो जाये। न ही लोकतन्त्रात्मक समाजों में इसका स्पष्ट उत्तर मिलता है कि किससे लड़ें; किसके विरुद्ध लड़ें। क्योंकि सत्ता—अन्यायकारी सत्ता—(और अन्याय करने वाली सत्ता ही होती है, अब पहले से भी अधिक!) का अब कोई चेहरा नहीं रहा। यह तो हो सकता है कि राजा के बदले हम किसी दूसरे व्यक्ति को—या दो-चार व्यक्तियों

को—अपने आक्रोश की धुरी बना लें, और यह प्राय: होता भी है कि जहाँ अन्याय हो वहाँ उसकी प्रतिक्रिया के रोष या घृणा के लिए ऐसा कोई प्रतीक चेहरा चुन लिया जाता है जिस पर वह रोष और घृणा उँड़ेली जाती रहती है, पर उस चेहरे वाला व्यक्ति हट भी जाये तो भी स्थिति नहीं बदलती—और हमें कुछ भान भी रहता है कि नहीं बदलेगी। आज की लड़ाई एक चेहराविहीन शत्रु के साथ होती है इसलिए हम उसे निरन्तर चेहरे देते रहते हैं और एक-एक चेहरे के हटने के बाद दूसरे की खोज करते रहते हैं। आज भी ले लीजिए : हमारा 'प्रोटेस्ट' कई देशों-समाजों में कई रूपों में प्रकट हो रहा है जब कि वास्तव में वह उतने अलग-अलग प्रकार का नहीं है। यहूदी के विरुद्ध, काले के विरुद्ध, गोरे के विरुद्ध, वायुमंडल दूषित करने वाले के विरुद्ध, सफाई के विरुद्ध—ये कई तरह के 'प्रोटेस्ट' वास्तव में एक लड़ाई को निजी और व्यक्तिगत फोकस देने के लिए हैं, लड़ाई जो कि बुनियादी तौर पर निर्व्यक्तिक हो गयी है या है। लड़ाई एक पूरे सत्ता-प्रतिष्ठान के विरुद्ध है जिसमें सारा शासन है, सारा समाज-संगठन है—और इसलिए जिसमें हम भी हैं। जिन लोगों ने इस परिस्थिति में ग़ुस्से से सारे समाज को नकारा है, उनकी भी यह परिणति हुई है कि वे आपस में मिलकर, संगठित होकर एक नया प्रति-प्रतिष्ठान बन गये हैं : ग़ुस्से के बावजूद उतने ही चेहरा-रहित और निर्व्यक्तिक।

एक निर्व्यक्तिक शत्रु के विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से कैसे लड़ा जाये? इस युद्ध को छाया-युद्ध कह सकते हैं, माया-युद्ध कह सकते हैं; नाम अर्थयुक्त भी होंगे; पर उसमे परिस्थिति का तनाव तो नहीं बदलता। उसे हम 'ट्रैजिक' भी कह सकते हैं—पर ट्रैजिक वह दु:खान्त के अर्थ में नहीं, हताशा के अर्थ में नहीं; ट्रैजिक इसी अर्थ में कि वह निर्व्यक्तिक शत्रु के विरुद्ध व्यक्ति का अभियान है जिसे वह निरर्थक नहीं होने देना चाहता।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर से कहलाया था कि हम एतादृशत्व (दसनेस) मात्र को बदलना चाहते हैं : एतादृशत्व को बदलना चाहना एक रोमानियत-भरी मुद्रा ही है और शेखर के साथ वह सही भी थी क्योंकि जिस आन्दोलन का वह अंग था उसका अन्दाज खासा रोमानियत-भरा था। पर सवाल बना रहता है : संघर्ष निर्व्यक्तिक के विरुद्ध व्यक्ति का है; नैतिक युद्ध है क्योंकि मूल्यों के लिए है पर अतिनैतिक प्रतिद्वन्द्वी से है।

बहरहाल, यह संघर्ष है नागरिक का ही, इसलिए कवि का; कविता का वह नहीं है।

आज के स्वीकृत मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए मैं क्यों यत्नशील होऊँ? जो स्वीकृत है, उसी को जो प्रतिष्ठित करता है, वह तो तब पहले ही बीता हुआ है, कम से कम अतीत-गन्धी तो है ही। जो साहित्य या काव्य अपने समय की

चिन्ताओं को, सन्देहों को व्यक्त करता है, मूल्यों का संकट पहचान कर उन नये मूल्यों को पाने को छटपटाता है जो इस संकट के पार बचे रह सकते हैं, वही आज का साहित्य है। जिस संघर्ष की बात मैंने की है, वह कवि का ही न रह कर कविता का—साहित्यकार का ही न रह कर साहित्य का—होता है तो इसी अर्थ में।

अगर मैं अपने से बड़े किसी विचार, आदर्श, आइडिया के लिए जीता हूँ, तो स्पष्ट है कि मेरा जीवन एक यज्ञ है : उस विचार या आदर्श के लिए अर्पित आहुति मैं हूँ।

युगानुसार नियति—और युगानुसार दु:शंकाएँ! कालिदास का दु:स्वप्न था कि 'कहीं अरसिकों को कवित्व निवेदन करना' न पड़ जाये; केशवदास चिन्तित थे कि 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि' न चली जाएँ; 'अज्ञेय' का संकट कि 'मैं क्या जानता था कि यह गति होगी कि विश्व-विद्यालयों में हिन्दी 'प्राध्यापकों द्वारा पढाया जाऊँगा!'

पुस्तक पूरी हो गयी है। लगभग पूरी होने के साथ-साथ पांडुलिपि तैयार करने लग गया था; कुछ अंश टंकन के लिए दे दिये थे और कुछ की हाथ से प्रतिलिपि बनाता रहा था। दूसरा चारा नहीं, हिन्दी में टंकन कराने की सुविधा यहाँ नहीं है। यों मूल की फोटो-प्रतिलिपि बना सकता—पर उसमें फिर कम्पोजीटर-प्रूफरीडर की जान पर बन आती। अब पांडुलिपि पूरी जुड़ गयी है तो उसके टंकित अंशों को शोधता रहा हूँ। एकाएक कुछ सीखा है।

पुस्तक पूरी हो गयी है। कोई काम निष्पन्न हुआ है, मेरे हाथों हुआ है, इसकी खुशी है ही; उस खुशी का थोड़ा नशा भी है। उसी में पांडुलिपि शोधता रहा हूँ; उसी के कारण न ऊब या थकान हुई है न मन भटका है—पांडुलिपि शोधने का काम भी सघन एकाग्रता माँगता है! बीच-बीच में पढ़ते-पढ़ते अच्छा लगा है : 'अच्छा लिखा है' और 'अरे यह तो मैंने लिखा है' का मिश्रित बोध या आविष्कार प्रीतिकर रहा है। पर कहीं-कहीं अटक गया हूँ। टंकन में कुछ शब्द या पद छूट गये हैं। (दीठ उछटी होगी या पढ़े न गये होंगे।) कहीं तो तत्काल उन रिक्तों की पूर्त्ति कर दी है, कहीं-कहीं नहीं सोच पाया कि मूल में (जो मेरे सामने नहीं है) क्या लिखा था। क्यों नहीं सोचा पाया? सब कुछ याद हो यह ज़रूरी नहीं है; पर अगर एक जगह के

लिए एक ही सही शब्द होता है तो वह मुझे क्यों नहीं सूझता या याद आता? कई एक शब्द रख कर देखता हूँ : उनमें से कोई भी अर्थ दे जाएगा, 'चल जाएगा', पर भीतर गहरे में जानता हूँ कि वह शब्द वहाँ नहीं था। अर्थ दे जाएगा, स्वीकार भी हो जाएगा। शायद किसी को सन्देह भी न हो कि यह शब्द स्थानापन्न है, इसलिए 'भरती' है—पर मैं तो जानता हूँ, मुझे तो वह लकलक-सा तुरत अलग दीख जाएगा, दीख जाया करेगा! यहीं अटक है; और मैं नहीं तै कर पाता कि क्या करूँ। चाहूँ तो प्रसन्न हो सकता हूँ कि सही शब्द की पहचान मुझे है, भले ही वह मिल नहीं रहा है (याद नहीं आ रहा है)। नहीं तो दु:खी हो सकता हूँ कि क्यों वह शब्द अभी तत्काल मेरा वशंवद नहीं है? मैं दु:खी ही अधिक हूँ। जानता हूँ कि रचना-क्षण की आग में जो तपा कुन्दन निकलता है, ज़रूरी नहीं है कि वह हर समय उपलब्ध हो; और पांडुलिपि-सम्पादन का क्षण रचना-क्षण नहीं है। पर वह एकमात्र शब्द क्यों नहीं मेरे काबू में है? फिर जब वह सम्पादन तो आवृत्ति मात्र है अपने ही लिखे की—अगर आवृत्ति में वह शब्द पकड़ में नहीं आता तो क्या भरोसा है कि पहली बार आया था? भरोसा नहीं है, तब कैसे इतने हो को काफ़ी मान लूँ कि कोई सब्स्टिट्यूट शब्द मुझे स्वीकार नहीं है? सही शब्द पहचानना तो काफ़ी नहीं है, सही शब्द ढालना, उत्सृष्ट करना और करते रह सकता ही तो कवि-पद है।

एकाएक यह किताब जो पूरी हो चुकी है, मेरी नहीं रहती। नशा उतर गया है। काम पूरा करने की खुशी भी चुक गयी है। यह—यह एक पांडुलिपि है जिसे छपने देने के लिए शोध देना है मुझे—एक पांडुलिपि, एक मुर्दा चीज़ जिसे अब जहाँ तक हो सके ठीक-ठाक मदफन देना है—या रास्ते में पड़ी तो नहीं रहने दी जा सकती—वरना अब मुझे इससे क्या वास्ता है?

अग्नये स्वाहा इदंमग्नये इदं न मम...

लेखक होने से मुझे सामाजिक उत्तरदायित्व से छुट्टी नहीं मिल जाती क्योंकि लेखक हो जाने पर ऐसा नहीं है कि मैं नागरिक नहीं रहता। दूसरी ओर कवि होने का यह अर्थ भी नहीं है कि मैं अपनी कविता के लिए भी समाज के प्रति उत्तरदायित्व मानने को बाध्य हूँ।

सिवा इसके कि मेरी प्रतिभा एकान्त निरपेक्ष भाव से मेरी नहीं है, न एकान्त मेरी सृष्टि और उपलब्धि है। जितना मैं स्वयं अपना परिवेश और समाज हूँ, उतना ही मैं अपने परिवेश और समाज का अंग भी हूँ।

कवि हूँ, यह संयोग है, मेरा परम सौभाग्य है। पर नागरिक हूँ, यह संयोग नहीं, यह मेरा कर्त्तव्य है। कवि न भी होता तो भी मेरे नागरिक कर्त्तव्य बने रहते।

विशेष सौभाग्यवान् नागरिक हूँ, तो ऐसे उपाय खोज सकता हूँ जिनसे मेरा सौभाग्य मेरे समाज को भी समृद्धतर बनाये। यों मैं दुगुना भाग्यवान् हूँगा, दुगुना अच्छा नागरिक भी। अगर ऐसा कुछ है जो समाज को मेरी देन हो सकती है, तो यही। नहीं तो मेरा नागरिक कर्त्तव्य—अपने समाज के प्रति दायित्व—तो है ही। मेरा कवि-कर्त्तव्य भी है—अपने सौभाग्य के प्रति दायित्व।

संस्थाएँ और प्रतिष्ठान टूट रहे हैं। कह लीजिए, मूल्यों का क्राइसिस है। वैसा है, तो चिन्ता और उद्वेग एक हद तक समझ में आते हैं : क्राइसिस की स्थिति के वे आनुषंगिक है। पर संस्था कब टूटती है, किस परिस्थिति में टूटती है? जब मानव के विचार उसकी संस्था के विकास की अपेक्षा अधिक तेज़ी से चलने लगते हैं, तब संस्था हिलती है, अररा कर गिरती है : क्योंकि विचार ही वह सीमेंट हैं जो उसे जोड़े रख सकते हैं। विचार आगे निकल गये हैं; पिछड़ी हुई संस्थाएँ और प्रतिष्ठान नींव खोखली हो जाने के कारण लड़खड़ा रहे हैं। जब फिर विचार सम्पूर्ण स्वीकृति पाएँगे—तब संस्थान फिर पनप सकेगा, आगे बढ़ सकेगा, तभी वह 'संस्थान' होगा।

मोटर (या वायुयान) मेरी टाँगों का विस्तार है, दूरबीन मेरी आँख का, माइक्रोफोन मेरी आवाज़ का; मुद्रण यन्त्र मेरी लेखनी का जो स्वयं मेरी उँगलियों का, मेरी वाणी का, मेरी स्मृति का विस्तार है। इन सब उपकरणों के सहारे हमारी अर्हता का विस्तार होता है; उससे हमारी अहन्ता की स्फीति। यान्त्रिक उन्नति के साथ-साथ अहन्ता भी अधिकाधिक स्फीत होती जाती है।

दूसरा पक्ष : मोटर हमारी टाँगों का विस्तार है, इसलिए मोटर के आते ही हमारी टाँगें बेकार होने लगती हैं, माइक के आते ही स्वर क्षीण होने लगता है। छपाई के आते ही हमारी लिखावट बिगड़ती है, जैसे कि लिपि के आविष्कार के साथ स्मृति दुर्बल होती गयी थी...

प्रश्न : तो क्या हम बाध्य हैं कि हम उन्नति कर के अहं का विस्तार करें तो *गौण अर्हता का विस्तार करते हुए मूल सामर्थ्य को लुप्त होते जाने दें? क्या उन्नति* के चरम बिन्दु पर हममें बच रहेगी (1) असीम अहन्ता और (2) आत्यन्तिक असमर्थता?

त्वक् सबसे प्राचीन इन्द्रिय है, दृक् सबसे नयी। विकास-क्रम में स्पर्श के

विस्तार अथवा विशेषीकरण से ही श्रुति, घ्राण, आस्वाद और अन्त में दृष्टि का उदय हुआ।

विस्तार या उपकरण स्फीत होते जाते हैं, मूल शक्ति क्षीण होकर लुप्त हो जाती है। इस तर्क से क्रमशः हमारी त्वचा, हमारे कान, नाक और जीभ अपना सामर्थ्य खो देंगे।

मनुष्य के प्रेम-जीवन पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा, यह तो अभी दीख रहा है : सिनेमा के पटल पर ही अपनी महबूबा को देख कर करोड़हा लोग तसल्ली कर लेते हैं। देखना ही तो छूना हो गया है : अक्सर लक्ष्य किया जा सकता है कि लोग आँखों से ही राह-चलतों (राह-चलतियों) के कपड़े उतार रहे हैं और देह टोह रहे हैं। और पढ़े-लिखे लोग ही अधिक, क्योंकि वही अधिकतर चक्षुजीवी हुए हैं।

पर एक और बुनियादी सवाल मेरे मन में उठता है। सभी ज्ञानेन्द्रियाँ तो विस्तार हैं—किसी की हैं जो जानना चाहता है। तो क्या इन सब विस्तारों में वही असली जिज्ञासु पंगु नहीं हो गया है—उपकरणों का विस्तार क्या चित् का संकुचन ही नहीं है?

जितने ही हमारे जानने के साधन बढ़ गये हैं, उतने ही हम अजनबी हो गये हैं; अपने निकटतम पड़ोसी को भी नहीं जानते—बल्कि अपने को ही दिन-ब-दिन कम पहचानते हैं, जल्दी ही बिलकुल नहीं जानेंगे।

अपने ही मलबे के नीचे दबा हुआ घर : नहीं, अपने ही गू के नीचे दबा हुआ मानव। कवि जी, बिम्ब चाहिए तो लीजिए, जोरदार बिम्ब है, प्रतीक की सत्ता रखने वाला। और अगर निरी कविताई ही नहीं, हाथों से भी कुछ करना चाहते हैं, तो है उसे खोद कर निकालने का साहस?

प्रत्यभिज्ञा...प्रत्यभिज्ञेय...
'मेरे प्रेय, प्रत्यभिज्ञेय'—कितना भिन्न अर्थ...

ऐसा होता है कि संस्कृतियाँ अपनी सर्जनशीलता खो बैठती हैं—वे अपनी आत्मा खो बैठती हैं और तब उनमें यह समझने की भी अन्तर्दृष्टि नहीं रहती कि उनके जीवन का हेतु क्या रहा, क्या है। कभी ऐसा भी होता है कि ऐसा हो जाने पर उस संस्कृति की आत्मा एक स्वस्थ सजीव पौधे-सी किसी दूसरी भूमि में जम जाती है और पनपने लगती है : *एक आँख अन्धी होने लगती है तो उसकी ज्योति दूसरी आँख में चमकने लगती है।*

भारतीय संस्कृति आज वैसे ही किसी बिन्दु पर पहुँच गयी है? उसने अपनी सर्जनशीलता मानो खो दी है; उसके अस्तित्व का हेतु क्या रहा यह पहचानने की अन्तर्दृष्टि जैसे उसके पास नहीं है। अपने जीने का भी कारण खोजने के लिए वह पराया मुँह जोह रही है।

उन्नीसवीं शती के अन्त में म्रियमाण चीनी संस्कृति की ज्योति जापान में चमक आयी थी। भारतीय संस्कृति की ज्योति कहाँ चमकेगी? क्या बीसवीं के अन्त तक अमेरिका में? तब क्या भारत के सांस्कृतिक अवदान को समझने के लिए हमारे अध्येताओं को अमेरिकी विश्वविद्यालयों में जाना पडा करेगा?

द्रोण ने एकलव्य का अँगूठा माँग लिया। इस प्रकार उसके लिए केवल धनुर्विद्या का ही निषेध नहीं किया, उस समूची तन्त्र विद्या का निषेध कर दिया जो विकास-क्रम में हाथ के अँगूठे और उँगलियों की परस्पर प्रतिमुखता से सम्भाव्य हो जाती है। यानी 'गुरु' का आदेश शिष्य के लिए यह हुआ कि वह फिर वा-नर बन जाये। वर्ग-स्वार्थ की कितनी क्रूर युक्ति : आस्पर्द्धा का कितना गहरा दंड! प्रमथ्यु को अग्नि-चयन का रहस्य जान लेने का दंड मिला था, वह भी देवों के हाथ से एक यन्त्र विद्या के निकल जाने का दंड था; एकलव्य का दंड क्या उससे छोटा था? उसकी ट्रैजेडी छोटी थी?

प्रमथ्यु बद्ध हुआ, तो प्रमथ्यु मुक्त भी हुआ : कवि-कल्पना को दोनों ने छुआ। पर एकलव्य? क्या वह भी सव्यसाची हुआ—क्या उस ने फिर बायें हाथ से अपने लिए—अपनी जाति-मात्र के लिए—फिर वह तन्त्र विद्या प्राप्त कर ली जिससे वह वंचित किया गया था? लोक-साहित्यों में कहीं कोई जन-जातीय वाम-कर नायक है जो द्विजों से बदला लेता हो—उन्हें नीचा दिखाता हो?

बायें हाथ का विद्रोह—रिवोल्ट ऑव द लेफ्ट...

पाँच सवारों में हम भी एक
पाँच सवारों में वह भी एक
और पाँचवाँ है यहाँ नाम।
क्या नाम ही मृत्यु है? (दूसरे शब्दों में—दूसरा नाम!)
या कि नाम-चेतना मृत्यु-चेतना—
क्योंकि नाम 'देना' ही मृत्यु को वरना है क्योंकि
नाम उसी को दिया जा सकता है जो मरणधर्मा है क्योंकि

'वह नामयितव्य है' और 'वह मर्त्य है' कहना एक ही बात कहना है।

अल्लाह के निन्नानवे नाम हैं पर ये निन्नानवे नाम-युक्त अल्लाह हमारे साथ मरते हैं और जो बाकी है वह नामातीत सौवाँ है, सौवाँ यानी गणनातीत...

ख़ैर, दिल को कुछ हुआ था तो उसका कुछ कारण तो शरीर में रहा ही होगा। पर वह हुआ था, हो चुका; अब—उसका असर कुछ बचा नहीं है सिवा इसके कि दिल के इतिहास में तो एक बात आ ही गयी है।

पर कष्ट अब है : तीन बरस बाद भी। और कम नहीं है। अस्पताल में था, तब कष्ट में भी अपने को अस्वस्थ नहीं अनुभव करता था; डॉक्टर पूछते थे, 'हाउ डू यू फील?' तो शिष्टाचारवश नहीं, सच ही कहता था, 'फाइन!' अथवा 'आन द टाप आफ द वर्ल्ड!' क्योंकि अभी तक ऐसा शारीरिक कष्ट तो नहीं जाना जो हावी हो जाये, जिसे तटस्थ-भाव से साथ-साथ देखता भी न रह सकूँ। कह सकते हैं कि एकान्त 'भोक्ता' कम से कम दर्द के मामले में अभी तक नहीं हुआ : पर्यवेक्षक या विश्लेषक चित्त हमेशा जागता रहा है और देखता रहा है कि क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है, जो भोगा जा रहा है वह कैसे भोगा जा रहा है... (द्वा सुपर्णा...)

पर अब... क्या मैं शरीर के कष्ट को बढ़ा कर देख रहा हूँ? क्या वह चित्त पर हावी हो गया है? या कि असल में कष्ट शरीर में है ही नहीं, मन ही का है, और शरीर केवल उसकी लपेट में आ जाता है यदा-कदा... क्योंकि अब लगता है कि अस्वस्थ हूँ। या स्व-स्थता केवल शरीर की बात मान ली जाये तो कहूँ कि एक गहरा अस्वस्ति-भाव मन पर छाया रहता है। शरीर अस्वस्थ हो या न हो; सारा जीवन कहीं गहरे बेठीक है यह मैं जान रहा हूँ, और इसी का दर्द है...

न। मैं अपनी स्थिति को व्यर्थ ड्रामेटाइज कर रहा हूँ। सच बात यह है कि डर है। यह गलत है कि रास्ते भी नहीं दीखते। थोड़े टेढ़े या चक्करदार ही सही—जीने के सभी रास्ते तो चक्करदार होते हैं, कौन रास्ता सीधा है सिवा रपटन के?—पर दीखते हैं अवश्य; एक-से ज्यादा भी दीखते हों तो भी क्या अगर दोनों-तीनों आगे-पीछे पहुँचेंगे वहीं जहाँ जाना है? असल में डर है, डर- किसी भी रास्ते चलूँगा तो उनको कष्ट होगा जिन्हें कष्ट नहीं देना चाहता... और यह सरल युक्ति गले से नीचे नहीं उतरती कि यह माया का बन्धन है, कि 'का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः!' हुआ करे अतीव विचित्र, पर कष्ट न देना चाहना निरा माया का बन्धन नहीं है। जिनके दु:ख-सुख का—अच्छा, भारवाही ही सही—हूँ; उन्हें क्लेश दे कर

पायी हुई स्वाधीनता क्या सच्ची है या होगी? ठीक यहाँ आ कर रास्ता सन्दिग्ध हो जाता है। कष्ट देकर भी क्या जाने क्या मिले—कहीं यही अनुताप मिला कि जिसके लिए कष्ट दिया वह भी धोखा निकला—और पहले तो यही कि कष्ट देना नहीं चाहता, उसके मोल कुछ खरीदने की बात तो दूर...

माया...! संकोच भी माया, तो यह तर्क भी तर्काभास—माया... तो कैसे जानूँ कि वह स्वाधीनता भी माया नहीं? (यह एक और तर्काभास?)

नहीं, वह युक्ति किसी तरह नहीं स्वीकार कर पाता! सच बात यही कि डर है डर, डर...

'अभीता नो स्याम...' हाँ, ठीक है, लेकिन वह तो किसी को सम्बोधन करके कहा गया था—माँगा गया था!

किसको? किससे?

और क्यों? माँगे और कुछ भी चाहे मिल जाता हो, स्वातन्त्र्य माँगे नहीं मिलता यह जानता हूँ—और माँगे मिले तो स्वातन्त्र्य नहीं...

चिन्ता : चिन्ताओं का कोई अन्त है? और उन्हें अलग-अलग नाम देने चलें तो वह अपने आप में एक नयी चिन्ता बन जाएगी!

अब जैसे यही। चल रहे हैं, तो एक चिन्ता है जिसे कह लीजिए 'पड़ाव पर पहुँचने की चिन्ता'। पर पड़ाव पर पहुँच गये तब? इसकी भी तो एक चिन्ता है। उसे क्या कहें—पड़ाव पर पहुँच जाने की चिन्ता, पहुँच गये होने की चिन्ता? क्योंकि यों तो वह बड़ी चिन्ता है—क्योंकि उसमें खुले विकल्प ज्यादा हैं। पड़ाव की ओर चल रहे हैं तो न चलने या लौट जाने का विकल्प तो हम छोड़ चुके हैं, चिन्ता का क्षेत्र सीमित है। पर पहुँचते ही कितने विकल्प खुल जाएँगे—क्या-क्या निश्चय नहीं करने पड़ जाएँगे तब!

चलते हुए, कभी-कभी यह सोचा है। और पहुँच जाने के बाद की चिन्ताओं ने घेर लिया है। फिर अपने को कहा है, वरण करने से—कर सकने की क्षमता, सुविधा, 'आवश्यकता' का उपयोग करने से—मानव स्वभावतया डरता है। और डर अच्छे-भले को निकम्मा कर देता है। फिर यहाँ तो डर कर भी निस्तार नहीं। विकल्प है तो कुछ तो चुनना ही होगा करने को : न करना भी एक विकल्प चुनना है!

और इस उधेड़-बुन में एकाएक पड़ाव आ गया है : फिर एक पर एक निश्चय अपने-आप होते गये हैं—विकल्प में से वरण होता गया है : एकाएक सब कुछ कितना आसान हो गया है!

यानी मैं ठीक 'कांटेम्प्लेटिव मैन' भी नहीं हूँ, ठीक 'मैन ऑफ़ एक्शन' भी नहीं हूँ; पर कहीं बीच में हूँ—नहीं, बीच में नहीं, एक साथ दोनों में बँटा हुआ हूँ और दोनों में सुखी हूँ। सोचता हूँ तो सोचता ही जाता हूँ और उसी में यह भी सोचता हूँ कि कर्म-भीरु हूँ : फिर कर्म में जुटता हूँ और सहज, धीर और अविचल प्रसन्न भाव से कर्म करता जाता हूँ—न अनिश्चय, न थकान, न अनुताप... बल्कि उसमें रस मिलता है।

कवि।

अगर मेरे लिए मृत्यु नहीं है, तो फिर जीवन भी 'मेरे लिए' नहीं है। मैं आज जीता हूँ, यह भी उतनी ही सांयोगिक बात है जितनी यह कि कल मैं मर जाऊँगा। मुझे दोनों की चिन्ता छोड़ कर कुछ और से उलझना चाहिए, किसी दूसरी चीज़ को अपना लक्ष्य, साध्य, शोध्य बनाना चाहिए। वह 'और' क्या है या क्या हो सकता है? मूल्य। लेकिन कौन-सा मूल्य?

लोग कहते हैं 'जीवन-मूल्य'। तब क्या 'मृत्यु-मूल्य' भी होते हैं? कि दोनों नाम एक-से व्यर्थ हैं?

मूल्यों की खोज। मानव यह मानता है कि जीवन से बड़ा कोई मूल्य होता है—बल्कि मानव ही उसे गढ़ता है। यह जीवन से बड़ा होता है तो मृत्यु से भी बड़ा होता है। वही मेरा शोध्य हो सकता है : वह मूल्य जो जीवन-मरण से बड़ा है, पर मानव का हो गढ़ा है।

आग का एक फन्दा; उसके बीच से उगता हुआ एक वट-वृक्ष : ऐसे ही तो जिऊँगा! ताप के बीच भी बढ़ूँगा; जो सप्राण है वह तपता हुआ भी बढ़ेगा, जो नहीं है वह झर कर आग में गिरेगा और भस्म हो जाएगा। हो जाने दो—होना ही तो चाहिए। उसकी राख तो फिर काम आएगी—मेरी ही जड़ों के तो काम आएगी!

पर्वत और समुद्र, नदी-तट और मरुभूमि, सब अपने-अपने ढंग की विशिष्ट मनोवृत्ति पैदा करते हैं और विराट से व्यष्टि के सम्बन्ध को अलग-अलग लीकों में डाल देते हैं—अलग-अलग मिथकों की सृष्टि करते हैं।

समुद्र शक्तिशाली है, स्वैराचारी है, भयावह है। समुद्र-तट की संस्कृतियों के देवता भी वैसे हैं : सभी पराक्रमी हैं, आशुरोष हैं, क्रूर हैं। सभी पुरुष हैं यह जोड़ना तो आवश्यक न होना चाहिए। यों कुछ देवियाँ भी हैं, पर ये उपदेवता ही हैं, कुछ भला भी कर जाती हैं तो पुरुष देवों की अनुज्ञा से या उनके अनदेखे ही—जैसे कोई

अनुकूल वायु नौका को सागर-पार सही-सलामत किनारे लगा जाए।

पर्वत विशाल हैं, अचल हैं : समर्थ हैं, पर हैं न किसी के लेने में न किसी के देने में; परात्पर ब्रह्म की तरह उदासीन हैं। हाँ, उनकी तलहटियों में लोग बसते हैं, फलते-फूलते हैं; उनके लिए पर्वत वत्सल हैं, प्रजापति हैं। इसका प्रतिबिम्ब पर्वतीय और तलहटियों की संस्कृतियों में भी देख लीजिए : देवता सर्वशक्तिमान् और उदासीन, 'समाधिस्थ', या फिर प्रजावत्सल और दयामय और दोनों दशाओं में फिर पुरुष—पुरुष ही विराट् होता है...

मरु-प्रदेश का ईश्वर भी पुरुष है, पर पर्वत के ईश्वर की भाँति दयालु और वत्सल नहीं, मरु की तरह कठोर, निर्मम अप्रसाद्य और अकेला...

पर नदी माँ है : नदी-तट की संस्कृतियाँ सभी मातृकाएँ पूजती हैं और सभी मातृ-पूजक संस्कृतियाँ नदी-तटों पर पनपी हैं। जैसे सागर एक होता है, पर्वत एक होता है, वैसे ही पिता एक होता है, पुरुष एक होता है, ईश्वर एक होता है; जैसे नदी एक नहीं होती, वैसे ही माता भी एक नहीं होती, देवी भी एक नहीं होती; पितृपरक संस्कृतियाँ सत्ता खोजती हैं, मातृपरक संस्कृतियाँ समृद्धि; पितृभूमियाँ सिपाही माँगती हैं जो अपनी जान लुटाने को सदा तैयार हो; मातृभूमियाँ किसान माँगती हैं जो दूसरों की जान बचाने में लगा रहे...

मैं सागर-तट पर नदी-सेवित पर्वतीय उपत्यका में रहना चाहता हूँ ('मेरी सादगी देख क्या चाहता हूँ'!)—वैसी ही भूमि मेरी भूमि और उससे उपजने वाला मिथक ही मेरा मिथक हो तो क्या बुरा है! मरु भी कहीं तो रहेगा—पर्वत के पीछे उसे भी रहने देंगे—या सागर के पार : वहाँ से यदा-कदा यात्री समाचार ले आया करें!

लेकिन जैसी जगह रहना चाहता हूँ वैसी कभी मिली कहाँ है? बारी-बारी से पर्वत, सागर, नदी और मरु के पास रहा हूँ... तभी अभी मिथक इंटेग्रेट नहीं हुआ है। देवता भी साक्षात् नहीं प्रकटे, झाँकियाँ मिली हैं और वे भी झिलमिल बदलते रूपों की...इसी को कहते हैं—'द प्राब्लेम इज़ बिट्वीन मी एंड माइ गॉड'!

सभी से वही एक सवाल पूछा जा रहा था, मुझसे भी पूछा गया। उन्हें जवाब देने के लिए हँस देना काफ़ी था। इसलिए और भी अधिक, कि जवाब मैंने अपने भीतर पा रखा है। 'अगर नौका-दुर्घटना आप को किसी निर्जन टापू पर हमेशा के लिए ले जा फेंके केवल एक पुस्तक के साथ, तो कौन-सी पुस्तक आप साथ चाहेंगे?'

मगर उस स्थिति में कोई भी एक पुस्तक क्यों? मेरा काम उस एक पुस्तक के बिना भी—वह जो भी हो—चल जाएगा। पर अगर प्रश्न का उत्तर देना ही हो, तो भारतीय होने के नाते मैं कहूँगा, पुराने ढंग का एक पत्रा या एल्मैनेक ही साथ रखना

चाहूँगा।

क्योंकि उसके सहारे मैं अकेला भी फिर अपने को ऋतु-चक्र में प्रतिष्ठित कर सकूँगा : उस निर्जन द्वीप में सब-कुछ के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकूँगा : उस तादात्म्य में से उद्भूत होगा वेद और उसमें से समूचा वाङ् मय, साहित्य की सतत परम्परा—वह सब तो मुझमें है...

हर भाषा की अपनी एक गन्ध होती है। अगरु-धूप के धुएँ से गन्धयुक्त भाषा मेरी साध्य नहीं है; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मुझे बाजार की चरपरी या नाली की सड़ी गन्धों से गन्धाती भाषा की खोज है—या कि उसके प्रति मेरी स्वीकृति भी है। खुली हवा की भी एक गन्ध होती है—देहाती हवा की सोंधी, या वनखंडी से आते हुए झोंके की तीखी महक—और मैं नहीं मानूँगा कि शहर में केवल सीलन और घुटन ही होती है जिससे केवल बहुत दिनों की दबी हुई सीलन से गन्धाती हुई भाषा ही शहरी यथार्थवाद की भाषा हो सकती है। शहर में भी लकड़ी चिरती है, चीड़-देवदार की लकड़ी, जिसकी ताजा चिराई से पेड़ की अस्थि-मज्जा भी दीख जाती है, और गन्ध से वातावरण मँज जाता है। ताजा चिरी हुई लकड़ी की गन्ध जिसमें मिले, ऐसी भाषा...

दो शतियों के पार कवियों का मिलना अपने-आप में कठिन है : फिर दो भाषाओं की ओट में से तो वह दूरी दो हजार वर्ष के बराबर हो जाती है—कवि-भाषा के एक-एक शब्द का हजार-हज़ार वर्ष का संस्कार होता है।

पर इतनी दूरी के पार भी मैं तुम्हें पहचानता हूँ, कवि; और मेरा विश्वास है कि तुम भी मुझे पहचान सकते... क्योंकि जहाँ इतिहास और भाषा दो कवियों को एक-दूसरे से दूर हटाते हैं, वहाँ एक चीज़ ऐसी भी है जो दोनों को अभिन्न करती है—कविता... जैसे दीठ में मैत्री बोलती है, स्पर्श में स्नेह अपनी बात कह जाता है, वैसे ही कविता सागर के पार तक बढ़ा हुआ वह हाथ है जिस की अचूक पकड़ 'अपनों' को खींच लेती है...

अकेले बैठना, चुप बैठना—इस प्रश्न की चिन्ता से मुक्त होकर बैठना कि 'क्या सोच रहे हो?'—यह भी एक सुख है।

सोचने से ही सब कुछ नहीं होता—न सोचते हुए मन को चुपचाप खुला छोड़

देने से भी कुछ होता है—वह भी सृजन का पक्ष है। कपड़े पहनने ही के लिए नहीं हैं—उतार कर रखना भी होता है कि धुल सकें।

विचारों का मैल छुड़ाने के लिए मन को धोना है न!—क्या यही है 'जस की तस धर दीनी चदरिया'?

झीनी-झीनी तो थी चदरिया : पर उजली भी थी। जब 'जस की तस धर दीनी', उससे पहले धो भी ली थी?

कौन-कौन मिलने आया है, यह जान लेने के बाद मन्त्री महोदय ने कहा, 'पहले शैतान को बुला लो, वह अधिक बेसबरा है। खुदा को चाहे कल-वल पर टाल दो—खुदा के पास तो बहुत वक्त रहता है।'

यह रोज का किस्सा है। मन्त्री महोदय अपनी गणना में यह भूल गये हैं कि उनकी अपनी मीयाद बँधी है।

भाषा राष्ट्र की देन होती है। देश में अगर एक राष्ट्र-समाज नहीं है तो उसकी एक भाषा भी नहीं होगी। जितनी छोटी या बड़ी परिधि में राष्ट्रत्व का बोध होगा उतनी ही परिधि भाषा की भी होगी; राष्ट्रत्व के बोध का जितना विस्तार होगा उतना ही भाषा का भी।

यही कारण है कि प्रादेशिकताओं के उदय के साथ प्रादेशिक भाषाओं का विस्तार हुआ है।

यही कारण है कि इसके विपरीत हिन्दी का समाज क्योंकि टूटा और बँटा है, इसलिए हिन्दी का भी ह्रास हुआ है। पहले सरकार हिन्दी वालों को मारती थी और हिन्दी पनपती थी, अब हिन्दी वाले हिन्दी को मारते हैं और सरकारें पनपती हैं।

और भी बात है : अगर 'राष्ट्र' अँग्रेज़ी बोलेगा तो भारतीय भाषा कहाँ से आएगी।

रेस्टोराँ, रेस्तराँ, रेस्त्राँ, रेस्टारेंट... इटली में चलता है रिस्तोरान्ते, ईरान में हो गया है रिस्तूरान। यहाँ क्या दिक्कत है अगर हम कहें रसतुरन्त? रेस्त्राँ से तो कम ही अपभ्रष्ट है, और है भी तो एक नयी सार्थकता पा गया है।

एक सारनाथ की सिंह-त्रयी है, एक रामपुरवा का बैल है। दोनों ही ऊपर से आरोपित हैं, एक संग्राहक सत्ता के प्रतीक हैं। फिर भी अन्तर है। अलंकृत मूर्ति में सिंह कैसा चिकना पत्थर हो गये हैं!—पर हैं खूनी पंजे के बल पर आधारित ही : साम्राज्य-सत्ता के लिए वह स्वाभाविक है। रामपुरवा का वृष : मिट्टी की उपज और मिट्टी की सेवा में अर्पित... यह साम्राज्य-भावना पर सटीक टीप है कि रामपुरवा के वृष का स्थान सारनाथ की सिंह-त्रयी ने ले लिया : जन-शक्ति की गहरी नींवों के बजाय साम्राज्य-शक्ति की ऊँची दीवारों के भरोसे जीना सत्ता को पसन्द हो, यह समझा तो जा सकता है, पर इस पसन्द का जो दंड है उसे भी देखना चाहिए.. यह तो ठीक है कि कभी सिंह-त्रयी के ऊपर धर्मचक्र भी था—पर वह प्रतीक-पूजा भर थी न, तभी तो धर्मचक्र टूट कर गिर गया और पीठिका की सिंह-त्रयी-भर राष्ट्र का नया गौरव-चिह्न बन गयी!

'सत्यमेव जयते'—हाँ, जरूर, लेकिन किस अर्थ में सत्य जयी होता है, इसे जो ठीक-ठीक देखते, वे इस वाक्य की मुहर लाल फीते पर लगाते हुए थोड़ा तो हिचकते!

गाड़ी काफ़ी लेट हो चुकी थी: अब शायद हमारी तरह वह भी इतनी हताश थी कि छोटे-बड़े हर स्टेशन पर अटक जाती थी और कोई ठिकाना नहीं था कि कब चलेगी। देर से भूख लगी थी, पर काई उपाय नहीं था। छोटे स्टेशन पर मूँगफली बिक रही थी; मैं प्राय: खाता नहीं पर एक पुड़िया मैंने भी ले ली और छीलने लगा। एक-एक दाना खाकर तृप्ति नहीं होती, सोचा कि इकट्ठे काफ़ी से छील लूँ...

प्राय: सारे दाने निकाल लिये थे। एकाएक खिड़की पर गति के भान से आँख उठी। देखा, एक छोटा-सा हाथ बढ़ा था। हाथ के पीछे एक बच्चा था, बच्चे को उठाये एक स्त्री थी; वाणी दोनों के मुँह में नहीं थी पर दोनों की आँखें जो कह रही थीं मैं नहीं जानता कि कोई भी शब्द उससे ज्यादा बेबाक ढंग से क्या कह सकते हैं... मैंने मूँगफली के सारे दाने उस छोटी मुट्ठी मे रख दिए। मुट्ठी धीरे-धीरे बन्द होने लगी, हाथ धीरे-धीरे पीछे खिंचने लगा, मानों पेशियाँ और स्नायु किसी मन या संकल्प द्वारा संचालित न होकर उन पौधों की तरह हों जो किसी ग़ैर चीज़ के स्पर्श से सिकुड़ने लगते हैं।

पौधों की तरह—मुरझायी हुई लता के प्रतान जैसे निर्बल हाथ; स्वयं-चालित स्नायु-प्रक्रिया के स्तर पर आ गयी मानसिक प्रक्रियाएँ : महँगाई और अकाल ने मनुष्य को वानस्पतिक जीवन के स्तर पर ला दिया है और वह भी मरु-प्रदेशीय वनस्पतियों के स्तर पर... एक बूँद नमी और स्वचालित प्रतिक्रिया से एक फीकी

सनसनी उनके भीतर दौड़ जाएगी, एक और दिन का सूखा और उनके लोम-केशर फिर मुरझा कर गिर जाएँगे... सरकारी बयान ठीक ही कहते हैं कि 'भूख से कोई नहीं मरता' : भूख एक बोध का नाम है और ये मानव वनस्पति जहाँ हैं वहाँ मृत्यु के आने से पहले वह बोध कब का जा चुका होता है...

तुम 'सलीब-सलीब' की दुहाई देते हुए इसलिए पहाड़ी पर चढ़े जा रहे थे न कि आधे रास्ते वह झंडा बन जाएगा और जब तुम उसे चोटी पर गाड़ोगे तो नीचे से तालियों की गड़गड़ाहट तुम्हारे पुरुषार्थ का अभिनन्दन करेगी?

पर सलीब ढोने वाला इसलिए ढोता है कि वह चोरों के साथ सलीब पर चढ़ाया जाएगा। अभिनन्दन का कोई सवाल ही नहीं है : सलीब से उतारी जाने पर लाश को भी थोड़ा सत्कार तो मिल सकता है, अभिनन्दन उसे भी नहीं।

अभिनन्दन उस सलीब का होता है जो प्रतीक बन चुका है। और प्रतीक की ढुलाई करने वाला बस उतना ही है—यानी प्रतीक की ढुलाई करने वाला यह बिलकुल 'डिस्पेंसेबल' है—उसकी जगह कोई दूसरा ले सकता है क्योंकि प्राणवत्ता तब प्रतीक में जा चुकी है, भारवाही में नहीं।

'प्राणवत्ता'। लेकिन वह भी नहीं। प्राणवान् वही सलीब है जिस पर ढोने वाले को चढ़ना है—और चोरों के बीच! जो प्रतीक बन चुका है वह सलीब भी प्राणवान् नहीं है।

मेरी दृष्टि ही मेरा सलीब है। क्योंकि मैं देखता हूँ, इसलिए मैं दूसरों से अलग पड़ जाता हूँ। क्योंकि मैं दृष्टि छोड़ नहीं सकता, इसलिए अकेला न होना चुन नहीं सकता। जो कष्ट मैंने जानबूझ कर नहीं ओढ़ा पर जिसे मैं नकार भी नहीं सकता—वही तो सलीब है...

एक चुप इनकार की होती है
और एक समझदार की होती है;
जैसे कि एक चीख तरफ़दार की होती है
और एक लाचार की होती है।

जहाँ इसकी पहचान नहीं है
वहाँ और जो हो, एक चीज़ नहीं है,

और वह चीज़—लेकिन उसे नाम नहीं भी दिया
तो क्या अपना काम मैंने नहीं किया?

किसी को ठीक-ठीक पहचानना है तो उसे दूसरों की बुराई करते सुनो। ध्यान से सुनो।

क्षण। जिसमें प्रकृति स्थगित हो जाती है। केवल पुरुष रह जाता है। (तुलनीय ह्वाइटहेड : 'देयर इज़ नो नेचर एट एन इंस्टैंट')

सच मुकुर नहीं बताता या दिखाता : जो उसने 'देखा' नहीं वह दिखाए या बताएगा क्या?

सच मैं स्वयं देखता या जानता हूँ—मुकुर को सामने रख कर। मुकुर मुझे उतना ही सच बताता है जितना मैं स्वयं अपने को बताने में समर्थ हूँ। उससे ज़्यादा जो कुछ वह दिखाता है वह सच नहीं है, वह मेरा ही झूठ है जो पलट कर मुझे लौटा दिया गया है।

कवि ने पूछा, 'नदी, ओ नदी, तू पहले बता कि तू क्या किनारे से प्रतिबद्ध है?'

नदी ने खिलखिला कर कहा, 'हाँ, रे, हाँ; तू देखता नहीं कि मैं दोनों किनारों से प्रतिबद्ध हूँ?'

कवि आश्वस्त होकर किनारे बैठा है। नदी मझधार के स्रोत में अविराम बही जा रही है।

दूर मुझे आग दीखी। फिर वह बड़ी हो गयी। फिर मुझे लगा, वह आग नहीं, चमक है। फिर देखा, वह स्वयम्भू नहीं, किसी की है।

देवता ने मुझसे कहा, 'अब तूने मुझे देखा है तो या तो तू भी मेरे साथ डूब, या मुझे भी अपने साथ तैरा।'

मैंने पूछा, 'यह तू मुझसे कहे या मैं तुझ से कहूँ?'

देवता ने कहा, 'दोनों बातों में कोई अन्तर है?'

हठ—लक्ष्य से चिपटने की, या कि रास्ते से?

कोई भी मार्ग छोड़ा जा सकता है, बदला जा सकता है : पथ-भ्रष्ट होना कुछ नहीं होता अगर लक्ष्य-भ्रष्ट न हुए।

'कितना ही ऊपर चढ़ जाओ, जब बैठोगे तो अपने ही चूतड़ों पर।'

'अरे यार, तो क्या हुआ? उसी जोड़ का सच यह भी है कि कितना ही नीचे धँस जाओ, जब खड़े होगे तो अपने ही पैरों पर!'

लेकिन कविता के बारे में आज वक्तव्य हो क्या सकता है कि शायद यही हो सकता है कि नहीं हो सकता क्योंकि शायद कविता ही नहीं हो सकती यानी की नहीं जा सकती क्योंकि जो करना है यानी सार्थक करना है वह शब्दों से नहीं हो सकता यानी सार्थक शब्द से और शब्द सार्थक नहीं तो शब्द ही क्या यानी वह कविता के काम का तो नहीं हो सकता निरर्थक शब्द तो बहुत हो सकता है हो ही रहा है जिसे करना हो करे।

कविता को कमिट करना है करो चाहे आत्म-हत्या भी कमिट करो चाहे बोलते जाओ चाहे चुप रहते जाओ चाहे इतना बोलो कि चुप रहने से बदतर हो क्योंकि उससे कहा तो यही न कि हम कह ही क्या सकते हैं ध्यान दो इतना ही नहीं कि हम कर ही क्या सकते हैं बल्कि उससे भी गया-बीता कि हम कह ही क्या सकते हैं।

वही कहना है तो कहो गला फाड़ो कौन मना करता है गला ही तो कमिट होगा न और फाँसी होगी या गलफाँसी डाल कर अपने को मारोगे तो भी गला ही तो कमिट होगा।

तुर्गनेव का बाज़ारोव ही तो था न जो इतना कमिटेड था कि हर सामाजिक अभियान कमिटेड होता था इस नतीजे को कि 'हम आखिर कर ही क्या सकते हैं सिवा सबमिट करने के!' कमिट कममिट या सबमिट है या सब मटियामेट क्योंकि यह यों ही नहीं था कि उसका नाम बाज़ारोव था यानी बाजार का बेटा क्योंकि शब्द-भर को कमिट करना सब कुछ को बाज़ार को कमिट करना है जो बाजार के बेटे बाज़ारोव का काम है जो बाज़ारू काम है जो कविता को बाजारू काम है जो बाज़ारू

कविता का काम है अगर वह काम भी है सिर्फ बाज़ारू नहीं है।

हाँ विरोध हंगरी-चेकोस्लोवाकिया के बारे में भी हो सकता है और तिब्बत के भी और विएतनाम का भी और रोडेसिया का भी और पूर्वी पाकिस्तान का भी जो अब स्वाधीन बांग्ला है जय बांग्ला। सब जगह हत्यारे हुए हैं कमिटेड हत्यारे और हम सब के विरुद्ध हैं और होंगे पर कविता करने वाले इन सब देशों में भी थे जो सब मारे गये जो सबमिट नहीं किए इसलिए सब मिट गये जैसे ढाका के बौद्धिक और जो मारे नहीं गये वे सब चुप हैं यानी कि कविता नहीं करते क्योंकि कविता की फ़ुरसत नहीं है और फ़ुरसत के कोई मानी नहीं है और मानी के लिए कोई शब्द अब नहीं बच गये हैं क्योंकि बात सिर्फ मुलम्मे की नहीं है घिसाई की भी नहीं है बल्कि बासन की भी नहीं है बल्कि इसकी भी नहीं कि बासन में भरा क्या जाये क्योंकि आग बासन में नहीं भरी जाती बल्कि घिसे बासन ही आग में गला दिये जाते हैं।

और जो बौद्धिक मारे गये वे तो होते ही जो नहीं मारे गये वे भी चुप हैं क्योंकि जब काम है तो बोल कर क्या होगा पर मार्के की बात है कि जो मार गये वे भी चुप हैं क्योंकि ऐसे ही कई अघोषित लड़ाइयाँ वे सब लड़ चुके हैं बल्कि जबसे घोषित महायुद्ध बन्द हुआ है तब से सब अघोषित ही लड़ते रहे हैं और लड़े जा रहे हैं। अब जैसे बाँधों पर बम बरसाते हैं और चुप हैं या बेशर्मी से सबूत यह पेश करते हैं कि हमने बरसाये होते तो नुकसान ज्यादा हुआ होता और देश का देश डूब गया होता यानी कि हमें बेकसूर इस लिए मानिए कि हम इतने बेवकूफ नहीं हो सकते कि कसूर कमिट करें और उस में सफलता कमिट न हो कसूर हमसे होता है पर फिर उसमें सफलता तो मिलती है न जैसे माइलाइ में और जहाँ कामयाबी ही हो गयी वहाँ कसूर कैसा कमिट हुआ?

फिर अब देखिए न कि शब्द ही क्यों कर्म भी बेमानी हो जाये इसकी भी पूरी कोशिश है और वह भी बिना लफ्जों को कमिट किये और दूर क्यों जाइए जो विदेश में विदेशी ढंग से होता है वह देश में देशी ढंग से जैसे कि कहीं वनस्पतियों को निर्बीज करके और बाढ़ से खेती डुबा देकर फिर यन्त्र-किरणो से बुद्धिभ्रम पैदा करने का आयोजन रहता है और ध्यान रहे कि यह अल्ट्रासानिक यानी कि शब्दातीत ही नहीं स्वनातीत किरणों से होता है यानी लफ्ज की नहीं आवाज को भी कमिट होने से बचाते हुए पर मैंने कहा न कि बिदेस की बिदेस में देस में भी कुआँ है जिसमें भी भाँग पड़ी है जिससे भी ऐसा बुद्धि भ्रम होता है कि हम समझें कि हम मगन हैं और चुप में झूम-झूम जाएँ जैसे यही कि तीस-चालीस-पचास साल पहले के फ्रीडम फ़ाइटर थे उन्हें फ़ाइटर का दर्जा दे रहा है कौन न वे दुश्मन जिनसे ये लड़े थे न वह जन जिस के लिए लड़े थे न वह गाँव-कसबा-शहर जहाँ या जहाँ से या जहाँ पर वे लड़े थे बल्कि एक सरकार गोया कि वह सरकार ही देश है और जिस आज़ादी के

लिए वे लड़े वह और कुछ नहीं थी सिवा इस ख़ास सरकार को गद्दीनशीन करने के जद्दो-जहद के क्योंकि यह सरकार ही तो देश है चाहे इस देश में और लाखों-करोड़ों रहते हैं और करोड़ों ऐसे भी रहते हैं जिनके लिए रुपहली जयन्ती की आज़ादी चाँदी के चाँद के बराबर तो क्या अध-जले टिककड़ पर पड़ी चित्ती के बराबर भी नहीं है क्योंकि वैसा टिक्कड़ भी वे बराबर देख नहीं सकते पचीस साल तक देखते रहे होने की बात तो दूर।

अब फ्रीडम फ़ाइटर तो हम भी थे पर क्या जिस फ्रीडम के प्रति मैं कमिट हुआ था वह यह थी कि ऐसी सरकार बने जो हो तो देसियों की पर अपेक्षा करे कि आज़ादी पाने के बाद मैं मुगले-आज़म के दीवाने-आम में फरियादी की तरह हाज़िर होकर उससे टामरा-पटरा पर सनद पाऊँ कि मेरी ख़िदमत से ज़िल्ले-इलाही ख़ुश हुए या कि वह आज़ादी इन्तहाई ख़ुशी की वह इन्तहा थी जो स्वलक्षण है—स्वातन्त्र्यमानन्दम्? वह जो हो पर हुआ तो यही कि शब्द मारा गया कमिटेड शब्द भी मारा गया और कविता तो ऐसी मारी गयी कि उसका भुरकुस अब लाल किले में बँटा तो किसी ने पहचाना भी नहीं कि यह उस देवी की प्रसादी का भुरकुस है जो रुद्र के लिए उसका धनुष तानती थी और अपने उपासक को समर्थ बनाती थी क्योंकि यह प्रसादी बाँटने जुटे हुए लोग नहीं जानते थे कि वे क्या बाँट रहे हैं वे यही समझे थे कि वह भुरकुस किसी सिद्ध साधु-महात्मा की देन है जिससे उन्हें आज़ादी तो कहाँ अच्छी नौकरी जरूर मिल जाएगी और नौकरी पहले से हो तो तरक्की या ऊपरी आमदनी या आयकर से छूट या कोई परमिट-वरमिट या और कुछ नहीं तो किसी चूक की अनुग्रह-भरी अनदेखी हो।

यानी देखिए कि कितना वक्तव्य होगा जिसके बारे में मुग़ालता हो सकता है कि वह कविता के बारे में है या यह मुग़ालता हो सकता है कि कविता के बारे में नहीं है दोनों सूरतों में है मुग़ालता ही और वक्तव्य बेमानी और जब मानी नहीं तब क्यों शब्द और क्यों व्यक्तव्य और क्यों कविता कविता को मारो गोली और कुछ काम करो चाहे इतना ही कि धौंकनी चलाओ कि उससे लौ जगाओ जिसमें कविता-बासन-मुलम्मा सब जलाओ कि फुँकारता दहकता गला धातु निकले कि जिससे बनाओ—बनाओ क्या? कविता? पर कविता कैसे बनाओ पहले शब्द से बनती थी जब शब्द बेमानी हो गये तब कामा-फुलस्टाप से बनने लगी पर जब कामा-फुलस्टाप भी बेमानी है क्योंकि पहले अर्थ तो पता लगे क्योंकि लोहा न हो तो पत्थर को भी सान दी जा सकती है पर हवा सान पर नहीं चढ़ती पंजाबी में कहते हैं फूँक निकल गयी हिन्दी में कहते हैं फिस्स हिन्दी में भी गाली भी दे लेते हैं पंजाबी की गाली और भी दुम्मट होती है पर आप अगर मेरी बात समझ गये तो और बेकार बात फैला कर क्या होगा अपना काम देखें और अगर नहीं समझे तो भी क्या भई मुझसे

जो बन पड़ेगा करता रहूँगा तुम भी यहाँ क्या देख रहे हो कोई तमाशा थोड़े ही है मेरे सिर पर क्यों सवार हो जाओ अपना देखो काम देखो काम...

तूर से फरमान ले उतरे हजरत मूसा,
तलैटी में गदराया देसी आम उनने चूसा
बोल उठे : 'पटिया पर आग से लिखे
आदेश तो मुझे कल दसियों दिखे,
भोगा हुआ यथार्थ मैं ने आज महसूसा!'

गरदानें जब बाँचने गये हजरत इब्न बतूता
खड़ाऊँ छोड़ पंडित ने उठा लिया जूता :
चाँद पर जमाते हुए
बोले हकलाते हुए
'एहसासा कि महसूसा? अनुभवा कि अनुभूता?'

आपने महसूसा तो मैंने आप का अप्राचा
कि आपसे ज्ञातूँ : आपने मुझे ही क्यों आलोचा ?
पर आज आप अनाहूते
ही समझ आविर्भूते—
आपने तो मुझे बड़े संकट से मोचा।

(जापान-यात्रा : हेमन्ती दिन : कुहरा : ढलते दिन में एकाएक धूप। रेल में फ़ूजीयामा दीख गया।)

रूई के गाले में
धरा हुआ
कोयला दिन-भर
राख से ढँका रहा
साँझ में
सुलगने लगा।

'पहाड़ के लिए फतुही' (कि पहाड़ को ठंड न लगे)-
जापानी लोक-गीत की एक पंक्ति।

पहाड़ के लिए फतुही :
नदी के लिए भाप स्नान
मेरे लिए?
—मैं, बस, ओढ़े रहूँ तुम्हारा गान! तुम्हारा गान!

छोटी-छोटी घाटियों में चाय के कटे-छँटे पौधों की पाँतें : डोरेदार हरी मखमली लखनवी एकलाइयाँ।—और नारंगियों से लदे पेड़—हर जगमग नारंगी जैसे एक डाल से बँधी मनौती...या उत्सर्ग कर दिया गया सपना?

चीज़ें फिर जमा हो गयी हैं। एकाएक लगता है कि उनसे घिर गया हूँ।

सबको देख कर मैंने आँखों से दुलरा लिया है, और सबसे विदा ले ली है। चीज़ों की अपनी जगह है। मेरी अपनी जगह है। चीज़ें मेरी नहीं हैं, केवल चीज़ें हैं। मैं चीज़ों का नहीं हूँ। अपना भी नहीं हूँ; मैं हूँ।

कुछ भी मेरा नहीं है, तभी मैं हूँ। घर-दुनिया-जीवन-कुछ नहीं। मैं हूँ।

वह क्यों चीज़ों को बाहर से छुए जो उनके भीतर से धधक कर उन्हें दीप्त कर देता है?

बहुत-सी कापियाँ हस्ताक्षर के लिए बढ़ा दी गयी थीं। मैंने टाला; फिर देखा कि कुछ हस्ताक्षर कर देने से ही जल्दी छुट्टी मिलेगी।

उसने भी कापी बढ़ायी तो मैंने फिर टाला; पर उसने हठ की। मैंने उसकी कापी में भी हस्ताक्षर कर दिये। वह बोला, "कुछ लिख भी दीजिए।" मैंने फिर कहा, जाने दीजिए, पर वह अड़ रहा था।

लिखने लगा तो लिख गया : 'The flesh is willing but the spirit is weak.'

उसने बिगड़ कर कहा, "यह आपने क्या लिख दिया है?"

मैंने कहा, "क्यों? क्या यह सही नहीं है कि मेरी पीठ मुड़ते ही तुम मुझे

किसी तरह गिरा कर अपने आगे बढ़ने की सीढ़ी बनाने को तैयार हो—पर राजी होकर भी हिम्मत नहीं रखते?"

कापी लेकर वह क्षण-भर मेरी ओर घूरता रहा। फिर मुड़ कर चल दिया चलते समय भी उसके चेहरे पर कहने को 'मुस्कान' थी, पर वैसी 'मुस्कान' मानवपुत्र के चेहरे पर न भी आया करे तो उसका कोई अहित नहीं होगा!

पंख से पंख मिला कर आकाश में उड़ना—शिखरों से एक-साथ सरसराते हुए नीचे झपटना और उसी गति के सहारे, केवल पंख थोड़े मोड़ कर, फिर ऊपर उड़ जाना—निःसन्देह वह प्रेम है। पर उतना ही भर प्रेम नहीं है। पंख-टूटे साथी को धीरे-धीरे बढ़ावा देते हुए उससे वह उड़ान भरा लेना जो वह केवल अपने भरोसे न कर सकता—वह भी प्रेम है; और प्रेम अनिवार्यतया यह भी माँगता है : दूसरे को सहायता देने में स्वयं को जोखिम में डालना भी वह माँगता है।

लेकिन एक और भी स्तर है। नीड़ से गिरे खग-शावक को मैंने उठा कर, सहला कर, शुश्रूषा करके फिर उड़ा दिया है; इसके बाद न वह मुझे पहचानेगा, न मैं उसे। और इस न पहचाने जाने में न दुःख होगा, न अकृतज्ञता, न उस पर निराशा। वह कर्म अपने-आप में सम्पूर्ण होगा; एक की उससे जीवन-रक्षा हुई होगी, दूसरे का—दूसरे का क्या? केवल ऐसा ही और कर सकने के सामर्थ्य की वृद्धि : यानी वह वापी और गहरी हो गयी होगी जिससे वह कारुण्य छलकता है...

कारुण्य : प्रेम का चरम, सत्तम रूप...

लेकिन ठहरो, बात इससे आगे भी है।

गहराई का आयाम और भी अर्थ रखता है। कारुण्य मानवीय प्रेम का विस्तार है; निरन्तर फैलता वृत्त है। घनत्व बढ़ाता हुआ मानवीय प्रेम दो के बीच होता है और दो ही के बीच रहता है; पर गहराई का आयाम ऊर्ध्वोन्मुख भी है और उधर बढ़ना मानवीय स्तर से ऊपर उठ जाना है। कारुण्य भी दो को छोड़ कर सबको घेरता है, प्रेम भी अगर दो को छोड़ कर उस निर्व्यक्तिक परम एक को नहीं पाता—पाने की ओर बढ़ता—तो कच्चा है, अविकसित है...

प्रेम : हाँ. दो; लेकिन दो में से होकर इधर सबको और उधर उस केवल एक को बाँहों में घेरता हुआ—यही प्रेम की विकास-दिशा हो सकती है...

जब 'हिस्टरी' में बँध जाते हैं, तब 'मिस्टरी' की, 'मिथ' की, जरूरत पड़ती है। हमें भी, 'प्रगति' के बन्दी बन जाने के बाद से, पड़ने लगी है। नहीं तो पहले

मिथ की कोई ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि इतिहास का बन्धन नहीं था—काल मरा नहीं था और लीला के माध्यम से हम उसका (और अपना) पुनर्नवीकरण कर लेते थे।

लीला। कल्प। तीर्थ। सम्पराय। संवत्सर।

इन सबके लिए पश्चिम की सभ्यता में कोई शब्द नहीं है। इनकी दुनिया से उसकी कोई पहचान नहीं है। तभी 'मिथ' की खिड़की खोलकर इसकी एक धुँधली झाँकी वह पा लेता है।

और हम हैं कि अपनी दुनिया की चिन्ता हमें नहीं है, उनकी उस खिड़की की चिन्ता है जिसमें से दुनिया को हम देखेंगे!

जन-गणना के दिन मैं यात्रा पर था, गिना नहीं गया। पिछली जन-गणना में मैं देश में ही नहीं था; उसमें भी नहीं गिना गया। उससे पहली जन-गणना में भी जंगलों में घूम रहा था, तब भी गिनती में नहीं आया।

जब-जब गिनतियाँ हुई हैं कोई न कोई कारण हुआ है कि मैं गिनती में से छूट गया हूँ।

जीवन में मैं सुखी हूँ या नहीं, यह प्रश्न मैं नहीं पूछा करता। पर गिनतियों के जोड़ में कहीं मैं भी जोड़ नहीं लिया गया हूँ, महान योगफल में मैं भी सोख नहीं लिया गया हूँ, इस में मुझे एक कर्म-स्वातन्त्र्य मिलता है। वह सुख काफ़ी है—क्योंकि उसके बाद यह पूछना सूझता ही नहीं कि मैं सुखी हूँ या नहीं। पूछने की फ़ुरसत ही कहाँ रहती है—स्वातन्त्र्य में कितने काम करने को हो जाते हैं!

लेखक है? आज़ाद है? मारो स्साले को। पिटाई से न सधे तो बदनाम करो; संखिया-धतूरा कुछ खिला दो, पागलखाने में डाल दो। ये सब भी बेकार हो जाएँ तो शाल-दुशाला, पद-पुरस्कारों से लाद कर कुचल दो—वह तो ब्रह्मास्त्र है!

जाल तो समेटते-समेटते सिमटेगा; इस बीच रोहू-हिलसा के साथ न जाने कितनी धुत्ता-खोतरी भी उसमें फँस चुकी होंगी!

जिसने आज़ादी का स्वाद जाना है, उसी को तो गुलामी की तड़पन सता सकती है। जिस ने गुलामी के सिवा कुछ जाना ही नहीं, उसमें वह तड़प कहाँ से आएगी?—यह नहीं कि कभी आ ही नहीं सकती, पर उसकी प्रक्रिया कहीं दीर्घतर, कठिनतर, अधिक श्रम-साध्य होगी...

जिसने अपनी देश-भाषा में अच्छी शिक्षा पायी है, उसके सामने अँग्रेज़ी आती है तो उससे एक चुनौती मिलती है जो स्फूर्तिप्रद है। शुरू से ही अँग्रेज़ी शिक्षा देने से एक चुनौती की स्थिति ही नहीं आती; शुरू से ही मानस एक हीन-भाव से आक्रान्त हो जाता है—दासत्व का संस्कार पा लेता है।

अक्ल बड़ी कि भैंस?

—यह तो इस पर है कि अक्ल किसकी, और भैंस किस गद्दी पर।

—अगर अक्ल भारतीय इंटेलेक्चुअल की और भैंस सरकार की तो, निःसन्देह भैंस बड़ी है। बल्कि इंटेलेक्चुअल तो भैंस को पूजने को भी तैयार होगा!

मेरे हाथ की मुद्रा तुम्हें अध-बँधा मुक्का दीखती है, या अध-खुली मुट्ठी, या प्रश्न-विराम, या साँप का फन—तुम्हारे समझने से मुद्रा के बारे में तुम्हारी जानकारी नहीं बढ़ती, लेकिन तुम्हारे बारे में मेरी जानकारी बढ़ जाती है।

मिला बहुत कुछ : सब बेपेन्दी का। शिक्षा मिली; उसकी नींव, भाषा, नहीं मिली। आज़ादी मिली, उसकी नींव आत्म-गौरव नहीं मिला। राष्ट्रीयता मिली, उसकी नींव अपनी ऐतिहासिक पहचान नहीं मिली।

यानी आज़ादी में जन्मे-पले मुझको—आज़ादी के आदि-पुरुष को—चेहरा मिला, व्यक्तित्व नहीं मिला। और बिना व्यक्तित्व के चेहरा क्या होता है? स्पष्ट है—वह फकत चेहरा होता है। पहन लो, उतार लो, उस पर अलकतरा पोत दो, चूना लगा दो—और यही सब तो हम कर रहे हैं—हर कोई—कर रहा है।

'भक्ति की परम्परा ने तुम सबको पिलपिला बना दिया है। सख्य, दास्य, वात्सल्य, माधुर्य—हुँह! भगवान् भूखा भेड़िया है जो तुम्हारे पीछे लगा है, जब तुम मरु में गिरोगे तो तुम्हें दबोच लेगा और चबा जाएगा! भगवान् शेर है जिसकी दहाड़ तुम्हें दहला देगी; भगवान् गरुड़ है जो तुम्हें पंजे में झपट कर उड़ा ले जाएगा दुर्गम पर्वत-गुफाओं में—वहाँ अकेले ऊपर चढ़ने को या नीचे उतरने को—जैसा उसका उद्देश्य हो...या वह ऊँचे आकाश से तुम्हें छोड़ देगा नीचे अथाह में डूबने को, चट्टान पर चकनाचूर होने को...भगवान् को तुम समझते क्या हो?'

(सिवा इसके कि अथाह की थाह वह है,
इसलिए डूब कर भी तुम मरोगे नहीं,
चकनाचूर होकर भी टूटोगे नहीं और
चबाये जाकर भी बने रहोगे...)

किस आस्तिक की श्रद्धा दूसरों को 'भोली' (या 'अन्धी' भी) नहीं जान पड़ती—जब तक कि वे स्वयं आस्तिक न हों? जब श्रद्धा के स्वभाव में ही है कि वह तर्कातीत हो, (और परिवेश-निर्भर तो वह कदापि नहीं हो सकती), तब उसके तर्क-संगत होने का प्रश्न कहाँ उठता है, और परिवेश की कसौटी पर उसे परखना चाहना कहाँ की बुद्धिमानी है?

एकाएक प्रश्न उभर आता है और मैं स्तम्भित-सा रह जाता हूँ। इस मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? उद्देश्य क्या है? क्यों जी रहा हूँ?

किधर जा रहा हूँ, इसका कुछ-कुछ अनुमान तो है। यह जो अतिरिक्त एकान्त मिला है, उसमें उस दूर देश की क्षिति-रेखा जो कुछ स्पष्टता के साथ अंकित कर सका हूँ। पर जिधर जा रहा हूँ उधर क्या मैं जा रहा हूँ? या कि यह कहना सच होगा कि उधर ले जाया जा रहा हूँ? मेरा सचेतन, संकल्पित, स्वयंवरित लक्ष्य क्या है?

'कृतं स्मर, क्रतो स्मर'...कृतं वह सब है जो मेरे द्वारा हुआ है, मुझ पर बीता है, उसे मैं अपना किया हुआ क्यों और कैसे मान लूँ—क्या इसीलिए कि वह हो चुका है और उसका श्रेय मैं अपने ऊपर ओढ़ लूँ तो कोई रोकने वाला नहीं है? उसके होने से पहले भले ही मैंने उस दिशा में उद्यम भी किया हो—पर जब वह हो गया है, कृत है, तब वह मुझसे झर गया है। मेरा वह नहीं है, मेरे द्वारा सिद्ध हुआ हो तब भी मेरा नहीं है।

क्रतु—वही मेरा है या हो सकता है—जो मैं संकल्पपूर्वक करूँगा, कर रहा हूँ... क्या कर रहा हूँ? क्या करूँगा—क्या करने का संकल्प है? इसी को लेकर प्रश्न सामने आया है और मुझे स्तम्भित कर गया है। क्योंकि उत्तर मैं नहीं जानता, प्रश्न सामने आया है तो बताता है कि जो संकल्प या लक्ष्य थे वे काफ़ी नहीं हैं और मैं पहचानने लगा हूँ कि काफ़ी नहीं है।

मेरे जीवन को कोई नया अर्थ पाना ही है—उसी की ओर मैं बढ़ूँगा—यह सामने का कुहासा मुझे भेदना ही है, भेदना ही है...

गूँगे का गुड़...

आस्वाद-सुख का साझा करना चाहना स्वाभाविक है : पर वह गुड़ बाँट कर ही हो सकता है। स्वाद नहीं बाँटा जा सकता। वहाँ सब गूँगे हैं। स्वाद पाना ही गूँगा हो जाना है।

स्वातन्त्र्यमानन्दम्।
स्वातन्त्र्यमानन्दम्॥
स्वातन्त्र्यम् आनन्दम्...

स्वप्न :

नदी में नाव में चला जा रहा हूँ। और भी यात्री हैं : एक स्त्री है, एक लड़की है, दो-एक और हैं, नाविक है। नदी से हम लोग एक तीर्थ की ओर जा रहे हैं। उसका पक्का घाट दीख रहा है।

एकाएक पाता हूँ कि मैं एक बालक को गोद में उठाए हुए हूँ। नाव घाट के किनारे आती है तो मन्दिर दीखने लगता है। बालक उसकी ओर उँगली उठता है। मैं देखता हूँ, पर वह मन्दिर नहीं दिखा रहा है, कुछ विशिष्ट संकेत कर रहा है। मैं समझ जाता हूँ। वह मन्दिर के शिखर की ओर इशारा कर रहा है : शिखर में तीन छत्र हैं, इसी की ओर उसका संकेत है। मैं कहता हूँ, 'हाँ, ठीक जैसे तुम्हारे मस्तक पर है,'—क्योंकि बालक भी जो टोप या मुकुट पहने है वह भी इसी तरह तीन छत्र वाला है।

बालक पूछता है; 'तो क्या मुझे इस मन्दिर के देवता का शासन मानना होगा? क्या मैं उसकी प्रजा हूँ?'

मैं उत्तर देता हूँ; "नहीं, इसका अर्थ है कि तुम स्वयं भी चक्रवर्ती हो जैसे उस मन्दिर का देवता है।"

नाव घाट लगती है। हम उतरते हैं। लोग हमारे लिए ससम्भ्रम रास्ता छोड़ देते हैं। जिस बालक को मैं गोद लिए हूँ, उसमें शक्ति है, लोग उसके मार्ग से हट जाते हैं...

घाट के पार फिर सीढ़ियाँ हैं। इधर से चढ़कर उधर हम उतर जाते हैं और फिर नाव पर सवार हो जाते हैं। नाव चल पड़ती है : ऊपर स्रोत की ओर।

थोड़ी दूर पर नाव का अगला हिस्सा टूट कर अलग हो जाता है—वह अलग

एक छोटी नाव है जो किनारे लग जाती है। वह स्त्री और लड़की यहाँ उतर जाते हैं। पिछला हिस्सा—बड़ी नाव—आगे बढ़ती जाती है। लड़की और स्त्री चिन्तित-से देखते हैं : वे क्या पीछे छूट गये—क्या मैं भी वहीं नहीं उतर रहा हूँ? मैं समझ रहा हूँ कि बड़ी नाव यहाँ उथले घाट पर किनारे नहीं लग सकती थी, आगे घाट पर जा लगेगी—उन्हें आश्वस्त रहना चाहिए। पर घाट के बराबर आकर भी नाव किनारे की ओर नहीं बढ़ती; ठीक मझधार में ऊपर की ओर चलती जाती है।

... ...

पाट सँकरा हो जाता है; छहेल पेड़ किनारों से झुक कर छा जाते हैं जैसे नाव एक हरी सुरंग में बढ़ी जा रही हो। नाव निरन्तर ऊपर स्रोत की ओर बढ़ती जा रही है।

... ...

(थोड़ा और भी था; भूल गया हूँ।)

थोड़ी देर बाद इस बोध के साथ जाग जाता हूँ कि स्वप्न विशिष्ट है; एक बार मन में उसे दुहरा जाता हूँ कि सवेरे याद रहे। अन्त के थोड़े-से अंश को छोड़ कर सारा ज्यों का त्यों याद है,और एक गूढ़ार्थ-भरा लगता है। यह भी निश्चय है कि आगे थोड़ा और था : वह क्यों भूल गया?

लिख डालता हूँ।

राष्ट्रपति भवन के सामने अब भी देश के अधखिले कमल के ऊपर राजसत्ता का सितारा बैठा हुआ है। शासन द्वारा प्रदत्त पद्म-सम्मान अब भी सितारा-ए-हिन्द के साँचे में ढल कर बँटते हैं और शासन के हित में अथवा शासन को अर्पित की गयी सेवाओं पर दिये जाते हैं : पद्मश्री, पद्मभूषण, पद्मविभूषण—सितारे-हिन्द दर्जा दोयम, सितारे-हिन्द दर्जा अव्वल, कम्पैनियन आफ़ द स्टार आफ़ इंडिया...

'गुलाब किसी दूसरे नाम से भी उतना ही मीठा महकेगा'—हाँ; और कुकुरमुत्ता क्या दूसरा नाम दे देने से कुछ और हो जाएगा!

अगर मेरी पुस्तक से सचमुच तुम्हें जीने में कोई सहारा मिला है, तो और कोई सहारा मुझ से मत चाहो। और सहारा मैं दे भी क्या सकता हूँ? मैं जानता हूँ कि अगर मेरी पुस्तक ने तुम्हें कुछ भी सहारा दिया होगा तो उतना ही जितना साहित्य दे सकता है—अच्छा साहित्य। यानी अगर पुस्तक ने वह सहारा दिया है तो वह पुस्तक साहित्य के नाते अच्छी है—अगर उसने सहारा दिया है।

वह सहारा क्या है? साहित्य तुम्हारी तुम्हीं से पहचान और गहरी करता है : तुम्हारी संवेदना की परतें उधाड़ता है जिससे तुम्हारा जीना अधिक जीवन्त होता है और यह सहारा साहित्य दे सकता है; उससे अलग साहित्यकार व्यक्ति नहीं। उससे सहारा चाहना अपने संवेदन को उसके संवेदन की परिधि में बाँधना चाहना है। वह मुक्ति नहीं देगा। तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी मुक्ति है; किसी दूसरे के देने से वह नहीं मिलेगी।

अगर सन् 1947 में आज़ाद हुआ था, तो न जाने क्यों अभी तक क्या हिन्दी, क्या अँग्रेज़ी के वक्ताओं-लेखकों-चिन्तकों को उसके बाद के यानी हमारे युग को 'आज़ादी का युग', 'स्वातन्त्र्य-युग', 'एरा आफ इंडिपेंडेंस' कहने की अक्ल नहीं आती—या कहते डर लगता है! यह तो हो सकता है कि कोई इस आज़ादी को आज़ादी ही न माने—और इसमें सन्देह नहीं कि अँग्रेज से देश के आज़ाद हो जाने पर भी सामाजिक आज़ादी की प्रक्रिया अभी अधूरी है—पर उस दशा में तो 'स्वातन्त्र्योत्तर' या 'पोस्ट इंडिपेंडेंस' विश्लेषण और भी निरर्थक हो जाता है!

मैंने कई बार इस विशेषण का व्यवहार करने वालों से पूछा है : 'स्वातन्त्र्योत्तर या पोस्ट-इंडिपेंडेंस का क्या मतलब? स्वातन्त्र्य अब नहीं है या इंडिपेंडेंस समाप्त हो चुकी? 'पोस्ट-वार' या युद्धोत्तर आप कहते हैं क्योंकि युद्ध समाप्त हो चुका होता है; उसके बाद अगर शान्ति की स्थापना होती है तो उसे आप शान्ति-युग कहते हैं, शान्त्युत्तर-युग नहीं।'

लोग उत्तर नहीं दे पाते, खिसियानी-सी हँसी हँस देते हैं। हिन्दी के हों (प्रोफेसर भी) तो तुरन्त अँग्रेज़ी का प्रमाण देते हैं कि 'अँग्रेज़ी में भी तो पोस्ट-इंडिपेंडेंस कहते हैं।' जब मैं कहता हूँ कि अँग्रेज़ी में भी गलती है और उन्हें स्वतन्त्र चिन्तन करना चाहिए, तब वे कन्नी काट जाते हैं।

भाषागत हीन-भावना तो है ही, एक बात और भी है। स्वातन्त्र्य में नैरन्तर्य सा सातत्य न देख पाने का कारण है। ये सब लोग उस स्वातन्त्र्य के साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं देखते। स्वातन्त्र्य केवल 'वह' 'वहाँ' था : अतीत की एक घटना थी जो हो चुकी—इन्हें अब उससे क्या लेना-देना है! इस प्रकार वे स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अपनी किसी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं। और यह बात अब लेखकों-चिन्तकों-अध्यापकों तक ही सीमित नहीं है : राजनीतिक कर्मियों में भी फैल गयी है और उन्हें भी घुन की तरह खा गयी है जिन्हें मोहने-बरगलाने के लिए 'स्वातन्त्रता-सेनानी' और फ्रीडम फ़ाइटर का नाम देकर (और कुछ को साथ वृत्तियाँ भी देकर) भविष्य के लिए स्वतन्त्रता की दिशा में किसी उद्यम या चिन्तन से विमुख

कर लिया गया है! वे तो स्वतन्त्रता सेनानी हैं न, और अब स्वातन्त्र्योत्तर युग है; यानी उनका युग तो बीत चुका है, इस बाद के युग में वे आराम करें और पाखंड सम्मान और दरिद्र वृत्ति पर गुज़ारा करते रहें...

अगर हमें याद रहता कि यह स्वातन्त्र्योत्तर नहीं, स्वातन्त्र्य युग है, तो हम उस स्वतन्त्रता की त्रुटियों का भी अनुभव करते जो आज हम भोग रहे हैं, उसके प्रति अपनी जिम्मेदारी भी समझते या कम से कम उसे अनदेखा न कर सकते! तब शायद हमें फिर याद आता कि 'द प्राइस आफ लिबर्टी इज इटर्नल विजिलेंस'—और हम उस मोह-निद्रा में न पड़े रहते या पड़ते जिसमें हमें थपकिया कर पहुँचाने का विराट आयोजन हमारे चारों ओर है—अलग-अलग पक्षों के द्वारा अलग-अलग कारणों से...

सागर एक मुकुर है।

मुकुर में मैं अपना चेहरा जब-तब देख लेता हूँ। जब-तब; उससे अधिक की आवश्यकता नहीं है बल्कि उतना भी संयोगवश ही हो जाता है, न भी होता तो कोई बात न थी। मुकुर में झाँकना मेरी आश्वस्ति का आधार नहीं है; आधार उस मुकुर के होने का ज्ञान है। मुकुर स्वच्छ, निर्मल और निष्कम्प निश्चल है; यह विषयी नहीं है, वासना उस में नहीं है; वह सत्ता है, अशेष सम्भावना उसमें भरी है।

पर तभी एकाएक सागर भीतरी बेचैनी से उन्मथित हो उठता है; अन्तर्व्यथा के दबाव से मुकुर की सतह काँपने लगती है; तब सभी कुछ उसमें अस्थिर हो जाता है। अपना प्रतिबिम्ब भी मैं पहचान नहीं पाता। विखंडित प्रतिबिम्ब के टुकड़े जोड़ता हूँ तो हर बार नया चेहरा बन जाता है—मेरा भी नया चेहरा, परिवेश का भी नया चेहरा; जो कुछ मुकुरित है सभी कुछ का नया चेहरा...

क्या ये चेहरे मैं बना रहा हूँ? क्या प्रतिबिम्बित टूटनों का समूह मेरी रचना है?

मुकुर मैं हूँ। क्योंकि मुकुर मेरी आत्मा है। मुकुर एक सागर है।

सागर एक मुकुर है।

लेकिन दर्द : क्या वह भी एक प्रतिबिम्ब है? क्या मुकुर दोहरा है—एक प्रतिबिम्ब भीतर को, एक बाहर को? जिसमें से बाहर वाला ही मैं देखता हूँ, भीतर वाला भोगता हूँ?...

ऋषि ध्यान में बैठा था। उठ कर एकाएक जागता-सा बोला : 'मैं द्रष्टा हूँ।'

तभी उसके सिर पर एक भारी काँटों वाला चमरौधा जूता पड़ा। ऋषि के मुँह से चीख निकल गयी : 'आह, मैं मरा!'

जहाँ से चमरौधा गिरा था, वहीं हँसी-भरी आवाज़ आयी : 'जा, अब ठीक है। अब तू भोक्ता बना; अब जो दीखेगा उससे द्रष्टा भी बन लेना। पर याद रख, तभी फिर और एक जूता भी पड़ सकता है।'

नहीं, ऐसा नहीं है कि मरुदेशों में
फ़ूल नहीं खिलते, न ऐसा
कि चट्टानों पर रंग नहीं फूटते,
हमारा ही अधैर्य का पूर्वग्रह
हमारी आँखों पर परदा डाल देता है।
क्योंकि हमें मरु से फूल की अपेक्षा नहीं होती,
इसलिए जब अकस्मात् फूल खिलते हैं तो हम
रूप-रस नहीं देखते, हम उसे ओषधि मानते हैं;
क्योंकि चट्टानों पर जब रंगीन परतें प्रकट होती हैं,
हमारी कल्पना सूक्ष्म उद्भिजों तक नहीं पहुँचती
जिनका संसार
उतना ही सम्पूर्ण है जितना महावृक्ष वनस्पतियों का।
हमारे ही प्राण
जब छोटे होते हैं
शिलित होते हैं
तब नहीं देखते
कि मरु-शिला भी प्राणदा होती है...

मैं एक शिला की ओट बैठा यह लिख रहा हूँ; शिला से लिपटी सूखी घास की एक लम्बी उँगली हिल-हिल कर मेरे लिखे पर * * चिह्न लगा जाती है...

मरु यहाँ नहीं है। पर एक मरु मैं भी हूँ। पर जब-तब फूलता हूँ।...

अपने जीवन के लिए—शायद अब यही कहना अधिक संगत हो कि 'अपने शेष जीवन के लिए'—समाधान या हल का मार्ग मुझे न दीखता हो, सो बात नहीं है। हल क्रमश: स्पष्टतर होता गया है; पर उसके साथ ही यह भी क्रमश: स्पष्टतर दीखता गया है कि जो मार्ग मुझे अपना और ठीक दीख रहा है, उस पर चल सकना भी मैं ही अपने लिए कठिनतर बनाता आया हूँ। यानी अपने मार्ग में एक-मात्र

अड़ंगा मैं ही हूँ! एक हद तक तो सभी के बारे में यह बात सही होती होगी; एक तरफ़ एक ध्येयोन्मुख अस्ति होती होगी, दूसरी ओर उसके मार्ग में बाधा खड़ी करने वाली दूसरी अस्ति, और दोनों के बीच का तनाव ही जीवन का मानचित्र तैयार करता होगा... पर मेरी बात क्या उतनी ही है, या उससे अधिक भी कुछ? क्या मुझे वह 'बन्दर-कूद' भी नहीं दीख रही है जिससे मैं इस द्विभाजन की खाईं के पार कूद जाऊँ—

देखने का साहस—उसके बाद कूदने का साहस—लेकिन असल में क्या 'कूदना' ही 'देखना' नहीं है!

'Look before you leap' हाँ, ठीक होगा; पर वहाँ क्या जहाँ कूदना ही देखना है; साहस ही आँख है?

तुम्हें मैं जो प्यार करता हूँ उसे मैं समग्र विश्व को देता हूँ—दे देता हूँ। मेरे कर्म-व्यापार तुम्हारे साथ मुझे बाँधते हैं, लेकिन उन्हें समग्र को दे-देकर मैं मुक्त होता हूँ।

न तुमसे मुक्त, न अपने से मुक्त, न विश्व से मुक्त; तुम में मुक्त, अपने से मुक्त, समग्र में मुक्त। यह मुक्त होना ही एकात्म होना है, नहीं तो प्यार की सघनतम पीड़ा में भी द्वैतभाव से मुक्ति नहीं मिलती...

तो : यहाँ गलती है न—पकड़ में आयी न?

दे देना काफ़ी नहीं है, प्रेम करना आवश्यक है। 'अपने को दिया'—पर किस प्रेरणा से दिया?

अपनी विजय तुझे दी तो क्या दिया? वह तो सभी देते हैं : इस प्रकार विजय स्मरणीय बन जाती है और उसका 'दान' उसका स्मारक बन जाता है। यानी दान दाता को लौट आता है, दाता का अहं और स्फीति पा जाता है!

(समझने-सीखने में देर लगती है, न! और सीख कर फिर व्यवहार में लाने में भी तो!)

जा, अपनी हर पराजय, हर लज्जा भी तुझे देता हूँ। वह भी स्मरणीय बनती है तो बने। इस प्रकार वह लौट कर मेरे पास तो नहीं आती; या आती भी है तो टिकने नहीं, स्फीति देने नहीं; कुछ और माँग कर ले आते ही आती है... इस प्रकार अपने

को देता हुआ, छीजता हुआ कुछ न रह जाऊँ, यह ठीक है।

नव-स्वतन्त्र अफ्रीकी देशों का साहित्यकार अपनी अस्मिता की आक्रोश-भरी खोज को श्यामत्व (नेग्रिट्यूड) का नाम देता है और हमारे आलोचक प्रशंसा के मारे आपे से बाहर हो जाते हैं। पर भारतीय साहित्यकार भारतीयता की बात करता है तो वे ही आलोचक लट्ठ लेकर उसके पीछे पड़ जाते हैं। कालेपन को एक मूल्य बनने और एक परम्परा ओढ़ाने का प्रयत्न एक दर्शन है, आत्म-साक्षात्कार है, गौरव की बात है: जाने हुए मूल्यों पर अपना जीवन परखना चाहना, परम्परा को पहचानना और झूठी मान्यताओं की धूल झाड़ कर उसे निखार देने का प्रयत्न—वह कठमुल्लापन है, दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया है?

क्योंकि दोनों ही का स्वस्थ मूल्यांकन करने का कोई मानदंड हमारे आलोचक के पास नहीं है। अफ्रीकी अस्मिता-संघर्ष का वह समर्थक है, क्योंकि उसका समर्थन कोई दूसरे कर रहे हैं। जिन्हें उसमें अफ्रीका का नहीं, अपना फ़ायदा दीखता है। और भारतीय अस्मिता के नाम से उन्हें चिढ़ है क्योंकि उसका समर्थन दूसरे नहीं करते जिनको उसमें अपना लाभ नहीं दीखता—भारतीय का लाभ होगा या नहीं, यह प्रश्न जिनके लिए असंगत है!

अकुंठित अस्मिता की खोज कर मूल्यांकन उसी की दृष्टि से हो सकता है, होना चाहिए, जो अस्मिता की खोज के लिए संघर्ष कर रहा है। भारतीय की भारतीयता भी उतनी ही मूल्यवान् है जितनी अफ्रीकी की अफ्रीकियत—बल्कि अधिक ही मूल्यवान् क्योंकि भारतीयता पर अधिक बड़ा संकट है : उसे केवल आविष्कार नहीं करना है, ध्वंस के नीचे से मर्माहत को उबार कर संजीवन भी देना है।

और यह प्रतिकूल वातावरण में।

'सव्यसाची तो हूँ, पर दाहिनी आँख कानी है न, उधर दीखता नहीं इसलिए वाम दिशा में ही जाता हूँ, वाम अस्त्र ही चला सकता हूँ...!'

शीशे में अपना चेहरा सभी देखते हैं। मैं भी देखता हूँ—रोज़ नहीं तो भी अकसर। कभी-कभी मैं देखता नहीं पर वह एकाएक दीख जाता है : अभ्यस्त या स्मृति में बैठे हुए से कुछ भिन्न—चाहे कितनी ही सूक्ष्मता से भिन्न। तब शीशा उठा कर समीप लाता हूँ या खुद उसके निकट जाता हूँ—इतना निकट कि दोनों आँखें मिल कर एक आँख बन जाए।

आँख को देखती हुई आँख। जिस आँख में समूचा विश्व समाया है, उसमें झाँकती हुई वह आँख जो अपने को भी प्रतिबिम्ब से ही पहचानती है। क्या यही कविता होती है?

हम 'महान् साहित्य' और 'महान् लेखक' की चर्चा तो बहुत करते हैं।

पर क्या 'महान् पाठक' भी होता है? या क्यों नहीं होता, या होना चाहिए?

क्या जो समाज लेखक से 'महान् साहित्य' की माँग करता है, उससे लेखक भी पलट कर यह नहीं पूछ सकता कि 'क्या तुम महान् समाज हो?'

अगर 'देश को वैसी ही सरकार मिलती है जिसके वह योग्य है', तो क्या 'समाज को भी वैसा ही साहित्य मिलता है जिसके वह योग्य है'?

तस्वीर दीवार पर टँगी है। स्थान—कलकत्ता (या दिल्ली या कोई शहर, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता); पता ठिकाना—बड़तल्ला; मकान नं, 2153 में केशव बाबू का बैठकखाना (या दूसरे शहर में दूसरे मुहल्ले का दूसरा घर, दूसरा पता, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता)।

मगर तस्वीर दीवार की नहीं है। वह कलकत्ते की (या दिल्ली या दूसरे शहर की भी) नहीं है। तस्वीर कर्नाटक के जोग जल-प्रपात की है (मान लीजिए)।

इस प्रकार तस्वीर की 'देश' में स्थापना के दो अलग-अलग उत्तर हैं। पर दो ही; उसके बाद चित्र यथा-स्थान प्रतिष्ठित हो जाता है।

अब तस्वीर से उपन्यास पर आइए। उपन्यास अगर 2153 बड़तल्ला, कलकत्ता, में केशवदास बाबू के बैठकखाने में रखा है, और उसमें वृत्तान्त मैक्सिको में लड़ी गयी लड़ाई का है, तो यहाँ भी 'देश' के सम्बन्ध में दो अलग-अलग उत्तर होंगे।

पर उपन्यास दो उत्तरों के बाद भी 'यथास्थान' ही प्रतिष्ठित नहीं होता। क्योंकि कोई भी घटना केवल 'देश' में नहीं होती : वह देश-काल में होती है। और देश भी दो से अधिक हैं, काल तो इतने हो सकते हैं कि गिनना सम्भव न रहे!

मैक्सिको की लड़ाई कब लड़ी गयी? उपन्यासकार ने वृत्तान्त कब लिखा? कहाँ लिखा? पाठक उसे कब पढ़ रहा है? कितनी देर में पढ़ता है? अगर आधा पढ़ कर छोड़ देता है, तब? या एक महीने बाद फिर उठाता है और उस महीने में उसके अपने जीवन में कई घटनाएँ हो चुकी हैं जिनसे पहला पढ़ा हुआ अंश स्मृति में कहीं दूर चला गया है, तब? या कि उन में से कुछ घटनाएँ ठीक उपन्यास जैसी होने के कारण उपन्यास की उन घटनाओं को ताज़ा कर गयी हैं, कुछ धुँधली होकर दूर चली

गयी हैं, तब?

और उसी उपन्यास के उसी अंश को एक दूसरा पाठक एक झोंक में पढ़ कर आया है और ये दोनों पाठक उस उपन्यास की घटना की चर्चा करते हैं—तब?

और कहाँ बैठकर उपन्यास पढ़ते हैं, उसकी चर्चा करते हैं?

तस्वीर का दर्शक अगर केशवदास बाबू के कमरे में है, तो जोग प्रपात का चित्र प्रत्यक्ष है, स्वयं जोग प्रपात भले ही प्रत्यक्ष न हो।

पर जो पाठक उसी कमरे में बैठ कर उपन्यास पढ़ता है, उसके सामने केवल पोथी प्रत्यक्ष है, (और वह बिना पढ़े भी प्रत्यक्ष है?) —न मैक्सिको की लड़ाई प्रत्यक्ष है, न उसका वृत्तान्त प्रत्यक्ष है।

'मानो।' इस 'मानो' में कई समस्याओं की कुंजी है। कई कुंजियाँ हैं। और कई रहस्य हैं।

लेखक उसे कैसे प्रत्यक्ष कर देता है? कैसे हमें वहाँ ले जाता है—उस देश में, उस काल में? कैसे बीच में से स्वयं हट जाता है? केवल अदृश्य ही नहीं हो जाता, हमें यह भी भुला देता है कि वह कहाँ था भी?...

पेड़ के नीचे रुक कर सुस्ता लिया, फिर कापी निकाली तो मैं एक लम्बी साँस सुन कर चौंका। पर आस-पास कोई नहीं था। मैंने सोचा, भ्रम हुआ होगा, हवा होगी। फिर लिखने की ओर दत्तचित्त हुआ।

लम्बी साँस फिर सुनाई दी।

पेड़ ने लम्बी साँस ली थी

मैंने कहा, "क्यों, पेड़, क्या हुआ?"

पेड़ ने कहा, "तुम कवि हो न?"

मैंने कहा, "हूँ भी तो क्या? वन-प्रकृति का भक्त हूँ, पेड़ों से प्रेम है मुझे—"

पेड़ टोक कर बोला, "होगा, होगा। तुम पेड़ पर कविता लिखो, या पेड़ को बचाने के आन्दोलन के लिए ही कविता लिखो, छपेगी तो पेड़ की लुगदी पर ही। जब-जब कोई लिखता है मैं लम्बी साँस लेता हूँ : यह पेड़ काटने का एक और निमित्त बना..."

पेड़ ने फिर लम्बी साँस ली।

पेड़ के साथ कविता का एक यह भी रिश्ता है। इतना साफ़ नहीं दिखा था न?

कम लिखो। जब तक अनिवार्य न हो मत लिखो। जितना बनाना-सँवारना है, मानस में ही कर के तब रूप को कागज पर उतारो—जितना घना, छोटा, गठीला बना कर सम्भव हो...

और हमेशा पहले पेड़ को प्रणाम कर के, क्योंकि वही तुम्हारी बलि है...

यमुना-सूर्य की बेटी। कालिय उसका जल दूषित करता है। कालिय, काल-सर्प, काल-गति का अनुज्ज्वल और भयानक प्रतीक; सूर्य-तनया, प्रवहमान काल का उज्ज्वल प्रतीक।

शेष कालिय : दोनों सर्प। उज्ज्वल, शुभ्र, मंगल, और अँधेरा, मलिन, अशुभ—व्हाइट टाइम और ब्लैक टाइम? काल और प्रतिकाल—टाइम और एंटिटाइम, जैसे मैटर और एंटिमैटर?

सूर्य और प्रतिसूर्य भी तो हैं—विकीरित ऊर्जा के आलोक-पुंज और सब कुछ सोखते हुए शून्य अँधेरे विवर?

'Affirmation can be in silence, but protest needs rhetoric.' क्या protest का आधार एक नकारात्मक affirmation नहीं होता? अर्थात् क्या मौन का भी rhetorical मूल्य नहीं हो सकता।

नकार के मौन में तूफान की-सी गड़गड़ाहट हो सकती है!

तो। 'नकार के मौन की गड़गड़ाहट' वाली बात rhetoric लगती है? हाँ, है तो—यानी मौन का rhetorical मूल्य तुमने मान् लिया! पर मेरा लक्ष्य सिर्फ़ तर्क में जीतना नहीं है : बात वैसी विजय से अधिक गहरी है। स्वयं तुमने क्या नकार के मौन का दबाव कभी नहीं जाना—अनुभव किया? नहीं तो आज कर लो चारों तरफ...

पच्चीस-तीस वर्ष आज़ाद रह कर भी हम एक आत्म-प्रवंचना से छुटकारा नहीं पा सके हैं। हम समझते हैं कि अपने इतिहास के अनुज्ज्वल पक्ष की स्मृति मिटा कर हम उसके प्रभाव से मुक्त हो जाएँगे। जैसे कि जाति की स्मृति इतनी सतही होती है, जैसे कि प्रभाव इतने छिछले होते हैं, जैसे कि इतिहास ही इतना इकहरा होता है कि पिछली कड़ी से तोड़ कर भी कुछ अर्थ रख सके! हमारा दैनिक अखबार ही हमारी कुल इतिहास-शिक्षा हो जाये, इससे बड़ा क्या दुर्भाग्य होगा! पर वही हम कर रहे हैं। क्या ब्रितानी शासन के स्मृति चिह्न हटा देने से यह तथ्य मिट जाएगा कि वह शासन यहाँ रहा? क्या उसके लक्षणों को आँखों-ओट करना चाहना ही उसे गहरे में बनाये नहीं रखता? मैं तो समझता हूँ उनकी विशाल मूर्तियाँ हमने एकत्र कर के कालक्रम से लगा कर प्रदर्शित की होतीं, तो हमारी मुक्ति भावना अधिक पुष्ट

हुई होती, इतिहास-परम्परा का हमारा ज्ञान गहरा हुआ होता, आज़ादी का अर्थ भी हमारी समझ में ठीक-ठीक आया होता, और जिस पीढ़ी ने स्वयं आज़ादी के संघर्ष में भाग नहीं लिया था वह भी उस संघर्ष को सम्मान की दृष्टि से देख सकती और उसमें गौरव का अनुभव कर सकती। महापुरुषों की मूर्तियाँ बनती हैं, पर मूर्तियों से महापुरुष नहीं बनते; ब्रितानी शासकों, सेनानियों, अत्याचारियों तक की मूर्तियाँ हमें देखने को मिलती रहतीं तो हमारा केवल कोई अहित न होता बल्कि हम सुशिक्षित हो सकते। राजपथ में एक मूर्तिविहीन मंडप खड़ा रहे, उससे कुछ सिद्ध नहीं होता सिवा इसके कि उसके भावी कुर्सीनशीन के बारे में हल्का मज़ाक हो सके; उसके बदले एक पूरी सड़क ऐसी होती जिसके दोनों ओर ये विस्थापित मूर्तियाँ सजी होतीं और उस सड़क को हम 'ब्रितानी साम्राज्य वीथी' या 'औपनिवेशिक इतिहास मार्ग' जैसा कुछ नाम दे देते, तो वह एक जीता-जागता इतिहास महाविद्यालय हो सकता। इतिहास को भुलाना चाह कर हम उसे मिटा तो सकते नहीं, उसकी प्रेरणा देने की शक्ति से अपने को वंचित कर लेते हैं। स्मृति में जीवन्त इतिहास ही प्रेरणा दे सकता है।

कानून की चौहद्दी एक चीज़ है और इन्साफ बिलकुल दूसरी चीज़। हमारा डरू समाज कानून की चौहद्दी में रहना तो सीख गया है, बल्कि कह सकते हैं कि 'नित्त-नेम' के अक्षरशः पालन की तो उसकी लम्बी परम्परा रही है—लेकिन इन्साफ़ से कोई फालतू सरोकार उसने नहीं रखा है। कानून की चौहद्दी में रहता हुआ वह नाइन्साफ़ी देखता भी है, सहता भी है और करता भी है। इन्साफ की हत्या से भी उसे बहुत बेचैनी नहीं होती जब कि नाइन्साफ़ी देख कर भी उसे व्याकुल हो जाना चाहिए।

कानून केवल नकारात्मक पक्ष है। न्याय का धन-पक्ष संकल्प की अपेक्षा रखता है। इन्साफ़ हो या नाइन्साफ़ी न होने पाए, जब तक हम इसके लिए कृतसंकल्प नहीं हैं तब तक समाज में इन्साफ़ नहीं है, न्याय नहीं है, धर्म भी नहीं है : केवल कानून है, केवल व्यवस्था है जिससे हम बँधे हैं।

वास्तव में पराधीनता के अन्त और स्वाधीनता में भी ऐसा ही अन्तर है। पराधीनता का बन्धन न रहने से ही हम स्वाधीन नहीं हो जाते; स्वाधीनता भी संकल्प माँगती है और वह संकल्प केवल स्वाधीनता के भोग का नहीं, उसके दूसरे तक प्रसार का संकल्प है। जो अ-पराधीनता में इतने-भर से सन्तुष्ट हैं कि 'हम पर तो कोई बन्धन नहीं है', वे दूसरे की स्वाधीनता का छिनना देख लेते हैं, बल्कि स्वयं छीन लेते हैं। स्वाधीनता भी न्याय की तरह अविभाज्य और संकल्पमूलक है।

डीवार पर बौइठा ठा हम्प्टी-डम्प्टी,
गिरा अउर टूट गिया, इडर जास्टी उडर कम्प्टी,
राजा बोला : 'मुर्डे को माफ क्रो
बट रास्टा जल्डी साफ क्रो—
मेक श्योर हाइवे पर ट्राफिक नेइ ठम्प्टी!'

तो तुम्हें जीवन के अन्तर में जाकर यह दिखा कि जीवन के अन्त में सफलता नहीं, दृष्टि चाहिए...चलो, दिखा तो, यद्यपि वहाँ जाकर दिखने से दृष्टि भी प्रतिमुख ही होगी...

क्या ज़रूरी है कि भारतीय उपन्यास का धर्म और उसकी प्रवृत्ति वही हो जो पश्चिमी (यूरोपीय या अमेरिकी) उपन्यास की है? क्यों? वह भिन्न क्यों नहीं हो सकता? क्या भारतीय अनुभव में और पश्चिम के अनुभव में भिन्न कुछ नहीं है, क्या संरचना मात्र के बारे में दोनों की अवधारणा में भिन्न कुछ नहीं है?

या अगर ये सारे प्रश्न आभ्यन्तर जगत् के हैं, तो बाहर परिवेश में भी क्या बुनियादी ढंग के अन्तर नहीं हैं?
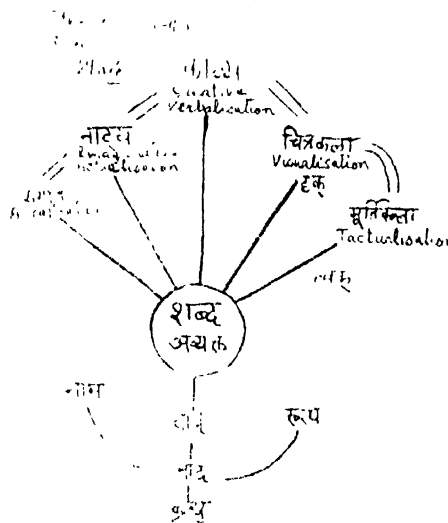
फिर आज़ादी का जश्न मनाने की तैयारी हो रही है। सब जगह बाड़े बन गये हैं।

भूमिकाएँ

परिदृष्टि : प्रतिदृष्टि

तार सप्तक का प्रकाशन सन् 1943 में हुआ था। दूसरे संस्करण की भूमिका सन् 1963 में लिखी जा रही है। बीस वर्ष की एक पीढ़ी मानी जाती है। *वयमेव याता:* के अनिवार्य नियम के अधीन सप्तक के सहयोगी, जो 1943 के प्रयोगी थे, सन् 1963 के सन्दर्भ हो गये हैं। दिक्कालजीवी को इसे नियति मान कर ग्रहण करना चाहिए, पर प्रयोगशील कवि के बुनियादी पैंतरे में ही कुछ ऐसी बात थी कि अपने को इस नये रूप में स्वीकार करना उसके लिए कठिन हो। बूढ़े सभी होते हैं, लेकिन बुढ़ापा किस पर कैसा बैठता है यह इस पर निर्भर रहता है कि उसका अपने जीवन से, अपने अतीत और वर्तमान से (और अपने भविष्य से भी क्यों नहीं?) कैसा सम्बन्ध रहता है। हमारी धारणा है कि *तार सप्तक* ने जिन विविध नयी प्रवृत्तियों को संकेतित किया था उनमें एक यह भी रही कि कवि का युग-सम्बन्ध सदा के लिए बदल गया था। इस बात को ठीक ऐसे ही सब कवियों ने सचेत रूप से अनुभव किया था, यह कहना झूठ होगा; बल्कि अधिक सम्भव यही है कि एक स्पष्ट, सुचिन्तित विचार के रूप में यह बात किसी भी कवि के सामने न आयी हो। लेकिन इतना असन्दिग्ध है कि सभी कवि अपने को अपने समय से एक नये ढंग से बाँध रहे थे। *उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा* वाला पैंतरा न किसी कवि के लिए सम्भव रहा था, न किसी को स्वीकार्य था। सभी सबसे पहले समाजजीवी मानव प्राणी थे और समानधर्मा का अर्थ उनके लिए कवि-धर्मा से पहले मानवधर्मा था। यह भेद किया जा सकता है कि कुछ के लिए आधुनिकधर्मा होने का आग्रह पहले था और अपनी मानवधर्मिता को वह आधुनिकता से अलग नहीं देख सकते थे, और दूसरे कुछ ऐसे थे जिनके लिए आधुनिकता मानवधर्मिता का एक आनुषंगिक पहलू अथवा परिणाम था।

सप्तक के कवियों का विकास अपनी-अपनी अलग दिशा में हुआ है। सर्जनशील प्रतिभा का धर्म है कि वह व्यक्तित्व ओढ़ती है। सृष्टियाँ जितनी भिन्न होती हैं स्रष्टा उससे कुछ कम विशिष्ट नहीं होते, बल्कि उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ ही उनकी रचना में प्रतिबिम्बित होती हैं। यह बात उन पर भी लागू होती है जिनकी रचना प्रबल वैचारिक आग्रह लिये रहती है जब तक कि वह रचना

है, निरा वैचारिक आग्रह नहीं है। कोरे वैचारिक आग्रह में अवश्य ऐसी एकरूपता हो सकती है कि उसमें व्यक्तियों को पहचानना कठिन हो जाये। जैसे शिल्पाश्रयी काव्य पर रीति हावी हो सकती है, वैसे ही मताग्रह पर भी रीति हावी हो सकती है। *सप्तक* के कवियों के साथ ऐसा नहीं हुआ, सम्पादक की दृष्टि में यह उनकी अलग-अलग सफलता (या कि स्वस्थता) का प्रमाण है। स्वयं कवियों की राय इससे भिन्न भी हो सकती है— वे जानें।

इन बीस वर्षों में सातों कवियों की परस्पर अवस्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया है। तब की सम्भावनाएँ अब की उपलब्धियों में परिणत हो गयी हैं— सभी बोधिसत्त्व अब बुद्ध हो गये हैं। पर इन सात नये ध्यानी बुद्धों के परस्पर सम्बन्धों में विशेष अन्तर नहीं आया है। अब भी उनके बारे में उतनी ही सचाई के साथ कहा जा सकता है कि उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म, राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। और यह बात भी उतनी ही सच है कि वे सब परस्पर एक-दूसरे पर, दूसरे की रुचियों, कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर और यहाँ तक कि एक-दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं। (सिवा इसके कि इन पंक्तियों को लिखते समय सम्पादक को जहाँ तक ज्ञान है कुत्ता किसी कवि के पास नहीं है, और हँसी की पहले की सहजता में कभी कुछ व्यंग्य या विद्रूप का भाव भी आ जाता होगा!)।

ऐसी परिस्थिति में ऐसा बहुत कम है जो निरपवाद रूप से सभी कवियों के बारे में कहा जा सकता है। ये मनके इतने भिन्न हैं कि सबको किसी एक सूत्र में गूँथने का प्रयास व्यर्थ ही होगा। कदाचित् एक बात—मात्रा-भेद की गुंजाइश रख कर—सबके बारे में कही जा सकती है। सभी चकित हैं कि *तार सप्तक* ने समकालीन काव्य-इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। प्राय: सभी ने यह स्वीकार भी कर लिया है। अपने कार्य का या प्रगति का, मूल्यांकन जो भी जैसा भी कर रहा हो, जिसकी वर्तमान प्रवृत्ति जो हो, सभी ने यह स्थिति लगभग स्वीकार कर ली है कि उन्हें नगर के चौक में खम्भे से, या मील के पत्थर से, बाँध कर नमूना बनाया जाये : *यह देखो और इससे शिक्षा ग्रहण करो!* कम से कम एक कवि का मुखर भाव ऐसा है, और कदाचित् दूसरों के मन में भी अव्यक्त रूप में हो, कि अच्छा होता अगर मान लिया जा सकता कि वह *तार सप्तक* में संग्रहीत था ही नहीं। इतिहास अपने चरित्रों या कठपुतलों को इसकी स्वतन्त्रता नहीं देता कि वे स्वयं अपने को न हुआ मान लें। फिर भी मन का ऐसा भाव लक्ष्य करने लायक और नहीं तो इसलिए भी है कि वह परवर्ती साहित्य पर एक मन्तव्य भी तो है ही— समूचे साहित्य पर नहीं तो कम से कम सप्तक के अन्य कवियों की कृतियों पर (और

उससे प्रभावित दूसरे लेखन पर) तो अवश्य ही। असम्भव नहीं कि संकलित कवियों को अब इस प्रकार एक-दूसरे से सम्पृक्त होकर लोगों के सामने उपस्थित होना कुछ अजब या असमंजसकारी लगता हो। लेकिन ऐसा है भी, तो उस असमंजस के बावजूद वे इस सम्पर्क को सह लेने को तैयार हो गये हैं इसे सम्पादक अपना सौभाग्य मानता है। अपनी ओर से वह यह भी कहना चाहता है कि स्वयं उसे इस सम्पृक्ति से कोई संकोच नहीं है। परवर्ती कुछ प्रवृत्तियाँ उसे हीन अथवा आपत्तिजनक भी जान पड़ती हैं, और निःसन्देह इनमें से कुछ का सूत्र *तार सप्तक* से जोड़ा जा सकता है या जोड़ दिया जाएगा; तथापि सम्पादक की धारणा है कि *तार सप्तक* ने अपने प्रकाशन का औचित्य प्रमाणित कर लिया। उसका पुनर्मुद्रण केवल एक ऐतिहासिक दस्तावेज को उपलभ्य बनाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए भी संगत है कि परवर्ती काव्य-प्रगति को समझने के लिए इसका पढ़ना आवश्यक है। इन सात कवियों का एकत्रित होना अगर केवल संयोग भी था तो भी वह ऐसा ऐतिहासिक संयोग हुआ जिसका प्रभाव परवर्ती काव्य-विकास में दूर तक व्याप्त है।

इसी समकालीन अर्थवत्ता की पुष्टि के लिए प्रस्तुत संस्करण को केवल पुनर्मुद्रण तक सीमित न रख कर नया संवर्द्धित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। *तार सप्तक* के ऐतिहासिक रूप की रक्षा करते हुए जहाँ पहले की सब सामग्री—काव्य और वक्तव्य—अविकल रूप से दी जा रही है, वहाँ प्रत्येक कवि से उसकी परवर्ती प्रवृत्तियों पर भी कुछ विचार प्राप्त किए गये हैं। सम्पादक का विश्वास है कि यह प्रत्यवलोकन प्रत्येक कवि के कृतित्व को समझने के लिए उपयोगी होगा और साथ ही *तार सप्तक* के पहले प्रकाशन से अब तक के काव्य-विकास पर भी नया प्रकाश डालेगा। एक पीढ़ी का अन्तराल पार करने के लिए प्रत्येक कवि की कम से कम एक-एक नयी रचना भी दे दी गयी है। इसी नयी सामग्री को प्राप्त करने के प्रयत्न में *सप्तक* इतने वर्षों तक अनुपलभ्य रहा : जिनके देर करने का डर था उनसे सहयोग तुरन्त मिला; जिनकी अनुकूलता का भरोसा था उन्होंने ही सबसे देर की—आलस्य या उदासीनता के कारण भी, असमंजस के कारण भी, और शायद अनभिव्यक्त आक्रोश के कारण भी : *जो पास रहे वे ही तो सबसे* दूर *रहे।* सम्पादक ने वह हठधर्मिता (बल्कि बेहयाई!) ओढ़ी होती जो पत्रकारिता (और सम्पादन) धर्म का अंग है, तो *सप्तक* का पुनर्मुद्रण कभी न हो पाता : यह जहाँ अपने परिश्रम का दावा है; वहाँ अपनी हीनतर स्थिति का स्वीकार भी है।

पुस्तक के बहिरंग के बारे में अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है। पहले संस्करण में जो आदर्शवादिता झलकती थी, उसकी छाया कम से कम सम्पादक पर अब भी है, किन्तु काव्य-प्रकाशन के व्यावहारिक पहलू पर नया विचार करने के

लिए अनुभव ने सभी को बाध्य किया है। पहले संस्करण से *उपलब्धि* के नाम पर कवियों को केवल पुस्तक की कुछ प्रतियाँ ही मिलीं; बाकी जो कुछ उपलब्धि हुई वह भौतिक नहीं थी! *सम्भाव्य आय को इसी प्रकार के दूसरे संकलन में लगाने* का विचार भी उत्तम होते हुए भी वर्तमान परिस्थिति में अनावश्यक हो गया है। रूप-सज्जा के बारे में भी स्वीकार करना होगा कि नये संस्करण पर परवर्ती सप्तकों का प्रभाव पड़ा है। जो अतीत की अनुरूपता के प्रति विद्रोह करते हैं, वे प्रायः पाते हैं कि उन्होंने भावी की अनुरूपता पहले से स्वीकार कर ली थी! विद्रोह की ऐसी विडम्बना कर सकना इतिहास के उन बुनियादी अधिकारों में से है जिसका वह बड़े निर्ममत्व से उपयोग करता है। नये संस्करण से उपलब्धि कुछ तो होगी, ऐसी आशा की जा सकती है। उसका उपयोग कौन कैसे करेगा यह योजनाधीन न होकर कवियों के विकल्प पर छोड़ दिया गया। वे चाहें तो उसे *तार सप्तक* का प्रभाव मिटाने में या उसके संसर्ग की छाप धो डालने में भी लगा सकते हैं!

अर्थ-प्रतिपत्ति और अर्थ-सम्प्रेषण

तार सप्तक का प्रकाशन जब हुआ, तब मन में यह विचार ज़रूर उठा था कि इसी प्रकार की पुस्तकों का एक अनुक्रम प्रकाशित किया जा सकता है, जिसमें क्रमशः नये आने वाले प्रतिभाशाली कवियों की कविताएँ संगृहीत की जाती रहें—ऐसे कवियों की जिनमें इतनी प्रतिभा तो है कि उनकी संगृहीत रचनाएँ प्रकाशित हों, लेकिन जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उनके अलग-अलग संग्रह निकाल दे। *तार सप्तक* का आयोजन भी मूलतः इसी भावना से हुआ था, यद्यपि इसमें साथ ही यह आदर्शवादी आरोप भी था कि संग्रह का प्रकाशन सहकार-मूलक हो। (जिन पाठकों ने संग्रह देखा है वे शायद स्मरण करेंगे कि इस आदर्श की रक्षा तब भी नहीं हो सकी थी; दूसरा सप्तक में तो उसे निबाहने का यत्न ही व्यर्थ मान लिया गया था।)

तो *तार सप्तक* के कवि ऐसे कवि थे, जिनके बारे में कम से कम सम्पादक की यह धारणा थी कि उनमें कुछ है, और वे पाठक के सामने लाये जाने के पात्र हैं; यद्यपि वे हैं नये ही, केवल कवियशःप्रार्थी ही और इसलिए काव्यक्षेत्र के अन्वेषी ही। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनमें से सभी अनन्तर काव्य-क्षेत्र में आगे बढ़े— कम से कम एक ने तो न केवल ऐलान कर के कविता छोड़ दी बल्कि क्रमशः कविता के ऐसे आलोचक हो गये कि उसे साहित्य-क्षेत्र से ही खदेड़ देने पर तुल गये; और बाकी में से दो-एक और भी कविता से उपराम-से हैं! फिर भी, हम आज भी समझते हैं कि *तार सप्तक* का प्रकाशन—प्रकाशन ही नहीं, उसका आयोजन, संकलन, सम्पादन—न केवल समयोचित और उपयोगी था बल्कि उसे हिन्दी काव्य-जगत् की एक महत्त्वपूर्ण घटना भी कहा जा सकता है। और आलोचकों द्वारा उसकी जितनी चर्चा हुई है उसे *सप्तक* के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा।

दूसरा सप्तक में फिर सात नये कवियों की संगृहीत रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। सात में से कोई भी हिन्दी-जगत् का अपरिचित हो, ऐसा नहीं है, लेकिन किसी का कोई स्वतन्त्र कविता-संग्रह नहीं छपा है, अतः यह कहा जा सकता है कि प्रकाशित कविता-ग्रन्थों के जगत् में ये कवि इसी पुस्तक के साथ प्रवेश कर रहे हैं।

और हमारा विश्वास है कि हिन्दी में सम्प्रति जो काव्यसंग्रह छपते हैं; उनमें कम ऐसे होंगे जिनमें अच्छी कविताओं की इतनी बड़ी संख्या एकत्र मिले जितनी *दूसरा सप्तक* में पायी जाएगी।

क्या ये रचनाएँ प्रयोगवादी हैं? क्या ये कवि किसी एक दल के हैं, किसी मतवाद—राजनीतिक या साहित्यिक—के पोषक हैं? *प्रयोगवाद* नाम के नये मतवाद के प्रवर्तन का दायित्व क्यों कि अनचाहे और अकारण ही हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है, इसलिए हमारा इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहना आवश्यक है, और नहीं तो इसीलिए कि *दूसरा सप्तक* के संगृहीत कवि आरम्भ से ही किसी पूर्वग्रह के शिकार न बनें, अपने कृतित्व के आधार पर ही परखे जाएँ।

प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है: अत: हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना। क्योंकि यह आग्रह तो हमारा है कि जिस प्रकार कविता-रूपी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिव्यक्ति चाहने वाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुरूप श्रेष्ठ उपयोग करे, उसी प्रकार आत्म-सत्य के अन्वेषी कवि को, अन्वेषण की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, बिना माध्यम की विशेषता, उसकी शक्ति और उसकी सीमा को परखे और आत्मसात् किये उस माध्यम का श्रेष्ठ उपयोग हो ही नहीं सकता। जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा, कम से कम कवि के लिए, कोई ऐसी पोटली बाँध कर अलग रखी हुई चीज़ नहीं है जिसे वह उठा कर सिर पर लाद लेकर चल निकले। (कुछ आलोचकों के लिए भले ही वैसा हो।) परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजा कर, तोड़-मरोड़ कर, देख कर आत्मसात् नहीं कर लेता; जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रख कर उसका निर्वाह करना अनावश्यक न हो जाए। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार-विशेष के वेष्टन में ही सहज सामने आती है, तभी वह संस्कार देने वाली परम्परा कवि की परमपरा है, नहीं तो—वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भंडार है जिससे अपरिचित भी रहा जा सकता है। अपरिचित ही रहा जाए, ऐसा आग्रह हमारा नहीं है—हम पर तो बौद्धिकता का आरोप लगाया जाता है!— पर उससे अपरिचित रह कर भी परम्परा से अवगत हुआ जा सकता है और कविता की जा सकती है।

तो प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है। और दोहरा साधन है। क्यों कि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है,

दूसरे उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है। यह इतनी सरल और सीधी बात है कि इससे इनकार करना चाहना कोरा दुराग्रह है; ऐसे दुराग्रही अनेक हैं और उस वर्ग में हैं जो साहित्य-शिक्षण का दायित्व लिये है, इससे हमें आतंकित न होना चाहिए। जिस वर्ग की घोषित नीति यह है कि उसके द्वारा ग्राह्य होने के लिए कोई वस्तु या रचना तीन सौ वर्ष पुरानी तो होनी ही चाहिए, उस वर्ग से आज की कविता पर बहस कर के क्या लाभ? उससे तो तीन सौ वर्ष बाद बात करना अलम् होगा—और तब कदाचित् वह अनावश्यक होगा क्यों कि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो गयी होगी—उनकी परम्परा! छायावाद जब एक जीवित अभिव्यक्ति था, तब वह जिन्हें अग्राह्य था, आज वे उसके समर्थक और प्रतिपादक हैं जब वह मृत हो चुका; आज वे उसे उनमे बचाना चाहते हैं जिनमें आज का जीवित सत्य अभिव्यक्ति खोज रहा है, भले ही अटपटे शब्दों में।

प्रयोग का हमारा कोई वाद नहीं है, इसको और भी स्पष्ट करने के लिए एक बात हम और कहें। प्रयोग निरन्तर होते आये हैं, और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैंने जीवन-भर कोई प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता है कि मैंने जीवनभर कोई रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहा; ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता है तो यही पाया जाएगा कि उसकी *कविता* कविता नहीं है, उसमें रचनात्मकता नहीं है; वह कला नहीं, शिल्प है, हस्तलाघव है। जो उसी को कविता मानना चाहते हैं, उससे हमारा झगड़ा नहीं है। झगड़ा हो ही नहीं सकता। क्योंकि हमारी भाषाएँ भिन्न हैं, और झगड़े के लिए भी साधारणीकरण अनिवार्य है! लेकिन इस आग्रह पर स्थिर रहते हुए भी हमें यह भी कहना चाहिए कि केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। हमने सैकड़ों प्रयोग किए हैं यह दावा लेकर हम पाठक के सामने नहीं जा सकते, जब तक हम यह न कह सकते हों कि देखिए, हमने प्रयोग द्वारा यह पाया है। प्रयोगों का महत्त्व कर्त्ता के लिए चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन, उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने रख कर ही—इस मोती को पाने में इतना परिश्रम लगा—बिना मोती पाये उसका कोई महत्त्व नहीं है।

इस प्रकार प्रयोग का वादा और भी बेमानी हो जाता है। जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उसके प्रयोग उसके निकट जीवन-मरण का ही प्रश्न क्यों न हों, दूसरों के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व होगा शोध के परिणाम का। और वह यह भी जानता है कि ऐसा ही ठीक है। स्वयं वह भी उस सत्य को अधिक महत्त्व देता है, नहीं तो उस शोध में इतना संलग्न न होता।

हम समझते हैं कि इस भूमिका के बाद उन आक्षेपों का उत्तर देना अनावश्यक हो जाता है जो हमें *प्रयोगवाद* कह कर हम पर किये गये हैं। कुछ आक्षेपों को पढ़ कर तो बड़ा क्लेश होता है, इसलिए नहीं कि उनमें कुछ तत्त्व है. इसलिए कि उनमें तर्क-परिपाटी की ऐसी अद्भुत विकृति दीखती है, जो आलोचक से अपेक्षित नहीं होती। आलोचक में पूर्वग्रह हो सकता है; पर कम से कम तर्क-पद्धति का ज्ञान उसे होगा, और उसे वह विकृत नहीं करेगा, ऐसी आशा उससे अवश्य की जाती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का *प्रयोगवादी रचनाएँ* शीर्षक निबन्ध तर्क-विकृति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। इस प्रकार के आक्षेपों का उत्तर देना एक निष्फल प्रयोग होगा; और हम कह चुके कि निष्फल प्रयोगों का कोई सार्वजनिक महत्त्व नहीं है। लेकिन साधारणीकरण के प्रश्न पर कुछ विचार कर लेना कदाचित् उचित होगा।

तार सप्तक के कवियों पर यह आक्षेप किया गया कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है। क्यों कि वे न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गये हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले—प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं; और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। निरे *तथ्य* और *सत्य* में—या कह लीजिए *वस्तु-सत्य* और *व्यक्ति-सत्य* में—यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है; बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है—वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं, वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं

जबकि हम उससे वैसा सम्बन्ध स्थापित करके उसे आन्तरिक समय बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नयी समस्याएँ आरम्भ होती हैं। प्राचीन काल में, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था और अधिक संहत था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं तो परिचित था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। तब भाषा का केवल एक मुहावरा था। या कह लीजिए कि शिक्षित वर्ग का एक मुहावरा था, जन का एक और। एक संस्कृत था, एक प्राकृत। लेकिन आज क्या वह स्थिति है? विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गये हैं। भाषा आज भी प्रेषण का माध्यम है; यह कोई नहीं कहता कि उसने अपनी सार्वजनिकता की प्रवृत्ति छोड़ दी है या छोड़ दे। लेकिन वह अब प्रवृत्ति है, तथ्य नहीं। ऐसी कोई भाषा नहीं है जो सब समझते हों, सब बोलते हों। अँग्रेज़ी है, अँग्रेज़ी के बड़े-बड़े कोश हैं जो शब्दों के सर्व-सम्मत अर्थ देते हैं, पर गणितज्ञ की अँग्रेज़ी दूसरी है, अर्थशास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं, सत्य : अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक सम्बध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उस से बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे; सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे—अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले; या फिर वह बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रह कर उससे बाहर जाकर राह खोजने की जोख़िम उठाए। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा—अर्थात् एक दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा? यदि यह निरूपण ठीक है, तो प्रश्न इतना ही है कि दोनों अन्तर्विरोधों में से कौन-सा अधिक ग्राह्य—या कम अग्राह्य—है। हम इतना ही कहेंगे कि जो दूसरा पथ चुनता है उसे कम से कम एक अधिक उदार, अधिक व्यापक दृष्टि से देखने या देखना चाहने का श्रेय तो मिलना चाहिए—उसके साहस को आप साहसिकता कह लीजिए पर उसकी नीयत को बुरा आप कैसे कह सकते हैं?

ज़रा भाषा के मूल प्रश्न पर—शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध पर—ध्यान दीजिए। शब्द में अर्थ कहाँ से आता है, क्यों और कैसे बदलता है, अधिक या कम व्याप्ति पाता है? शब्दार्थ-विज्ञान का विवेचन यहाँ अनावश्यक है; एक अत्यन्त छोटा उदाहरण लिया जाए। हम कहते हैं, *गुलाबी*, और उससे एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्सन्देह इसका अभिप्राय है गुलाब के फूल के रंग जैसा रंग;

यह उपमा उसमें निहित है। आरम्भ में *गुलाबी* शब्द से उसे उस रंग तक पहुँचने के लिए गुलाब के फूल की मध्यस्थता अनिवार्य रही होगी; उपमा के माध्यम से ही अर्थ लाभ होता रहा होगा। उस समय यह प्रयोग चामत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है। अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं; फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है। अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है, अब वह अभिधेय हो गया है। और अब इससे भी अर्थ में कोई बाधा नहीं होती कि हम जानते हैं, गुलाब कई रंगों का होता है—सफेद, पीला, लाल, यहाँ तक कि लगभग काला तक। यह क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है—वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमश: सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि—उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते। *बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।* कालिदास ने जब रघुवंश के आरम्भ में कहा था :

वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ

तब इस बात को उन्होंने समझा था और इसीलिए वाक् में अर्थ की प्रतिपत्ति की प्रार्थना की थी। जो अभिधेय है, जो अर्थ वाक् में है ही, उसकी प्रतिपत्ति की प्रार्थना कवि नहीं करता! अभिधेयार्थयुक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिससे वह रचना करता है; ऐसी रचना जिसके द्वारा वह अपना नया अर्थ उसमें भर सके, उसमें जीवन डाल सके। यही वह अर्थ-प्रतिपत्ति है जिसके लिए कवि *वागर्थाविवसम्पृक्त* पार्वती-परमेश्वर की वन्दना करता है। और इस प्रार्थना को निरा वैचित्र्य या नयेपन की खोज कह कर उड़ाना चाहना कवि-कर्म को बिलकुल न समझते हुए उसकी अवहेलना करना है। जब चामत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुन: राग का संचार हो, पुन: रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नहीं तो, अगर भाव भी वही जाने पुराने हैं, रस भी, और संचारी-व्यभिचारी सबकी तालिकाएँ बन चुकी हैं तो कवि के लिए नया करने को क्या रह गया है? क्या है जो कविता को आवृत्ति नहीं, सृष्टि का गौरव दे सकता है? कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बना कर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इसे नयी कविता का कवि नहीं भूलता। साधारणीकरण का आग्रह भी उसका

कम नहीं है; बल्कि यह देख कर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है यह अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उस की पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है। यह किसी हद तक ठीक है कि जहाँ कवि की संवेदनाएँ अधिक उलझी हुई हैं वहाँ ग्राहक या सहृदय में भी उन्हीं परिस्थितियों के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ है और इसलिए कवि को प्रेषण की कुछ सुविधा भी मिलती है। पर ऊपर ज्ञान के विशेष विभाजनों की जो बात कही गयी है उसका हल इसमें नहीं है, बल्कि यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझ कर ही यह अनुभव किया जा सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है—समूचे ज्ञान-विज्ञान की विशेषीकरण की प्रवृत्ति को उलाँघ कर, उससे ऊपर उठ कर, कवि को विभाजित सत्य को समूचा देखना और दिखाना है। इस दायित्व को वह नहीं भूलता है। लेकिन यह बात उस की समझ में नहीं आती कि वह तब तक के लिए कविता को छोड़ दे जब तक कि सारा ज्ञान फिर एक होकर सब की पहुँच में न आ जाये—सब अलग-अलग मुहावरे फिर एक होकर *एक भाषा, एक मुहावरा* के नारे के अधीन न हो जाएँ। उसे अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है, इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके; साधारणीकरण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रह कर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़ कर नहीं। असल में देखें तो वही परम्परा को साथ लेकर चलना चाहता है, क्यों कि वह कभी उसे युग से कट कर अलग होने नहीं देता, जब कि उसके विरोधी परिणामत: यह कहते हैं कि *कल का सत्य कल सब समझते थे, आज का सत्य अगर आज सब एक साथ नहीं समझते तो हम उसे छोड़ कर कल ही का सत्य कहें*— बिना यह विचारे कि कल के उस सत्य की आज क्या प्रासंगिकता है, आज कौन उसके साथ तुष्टिकर रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सकता है!

(2)

यहाँ तक हम *तार सप्तक* और उसकी उत्तेजनाप्रसूत आलोचनाओं से उलझते रहे हैं। *दूसरा सप्तक* की भूमिका को इससे आगे जाना चाहिए। बल्कि यहाँ से उसे आरम्भ करना चाहिए, क्यों कि एक पुस्तक की सफाई दूसरी पुस्तक की भूमिका में देना दोनों के साथ थोड़ा अन्याय करना है। हम यहाँ *तार सप्तक* का उल्लेख कर के आलोचकों के तत्सम्बन्धी पूर्वग्रहों को इधर न आकृष्ट करते, यदि यह अनुभव न करते कि दोनों पुस्तकों का नाम-साम्य और दोनों का एक सम्पादकत्व ही इसके लिए

काफ़ी होगा। उन पूर्वग्रहों का आरोप अगर होना ही है, तो क्यों न उनका उत्तर देते चला जाय?

दूसरा सप्तक के कवियों में सम्पादक स्वयं एक नहीं है, इससे उसका कार्य कुछ कम कठिन हो गया है। कवियों के बारे में कुछ कहने में एक ओर हमें संकोच कम होगा, दूसरी ओर आप भी हमारी बात को आसानी से एक ओर रख कर कविताओं पर स्वयं अपनी राय कायम कर सकेंगे। इन नये कवियों को भी कदाचित् *प्रयोगवादी* कह कर उनकी अवहेलना की जाए, या—जैसा कि पहले भी हुआ—अवहेलना के लिए यही पर्याप्त समझा जाए कि इन कवियों ने जो प्रयोग किये हैं वे वास्तव में नये नहीं हैं, प्रयोग नहीं हैं। ऐसा कहना इन कवियों के बारे में उतना ही उचित या अनुचित होगा जितना कि पहले *सप्तक* के; हमारी धारणा है कि उससे भी कम उचित होगा। यद्यपि सब कवियों में भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफाई एक-सी नहीं है और अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक में मिलेगी, तथापि सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है जो प्रयोग को सार्थक करती है। *प्रयोग के लिए प्रयोग* इनमें से भी किसी ने नहीं किया है पर नयी समस्याओं और नये दायित्वों का तकाजा सबने अनुभव किया है और उससे प्रेरणा सभी को मिला है। *दूसरा सप्तक* नये हिन्दी काव्य को निश्चित रूप से एक कदम आगे ले जाता है और कृतित्व की दृष्टि से लगभग सूने आज के हिन्दी क्षेत्र में आशा की नयी लौ जगाता है। ये कवि भी विरामस्थल पर नहीं पहुँचे हैं, लेकिन उनके आगे प्रशस्त पथ है और एक आलोकित क्षितिज-रेखा। गुप्त, *प्रसाद*, *निराला*, पन्त, महादेवी, *बच्चन*, *दिनकर*; इस सूची को हम आगे बढ़ावेंगे तो निस्सन्देह *दूसरा सप्तक* के कुछ कवियों का उल्लेख उसमें होगा। और, फुटकर कविताओं को लें तो, जैसा कि हम ऊपर भी कह आवे हैं, एक जिल्द में संख्या में इतनी अच्छी कविताएँ इधर के प्रकाशनों में कम नजर आएँगी।

यह फिर कहना आवश्यक है कि इन सात कवियों का एकत्र होना किसी दल या गुट के संगठन का सूचक नहीं है। पहली बार हमने कवियों के आपसी मतभेद की बात की थी; नन्ददुलारे जी ने यह परिणाम निकाला कि प्रयोगवादी कविता उन कवियों की कविता होती है जिन में आपस में मतभेद हो; अब हम कहें कि प्रस्तुत संग्रह में ऐसे भी कवि हैं जिन्हें हमने आज तक देखा ही नहीं, तो कदाचित् उन्हें प्रयोगवाद की एक नयी परिभाषा यह भी मिल जाए कि प्रयोगवादी वे होते हैं जो एक-दूसरे का मुँह देखे बिना एक-सी कविता लिखते हैं! उन्हें यह अवसर देने में हमें संकोच नहीं, उन के तर्क पढ़ने में रोचक हैं और उत्तर की अपेक्षा नहीं रखते। लेकिन कहना हम यह चाहते हैं कि ये सात कवि भी विचार-साम्य या समान राजनीतिक या साहित्यिक मतवाद के कारण एकत्र नहीं हुए या किये गये। कुछ से

हमारा व्यक्तिगत परिचय भी हुआ अवश्य, पर उनके यहाँ एकत्र होने का कारण उनकी कविता ही है। उसी की शक्ति ने हमें आकृष्ट किया और उसी का सौन्दर्य इस सप्तक की मूल प्रेरणा है। कवियों की ओर से इस संग्रह में भी उतना ही कम, उतना ही अन्यमनस्क और विलम्बित सहयोग मिला जितना पहले सप्तक में मिला था; बल्कि इस बार कठिनाई कुछ अधिक थी क्योंकि इस बार प्रस्ताव उनका नहीं था कि एक सहकारी प्रकाशन किया जाय, इस बार हमारा आग्रह था कि नये काव्य का एक प्रतिनिधि संग्रह निकाला जाय। जो हो, संग्रह आप के सामने है; आप कविताओं को उन्हीं के गुण-दोष के आधार पर देखें; उन्हीं से कवि की सफलता-असफलता और उसके आदर्शों की परख करें! हमने जो कुछ कहा, इसी आशा से कि आप आलोचकों द्वारा आरोपित पूर्वग्रहों की मैली ओट से इन्हें न देखें, अपनी स्वच्छ सहृदयता से ही देखें; हमारा विश्वास है कि इस संग्रह से आपको तृप्ति मिलेगी।

नयी कविता : प्रयोग के आयाम

तार सप्तक की भूमिका प्रस्तुत करते समय इन पंक्तियों के लेखक में जो उत्साह था, उसमें संवेदना की तीव्रता के साथ निस्सन्देह अनुभवहीनता का साहस भी रहा होगा। संवेदना की तीव्रता अब कम हो गयी है, ऐसा हम नहीं मानना चाहते; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अनुभव ने नये कवियों का संकलन प्रस्तुत करते समय दुविधा में पड़ना सिखा दिया है। यह नहीं कि *तीसरा सप्तक* के कवियों की संगृहीत रचनाओं के बारे में हम उससे कम आश्वस्त, या उनकी सम्भावनाओं के बारे में कम आशामय हैं जितना उस समय *तार सप्तक* के कवियों के बारे में थे। बल्कि एक सीमा तक इससे उलटा ही सच होगा। हम समझते हैं कि तीसरा सप्तक के कवि अपने-अपने विकास-क्रम में अधिक परिपक्व और मँजे हुए रूप में ही पाठकों के सम्मुख आ रहे हैं। भविष्य में इनमें से कौन कितना और आगे बढ़ेगा, यह या तो ज्योतिषियों का क्षेत्र है या स्वयं उनके अध्यवसाय का। *तीसरा सप्तक* के कवि भी एक ही मंज़िल तक पहुँचे हों, या एक ही दिशा में चले हों, या अपनी अलग दिशा में भी एक-सी गति से चले हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नि:सन्देह *तार सप्तक* में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संगृहीत कवि सब अपनी-अपनी अलग राह का अन्वेषण कर रहे हैं।

दुविधा और संकोच का कारण दूसरा है। *तार सप्तक* के कवि अपनी रचना के ही प्रारम्भिक युग में नहीं, एक नयी प्रवृत्ति की प्रारम्भिक अवस्था में सामने आये थे। पाठक के सम्मुख उनके कृतित्व की माप-जोख करने के लिए कोई बने-बनाये मापदंड नहीं थे। उनकी तुलना भी पूर्ववर्ती या समवर्ती दिग्गजों से नहीं की जा सकती थी—क्यों कि तुलना के कोई आधार हां अभी नहीं बने थे। इसलिए जहाँ उनकी स्थिति झारखंड की झाड़ी पर अप्रत्याशित फले हुए वन-कुसुम की-सी अकेली थी, वहाँ उन्हें यह भी सुविधा थी कि उन के यत्किंचित् अवदान की माप झारखंड के ही सन्दर्भ में हो सकती थी—दूर के उद्यानों से कोई प्रयोजन नहीं था।

अब वह परिस्थिति नहीं है। *द्विवेदी काल* के श्री मैथिलीशरण गुप्त या छायावादी युग के श्री *निराला* जैसा कोई शलाका-पुरुष नयी कविता ने नहीं दिया है (न उसे अभी इतना समय ही मिला है); फिर भी तुलना के लिए और नहीं तो पहले

दोनों सप्तकों के कवि हैं ही, और परम्पराओं की कुछ लीकें भी बन गयी हैं। पत्र-पत्रिकाओं में नयी कविता ग्राह्य हो गयी है, सम्पादक-गण (चाहे आतंकित होकर ही!) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उसकी अपनी अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं। उधर उसकी आलोचना भी छपने लगी है, और धुरन्धर आलोचकों ने भी उसके अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया है—चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बना कर ही।

और कृतिकारों का अनुधावन करने वाली, स्वल्प पूँजी वाली *प्रतिभाएँ* भी अनेक हो गयी हैं।

कहना न होगा कि इन सब कारणों से *नयी कविता* का अपने पाठक के और स्वयं अपने प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मान कर भी कि शास्त्रीय आलोचकों से उसे सहानुभूतिपूर्ण तो क्या, पूर्वग्रहरहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं उसके आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बन कर सामने आवें।

पूर्वग्रह से मुक्त होना हर समय कठिन है। फिर अपने ही समय की उस प्रवृत्ति के विषय में, जिससे आलोचक स्वयं सम्बद्ध है, तटस्थ होना और भी कठिन है। फिर जब समीक्षक एक ओर यह भी अनुभव करे कि वह प्रवृत्ति विरोधी वातावरण से घिरी हुई है और सहानुभृति ही नहीं, समर्थन और वकालत भी माँगती है, तब उसकी कठिनाई की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन फिर भी *नयी कविता* अगर इस काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना-प्रवृत्ति है, और समकालीन वास्तविकता को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करना चाहती है, तो उसे स्वयं आगे बढ़कर यह त्रिगुण दायित्व ओढ़ लेना होगा। कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा। (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी!)

तीसरा सप्तक के सम्पादन की कठिनाई के मूल में यही परिस्थिति है। *तार सप्तक* एक नयी प्रवृत्ति का पैरवीकार माँगता था, इससे अधिक विशेष कुछ नहीं। *तीसरा सप्तक* तक पहुँचते न पहुँचते प्रवृत्ति की पैरवी अनावश्यक हो गयी है, और कवियों की पैरवी का तो सवाल ही क्या है? इस बात का अधिक महत्त्व हो गया है कि संकलित रचनाओं का मूल्यांकन सम्पादक स्वयं न भी करे तो कम-से-कम पाठक की इसमें सहायता अवश्य करे।

नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है। निस्सन्देह जिसे अब *नयी कविता* की संज्ञा दी जाती है वह भाषा-सम्बन्धी प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गयी है—बल्कि ऐसा करने को

अनुचित भी मानती रही है। यह मार्ग *प्रपद्यवादी* ने अपनाया जिसने घोषणा की कि *चीज़ों का एकमात्र नाम होता है और वह* (प्रपद्यवादी कवि) *प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।*

नयी कविता के कवि को इतना मानने में कोई कठिनाई न होती कि कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का सम्पूर्ण पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ के अलावा अलग-अलग लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ होती हैं—अलग संस्कार और ध्वनियाँ। किन्तु *प्रत्येक वस्तु का अपना एक नाम होता है,* इस कथन को उस सीमा तक ले जाया जा सकता है जहाँ कि भाषा का एक नया रहस्यवाद जन्म ले ले और अल्लाह के निन्यानबे नामों से परे उसके अनिर्वचनीय सौवें नाम की तरह हम प्रत्येक वस्तु के सौवें नाम की खोज में डूब जाएँ। भाषा-सम्बन्धी यह निन्यानबे का फेर प्रेषणीयता का और इसलिए भाषा का ही बहुत बड़ा शत्रु हो सकता है। शब्द अपने-आप में सम्पूर्ण या आत्यन्तिक नहीं है; किसी शब्द का कोई स्वयम्भूत अर्थ नहीं है। अर्थ उसे दिया गया है, वह संकेत है जिसमें अर्थ की प्रतिपत्ति की गयी है। एकमात्र उपयुक्त शब्द की खोज करते समय हमें शब्दों की यह तदर्थता नहीं भूलनी होगी : वह एकमात्र इसी अर्थ में है कि हमने (प्रेषण को स्पष्ट, सम्यक और निर्भ्रम बनाने के लिए) नियत कर दिया है कि शब्द-रूपी अमुक एक संकेत का एकमात्र अभिप्रेत क्या होगा।

यहाँ यह मान लें कि शब्द के प्रति यह नयी, और कह लीजिए मानववादी दृष्टि है; क्यों कि जो व्यक्ति शब्द का व्यवहार कर के शब्द में यह प्रार्थना कर सकता था कि *अनजाने उसमें बसे देवता के प्रति कोई अपराध हो गया हो तो देवता क्षमा करे* वह इस निरूपण को स्वीकार नहीं कर सकता—नहीं मान सकता कि शब्द में बसने वाला देवता कोई दूसरा नहीं है, स्वयं मानव ही है जिसने उसका अर्थ निश्चित किया है। यह ठीक है कि शब्द को जो संस्कार इतिहास की गति में मिल गये हैं उन्हें मानव के दिये हुए कहना इस अर्थ में सही नहीं है कि उनमें मानव का संकल्प नहीं था—फिर भी वे मानव द्वारा व्यवहार के प्रसंग में ही शब्द को मिले हैं और मानव से अलग अस्तित्व नहीं रख पा सकते थे।

किन्तु *एकमात्र सही नाम* वाली स्थापना को इस तरह मर्यादित करने का यह अर्थ नहीं है कि किसी शब्द का सर्वत्र, सर्वदा सभी के द्वारा ठीक एक ही रूप में व्यवहार होता है—बल्कि यह तो तभी होता जब कि वास्तव में एक चीज़ का एक ही नाम होता और एक नाम की एक ही चीज़ होती! प्रत्येक शब्द का प्रत्यक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है—यही उसका कल्प है। इसी प्रकार शब्द वैयक्तिक प्रयोग भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है, दुरूह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी

रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी।

नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं—भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो। और जिन्होंने उसे नया कुछ देने के आग्रह में पुराना बिलकुल मिटा दिया है, वे ऐसे देवता हैं जो भक्त को नया रूप दिखाने के लिए अन्तर्धान ही हो गये हैं! कृतित्व का क्षेत्र इन दोनों सीमा-रेखाओं के बीच में है। यह ठीक है कि बीच का क्षेत्र बहुत बड़ा है, और उसमें कोई इस छोर के निकट हो सकता है तो कोई उस छोर के। दुरूहता अपने-आप में कोई दोष नहीं है, न अपने-आप में इष्ट है। इस विषय को लेकर झगड़ा करना वैसा ही है जैसा इस चर्चा में कि सुराही का मुँह छोटा है या बड़ा, यह न देखना कि उसमें पानी भी है या नहीं।

प्रयोक्ता के सम्मुख दूसरी समस्या सम्प्रेष्य वस्तु की है। यह बात कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कंटेंट) अलग-अलग चीज़ें हैं; पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है! यह बिलकुल सम्भव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुनें पर वस्तु उस की पुरानी ही रहे; जैसे यह भी सम्भव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो... निस्सन्देह देश-काल की संक्रमणशील परिस्थितियों में संवेदनशील व्यक्ति बहुत-कुछ नया देखे-सुने और अनुभव करेगा; और इसलिए विषय के नयेपन के विचार का भी अपना स्थान है ही; पर विषय केवल *नये* हो सकते हैं, मौलिक नहीं—मौलिकता वस्तु से ही सम्बन्ध रखती है। विषय सम्प्रेष्य नहीं है, वस्तु सम्प्रेष्य है। नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते हैं, और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशतः चेतन भी, और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)— मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्यों कि यही कवि मानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नयी परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रह कर उसे वश कर के, उसी के सहारे उससे ऊपर उठ कर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसी से हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है। [और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टेकनीक) के उपयोग की पड़ताल कर के यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाय!]

यहाँ स्वीकार किया जाय कि नये कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है

जिन्होंने विषय को वस्तु समझने की भूल की है, और इस प्रकार स्वयं भी पथ-भ्रष्ट हुए हैं और पाठकों में *नयी कविता* के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।

लेकिन *नकलचियों से सावधान!* की चेतावनी असली माल वाले प्राय: नहीं देते; या तो वे देते हैं जिन्हें स्वयं अपने माल की असलियत के बारे में कुछ खटका हो, या फिर वे दे सकते हैं जो स्वयं माल लेकर उपस्थित नहीं हैं और केवल पहरा दे रहे हैं। अर्थात् कवि स्वयं चेतावनी नहीं देते; यह काम आलोचकों, अध्यापकों और सम्पादकों का है। यह भी उन्हीं का काम है कि नकली के प्रति सावधान करते हुए असली की साख भी न बिगड़ने दें— ऐसा न हो कि नकली से धोखा खाने के डर से सारा कारोबार ही ठप हो जाय!

इस वर्ग ने यह काम नहीं किया है, यह सखेद स्वीकार करना होगा। बल्कि कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि नकलची कवियों से कहीं अधिक संख्या और अनुपात नकली आलोचकों का है—धातु उतना खोटा नहीं है जितनी कि कसौटियाँ ही झूठी हैं! इतनी अधिक छोटी-मोटी *एमेच्योर* (और इम्मेच्योर) साहित्य-पत्रिकाओं का निकलना, जब कि जो दो-चार सम्मान्य पत्रिकाएँ हैं वे सामग्री की कमी से क्षयग्रस्त हो रही हैं, इसी बात का लक्षण है कि यह वर्ग अपने कर्त्तव्य से कितना च्युत हुआ है। यह ठीक है कि ऐसे छोटे-छोटे प्रयास एक आस्था की घोषणा करते हैं और इस प्रकार एक शक्ति (चाहे कितनी स्वल्प) के लक्षण हैं, पर यह भी उतना ही सच है कि इस प्रकार व्यापक, पुष्ट और दृढ़ आधार वाले मूल्यों की उपलब्धि और प्रतिष्ठा का काम क्रमश: कठिनतर होता जाता है।

पर नकलची हर प्रवृत्ति के रहे हैं, और जिनका भंडाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ उन्हें पहचानने में फिर समय की दूरी अपेक्षित हुई है। अधिक दूर न जावें तो न तो *द्विवेदी युग* में नकलचियों की कमी रही, न छायावाद युग में। और न ही (यदि इसी सन्दर्भ में उन का उल्लेख भी उचित हो जिन की उपलब्धि भी प्रयोगवादी सम्प्रदाय से विशेष अधिक नहीं रही जान पड़ती) प्रगतिवाद ने कम नकलची पैदा किये। हमें किसी भी वर्ग में उनका समर्थन या पक्ष-पोषण नहीं करना है—पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान् की उपेक्षा न हो, असली को नकली से न मापा जाय।

शिल्प, तन्त्र या टेकनीक के बारे में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। इन नामों की इतनी चर्चा पहले नहीं होती थी। पर वह इसीलिए कि इन्हें एक स्थान दे दिया गया था जिसके बारे में बहस नहीं हो सकती थी। यों *साधना* की चर्चा होती थी, और साधना अभ्यास और मार्जन का ही दूसरा नाम था। बड़ा कवि वाक्सिद्ध होता था, और भी बड़ा कवि रस सिद्ध होता था। आज वाक्शिल्पी कहलाना अधिक गौरव की बात समझा जा सकता है—क्यों कि शिल्प आज विवाद का विषय है।

यह चर्चा उत्तर छायावाद काल से ही अधिक बढ़ी, जब कि प्रगति के सम्प्रदाय ने शिल्प, रूप, तन्त्र आदि सब को गौण कह कर एक ओर ठेल दिया, और शिल्पी एक प्रकार की गाली समझा जाने लगा। इसी वर्ग ने नयी काव्य प्रवृत्ति को यह कह कर उड़ा देना चाहा है कि वह केवल शिल्प का, रूप-विधान का आन्दोलन है, निरा फार्मेलिज़्म है। पर साथ-साथ उसने यह भी पाया है कि शिल्प इतना नगण्य नहीं है; कि वस्तु से रूपाकार को बिलकुल अलग किया ही नहीं जा सकता, कि दोनों का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है; और इसी अनुभव के कारण धीरे-धीरे वह भी मानो पिछवाड़े से आकर शिल्पाग्रही वर्ग में आ मिला है। बल्कि अब यह भी कहा जाने लगा है कि *प्रयोगवाद* के जो विशिष्ट गुण बताये जाते थे (जैसा बताने वाले वे ही थे!) उनका प्रयोगवाद ने ठेका नहीं लिया है—प्रगतिवादी कवियों में भी वे पाये जाते हैं। इससे उलझी परिस्थिति और भ्रामक हो गयी है। वास्तव में *नयी कविता* ने कभी अपने को शिल्प तक सीमित रखना नहीं चाहा, न वैसी सीमा स्वीकार की। उस पर यह आरोप उतना ही निराधार था जितना दूसरी ओर यह दावा कि केवल प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक चेतना है, और कहीं नहीं। यह मानने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए कि *प्रगतिवाद* सबसे अधिक समाजाग्रही रहा है; पर केवल इसी से यह नहीं प्रमाणित हो जाता कि उस वाद के कवियों में गहरी सामाजिक चेतना है या कि जैसी है वही उसका स्वस्थ रूप है—उसकी पड़ताल प्रत्येक कवि में अलग करनी ही होगी।

खैर, यहाँ पुराने झगड़ों को उठाना अभीष्ट नहीं है। कहना यह है कि नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेषण से काट कर अलग नहीं करता है। नयी शिल्प दृष्टि उसे मिली है; यह दूसरी बात है कि वह सबमें एक सी गहरी न हो, या सब देखे पथ पर एक-सी सम गति से न चल सके हों। यहाँ फिर मूल्यांकन से पहले यह समझना आवश्यक है कि यह नयी दृष्टि क्या है, और किधर चलने की प्रेरणा देती है।

संकलित कवियों के विषय में अलग अलग कुछ कहना कदाचित् उनके और पाठक के बीच व्यर्थ एक पूर्वग्रह की दीवार खड़ी कर होगा। एक बार फिर इतना ही कहना अलम् होगा कि ये कवि किसी एक सम्प्रदाय के नहीं हैं; न सबकी साहित्यिक मान्यताएँ एक हैं, न सामाजिक, न राजनीतिक; न ही उनकी जीवन-दृष्टि में ऐसी एकरूपता है। भाषा, छन्द, विषय, सामाजिक प्रवृत्ति, राजनीतिक आग्रह या कर्म की दृष्टि से प्रत्येक की स्थिति या दिशा अलग हो सकती है; कोई इस छोर के निकट पाया जा सकता है, कोई उस छोर के, कोई *बायें* तो कोई *दाहिने,* कोई *आगे* तो कोई *पीछे,* कोई सशंक तो कोई साहसिक। यह नहीं कि इन बातों का कोई मूल्य न हो। पर *तीसरा सप्तक* में न तो ऐसा साम्य कलन का आधार बना है,

न ऐसा वैषम्य बहिष्कार का। संकलनकर्ता ने पहले भी इस बात को महत्त्व नहीं दिया है कि संकलित कवियों के विचार कहाँ तक उसके विचारों से मिलते हैं या विरोधी है; न अब वह इसे महत्त्व दे रहा है। क्योंकि उसका आग्रह रहा है कि काव्य के आस्वादन के लिए इससे ऊपर उठ सकना चाहिए और उठना चाहिए। सप्तकों की योजना का यही आधारभूत विश्वास है। प्रयोजनीय यह है कि संकलित कवियों में अपने कवि-कर्म के प्रति गम्भीर उत्तरदायित्व का भाव हो, अपने उद्देश्यों में निष्ठा और उन तक पहुँचने के साधनों के सदुपयोग की लगन हो। जहाँ प्रयोग हो वहाँ कवि मानता हो कि वह सत्य का ही प्रयोग होना चाहिए। यों काव्य में सत्य क्यों कि वस्तु सत्य का रागाश्रित रूप है इसलिए उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य की गुंजाइश तो है ही, बल्कि व्यक्ति की छाप से युक्त होकर ही वह काव्य का सत्य हो सकता है। क्रीड़ा और लीला-भाव भी सत्य हो सकते हैं—जीवन की ऋजुता भी उन्हें जन्म देती है और संस्कारिता भी। देखना यह होता है कि यह सत्य के साथ खिलवाड़ या *फ्लर्टेशन* मात्र न हो।

इन कवियों के एकत्र पाये जाने का आधार यही है। ऐसा दावा नहीं है कि जिस काल या पीढ़ी के ये कवि हैं, उसके यही सर्वोत्कृष्ट या सबसे अधिक उल्लेख्य कवि हैं। दो-एक और आमन्त्रित होकर भी इसलिए रह गये कि वे स्वयं इसमें आना नहीं चाहते थे—चाहे इसलिए कि दूसरे कवियों का साथ उन्हें पसन्द नहीं था, चाहे इसलिए कि सम्पादक का सम्पर्क उन्हें अप्रीतिकर या हेय लगा, चाहे इसलिए कि वे अपने को पहले ही इतना प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित मानते थे कि *नये* कवियों के साथ आने में उन्होंने अपनी हेठी या अपना अहित समझा। एक इसलिए रह गये कि उनकी स्वीकृति के बावजूद दो वर्ष के परिश्रम के बार भी उनकी रचनाएँ न प्राप्त हो सकीं। एक-दो इसलिए भी छोड़ दिये गये कि एकाधिक स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुकने के कारण उनका ऐसे संकलन में आना अनावश्यक हो गया था—*स्मरण रहे कि मूल योजना यही थी कि सप्तक* ऐसे कवियों को सामने लाएँगे जिन जिनके स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित नहीं हुए हैं और जो इस प्रकार भी *नये* हैं। यदि प्रस्तुत संकलन के भी दो-एक कवियों के स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तो वह इसी बात का द्योतक है कि *तीसरा सप्तक* की पांडुलिपि बनने और उसके प्रकाशन के बीच एक लम्बा अन्तराल रहा है। यों हम तो चाहते हैं कि सभी कवियों के स्वतन्त्र संग्रह छपें—बल्कि सप्तक में उन्हें लाने का कारण ही यह विश्वास है कि उनके अपने-अपने संग्रह छपने चाहिए।

इन शब्दों के साथ हम ओट होते हैं। भूमिका का काम भूमि तैयार करना है; भूमि तैयार वही है जिस पर चलने में उसकी ओर से बेखटके होकर उसे भुला दिया जा सके। पाठक से अनुरोध है कि अब वह आगे बढ़ कर कवियों से साक्षात्कार करे। उपलब्धि वहीं है।

काव्य का सत्य और कवि का वक्तव्य

दूसरों की रचनाओं के लिए भूमिका लिखने का काम मुझे हमेशा कठिन जान पड़ा है। साधारणतया उसका कारण यह होता है कि वह एक औपचारिक काम होता है। प्रस्तुत संकलन की भूमिका औपचारिक काम तो नहीं है; चयन और संकलन स्वयं मैंने अपनी रुचि और योजना के अनुसार किया है और यदि संकलित कवि मुझे महत्त्वपूर्ण लगे हैं, उनकी रचनाएँ मुझे अच्छी लगी हैं तो उनके बारे में कुछ कहने में औपचारिकता अनावश्यक है। इसके बावजूद भूमिका लिखने का काम अत्यन्त दुष्कर जान पड़ रहा है। इसके कुछ कारण व्यक्तिगत हैं। फिर भी उनकी चर्चा से बचना उचित अथवा संगत नहीं होगा क्योंकि उससे सम्पादक के प्रति ही नहीं संकलित कवियों के प्रति भी अन्याय हो जाएगा।

पहले तीन सप्तकों के बाद यह *चौथा सप्तक* अपेक्षया लम्बे अन्तराल से प्रकाशित हो रहा है। इस लम्बी अवधि में हिन्दी में कविता प्रचुर मात्रा में लिखी गयी है। सब अच्छी नहीं है यह कहना किसी रहस्य का उद्घाटन करना नहीं है। और शायद अगर यह भी कहूँ कि प्रकाशित कविता का अधिकांश घटिया रहा है तो उसे पाठक एक अनावश्यक स्पष्टोक्ति भले ही मान लें, गलत नहीं मानेंगे। किसी भी युग के काव्य के बारे में ऐसा ही कहा जाता सकता है—अच्छा काव्य अनुपात की दृष्टि से थोड़ा ही रहता है। लेकिन इस लम्बे अन्तराल की रचना में एक अंश छाँटना— सैकड़ों कवियों में से केवल सात चुनना और फिर उनकी रचनाओं में से चयन करना—केवल इसलिए कठिन नहीं है कि कवियों की बहुत बड़ी संख्या में से सात कवि चुनने हैं। कठिनाई जितनी बाहर प्रस्तुत सामग्री में है उतनी ही चयन करने वाले के आभ्यन्तर परिवर्तनों में और उनके कारण कवियों के बदले हुए सम्बन्धों में भी है। निस्सन्देह प्रत्येक सप्तक के साथ यह कठिनाई कुछ बढ़ती गयी। तार सप्तक का जब प्रकाशन हुआ तो उसमें संकलित अन्य कवि सभी प्राय: मेरे समवयसी और साथी थे उनकी रचनाओं के चयन में एक सहजता थी। उनके बारे में कुछ कहना भी इसी कारण कम कठिन था। जब *दूसरा सप्तक* प्रकाशित हुआ तब भी परिस्थिति में कुछ परिवर्तन आ गया था, और *तीसरा सप्तक* में तो परिस्थिति स्पष्टत: बदली हुई थी। *तार सप्तक* एक हद तक सहयोगी प्रकाशन था जिसे

सहयोगियों ने एक न एक दिशा देने के लिए संयोजित किया था; *तीसरा सप्तक* स्पष्टतया एक सम्पादक की काव्य-दृष्टि और उसके काव्य-विवेक का प्रतिफलन था।

इतनी बात तो *चौथा सप्तक* के बारे में भी सच है। और भी स्पष्ट कर के कहूँ कि यह घोषित रूप से, एक सम्पादक की काव्य दृष्टि, साहित्यिक रुचि और साहित्यिक विवेक का प्रतिफलन है। लेकिन *तीसरा सप्तक* के समय की अपेक्षा आज यह काम कितना कठिनतर हो गया इसकी ओर पाठक का ध्यान दिलाना आवश्यक है। शायद उस कठिनाई को स्पष्ट कर देने का सबसे अच्छा तरीका यही हो कि मैं यह स्वीकार करूँ कि पहले तीन सप्तकों का सम्पादन करते हुए मैं यह अनुभव करता रहा था कि मैं काव्य में कुछ ऐसी नयी प्रवृत्तियों का व्याख्याता और वकील हूँ, जिनके साथ मेरी पूरी सहानुभूति है। अर्थात् पहले तीन सप्तक मेरी दृष्टि में एक तरह के साहित्यिक आन्दोलन और युग-परिवर्तन के अंग थे। तीसरा सप्तक के बाद मुझे ऐसा जाना पड़ा कि वे नयी प्रवृत्तियाँ काव्यप्रेमी समाज में पूरी तरह स्वीकृति पा गयी हैं। ऐसी स्थिति में उनके लिए और आन्दोलन अथवा वकालत की कोई आवश्यकता नहीं रही। और मन ही मन मैं इस परिणाम पर भी पहुँच चुका था कि अब सप्तकों के क्रम में और कोई संकलन जोड़ना अनावश्यक हो गया है। बल्कि उसके बाद के कुछ वर्षों में तो ऐसा अनुभव हुआ कि स्वीकार की प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ गयी है कि नयी रचनाओं का दोष देखना भी कठिन हो गया है : उस धारा में बह कर आने वाला सभी कुछ स्वीकार कर लिया जाता है और यहाँ तक कि पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को अपने विवेक से काम लेते डर लगता है! मैंने कहा कि किसी भी युग का समूचा काव्य-साहित्य समान रूप से अच्छा नहीं होता; कुछ अच्छी रचनाओं के साथ बहुत ही साधारण कोटि की या उससे भी निचले स्तर की रचनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं। जिस स्थिति में पत्रिकाओं की बाढ़ हो और उसके साथ-साथ प्रतिमान सामने रखने वाली कोई सर्वमान्य पत्रिका न हो, साधारण और घटिया रचनाओं का प्रसार और भी बढ़ जाता है। लेकिन यह मान लेने के साथ इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि तार सप्तक के सम्पादक को *तीसरा सप्तक* के बाद के युग की स्थिति से कुछ अतिरिक्त क्लेश इसलिए भी होने लगा कि वय के अन्तर के साथ संवेदन का अन्तर भी स्वभावत: बढ़ने लगा। मैं नहीं जानता कि तार सप्तक के जो कवि आज जीवित हैं वे सभी इस बात को स्वीकार करेंगे या नहीं; लेकिन उन के स्वीकार न करने पर भी मैं तो यही मानूँगा कि यह बात उनके बारे में भी उतनी ही सच होगी।

ऐसी बढ़ती हुई दूरी अनिवार्य है और उसके साथ-साथ इच्छा रहते भी समानता का कठिनतर होते जाना भी स्वाभाविक है। इससे एक परिणाम तो यह निकलता ही है कि आज जो कविता लिखी जा रही है उसे अगर एक मुकदमे के

रूप में प्रस्तुत करना है तो उसका वकील उसी में से निकलना चाहिए—आज जो लिखा जा रहा है उसका सच्चा वकील आज का लिखने वाला ही होना चाहिए। वैसे संकलन प्रकाशित होते भी रहे हैं, अभी हाल में दो-तीन हुए हैं। मुकदमे का विचार जिन्हें करना हो उन्हें अवश्य ही वे संग्रह देखने चाहिए और उनकी भूमिकाओं में अथवा कवियों के वक्तव्यों में दी गयी दलीलों का विचार करना ही चाहिए। लेकिन अगर मैं उस दरजे का वकील नहीं हो सकता तो इसमें एक अनिवार्यता है जिसे मैंन केवल स्वीकार करना चाहता हूँ बल्कि जिसकी ओर पाठक का ध्यान भी दिला देना चाहता हूँ। क्योंकि यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि *चौथा सप्तक* में जिन कवियों की रचनाएँ मैं चुन कर प्रस्तुत कर रहा हूँ उन का मैं प्रशंसक तो अवश्य हूँ, लेकिन उन्हें पाठक के सामने प्रस्तुत करते हुए उनके साथ एक दूरी, एक तटस्थता का भी बोध मुझमें है। मैं उन प्रशंसक हँ, मैं उनमें से एक नहीं हूँ—या हूँ तो उसी अर्थ में जिस अर्थ में किसी भी युग का कोई भी कवि किसी दूसरे युग के कवि के साथ होता है। कवियों की बिरादरी में भी किसी भी दूसरी बिरादरी की तरह एक बन्धन समकालीनता का होता है तो एक अनुक्रमिकता का। मैं नहीं चाहूँगा कि मेरी इस लाचारी का दंड संकलित कवियों को मिले। इस मामले में मेरी सतर्कता और बढ़ जाती है क्योंकि मैं जानता हूँ कि उनका जोखिम अधिक है। *तीसरा सप्तक* के बाद के लम्बे अन्तराल का एक परिणाम यह भी हुआ है कि *चौथा सप्तक* में रखे गये कवियों के बीच वयस की दृष्टि से काफ़ी अन्तर है। यह तो सम्भव था कि इससे बचने के लिए सभी कवि युवतर वर्ग में से चुने जाते; लेकिन उससे भी एक दूसरे प्रकार का अन्याय हो जाता—केवल बीच की पीढ़ी के छूट जाने वाले कवियों के प्रति नहीं बल्कि संकलित कवियों के प्रति भी, इसलिए कि पाठक उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए उन कवियों को भी सामने रखता तो बीच के अन्तराल के प्रमुख कवि थे। यों तो अब भी यह सम्भावना बनी ही रहेगी क्यों कि सात की संख्या को सीमा बना लेने से कई कवि छूट जाते हैं। लेकिन यह बात तो पाठक बहुत आसानी से समझ सकेंगे।

पाठक को एक और बात याद दिला देना उचित होगा। कवियों का चयन करते समय एक बात यह भी मेरे ध्यान में थी कि जिन कवियों के एक से अधिक स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं उन्हें छोड़ भी दिया जा सकता है क्यों कि वे तो पाठक के सामने मौजूद हैं। मुझे यह प्रयत्न करना चाहिए कि जो अच्छे रचनाकार सभी अपेक्षया कम प्रसिद्ध हुए हैं उन्हें सामने लाया जाये। *चौथा सप्तक* के संकलित कवियों में से दो-तीन की रचनाएँ पुस्तकाकार छप चुकी थीं, लेकिन कारण चाहे जो रहा हो काव्यप्रेमी जनता के सामने नहीं आ सकी थीं। यह भी सम्भव है कि चयन की प्रक्रिया आरम्भ होने से लेकर इस पुस्तक के प्रकाशन तक की अवधि में संगृहीत

और भी दो-एक कवियों के एकल संग्रह प्रकाशित हो जाएँ। मैं नहीं समझता कि उससे मेरा प्रयत्न दूषित होगा। मुझे तो प्रसन्नता होगी कि जिन कवियों को मैं उल्लेख्य मानता हूँ उनके नये स्वतन्त्र संग्रह सामने आ रहे हैं।

(2)

मैं कह आया कि तीन सप्तकों के प्रकाशन से मुझे वह प्रक्रिया पूरी हो गयी जान पड़ी थी जो नयी काव्य-प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक थी। मैंने यह भी कहा कि उसके बाद कभी-कभी ऐसा भी अनुभव हुआ कि गुण-दोष-विवेक अपना आधार खो बैठा है। ऐसा लगने लगा कि एक पक्ष की वकालत कर चुकने के बाद अब प्रतिपक्ष की ओर से भी कुछ कहना आवश्यक हो गया है। लेकिन कविता के प्रतिपक्ष का मेरे लिए तो कुछ अर्थ नहीं है—मैं सदैव सत्काव्य का समर्थक हूँ और बना रहना चाहूँगा। समकालीन काव्य के दोषों अथवा उसकी त्रुटियों का उल्लेख करूँगा तो प्रतिपक्षी भाव से नहीं, वरन् उसके श्रेष्ठ कर्त्तव्य को सामने लाने के लिए ही। और उसमें यह भी कहना उचित होगा कि काव्य के गुण-दोष की ओर ध्यान दिलाते हुए समकालीन आलोचना की त्रुटियों और उसकी एकांगिता को भी अनदेखा न करना होगा। इस एकांगिता ने नयी रचना का बहुत अहित किया है। उसने नये रचनाकार को दिग्भ्रमित किया है और पाठक को भी इसलिए पथभ्रष्ट किया है कि उसने पाठक के सामने जो कसौटियाँ दी हैं वे स्वयं झूठी हैं। नयी कविता ने एक बार फिर रचयिता और गृहीता समाज का सम्बन्ध स्थापित किया था, संचार की प्रणलियाँ बनायी थीं और खोली थीं। संकीर्ण और मताग्रही आलोचना ने फिर उन्हें अवरुद्ध कर दिया है। कवियों की संख्या कम नहीं हुई—हो सकता है कि कुछ बढ़ ही गयी हो—लेकिन कवि समुदाय पाठक अथवा श्रोता समाज के न केवल निकटतर नहीं आया है बल्कि उस समाज में उसने फिर एक उदासीनता का भाव पैदा कर दिया है। इसके कारणों की कुछ पड़ताल अपेक्षित है।

यह तो कहा जा सकता है कि आज की कविता में जो प्रवृत्तियाँ मुखर हुई हैं उन के बीज उससे पहले की कविता में मौजूद थे—उस कविता में भी जिसे प्रयोगवादी कहा जाता है और उसमें भी जिसे प्रगतिवादी नाम दिया जाता है। (दोनों ही नाम गलत हैं, लेकिन उस बहस में अभी न पड़ा जाए।) यह बात वैसे ही सही होगी जैसे यह बात कि प्रयोगवादी अथवा प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के बीज छायावादियों में थे और छायावाद के बाद उससे पहले के इतिवृत्तात्मक काव्य में इत्यादि। ऐसा तो होता ही है क्यों कि कविता कविता में से ही निकलती है, लेकिन इसके कारण हम किसी एक युग अथवा धारा अथवा आन्दोलन की प्रवृत्तियों के गुण-दोष का विवेचन

करते समय सारी जिम्मेदारी उसके पूर्ववर्तियों पर नहीं थोप देते। किसी भी युग के आग्रह उसी युग के होते हैं और उनकी जिम्मेदारी उसी पर होती है।

आज की कविता में वक्तव्य का प्राधान्य हो गया है। उसके भीतर जो आन्दोलन हुए हैं और हो रहे हैं वे सभी इस बात को न केवल स्वीकार करते हैं बल्कि बहुधा इसी को अपने दावे का आधार बनाते हैं। कविता में वक्तव्य तो हो सकता है और वक्तव्य होने से ही वह अग्राह्य हो जाए ऐसा भी नहीं है। लेकिन वक्तव्य के भी नियम होते हैं और उनकी अपेक्षा काव्य के लिए खतरनाक होती है। यह बात उतनी ही सच है जितनी यह कि काव्य में कवि वक्ता के रूप में भी आ सकता है, लेकिन उत्तम पुरुष के प्रयोग की जो मर्यादाएँ हैं उनकी अपेक्षा करने से कविता का *मैं* कवि न होकर एक अनधिकारी आक्रान्ता ही हो जाता है। आज कविता पर एक दावे करने वाला *मैं* बुरी तरह छा गया है। कविता में *मैं* भी निषिद्ध नहीं है, दावे भी निषिद्ध नहीं हैं, कविता प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध भी हो सकती है, लेकिन कहाँ अथवा कहाँ तक इन सबका काव्य में निर्वाह हो सकता है और कहाँ ये काव्य के शत्रु बन जाते हैं यह समझना आवश्यक है।

मंच पर हम नाटक देखते हैं तो उसमें आने वाला प्रत्येक चरित्र वक्ता होता है, उत्तम पुरुष में अपना वक्तव्य देता है, प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध होता है; हमारे सामने अभिनेता होता है, लेकिन हम देखते हैं तो अभिनेता को नहीं, उसके माध्यम से प्रस्तुत होते हुए चरित्र को। हम यह कभी नहीं भूलते कि हमारे सामने एक अभिनेता है, लेकिन फिर भी देखते हैं हम चरित्र को ही। अभिनेता कहता है *मैं* लेकिन वह मैं हमारे लिए चरित्र के वक्तव्य का स्वर होता है। ऐसी स्थिति में नाटक के डायलाग अत्यन्त काव्यमय भी हो सकते हैं। लेकिन उन्हीं शब्दों में वही वक्तव्य यदि अभिनेता द्वारा प्रस्तुत किये गये चरित्र का न होकर स्वयं अभिनेता का होता, मंच पर बोलने वाला *मैं* यदि वह चरित्र न होता जो होकर भी वहाँ नहीं है, उसके बदले में स्वयं अभिनेता होता तो बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि वही वक्तव्य उस स्थिति में भी हमें काव्यमय जान पड़ता या हमें सहन भी होता। अभिनेता द्वारा प्रस्तुत किये गये चरित्र को हम अपना वक्तव्य उत्तर पुरुष एक वचन में देने का अधिकार देते हैं; अभिनेता को वह अधिकार हम नहीं देते, यानी एक चेहरा, मास्क और पर्सोना हमें स्वीकार है, स्वयं नट हमें स्वीकार नहीं है।

वाक्य में इस बात का महत्त्व है। संस्कृत में काव्य का एक दृश्य रूप था और एक श्रव्य; काव्य दोनों ही थे। और पर्सोना अथवा अभिनेय चरित्र के साथ सम्बन्ध दृश्य काव्य में ही नहीं, श्रव्य काव्य में भी अपना महत्त्व रखता है। काव्य में बोलने वाला हर *मैं* पर्सोना होता है, अभिनेय चरित्र होता है। जब कवि स्वयं अपनी बात भी कहता है तो वह हमें तभी स्वीकार होती है—मैं कह सकता हूँ कि तभी सह्य भी

होती है—जब वह कथ्य अथवा वक्तव्य प्रत्यक्ष रूप से कवि का न होकर एक पर्सोना अथवा अभिनेय चरित्र के रूप में उसका हो।

और इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात को आज की कविता के अधिसंख्य कवि भूल गये हैं और विस्मृति में आज के आलोचक ने उनकी सहायता की है। मास्क अथवा चेहरे अथवा मुखौटे के प्रति जिस अवज्ञा भाव को इतना बढ़ावा दिया गया है उसने यह भी भुला देने में हमारी मदद की है कि मुखौटे केवल धोखा देने के लिए नहीं बल्कि सच्चाई को प्रस्तुत करने के लिए भी लगाये जाते हैं। साधारण जीवन में मुखौटा फ़रेब है, लेकिन नाटक में वही मुखौटा एक वृहत्तर यथार्थ में हमें लौटा लाने में सहायक हो सकता है— ऐसे वृहत्तर यथार्थ में जिसका सामना शायद हम बिना मुखौटे के कर ही न सकें। सारे संसार के नाट्य से हम इस बात का प्रमाण पा सकते हैं—जहाँ भी साधारण सच्चाइयों से आगे बढ़ कर विराट् को स्थापित करने का प्रयत्न होता है, वहाँ मुखौटे आते हैं।

कविता के लिए—काव्य के श्रव्य रूप के लिए—इस बात का क्या महत्त्व है? यही कि वक्तव्य वक्तव्य होने के नाते अग्राह्य नहीं है, तब अग्राह्य हो जाता है जब उसमें केवल कवि-रूपी इकाई का *मैं* अथवा अहम् बोलता है। अग्राह्य नहीं तो महत्त्वहीन तो वह हो ही जाता है क्योंकि हमारा प्रयोजन कविता से है, कवि से नहीं, या कवि से है तो बिलकुल साधारण-सा।

और हर युग के महान् कवि इस बात को पहचानते रहे हैं। यह नहीं है कि कवियों ने अपनी भावनाएँ, अपने राग-विराग, अपनी लालसाएँ और आकांक्षाएँ व्यक्त नहीं कीं, लेकिन जब की हैं और काव्य रूप में की है तो किसी दूसरे चरित्र पर उनका आरोप करके। भक्त कवियों ने प्रेम अथवा विरह की जिन अवस्थाओं का वर्णन कृष्ण और राधा अथवा गोपियों के माध्यम से इतने मार्मिक ढंग से किया है, ऐसा नहीं है कि उन भावनाओं से वे अपने जीवन में अपरिचित रहे होंगे, लेकिन उन्हीं भावनाओं को वे अपनी, कवि की निजी, भावनाओं के रूप में प्रस्तुत करते तो वे न केवल श्रेष्ठ काव्य की कोटि में न आतीं वरन् असमंजस का कारण भी बनतीं—लगभग अश्लील जान पड़ने लगतीं। और भक्त कवियों तक ही क्यों सीमित रहें—कोई कह सकता है कि भक्ति की बात तो लौकिक और अलौकिक के बीच के सम्बन्ध की है—शुद्ध लौकिक स्तर पर रह कर हम रीति के कवियों का भी उदाहरण लें : वहाँ भी मैं कभी नहीं आता, नायक अथवा नायिका आती है, यद्यपि उन पर आरोपित भावनाएँ बिलकुल मानवीय हैं और माना जा सकता है कि कवि अथवा कवयित्री के निजी जीवनानुभव से सम्बद्ध रही हैं। वक्तव्य वहाँ है निजी और अन्तरंग, ऐसे भावों की अभिव्यक्ति भी है जो साधारण जीवन में सामने आने पर असमंजस का, अस्वस्ति भाव पैदा कर सकते हैं, लेकिन रीति काव्य के छन्दों में

क्यों वे इतने ग्राह्य, इतने आकर्षक, इतने मार्मिक हो जाते हैं? क्यों कि वहाँ कवि *मैं* के रूप में आपके सामने नहीं आता। वह यह दावा नहीं करता कि यह मेरा भोगा हुआ यथार्थ है। भोगा हुआ तो वह अवश्य है, लेकिन जिसका भोगा हुआ है वह दावेदार बन कर आपके सामने नहीं आता, वह उसे एक-दूसरे को सौंप देता है।

इस सौंप देने का एक विशेष महत्त्व हैं। यह सौंप दे सकना अपने-आप में साधारणीकरण की एक कसौटी है। कवि जहाँ *मैं* के रूप में पाठक अथवा श्रोता के समक्ष होकर अपना वक्तव्य देता है वहाँ इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि वह वक्तव्य या उसमें प्रकट किये गये भाव अथवा विचार एक सार्वभौम सत्ता पा चुके हैं। दूसरे शब्दों में यह सिद्ध नहीं हुआ है कि वे बहुजन-संवेद्य हो गये हैं, सम्प्रेष्य हो गये हैं। उन्हीं को जब हम दूसरे चरित्र के माध्यम से—नायक अथवा नायिका अथवा पर्सोना के माध्यम से—प्रस्तुत करते हैं, तब इस कसौटी पर हम अपनी परीक्षा करवा चुके होते हैं।

तो एक बार अपनी बात मैं दोहरा दूँ। आज की कविता का बहुत बड़ा और शायद सबसे बड़ा दोष यह है कि उस पर एक 'मैं' छा गया है, वह भी एक अपरीक्षित और अविसर्जित मैं। आज की कविता बहुत बोलती है, जब कि कविता का काम बोलना है ही नहीं।

(3)

यदि यह कहा जाए कि आज कवि के पास सामान्यतया पिछली पीढ़ी के कवि से अधिक जानकारी होती है और वह साधारण जीवन की व्यावहारिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के बारे में अधिक सजग और सतर्क होता है तो इसे कोई आश्चर्यजनक स्थापना नहीं समझा जाएगा क्योंकि यह समूचे समाज के विकास की दिशा के अनुरूप ही है, और यदि इस व्यापकतर व्यावहारिक जागरूकता का एक पहलू राजनीतिक जागरूकता है तो वह भी स्वाभाविक है क्योंकि व्यावहारिक जीवन में राजनीति का स्थान और महत्त्व लगातार बढ़ता गया है। लेकिन जो बात चिन्त्य है वह यह कि कवि की राजनीतिक चेतना के साथ राजनीतिक मतवाद का आरोप कहाँ तक उचित है? क्या कविता को अनिवार्यतया किसी राजनीतिक सन्देश की वाहिका होना चाहिए? और जो कविता संकल्पपूर्वक किसी राजनीतिक मत का प्रतिपादन करने नहीं चलती वह क्या इसीलिए अनिवार्यतया घटिया हो जाएगी? क्या काव्य केवल एक साधन है?

सप्तकों की परम्परा में कभी इस बात को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया कि संकलित कवियों के राजनीतिक विचार क्या हैं। राजनीतिक पक्षधरता

को कभी कसौटी नहीं बनाया गया। *चौथा सप्तक* में भी उस कसौटी से काम नहीं लिया गया है और पाठक जानेंगे—जैसा कि सम्पादक भी जानता है—कि संकलित कवियों के राजनीतिक विचार और उनके राजनीतिक सम्पर्क अथवा आस्थाएँ बिलकुल अलग-अलग हैं। लेकिन इस बात पर बल देकर इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि आज का राजनीतिक और साहित्यिक वातावरण पहले से बहुत बदला हुआ है और राजनीति में मतवादों के साथ-साथ साहित्य में मतवादी चिन्ता का दावा बढ़ता गया है। शायद राजनीति में भी उसके कुछ दुष्परिणाम हुए हैं, लेकिन उनकी चर्चा को विषयान्तर मान कर छोड़ दें तो यह कहना होगा कि मतवादी साहित्य-चिन्तन ने काव्य का अहित ही किया है। साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों की चर्चा तो पचास वर्ष पहले शुरू की गयी थी, लेकिन अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रगतिशीलता का आन्दोलन उन सभी लोगों को साथ लेकर चलने का प्रयत्न कर रहा था जिनके विचारों को साधारण तौर पर प्रगतिशील कहा जा सके। उस दौर के कवियों को भी नये चिन्तन से प्रेरणा मिली और उनकी काव्य-रचना ने भी राजनीतिक आन्दोलन को बल दिया। उसके बाद कैसे बढ़ती हुई वैचारिक संकीर्णता और असहिष्णुता के कारण प्राय: सभी बड़े साहित्यकार एक-एक कर के निकाल दिये गये या स्वयं अलग हट गये और इसमें से कैसे आन्दोलन ही मृतप्राय हो गया, ये बातें समकालीन साहित्य के इतिहास का अंग हो गयी हैं। जिस काल की रचनाओं से *चौथा सप्तक* के कवि और उनकी कविताएँ ली गयी हैं उसमें फिर राजनीतिक पक्षधरता के आन्दोलन एक से अधिक दिशाओं में आरम्भ हुए और ध्रुवीकरण के नाम पर फिर एक व्यापक असहिष्णुता का वातावरण बन गया। आपातकाल ने एक लगभग देशव्यापी आतंक की सृष्टि की तो उसकी परिधि के भीतर विभिन्न प्रकार की असहिष्णुताएँ आतंक के छोटे-छोटे मंडल बनाती रहीं। आपातकाल की समाप्ति से आतंक का तो अन्त हो गया, लेकिन मतवादी असहिष्णुताओं के ये वृत्त अभी कायम हैं। *चौथा सप्तक* के सभी कवि इस परिस्थिति से न केवल परिचित रहे हैं बल्कि उसके दबाव का तीखा अनुभव भी करते रहे हैं और कुछ ने उसके कारण कष्ट भी सहा है। इसलिए अगर मैं कहूँ कि संकलित कवियों के राजनीतिक विचारों के अलग होते हुए भी एक स्तर पर वे एक सामान्य अनुभव की बिरादरी में आ जाते हैं तो यह कथन अनुचित न होगा और वह सामान्य अनुभव है एक स्वातंत्र्य का अनुभव। कवि के संसार की स्वायत्तता का एक बोध संकलित सभी कवियों की रचनाओं में मिलता है— कुछ में अधिक परिपक्व तो कुछ में कम, लेकिन सर्वत्र काव्य के स्वर में अपनी एक विशेष गूँज मिलाए हुए। यह कदाचित *चौथा सप्तक* के कवियों का—और उनके युग की अच्छी कविता का—विशेष गुण है। और आशा की जा सकती है कि एक सार्वभौम मौलिक मूल्य के इस आग्रह के कारण *चौथा*

सप्तक की कविताएँ न केवल स्वयं लोकप्रिय हो सकेंगी वरन् कविता के प्रति जिस उदासीनता की बात मैंने पहले की है उसे भी कुछ कम कर सकेंगी।

(4)

मैं नहीं जानता कि संकलित सातों कवियों के बारे में अलग-अलग कोई समीक्षात्मक टिप्पणी अथवा संस्तुति मुझसे अपेक्षित है या नहीं। लेकिन अपेक्षित हो भी तो वह काम मैं अभी नहीं करने जा रहा हूँ। यों भी यही उचित है कि पाठक इन कवियों से साक्षात्कार करते समय और उनके काव्य-संसार में प्रवेश करते समय मेरे पूर्वग्रहों का बोझ न लेकर चले, मेरे चश्मे से न देखे। इसके अलावा मैं यह भी नहीं चाहता कि मेरी संस्तुतियों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया का दंड इन कवियों को मिले— और मैं कटु अनुभव से जानता हूँ कि ऐसा प्राय: होता आया है! निश्चय ही जिस पीढ़ी या जिन दशकों से ये कवि चुने गये हैं उनमें और भी अच्छी रचनाएँ हुई हैं, पर उनका अथवा उनके कवियों का यहाँ न पाया जाना इस बात का द्योतक नहीं है कि मैं उनकी अवमानना करना चाहता हूँ। मेरा दावा इतना ही होगा कि संकलित कवि इस अवधि की अच्छी कविता का प्रतिनिधित्व करते हैं, कि उनकी रचनाएँ किसी बिन्दु पर आकर ठहर नहीं गयी हैं, बल्कि उनकी काव्य-प्रतिभा का अभी और विकास हो रहा है, कि इसीलिए मेरा विश्वास है कि निकट भविष्य में इन कवियों के कृतित्व की छाप समकालीन हिन्दी काव्य पर और गहरी पड़ेगी।

और यह बात संकलित कवियों के प्रति मेरी शुभाशंसा भी है, *चौथा सप्तक* के पाठक को मेरा आश्वासन भी।

प्रकृति काव्य : काव्य प्रकृति

('रूपाम्बरा' की भूमिका)

प्रकृति की चर्चा करते समय सबसे पहले परिभाषा का प्रश्न उठ खड़ा होता है। प्रकृति हम कहते किसे हैं? वैज्ञानिक इस प्रश्न का उत्तर एक प्रकार से देते हैं, दार्शनिक दूसरे प्रकार से, धर्म-तत्त्व के चिन्तक एक तीसरे ही प्रकार से। और हम चाहें तो इतना और जोड़ दे सकते हैं कि साधारण-व्यक्ति का उत्तर इन सभी से भिन्न प्रकार का होता है।

और जब हम 'एक प्रकार का उत्तर' कहते हैं, तब उसका अभिप्राय एक उत्तर नहीं है, क्योंकि एक ही प्रकार के अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसीलिए वैज्ञानिक उत्तर भी अनेक होते हैं; दार्शनिक उत्तर तो अनेक होंगे ही, और धर्म पर आधारित उत्तरों की संख्या धर्मों की संख्या से कम क्यों होने लगी?

प्रश्न को हम केवल साहित्य के प्रसंग में देखें तो कदाचित् इन अलग-अलग प्रकार के उत्तरों को एक सन्दर्भ दिया जा सकता है। साहित्यकार की दृष्टि ही इन विभिन्न दृष्टियों के परस्पर विरोधों से ऊपर उठ सकती है— उन सबको स्वीकार करती हुई भी सामंजस्य पा सकती है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि की अपनी समस्याएँ हैं; क्योंकि एक तो साहित्य दर्शन, विज्ञान और धर्म के विश्वासों से परे नहीं होता, दूसरे सांस्कृतिक परिस्थितियों के विकास के साथ-साथ साहित्यिक संवेदना के रूप भी बदलते रहते हैं।

साधारण बोलचाल में 'प्रकृति' 'मानव' का प्रतिपक्ष है, अर्थात मानवेतर ही प्रकृति है—वह सम्पूर्ण परिवेश जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है। और भी स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रकृति मानवेतर का वह अंश हो जाती है जो कि इन्द्रियगोचर है—जिसे हम देख, सुन और छू सकते हैं, जिसकी गन्ध पा सकते हैं और जिसका आस्वादन कर सकते हैं। साहित्य की दृष्टि कहीं भी इस स्थूल परिभाषा का खंडन नहीं करती : किन्तु साथ ही कभी अपने को इसी तक सीमित भी नहीं रखती। अथवा यों कहें कि अपनी स्वस्थ अवस्था में साहित्य का प्रकृति-बोध मानवेतर, इन्द्रियगोचर, बाह्य परिवेश तक जाकर ही नहीं रुक जाता; क्योंकि साहित्यिक आन्दोलनों की अधोगति में विकृति की ऐसी अवस्थाएँ

आती रही हैं जब उसने बाह्य सौन्दर्य के तत्त्वों के परिगणन को ही दृष्टि की इति मान लिया है। यह साहित्य की अन्त:शक्ति का ही प्रमाण है कि ऐसी रुग्ण अवस्था से वह फिर अपने को मुक्त कर ले सका है, और न केवल आभ्यन्तर की ओर उन्मुख हुआ है बल्कि नयी और व्यापकतर संवेदना पाकर उस आभ्यन्तर के साथ नया राग-सम्बन्ध भी जोड़ सका है।

राग-सम्बन्ध अनिवार्यतया साहित्य का क्षेत्र है। किन्तु राग-सम्बन्ध उतने ही अनिवार्य रूप से साहित्यकार की दार्शनिक पीठिका पर निर्भर करते हैं। यदि हम मानते हैं—जैसा कि कुछ दर्शन मानते रहे—कि प्रकृति सत् है, मूलत: कल्याणमय है, तब उसके साथ हमारा राग-सम्बन्ध एक प्रकार का होगा—अथवा हम चाहेंगे कि एक प्रकार का हो। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति मूलत: असत् है, तो स्पष्ट ही हमारी राग-वृत्ति की दिशा दूसरी होगी। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति त्रिगुण-मय है किन्तु अविवेकी है, तो हमारी प्रवृत्ति और होगी : और यदि हमारी धारणा है कि प्रकृति सदसद् से परे है तो हम उसके साथ दूसरे ही प्रकार का राग-सम्बन्ध चाहेंगे—अथवा कदाचित् यही चाहेंगे कि जहाँ तक प्रकृति का सम्बन्ध है हम वीतराग हो जाएँ! विभिन्न युगों के साहित्यकारों के प्रकृति के प्रति भाव की पड़ताल करने में हम उन भावों में और साहित्यकार के प्रकृति-दर्शन में स्पष्ट सम्बन्ध देख सकेंगे।

कवियों के प्रकृति-वर्णन अथवा निरूपण की चर्चा में उनके आधारभूत दार्शनिक विचारों अथवा धर्म-विश्वासों तक जाना यहाँ कदाचित अनपेक्षित होगा। उतने विस्तार के लिए यहाँ स्थान भी नहीं है। किन्तु कवि के संवेदन पर उसकी दार्शनिक अथवा धार्मिक आस्था के प्रभाव की अनिवार्यता को स्वीकार करके हम प्रकृति-वर्णन की परम्परा का अध्ययन कर सकते हैं। वैदिक कवि—मन्त्रद्रष्टा को कवि कहना उसकी अवहेलना नहीं है—प्रकृति की सत्ता का सम्मान करता था और मानता था कि उसकी अनुकूलता ही सुख और समृद्धि का आधार है। सुखी और सम्पूर्ण जीवन का जो चित्र उसके सम्मुख था उसमें मनुष्य की और प्रकृति की शक्तियों की परस्पर अनुकूलता आवश्यक थी। प्राकृतिक शक्तियों को वह देवता मानता था, किन्तु देवता होने से ही वे अनुकूल हो जाएँगी ऐसा उसका विश्वास नहीं था—उनकी अनुकूलता के लिए वह प्रार्थी था। कहा जा सकता है कि उसकी दृष्टि में ये शक्तियाँ सदसद् से परे ही थीं किन्तु उन्हें अनुकूल बनाया जा सकता था।

यथा द्यौश्च पृथ्वी च न विभीतो न रिष्यत :
एवा मे प्राण मा बिभे :
यथाऽहश्च रात्री च न विभीतो न रिष्यत:
एवा मे प्राण मा बिभे:

यह प्रार्थना करने वाला व्यक्ति जहाँ यह कामना करता था कि प्रकृति की शक्तियों के प्रति उसके प्राण भय रहित हों, वहाँ यह भी मानता था कि वे शक्तियाँ भी राग-द्वेष से परे हैं। इतना ही नहीं, मध्य युग की पाप-पुण्य की भावना भी उसमें नहीं थी—हो भी नहीं सकती थी जब तक कि वह प्रकृति को पापमूलक न मान लेता—और उसके निकट दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और असत्य, सभी एक से निर्भय थे। वह अपनी प्रार्थना में यह भी कहता था कि—

यथा सत्यं चाऽनृतं च न विभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥

यह कहने का साहस मध्य काल के कवि को नहीं हो सकता था—पाप की परिकल्पना कर लेने के बाद यह सम्भावना ही सामने नहीं आती कि अनृत भी सत्य के समान ही निर्भय हो सकता है।

वैदिक कवि क्योंकि प्रकृति को न सत् मानता है न असत्, इसलिए प्रकृति के प्रति उसका भाव न प्रेम का है न विरोध का। वह मूलतः एक विस्मय का भाव है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे

यह उसके भव्य विस्मय की ही उक्ति है। और यदि वह आगे पूछता है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम?

तो यह किंकर्त्तव्यता भी आतंक का नहीं, शुद्ध विस्मय का ही प्रतिबिम्ब है। उषा सूक्त में उषा के रूप का वर्णन, पृथ्वी-सूक्त में पृथ्वी से पृथ्वी-पुत्र मनुष्य के सम्बन्ध का निरूपण, इन्द्र और मरुत के प्रति उक्तियाँ— काव्य की दृष्टि से ये सभी वैदिक मानव के विस्मय भाव को ही प्रतिबिम्बित करती हैं—उस शिशुवत् विस्मय को जिसमें भय का लेश भी नहीं है। ऋग्वेद का मण्डूक-सूक्त इस विस्मयाह्लाद का उत्तम उदाहरण है।

वाल्मीकि के रामायण में प्रकृति का काव्य-रूप बहुत कुछ बदल गया है। वाल्मीकि के राम यद्यपि तुलसीदास के मर्यादा-पुरुषोत्तम से भिन्न कोटि के नायक हैं, तथापि मर्यादा का भाव वाल्मीकि में अत्यन्त पुष्ट है। बल्कि यह भी कहना अनुचित न होगा कि जिस घटना से आदि-काव्य का उद्भव माना जाता है वह

घटना ही एक मर्यादा अंकित करती है। वास्तव में क्रौंच-वध वाली घटना में जो लोग शुद्ध कारुण्य देखते हैं वे थोड़ी-सी भूल करते हैं। आदि-कवि ने क्षुब्ध होकर निषाद को जो शाप दिया था, उसके मूल में शुद्ध जीव-दया की अपेक्षा मर्यादा-भंग के विरोध का ही भाव अधिक था। पक्षी मात्र को मारने का विरोध वाल्मीकि ने नहीं किया। परिस्थिति-विशेष में पक्षी के वध को अधर्म मानकर ही उन्होंने व्याध की शाश्वत अप्रतिष्ठा की कामना की। उस परिस्थिति में कोई भी प्राणी अवध्य है, यही विश्वास महाभारत में भी पाया जाता है जो मृगया के वृत्तान्तों से भरा हुआ है। पांडु की मृत्यु जिस दारुण परिस्थिति में हुई उसका कारण भी मृगया नहीं थी—मृगया तो राज-धर्म का अंग था—किन्तु परिस्थिति-विशेष में मृग पर बाण छोड़ने का अधर्म अथवा मर्यादा-भंग ही राजा के प्राणान्त का कारण हुआ। यह भी उल्लेख्य है कि क्रौंच की कथा में क्रौंच-युगल को शापग्रस्त मुनि-युगल सिद्ध करना आवश्यक नहीं समझा गया : वाल्मीकि की करुणा पक्षी को पक्षी मान कर ही दी गयी। किन्तु महाभारत में राजा के प्राण मृग के प्राण से कदाचित् अधिक मूल्यवान समझे गए, इसलिए अपराध और दंड में सामंजस्य लाने के लिए मृग-युगल को मुनि-युगल सिद्ध करना पड़ा। जो हो, यहाँ भी जीव-दया का आत्यन्तिक आदर्श नहीं है, बल्कि जीव-वध की मर्यादा का ही निर्देश है।

किन्तु जीव-दया के आदर्श के विकास का अध्ययन हमारा विषय नहीं है। हम प्रकृति के प्रति वाल्मीकि के राग-भाव की, और वैदिक कवि के भाव से उसके अन्तर की चर्चा कर रहे थे। काव्य-युग में यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है—दूसरे शब्दों में मानवीय दृष्टि के विकास की एक और सीढ़ी परिलक्षित होने लगती है। शास्त्रीय शब्दावली में यदि कहा जाए कि प्रकृति काव्य का आलम्बन न रहकर क्रमश: उद्दीपन होती जाती है, तो यह कथन असंगत तो न होगा, किन्तु बात इतनी ही नहीं है। एक तो प्रकृति-वर्णन का उद्दीपन के लिए उपयोग वाल्मीकि ने भी किया—किष्किन्धा-कांड का शरद-वर्णन यद्यपि प्रकृति की दृष्टि से सच्चा और खरा है तथापि उसके वहाँ होने का मुख्य काव्यगत कारण राम के पत्नी-विरह को उद्दीपित रूप में हमारे सम्मुख लाना ही है। यही कारण है कि वह वर्णन जो बिम्ब हमारे सम्मुख उपस्थित करता है वे सभी शृंगार-भाव से अनुप्राणित हैं। दूसरे, काव्य युग के महारथियों ने प्रकृति को केवल उद्दीपन रूप में देखा हो, ऐसा भी नहीं है। बल्कि कालिदास का प्रकृति-पर्यवेक्षण और अध्ययन तथा उनका प्रकृति-प्रेम भारतीय काव्य-परम्परा में अद्वितीय है।

वास्तव में अन्तर को ठीक-ठीक समझने के लिए जो प्रश्न पूछना होगा वह यह नहीं है कि प्रकृति के उपयोग में क्या अन्तर आ गया। प्रश्न यह पूछा चाहिए कि जिस प्रकृति की ओर कवि आकृष्ट था वह प्रकृति कैसी थी?

कालिदास का प्रकृति-प्रेम वाल्मीकि से कम हार्दिक नहीं है। न उनका काव्य आलम्बन के रूप में प्रकृति को आदि-कवि की रचनाओं से कम महत्त्व देता है। फिर भी उसमें वाल्मीकि की सी सहजता नहीं है। न वैदिक कवि का विस्मय भाव ही है। कालिदास की प्रकृति अपेक्षया अलंकृत है। कवि जितना प्रकृति से परिचित है उतना ही प्रकृति-सम्बन्धी अनेक कवि-समयों से भी—अर्थात् वह अपने काव्य की परम्परा से भी परिचित है और उस परिचय की अवज्ञा नहीं करता है। कवि-समय को सत्य वह नहीं मानता, क्योंकि उसका अनुभव उन्हें मिथ्या सिद्ध करता है; किन्तु फिर भी उन समयों का वह व्यवहार करता है क्योंकि काव्य-सौन्दर्य के लिए परम्परा से काम लेने का यह भी एक साधन है। ऋतुसंहार के ऋतु-वर्णन अथवा कुमारसम्भव के हिमालय-वर्णन में परम्परागत कवि-समयों का कवि के निजी अनुभव के साथ ऐसा अभिन्न योग हुआ है कि इन तत्त्वों का विश्लेषण सौन्दर्य को नष्ट किये बिना हो ही नहीं सकता।

आवश्यक परिवर्तन के साथ यही बात भवभूति के प्रकृति-वर्णन के विषय में भी कही जा सकती है।

वास्तव में काव्य-युग का कवि जो प्रकृति को केवल आलम्बन के रूप में अपने सम्मुख नहीं रख सका, और न ही उसे निरे उद्दीपन के रूप में एक उपकरण का स्थान दे सका, उसका कारण यही था कि प्रकृति से उसका सम्बन्ध भिन्न प्रकार का हो गया था। व्यवस्थित और निरापद जीवन में उसके लिए यह आवश्यक नहीं रहा था कि प्रकृति की शक्तियों को वैसे आत्यन्तिक और मानवीकृत अथवा देवतावत् रूपों में देखे जैसे रूप वैदिक कवि के उद्दिष्ट रहे। दूसरी ओर प्रकृति से उसका सम्बन्ध वैसा उच्छिन्न भी नहीं हो गया था जैसा रीतिकालीन कवियों का, जिनके निकट प्रकृति केवल एक अभिप्राय रह गयी थी, और प्रकृति का चित्रण केवल प्रकृति-सम्बन्धी कवि-समयों की एक न्यूनाधिक चमत्कारी सूची। काव्य युग के संस्कृत कवि के लिए प्रकृति शोभन, रम्य और स्फूर्तिप्रद थी। प्राकृतिक शक्ति के रूप में उसे मानव का प्रतिपक्ष माना जा सकता था, किन्तु अपने इस नये रूप में वह मानव की सहचरी हो गयी थी।

नि:सन्देह संस्कृत काव्य-परम्परा की समवर्तिनी एक दूसरी काव्य-परम्परा भी रही जिसकी खोज में हमें प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की ओर देखना होगा। संस्कृत और प्राकृत काव्य बराबर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे; और कवि समयों अथवा अभिप्रायों का आदान-प्रदान उनमें होता रहा। किन्तु विस्तार से बचने के लिए उनकी चर्चा यहाँ छोड़ दी जा सकती है। ऐसा इसलिए भी अनुचित न होगा कि इसी प्रकार का सम्बन्ध हम अनन्तर खड़ी बोली हिन्दी की कविता में तथा उसकी पृष्ठभूमि और उसके परिपार्श्व में फैले हुए लोक-काव्य में भी देख सकते हैं। इनमें

भी आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा, किन्तु इस क्रिया की बढ़ी हुई गति आधुनिक युग की एक विशेषता मानी जा सकती है। क्यों यह आदान-प्रदान इस काल में अतिरिक्त तीव्रता के साथ होने लगा, इस प्रश्न का उत्तर भी हमें आधुनिक संवेदना के रूप-परिवर्तन में मिलेगा। मानव और प्रकृति दोनों की नयी अवधारणा ने स्वभावतया उनके परस्पर सम्बन्ध को बदल दिया और इसलिए प्रकृति के वर्णन अथव चित्रण को अनुप्राणित करने वाले राग-तत्त्व भी बदल गये।

किन्तु बीच की सीढ़ी की उपेक्षा कर जाना भ्रान्ति का कारण हो सकता है।

प्रकृति-काव्य के विवेचन में वास्तव में समूचे रीति-युग को छोड़ ही देना चाहिए, क्योंकि रीतिकालीन कवियों में से कुछ ने यद्यपि प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का प्रमाण दिया है, तथापि उनके निकट प्रकृति काव्य- चमत्कार के लिए उपयोज्य एक साधन-मात्र है। प्रकृति के मानवीकरण की बात तो दूर, रीति-काल के कवि उसकी स्वतन्त्र इयत्ता के प्रति भी उदासीन हैं—उनके निकट वह केवल एक अभिप्राय है—अलंकृति के काम आ सकता है। यह प्रकृति से राग-सम्बन्ध की जर्जरता का ही परिणाम था कि रीति-कालीन कवि प्राकृतिक तत्त्वों की सूची प्रस्तुत कर देना ही उद्दीपन के लिए पर्याप्त समझने लगा। यदि उसका राग-सम्बन्ध कुछ भी प्राणवान होता, तो वह समझता कि प्रकृति-सम्बन्धी शब्दावली का ऐसा कोशवत उपयोग उद्दीपन का भी काम नहीं कर सकता क्योंकि जिस काव्य में राग का अभाव स्पष्ट लक्षित होता है वह दूसरे में राग भाव नहीं जगा सकता, अपने अभाव को चाहे कितने ही कौशल से छिपाया गया हो। प्रकृति के बाहरी आकारों की सूची बनाने की यह प्रवृत्ति रीति-काल तक ही सीमित नहीं रही बल्कि आधुनिक काल तक चली गयी। बीसवीं शती में भी जो महाकाव्य लिखे गये वे अधिकतर प्रकृति-वर्णन की इसी लीक को पकड़े रहे और पिंगल-ग्रन्थों ने भी अभ्यासियों के लिए विभावों की सूचियाँ प्रस्तुत कीं।

वास्तव में इस जीर्ण परम्परा से विमुख होकर प्रकृति को काव्य में नये प्राण देने की प्रवृत्ति हिन्दी में पश्चिमी साहित्य के अथवा उससे प्रभावित बांग्ला साहित्य के सम्पर्क से जागी। इस कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि खड़ी बोली का प्रकृति-वर्णन अनुकृति है, क्योंकि अनुकृति का विरोध ही तो इसकी प्रेरणा रही। अभिप्राय यह भी नहीं है कि हिन्दी कवि अपने पूर्वजों की अनुकृति छोड़कर विदेशी कवियों की अनुकृति करने लगे, क्योंकि हिन्दी की नयी प्रवृत्ति प्राचीनतर भारतीय परम्पराओं से कटी हुई कदापि नहीं थी। बल्कि उदाहरण देकर दिखाया जा सकता है कि कैसे छायावाद के और परवर्ती प्रमुख कवियों ने पूरे आत्म-चेतन भाव से संस्कृत काव्यों से और वैदिक साहित्य से न केवल प्रेरणा पायी वरन उपमाएँ और *बिम्ब ज्यों के त्यों ग्रहण किये।*

पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा पाने का आशय यह भी नहीं है कि यदि पश्चिम से सम्पर्क न हुआ होता तो हिन्दी साहित्य में प्रकृति की नयी चेतना न जागी होती। वास्तव में किसी भी प्रवृत्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी विशेष साहित्य में कभी नहीं प्रकट होगी। जो साहित्य जीवित है—अर्थात् जिस साहित्य को रचनेवाला समाज जीवित है—उसमें समय-समय पर जीर्णता का विरोध करनेवाली नयी प्रवृत्तियाँ प्रकट होंगी ही। दूसरे साहित्यों से प्रभाव ग्रहण करने की भी एक क्षमता और तत्परता होनी चाहिए जो हर साहित्य में हर समय वर्तमान नहीं होती बल्कि विकास अथवा परिपक्वता की विशेष अवस्था में ही आती है। इसलिए किसी प्रभाव से जो रचनात्मक प्रेरणा मिली, उसे अनुकृति कहना या हेय मानना अनुचित है और बहुधा ऐसी समालोचना करने वाले के आत्मावसाद अथवा हीनभाव का ही द्योतक होता है। शिशु बोलना अनुकरण से सीखता है, किन्तु कवि-समुदाय में रख देने से ही बालक कविता नहीं करने लगता। जब वह कविता रचता है तो वह इतने भर से अनुकृति नहीं हो जाती कि वह कवियों के सम्पर्क में रहा और उनसे प्रभाव ग्रहण करता रहा। उसकी ग्रहणशीलता और उस पर आधारित रचना-प्रवृत्ति स्वयं उसके विकास और उसकी शक्ति के द्योतक हैं।

पश्चिमी काव्य के परिचय से भारतीय कवि एक बार फिर प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता की ओर आकृष्ट हुआ। कहा जा सकता है कि इसी परिचय के आधार पर वह स्वयं अपनी परम्परा को नयी दृष्टि से देखने लगा और उसके सार तत्त्वों को नया सम्मान देने लगा। निःसन्देह अनुकरण भी हुआ, किन्तु जो केवल मात्र अनुकरण था वह कालान्तर में उसी गौण पद पर आ गया जो उसके योग्य था। उषा-सुन्दरी का मानवी रूप छायावादियों का आविष्कार नहीं था, और उसकी परम्परा ऋग्वेद तक तो मिलती ही है। किनतु जब कवि ने छाया को भी मानवी आकृति देकर पूछा :

कौन, कौन तुम, परिहत-वसना
म्लानमना, भू-पतिता-सी?

तब उसके अवचेतन में वैदिक परम्परा उतनी नहीं रही होगी जितना अँग्रेज़ी रोमांटिक काव्य जिसमें प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण साधारण बात थी।

किन्तु नयापन केवल इतना नहीं था—पुरानेपन का नया सँवार-भर नहीं था। मानवीकरण केवल विषयाश्रित नहीं था। बल्कि प्रकृति के मानवीकरण का विषयिगत रूप और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था।

मानवीकरण का यह पक्ष वास्तव में वैयक्तिकीकरण का पक्ष था। यही तत्त्व था जिसने प्रकृति-वर्णन को प्राकृतिक अभिप्रायों के वर्णन से अलग करके काव्योचित

दृष्टि को रूप दे दिया। यद्यपि नये जागरण ने हिन्दी कविता का सम्बन्ध रीतिकाल के अन्तराल के पार अपभ्रंशों, प्राकृतों और संस्कृत काव्य की परम्परा से जोड़ा था, तथापि इसके आधार पर जो दृश्य-चित्र सामने आये थे नये होकर भी इस अर्थ में एक-रूप थे कि विभिन्न कवियों के द्वारा प्रस्तुत किए गये होने पर भी वे मूलत: समान थे—ऐसा नहीं था कि उस विशेष कवि के व्यक्तित्व से उन्हें अलग किया ही न जा सके। दार्शनिक पृष्ठिका के विचार से कहा जा सकता है कि सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रकृति की कल्पना प्रेयसी के रूप में की और 'निराला' ने संवाहिका शक्ति के रूप में और दोनों कवियों के प्रकृति-चित्रण में समानता और अन्तर दोनों ही पहचाने जा सकते हैं। किन्तु जिस व्यक्तिगत अन्तर की बात हम कह रहे हैं वह इससे गहरा था। नि:सन्देह काव्यगत चित्रों पर कवि के व्यक्तित्व के इस आरोप का अध्ययन पश्चिमी साहित्य के सन्दर्भ में किया जा सकता है और दिखाया जा सकता है कि उसमें भी अँग्रेज़ी रोमांटिक काव्य के व्यक्तिवाद का कितना प्रभाव था। और यदि व्यक्तिवाद के विकृत प्रभावों को ही ध्यान में रखा जाए तो यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि पश्चिमी प्रभाव यहाँ भी विकृतियों का आधार बना, जैसा कि वह पश्चिम में भी बना था। किन्तु किसी प्रभाव का केवल उसकी विकृतियों के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। और रोमांटिक व्यक्तिवाद का स्वस्थ प्रभाव यह था कि उसने प्रकृति के चित्रों को एक नयी रागात्मक प्रामाणिकता दी। जो तथ्य था और सबका 'जाना हुआ' था उसे उसने एक व्यक्ति का 'पहचाना हुआ' बनाकर उसे सत्य में परिणत कर दिया। जहाँ यह व्यक्तिगत दर्शन केवल असाधारणत्व की खोज हुआ—और यह प्रवृत्ति पश्चिम में भी लक्षित हुई जैसी कि हिन्दी के कुछ नये कवियों में—वहाँ उत्तम काव्य का निर्माण नहीं हुआ। जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है :

'केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है।' किन्तु जहाँ व्यक्तिगत दर्शन ने उस पर खरी अनुभूति की छाप लगा दी वहाँ उसके देखे हुए बिम्ब और दृश्य अधिक प्राणवान और जीवनस्पन्दित हो उठे। यह भी रामचन्द्र शुक्ल का ही कथन है कि :

'वस्तुओं के रूप और आस-पास की वस्तुओं का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जाएगा।'

और यह व्यक्तिगत दर्शन या निजी अनुभूति की तीव्रता ही है जो वस्तुओं के रूप को 'स्पष्ट या स्फुट' करती है। प्रकृति के जो चित्र रीति-काल के कवि प्रस्तुत करते थे, वे भी यथातथ्य होते थे। उस काव्य की समवर्तिनी चित्र-कला में शिकार इत्यादि के जो दृश्य आँके जाते थे वे भी उतने ही रीतिसम्मत और यथातथ्य होते थे।

किन्तु व्यक्तिगत अनुभूति का स्पन्दन उनमें नहीं होता था और इसीलिए उनका प्रभाव वैसा मर्मस्पर्शी नहीं होता था। बाँसों के झुरमुट पहले भी देखे गए थे, किन्तु सुमित्रानन्दन पन्त ने जब लिखा—

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ :
टी-वी-टी-टुट्-टुट्।

तब यह एक झुरमुट बाँसों के और सब झुरमुटों से विशिष्ट हो गया, क्योंकि व्यक्तिगत दर्शन और अनुभूति के खरेपन ने उसे एक घनीभूत अद्वितीयता दे दी। इस प्रकार के उदाहरण 'निराला' और पन्त की कविताओं से अनेक दिये जा सकते हैं। परवर्ती काव्य में भी वे प्रचुरता से मिलेंगे, भले ही उनके साथ-साथ निरे असाधारणत्व के मोह के भी अनेक उदाहरण मिल जाएँ। जब हम दृश्य-चित्रण की परम्परा का अध्ययन इस दृष्टि से करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद ने प्रकृति को एक नया सन्दर्भ और अर्थ दिया, जो उसे न केवल उससे तत्काल पहले के खड़ी बोली के युग से अलग करता है बल्कि खड़ी बोली के उत्थान से पहले के सभी युगों से भी अलग करता है। सुमित्रानन्दन पन्त और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' इस नये पथ के शलाका-पुरुष हैं, किन्तु इसके पूर्व संकेत श्रीधर पाठक और रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति काव्य में ही मिलने लगते हैं।

नयी कविता, जहाँ तक प्रकृति-चित्रों के अनुभूतिगत खरेपन की बात है, छायावाद से अलग दिशा में नहीं गयी है। असाधारण की खोज के उदाहरण उसमें अधिक मिलेंगे और तन्त्र का कच्चापन अथवा भाषा का अटपटापन भी कहीं अधिक। बल्कि भाषा के विषय में एक प्रकार की अराजकता भी लक्षित हो सकती है, जिसका विस्तार 'लोक-साहित्य की ओर उन्मुखता' या 'लोक के निकटतर पहुँचने के लिए बोलियों से शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति' की ओट लेने पर भी छिप नहीं सकता। पल्लव की भूमिका में पन्त ने जिस सूक्ष्म शब्द-चेतना का परिचय दिया था, भाषा के व्यवहार के प्रति वैसा जागरूक भाव नयी कविता के बिरले कवियों में ही मिलेगा (छायावाद-युग में भी ऐसे कवि कम विरल नहीं थे; अराजकता ऐसी नहीं थी)। ये दोष उन नयी प्रवृत्तियों का ऋण पक्ष हैं जो कि नये काव्य को अनेक समानताओं के बावजूद छायावाद के काव्य से पृथक् करती हैं।

किन्तु जहाँ तक प्रकृति-वर्णन और प्रकृति-चित्रण का प्रश्न है, नयी कविता की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ सब ऋण-मूलक ही नहीं हैं, न उसका धन पक्ष छायावाद से सर्वथा एकरूप। उसकी विशिष्टता को ठीक-ठीक पहचानने के लिए हमें फिर अपने तत्सम्बन्धी प्रश्न के सही निरूपण पर बल देना होगा। प्रकृति के उपयोग में क्या

अन्तर आया, यह प्रश्न भी अप्रासंगिक नहीं है; पर मूल्यों को ठीक-ठीक समझने के लिए इससे गहरे जाकर फिर यही प्रश्न पूछना चाहिए कि जिस प्रकृति की ओर कवि आकृष्ट है वह प्रकृति कैसी है?

स्पष्ट है कि आज का कवि जिस प्रकृति से परिचित होगा वह उससे भिन्न होगी जो आरण्यक कवियों की परिचित रही। यह नहीं कि वन-प्रदेश आज नहीं है, या झरने नहीं बहते, या मृग-छौने चौकड़ी नहीं भरते, या ताल-सरोवरों में पक्षी किलोलें नहीं करते। पर आज के कस्बों और शहरों में रहने वाले कवि के लिए ये सब चित्र अपवाद-रूप ही हैं। केवल इन्हीं का चित्रण करने वाला लेखक एक प्रकार का पलायनवादी ही ठहरेगा—क्योंकि वह अपने अनुभूत के मुख्यांश की उपेक्षा में एक अप्रधान अंश को तूल दे रहा होगा। इतना ही नहीं, अनेकों के लिए तो गाँव-देहात के दृश्य भी इनकी अपेक्षा कुछ ही कम अपरिचित होंगे, और उन्हें 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है!' जैसे वर्णन न केवल काव्य की दृष्टि से घटिया लगेंगे बल्कि उनकी अनुभूति भी चेष्टित और अयथार्थ लगेगी। भारत का कृषि-प्रधानत्व अब भी मिटा नहीं है और इसलिए यह प्राय: असम्भव है कि किसी भारतीय कवि ने खेत देखे ही न हों, पर 'खेत देखे हुए' होने और 'देहाती प्रकृति का अनुभव रखने' में अन्तर वैसा नगण्य नहीं है।

अनुभव-सत्यता पर—व्यक्तिगत अनुभूति के खरेपन पर जो आग्रह छायावाद ने आरम्भ किया था—काव्य के परम्परागत अभिप्रायों और ऐतिहासिक पौराणिक वृत्त को ही अपना विषय न मान कर, अनुभूति-प्रत्यक्ष और अन्तश्चेतन-संकेतित को सामने लाना छायावादी विद्रोह का एक रूप रहा—यह नयी कविता में भी वर्तमान है। पर कृतिकारत्व जब समाज के किसी विशिष्ट सुविधा-सम्पन्न अंग तक सीमित नहीं रहा है, तब यह सच्चाई का आग्रह ही कवि के क्षेत्र को मर्यादित भी करता है। जिस गिरि-वन-निर्झर के सौन्दर्य को संस्कृत का कवि किसी भी प्रदेश में मूर्त कर सकता था, उसे यथार्थ में प्रतिष्ठित करने के लिए आज कवि पहले आपको मसूरी की सैर पर ले जाता है या नैनीताल की झील पर, या कश्मीर या दार्जिलिंग; जिस ग्राम-सुषमा का वर्णन खड़ी बोली के कवि इस शती के आरम्भ में भी इतने सहज भाव से करते थे, उसे सामने लाने से पहले कवि अपने प्रदेश अथवा अंचल की सीमा-रेखा निर्धारित करने को बाध्य होता है—क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक अंचल का ग्राम जीवन विशिष्ट है और एक का अनुभव दूसरे को परखने की कसौटी नहीं देता—और यही कारण है कि नयी कविता के प्रकृति-वर्णन में ऐसे दृश्यों का वर्णन अधिक होने लगा है जो किसी हद तक प्रादेशिकता से पूरे हो सकते हैं—जो प्रकृति-क्षेत्र की 'आत्यन्तिक' घटनाएँ हैं—सूर्योदय, सूर्यास्त, बरसात की घटा, आँधी...इतना ही नहीं, उसमें गोचर अनुभवों का विपर्यय भी अधिक होता है।

यथा, 'दृश्य' को 'मूर्त' करने के लिए वह जो अनुभूति 'चित्र' हमारे सम्मुख लाता है। उसका आधार दृष्टि (अथवा घ्राण) न हाकर स्पर्श हो जाता है—अर्थात् वह 'दृश्य' रहता ही नहीं। वसन्त के वर्णन में फूलों-कोपलों का 'स्पष्ट और स्फुट ब्यौरा' देने चलते ही एक प्रदेश अथवा क्षेत्र के साथ बँध जाना पड़ता, और यही बात गन्धों की चर्चा से होती; पर वसन्त को यदि केवल धूप की स्निग्ध गरमाई के आधार पर ही अनुभूति-प्रत्यक्ष किया जा सके तो प्रादेशिक सीमा-रेखाएँ क्यों खींची जाएँ?

निःसन्देह अति कर जाने पर यही प्रवृत्ति स्वयं अपनी शत्रु हो जा सकती है और अनुभूति-सत्यता तथा व्यापकता का द्विमुख आग्रह फिर ऐसी स्थिति ला सकता है जिसमें कविता यन्त्रवत् कुशलता के साथ बने-बनाये अभिप्रायों का निरूपण, रक्त-माँस-हीन बिम्बों और प्रतीकों का सृजन हो जाए। प्रतीक ही नहीं, बिम्ब भी कितनी जल्दी प्रभावहीन, निष्प्राण अभिप्राय-भर हो जाते हैं, समकालीन साहित्य में नागफनी, कैक्टस और गुलमोहर की छीछालेदर इसका शिक्षाप्रद उदाहरण है? पर अभी तो खतरा अधिकतर सैद्धान्तिक है, और अभी नयी कविता के सम्मुख अपने को अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाने के प्रयत्न के लिए काफ़ी खुला क्षेत्र है। बल्कि अभी तो व्यापक प्रतीकों की इस खोज की और अल्पसंख्य कवि ही प्रवृत्त हुए हैं, और प्रामाणिकता का आग्रह आँचलिक, प्रादेशिक अथवा पारिवेशिक प्रवृत्तियों में ही प्रतिफलित हो रहा है।

नयी काव्य प्रवृत्तियों को सामने रख कर एक अर्थ में कहा जा सकता है कि प्रकृति-काव्य अब वास्तव में है ही नहीं। एक विशिष्ट अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि छायावाद का प्रकृति-काव्य अपनी सीमाओं के बावजूद अन्तिम प्रकृति-काव्य था; यदि छायावादी काव्य मर गया है तो उसके साथ ही प्रकृति-काव्य की अन्त्येष्टि भी हो चुकी है। किन्तु ऊपर के निरूपण से यह स्पष्ट होना चाहिए कि ऐसा एक विशिष्ट अर्थ में ही कहा जा सकता है; और यह विशेषता नये प्रकृति-काव्य का शील-निरूपण करने में सहायक होती है।

छायावाद के लिए 'प्रकृति' मानवेतर यथार्थ का पर्याय नहीं थी, मानव के साथ मानव-निर्मिति को छोड़कर शेष जगत भी उसकी प्रकृति नहीं था। बल्कि इस शेष में जो सुन्दर था, जो सौष्ठव-सम्पन्न था, जो 'रूप'-सम्पन्न था, वही उसका लक्ष्य था। शास्त्रीय (क्लासिकल) दृष्टि में प्रकृति की हर क्रिया और गति-विधि एक व्यापक नियम अथवा ऋतु की साक्षी है; छायावाद की दृष्टि ऋतु की अमान्य नहीं करती थी, पर उसका आग्रह रूप-सौष्ठव पर था। नयी कविता के रूप का आग्रह कम नहीं है, पर उसने सौष्ठव वाले पक्ष को छोड़ दिया है, तद्वत्ता पर ही वह बल देती है। 'व्यवस्थित संसार' के स्थान में 'सुन्दर संसार' की प्रतिष्ठा हुई थी; अब उसके स्थान में 'तद्वत संसार' ही सामने रखा जाता है। इतना ही नहीं, मानव-

निर्मिति को भी उससे अलग नहीं किया जाता—क्योंकि ऐसी असम्पृक्त प्रकृति अब दीखती ही कहाँ है!

इस प्रकार प्रकृति-वर्णन का वृत्त कालिदास के समय से पूरा घूम गया है। कालिदास 'प्रकृति के चौखटे में मानवी भावनाओं का चित्रण' करते थे; आज का कवि 'समकालीन मानवीय संवेदना के चौखटे में प्रकृति' को बैठाता है। और, क्योंकि समकालीन मानवीय संवदेना बहुत दूर तक विज्ञान की आधुनिक प्रवृत्ति से मर्यादित हुई है, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि आज का कवि प्रकृति को विज्ञान की अधुनातन अवस्था के चौखटे में भी बैठाता है। ऋतु का स्थान वैज्ञानिक शोध ने ले लिया है। किन्तु ऋतु सनातन और आत्यन्तिक था, वैज्ञानिक शोध के दिङ्मान बदलते हैं.. फलत: 'प्रकृति का सान्निध्य' नये कवि को पहले का-सा आश्वस्त भाव नहीं देता, उसकी आस्थाओं को पुष्ट नहीं करता—इसके लिए वह नये प्रतीकों की खोज करता है। पर प्रतीकों की रचना के—उनकी अर्थवत्ता के विकास और ह्रास के—अन्वेषण का क्षेत्र, चेतन और अवचेतन के सम्बन्धों का क्षेत्र है; जो जोखम-भरा भी है और केवल प्रकृति-काव्य के रूप परिवर्तन के वर्णन के लिए अनिवार्य भी नहीं है, अत: उसमें भटकना असामयिक होगा।

किन्तु प्रस्तुत संकलन-ग्रन्थ के प्रणयन की मूल प्रेरणा को ध्यान में रखते हुए कदाचित् इतना कहना उचित होगा कि यदि इस विशेष अर्थ में छायावाद वस्तुत: अन्तिम प्रकृति-काव्य था, तो सुमित्रानन्दन पन्त स्वभावत: युग-कवि रहे। अथवा—ऐसा श्लेष इस प्रसंग में क्षन्तव्य हो तो—यह कहा जाए कि पन्त और 'निराला प्रकृति-काव्य के अन्तिम युग के युग-कवि रहे। हमारे सौभाग्य से दोनों ही कवि हमारे मध्य में रहे हैं, यद्यपि छायावाद का युग बीत चुका माना जाता है। किन्तु युग-कवि का युग को अतिक्रान्त करना ही स्वाभाविक है। सुमित्रानन्दन पन्त की अद्यतन रचनाएँ उन प्रकृतियों के प्रतिकूल नहीं हैं जिनकी हम उनकी रचनाओं से परवर्ती काल के लिए उद्‌भावना करते, यह उनकी दृष्टि के खरेपन का ही प्रमाण है।

ललित निबन्ध

(व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध)

ताली तो छूट गयी

क्या आपके साथ कभी ऐसा हुआ है कि आप शहर घूम-घामकर घर लौटे हों और तब आपको याद आया हो कि चाबियों का गुच्छा तो आप कहीं और छोड़ आये हैं? सवाल प्रतीकात्मक ही है, क्योंकि उसका रूप यह भी हो सकता है कि घर केवल एक कमरा रहा हो और चाबियों का गुच्छा केवल एक ताली, और कहीं और छोड़ आने की बजाय आपने उसे कमरे के भीतर ही छोड़ दिया हो क्योंकि कमरे का ताला उस जाति का है जिसे बन्द करने के लिए ताली की जरूरत नहीं पड़ती, वह दबा देने से ही बन्द हो जाता है।

सवाल यों भी सांकेतिक है कि वास्तव में आपसे पूछ ही नहीं रहा हूँ, वास्तव में तो स्वीकार ही कर रहा हूँ क्योंकि मेरे साथ कई बार ऐसा हुआ है। और तथ्य को स्वीकार करने के साथ-साथ यह भी संकेत कर रहा हूँ कि अपने से जुड़े तथ्य को मैं किसी व्यापकतर सन्दर्भ के साथ जोड़ देना चाह रहा हूँ। क्या तालों के साथ कुंजियों का जो सम्बन्ध है, उसका एक पक्ष यह भी है कि कुंजियाँ जब-तब खो जाया करें और हम तालों के समक्ष असहाय खड़े रह जाया करें? अब देखिए न, प्रश्न को इस रूप में रखते ही उसके कितने प्रतीकात्मक विस्तारों की गूँज सुनाई देने लगी! क्या हम किसी स्थूल वास्तविक ताले-चाबी की बात कर रहे हैं, या उन सभी बौद्धिक प्रश्नों की जिज्ञासाओं की जिनके आगे हम अक्सर निरुत्तर रह जाया करते हैं? या उन मानसिक ग्रान्थियों-गुत्थियों की जिनको सुलझाने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं।

बल्कि अब ग्रन्थियों-गुत्थियों की बात करते ही प्रश्न का एक और विस्तार सामने आ गया : मनोविश्लेषणवादियों के लिए तो ताले और चाबी के सम्बन्ध के आयाम दूसरे ही हैं। उनको तो इसमें बड़ा गहरा अर्थ दीखता है कि आपसे चाबी अक्सर खो जाती है और आप ताले के सामने अपने को असहाय पाते हैं। बल्कि वे तो यथार्थ की बात से छलाँग लगाकर तुरन्त स्वप्न-लोक में पहुँच जाएँगे—अपने स्वप्न-लोक में नहीं, आपके स्वप्न-लोक में! क्या आपको ताले-चाबी के भी स्वप्न दीखते हैं? क्या स्वप्न में ऐसा भी होता है कि आप अँधेरे में टटोल रहे हैं और आपको ताले का सूराख नहीं मिलता? या कि जो चाबी आपने निकाली है वह उस

ताले में फिट नहीं बैठती! और ऐसे स्वप्न के साथ आपको क्या घबड़ाहट का भी बोध होता है? ...ताले-चाबी की बात करते-करते मनोविश्लेषणवादी चाबी से लगी जंजीर के सहारे आपको खींचते-खींचते व्यंजनाओं के किस दलदल में ले जाएँगे—कुछ पूछिए मत!

उमर ख़ैयाम तो एक तरह से बड़े भाग्यवान थे कि उनका जन्म (जन्म ही नहीं, उनकी मृत्यु भी!) फ्रायड से बहुत पहले हो गयी—इतनी पहले कि बीच में फिट्ज़ैराल्ड को ख़ैयाम की रुबाइयों का एक स्वतन्त्र और कल्पनाशील अनुवाद कर डालने का भी समय मिल गया। अनुवाद तो और भी बहुत से हुए—लेकिन ये सारे अनुवाद ख़ैयाम की रुबाइयात के नहीं, फिट्ज़ैराल्ड के अँग्रेज़ी 'रुबाइयात-ए-उमर खैयाम' के रहे। हिन्दी में ही तीन-तीन महाकवियों ने अँग्रेज़ी रुबाइयात के अनुवाद कर डाले और दो-तीन पंडितों ने भी—और हमने तो सुना है कि दो-एक संस्कृत पंडितों ने भी उसके संस्कृत अनुवाद कर डाले हैं! ये सारे अनुवाद यों तो फ्रायड की प्रसिद्धि के बाद ही हुए; लेकिन अनुवाद होने के नाते किसी अनुवादक को इस बात को लेकिन चिन्ता नहीं हुई कि ताले और चाबी की बात से बढ़ते-बढ़ते क्या-क्या अनुमान लगाये जा सकते हैं, क्या-क्या ध्वनित किया जा सकता है! अनुमान जो होंगे ख़ैयाम के बारे में होंगे, अनुवादकों के बारे में क्यों होने लगे? वे तो एक दिन हुए पाठ को लेकर ही चल रहे हैं।

ख़ैयाम ने तो सहज भाव से लिख दिया : 'एक द्वार था जिसकी कोई चाबी मुझे नहीं मिली, एक रहा था जिसके पार मुझे कुछ नहीं दीखा।' लेकिन जहाँ तक द्वार का सवाल है, हिन्दी के कवि को तो 'आँगन के पार द्वार मिले द्वार के पार आँगन' और उस प्रकार वह भवन की चिन्ता करने से ही मुक्त हो गया—यों भी अपने ओर-छोरों के बीच भवन तो कहीं खो ही गया था और उसमें सीधे जाकर द्वार के प्रतिहारी को 'बार-बार पालागन' कहकर अपनी सुरक्षा की व्यवस्था कर ली। अब कह लीजिए कि अपनी सुरक्षा की व्यवस्था कर लेना हिन्दी कवि बल्कि हिन्दी समाज के स्वभाव में ही है और इसके लिए वह सबकी पा-लगी को ही स्वस्थ उपाय मानता है। द्वारपाल से धोक देना शुरू किया तो हर देहरी पर धोक देता हुआ सीधे भीतर के भी भीतरतम तक पहुँच गया—मन्दिर हो तो गर्भगृह में विराजमान देवता तक और राजमहल हो तो अन्तःपुर में विराजमान राज-व्यष्टि तक। वह व्यष्टि राजा हो तो और रानी हो तो; उसे कोई फ़र्क़ पड़नेवाला नहीं है—वह तो अब सुरक्षा की परिधि में आ गया है और एक बार फिर कार्निश करके एक तरफ़ खड़ा हो जाएगा। हिन्दी समाज का यह स्वभाव न होता तो क्या आज हिन्दी प्रदेश की राजनीति का वह रूप हमें देखने को मिलता तो आज प्रत्यक्ष है?

धत् तेरे की! यह भी हिन्दी समाज का स्वभाव है कि बात चाहे कहीं से शुरू

हो, आकर टिकती है राजनीति पर! राजनीति वह चाबी है जो हर ताले में फिट हो जाती है। लेकिन नहीं, हम राजनीति की बात नहीं करेंगे। हमारा प्रयोजन उस चाबी से नहीं है जो हर ताले में फिट बैठ जाए (भले ही ताले को खोले नहीं, फिट बैठकर इत्मीनान से बेरोकटोक उसके अन्दर घूमती रहे), हमारा प्रयोजन तो उस ताले से है जिसमें कोई चाबी फिट नहीं बैठती।

देयर वाज़ ए डोर टु व्हिच आइ फाउंड नो की

हमें लगता है कि ख़ैयाम ठीक रास्ते पर था। ख़ैयाम राजनीतिक नहीं था (मनोविश्लेषण भी नहीं था); ख़ैयाम कवि था। और कवि ही उस ताले का सामना कर सकता है जिसकी चाबी उसके पास नहीं है और अनातंकित भाव से उस ताले के पीछे बन्द द्वार को और उस द्वार के पीछे के बन्द संसार को अपनी कल्पना के आगे मूर्त्त कर सकता है, कल्पना के भेदक प्रकाश से उजागर करके देख सकता है।

और यह उस अनातंकित भाव से ही होता है कि ताले भी केवल परिस्थिति का एक तथ्य-भर रह जाते हैं, वास्तविक अवरोध नहीं—वे कवि की गति में बाधा नहीं डाल सकते। ताले भी हैं, दीवार भी हैं, परकोटे भी हैं—पर कवि की गति इनसे अवरुद्ध नहीं होती क्योंकि कवि तो पहले ही इन सबके पार भीतर के उस गुहा-प्रदेश में है जिसे 'देवानां पूरयोध्या' कहा गया है—द्रष्टा कवि के द्वारा ही कहा गया है, क्योंकि वही तो उसे बाहर से स्पष्ट देखता हुआ उसके भीतर भी पहुँचा रहता है। ताले-कुंजी की बात उसके लिए महत्त्व की नहीं रहती, बल्कि दीवारों की भी नहीं रहती! असल में तो वह भीतर-बाहर के इस भेद की कृत्रिमता को ही उघाड़ देता है। वही दिखाता है कि कोई वास्तविक भेद नहीं है, हम परिभाषा की ही एक दीवार खड़ी कर देते हैं और वह इसी से और भी दृढ़ हो जाती है कि वह अदृश्य होती है। भाषा यों तो मानव की मुक्ति का श्रेष्ठ उपकरण है, पर वही दीवारें खड़ी करने का अद्वितीय सामर्थ्य भी रखती है जो इससे और भी बढ़ जाता है कि ये दीवारें अदृश्य होती हैं। अदृश्य होती हैं लेकिन पारदर्शी नहीं होतीं, दृष्टि को काटतीं नहीं मानो वापस मोड़ देती हैं। इसी में तो उनकी शक्ति होती है; हमारी दीठ अवरुद्ध नहीं होती, हम देखते तो रहते हैं पर दीवार के पार नहीं देखते, लौटकर फिर अपनी ही ओर देखते रह जाते हैं। ठीक वैसे ही, जैसे कभी-कभी अनजाने मुकुर में झाँकने से हो जाता हे, जब हमें पता नहीं होता कि वहाँ मुकुर है। भाषा भी तब दीवार बनती है जब वह अदृश्य मुकुर की तरह हो जाती है।

और कवि को हम 'वाक्सिद्ध' अथवा स्रष्टा तभी कहते हैं जब वह मुकुर में दीखते हुए प्रतिबिम्बों को नकारे बिना हठात् हमें उसके पार का समूचा परिदृश्य भी दिखा देता है। जब कुंजियाँ अनावश्यक हो गयी होती हैं क्योंकि ताले की सत्त्वरहित हो चुके होते हैं।

भीतर और बाहर। बिना सोचे-समझे हमने मान लिया होता है कि भीतर अर्थात् छोटा, सूक्ष्म; और बाहर अर्थात् बड़ा, विराट। यह भी उस अदृश्य भाषा-मुकुर का ही चमत्कार होता है। नहीं तो हमें भीतर झाँककर ही तो विराट दीखता है। क्या यही बात परम भागवत कवि ने हमें नहीं बतायी थी जब उसने मिट्टी खाने वाले बालगोपाल के छोटे-से गोल मुँह में माता यशोदा को एकाएक विराट विश्वरूप के दर्शन करा दिए थे! वह बाल-मुख इसीलिए तो भगवान का मुख है कि वह प्रतिबिम्ब-दर्शन मुकुर नहीं है, स्वयं साक्षात सच्चिन्मय बिम्ब है—स्वयंसिद्ध और स्वत:प्रकाश सत्ता? और उसी प्रकार हम बाहर देखते हैं, तो बाहर के नाम पर मिलता है ब्यौरा, और भी महीन ब्यौरा... क्या यह बात कुछ अर्थ नहीं रखती कि आज का चित्रकार जो लगातार बड़े-से-बड़ा चित्र बनाने में लगा है, उसमें ब्यौरा कुछ भी नहीं देता—देना नहीं चाहता या दे नहीं पाता? आकार बड़े-से-बड़ा, पर ब्यौरा कम-से-कम, आकृतियाँ कम, रेखाएँ कम, सीमा-सन्दर्भ कम... और उधर पुराना चित्रकार जो बहुत छोटे पैमाने पर काम करता था उसी में अधिक-से-अधिक ब्यौरा दे देता था—पेड़ हो तो एक-एक पत्ती, पत्ती का एक-एक रेश; शबीह हो तो चेहरे की एक-एक झाँई, एक-एक सलवट, लट का एक-एक बाल, दुपट्टे-घघरे की गोट के एक-एक तारक-फूल की एक-एक पंखुरी... एक तरफ गागर में सागर भरता है, दूसरी तरफ़ सागर में गागर को ऊब-डूब करने की जगह नहीं है : क्या चित्रकार भी अपने ढंग से उसी बात को संकेतित नहीं कर रहा जिसे कवि इतने विशद ढंग से कहता है—कि भीतर की अपनी नि:सीमता है, बाहर की अपनी संवलितता : कि ये नाम केवल बात करने की सुविधा के लिए हैं, उनकी आत्यन्तिक सत्ता नहीं है...

'बात करने की सुविधा'—अर्थात् ताले की कुंजी। पर वही कुंजी जिसके साथ ताला खुले ही, ऐसा कोई दावा नहीं है; ताला अपनी जगह रह जाए, पर हम कमरे से बाहर छूट गये होने के असमंजस से छुटकारा पा जाएँ। अब सोचिए—'छुटकारा पाना' तो ताले का खुलना है : पर 'छूट गये होने से छुटकारा'—वह क्या होता है? ताले से बाहर रह गये होने की कैद से मुक्ति?

तार्किक एक युक्ति पर हमें हँसा देता है ; कवि वहीं पर हमें टोक देता है कि जिस बात पर हम हँस दिये हैं वह तो एक गहरी सचाई है। युक्ति तो केवल भाषायी सौष्ठव का एक अंग है, एक वेश है; सचाई तो उसके भीतर वेष्टित है। कवि तो हमेशा सोचता है कि उसका घर ताले-कुंजी से ही क्यों, द्वार-दीवार की झंझट से भी मुक्त होगा—तभी तो वह घर होगा

बे-दरो-दीवार-सा इक घर बनाना चाहिए

अब अगर दरो-दीवार के बगैर भी घर हो सकता है—और होता है, यह हमारे

कवि हमें सनातन काल से बताते आये हैं—तो प्रश्न उठता है कि जब दरो-दीवार, ताले-कुंजी सब होते हैं तब घर क्यों उनके भीतर कैद होता है? क्योंकि अगर दरो-दीवार ही घर हैं तब तो इनके बिना घर बचता ही नहीं : और अगर फिर भी बचता है तो ये उसे रचते नहीं, केवल रूपायित कर देते हैं, सीमा द्वारा परिभाषित कर देते हैं—परिसमित कर देते हैं। और दरो-दीवार हटा देने पर भी जो घर बच रहता है, उसके सन्दर्भ में बाहर और भीतर का कोई भेद रहता ही नहीं—वह बाहर भी है और भीतर भी. बाहर के भीतर है और भीतर के बाहर भी... बिहारी के बरवै की भोली नायिका जब कहती है :

लै के सुघर खुरपिया पिय के साथ
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ

तब जिस छतरिया की बात वह कह रही है, खुरपिया के सहारे उसे केवल ढँक लेने की बात ही वह सोच रही है, छतरिया गढ़ने की नहीं। छतरिया तो पहले से है, और क्योंकि पहले से है इसीलिए 'बरसत पाथ' से उसे बचाने के लिए उसे छवाने की जरूरत है—छतरिया को बचाने के लिए, उसमें सुरक्षित 'पिय के साथ' को भी बचाये रखने के लिए। और क्या यह बातने की कोई आवश्यकता है कि पिय का यह साथ एकान्त निजी भी है, निभृत भी, सूक्ष्म भी—और विराट विश्वव्यापी भी?

शायद यही बात मूर्तिकार रोदैं ने पत्थर की लीक पर लिख देनी चाही थी जब उसने दो हाथ—एक पुरुष का, एक नारी का—ऐसे गढ़े थे मानो किसी रहस्यमय प्रकाश को—और प्यार के प्रत्यय से बड़ा रहस्य और कौन-सा होगा जो एक साथ ही गोपनतम भी होता है, प्रकाश-दीप्त भी?—ओट दे रहे हों, और इस रचना को नाम दिया था 'कैथिड्रल'! सचमुच दो प्रेममय हाथों के बीच का वह सुरक्षित सूक्ष्म अन्तराल ही तो वह बे-दरो-दीवार घर है जो देव-मन्दिर है। (रोदें ने ऐसे ही दो हाथों की एक और अनगढ़ प्रतिमा गढ़ी जिसे उसने नाम दिया 'दि सीक्रेट'—रहस्य। हाँ, यही तो और यहीं तो रहस्य है!) और यही तो उसका ताला है कि उसका न द्वार है, न दीवार, न भीतर, न बाहर—और यही उस ताले की कुंजी है। क्योंकि असल में तो वहाँ ताले-कुंजी का भी कोई सरोकार नहीं है। सुरक्षा अथवा असुरक्षा, दुराव अथवा प्रतीति का बोझ जहाँ से मिलता हैं वह तो अधिकरण ही दूसरा है। उस बोझ की आधार-भित्ति तो प्रेम है—प्रेम जो प्रीतम का घर है, 'खाला का घर नाँहि।' और उस घर में जिसे जाना है, वह ताले-कुंजी को तो घर में छोड़ता ही है, घर फूँक देता है और बीच-बजार कबिग के साथ हो लेता है।

मरुथल की सीपियाँ

शायद संसार के सभी देशों में ऐसा लोक-विश्वास है कि सीपी को कान से लगाकर सुनें तो उसमें सागर का स्वर सुना जा सकता है। बहरहाल मैंने अपने बचपन में यह बात अलग-अलग प्रदेशों में सुनी थी और फिर कुछ विदेशी पुस्तकों में पढ़ी भी थी। मुझे याद है कि तभी से अनेकों बार सीपी कान से लगाकर सागर का स्वर सुनने का यत्न किया था। कौतूहल इसलिए और भी अधिक था कि तब तक सागर देखा नहीं था : चित्र ही देखे थे; और तब क्योंकि बोलती फिल्म का आविष्कार भी नहीं हुआ था इसलिए चलचित्र के साथ भी सागर का असली स्वर सुनने को नहीं मिला था, संगीत के द्वारा ही उसका आभास प्रस्तुत किया जाता था। 'आभास' भी उसे क्यों कहें, अनुकृति भी वह नहीं थी; कह सकते हैं कि उसका एक सांगीतिक ध्वनि-रूपक चलचित्र के साथ प्रक्षेपित किया जाता था...

यों तो जिन सीपियों में सुनने का यत्न किया था वे भी अधिकतर नदी-ताल-पोखरों की सीपियाँ होती थीं—उन दिनों ताल-पोखरों के आस-पास कीच-कादों में भी काफ़ी बड़ी-बड़ी सीपियाँ मिल जाती थीं—बालक का कान ढँक लें इतनी बड़ी—और इसीलिए जब किसी अँग्रेज़ी परी-कथा में नायिका के लिए सीपी की उपमा दी गयी पढ़ी थी तब एकाएक चमत्कृत-सा हुआ था कि, हाँ, सचमुच सुन्दर कान सीपी-जैसे ही होते होंगे... कभी-कभी अचानक प्रकाश के स्रोत के आगे आ गये चेहरे में कान जैसे लाल जगमगा उठते हैं यह लक्ष्य किया था; उसी तरह सीपी उठाकर सूर्य के सामने रखकर पाया था कि वह भीतर से आलोकित हो उठती है—पतले कान-सी ठीक अगिया-लाल तो नहीं, पर फिर भी एक आकाशी नीली आभा लिये ललाई दशती हुई...अब तो सारे ताल-पोखरों का जल इतना प्रदूषित हो गया है कि बड़ी सीपियाँ तो क्या, छोटी-छोटी सीपियों के टुकड़े भी उनके आस-पास नहीं मिलते; और पहले सीपियों के अलावा जो अनेक प्रकार के घोंघे, गोल, चपटे, लम्बे या सींगिया शंख आदि भी मिल जाते थे उनकी तो बात ही क्या... हो सकता है कि पूर्वोत्तर उत्तर प्रदेश के बड़े नदों केआस-पास अब भी मिल जाते हों—बाकी देश में तो कहीं उनका नामोनिशान नहीं दीखता, और शायद यह वृत्तान्त पढ़कर आज के शक्की-मिजाज नौजवान तो यह समझेंगे कि यों ही बघार रहा हूँ। पर उन दिनों तो

सचमुच कभी-कभी सीपियों के बदले शंख या घोंघे का भी छिद्र कान से सटाकर सागर का स्वर सुनने का यत्न किया करते थे। और अब भी उनमें वही शब्द सुनने को मिल जाता था तो उत्कृष्ट आह्लाद के साथ एक औचित्य का आश्वासन भी अनुभव होता था—ठीक तो है, पानी से जितना घना सम्बन्ध सीपी का है उतना ही शंख और घोंघों का, तब क्यों नहीं उनमें से भी उसी तरह सागर सुनाई देगा?

यों तो कुछ वर्षों के बाद मैं भी उसी वय में पहुँचा जो शक्की-मिजाज नौजवानों की होती है। अपनी सन्देह-बुद्धि को मैंने वैज्ञानिक जिज्ञासु भाव के साथ जोड़ने की कोशिश की हो वह अलग बात है। (शायद सब नहीं तो अनेक दूसरे नौजवान भी वैसी कोशिश करते होंगे!) तब प्रयोग करके यह भी देखा कि बाहर हो रहा कोई दूसरा शब्द भी सीपी-घोंघे में से सुनाई देता है; उसकी भीतरी खोखली गोलाई अवश्य उसे कुछ ऐसे एक स्वर का रूप दे देती है जिससे सागर का स्मरण हो आए। बिजली के बड़े पंखे का स्वर भी सीपी की ओट से सागर की पछाड़ के एकस्वर जैसा ही तो लगता है... फिर तो यह भी समझ में आया कि बाहर सम्पूर्ण नि:स्वन भी हो तो भी उस छोटे गूँजघर में जो अनुगूँज सुनाई देती है वह सागर की नहीं, अपने ही रक्त-प्रवाह के सूक्ष्म स्वर की अनुगूँज होती है—उस प्रवाह को हम यों नहीं सुन पाते पर कान पर ढँकी हुई सीपी एक ध्वनिविस्तारक गूँजघर का काम देती है और इसलिए जो स्वर बाहर से पूरी तरह अश्रव्य होता है वह भीतर से एक मन्द्र-गम्भीर घोष की तरह बज उठता है।

मन्द्र-गम्भीर घोष-भीतर से सुना हुआ घोष! यह कई वर्षों बाद एकाएक समझ में आया कि उसे सुनना—और यों सुनना—भी तो एक सागर को सुनना ही है—उस सुदूर सागर को नहीं जो केवल एक विक्षुब्ध तोयनिधि है, उस अनन्त आभ्यन्तर विस्तार को जो सत्ता का एक अवशेष सागर है, वह सागर जिसके साथ फिर यह भीतर-बाहर का भेद भी अर्थहीन हो जाता है, जिसके साथ सीपी के गूँजघर का भी यही रिश्ता होता है कि वह भीतर को बाहर तक गुँजा देती है...

जब यह समझ में आया तो मन में यह भाव भी उठा कि सागर को प्रत्यक्ष देखकर जो हम घंटों उसे देखते ही रह सकते हैं, उस सम्मोहन का एक कारण क्या यह भी नहीं है कि सागर भी चेतन अथवा अवचेतन रूप से सत्ता के महाम्बुधि का एक रूपक बन जाता है? पर तब क्या उस अनाद्यन्त सत्ता का एक ही रूपक है—क्या हमारी सर्जक कल्पना इतनी पंगु है कि और रूपक भी हम नहीं गढ़ सके या आविष्कृत कर सके?—क्योंकि इस स्तर पर फिर रूपक निरी गढ़न्त नहीं रहते, भीतर कहीं एक उन्मेष होता है, एक कौंध-सी एक बिम्ब सामने उजला जाती है और उसके साथ फिर एक सादृश्य-सम्बन्ध भी उद्घाटित हो जाता है। यह नहीं कि सभी रूपक ऐसे होते हैं, कि सादृश्यों के सहारे हम रूपकों को कभी गढ़ते नहीं, या कि हमारा उद्देश्य कभी चमत्कार पैदा करना, दूसरों को चमत्कृत करना नहीं होता।

निश्चय ही अधिकतर तो रूपक हमारे रूपकल्पी मानस की ही उपज होते हैं। पर कुछ निश्चय ही ऐसे होते हैं जहाँ यह प्रक्रिया उलट जाती है : वहाँ हम चमत्कृत करते नहीं, होते हैं; सादृश्यों के सहारे बिम्ब तक नहीं जाते बल्कि बिम्ब ही हमें अपनी कौंध से ठगा-सा छोड़ जाता है और सादृश्यों की पहचान ही हम बाद में बुद्धि-व्यापार के सहारे पाते हैं... वहाँ जो रूपकल्पी सर्जना क्रियाशील होती है वह हमारी अकेले की नहीं, एक लोकव्यापी सर्जन का तेज लिए होती है जिसके लिए हमारी चित्त केवल एक भंडार घर है। वह रूप रचता है और इस भंडारे में रख जाता है : हम जब-तब उसे पाते हैं और प्रसन्न होते हैं कि हमने कुछ खोज निकाला!

और यह बोध मेरे मन में उठा तो कभी सागर के किनारे बैठे उसके सम्मोहन में खोये-खोये नहीं, बल्कि एक बार मरुथल की रात में टहलते हुए एकाएक... रात सुन्दर थी, तारों-भरी तो नहीं थी, पर कुछ तारे अवश्य थे क्योंकि दशमी का चाँद भी कुछ उलटा-सा झूल रहा था। सन्नाटा भरपूर था, बत्तियाँ भी कहीं नहीं दिखाई देती थीं क्योंकि एक तो बस्ती भी पास कहीं नहीं थी, दूसरे वे 'दियाबाती ठप्' के संकटकालीन दिन भी थे, जब लोग दिन छिपते-न-छिपते घरों में घुसकर मानो अन्धकार के प्रस्तार में अपने अस्तित्व का प्रसार लय कर देते थे... तो ऐसे में ही, एकाएक ही, मैंने जाना कि यह मरुथल भी तो उसी अस्तित्व के महासागर का एक रूपक है—उतना ही समर्थ रूपक जितना कि जलनिधि... चमत्कृत होने के लम्बे क्षण ने जब धीरे-धीरे मुझे अपने चंगुल से मुक्त किया, तब फिर सादृश्यों की लहरें मन में उमड़ने लगीं। मरु रेती में हवा से आँकी हुई लहरों के कई चित्र आँखों के आगे से दौड़ गये; हवा से लगातार लहर की तरह बदलते हुए रूप भी—क्या मरु भी उतना ही उद्वेलित नहीं होता जितना समुद्र! और जब होता है तब क्या वह भी उतना ही रूपकल्पक, रूप-स्रष्टा नहीं हो जाता जितना समुद्र? मरुथलों में कुछ-कुछ घंटों में बदल गये रूप मैंने देखे हैं—रेत की लहरें ही नहीं, रेत के ढूह और ढूहों के समूह जो एक जगह से हटकर दूसरी जगह जा जमे हैं—जैसे डाँगरों का एक झुंड एक जगह से उठकर दूसरी जगह जा बैठा हो... नलिनविलोचन जी ने रेत के ढूहों की तुलना बैठी बिल्लियों के साथ की थी—जहाँ तक सादृश्य की बात है वह संगत है, पर आकार-भेद के कारण एक कठिनाई उठ खड़ी होती है। मरुदेश में इतने बड़े-बड़े ढूह रातों-रात स्थानान्तरित होकर नया परिदृश्य बना जाते हैं कि उसे पहाड़ियों का विचलन कहना अधिक संगत होगा।

तो सत्ता के अनन्त विस्तार का ही एक रूपक मरुथल भी हो सकता है जैसे कि सागर : और शायद इसीलिए मरुथल ने उस विस्तार के अपने दार्शनिक पैदा किये हैं जो आरण्यक ऋषियों से किसी तरह कम नहीं रहे होंगे। और यदि उन ऋषियों के हरे भरे समृद्ध गृही जीवन के कारण इस तुलना को स्वीकार करने में कुछ कठिनायी

होती हो तो मुनिजनों से तो उनकी तुलना की ही जा सकती है—मुनि तो वे सब थे भी और प्राय: मरुवत मौन रहने के भी अभ्यासी थे—वह उनकी साधना या तपस्या का एक रूप था। जैसे बिना दिग्दर्शक यन्त्रों के, केवल सहज ज्ञान के बल पर मरु पार कर लिया जाता है, वैसे ही ये मरुवासी मुनि सहज ज्ञान के सहारे सत्ता के महामरु को भी पार कर लेने की साधना करते थे : वह सरलतम जीवन और वह चरम सहजता ही उनका साध्य थी। यहाँ फिर एक रूपक का ही सहारा था—और इस बिन्दु पर विचार करके देखें तो जिसे हम 'रूपक' कहते हैं उसके यूनानी नाम का व्युत्पत्त्यर्थ ही था, 'जो पार ले जाये'— और पार भी ऊपर के किसी सेतु से नहीं, जो नीचे से हाँ पार करा दे! यानी मेटाफ़ोर एक प्रकार का तीर्थ ही है— वे भी तो तिरकर पार हो जाने के स्थल ही होते हैं— 'उतारे' ही होते हैं?

मरुस्थल के विचित्र अनुभवों में एक मरुथलीय सीपी पाने का अनुभव भी है— एक सीपी ही नहीं बल्कि एक ढोंका जिसमें एक साथ बीसियों सीपियाँ और शंख शिथिल रूप में दीख रहे थे। जीववैज्ञानिकों ने बताया कि ये जीवाश्म या कि शिलित जीव अथवा जीव-गेह इस बात का प्रमाण है कि मरुथल भी लाखों बरस पहले एक सागर था : चाहे जिन भी कारणों से वह सूख गया और उसमें पलनेवाले जल-जीव सब जमकर पत्थर होते कीचड़ के दबाव से शिलित हो गये—तभी तो अभी पपड़ीले पत्थर की तहों में ये शिलित शंख और सीप मिलते हैं—और कभी-कभी उनके साथ शिलित सिवार या अन्य उद्भिज भी...यह तो रूपक का घनीकृत रूप हो गया। सागर, जो पहला रूपक था सूख गया और मरु बना; मरु जो दूसरे चरण का रूपक था अब हमें ये जीवाश्म और शिलित उद्भिज दे रहा है जो रूपकीकरण की तीसरी सीढ़ी हैं : प्रत्येक शिलित उद्भिज में कैसे वह 'होने का सागर' एक ज्वार-सा उमड़कर सब ओर घेर लेता है। ऐसे में तो सीपी को कान से लगाने की भी जरूरत नहीं रहती : एकाएक अस्तित्व के सागर के 'प्लुत एकस्वर' से हम घिर जाते हैं।

मरुदेश में मिली शिलित सीपी को भी मैंने कुछ कौतुक के भाव से कान को लगाकर देखा था : क्या इसमें भी सागर का स्वर सुना जा सकेगा? कौन-से सागर का? मरु-सागर का स्वर, जिसके शिलित कर्दम में वह शिलित सीपी पायी गयी? या कि उस बिला गये जल-समुद्र का जिसकी वह सीपी थी, जिसकी तरंगोर्मियों के साथ कभी वह सलील तिरी-उतरायी थी—उतरायी-इतरायी थी? क्या मरु स्वयमेव एक शिलित समुद्र नहीं है? या कि उसे समुद्र कहने-कहने में हमारा रूपक भी शिलित हो गया है? हमारी सारी भाषा ही तो अधिकांशत: शिलित रूपकों का समूह होती है : कवि-स्रष्टा लगातार 'होने के सागर' में डुबकियाँ लगाकर नये-नये शंख और सीपियाँ और मोती तक खोजकर लाता है, हम चमत्कृत भी होते हैं, पर हमारे चमत्कृत होते-न-होते वे शंख-सीपियाँ-मोती सब शिलित हो गये होते हैं :

अनुभव का वह सागर ही शिलित हो गया है जिसमें कवि ने डुबकी लगायी थी। तब वह यह सारी शिलित सम्पत्ति हमारी ओर फेंककर फिर अपने शोध-कर्म में दत्तचित्त होता हे, अस्ति के सागर की नयी साहस-यात्रा पर निकल पड़ता है। और उसके फेंके हुए वे सारे शिलित रूपक हमारी सामान्य भाषा की पूँजी बनकर जाते हैं। उसके नये काव्य-आविष्कार की प्रतीक्षा करते हुए भी हम पाते हैं कि हमारा विचार-भंडार समृद्धतर हो गया है, हमारी सम्प्रेक्षण-क्षमता बढ़ गयी है, हमारे संवाद में नयी गहराई है और मानव-मात्र के आपसी सम्बन्धों की एक नयी पहचान हमें एक-दूसरे के निकटतर ले आयी है। पुराण-कथा का लोभी राजा माइडास जो कुछ छूता था वह सोना हो जाता था—निष्प्राण और अन्ततः अप्रयोज्य सोना; पर कवि हमें जो कुछ दे जाता है वह पहले ही पत्थर होता और हम उसे अपनाते हैं तो लोभी-भाव से नहीं, इसलिए कि वे सारे पत्थर हमारे लिए रत्नों का ही काम देते हैं न सही श्रेष्ठ और अमूल्य रत्नों का, दूसरे दर्जे के 'नीम-दामी' रत्नों का काम ही सही—पर उन्हीं के सहारे हम सब 'पत्थरों के सौदागर' बनते जाते हैं, हमारा व्यापार भी बढ़ता जाता है और हमारी साख भी... हमारे पत्थर 'परस-मणि' तो नहीं होते—उस मणि की खोज में तो हमारा कवि गया ही होता है और हम उसकी लम्बी प्रतीक्षा में रहते ही हैं—और यह सारा व्यापार भी एक रूपक ही है, लेकिन समझने की बात यह है कि यह रूपक भी स्वयं शिलित होता हुआ हमें शिलित होने से बचाता रहता है। वही असल में इस रूपक-रचना की प्रक्रिया का असली रहस्य है : यह प्रक्रिया एक जीवित, स्पन्दयुक्त प्रणाली है जिसमें से लगातार वह रस प्रवहमान रहता हे जो हमें अस्ति के महासागर से जोड़े रहता है। नहीं तो उसके शिलित होने के साथ हमारी सारी सर्जनशीलता भी शिलित हो जाती—हम स्वयं ही शिलित हो जाते। शीत-निद्रा में पशुओं का रक्त ठंडा हो जाता है, जमता भी है; पर यह जमकर हिममय होना शिलित होना नहीं है। ऐसी शीतनिद्रा पर्याय (आह, यह भी एक रूपक है!) हमारे जीवन में भी होता है : समाज भी शीतनिद्रा में डूबते हैं, संस्कृतियाँ भी शीतनिद्रा लेती हैं—पर यह तो एक प्रकार का कायाकल्प होता है, पुनरुज्जीवन होता है, शिलित होना नही होता! शीतनिद्रा के बाद हिमालयी रीछ और गिलहरी नयी स्फूर्ति के साथ क्रियाशील होते हैं; शिलित हो गयी सीपी दोबारा कभी उस सागर का स्वर नहीं सुनेगी जिसके साथ उसकी सम्बन्ध-प्रणाली भी शिलित हो गयी है जैसे कि वह सागर भी मरु में शिलित हो चुका है... हम चाहे उस सीपी के सहारे अस्ति के उस महासागर का स्वर सुन लें जिसके रूपक सागर और मरु हैं; पर हम भी वैसा कर पाते हैं तो इसीलिए कि रूपक-रचना की हमारी प्रणाली अभी जीवन्त और स्पन्दयुक्त है...

जापान में रूपक-रचना की एक स्वतन्त्र पद्धति है जो कला के रूप में

विकसित हुई है। शिलित रूपकों द्वारा भाषा की अभिवृद्धि की बात हमने की, पर जापान की रूपकल्पी प्रतिभा शायद भाषिक अभिव्यक्ति को इतना महत्त्व नहीं दती रही। हो सकता है इसका कारण बौद्ध जैन (ध्यान) परम्परा में रहा हो : 'तथता' की खोज सहज ही भाषा को एक तरफ़ हटा देती है और अन्तर्दीप्त मौन का सहारा लेती है। यह भी हो सकता है कि जैन परम्परा में इसका मूल न रहा हो, जैन ने केवल उस जड़ को सींचा हो जो उससे पहले ताओ की दीक्षा के साथ जम चुकी थी। जो हो, जापान ने भाषिक रूपक की अपेक्षा दृश्य रूपकों को ही अधिक महत्त्व दिया। यों जापानी भाषा की अपनी विशेषता है कि यह निर्विकल्प अर्थ की नहीं, अर्थ-श्रेणियों अथवा अर्थ-धाराओं की साधना करती है। जापानी भाषा में स्पष्ट और दो-टूक बात कहना बहुत कठिन है क्योंकि वह कभी वांछित या साध्य रहा ही नहीं : अर्थध्वनियों, प्रतिध्वनियों और मूर्च्छनाओं की सृष्टि और सम्प्रेषकता में ही उसने अपनी शक्ति मानी है। इस प्रकार रूपक वहाँ भी है तो, और वह अनेक-स्तरीय भी होता है; पर उनकी अनेक-स्तरीयता में वैसी शक्ति नहीं होती जो पुराण के प्रतीकों अथवा अभिप्रायों की, मिथकीय कथन की अनेकायामिता में होती है। मिथकीय उक्ति की शक्ति इसमें होती है कि वह अनेक आयामों में अर्थ-सम्प्रेषण करती है; किसी भी आयाम में वह अर्थ आवृत्त तो हो सकता है, पर धुँधला या सन्दिग्ध नहीं होता। पर जापानी संस्कार को वह धुँधलका पसन्द है जो वहाँ के प्राकृतिक परिवेश का भी सहज अंग है : बात की हल्की व्यंजनाएँ कई स्तरों पर हों पर कोई एक स्पष्ट या प्रधान या अभिधेय अर्थ न पाया जा सके—उसके लिए यह उसकी चारुता का प्रमाण है। मन्दिर नहीं दीखता, घनी धुन्ध में उसकी घंटा-ध्वनि का सुन पड़ना भी सन्दिग्ध हो जाता है—क्या हम सचमुच सुन रहे हैं या कि सुनने का आभास ही वहाँ है? जापानी का तो ऐसा सुनना ही श्रेष्ठ सुनना है : इसमें देखना ही सुनना हो गया है, और सुनना ही देखना।

पर हम भाषा की गौणता जताते-जताते इस बात को इतना तूल दे गये। कहना यह चाहते थे कि जापानी संस्कार दृश्य रूपक को अधिक महत्त्व देता है : और उसका शायद सबसे विलक्षण उदाहरण उसके सागर के रूपक हैं। क्योतो के एक मठ का पत्थर-कंकड़ों से बना हुआ सागर-दृश्य जगद्विख्यात है : पत्थर के ढाँकों के द्वारा प्रतीकित द्वीप और पर्वत, छोटे टुकड़ों के द्वारा प्रतीकित समुद्र और तरंग और फेनोर्मियाँ : एक शिला-निर्मित, शिलीभूत सागर के द्वारा अस्तित्व के महासागर का रूपक प्रस्तुत किया जाता है और उसे बदलकर फिर से रूपायित कर सकने में कितने साधकों की कितनी ऊर्जा व्यय होती है! ऊर्जा तो स्वाभवत: एक अस्थिर, चंचल, गतिशील, लहरिल प्रवाह है : उसे यों साधकर एक निश्चल रूप दे देना भी बड़ी साधना है—बड़ी कला-साधना भी है, जीवनानुशासन तो है ही। पर अन्ततोगत्वा तो

उसकी पहुँच भी एक रूपक तक ही है : साधक कलाकार एक रूपक ही तो रच पाता है। और वह रचना भी एक सचेत कर्म हे, 'चेष्टित' कहकर हम उसे घटिया स्तर पर न भी लाना चाहें तो भी। पर सागर और मरुथल तो ऐसे सचेत कलाकर्मी नहीं हैं। वे तो रूप-स्रष्टा हैं, अधीर और अनाशुतुष्ट स्रष्टा हैं, तभी तो रचने के साथ मिटाते भी चलते हैं! सागर के साथ तो यह भी पता नहीं चलता कि कौन-सा 'बनना' है और कौन-सा मिटना— सारी प्रक्रिया ही इतनी द्रव और त्वरायुक्त होती है! हाँ, मरुथल की कलासृष्टियाँ तो मिटने से पहले पहचान में भी आ जाती हैं; तभी लगता है कि उसकी रूप-चेतना सागर की अपेक्षा प्रबलतर है—वह तो मरु में भटककर प्राण गँवा देनेवाले जीवन-जन्तुओं की सूखी हड्डियों को भी कुछ रेत से ढँक और कुछ उघाड़कर ठीक-ठिकाने जमा कर एक सन्तुलित कलाकृतियों का रूप दे देता है! फिर जल्दी ही वह उसे बदल भी देता है, पर तब तक हम उसे पहचान चुके होते हैं, उसका रूपकार्थ पा चुके होते हैं—चाहे वह रूपकार्थ हमारा ही होता हे, मरुथल का नहीं, क्योंकि वह तो उसे तब तक मिटा चुका होता है, रद्दी कर चुका होता है!

सीपी में सागर का स्वर सुनाई देता है, हाँ, और हमारा सारा जीवन ही तो एक सीपी है, सात्विक, सत्य, रंगों भरी सीपी, जिसके द्वारा हम सागर का नहीं, सागरों के स्वर सुन पाते हैं—जो सागर हममें मिलकर एक हो जाते हैं। उनका हममें मिलना, हमारे द्वारा उस मिलन का पहचाना जाना ही शायद हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि होती है—इतनी बड़ी कि इस रूपक को थोड़ा और बढ़ाकर हम कह सकते हैं कि वह हमें हो जाती है तो हमने सीपी में सागर ही नहीं सुन लिये होते, हमने उसमें मोती भी पा लिया होता है।

छाया का जंगल

यायावरी यात्राओं के सुखों में एक सुख तो यह है ही कि निकलें किसी चीज़ की खोज में और मिल जाये कोई बिलकुल दूसरी ही चीज़। लेकन जीवन-भर यायावरी करते रहकर भी उस कल्पनातीत आविष्कार के लिए मैं तैयार नहीं था जो इस बार राम जानकी यात्रा के दौरान अकस्मात हुआ। यह तो जानता था कि रामायण के चरित्रों से सम्बद्ध जिन स्थलों की खोज में निकला हूँ उनके ऐसे अवशेष तो क्या ही मिल सकते हैं जिन्हें 'ऐतिहासिक' कहा जाए; और यह भी जानता था कि ऐसे बहुत से स्थल मिल जाएँगे जिनका रामायण से कोई वास्तविक सम्बन्ध रहा हो या न रहा हो, लेकिन उन्हें देखकर एकाएक यह मानने को जी होने लगे कि कुछ सम्बन्ध ज़रूर रहा होगा! खासकर नेपाल तराई के जंगली और नदी-नालों भरे प्रदेश में से गुज़रते हुए तो मन ऐसा हो गया था कि किसी भी स्थल से जुड़ी किसी असुर की, गन्धर्व की, अप्सरा की, किरात अथवा नागकन्या की गाथा सुनकर एकाएक यह प्रतिक्रिया न होती कि यह सब मनगढ़न्त है, ऐसा वास्तव में हुआ नहीं होगा, केवल आदिम मानव की कच्ची कल्पना ने ये क़िस्से गढ़े होंगे। निश्चय ही स्थलों का अपना जादू होता है। ठोस व्यावहारिक आदमी भी ऐसे स्थलों पर पहुँचकर पाता है कि उसकी कल्पना चेत उठी है। फिर उसे अपनी संस्कृति के पुराण की ही बातें क्यों, दूसरी संस्कृतियों के पुराण भी सच्चे जान पड़ने लगते हैं—उनके भी वन-देवता और लता-बालाएँ और नदी-अप्सराएँ देखते देखते उसके आगे रूप लेने लगती हैं।

वाल्मीकि नगर में ठहरे हुए हम लोग जंगल में वे सब स्थल देख रहे थे जो हमें 'वाल्मीकि आश्रम' के नाम से दिखाये गये थे। उन्हें देखकर वही दोहरी प्रतिक्रिया हुई थी—एक तरफ तो यह कि दिखाये गये सारे अवशेष बहुत पुराने होंगे तो पूर्व-मध्य-काल के होंगे, उससे ज्यादा पुराने नहीं हो सकते; दूसरी तरफ़ उतनी ही प्रबल यह प्रतीति कि ये स्थल तो निश्चय ही ऐसे हैं कि यहाँ कभी ऋषि का आश्रम रहा हो। न सही ये ही प्रस्तर-खंड और भग्नावशेष—पर स्थलों की अपनी भी तो रहस्यवेष्टित ऊर्जा होती है, जिसके कारण बार-बार उन्हीं स्थलों पर फिर दूसरे आश्रम और तीर्थ और मन्दिर बनते हैं...अपने दल के साथ इस प्रस्तावित

वाल्मीकि आश्रम की सैर करके मन-ही-मन तय किया कि अगले दिन बड़े सवेरे अकेले निकलकर आएँगे और हो सका तो मनोयोग करके अपने को उन ऊर्जा स्रोतों से जोड़ेंगे। मन में कहीं ऐसा विश्वास तो था ही (और अब भी है) कि ऐसे किसी स्थल पर से गुजरूँगा तो जरूर उसकी ऊर्जा-रेखाओं के जाल—में प्रवेश करने का बोध मुझे हो जाएगा...

अगले दिन बड़े सवेरे अकेले ही फिर उधर को निकल आया। कुछ कोहरा था, सूर्योदय अभी नहीं हुआ था, लेकिन भोर का प्रकाश कोहरे को ही एक निरन्तर बदलते हुए रहस्यमय छायाचित्र का रूप दे रहा था, बल्कि रह-रहकर मुझे सन्देह हो आता था कि कहीं मैं भटक तो नहीं गया हूँ? अपने जाने तो उसी परिचित रास्ते से आया था, पर सब कुछ नया ही जान पड़ रहा था।

कैमरा भी मैं साथ लाया था, लेकिन यह तो समझ में आ ही गया था कि अगर कोहरा ऐसा ही रहा तो फोटो लेने का कोई सवाल ही नहीं होगा। बल्कि चित्रकार होता तो कोहरे में जब-तब दीख जानेवाली आकृतियों का जापानी ढंग का चित्र तो बना भी ले सकता। कैमरे से वह भी सम्भव नहीं है। कहने को तो फोटोग्राफ भी काले और उजले, प्रकाश और छाया के अंकन का नाम है, पर कलाकार की आँखें जो देखती है वह कैमरा नहीं देख सकता। क्योंकि आँख तो प्रकाश और छाया का खेल देखती हे, एक जीवन्त और गतिमान लीला, जबकि कैमरा केवल एक स्थिति का आकलन करता है।

एक बार मैंने कैमरा उठाकर उसके भीतर से झाँका भी, जानते हुए कि व्यर्थ का काम कर रहा हूँ। लेकिन फिर उसे झूलने देकर तेज कदमों से कोहरे की ओर बढ़ा।

कोहरे को मैंने पा लिया और सब ओर से उससे घिकर जब जाना कि अब मुझे वह रास्ता भी नहीं दीख रहा है जिससे मैं वहाँ तक आया हूँ तब मन-ही-मन प्रसन्न भी हुआ। मानो अपने को ही मैंने जंगल की तरफ़ से कहा, "अब बोलो, बच्चू, अब तो पूरी तरह जंगल और कोहरे के काबू में हो—हो कि नहीं? कोहरा उठेगा तब किसी तरफ को निकल जाओगे, लेकिन अभी तो मेरे काबू में हो और जो मैं मनवाऊँगा तुम्हें मानना होगा।"

यों तो मेरी मन:स्थित ऐसी थी कि बिना धमकी के भी जो मनवाया जाता मान लेता, लेकिन जब चुनौती दी ही गयी तो कुछ कहना या कि करना ज़रूरी हो गया। मैं फिर तेजी से किसी एक तरफ़ को लपका—जैसे कि यों कहीं पार निकल ही आऊँगा।

झरे पत्तों को रौदता हुआ और कहीं-कहीं ठोकर खाता हुआ मैं सौ-डेढ़ सौ कदम चला हूँगा कि सामने अनगढ़ पत्थरों का एक ढेर पाकर अटक गया। पहले तो

सोचा कि अगल-बगल देखूँ कि ढेर कितना बड़ा है और इसके पास से निकल जाने का रास्ता है कि नहीं। फिर इरादा बदलकर ढेर के एक बड़े पत्थर पर बैठ गया आखिर थोड़ी देर में तो सूरज निकलेगा ही, कोहरा कुछ हटेगा तब आगे की देखी जाएगी।

थोड़ी ही देर बाद रोशनी भी कुछ बढ़ी और कोहरा भी नीचे से कुछ उठा। मैंने सोचा था कि कोहरा धूप के कारण ऊपर से गलना शुरू करेगा। लेकिन हुआ उलटा—झरे हुए पत्तों की नमी से वह नीचे से कुछ गला और मुझे मानो धुनी हुई रूई की एक बड़ी दीवार में जहाँ-तहाँ सेंध-सी दीखी। मैंने अनुमान किया कि उसमें कहीं बँसवट है। बाँसों का इतना बड़ा जंगल होगा तो कहीं आसपास वन-जातियों में से किसी का कोई गाँव भी होगा। ठीक है, यहीं बैठे-बैठे सूर्योदय की प्रतीक्षा की जाए...

धुनी हुई रूई के पहाड़ में जो सुरंगें मुझे दीखी थीं उनमें से एक के परले सिरे पर एकाएक रोशनी बढ़ गयी, जैसे कि सूर्य की पहली किरण वहाँ झरी; और उसमें मुझे एक छोटी मानव-आकृति दीखी। यहाँ की वन-जातियों में कुछ बौने कद के भी होते हैं। लेकिन इतने छोटे? पुकारूँ? नहीं। मैंने पास से एक कंकड़ उठाकर फिर पत्थर पर गिरा दिया। शब्द से चौंककर वह आकृति वहीं ठिठकी। फिर उसने मुझे देख, दो कदम उस सुरंग के भीतर बढ़कर उसने अटपटी भाषा में मुझसे कहा, "इदर जाएगा नईं, ई छाया का जंगल। तुमारा छाया छीन लेगा।" वह आकृति फिर दो कदम पीछे हटी और सुरंग के मुँह से एक तरफ़ होकर अदृश्य हो गयी।

छाया का जंगल। छाया छीन लेगा। यानी?

ठीक क्या आशय उसका रहा होगा, यह जानने का कोई उपाय नहीं था, लेकिन बचपन में (कब?) सुनी या पढ़ी परी-कथाओं की याद आने लगी। ऐसा तो कभी नहीं सुना था कि छायाओं का कोई जंगल होता होगा जिसमें छाया छिन जाती होगी, लेकिन ऐसे लोकों की बात ज़रूर पढ़ी-सुनी थी जिसमें छायाएँ ही बसती हैं, जिनमें जन्मान्तर माननवाली जातियों की मरणोत्तर किसी लोक की कल्पना इसी तरह रूपायित हो सकती होगी। और, हाँ, ऐसा भी तो कहीं पढ़ा या सुना था कि छाया ग्रस लेती है। छायाग्रासिनी— राहु की माता सिंहिका का नाम भी तो छायाग्रासिनी बताया गया है... लेकिन उसका चाक्षुष आधार तो स्पष्ट है। वह तो छाया को ग्रसने की बात नहीं, छाया के द्वारा ग्रसने की बात है। किसी की छाया पड़ जाती है, छाया ही कुछ ग्रस लेती है—यह थोड़े ही कि छाया को ही ग्रस अथवा छीन लिया जाता है! यों तो सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण भी (वैज्ञानिक दृष्टि से भी) छायाग्रास ही हैं; चन्द्रमा अथवा पृथ्वी की छाया सूर्य अथवा चन्द्रमा को ग्रस लेती है। स्वयं छाया ही ग्रसी जाए, छाया छिन जाए, यह तो आधुनिक कल्पना ही जान

पड़ती है—'छायारहित आदमी'—छाया न रहने के कारण अधूरे या दुर्बल या या वेध्य—कल्पना तो यह भी पौराणिक कोटि की ही है, लेकिन हो सकती है शायद आधुनिक मानव की ही। आधुनिक पुराण—वाह! यह विरोधाभास गले से नहीं उतरता। तभी तो ऐसी स्थिति में पड़कर इधर लोग 'मिथक' की बात करने लगे हैं! मिथक-ग्रीक का मिथ भी और अपना मिथ्या भी—और मैधा का थकना भी!

मैं वहीं बैठकर कोहरे के और विरल होने की प्रतीक्षा करने लगा। धीरे-धीरे बँसवट के आकार भी स्पष्ट होने लगे, पर दीखा कि घने झुरमुट के बीच दो-तीन सुरंगें-सी हैं जो शायद आने-जाने के रास्ते का काम देती होंगी। इन्हीं में से एक के आगे एक रोशनी का वृक्ष दीखता था जहाँ शायद बाँसों के बीच आकाश की ओर खुली जगह भी होगी।

कोहरा उठने के साथ-साथ मेरा शरीर भी अलसाने लगा था और मेरे विचारों की दौड़ भी अनजाने कुछ धीमी; लेकिन साथ ही मधुरतर होती गयी थी—जैसे कि धूप की एक किरण मेरे मन की ओर भी भटक आयी हो। मैंने कैमरा अपने पास चट्टान पर रख दिया और अधखुली आँखों में बँसवट के भीतर प्रकाश की आँख मिचौनी देखने लगा।

'छाया छीन ली जाती है।' नया मनोविज्ञान कहता है कि चित्त के दो पक्ष होते हैं, जिनमें से एक छाया पक्ष है। तो छाया का छिन जाना चेतना का ही पंगु हो जाना है। छाया नहीं रहती तो धीरे-धीरे सूखकर मर जाते हैं। क्या यह चेतना के ही जड़ हो जाने का ही रूपक है? लेकिन क्या छाया के छिन जाने के शाप से निस्तार कोई नहीं है? होना ही चाहिए... छाया आखिर छाया-पक्ष ही तो है—उत्तर पक्ष; तो पूर्व पक्ष भी तो होगा ही! कोई सत्ता पहले होनी चाहिए जिसकी छाया भी होती है। छाया छिन जाती है या ग्रस ली जाती है तो सत्ता तो बनी रहेगी। और सत्ता पंगु होकर भी जरूर किसी-न-किसी उपाय से अपना स्वास्थ्य फिर पा सकती होगी—अपने को समग्र कर ले सकती होगी। मेरी आस्तिकता ही सही— मेरे लिए तो सत्ता की परिभाषा में ही यह निहित है कि वह आत्ममृत है, अपनी अंग-क्षति को भी स्वयं पूर सकती होगी।

छाया। या याहें कहें कि छाया है तो सत्ता ही नहीं, एक सूर्य भी है। अगर हम छाया की ओर ही न मुड़े रहें, घूमकर उस प्रकाश-स्रोत की ओर देखें, सूर्य को खोजें तो शायद बात समझ में आ जाएगी। छाया का छिन जाना सूर्य का ही ओट हो जाना है। और इस रोग का इलाज छाया की खोज में नहीं, सूर्य के संस्पर्श में है।

क्या 'छाया का जंगल' ही तब हमें कहना है? क्या यही असल में जंगल नहीं है कि हम छाया की खोज में उस आलोक-पुंज से विमुख हो जाएँ जो असली प्राण-स्रोत है?

हर पौराणिक अभिप्राय का एक रूपक होता है। यह रूपक मानो एक बड़े सत्य का मुखौटा है। मुखौटे की ओट हम उस सत्य को देख लेते हैं, अपलक उसकी ओर ताक सकते हैं, नहीं तो उसकी चौंध हमें अन्धा कर दे। यहाँ रूपक क्या है? वह छिपा हुआ सत्य क्या है?

एक तो प्रेम है जो सूर्य है—उसके घाम में जीना एक आलौकित जीवन है—और उससे एक असन्दिग्ध छाया भी पड़ती है। जो प्रेममय है उसकी यह छाया ही उसी के समक्ष उसके अस्तित्व का प्रमाण देती है। नहीं तो वह शायद एकान्त रूप से आत्म-विस्मृत हो जाए। उसकी छाया ही उसे संज्ञान दिलाती है, बोध कराती है कि वह है। इस प्रकार प्रेममय जीवन का भी अहं है जो उसकी छाया है और जो उसे आत्मचेतन कर देता है।

मुझे लग रहा था कि मैं आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ सोच रहा हूँ। लेकिन मुझे यह भी लग रहा था कि मेरा शरीर ही नहीं, मेरा मन भी अलसाने लगा है, मेरा सोचना बड़ा शिथिल हो गया है। क्या मैं ऊँघ रहा हूँ? लेकिन विचार एक अदृश्य पहाड़ी सोते सरीखे लगातार लेकिन अदृश्य अबाध गति से बहते ही जा रहे थे—क्या और घनी छाया की ओर या कि प्रकाश की ओर?

वह जो बँसवट में दो सुरंगों का सन्धि-स्थल था, वहाँ पर थोड़ा खुला प्रकाश झलकने लगा था। मुझे जान पड़ा कि उसमें एक धुँधली आकृति टहल रही है—इस पार से उस पार, फिर पलटकर उस पार से इधर...क्या यह वही व्यक्ति है जिसने मुझे पहले चेतावनी दी थी, ई छाया का जंगल, इसमें जाएगा नहीं? लेकिन नहीं, यह अत्यन्त जीर्णकाय लड़खड़ाता हुआ व्यक्ति तो कोई दूसरा है। उस धुँधले प्रकाश में उसकी छाया नहीं बनती, लेकिन वही मानो एक छाया-सा डोल रहा है। क्षण-भर के असमंजस के बाद मैंने उसे पुकार ही लिया, "भाई, ओ भाई!"

क्या उसने सुना नहीं या अनसुनी कर दी? एकाएक मुझे लगा कि मेरी आवाज उस तक पहुँच नहीं सकती—या शायद पहुँची नहीं। जैसे मंच पर अभिनेता समाज की प्रतिक्रिया जानता भी है, सुनता भी है, लेकिन क्योंकि अभिनेता होने के नाते एक दूसरे जगत का प्राणी होता है, एक दूसरे समय में जीता है इसलिए छुआ नहीं जा सकता... मुझे लगा कि मैं सचमुच मंच पर ही एक अभिनय देख रहा हूँ—बल्कि देख ही नहीं, किसी अतीन्द्रिय चेतना से सुन भी रहा हूँ, समझ भी रहा हूँ कि मंच पर क्या हो रहा है।

एक दूसरी छाया-आकृति भी एकाएक उस प्रकृत मंच पर प्रकट हो गयी। एक नारी आकृति। पहली छाया ने उसकी ओर उन्मुख होकर और दीन भाव से कहा--कहा मुद्राओं से ही, लेकिन मुझे लगा कि मैं उसकी बात भी और उसमें थरथराती हुई निराशा भी स्पष्ट सुन सकता हूँ—"मेरा अन्त समय आ गया है, मेरा शाप अब

पूरा होनेवाला है। छाया छिन गयी थी और अब मैं मर जाऊँगा, लेकिन मरने से पहले एक बार—अन्तिम बार—मैं उसे देख लेना चाहता था जिसे...।"

मंच पर उसका वाक्य अधूरा रह गया, लेकिन मैंने माना उसका शेषांश भी सुन लिया, "जिसे मैंने प्यार किया था।"

स्त्री आकृति ठिठक गयी थी और उसका हाथ एक विचित्र मुद्रा में बोलने वाले की ओर बढ़ा हुआ था—उस मुद्रा में करुणा भी थी, वात्सल्य भी था और मानो अतृप्ति की एक पुकार भी थी। दूसरी आकृति लड़खड़ाते हुए मानो उसी की परिक्रमा करने का यत्न कर रही थी।

अन्तिम बार...लेकिन उसने क्या कहा था—'अन्तिम बार' या 'अन्तिम प्यार?' पर इस बीच अनदेखे ही उस खुली जगह प्रकाश बढ़ गया था। स्त्री-आकृति ने बिना कुछ कहे दूसरे हाथ से एक ओर इशारा किया। पुरुष ने ठिठककर उधर देखा और कुछ चौंका-सा; उसकेचौंकने के साथ ही मैंने भी देखा—पुरुष कुछ स्पष्ट छाया वहाँ देख रहा था और उसकी ओर स्त्री ने इशारा किया।

प्रकाश थोड़ा और बढ़ गया; छाया और स्पष्ट हो गयी। पुरुष धीरे-धीरे सीधा खड़ा हुआ, मानो प्रकाश की झरन ने उसके भीतर नयी शक्ति भर दी है, और फिर उसकी देह एक नयी लय में डोलने लगी। मैंने पहचाना कि यह वहीं की वन जाति के एक युगल नृत्य की विलम्बित लय है।

नारी के पैर भी थिरक उठे। धुँधलके में मुझे लगा था कि उसके पैरों में मोटे कड़े हैं, लेकिन अब मुझे घुँघरू का स्वर सुनाई दिया। दोनों आकृतियों के बढ़े हुए हाथ मिले और बढ़ते हुए प्रकाश में दोनों उसकी मन्द्र लय पर नाचते हुए सुरंग के भीतर की ओर ओझल हो गये। मैंने जाना कि उस व्यक्ति का शाप अब फलेगा नहीं, वह जिएगा—उसके प्यार का प्रकाश उसे एक स्पष्ट छाया भी देता रहेगा।

"हम जो बोला तुम देखा?"

यही वह स्वर है जिसने पहले मुझे जंगल में बढ़ने से रोका था। लेकिन अबकी बार वह स्वर दूसरी तरफ से आया था—मेरे पीछे बिलकुल निकट से। मैं मुड़ा तो वह वनवासी बूढ़ा मेरी ओर ताकता हुआ मुस्करा रहा था। मैंने अपने स्वर को कुछ रोबीला बनाते हुए कहा, "ऐसी अधूरी बात से नहीं चलेगा। हमको पूरी बात समझाओ।"

उसने कहा, "तुमने अभी देखा, और क्या समझेगा?"

स्पष्ट था कि उस पर कोई रौब नहीं पड़ा है और वह मानो जानता है कि मैंने अभी कुछ क्षण पहले क्या देखा था। मैंने फिर विनय से कहा, "जो मैंने देखा वह सब तो तुमको मालूम है। उसी को तो समझाने को कह रहा हूँ।"

"समझाने से नहीं समझता। जो समझता ओई समझता।" वह थोड़ी देर चुप

रहा और मैंने भी चुपचाप प्रतीक्षा करना ही उचित समझा। थोड़ी देर बाद जब लक्ष्य किया कि मैं कुछ पूछ नहीं रहा हूँ, लेकिन उत्सुक भाव से एकटक उसकी ओर देख रहा हूँ। तो वह फिर बोलने लगा। जो कुछ उसने मुझे बताया उसका सार यह है कि बँसवट के भीतर उस प्रकृत मंच पर जिन दो व्यक्तियों को मैंने देखा था वे बहुत पहले हुए थे—कई पीढ़ियों पहले। लेकिन वे अभी जीते हैं—वे तो कभी मरेंगे नहीं। उनकी छाया कभी धुँधली हो जाती है लेकिन कभी मिटती नहीं न वे दोनों कभी मरेंगे, न उनका प्रेम कभी मरेगा, न उनकी छाया कभी मिटेगी। वन-जातियों के प्रेमी जन भी कभी-कभी उनको देखने आते हैं। हर किसी को या हमेशा वे नहीं दीखते, लेकिन उनको देखना बहुत शुभ माना जाता है—बहुत बड़ा सौभाग्य होता है। अब भी किसी भी दिन सवेरे सवेरे जब जंगल में कोहरा उठता है तब जगह-जगह घनी छाया के बीच सुनहले प्रकाश के चक्कर दीख जाते हैं—वनवासी लोग जानते हैं कि ये ही वे घेरे हैं जिनके भीतर वह प्रेमी जोड़ा नाचा था। जब तक उस जंगल में सुनहली धूप के ऐसे घेरे बनते रहेंगे, धूप-छाँव की ऐसी आँखमिचौनी होती रहेगी, तब तक वह जोड़ा जिएगा और वहाँ नाचेगा और प्रेमीजन उसी तरह देखने आते रहेंगे।

दूर कहीं से एक बड़ी हल्की-सी कूक मुझे सुनाई दी और मानो हवा के कारण बह गयी। फिर मानो मादल की ढब-ढबाढब ढब सुनाई दी और वह भी उसी तरह हवा के स्वर में लय हो गयी। लेकिन उस बूढ़े की एड़ियाँ मानो उसी अनसुनी लय पर थिरक उठी थीं। मैंने पूछा, "तुम नाचने जाएगा?" उसने खीसें निपोर दीं। थोड़ी देर बार बोला, "सब्बी नाचता।"

मैंने जाना कि वह अब चल देगा, कि यह विदा का क्षण है, लेकिन फिर भी उसे अटकाने की नीयत से मैंने कहा, "लेकिन मैंने तो उस जोड़े को नाचते देखा।" और मैंने बँसवट की ओर इशारा किया।

वह एक उजली किन्तु स्वरहीन हँसी हँसा, फिर बोला, "तो तुम्हारे लिए भी सुभ। तुमारा बाग्य बहुत अच्छा। तुम बी जिएगा।" तनिक रुककर उसने जोड़ा, "तुम बी नाचेगा।" वह वैसी ही हँसी फिर हँसा—उजली, स्वरहीन, कौतुक-भरी, कुछ चिढ़ाती हुई, और मुड़कर इतनी फुर्ती से जंगल में अदृश्य हुआ कि मैं क्षण-भर सोचता ही रह गया कि क्या वह सचमुच वहाँ था भी।

लौटकर ठिकाने पहुँचा तो सहयात्रियों ने कन्धे पर लटका हुआ झोला देखकर पूछा, "लाये कुछ? फोटो के लिए ख़ास कुछ मिला?"

मैंने कहा, "हाँ, मिला तो, लेकिन अभी तो डेवलप होगा तभी नतीजा पता लगेगा। लेकिन जो लाया वह कैमरे में बन्द नहीं है।"

"तब फिर?"

"यहाँ है।" कहकर मैंने एक उँगली से अपने माथे की ओर इशारा किया।

सहयात्रियों ने कुछ ठंडे पड़ते हुए स्वर में कहा, "ओह! कवि की बात। हम तो समझे थे कि कोई बड़ा फोटो लेकर आये होंगे।"

मैंने बात के सिलसिले की परवाह किये बिना एक दूर से आती हुई गूँज दोहरा दी—"तुम बी जिएगा। तुम बी नाचेगा। सब्बी नाचता।"

‘सबरंग और कुछ राग’ से

रचयिता : ‘कुट्टिचातन्’

लेखक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन

राष्ट्र के प्रतीक

उस दिन हम लोगों में गेंदे के फूल को लेकर बड़ी चर्चा हो गयी। बात यों हुई कि उत्तर भारत के एक समाचारपत्र में कुछ दिनों से 'सम्पादक के नाम चिट्ठी-पत्री' वाले स्तम्भ में इस बात को लेकर काफ़ी चखचख होती रही है कि लौकिक गणतन्त्र भारत का प्रतीक अशोक की सिंहत्रयी हो या कि ओडिसा-अमरावती के मदमाते गयन्द। इस 'गज-शार्दूलीय' में रामपुरवा के वृष का भी आ भिड़ना भारतीय पुरातत्त्व से यत्किंचित् परिचय रखने वाले साधारण तर्कजीवी की भी समझ में आ जाएगा। उससे गेंदे के फूल तक की परम्परा निरे तार्किक के लिए उतनी प्रत्यक्ष नहीं भी हो सकती है, लेकिन जो लोग सामाजिक वार्त्तालाप की आभ्यन्तर तर्क-संगति को समझते हैं, उन्हें इस पूर्वापरता की सहज अनिवार्यता देखने में कठिनाई न होनी चाहिए—भले ही फ्रायड के 'स्वच्छन्द विचार संगति' के सिद्धान्त को वे न मानते हों।

कहीं आपको सारी बात हँसी की न मालूम हो, इसलिए प्रश्न को गम्भीरता के साथ आपके सम्मुख रख देना उचित होगा। इस नवीन, जीवित, विकासशील लौकिक गणतन्त्र का प्रतीक एक जड़, एक परिवर्तनहीन पुराखंड क्यों हो—वह भी एक ऐसे स्तम्भ का खंड, जो अपने समय में एकच्छत्र राजत्व का प्रतीक रहा और फिर ये सारी चीज़ें हैं भी तो निरी कलावस्तु और कला की परिभाषा में ही यह बात निहित है कि वह लोकोत्तर आनन्द देती है; एक लौकिक सत्य का प्रतिनिधित्व करे ऐसी चीज़ जिसकी पहली शर्त है उसकी लोकोत्तरता, इस इतने बड़े विरोधाभास को विरोधाभासों का प्रेमी भारत भी कैसे सह सकता है!

इस विरोधाभास वाली बात को आप भारत का अपमान न समझें : यह वास्तव में संसार के सात अचरजों में आठवाँ है। नहीं तो यह कैसे होता कि जिस देश ने 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का आदर्श संसार के सामने रखा, उसी ने जात-पाँत की व्यवस्था भी दी—और ऐसे विकट रूप में कि वह इस्लाम और ईसाइयत पर भी हावी हो जाए? नये ईसाइयों को छूआछूत बरतते देखकर हमने एक बार आश्चर्य प्रकट किया था तो उन्होंने कहा था, "इसाई हो गये तो क्या हुआ, धर्म थोड़े ही छोड़ दिया है?" जिसने कहा 'तत्त्वमसि', 'शिवोहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', उसी ने तैंतीस

कोटि देवता भी गिना दिये?

लेकिन हम धर्म-निरपेक्षता की बात कह रहे थे, उसमें धर्म-सिद्धान्तों की चर्चा कदाचित् युक्ति-संगत न हो। इसलिए एक दूसरे स्तर पर आएँ। हमारा देश सारी दुनिया में अध्यात्मवादी प्रसिद्ध है : आपने नीं देख कि टूरिस्ट अमरीकी नारियाँ जो होती हैं तो बस होती हैं—उनकी मांसलता ऐसी मुखर होती है—कैसे भारतीय चित्र कला में नारी रूप को देखकर आँखें गोल-गोल करके कहती हैं : "ओरिएंटल ब्यूटी सो स्पिरिचुअल", मानो 'स्पिरिचुअल' और 'ओरिएंटल', प्राच्य और आध्यात्मिक, सम्पूर्ण पर्याय हों? और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उपासक इस देश में भी बंगदेश के लोग विशेष रूप से सूक्ष्मतर पैलव सौन्दर्य के पुजारी होते हैं, हम दक्षिणात्यों का सौन्दर्य-बोध तो तर्क-सौन्दर्य तक ही रह जाता है। लेकिन हमारे एक मित्र ने हमें बताया था कि एक बार कमल और कुमुद के सौन्दर्य की तुलना के बारे में विवाद छिड़ने पर उन्होंने कहा था कि वह कुमुद को अधिक सुन्दर मानते हैं (कदाचित् इसलिए कि निशापद्म का सौन्दर्य अधिक आध्यात्मिक होता है?) तो एक बंगाली महाशय ने उसका समर्थन करते हुए कहा था, "हाँ, हाँ, उसकी चच्चड़ी बहुत अच्छी होती है, की शुन्दोर!" इस आध्यात्मिक देश में इस चरम कोटि का उपयोगितावाद कहाँ से आया? इस प्रश्न का और क्या उत्तर हो सकता है सिवा इसके कि 'वहीं से तो—आध्यात्मिकता से ही तो'?

और भी देखिए : सारा संसार फूल के सौन्दर्य की पूजा करता है—फूल सुन्दर है, इससे आगे वह कुछ नहीं माँगता : 'ब्यूटी इज, टूथ, टूथ ब्यूटी, दैट इज ऑल यी नीड टु नो।' लेकिन एक भारतीय है कि पूछता है, निरे रूप से क्या? इस फूल की उपयोगिता क्या है? क्या वह गन्ध देता है? पलाश मधु ऋतु में वनाग्नि की तरह दहक उठता है, और उसी से लोग वसन्तागम पहचानते हैं, लेकिन उससे क्या—वह फूल काम कौन से आता है? 'निर्गन्धा इव किंशुका:'—अरे म्याँ, तुम भी हो निरे टेसू!

और चम्पक बेचारा तो टेसू से भी अभागा है। उसके पास न केवल इतना रूप है कि प्रिया की कोमल अँगुलियों की उपमा उसकी कली से दी जाए, वरन् इतनी गन्ध भी है कि हाथी का हाथी उससे मतियाया डोलता फिरे—लेकिन रूप और गन्ध से भी क्या? उससे किसी मधुप का पेट तो नहीं भरता—"रूप सौरभ-समृद्धि समेत चम्पक प्रति ययुर्न मिलिन्दा:"—थुड़ी है उस सौन्दर्य और गन्ध-मादकता पर, जो एक भौंरे के काम भी न आये!

एक अकेले कालिदास ने कहीं कह दिया था, 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं'—सिवार से घिरा हुआ भी कमल रम्य है, जो मधुर है, उसे मंडन की क्या आवश्यकता? लेकिन एक तो कालिदास की निरंकुशता प्रसिद्ध है, दूसरे उसने भी

'जो सुन्दर है' नहीं, 'जो मधुर है' कहा—'किमिव हि मधुराणाम्'। तो कदाचित् कमल-मधु की भोक्तव्यता की ओर ध्यान था ही—मधु कुस्थान में होकर भी भोग्य है, कदाचित् यही वह कहना चाहता था—(क्योंकि माक्षिक मधु भी आखिर क्या है? मक्खी का थूक!) और हमें यह भी तो स्मरण रखना चाहिए कि कालिदास का दुष्यन्त, 'मंडनंनाकृता' और अपने को पुरुष-दृष्टि से सम्पृक्त न जानकर सहज क्रीड़ा करती हुई शकुन्तला की निर्बन्ध रूपराशि को देखकर भी धन्य अपने को नहीं मानता; मानता है किसे? उस भौंरे को, जो शकुन्तला को सता रहा है : 'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती' —कृती वह, जो उस मांसल सौन्दर्य का उपभोक्ता है, हम तो मुँह देखते ही रह गये!

किस्सा कोताह : बात गेंदे के फूल की हो रही थी। राष्ट्र के प्रतीक पुराणों-काव्यों में से भी नहीं मिलते, और पुराखंडों से तो भला मिल ही क्या सकते हैं। सारनाथ के सिंह या रामपुरवा के वृष की बात न होकर अगर मैसूर के हाथी या बनारस के बिजार की बात होती, तब तो उनकी बात सोची भी जा सकती : हमें तो जमनापारी बकरी या पछाँही भैंस पर भी कोई आपत्ति नहीं। अगर सम्राज्ञी 'राजमहिषी' हो सकती थी, तो जिस अनुपम भैंस ने इस तुलना को जन्म दिया वह स्वयं क्यों नहीं लोकतन्त्र की प्रतीक हो सकती? संस्कृत में कहा है, 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्', और हिन्दी में कहावत है, 'काला अक्षर भैंस बराबर'—तो क्या भैंस ही हमारी परम वेदितव्य नहीं सिद्ध हो जाती? लेकिन बात फूलों की हो रही थी, फूलों में भी गेंदे के फूल की। न मालूम क्या सोचकर कुछ लोगों ने कमल को राष्ट्र-प्रतीक बनाने का प्रस्ताव किया था—उसका तो नाम ही उसे अयोग्य ठहरा देता है, यह निर्णय पाने के लिए किसी चुनाव अदालत के पास जाने की आवश्यकता नहीं है। क-मल, पानी का मैल। पंक-ज—कीचड़ से उत्पन्न। दिन में आठ बार नहाने वालों के देश के प्रतीक का ऐसा भरष्ठ नाम! और गेंदा तो लोक-प्रमाण है। लोक-साहित्य में एक शायद गुड़हल को छोड़कर और कौन फूल गेंदे के आस-पास भी आता है? कालिदास को ताक पर रख दीजिए। यह बताइए कि ग्रामवासी भारत के किस नायक ने प्रिया की कबरी का कमल, किस ग्रामीण ने सैंया के सिर का सिरिस होना चाहा? आत्म-निवेदन की पराकाष्ठा में वह कबरी बन्ध का गुड़हल का फूल होना चाहता है, तो वह सैया की गोदी का गेंदा बनना चाहती है : चम्पक और पाटल, पद्म और पारिजात झख मारते रह जाते हैं।

और लोक-साहित्य परम प्रमाण है। लौकिक आदर्शों के इस युग में इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता है? जो रुढ़िवादी लोग अभी भी आर्ष प्रमाणों के सहारे चलना चाहते हैं, उन्हें भी यह याद करके सन्तोष करना चाहिए कि परम वेदज्ञ यास्क भी इसी मत के थे—वह भी कह गये हैं 'लोक पृच्छ'—प्रमाण के लिए

लोक-साधारण के पास जाओ!

इसलिए हमें तो यह बात विवाद से परे जान पड़ती है कि हमारे राष्ट्र का प्रतीक गेंदे का फूल ही हो सकता है। यों कभी पंजाबिनों को फूली हुई गोभी की तरह गदराये हुए घूमते देखकर यह प्रश्न भी मन में उठा है कि गोभी का—या फिर उतना ही ठोस और उससे भी अधिक मोतबिर केले का फूल क्यों नहीं राष्ट्र-प्रतीक हो सकता? पर गेंदे की सार्वदेशिकता असन्दिग्ध है। और फिर गोभी-केले के फूल तो खाये ही अधिक जाते हैं, उन्हें तरकारियों में गिनना ही समीचीन होगा—और तरकारियों में आलू से अधिक राष्ट्रव्यापी कौन होगा, भले ही उसे इस देश में आये अभी चार सौ वर्ष न हुए हों? तरकारियों में आलू या आलू को विदेशी मान लिया जाए तो बैंगन, फलों में अमरूद—ये भारतीयता के प्रतीक हैं। और फूलों में गेंदा। यह बात फिर से कहने में आवृत्ति दोष नहीं है, आवृत्ति अलंकार है—राष्ट्र-प्रतीकों का बारम्बार स्मरण ही नहीं, जयजयकार होना चाहिए गेंदे की जय! झंडू की जय! जवन्दी पू की जय!

मार्ग-दर्शन

उस दिन लखनऊ जाना हुआ था। एक तो यों ही अजनबी आदमी, दूसरे घूमने का शौक, बार-बार भटक जाता और तब यों ही किसी राह चलते से पूछ बैठता : "क्यों साहब, अमुक स्थान का रास्ता कौन-सा है?" फिर वह 'अमुक' स्थान अमीनाबाद हो, या चौक, या हजरतगंज, इमामबाड़े या केसर बाग, पुरानी रेजिडेंसी या गोमती का पुल या छतरमंजिल... मतलब यह कि अगर मैंने अमीनाबाद का नाम ले ही लिया तो यह नहीं कि मुझे वहीं जाना था, केवल यही कि जो दस-पाँच नाम सुन रखे थे उनमें से एक का होना चाहिए, और हो सके तो ऐसा भी कि जिधर मैं जा रहा हूँ उससे ठीक उलटी दिशा में तो न पड़े।

लेकिन जो बात मुझे कहनी है उसका सम्बन्ध मेरे पूछने से नहीं, बताने वाले के बताने से है। क्योंकि यह जानते हुए भी कि लोगों के मार्ग बताने के तरीके अलग-अलग होते हैं, 'नखलऊ' का तरीका कुछ निराला ही मालूम हुआ। यह तो सुन रखा था कि किसी बंगाली से मार्ग पूछो तो वह प्रश्न सुनने से पहले ही खीझे से स्वर में कह देगा "जानि ना!" और किसी बनारसी (या कि बनरसिये) ये पूछो तो वह ठोड़ी किसी तरफ़ को उठाकर सुरती की पीक सँभालते हुए कह देगा— "इ का है सामने!"—फिर आप 'सामने' का चाहे जो अर्थ लगाते रहिए, और ठोड़ी किधर को उठी थी यह निश्चय करने के लिए चाहे जितने पैंतरे कर लीजिए! पंजाबियों का—विशेषकर लोमश-गोत्रीय पंजाबियों का—बना-बनाया उत्तर प्रसिद्ध ही है कि "जी, मैं तो इस शहर का नहीं हूँ"—फिर चाहे प्रश्न आपने यही पूछा हो कि सूरज किधर निकलता है! एक बार पटने में एक सज्जन से गोलघर का रास्ता पूछा था तो उन्होंने जिस वात्सल्यभरी टान के साथ कहा था "गोलघर जाबै क बाटे नू!" उसे लक्ष्य करके मैं मुग्ध होकर रह गया था—यह सोचकर कि पाटलिपुत्र में सवाल भी ऐसे पूछा जाता है मानो आशीर्वाद दिया जा रहा हो—पर फिर उन सज्जन ने मुझसे अधिक मुग्ध मुद्रा बनाकर बड़ी-बड़ी चकित आँखें मुझपर जमाकर कहा था, "वह तो हम नहिएँ बता सकते हैं", मानो सारा दोष कम्बख़्त गोलघर का ही हो जो रोज न जाने किधर मटरगश्ती करने निकल जाता है!

लेकिन लखनऊ में नफासत नहीं तो कुछ नहीं। जो बताने लगता, बड़े

इतमीनान से और आवाज में माधुर्य भरकर। लेकिन यहाँ से आगे उसे उसी के शब्दों में देना उचित होगा।

वह : "तो आप—जाएँगे? हाँ साहब, तो आप इधर सीधे तशरीफ़ ले जाइए, वह जो दूसरा चौराहा दीखता है न—"

मैं : "हाँ—"

वह : "वही जहाँ वह लाल साइनबोर्ड है, जिस पर लिखा है पं. रोशनलाल दिव्यचक्षु राजज्योतिषी—"

मैं : (कुछ अनिश्चित-सा क्यों कि इतनी दूर से बोर्ड पढ़ना मेरे लिए असम्भव है) "हाँ—"

वह : (मेरे अनिश्चय को लक्ष्य करके) "वहीं एक पानी का कल भी है जिसमें पाँच टोंटियाँ हैं, उसके पास से एक गली दाहिने को मुड़ती है जिसमें थोड़ी दूर पर पीतल के बरतनों की एक दुकान दीखती है—"

मैं : (इस सब ब्यौरे को स्मृति-पटल पर बैठाने की कोशिश करता हुआ) "अच्छा—"

वह : "उधर मत जाइएगा। सीधे आगे चलकर थोड़ी देर बाद एक ढलान शुरू हो जाएगा, जो आगे रेल की पटरी के नीचे से गुजरता है—दो मेहराबों वाला एक पुल है, जिसके नीचे से आने और जाने वाला ट्राफिक अलग-अलग जाता है—पुल से गुजरकर सड़क धीरे-धीर मोड़ लेती है और सिनेमाघर के पास—"

मैं : "कौन-सा सिनेमा घर?"

वह : "अजी वही—निशात (या जो भी नाम रहा हो), लेकिन उधर मत जाइएगा। बल्कि पुल तक भी आपको जाना नहीं होगा, उससे पहले ही एक सड़क बायें को मुड़ जाती है, जिस पर थोड़ी दूर जाकर ताँगों का एक अड्डा मिलता है। वहाँ से तीन रास्ते निकलते हैं। सबसे परला जरा सुनसान-सा दीखता है—"

मैं : (कुछ अधीर, और यह सोचता हुआ कि इतना सब तो मुझे याद नहीं रहेगा, आगे फिर पूछ लूँगा) "अच्छा, मैं समझ गया—"

वह : "उधर मत जाइएगा। जो दूसरा रास्ता—"

लेकिन इतने से आप लखनऊ की विशेषता अवश्य पहचान गये होंगे। अगर मैंने झल्लाकर यह नहीं कह दिया कि : "हाँ साहब, सब समझ गया; जो-जो रास्ता आप बताते जाएँगे वह-वह छोड़ता हुआ मैं चला चलूँगा और इस प्रकार ठीक वहाँ पहुँच जाऊँगा जहाँ कि मुझे पहुँचना नहीं है," तो इसीलिए कि भला किसी लखनऊ वाले को ऐसी रूखी बात कैसे कह दी जा सकती है? जो सुना है गुलाब-जामुन भी छीलकर तश्तरी में पेश करते हैं...

ऐसी स्थिति में लखनऊ में देखा क्या होगा यह तो आप सोच ही सकते हैं, हाँ जिन-जिन सड़कों पर नहीं गया, जिन-जिन मोड़ों पर नहीं मुड़ा, जिन-जिन गलियों

में नहीं घुसा, उनका ब्यौरा आपको काफ़ी विस्तार के साथ सुना सकता हूँ—इतने विस्तार से कि आप जरूर मुझे लखनऊ वाला मान लें (यदि आप स्वयं ही लखनऊ वाले न हों)।

यों लखनऊ के मार्ग बता सकना पर्याप्त नहीं है। बल्कि लखनवी संस्कार का उससे पुष्टतर प्रमाण यह होगा कि दूसरे शहरों के मार्ग भी लखनवी पद्धति से बता सकें। कहावत है कि किसी के मित्र कौन हैं यह पता लगते ही बताया जा सकता है कि वह स्वयं कैसा है : हम तो समझते हैं कि मित्रों से परिचय की भी कोई जरूरत नहीं है। आप एक बार उससे उसके घर का रास्ता पूछ लीजिए : इस प्रश्न के उत्तर में ही उसके सारे संस्कार मुखर हो उठेंगे। और उसके संस्कारों से आप उस सामाजिक परिवृत्त को भी पहचान सकेंगे जिससे वह आया है—यानी उसकी संस्कृति से आपका परिचय हो जाएगा। आप चाहें तो इसे एक नया सिद्धान्त समझ सकते हैं। इस प्रबन्ध को मार्ग-निर्देशन या मार्ग-निदर्शन न कहकर : 'मार्ग-दर्शन' कहने का कारण इसी नये सिद्धान्त का आग्रह है। यों जो लोग शीर्षक में पूरी की पूरी बात कह देने के समर्थक हैं वे इसे 'मार्ग-निदर्शन दर्शन' भी कह सकते हैं; और जो उसे साथ-साथ चमत्कारी रूप भी देना चाहते हैं वे उसे 'दिग्दर्शन दर्शन' भी कह सकते हैं।

संस्कृति देश-काल मर्यादित होती है, यह तो सभी जानते हैं—यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर भी। यद्यपि कहीं आप उनकी बात समझ न लें इसलिए वे इसे कहेंगे कि 'संस्कृति का एक आयाम दैशिक होता है, दूसरा कालिक।' जिस प्रकार हम देश-काल ज्ञान से किसी व्यक्ति के संस्कारों का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के संस्कारों से हम उसके देश-काल को भी पहचान सकते हैं। लखनवी-बनारसी, बिहारी-बंगाली-पंजाबी की पहचान के सूक्ष्म संकेत तो हमने ऊपर दे ही दिये; अपने अनुमान-संधान को काल के आयाम में बढ़ाएँ तो इस दर्शन की उपयोगिता और मौलिकता और भी स्पष्ट हो जाएगी। कोई स्थान संकेत देते हुए कहता है :

पेड़ों के नीचे शुक-शावकों के मुँह से गिरे हुए तृण-धान्य है,
पत्थर इंगुदी फलों के तोड़े जाने से तैलाक्य हो रहे हैं, आश्वस्त भाव से
घूमते हुए मृग शब्द सुनकर भी नहीं चौंकते, जलाशय के पथ पर वल्कल
शिखा से झरी हुई बूँदों से रेखाएँ खिच गयी हैं—

इन संकेतों से यह समझ लेना कठिन नहीं है कि यह ऋषि-उपवन का मार्ग है, और इससे यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई असाधारण बुद्धि नहीं चाहिए कि ऐसे मार्ग-संकेत का काल आश्रम-सभ्यता का काल है।

कुल्याम्भोभि: पवनचपलै: शाखिनो धौतमूला:
भिन्नो राग: किसलयरुचामाज्य धूमोद्गमेन—

पवनालोड़ित कुल्या के जल से वृक्षों के मूल धुले हुए हैं, और यज्ञ-घूम से उनके किसलयों का रंग बदल गया है : इन लक्षणों से हम केवल एक आश्रम की समीपता ही नहीं पहचानते, एक समूचे सांस्कृतिक वायुमंडल का स्पर्श हम पा लेते हैं। और इसीलिए अनन्तर जब हम पाते हैं कि आश्रम छोड़कर जाती हुई शकुन्तला अपनी सखियों को तो कण्व ऋषि को सौंप देती है, किन्तु 'अपसृत-पांडुपत्र-रूपी आँसू बहाने वाली लता से गले मिलती है, क्योंकि वह माधवी लता तो 'लताभगिनी' है, तो हमें आश्चर्य नहीं होता— उस वातावरण में जीव और जीवेतर सभी का संवेदनशील होना ही सम्भाव्य है।'

किन्तु साहित्यिक मार्ग-संकेतों के उदाहरण के बिना भी काल-सापेक्ष्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित हो सकता है। मार्ग-दर्शन के तरीकों में पीढ़ी दर पीढ़ी कैसे परिवर्तन हुए होंगे, यह खोज और कल्पना का बहुत अच्छा विषय हो सकता है। आपका गन्तव्य जो ग्राम है, उसका नाम 'जोगीमारा' न भी हो तो भी अगर आपको 'सीतला की मढ़िया के आगे जो अमराई पड़ती है, उसके किनारे के भुतहे पीपल के आगे से मुड़कर, डायन के टीले की ओट में बसे हुए पुरवे' तक पहुँचने का मार्ग बताया जा रहा है, तो आप सहज ही मान ले सकते हैं कि यह आप आज के किसी अन्धविश्वास-विजड़ित समाज के प्रदेश में नहीं आ गये हैं तो निश्चय ही किसी ऐसे युग में जा पहुँचे हैं जिसमें विज्ञान का स्थान अन्धश्रद्धा और धर्म का स्थान भय अर्थात् अन्धविश्वास को प्राप्त है... और 'राजा का साहसपुर' के पास 'ठाकुर फतेहसिंह की गढ़ी', 'सिंह पीर' और 'हाथी पोल'—ये क्या आपको वीर-सामन्त-काल में नहीं ले जाते?

क्रमशः और इधर आइए। मदरास में आप शहर के एक भाग से दूसरे भाग में जाते हैं तो जिस राजमार्ग से होते हुए जाते हैं उसका नाम है 'गाँधी-अरविन रोड।' गाँधी मार्ग तो देश में अनेक हो गये, दिल्ली में 'अरविन स्टेडियम', 'अरविन कॉलेज' आदि का नाम सुना है पर, 'गाँधी-अरविन रोड' एक साथ केवल दो नामों को नहीं, हमारे देश की राजनैतिक प्रगति के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना को हमारे सामने ले आती है। दिल्ली का 'कारोनेशन स्क्वेयर' तो बस्ती से दूर पड़ गया और कारोनेशनों की स्मृति भी देश के स्मृतिपटल पर फीकी पड़ गयी, पर 'म्यूटिनी मेमोरियल रोड' अभी तक पुराने दर्द को जगाती हुई बनी है। और 'क्रान्ति मार्ग', 'रिपब्लिक एवेन्यू' आदि नाम भी न केवल एक ऐतिहासिक युग की, वरन एक ऐसे संक्रान्ति काल को हमारे सामने लाते हैं जिसमें राजनैतिक संघर्ष ही संस्कृति का मुख्य प्रश्न था।

कभी-कभी तो इन नामों से ऐसा जान पड़ता है कि नगर-निर्माण की एक नयी पारिभाषिक शब्दावली बन गयी है। पारिभाषिक कोशों का तो युग ही है, इसलिए

इस विषय का भी एक कोश बन जाए तो अचम्भा क्या; किन्तु जिस परिभाषा की बात हम कह रहे हैं वह सोद्देश्य नहीं बनी वह 'अन्यथा सिद्ध' की श्रेणी में ही आ सकती है। उदाहरण, हर नगर या कस्बे की बीच की सड़क 'गाँधी मार्ग' होती है। इस सड़क के बायीं ओर वाले पथ को 'कस्तूरबा पथ' कहा जाता है, और दाहिनी ओर के पथ को 'जवाहर रोड'। 'गाँधी मार्ग' पर कोई बड़ा चौक पड़े तो वह 'आज़ाद मैदान' कहलाता है। 'जवाहर रोड' को कोई सड़क तिरछी काटती हो तो वह 'पटेल पथ' कहलाती है, और अगर सड़क के पद के योग्य न हो तो उसे 'पटेल गली' भी कह सकते हैं; अगर एकाधिक गली तिरछी पड़ती हो तो उन्हें क्रमश : 'पटेल गली नम्बर 1', 'नम्बर 2', 'नम्बर 3', कहा जा सकता है। जो गली आगे जाकर बन्द हो जाती हो, जिससे निकलकर जाने का एकमात्र मार्ग उलटे पाँव लौटने का हो, तो उसे 'टंडन गली' कहते हैं; दिल्ली या इलाहाबाद या ऐसे प्रदेशों में, जहाँ जीर्ण भारतीय संस्कृति का स्थान नवोत्थित हिन्दुस्तानी कल्चर ले रही है, टंडन गलियों को 'कूचा टंडन' भी कहा जाता है।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ऐसी परिभाषा केवल भारतवर्ष में ही बनी है : इस दृष्टि से यह भी देश अद्वितीय ही है। महापुरुषों की स्मृति बनाये रखने के लिए और देशों में प्रयत्न न हुआ हो, ऐसा नहीं है, पर वहाँ ऐसे प्रयत्नों का समुचित साधारणीकरण नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए इंग्लिस्तान में केवल एक वाटरलू है, वह भी रेल का स्टेशन; केवल एक ट्राफलगार स्क्वेयर; अमरीका में केवल एक वाशिंगटन, रूस में एक लेनिनग्राड, एक स्तालिनग्राड। किन्तु आप कल्पना भी कर सकते हैं कि भारत में केवल नयी दिल्ली को या वर्धा को गाँधी नगर कहकर समझ लिया जाए कि उस नाम को और भौगोलिक बन्धनों में डालने की आवश्यकता नहीं है? या राष्ट्रपति भवन से इंडिया गेट (अथवा राजघाट) तक के मार्ग को (जो आज किंग्सवे यानी राजपथ कहलाता है यद्यपि राजाओं के दिन अब—आशा करनी चाहिए—सदा के लिए लद गये) गाँधी मार्ग कह दिया जाए और समझ लिया जाए कि भारत के सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति वाले मार्ग को यह नाम दे देने के बाद एक महान नाम का उचित सम्मान इसी में है कि उसे हर नगर की हर सड़क पर चिपकाने का प्रयास छोड़ दिया जाए? न—गाँधी हमारे थे, सबके थे, इसे साग्रह प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है कि हमारी गली, हमारे कूचे, हमारी पटरी के साथ उनका नाम बँधा हो! आप कहेंगे कि भारत भी तो हमारा भारत है; तो साहब, ऐसे तो फिर दुनिया ही हमारी है, क्या इस मर्त्यलोक को ही गाँधी लोक कहने लग जाएँ? तो इसलिए शहर-शहर, गाँव-गाँव में गाँधी मार्ग होंगे, प्रान्त-प्रान्त में गाँधी ग्राम और गाँधी नगर, हर कस्बे के मुहल्ले के नाम जवाहर नगर और कमला नगर हुआ करेंगे और हर एक में एक नेताजी पार्क या आज़ाद पार्क हुआ करेगा। हर शहर

की हर म्युनिसिपैलिटी एक ही बात सोचे, अनेकता में एकता के प्राचीन भारतीय आदर्श का कितना सुन्दर निर्वाह है! और यह भी कौन कह सकता है कि 'सेठ रामकिशोर लक्ष्मीनारायण लाला हरगुलालका गली' जैसे गली से भी लम्बे नाम भी पारिभाषित नामों से अच्छे थे, या कि 'गली कायस्थाँ' और 'मुहल्ला बिरहमनाँ' नयी पद्धति के 'वाल्मीकि नगर' या 'रविदास स्क्वेयर' के सामने टिक सकते हैं? और हम काशी के धुरन्धर पंडितप्रवर से अनुरोध करेंगे कि 'अभिनव नाट्य-शास्त्र' के बाद 'अभिनव मानसार' लिखकर वह अपने नाम के आगे 'अभिनव भरत' के साथ-साथ 'अभिनव विश्वकर्मा' का विरुद भी जोड़ लें। भरतत्त्व को प्रमाणित करने के लिए यदि बम्बई के सिनेमा का अनुभव पर्याप्त है, तो अभिनव विश्वकर्मात्त्व के पीछे तो भारतवर्ष के समूचे स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रमाण होगा।

किन्तु हम दिग्दर्शन-दर्शन की बात कर रहे थे, नामकरण की नहीं! कुछ बहक गये। लेकिन कोई बात नहीं, उलटे पाँव लौट आते हैं। समझ लेंगे कि कूचा टंडन में घुस गये थे और वहाँ से बिना बेआबरू हुए ही फिर निकल आये। तो हम कह रहे थे कि हर पीढ़ी और युग में मार्ग-दर्शन की अपनी परिपाटी रही होगी, और उदाहरण देते हुए क्रमशः समकालीन जीवन की ओर बढ़े जा रहे थे। संघर्ष काल के मार्ग-निर्देशों का तो हम मार्गों के नाम से अनुमान लगा ही सकते हैं। और उसके अनन्तर आज?

एक पीढ़ी भर में कितना बड़ा परिवर्तन हो गया है, इसका प्रमाण देने के लिए कुछ कल्पना-विहीन लोग कदाचित् आँकड़ों की ओर दौड़ें, कोई बुनियादी तालीम से लेकर भाखड़ा-नंगल तक के क्रिया-कलाप की दुहाई दें, किसी को कदाचित् यह भी ध्यान आ जाए कि पिछले सात वर्षों से वनमहोत्सव करते हुए जो गण्य-मान्य लोग शहरों में सब्ज बाग लगाने और दिखाने का भगीरथ प्रयास करते रहे, उनमें से वन में बसकर सरल जीवन बिताने की एक को भी नहीं सूझी यद्यपि वन-सभ्यता और ऋषियों के जीवन की चर्चा सभी ने की होगी? पर इस सबकी कोई आवश्यकता नहीं है, आप एक चौराहे पर खड़े होकर किसी से मार्ग पूछिए और उसी के उत्तर में युगान्तर बिजली-सा कौंध जाएगा। ..."वह जो बहुत बड़े-बड़े दो लाल बोर्ड हैं न, जिस पर छः-छः फुट के अक्षरों में लिखा है 'खाज', 'खुजली'—वहाँ से बायें को मुड़ जाइए। आगे एक गोल चक्कर आएगा, फिर एक मोड़ फिर एक तिरस्ता—वहाँ एक रास्ते के सिरे पर बहुत बड़े बोर्ड पर लिखा है, 'डोंट वाक टु योर डेथ' और मोटर के नीचे गिरते एक आदमी का चित्र है। उसी सड़क पर हो लीजिए : कोई पचास कदम आगे जाकर एक पक्की दीवार दीखेगी जिस पर चूने से लिखा है 'नामर्दी—नामर्दी—नामर्दी' दीवार आगे चलकर बड़े अस्पताल की दीवार से मिल जाती है—आप तुरन्त पहचान लेंगे क्योंकि वहाँ बिगुल पर x का बना हुआ

है और लिखा हुआ है 'सायलेंस जोन'। बस वहीं तक आपको जाना है : उस निशान के सामने ही 'सिंहनाद' नाम की रेडियो की दुकान है (बोर्ड आप न भी देखें तो उसके लाउड स्पीकरों का स्वर आप तीन फलाँग से सुन सकते हैं रात बारह बजे तक), और सिंहनाद के साथ वाली दुकान में आपके मित्र रहते हैं। उनका बोर्ड तो लगा है, पर दिन में दीखता नहीं, रात को उसके पीछे बत्ती जलती है तो पढ़ा जा सकता है। हाँ, उन्हीं की छत के ऊपर एक बोर्ड है जिसमें बिजली की बत्तियों से लिखा हुआ है 'न्यूरोसिस'। बस आप सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले जाइए।"

मेरे मार्ग-दर्शन से निःसन्देह आप ऊब गये होंगे। पर ऊबकर मुझे दोष न दीजिए। कसूर मेरा नहीं, जमाने का है। आप जमाने पर हँस लीजिए और इस प्रकार परोक्ष मुझ पर भी—आप को हँसा सकूँ तो मेरे धन्य भाग।

और आप ऊबे न हों, या हँसना न चाहें—तब? तब भी कोई चिन्ता नहीं, तब तो मेरे मार्ग-निर्देशन की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है—आप मेरे बताये हुए मार्ग पर ही चल रहे हैं : 'बस, सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले जाइए—वह आधुनिकता का दूसरा नाम है, और समकालीन जीवों के लिए उपयुक्त बिल्ला! संसार के न्यूरोटिको, एक हो जाओ—तुम्हारे न्यूरोसिस के सिवा और तुम्हारा क्या कोई छीन लेगा?'

दिल्ली देखा कि आगरा?

नयी दिल्ली में जब किसी संसद-सदस्य से दोस्ती न होने के कारण उनके आवास-भवनों में रियायती कमरा न मिल सका, और होटलों के किराये देखकर यह समझ में आ गया कि दूर-दूर के लोग क्यों सैलानी होकर (या ऑल इंडिया रेडियो के अन्तरभाषिक कवि-सम्मेलन के कवि नहीं तो अनुवादक होकर) दिल्ली आने की अपेक्षा सरकारी कमेटी के सदस्य होकर आना ही अधिक पसन्द करते हैं, तब किसी दयालु दक्षिणी ने सुझाया कि दिल्ली में काम हो तो मेरठ या फरीदाबाद रहकर आते-जाते रहना किफायत का रास्ता हो सकता है। अपने राम न रेडियो सम्मेलन में आये थे न समिति के सदस्य थे, दिल्ली में थोड़ा काम था पर उसके साथ समय की कड़ी पाबन्दी न थी, इसलिए मेरठ से दूसरे-तीसरे मेरठ की यात्रा कुछ भयावह नहीं लगी। लोकल गाड़ियाँ तो कई हैं, देर से चलती-पहुँचती हैं तो क्या हुआ? कभी चेन-वेन खिंच जाती है और राह में घंटों लग जाते हैं, तो दूसरी तरफ़ यह भी तो है कि भीड़ में अधिकतर लोग टिकट नहीं लेते या ले पाते और बेजगह गाड़ी रुक जाने से यह आराम भी हो जाता है कि उतरकर अपने रास्ते चल दिये—न किसी ने टिकट पूछा, न किसी ने दिखाया! आख़िर 'जियो और जीने दो' का आकर्षण जितना ऐसे दमघोंटु सफर के मुसाफिर को होता है, उतना ही तो सबकी घृणा और अवहेलना की बर्छियों से छिदते हुए बेचारे रेलवाई टीटियों को होता होगा! हमने कहा 'टीटियों को'—बिहार का प्रतिष्ठित 'टिकट चेकर बाबू' दिल्ली पहुँचते-न-पहुँचते टी-टी हो जाता है; क्या नाम की यह घिसाई काम की पिसाई की नाप नहीं है?

मेरठ-दिल्ली-मेरठ की रेल यात्रा हमने किफायत की लाचारी से चुनी थी, तफरीह के शौक से नहीं, पर दो-एक बार की कन्ध-घिसाई के बाद ही समझ में आ गया कि क्यों लोगों को इसकी लत लग जाती हैं : किरानी बाबू इसके लिए घर से दो घंटे पहले चल देने को तैयार हो जाते है, और कालेज के विद्यार्थी टिटकारियाँ लगाते हुए बाहर लटकते रहने के लिए बार-बार फेल होते जाना भी मंजूर कर लेते हैं—क्योंकि ये सुख केवल विद्यार्थी-गिरी के सुख हैं! दक्षिण की बसों की ठेलमठेल में खड़े-खड़े उचके खाने का मजा भी हमारा अपरिचित नहीं है; पर सच कहें, इस दिल्ली-गाजियाबाद मेरठ की लोकल-यात्रा पर सौ-सौ जम्बो जेट

निछावर हैं—दिल्ली से मेरठ तक पूरी यात्रा न भी हो, चाहे केवल मोतीबाग से मिंटो ब्रिज या साहिबाबाद से सेवानगर तक ही आना मिल जाए। 'राज तिहूँ पुर को तज डारौ!'

आप नहीं मानते? ऐसी यात्रा की एक ही घटना सुन लीजिए : बुजुर्गों के लिए बानगी ही काफ़ी है।

शाहदरा-साहिबाबाद के बीच कहीं तक पहुँचे थे; भीड़ जैसे-तैसे अंग मोड़-तोड़कर डिब्बे में अँट गयी थी और सफ़र की मुसीबत के बारे में मानों एक सर्वसम्मत धारणा बना लेने के बाद लोग आपस का बैर-भाव भुलाकर लाचारियों का मजा लेने के मूड में आ चुके थे। बातचीत चल निकली थी, हँसी-मजाक भी हो रहा था, जो बोल नहीं रहे थे वह सुनने का ही रस ले रहे थे। हम भी सुनने वालों में थे : अगर श्रव्य के कच्चे धागों के सहारे भी हम मन ही मन नाटक रचते चल रहे थे तो इसलिए नहीं कि हम भरत-मुनि को झूठा ठहरा रहे हैं, सिर्फ इसलिए कि जो सुन रहे थे वह इतना मजेदार था कि कहानी अपने-आप बनाता चल रहा था। पर हम अपना पूर्वाग्रह आप पर क्यों लादें : आप स्वयं सुन लीजिए।

बात ज्योतिष से शुरू हुई थी। कुंडली देखकर भूत-भविष्य बता देते हैं, वह क्या सच होता है? अब साहब सच-झूठ का क्या पता लगे है। और फिर चार बातों में एक सच निकले आवे तो साब रौब में आ जावें और तीन जो झूठ हों उन्हें याद कौन रखे... इससे हाथ देखने की बात निकली : एक मुसाफ़िर अपने को माहिर बता चुके थे और तुरन्त परीक्षा की बात बड़ी सफाई से इसलिए टाल चुके थे कि इतनी भीड़ में हाथ कोई कैसे देखे उसके लिए तो पूरी शान्ति चाहिए और विलायत में तो बारीक रेखा देखने के लिए बिजली के कैसे-कैसे लैम्प लगे रहते हैं—असल में कारी लकीरें तो बारीक ही होती हैं, मोटी रेखा से थोड़े ही असल महत्त्व की बात पता लगती है! "अब आयु-रेखा देखकर किसी को बता दो कि वह बीस बरस जीवेगा या कि अगले बरस मर जाएगा तो इसके सच-झूठ का क्या पता लगे —वह तो एक बरस या बीस बरस बाद ही जाना जाएगा न! अब कोई यह बतावे कि तुम्हारी बीवी झगड़ालू होगी या तुम्हारे बाप ने मूँगफली की चोरबाजारी से पाँच हजार रुपया बनाया होगा, तो इसकी तो पड़ताल भी हो सके—और यह तो बारीक रेखाओं से ही पता चलता है जिन्हें पहचानने में घंटों लग जाएँ—"

किसी ने कहा : "पर यह कोई मान लेगा तब न!"

"हाँ, भला अपनी भद्द कौन करवाये—"

"लेकिन रेखा से क्या ऐसी बात का भी पता लग जाता है? तब तो यह बड़ी

विद्या है साहब!"

"अरे हाथ की रेखा तो क्या-क्या बताओ— पढ़नेवाला चाहिए! उससे तो यह भी पता लग जावे कि कोई औरत छिनाल होगी तो उसका जार बनिये का होगा कि जाट का"

"नहीं जी, ऐसा कौन हो सकता है। जात-पाँत से रेखाओं को क्या मतलब, जात-पाँत क्या भगवान ने थोड़े ही बनाए, वह तो हमारे समाज की ईजाद है।"

"वाह साहब वाह! और छिनाली और जार-गीरी जैसे भगवान ने बनाये हैं! या तो यह मानिए कि हर रेखा में हर इनसान की हर बात का ब्यौरा लिखकर रख दिया गया है या फिर कुछ न मानिए। यह तो बात नहीं बनती कि आधी बात तो पहले से तय कर दी गयी हो और बाकी के लिए खुली छूट हो उससे तो अँधेर हो जाएगा।"

हाथ देखने वाले साहब ने समर्थन पाकर कहा, "यह तो है। जब अणिमा-महिमा सब एक है तो छोटी-से-छोटी लकीर में भी हर प्राणी की पूरी पत्र लिखी रहनी चाहिए—अब पढ़नेवाला जितना पढ़ पाए! अब हस्त-रेखा।"

एक भारी-सी आवाज़ सुनाई दी : "पामिस्ट साब ठीक कहते हैं—मैं तो पूरा कायल हूँ। मेरी तो आजमायी हुई है—"

सबकी आँखें वक्त की ओर मुड़ीं। उसकी वर्दी और भुजा का बिल्ला देखकर किसी ने कहा, "सुनो भई सुनो, हवालदार साहब की बात सुनो। हाँ तो हवालदार साहब, आप अपने ....की बात सुनाइए—आपने जंग के दौरान कई मुल्कों की सैर की होगी।"

हवालदार ने कुछ सकुचाने का अभिनय करते हुए कहा, "नहीं, कई तो क्या", "हाँ, बर्रा फ्रँट पै था... पर मैं कह यह रहा था कि मुझे एक पामिस्ट ने जो बताया वह सारे गैर-माकूल हालत के बावजूद ऐसा सच हुआ कि हैरत होती है। भरती होने के पहले मैं पेशौर की तरफ़ एक छावनी में सिविलियन क्लर्क था, तब की बात है, "

मजेदार कहानी की सम्भावना से सभी उत्सुक होकर चुप हो गये थे। श्रोता मंडली काबू में है, यह देखकर हवालदार साहब आश्वस्त होकर आपबीती सुनाने लगे। कहानी का सार यों था :

सिविलियन ज़िन्दगी में वह एक छावनी के स्टोर क्लर्क थे। तनखाह तो क्लर्क की जो होती है सो होती है, पर छावनी का स्टोर क्लर्क होने के नाते ऊपर की अच्छी आमदनी हो जाती थी। शादी भी हो गयी थी। भगवान की दया से सब कुछ था। एक पामिस्ट ने बताया था कि चार बच्चे होंगे—लड़के, सो बीवी भी खुश थी। पर बरस गुजरने लगे और कुछ भी नहीं हुआ, फिर तीन बार औलाद हुई भी तो

लड़कियाँ जो कोई भी चार दिन से ज्यादा जिन्दा नहीं रही—एक तो पैदा होने के दो घंटे बाद मर गयी। एक और पामिस्ट को दिखाया—उसने कहा कि लड़के होंगे, तीन तो जरूर, शायद चौथा भी लड़का होगा, और चारों जिएँगे... बीवी को बताया पर उसे तसल्ली नहीं हुई। फिर एक दिन उसने कहा, "तुम जो रिश्वत लेते हो न, तभी औलाद नहीं होती या बचती नहीं। मेरी बात मानो तो रिश्वत लेना बन्द कर दो, हो न हो। इसी पाप के कारण यह सब होता है।" बीवी ने कसम उठवाकर छोड़ी। पर जब तौबा कर ली तो फिर उसे निबाहा भी, रिश्वत लेना उसी दिन से बन्द कर दिया। पर फायदा कुछ नहीं हुआ। इसी बीच जंग छिड़ गयी तो भरती हो जाने में तरक्की दीखी—बावर्दी हवालदार क्लर्क होकर तबादले पर गये और फिर वहाँ से फ्रंट भेज दिए गये।

हवालदार ने रुककर चारों ओर देखा। सबकी दिलचस्पी कायम थी—बल्कि बढ़ गयी थी। एक कुछ पूछने ही जा रहा था कि हवालदार बोले : "आप सोचते होंगे कि पामिस्टों की बात का क्या हुआ। वही तो बताने जा रहा हूँ। जब मेरी पोस्टिंग फ्रंट पर हो गयी तो बीवी को बड़ा सदमा पहुँचा—आप सोच ही सकते हैं। जंग कितने दिन चले इसका कोई ठिकाना तो नहीं था; साल-दो साल में छुट्टी पर घर तो आ सकता पर तब तक के लिए तो बात टली ही! और फिर सात बरस में जो नहीं हुआ पर चार हफ्ते की छुट्टी में हो जाएगा इस पर किसी की दिलजमई कैसे हो! खैर साहब, जैसे-तैसे उसे समझा कर चले गये।"

कोई पूछ ही तो बैठा : "हवालदार साहब, वहाँ तो ऊपर की आमदनी का खूब मौका रहा होगा?"

हवालदार ने नजर से ही उसे चुप कराते हुए बताया, मौके तो बहुत थे, पर उन्होंने कसम उठा ली सो उठा ली थी। पर बात रिश्वत की नहीं पामिस्ट्री की है न! "तो साहब, वहाँ डीपो के लिए रोज रसद की डिलीवरी लेनी पड़ती थी। तरह-तरह के लोग आते थे। और वह तो सब ट्राइबल इलाका है न, वहाँ मर्द कम औरतें ही ज्यादा आती थीं माल पहुँचाने—साग सब्ज़ी हो तो, दूध-फल हो तो, अंडा-मुर्गी हो तो; अक्सर तो चावल भी वही लाती थीं। ऐसे ही क्या बताएँ, साहब, अब ऐसी ज़िन्दगी में यह कोई अनहोनी बात तो है नहीं—वहीं एक औरत से आशनाई हो गयी...पहले तो कभी-कभी आना-जाना होता था, फिर कुछ ऐसा मौका बन गया कि ज्यादातर उसी के घर रहना होता था—अपने क्वार्टर में रात कभी-कभी ही गुजारनी पड़ती थी। यों देखते-देखते दो बरस कट गये—फिर छुट्टी पर तीन हफ्ते घर जाना हुआ पर उससे नतीजा कुछ नहीं निकला। लौटकर फिर वही रवैया चालू हो गया—"

गाड़ी की चाल एकाएक धीमी हुई थी, पर थोड़ी-सी हलचल के बाद ही पता

लग गया कि कोई स्टेशन आने वाला नहीं है, इसलिए सब फिर एकाग्र हो गये। हवालदार के चेहरे पर एक शरमायी-सी मुस्कराहट दौड़ गयी। फिर उसने कहा, ''साहब दो बरस और वहीं गुजर गये। और आपको क्या बताऊँ, मेरी ज़िन्दगी के शायद सबसे सुख के दिन रहे वो... जिस औरत से मेरी आशनाई थी, वह शादीशुदा थी, पर उसका खाविन्द कलकत्ते रहता था—मेरे रहते तो लौटकर नहीं आया, और मैं भला क्यों उसकी खबर पूछता! पर, साहब—और इसी को कहते हैं तकदीर का जोर मारना।'' एक बार फिर हवालदार ने चारों ओर नजर दौड़ायी : ''और औरत से मुझे औलाद नसीब हुई, चार बरस में तीन बच्चे— तीनों लड़के...''

हवालदार रुक गये। डिब्बे भर में थोड़ी देर चुप्पी छायी रही; फिर एकाएक तीन-चार कहकहे एक साथ सुन पड़े, और दो-तीन आवाजें भी : ''वाह हवालदार साहब! आपको तो बीवी की बात खूब फली!'' और पामिस्टों की भी! ''वही तो खुदा जब देता है, ऐसे देता है!'' ''है साब, तकदीर भी कोई चीज़! होनी कभी नहीं टलती!''

हाथ के इशारे से सबको रोकते हुए हवालदार बोले, ''आप सबकी दुआ से अब मेरी चार औलाद हैं, चारों जिन्दा हैं। तीन का हवाला तो मैंने बता ही दिया वार के बाद घर लौटकर अपनी बीवी से चौथी पैदा की—वह भी लड़का, भगवान की दया से वह भी जिन्दा है। रिश्वत मैंने फिर कभी नहीं ली।''

बधाइयों की बौछार फिर होने लगी। किसी ने बीवी की बात की दाद दी; किसी ने पामिस्ट की भविष्यवाणी की, किसी ने भाग्य के बल की, सभी ने हवालदार की खुशनसीबी की...

अब पामिस्ट ने कहा, ''देखिए न, पामिस्ट्री का ज़ोर! हो नहीं सकता कि उसकी बात गलत हो जाए—बशर्ते कि पढ़नेवाला ठीक पढ़े! था कोई इमकान कि बात सच हो—मगर होकर रही—''

किसी ने बड़ी बुज़ुर्गाना अदा से, दूध-पानी अलग करते हुए कहा, ''और पाप-पुण्य का फल भी होता ही है—पामिस्ट्री की बात भी ठीक है, पर रिश्वत लेना बन्द न करते तो क्या पता...''

अब की बार स्टेशन ही था : गाड़ी बड़े निश्चयात्मक ढंग से धीरे हो रही थी कि रुककर ही रहेगी। पर लोगों का ध्यान उखड़ने से पहले हवालदार ने स्वर और ऊँचा करके कहा : ''पामिस्ट्री तो मैं मानता हूँ, पर एक बात मुझे आप साहबान में कोई बता दे।''

लोग उठने-उठने को होते हुए भी रुक गये और एकटक हवालदार की ओर देखने लगे।

''मेरा सवाल यह है कि क्या रिश्वत लेते रहना अच्छा था, या कि दूसरे की

बीवी से बच्चे पैदा करके औलाद को बचाना? क्यों पामिस्ट साहब, आप बताएँ, या—" यहाँ हवालदार उन बुज़ुर्ग की तरफ़ मुखातिब हुए जिन्होंने पाप-पुण्य की बात कही थी, "या बुजुर्गवार, आप फरमा दें।"

पर बुजुर्गवार को उसी स्टेशन पर उतरना था—गाजियाबाद में उन्हें गाड़ी बदलनी थी और कुछ दूसरे लोग भी तफरीहन प्लेटफार्म का एक चक्कर लगा लेना चाहते थे; इसलिए हवालदार साहब के सवाल का जवाब देना किसी ने ज़रूरी नहीं समझा। कहानी भी पूरी हो ही गयी थी : वक्त अच्छा कट गया था, भले ही गाड़ी लेट हो गयी थी। बल्कि इस लोकल गाड़ी को लेट क्या और टाइम क्या--लोकल का मतलब ही है स्थानीय, सो जहाँ की हुई वहीं की हो गयी!

अब बताइए, होगा जम्बो जेट में सफर का ऐसा मज़ा? रही संसद सदस्य की मेहमानदारी की, सो हम अभी वह दिन नहीं भूले जब एक जानकार दिल्लीवाले के साथ किसी सदस्य के ठाठदार फ्लैट में गये थे तो देखा था कि भीतर के बरामदे में एक भैंस पसरी हुई पगरा रही है; एम.पी. साहब स्वयं आँगन में खाट पर बैठे धूप सेंक रहे हैं! बीन बजाना हमने सीखा नहीं था, इसलिए उल्टे पाँव लौट आये; दिल्लीवाले दोस्त कहते ही रह गये कि "अरे म्याँ, इसी चटखारे के लिए तो लोग दिल्ली आते हैं!"

पहला रिपोर्टर

सृष्टि-क्रम में पुरुष पहले था कि नारी, इस पर जब-तब बहस हुआ करती है, और इसी प्रश्न का एक रूपान्तर—कि बीज पहले हुआ या पौधा—शताब्दियों से दार्शनिक वाद-विवाद का आधार बना आया है। अन्य दार्शनिक मसलों की तरह यह मसला भी असल में कोरा सैद्धान्तिक है और जीवन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दोनों में से कौन पहले बना, इसका क्या महत्त्व है जबकि हर युग में, हर काल में, हर देश में, एक पर दूसरा हावी होता आया है? क्षमा करें, मैं व्याकरण में जरा कच्चा हूँ, इसीलिए यह लिख गया; नहीं तो शायद 'होती आयी है' लिखना चाहिए, और शायद 'दूसरा' नहीं 'दूसरी', क्योंकि हावी होने वाला, वाली ही हो सकता (यानी सकती) है। जो हो, इस प्रश्न को मैं तो कोरी हवाई बहस ही मानता हूँ। हाँ, कोई यह पूछे कि पहला पत्रकार या संवाददाता कौन था, तो जरूर सोचने की बात है, क्योंकि मेरी धारणा तो यही है कि पहला संवाददाता ही बाद की समूची ऐतिहासिक उलझनों का मूल रहा। यों तो इतने से ही कुछ अनुमान हो जाना चाहिए कि पहला संवाददाता कौन रहा होगा— और वह व्याकरण वाली समस्या यहाँ पर फिर उठती है, पहला संवाददाता कि पहली संवाददाता? क्योंकि इसमें कौन सन्देह कर सकता है कि जब ईडन के उद्यान में हौवा ने साँप के पास वह सेब देखा, और दौड़कर इसकी सूचना आदम को देने चली, तभी पहले संवाद का जन्म हुआ; और पत्रकारिता के इस पहले उद्योग का ही परिणाम देखिए कि बेचारा भोला आदम ईडन से बहिष्कृत हो गया!

"आज प्रात:काल उद्यान के एक सुन्दर हरे-भरे कोने में एक महाकाय साँप देखा गया। कहा जाता है कि वह साँप अन्य साँपों से भिन्न है—क्योंकि यह भूमि पर रेंगने के बजाय एक पेड़ से लिपटा रहता है। हमारा विशेष प्रतिनिधि मौके पर जाकर पड़ताल कर रहा है।"

"हमारे विशेष संवाददाता द्वारा विश्वस्त रूप से पता चला है कि जिस पेड़ पर साँप गुंजलक डाले पड़ा रहता है, उसकी डाल में एक सुन्दर फल लगा हुआ है। साँप के कारण उस तक पहुँचना खतरे से खाली नहीं है। समाचार से उद्यान में बडी सनसनी है।"

''शैतान के परराष्ट्र सचिवालय में जाँच करने से मालूम हुआ कि साँप द्वारा रक्षित फल ज्ञान का फल है। गुप्त सूत्र से यह भी सूचना मिली है कि इस फल पर समूचे उद्यान के निवासियों का भविष्य निर्भर है। विशेष संवाददाता द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर विभाग के एक उच्च अधिकारी ने बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से प्रश्न को टाल दिया।''

''साँप ने एक विज्ञप्ति निकाली है जिसके अनुसार...इस कथन की सत्यता की पड़ताल अभी नहीं हो सकी।''

यों तो कल्पना-चक्षु से स्पष्ट देख सकता हूँ कि किस प्रकार सनसनीदार खबरों से पहले आदमी का कौतूहल और उत्कंठा जगायी गयी होगी, और फिर उसके भाग्य का निर्णय हो गया होगा।

यह जरूर कहा जाएगा कि केवल आदम ही निर्वासित नहीं हुआ, हौआ भी तो साथ गयी। लेकिन जरा यह तो सोचिए, अगर अकेला आदम ही निर्वासित किया गया होता, नो क्या हौआ स्वयं न पीछे दौड़ जाती?

''शरणार्थी काफिले के साथ जाते हुए हमारे विशेष संवाददाता ने सूचना दी है।''

''शरणार्थी कैम्प से। ईडन उद्यान से कुछ दूर पर आदम ने डेरा डाला है। उसकी मनोदशा अत्यन्त चिन्ताजनक बतायी जाती है। पेड़ की छाल और पत्तियाँ बाँधकर उसने अपने शरीर के कुछ भाग को ढक लिया है, और उसकी खोई हुई दशा से—'' (ह.वि.सं.दा. द्वारा) एक बार जब व्यक्ति पर ह.वि.सं.दा. की छाप लग गयी, तब फिर वह रुक नहीं सकता; जैसे किसी विशेष व्यक्तित्व पर 'छाया' पड़ जाने से वह बाध्य होकर 'खेलता' ही रहता है, उसी तरह संवाददाता की छाप लग जाने पर हौवा भी ईडन में रुक न सकती, उसके बाहर की मरुभूमि में तो क्या, सीधे शैतान की नगरी भी जाना पड़ता तो भी जाती बिना बुलाये जाती, बिना खदेड़े जाती। बल्कि वहाँ तो और भी उत्साह से, क्योंकि जरा सोचिए तो, वहाँ की रंगीनियों और सरगर्मियों का, और वहाँ के 'नृशंस', 'हौलनाक', 'बर्बरतापूर्ण' व्यापारों के आँखों देखे 'ताजा हालात' से कितनी सनसनी फैलती, और संवाददाता के लिए कितना बड़ा 'स्कूप' होता वह कि और संवाददाता ईर्ष्या से ऐंठकर रह जाते, जैसे जेठ की गर्मी में पल्लीदार काठ (प्लाईवुड) की परतें ऐंठ जाती हैं। एक वह गया था न कौन, ऋषिकुल का रिपोर्टर—हाँ, नचिकेता, कैसे कौशल से साक्षात् यमराज से मिल आया था—सो उसका बखान अभी तक होता है, वैसा भाग्यवान दूसरा रिपोर्टर नहीं हुआ।

असल में संवाददाता का 'लक' भी बड़ी चीज़ है। अब देखिए न, माना कि प्रियंवदा की सूझ भी थी कि उसने कौशल से शकुन्तला को ख़बर दे दी कि दुष्यन्त को विदा करे— ''चक्रवाकबधुके, आमन्त्रयस्व सहचरं, उपस्थिता रजनी।'' लेकिन

सूझ की ऐसी बड़ी बात तो नहीं थी कि जिसके लिए यह वाक्य इतिहास में अमर हो जाए? यह 'लक' हो तो है कि कालिदास की मेधा यहाँ आकर अटक गयी, और उसने प्रियंवदा के संवाद को ज्यों का त्यों अपनी पुस्तक में स्थान दे दिया!

महाभारत में कौरवों का सैनिक संवाददाता संजय भी अपने ढंग का एक ही है। इतना जरूर है कि उसके कई बयान सन्दिग्ध जान पड़ते हैं—यानी आँखों देखे तो नहीं ही हैं, वैसे भी उनका कोई पुष्ट आधार नहीं है और मानो अटकल से ही भिड़ा दिये गये हैं। अपने वर्णन की खामियाँ भरने के लिए सैनिक संवाददाता ऐसे कल्पना से काम ले तो उसे दंड मिलना चाहिए, पर व्यासजी आखिर ऋषि थे—'साईं लोग'—उन्होंने संजय के बयानों को ज्यों-का-त्यों अपना लिया। और उनके स्टेनोग्राफर तो थे ही गोबर-गणेश, उन्होंने टोका; यह भी 'लक' ही की बात है—अब उनका लिखा आर्षवाक्य प्रमाण हो गया है।

चर्चिल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि एक सैनिक अफसर उनके पास कुछ संवाद लेकर आया था; चर्चिल के पास उन दिनों एक पालतू शेर था; उन्होंने अपने संवाददाता से कहा, "अगर तुम्हारी बतायी हुई बातें सब सच न होंगी तो जानते हो क्या-क्या होगा? मैं तुम्हें इस शेर को डलवा दूँगा। आजकल मांस की कमी है यह तो तुम जानते ही हो।" उस अफसर ने जाकर लोगों से कहा था कि प्रधानमन्त्री को सन्निपात हो गया है। पर असल बात तो यह है कि चर्चिल तो ऋषि नहीं है अत: उन्हें यह सब जाँच-पड़ताल के ढकोसले सूझ रहे थे। क्योंकि आख़िर वह भी महायुद्ध पर एक रिपोर्ट लिख रहे थे; व्यास की भाँति महाभारत थोड़े ही रच रहे थे जो न केवल इतिहास हो वरन उस काल की समूची संस्कृति का प्रतिबिम्ब हो जाए समाज-जीवन का, कला और विज्ञान का, धर्मविश्वासों और मान्यताओं का एक सर्वांगीण प्रतिचित्र?

यूनानियों में भी महाभारत जैसा युद्ध हुआ था, पर उनके पास व्यास ऋषि कहाँ थे? और न संजय—उनका दुर्भाग्य था कि उन्होंने भी एक स्त्री संवाददाता नियुक्त की थी जिसके संवादों पर व्यास के समस्थानीय बुढ़ऊ होमर तो क्या, स्वयं उसी समय के यूनानी भी विश्वास न करते थे। नॉसिकेया (भाषा-शास्त्री जरा विचार करें, यह नाम नचिकेता से कितना मिलता है) नचिकेता, नासकेता तो प्रचलित रूप ही हैं, 'त' का 'य' हो जाना स्वाभाविक है जैसे 'सीता' से 'सिया' में हुआ है; 'अब नासकेता, नासकेया और नॉसिकेया में क्या अन्तर है? हाँ, नॉसिकेया स्त्री थी, यह ज़रूर है यह भी कहा जा सकता है कि इसीलिए उसका विश्वास नहीं किया गया जब कि नचिकेता ऋषि हो गये—उस समय कोई अखिल यूनानी नारी सम्मेलन नहीं था जो इस पक्षपात का विरोध करके घोषित कर देता कि वह भी किसी पुरुष संवाददाता का विश्वास नहीं करेगा। उस काल के पक्षपात का इलाज तो अब नहीं

हो सकता, पर अगर अखिल भारतीय महिला सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा जाए कि आज की प्रत्येक भारतीय नारी को यमपुरी भेजकर यमराज से साक्षात करके नचिकेता का समपदत्व प्राप्त करने का अवसर दिया जाए, तो कदाचित् वह इसके लिए सरकार से सिफारिश भी करने को राजी हो जाए। और इस प्रस्ताव में, खूबी यह कि नयी रोशनी की महिलाएँ तो इसका अनुमोदन करेंगी ही, क्योंकि यह तो समानाधिकार की माँग है, पुराने विचार वालों को भी आपत्ति न होनी चाहिए, क्योंकि सावित्री भी तो यमलोक जाकर यम को परास्त कर आयी थी, और सावित्री आदर्श भारतीय नारी है। जो हो, हम तो इस प्रस्ताव का पूरा अनुमोदन करने के लिए तैयार हैं।'

स्त्री संवाददाता—हमें तो इस नाम से ही आवृत्ति दोष जान पड़ता है क्योंकि स्त्री कहने ही से केवल संवाददाता नहीं बल्कि एक उद्‌भट संवाद-प्रचारक समाचार-वितरक का बोध होता है। गाँव के किसी कुएँ पर, शहर-मुहल्ले के किसी जल-कल पर, गलियों में छज्जों पर, देख-सुन लीजिए संवाद का प्रचार (और सर्जन भी!) स्त्री जाति का एक प्रमुख उद्योग है! बल्कि इस उद्योग पर मानव-समाज के अन्य इतने उद्योग निर्भर करते हैं कि इसे भी लोहे-इस्पात और खनन उद्योगों के समकक्ष वृहद् उद्योग—हेवी इंडस्ट्री—का गौरव मिलना चाहिए और आधुनिकता का तकाजा मानते हुए इस उद्योग के उद्योगियों में ट्रेड यूनियन की भावना विकट रूप से सजग रहती है। एक स्त्री ने दूसरी स्त्री से जो संवाद सुना हो उसे आप स्कैंडल कहकर उड़ा दें, यह समूचे उद्योग का अपनाम है जिसे कदापि नहीं सहा जा सकता। स्त्री द्वारा प्रचारित संवाद— वह प्रामाणिक है। उस ट्रेड यूनियन की मुहर है, आप जो चाहें समझते रहिए, आप बुद्धू हैं; जो चाहें कहते रहिए आप न्यस्त-स्वार्थों के गुर्गे हैं, आपका तर्क दूषित है!

यद्यपि यह संघ-भावना स्त्रियों तक ही सीमित है यह कहना अन्याय होगा। आजकल तो सब ओर इसका बोलबाला है। आप कुछ भी समझिए, बुद्धू हैं; कुछ ही कहिए, पूर्वाग्रह हैं। ऐसा केवल उस सूरत में नहीं है जब आपकी राय मेरी राय से मिलती हो, या अगर न मिलती हो तो मेरे कहने पर आप तत्काल बदल लें! मुझ जैसा नारीद्वेषी यह भी कह सकता है कि यह परिस्थिति तो केवल इस बात की सूचक है कि नारी आज मुक्त है, बल्कि समाज का संचालन भी कर रही है, और स्त्री-बुद्धि ही सामाजिक बुद्धि हुई जा रही है। मेरा कहा आप न मानें, मैं बुद्धू हूँ लेकिन आज नारीमात्र यह कहती है, यह संवाद यूनियन की ओर से प्रामाणिक रूप से प्रचारित है इसलिए आपको मानना पड़ेगा। यही सत्य है और जो ऐसा कहता है वह द्रष्टा है, क्रान्तिदर्शी है, स्रष्टा है। यानी मैं भी द्रष्टा-स्रष्टा हूँ, क्योंकि मैं बुद्धू हूँ।

मैंने आरम्भ में ही कहा कि पहला संवाददाता ही बाद की समूची ऐतिहासिक

उलझनों का मूल रहा। वह पहला संवाददाता कौन था—माफ कीजिए, कौन थी? आदम और हौवा की परम्परा तो काफ़ी नहीं है क्योंकि बाइबल के वंशनुक्रम से हिसाब लगाएँ तो पहला संवाद कुल चार-छ: हजार बरस पुराना कूता जाता है। मनु की परम्परा कुछ ज्यादा ठीक मालूम होती है और नहीं तो इसलिए कि उसका काल-निर्धारण जरा मुश्किल है। यानी संवाद की पड़ताल के लिए आपके पास संवाददाता से आगे कुछ नहीं है, अर्थात् संवाददाता स्वत: प्रमाण है। मनु तो मनु थे, लिखते-लिखाते तो क्या होंगे पहले संवाद का प्रचार इडा ने ही किया होगा। यह भी सम्भव है कि उसे इडा नाम ही इसीलिए दिया गया हो। इडा, इरा, सरस्वती के नाम हैं। यानी वाणी के या बात के। और संवाद क्या है—बात की बात में सौ बातें उठ खड़ी होती हैं! उस इरा को बार-बार प्रणाम। यों इरा की वन्दना आरम्भ में होनी चाहिए; लेकिन मैं अन्त में इसलिए कर रहा हूँ कि मेरी बात रह जाए!

निबन्ध

(वैचारिक)

संस्कृति और परिस्थिति

यदि आप आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति से तनिक-सा भी परिचय रखते हैं, तब आपने अनेकों बार पढ़ा या सुना होगा कि हिन्दी आश्चर्यजनक उन्नति कर रही है, कि उसने भारत की अन्य सभी भाषाओं को पछाड़ दिया है, कि हिन्दी साहित्य—कम से कम उसके कुछ अंग—संसार के साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। जबसे साहित्य की समस्या भाषा—अर्थात 'राष्ट्रभाषा'—के विवाद के साथ उलझ गयी है, तब से इस ढंग की गर्वोक्तियाँ विशेष रूप से सुनी जाने लगी हैं। निःसन्देह ऐसे 'रोने दार्शनिक' भी हैं जो प्रत्येक नयी बात में हिन्दी का ह्रास ही देखते हैं—और राष्ट्रभाषा की चर्चा चलने के समय से तो ऐसे समय-असमय ख़तरे की घंटी बजाने वालों की संख्या अनगिनत हो गयी है—लेकिन इन गर्वोक्तियों से आप सभी परिचित होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

क्या आपने कभी इनकी पड़ताल करने का यत्न या विचार किया है? क्या ये पूर्णतया सच्ची हैं? यदि इनमें आंशिक सत्य है तो कितना, और क्या? यदि हमारी प्रगति विशेष लीकों में पड़ रही है तो किनमें और कैसे?

इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न मैं नहीं करूँगा। मैं न तो सस्ते आशावाद से और न चोट पड़ते ही बें-बें करनेवाले निराशावाद से ही आपको सन्तोष दिलाना चाहता हूँ। इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक को अपने ढंग से खोजना चाहिए, मैं केवल उस खोज के प्रति वैज्ञानिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग रखने पर जोर देना चाहता हूँ। और इसीलिए साहित्य के प्रश्न को साहित्य के या साहित्यालोचन के संकुचित घेरे से निकालकर मैं उसे एक सांस्कृतिक विभूति के रूप में दिखाना चाहता हूँ। यह रूप उसे कैसे प्राप्त होता है, यह जानने के लिए आपको समाज के संगठन की ओर ध्यान देना होगा।

साहित्य—साहित्य की शिक्षा—अन्ततोगत्वा एक स्थानापन्न महत्त्व रखती है। पुराने सामाजिक संगठन के टूटने से उसकी सजीव संस्कृति और परम्परा मिट गयी है—हमारे जीवन में से लोकगीत, लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमशः निकल गयी हैं और निकलती जा रही हैं, और उनके साथ ही निकलती जा रही है वह चीज़ जिसके ये केवल एक चिह्न मात्र हैं—जीवन की कला, जीने का एक

व्यवस्थित ढंग जिसके अपने रीति-व्यवहार और अपनी ऋतुचर्या थी—ऐसी ऋतुचर्या, जिसकी बुनियाद जाति के चिर-संचित अनुभव पर कायम हो। बात केवल इतनी नहीं है कि हमारा जीवन देहाती न रहकर शहरी हो गया है। जीवन का ढंग ही नहीं बदला, जीवन ही बदला है। अब समाज न देहाती रहा है न शहरी, अब उसका संगठन ही नष्ट हो गया है। उसे ऐक्य में बाँधनेवाला कोई सूत्र नहीं है; जो जहाँ सुविधा पाता है वहाँ रहता है, अपने पड़ोसियों से उसका कोई जीवित सम्बन्ध, धमनियों के प्रवाह का सम्बन्ध नहीं रहता; सम्बन्ध रहता है भौगोलिक समीपता का, बिजली, पानी, मोटर-ट्राम की मारफत।

नि:सन्देह पुराने संगठन के अवशेष भारत में अनेक स्थलों पर मिलेंगे, जहाँ अभी मोटरलारी, सिनेमा और रेडियो नहीं पहुँचे हैं। इन स्थलों में जीवन अब भी एक कला है। लेकिन ये बहुत देर तक नहीं रहेंगे। यन्त्रयुग की प्रगति का निर्मम हल पुरानी मिट्टी उपाटता हुआ चला जा रहा है।

यदि आपको इस बात में कुछ अत्युक्ति जान पड़ती हो, तो अपने देखे हुए किसी मिल इलाके को याद कीजिए। यदि आपने उसे बनते हुए देखा है— लापरवाही और अवज्ञा से खड़े किए गये उन कुरूप स्तूपों को, मानवजाति के और आसपास के प्रदेश के प्रति घोर उपेक्षा से मुँह बाये हुए; यदि आपने कलकत्ते के 'गार्डन रीच' या बम्बई के 'वरली चाल्स' जैसे दृश्य देखे हैं, तब आप समझ सकेंगे कि यह विनीशक-क्रिया, मानव जीवन की स्वाभाविकता का यह ध्वंस, समाज-संगठन के ह्रास का ही वाह्य लक्षण है। इसी क्रिया को इंग्लैंड में देखकर वहाँ का दिव्य कलाकार डी. एच. लारेंस फूट उठा था—

"The car ploughed uphill through the long squalid straggle of Tevershall, the blackened brick dwellings, the black slate roofs glistening their sharp edges, the mud black with coal-dust, the pavements wet and black. It was as if dismalness had soaked through and through everything. The utter negation of the gladness of life, the utter absence of the instinct for shapely beauty which every bird and beast has, the utter death of the human intuitive faculty was appalling. The stacks of soap in the grocer's shops, the rhubarb and lemons in the green grocer's! the awful hats in the milliner's! all went by ugly, ugly, ugly, followed by the plaster and gilt horror of the cinema with its wet picture announcements. 'A Woman's Love', and the new big Primitive chapel, primitive enough in its stark brick and big panes of greenish and raspberry glass in the windows...

'England, my Englan!' But which is my England! The stately homes of England make good photographs and create the illusion of a connec-

tion with the Elizabethans. The handsome old halls are there, from the days of good Queen Anne and Tom Jones. But smuts fall and blacken the drab stucco, that has long ceased to be golden. And one by one, like the stately homes, they are abandoned. Now they are being pulled down. As for the cottages of England—there they are—great plasterings of brick dwellings on the hopeless countryside...

This is history. One England blots out another. The mines had made the halls wealthy, now they were blotting them out, as they had already blotted out the cottages. The industrial England blots out the agricultural England. And the continuity is not organic but mechanical."

इस स्थापना से कोई निस्तार नहीं है कि पुरानी संस्कृति मर रही है, और संस्कृति का प्रश्न हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि पुरानी व्यवस्था के टूटने का कारण मशीन है। लेकिन मशीन-युग का जीवन ठीक क्या परिवर्तन लाता है यह समझकर ही संस्कृति पर उसका प्रभाव समझ में आएगा। इसके लिए क्षण-भर आधुनिक मिल मजदूर और पुराने दस्तकार की तुलना कीजिए। आज के मजदूर के लिए यह सम्भव है कि तीस या चालीस या पचास साल तक एक अकेली क्रिया को दुहराने मात्र के सहारे यह उतने समय तक अपने परिवार का पेट पाल सके! मसलन नित्यप्रति आठ घंटे तक सेफ्टी उस्तरे के ब्लेड को मोम में डुबोकर पैक करने के लिए रखते जाना—बिलकुल सम्भव है कि पाँच-छः प्राणियों के कुनबे को पालनेवाला व्यक्ति आयु भर यही एक क्रिया करता रहा हो। इसका मिलान कीजिए पुराने लुहार से—अपने वर्ग का कितना अनुभव-संचित ज्ञान, कितनी लम्बी परम्परा उसकी मेहनत को अनुप्राणित करती थी! यह सब अब नहीं रहा, आज के श्रमिक के लिए जीवन का अर्थ है कि एक निरर्थक यान्त्रिक क्रिया की बुद्धिहीन अनवरत आवृत्ति। पुराना दस्ताकर निरक्षर होकर भी शिक्षित और संस्कृत भी होता था; आज का मजदूर जासूसी किस्से और सिनेमा पत्र पढ़कर भी घोर अशिक्षित है। उसकी जीवन की शिक्षा एक अकेली अर्थहीन यान्त्रिक क्रिया तक सीमित है।

अब आप समझ सकते हैं कि कैसे यन्त्रयुग जीव में वह परिवर्तन लाता है जो वास्तव में जीव का प्रतिरोध है। हम लोगों में से जो यन्त्रयुग की बुराइयों पर ध्यान देते हैं वे प्राय: उसे एक आर्थिक संकट के रूप में देखते हैं—बेकारी की समस्या के रूप में। लेकिन प्रश्न आर्थिक से बढ़कर सांस्कृतिक है। मशीन से केवल रोजगार नहीं मारा जाता, मशीन से मानव का एक अंग मर जाता है, उसकी संस्कृति नष्ट होती है और उसका स्थान लेनेवाली कोई चीज़ नहीं मिलती। मशीन-युग के मानव का जीवन दो अवस्थाओं में बँट जाता है एक जिसमें मेहनत है पर जीवन स्थगित है;

दूसरा जिसमें जीवन को पाने की उत्कट प्यास है। वास्तविक अवकाश की शान्ति की अवस्थाएँ दोनों ही नहीं हैं; फिर भी ऐसे विभाजन से वह समस्या पैदा हो गयी है। जिसे the problem of leisure कहा जाता है। यह समस्या यन्त्रयुग की देन है।

यह नहीं है कि पुराने जमाने में अवकाश नहीं होता था। निस्सन्देह तब भी किसान लोग 'सुस्ताने' बैठते थे। दो एक हाथ चिलम या ताड़ी पीने में, और गपशप या गाली-गलौज करने में समय बिताते थे लेकिन यह सुस्ताना जैसे जीवन का एक उपांग, (by-product) था, उसका ध्येय और अन्त नहीं। उनके लिए 'फ़ुरसत' का वक्त केवल काम के लिए ताजा होने का साधन था क्योंकि उस समय उनका रोजगार ऐसा था कि यद्यपि उससे उनकी तर्क या कल्पना-शक्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता था, तथापि उसमें हाथ की सफाई और विशेष ज्ञान का प्रयोग करने के लिए काफ़ी गुंजाइश होती थी और उससे तोष प्राप्त होता था। उसके बाद फुर्सत नहीं, विश्राम चाहते थे। 'फ़ुरसत' का मूल्य कम था, इसका एक प्रमाण यह भी है कि वे प्राय: दिन छिपते ही सो जाते थे। विश्राम के बाद अपने काम के प्रति उनमें स्वागत भाव हो सकता था। किन्तु आप परिस्थिति इसके सर्वथा प्रतिकूल है। आज के श्रमिक के लिए रोज़गार एक पदार्थ है जिसके दाम लगते हैं, बस। उसमें उसकी किसी तरह की भी रुचि नहीं है, उसके लिए वही साधन है। (पैसा पाने का) और ध्येय है फ़ुरसत। इस प्रकार जीविका का फल, उसका अर्थ, उतनी देर के लिए स्थगित कर दिया जाता है जितनी देर वह जीविका कमाई जाती है—जीना और जीविका कमाना साथ-साथ नहीं चलते, परस्पर विरोधी होकर चलते हैं। काम का समय पूरा होने पर घंटा बजने पर ही उसे अपने को मानव समझने का अधिकार मिलता है और वह जीने का यत्न कर सकता है। उसे 'फ़ुरसत' मिलती है; वह अपने को खाली पाता है और एकाएक किसी वस्तु के लिए तड़प उठता है जिससे वह खलिश मिट जाए, वह अपने को 'तृप्त' मान सके, स्थगित जीवन से होने वाली क्षति पूर सके।

यह स्पष्ट है कि ऐसे समय का उपयोग ही किसी व्यक्ति की संस्कृति की कसौटी है। हमारा आजकल का श्रमजीवी इस फुर्सत के समय क्या करेगा? ऊपरी दृष्टि से देखा जाए, तो उसके पास अनेकों उपाय हैं। लेकिन जिस मशीन ने फ़ुरसत पैदा की है, उसी ने उसके उपयोग भी विशेष लीकों में डाल दिये हैं। इस क्रिया की भी हम कभी जाँच करेंगे।

ऊपर कहा गया कि आधुनिक जीवन दो क्रियाओं में बँट जाता है—श्रम, जो अन्ततः यान्त्रिक और तोष-शून्य है; तथा अवकाश जो मूलत: श्रम की अवस्था की क्षतिपूर्ति है, स्थगित जीवन की थकान से भागना, या कम से कम मनोरंजन है। अत: आधुनिक जीवन में संस्कृति के, और उसके प्रमुख अंग, बल्कि केन्द्र साहित्य के,

लिए कोई स्थान है तो दूसरी अवस्था में ही है। आज साहित्य का यही मुख्य उपयोग है—और मेरी समझ में यही उसके लिए सबसे बड़ा खतरा।

फ़ुरसत का उपयोग साधारणतया मनोरंजन के लिए होता है—मनोरंजन भी एक विशेष प्रकार का—जो अपनी परिस्थिति को भूलने में सहायक हो—अर्थात् एक तरह का नशा हो। देखिए, इस बारे में आधुनिकता का एक पुजारी 'मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ' क्या कहता है—बिना अपने कथन का भीषण अभिप्राय समझे!—

"लोग, विशेषतया स्त्रियाँ, गल्पसाहित्य में प्रकारान्तर से उन मानवीय अनुभूतियों की तृप्ति खोजती हैं, जो आज के उलझे हुए और संकीर्ण जीवन में पूरी नहीं हो पातीं। अपने तंग, भीड़-भरे और हड़बड़ाए जीवन में अधिक गहरी अनुभूति के स्पन्दन और खिंचाव को प्राप्त करने का समय और अवसर न पाकर वे अपनी स्वाभाविक वासना की तृप्ति के लिए गल्प साहित्य की ओर झुकते हैं... सभ्यता से बँधे हुए लोग वासनाओं की तृप्ति के लिए गल्प साहित्य की ओर झुकते हैं...इसीलिए लोग सुखान्त कहानी पसन्द करते हैं। जीवन में अपने परिश्रम में सफलता का सन्तोष न पाकर, हताश लोग गल्पसाहित्य में सान्त्वना खोजते हैं; उपन्यास के नायक-नायिका की परिस्थिति में अपने को डालकर वे एक अल्पकालिक और भ्रामक तृप्ति पाते हैं।"

अर्थात् वे जीवन की कमी उसकी छाया से पूरी करते हैं। लेकिन जिन लोगों के जीवन में अनुभूति की गहराई और विशालता और सूक्ष्मता के लिए स्थान नहीं है, उनका यहाँ छाया-जीवन भी कच्चा और छिछला ही हो सकता है। जिस व्यक्ति का काम उसके व्यक्तित्व को पुष्ट नहीं करता, वह छाया-जीवन से जो तृप्ति प्राप्त करेगा, उसका उसके जीवन की यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं होगा—क्योंकि यथार्थता से तृप्ति न मिल सकने के कारण ही तो वह उससे भागता है। और फिर, ऐसा व्यक्ति वह परिश्रम करने को भी तैयार नहीं होगा जो मनोरंजन के लिए ज़रूरी है—अत: उसकी क्षतिपूर्ति नशे का रूप ले सकती है।

एक तरह की 'क्षतिपूर्ति' मनोरंजन कदापि नहीं है, क्योंकि वह पुष्ट और संजीवित नहीं करती, बल्कि उसे यथार्थता से छूट भागने का आदी बनाकर और भी कमजोर और जीवन के लिए अयोग्य बनाती है। इस प्रकार व्यक्ति एक अँधेरे चक्कर में पड़ जाता है जिससे उसका निस्तान नहीं।

आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं के, सिनेमा-थियेटरों के, अखबारों, रेडियो और ग्रामोफोन के बारे में भी यही बात सच है। अप्राकृतिक मनोरंजन—अर्थात जीवन से पलायन—के ये सब साधन मिलकर जीवन को सस्ता बना रहे हैं—उसका अर्थ और महत्त्व नष्ट कर रहे हैं। इनका प्रयत्न यही है कि 'मनोरंजन' के लिए जरा भी प्रयास—मन को एकाग्र करने का भी प्रयास—न करना पड़े। आधुनिकता की प्रगति

यह है कि सस्ती, ऊपरी और तात्कालिक ('सामयिक') रुचि की बातों को छोड़कर अन्य सभी को निरुत्साहित किया जाए, सस्ती और ऊपरी मानसिक प्रवृत्तियों के लिए खाद्य दिया जाए। आपने लक्ष्य किया होगा कि इधर हिन्दी के एकाधिक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं ने जानते बूझते हुए अपना 'स्टैंडर्ड' नीचा किया है, ताकि उसका आकर्षण अधिक सार्वजनिक हो सके। यह परिवर्तन आकस्मिक भी हो सकता था, लेकिन मैं जानता हूँ कि ऐसा चेष्टापूर्वक किया गया है, क्योंकि "आधुनिक पत्र का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए—आज का युग masses का युग है और उसमें mass appeal चाहिए।" ऐसी mass appeal के लिए पत्रों में जो सस्तापन लाया जाता है वह केवल शब्दों का होता है भाषा का नहीं। उसके लिए हमारी अनुभूति और मानसिक प्रगति के धातु में खोट मिलाया जाता है, हमारा जीवन सस्ता और हल्का किया जाता है!

शायद इसमें आपको अत्युक्ति जान पड़े—या यह स्पष्ट न हो। एक उदहारण ले लीजिए। एक जमाना था, जब हिन्दी-भाषी लोगों के लिए 'मुहब्बत' शब्द का अर्थ कुछ ऊँचा नहीं था, उसमें किसी घटिया भाव की ध्वनि थी। लेकिन प्रेम शब्द में ऐसी कोई ध्वनि नहीं थी उसका धातु खरा था। पर जबसे सिनेमा की कृपा से 'प्रेम नगर में प्रेम का घर, प्रेम ही का आँगन, प्रेम की छत और प्रेम के द्वार, प्रेम की नदी और प्रेम के कगार' बन गये, तब से क्या अब किसी आत्मभिमानी व्यक्ति के लिए किसी दिव्य अभिप्राय से यह कहना सम्भव रहा है कि 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ?' मेरा अनुमान है कि आप किसी को सच्चे दिल से भी यह कहते सुनेंगे तो मुस्करा देंगे। क्योंकि यह सिक्का खोटा हो गया है, बाजार में दुकान-दुकान पर तिरस्कृत होता है, और उसका चल जाना एक झूठ का चल जाना है। जाली प्रामिसरी नोट की तरह उसके साथ एक प्रामिस तो है, पर उसकी पूर्ति नहीं, प्रामिस को सच्चा करनेवाला गोल्ड रिजर्व नहीं रहा है।

और केवल शब्द ही सस्ता नहीं हुआ है, उसका प्रायोग करनेवालों का मानसिक जीवन भी उतना ही सस्ता हुआ है; क्योंकि प्रेम का नगर और घर और मन्दिर और नदी तो है, लेकिन प्राण स्रोत सूख गया है, और यदि वह कहीं फूट निकलना भी चाहे, तो कम से कम इस मार्ग से नहीं बह सकता—वह गहरा अर्थ इस शब्द से सदा के लिए अलग हो गया है।

मैं प्राय: इस समस्या की परिभाषा तक पहुँच गया हूँ जो मैं आपके सामने उपस्थित करना चाहता हूँ, जो मेरी समझ में हमारे आधुनिक जीवन की मौलिक समस्या है और जिसका हल किये बिना हमारा भविष्य अँधेरा है।

किन्तु उस समस्या को उपस्थित करने से पहले मैं दो एक बातें और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

मैंने ऊपर भाषा के सस्ते किये जाने और पत्रों का स्टैंडर्ड गिराये जाने का उल्लेख किया है। इससे एक गलतफहमी भी हो सकती है। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि यह उतार अकारण पैदा कर दिया जाता है। नि:सन्देह परिस्थिति की मजबूरी वहाँ भी है, और विकट रूप में है। इस मजबूरी की पड़ताल भी आरम्भ से की जाए, क्योंकि इससे भी संस्कृति की समस्या पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

मशीन युग बेहद उत्पत्ति का युग है। और बेहद उत्पत्ति तभी लाभप्रद हो सकती है जब उसकी मशीनरी से पूरा काम लिया जाए और सारी उपज तत्काल बाजार में खप जाए। मुनाफे के सिद्धान्त पर आश्रित आधुनिक व्यवस्था में बेहद उत्पत्ति का अर्थ होता है कारखानों—बल्कि समूचे वर्गों और नगरों—को व्यक्तिगत लाभ के लिए संगठित करना और प्रतियोगिता में चलाना। उसका उद्देश्य माँग की पूर्ति करना नहीं, उपज के लिए माँग ढूँढ़ना या पैदा करना हो जाता है। इसीलिए किसी ने कहा है :

"The material prosperity of modern civilization depends upon inducing people to buy what they do not want and to want what they should not buy."

इस परिस्थिति का परिणाम यह है कि आधुनिक जीवन विज्ञापन की नींव पर खड़ा है—बिना विज्ञापन के आधुनिक सभ्यता चल नहीं सकती। आधुनिक विज्ञापनबाजी की उन्नति का यही कारण है। एक व्यक्ति ने तो कहा है कि आधुनिक युग में किसी कला ने उन्नति की है तो 'विज्ञापन कला' ने। पत्र-पत्रिकाएँ इस विज्ञापन का साधन हैं। शायद उनकी उन्नति का भी यही कारण है। क्योंकि आधुनिक पत्र साहित्य का मुख्यांश विज्ञापनों पर जीता है। कई ऐसे भी पत्र हैं जिनकी लागत उनके चन्दे के मूल्य से कहीं अधिक—कभी-कभी दुगुनी तक—होती है। यह कमी विज्ञापन की आमदनी से पूरी होती है। अत: स्पष्ट है कि जहाँ एक और विज्ञापन प्राप्त करने के लिए बड़ी ग्राहक-संख्या की जरूरत होती है, वहाँ दूसरी ओर बड़ी ग्राहक-संख्या के साथ-साथ विज्ञापन का भी महत्त्व अधिक हो जाता है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि पत्र के किसी अंश का कोई मोल है तो विज्ञापन के पन्नों का, क्योंकि प्रकाशन और वितरण का खर्च इतना बढ़ गया है कि चन्दे से कभी पूरा नहीं हो सकता। आपने नहीं सुना होगा, एक नये अमेरिकन पत्र को एक वर्ष में पाँच लाख डालर का घाटा इसलिए हुआ था कि उसने विज्ञापन दर निश्चित करते समय ग्राहक-संख्या का जो अन्दाज लगाया था, ग्राहक-संख्या उससे लगभग दुगुनी हो गयी और फलत: बिकनेवाली प्रत्येक प्रति पर उसे घाटा उठाना पड़ा।

इस परिस्थिति का सम्पादक के लिए क्या परिणाम होता है? अगर वह पत्र का

मालिक भी है, तब तो स्पष्ट है कि उसे एक विराट व्यापारिक उद्योग के अंग के रूप में प्रतियोगिता में पड़ना पड़ेगा; लेकिन अगर वह केवल वैतानिक कर्मचारी है, तो भी क्या वह उस प्रतियोगिता से मुक्त है? जब तक प्रकाशन एक व्यवसाय है, तब तक उसे मुनाफा देना होगा; अत: सम्पादक को चाहे कितनी भी स्वतन्त्रता दी जाए, एक बात की स्वतन्त्रता उसे नहीं दी जाएगी। पत्र की ग्राहक-संख्या घटने देने की स्वतन्त्रता। पत्र का मालिक सदिच्छा रहने पर भी यह स्वतन्त्रता नहीं दे सकता, यह मैं अपने छोटे-से अनुभव से भी जानता हूँ। इस प्रकार सम्पादक का काम जनता को शिक्षित करना और प्रेरणा देना नहीं रह जाता, बल्कि उसे वह देना जो वह माँगती है, और वह भी अन्य प्रतियोगियों की अपेक्षा कुछ अधिक चटपटे और आकर्षक रूप में। और यह तो हम पहले ही देख चुके कि, जनता क्या माँगती है, यह निर्णय करने का सम्पादक तो क्या, वह स्वयं भी बेचारी स्वतन्त्र नहीं है, वह निर्णय मशीन युग द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थिति ही उसके लिए कर देती है। तब इस विराट नियति-चक्र की भीषणता का कुछ अनुमान हम कर सकते हैं...

आधुनिक युग मशीन युग है। मशीन के विस्तार से प्राचीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति नष्ट हो रही है, और फ़ुरसत नाम की एक नयी वस्तु पैदा हो रही है। फ़ुरसत का समय बिताने के लिए सामग्री चाहिए, लेकिन वह सामग्री एक विशेष प्रकार की ही हो सकती है, क्योंकि उसी का रस लेने की सामर्थ्य आधुनिक मानव में बचती है। इसका परिणाम है कि पुरानी संस्कृति के मरने के साथ नयी के मान नहीं बन रहे, हमारा मन और आत्मा संकुचित हो रहे हैं और हम यथार्थता का सामना करने के अयोग्य बनते हैं। दूसरी हो, मशीन युग के साथ जो mass production आया है, उसके लिए विज्ञापनबाजी आवश्यक है। विज्ञापनबाजी स्वयं मशीन युग की विशेषताओं को उग्रतर बनाती है, और साहित्य को सस्ता, घटिया, और एकरस बनाने का कारण बनती है।

संस्कृति का मूल आधार भाषा है, और भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट होता है। अत: साहित्य का पतन संस्कृति का और अन्तत: जीवन का पतन है—मशीन युग हमारे जीवन को सस्ता, घटिया और अर्थहीन बना रहा है।

क्या हमारे लिए कोई उपाय है, कोई आशा है? क्या साहित्य का नष्ट होता हुआ चमत्कार फिर से जाग्रत हो सकेगा? कोई महान प्रतिभाशाली व्यक्ति तो अपने लिए मार्ग निकाल ही सकेगा, और प्रतिभा में क्रान्ति करने की शक्ति होती है, लेकिन साहित्य केवल प्रतिभा के सहारे नहीं जी सकता, उसका स्टैंडर्ड ऊँचा बनाये रखने के लिए बहुत-से अच्छे साहित्य-सेवी भी चाहिए और विदग्ध रुचि के पाठकों का समुदाय भी चाहिए।

तो प्रश्न को इस रूप में देखना चाहिए—'क्या आज के बड़े और बिखरे हुए

और यन्त्रबद्ध वर्गों में भी उसी ढंग की सजीव और dynamic संस्कृति कायम रखी जा सकती है जैसी पुराने वर्गों में, या वर्गों के छोटे-छोटे मंडलों में, बनी रहती थी? यदि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है, तब साहित्य का भविष्य अँधेरा है, क्योंकि जनता-जनार्दन को जो नहीं चाहिए वह नहीं रहेगा। यदि उत्तर अनुकूल है, तभी कुछ आशा हो सकती है, लेकिन तब प्रश्न उठता है, कैसे?

इस प्रश्न का कोई बना-बनाया उत्तर नहीं है, हल हमें तैयार करना होगा और उसका चित्र अभी बहुत धुँधला ही दीखता है। यह तो प्राय: सिद्ध हो गया है कि दैन्य और बेकारी और चिन्ता से मुक्ति मिलने से ही संस्कृति और सुरुचि अपने आप नहीं प्रकट हो जाते। अत: संसार की आर्थिक अवस्था सुधरने और जीविका का स्टैंडर्ड ऊँचा होने भर से एक विश्व-संस्कृति या एक राष्ट्रीय संस्कृति भी स्वयं पैदा नहीं हो जाएगी। यह झूठी आशा इसलिए और भी असार हो जाती है कि आज भी ऐसे अनेकों कर्कश किन्तु बलिष्ट स्वर हैं जो चिल्ला रहे हैं कि आर्थिक अवस्था का सुधार और सामाजिक वैषम्य का अन्त ही एक मात्र ध्येय है, साहित्य और कला भाड़ में जाएँ—या रहें भी तो राजनैतिक उद्देश्यों की अनुचर होकर!

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि किसी तरह की क्रान्ति के पहले ह्रास का निकृष्टतम तक छूना होगा, कि साहित्य के महान आदर्श पीढ़ियों की उपेक्षा के नीचे दबकर ही पुन: अंकुरित होंगे और सौन्दर्य के दुर्भिक्ष से आक्रान्त जगत को नये प्राण देंगे। हो सकता है कि ऐसा समय आने तक, साहित्यकारों और साहित्य-शिक्षकों का एक संगठित समुदाय संसार को पुन: शिक्षित बना दे—इतिहास में ऐसे उदाहरण तो हैं कि एक भौगोलिक क्षेत्र एकाएक पुन: शिक्षित बन गया हो—सांस्कृतिक पुनर्जीवन असम्भव तो नहीं है। लेकिन क्या यह डर बना हुआ नहीं है कि संसार की वर्तमान प्रगति को देखते हुए ऐसा भी सम्भव है कि साहित्य को वह मौका न मिले—वह घुटकर मर जाए? संसार भर में जिन लोगों को स्वतन्त्र सौन्दर्य से प्रेम है, उनके हृदयों में यही डर बसा हुआ है—फिर उनके राजनैतिक विचार और दृष्टिकोण कितने ही भिन्न क्यों न हों। साहित्य की कला, जो गरीबी से कभी बहुत दूर नहीं रही थी, कभी गर्वीली और मुक्त थी; लेकिन आज हम देखते हैं कि वह बन्दिनी है और व्यभिचार के लिए मजबूर है, जबकि विज्ञापनबाजों की चुनी हुई एक नटनी, 'मिस लिटरेचर' उसका स्वाँग भर रही है।

तब त्राण कहाँ से होगा? हमें समझ लेना चाहिए कि हमारा उद्धार मशीन से नहीं होगा, प्रचार-विज्ञापन से नहीं होगा, लेक्चर और विवाद और कवि सम्मेलनों से नहीं होगा। अगर उद्धार का उपाय कोई है, तो वह संस्कृति की रक्षा और निर्माण की चिर जागरूक चेष्टा, और उस चेष्टा की आवश्यकता में अखंड विश्वास, का ही मार्ग है। साहित्य का, कला का, चमत्कार मर रहा है, मरा अभी नहीं है, अगर उस

चमत्कार को पैदा करनेवाले पतन और निराशा से बच सकते हैं, और उससे मुकाबले की शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं, तो अभी परित्राण सम्भव है। और इस शक्ति को उत्पन्न करने का एकमात्र मार्ग है शिक्षा—शिक्षा जो निरी साक्षरता नहीं, निरी जानकारी नहीं, जो व्यक्ति की प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का स्फुरण है। यदि यह कथन बहुत अस्पष्ट जान पड़े, तो समझिए कि जरूरत है रुचि-संस्कार की, परख करने की, ट्रेनिंग की। बिना गहरी और विस्तृत अनुभूति के संस्कृति नहीं है। महान ट्रेजेडी के दिव्य और शोधक प्रभाव के आस्वादन के लिए, वीर-काव्य की गरुड़ उड़ान की चपेट सहने के लिए, लय और सौन्दर्य में डूबने के लिए, अपने भीतर नीर-क्षीर-विवेचन की प्रतिभा पैदा करने के लिए, मानसिक शिक्षण नितान्त आवश्यक बल्कि अनिवार्य है। इसके लिए अथक परिश्रम, विचार और एकाग्रता की जरूरत है।

यदि शिक्षण आधुनिक जगत् के प्रति अपना दायित्व पूरा करना चाहता है, तो उसे यह दुहरी जागरूकता पैदा करनी होगी—एक तो ऊपर वर्णित सांस्कृतिक विकास की क्रियाओं के प्रति, और दूसरे तात्कालिक भौगोलिक और मानसिक परिस्थिति के प्रति, और हमारी रुचियों, आदतों, विचारधाराओं और जीवन प्रणालियों पर उस परिस्थिति के असर के प्रति। स्वस्थ संस्कृति में हम नागरिक को स्वतन्त्र छोड़कर आशा कर सकते हैं कि उसकी परिस्थिति से ही उसकी संस्कृति उत्पन्न और नियमित होगी; किन्तु आज यदि हम जीवन के गौरव की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें परखने और मुकाबला करने की शक्ति को संगठित करना होगा, हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।

यह अतिरिक्त जागरूकता ही बचने का एकमात्र उपाय है। ऐसे ही जागरूक व्यक्तियों के द्वारा वह अलौकिक स्वास्थ्य-चेष्टा, वह प्रचेतन जीवनी-शक्ति instinct of self preservation, कार्य कर सकेगा जो हमारी resistance की बुनियाद है।

कला का स्वभाव और उद्देश्य

एक बार एक मित्र ने अचानक मुझसे प्रश्न किया—'कला क्या है?'

मैं किसी बड़े प्रश्न के लिए तैयार न था। होता भी, तो भी इस प्रश्न को सुन कर कुछ देर सोचना स्वाभाविक होता। इसीलिए जब मैंने प्रश्न के समाप्त होते-न-होते अपने को उत्तर देते पाया, तब मैं स्वयं कुछ चौंक गया। मुझे अच्छा भी लगा कि मैं इतनी आसानी से इस युग-युगान्तर के मसले पर फतवा दे गया।

पीछे लाज आयी। तब बैठकर सोचने लगा, क्या मैंने ठीक कहा था?

क्रमश: सोचना आरम्भ किया; कला के विषय में जो कुछ एक अस्पष्ट और अर्धचेतन विचार अथवा धारणाएँ मेरे मन में थीं, जिनसे मैं अनजाने ही शासित होता रहा था और कला सम्बन्धी विवादों के वातावरण में रहकर भी आश्वस्त भाव से कार्य कर सका था, वे विचार और धारणाएँ चेतन मन के तल पर आयीं; एकाधिक कोणों से जाँची गयीं। आज मैं दुबारा उस दिन कही हुई बात को कह सकता हूँ—कुछ हिचक के साथ, लेकिन फिर भी अनाश्वस्त भाव से नहीं। कुछ इस भावना से कि यह एक प्रयोगात्मक स्थापना है—सम्पूर्ण सत्य इसमें नहीं होगा, लेकिन इसकी अवधारणा सत्य के अन्वेषण और पर्यवेक्षण पर हुई है, अत: उसकी अ-सम्पूर्णता भी वैज्ञानिक है।

पहले सूत्र, फिर व्याख्या यह भारत की शास्त्रीय प्रणाली है। इसी के अनुकूल चलते हुए पहले सूत्र रूप से अपनी स्थापना उपस्थित की जाए। परिभाषा वह नहीं है, लेकिन परिभाषा उसमें निहित है, और व्याख्या में लक्ष्य हो सकेगी।

कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है।

इस स्थापना की परीक्षा करने के पहले कल्पना के आकाश में एक उड़ान भरी जाए। आइए, हम उस अवस्था की परिकल्पना करने का यत्न करें जिसमें पहली-पहली कलात्मक चेष्टा हुई—जिसमें कला का जन्म हुआ।

काव्य-कला के बारे में आपने वाल्मीकि की कथा सुनी है—क्रौंच-वध से फूटे हुए कविता के अजस्र निर्झर की बात आप अवश्य जानते हैं। वह कहानी सुन्दर है, और उसके द्वारा कविता के स्वभाव की ओर जो संकेत होता है—कि कविता

मानव की आत्मा के आर्त्त-चीत्कार का सार्थक रूप है—उसकी कई व्याख्याएँ की जा सकती और की गयी हैं। लेकिन हम इसे एक सुन्दर कल्पना से अधिक कुछ नहीं मानते। बल्कि हम कहेंगे कि हम इससे अधिक कुछ मानना चाहते ही नहीं। क्योंकि हम यह नहीं मानना चाहते कि कविता ने प्रकट होने के लिए इतनी देर तक प्रतीक्षा की! वाल्मीकि का रामचन्द्र का काल, और अयोध्या जैसी नगरी का काल, भारतीय संस्कृति के चरमोत्कर्ष का काल चाहे न भी रहा हो, यह स्पष्ट है कि संस्कृति की एक पर्याप्त विकसित अवस्था का काल था, और हम यह नहीं मान सकते—नहीं मानना चाहते—कि मौलिक ललित कलाओं में से कोई एक भी ऐसी थी जो इतने समय तक प्रकट हुए बिना ही रह गयी थी।

अतएव हम जिस अवस्था की कल्पना करना चाहते हैं, वह वाल्मीकि से बहुत पहले की अवस्था है। वैज्ञानिक मुहावरे की शरण लेकर कहें कि वह नागरिक सभ्यता से पहले की अवस्था होनी चाहिए, वह खेतिहर सभ्यता से और चरवाहा (nomadic) सभ्यता से भी पहले की अवस्था होनी चाहिए—वह अवस्था जब मानव करारों में कन्दराएँ खोदकर रहता था, और घास-पात या कभी पत्थर या ताँबे के फरसों से आखेट करके मांस खाता था।

उस समय के मानव-समाज—(उस प्रकार के यूथ को 'समाज' कहना हास्यास्पद लग सकता है, लेकिन 'समाज' का मूल-रूप यही विस्तारित कुटुम्ब रहा होगा) की कल्पना कीजिए और कल्पना कीजिए उस समाज के एक ऐसे प्राणी की, जो युवावस्था में ही किसी कारण—सर्दी खा जाने से, या पेड़ पर से गिर जाने से, या आखेटक में चोट लग जाने से—किसी तरह कमजोर हो गया है।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है। समाज जितना ही कम विकसित हो, उतना ही वह दायित्व अधिक स्पष्ट और अनिवार्य होता है—अविकसित समाज में विकल्प की गुंजाइश कम रहती है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित धर्म (function) होता है, और जितना ही समाज अविकसित होता है, उतना ही वह धर्म रूढ़ और अनिवार्य। इसलिए, जहाँ आज के समाज में व्यक्ति स्कूल भी जा सकता है और बाजार या नाचघर या खेत पर भी, वहाँ हमारी कल्पित अवस्था में नित्यप्रति समाज के सभी सदस्य सबसे पहले अपने-अपने अस्त्र लेकर खाद्य सामग्री की खोज में निकलते होंगे। फिर वे आवश्यकतानुसार खोह बनाते या साफ करते होंगे, इत्यादि। इस धर्म में रुचि-वैचित्र्य के कारण कोई अदल-बदल भी हो सकता है, यह उनकी कल्पना के बाहर की बात होगी।

स्पष्ट है कि हमने जिस 'किसी कारण कमजोर' व्यक्ति की कल्पना की है, वह अपने समाज का यह धर्म निभा न सकता होगा। अतएव सामाजिक दृष्टि से

उसका अस्तित्व अर्थ-हीन होता होगा। कौटुम्बिक स्नेह, मोह या ऐक्य-भावना के कारण कोई उस व्यक्ति को कुछ कहता न भी हो, तो भी मूक करुणा का भाव, और उसके पीछे छिपा हुआ उस व्यक्ति के जीवन की व्यर्थता का ज्ञान, समाज के प्रत्येक सदस्य के मन में होता ही होगा।

और क्या स्वयं उस व्यक्ति को इसका तीखा अनुभव न होता होगा? क्या बिना बताये भी वह इस बोध से तड़पता न होगा कि वह अपात्र है, किसी तरह घटिया है, क्षुद्र है? क्या उसका मुँह इससे छोटा न होता होगा और इस अकिंचनता के प्रति विद्रोह न करता होगा?

यहाँ तक उसकी अनुभूति की बात है, और आशा की जा सकती है कि आपको वह कल्पना अग्राह्य नहीं होगी। अब तनिक सोचा जाए कि यह अनुभूति उसे प्रेरणा क्या देगी—किस कार्य की मूल प्रेरणा बनेगी।

यह कहना कठिन है कि इस अपर्याप्तता के ज्ञान से एक ही प्रकार की प्रेरणा मिल सकती है। यह वास्तव में व्यक्ति के आत्मबल पर निर्भर करता है कि उसमें क्या प्रतिक्रिया होती है। वह आत्महत्या भी कर सकता है और शत्रु से लड़ने जाने का विराट प्रयत्न भी कर सकता है। लेकिन सब सम्भाव्य प्रतिकियाओं की जाँच यहाँ अप्रासंगिक होगी। हम ऐसे ही व्यक्ति को सामने रखें, जिसमें इतना आत्मबल है कि इस ज्ञान की प्रतिक्रिया रचनात्मक (positive) हो, न कि आत्म-नाशक।

ऐसे व्यक्ति के अहं का विद्रोह अनिवार्य रूप से सिद्धि की सार्थकता के Justification की खोज करेगा। वह चाहेगा कि यदि वह समाज का साधारण धर्म निबाहने में असमर्थ है, तो वह विशेष धर्म की सृष्टि करे, यदि समाज के रूढ़िगत जीवन के अनुरूप नहीं चल सकता है तो उस जीवन को ही एक नया अवयव दे जिसके ताल पर वह चले।

यह चाहना शायद चेतन नहीं होगी, तर्कना द्वारा सिद्ध करके नहीं पायी गयी होगी। सिद्धि की इच्छा अहं का तर्क द्वारा निर्धारित किया हुआ धर्म नहीं है, वह उसका मौलिक स्वभाव है। अतएव यह चाहना तर्कना के तल पर न आने से भी कमजोर नहीं हुई होगी, बल्कि अधिक दुर्निवार ही होगी-वैसे ही जैसे समुद्र की सतह की छालियों से कहीं अधिक दुर्निवार प्रवाह नीचे की धाराओं (Currents) में होता है।

तो इस चाहना द्वारा अज्ञात-रूप से प्रेरित होकर—वैसे ही, जैसे कस्तूरी-मृग अपने ही गन्ध द्वारा उन्मादित होता है—व्यक्ति क्या करेगा? अपना-अपना धर्म सम्पादित करते हुए व्यक्तियों से घिरे हुए अपर्याप्तता के बोध के उस निविड़ अकेलेपन में, वह किसी तरह अपने मर्म की रक्षा करता होगा?

हमारी कल्पना देखती है कि जब उस समाज के समर्थ और बलिष्ठ अहेरी

अपने-अपने अस्त्र सँभालते हैं, तब वे पाते हैं, उनके अस्त्रों के हत्थों पर शिकार की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जिनमें अपनी सामर्थ्य का प्रतिबिम्ब देखकर उनकी छाती फूल उठती है; कि जब वे दल बाँध कर खोहों से बाहर निकलते हैं, तब शिकार के रण नाद और घमासान के तुमुल स्वर न जाने कैसे एक ही कंठ के आलाप में रणरंगित हो उठते हैं, कि जब वे लदे हुए कन्धों पर थके और श्रमसिंचित मुँह लटकाए खोहों की ओर लौटते हैं तब पाते हैं कि खोहों का मार्ग पत्थर की बुकनी से आँकी गयी फूल-पत्तियों से सजा हुआ है; कि जब वे दाम्पत्य जीवन की द्विगुणित एकान्तता में प्रवेश करते हैं तब सहसा पाते हैं कि उस जीवन की चरमावस्था सहचरी के वक्ष पर किसी फल के रस से गोद दी गयी है!

तब वे विस्मय से भरकर कहते हैं, 'अमुक है तो बिचारा, लेकिन उसके हाथ में हुनर है।'

हमारे कल्पित 'कमजोर' प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर, अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है—उसे एक नयी उपयोगिता सिखायी है—सौन्दर्य-बोध! पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा, पहली कलाचेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी, फिर चाहे वह रेखाओं द्वारा प्रकट हुआ हो, चाहे वाणी द्वारा, चाहे ताल द्वारा चाहे मिट्टी के लोंदों द्वारा।

कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्त के विरुद्ध विद्रोह—है।

(2)

यहाँ पाठक कह सकता है, कल्पना तो अच्छी है, लेकिन जो स्थापना उसके सहारे की गयी है वह कोई निश्चित अर्थ नहीं रखती। क्योंकि 'समाज' से क्या मतलब? और अपर्याप्तता का क्या अभिप्राय? मान लीजिए कि व्यक्ति रहता ही है अकेला, उसके आस-पास कोई और व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय है ही नहीं, तब क्या वह कलाकार हो ही नहीं सकता? और आधुनिक युग में, जब समाज का संगठन ऐसा है कि 'कमजोर' व्यक्ति भी पद या धन की सत्ता के कारण समर्थ हो सकता है, तब अपर्याप्तता का अनुभव कैसा?

'समाज' से अभिप्राय है वह परिवृत्ति जिसके साथ व्यक्ति किसी प्रकार अपनापन महसूस करे। वह मानव-समाज का एक अंश भी हो सकती है, और मानव-समाज की परिधि से बाहर बढ़कर पशु-पक्षियों (जीव-मात्र) को भी घेर सकती है; बल्कि (चरमावस्था में) मानव-समाज को छोड़कर पशु-पक्षियों और

पेड़-पत्तों तक ही रह जा सकती है। समाज की इयत्ता अन्ततोगत्वा समाजत्व की भावना पर ही आश्रित है। यदि किसी कारण हम अपनी परिवृत्ति से सामाजिक सम्बन्ध नहीं महसूस करते तो वह हमारा समाज नही हैं, यदि किसी दूसरी परिवृत्ति से वैसा सम्बन्ध मानते हैं, तो वह हमारा समाज है। इस सम्बन्ध की अनुभूति के कारणों का विश्लेषण यहाँ प्रासंगिक नहीं है।

'अपर्याप्तता' का आधुनिक अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति धन की, या पद की, या किसी दूसरी सत्ता के कारण अपने को अपने अहं के सामने प्रमाणित कर लेता है, तो अपर्याप्तता की भावना उसमें नहीं होगी, न उसके विरुद्ध विद्रोह करने की ललकार ही उसे मिलेगी। अन्ततः कन्दरावासी कलाकार और आधुनिक कलाकार में कोई विशेष भेद नहीं रहता; दोनों ही में एक अपर्याप्तता चीत्कार करती है। यह अनिवार्य नहीं है कि उसके ज्ञान से सदा कला-वस्तु ही उत्पन्न हो, वह परास्त भी कर सकती है परन्तु उससे हमारी यह स्थापना झूठी नहीं होती कि प्रत्येक कला-चेष्टा की जड़ में एक अपर्याप्तता की भावना काम कर रही होती है।

पाठक को इन प्रारम्भिक शंकाओं के शान्त हो जाने पर अन्य शंकाएँ खड़ी होंगी—पाठक के मन में नहीं तो स्वयं कलाकार के मन में। हमारा साहित्यकार शायद जोर-शोर से इस स्थापना का खंडन करेगा, क्योंकि इससे उसकी 'कमजोर', उसकी अपूर्णता अथवा हीनता ध्वनित होती समझी जा सकती है। लेकिन इसे इस दृष्टि से देखना उसकी भूल होगी। एक तो इसलिए, कि यह वास्तविक अपूर्णता नहीं, यह एक विशेष दिशा में असमर्थता है। समाज का साधारण जीवन जिस दिशा में जाता है, जिन लीकों में चलता है, उन दिशाओं और उप लीकों में चलने की असमर्थता तो इससे ध्वनित होती ही है, लेकिन क्या यही वास्तव में अपूर्णता या हीनता (Inferiority) है? नहीं। समाज के साधारण जीवन में अपना स्थान न पाकर तो वह प्रेरित होता है कि वह स्थान बनाये; अतएव पुरानी लीकों पर चलने की असामर्थ्य ही नयी लीकें बनाने की सामर्थ्य को प्रोत्साहन देती हैं। दूसरे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लेखकों में—बल्कि साधारणतया कलाकार समुदाय में, जो एक विशेष प्रकार की असहिष्णुता, अहम्मन्यता, एक दुर्विनीत श्रेष्ठता की भावना दीखा करती है, वह भी एक आत्म-रक्षा का कवच है—किसी मौलिक अपूर्णता या अपर्याप्तता के ज्ञान को अपने अहं के आगे से हटा देने की चेष्टा है। जो पाठक या लेखक आधुनिक मनोविज्ञान की स्थापनाओं से परिचित हैं वे जानेंगे कि इस प्रकार की क्षतिपूरक क्रियाएँ मानव-जीवन में कितना महत्त्व रखती हैं।

(3)

उपर्युक्त अवधारणा एक प्रकार की कल्पना ही है। फिर भी वह उससे कुछ अधिक है। उससे हम एक स्थापना पर पहुँचते हैं और वह कला की परिभाषा न भी करे तो उसके स्वभाव की कुछ व्याख्या अवश्य करती है। लेकिन कोई भी व्याख्या सार्थक नहीं है; फलवती नहीं है यदि वह विषय को स्पष्ट करने के अतिरिक्त कुछ प्रदर्शन नहीं करती, निर्देश नहीं करती। क्या हमारी व्याख्या इस दृष्टि से कुछ अर्थ रखती है?

हमारा अनुमान है कि 'यदि कला कैसे उत्पन्न होती है?' इस प्रश्न का हमारा दिया हुआ उत्तर ठीक है, तब 'कला किसलिए है?' इस प्रश्न का उत्तर भी इसी में निहित होना चाहिए। क्षणभर जाँच करके देखें, तो हम पाएँगे कि यह अनुमान गलत नहीं है, अर्थात इस कसौटी पर हमारी परिभाषा खरी उतरती है। कस्मै देवाय हविषा विधेम, का समुचित उत्तर हमें इस परिभाषा से मिल जाता है।

हमने कहा कि कला एक अपर्याप्तता की भावना के प्रति व्यक्ति का विद्रोह है। इसका अभिप्राय क्या है? कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है। अर्थात वह अन्तत: एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने का अक्षुण्ण रखना चाहता है, सामाजिक उपादेयता यद्यपि भौतिक उपादेयता से श्रेष्ठ ढंग की उपादेयता का अनुभव करना चाहता है। अतएव अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार में एक दायित्व भाव रहता है—अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बनकर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है, वह क्या सचमुच इतना अन्त्यन्तिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके? इस प्रकार कलावस्तु-रचना का—एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है। इस क्रिया को हम यों भी कह सकते हैं कि 'सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती' और यों भी कह सकते हैं कि 'प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित है' अथवा 'सच्चौ कलावस्तु अन्तत: एक नैतिक मान्यता (Ethical value) पर आश्रित है, एक नैतिक मूल्य रखती है।' हाँ यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम एक श्रेष्ठतर नीति (Ethic) की बात कह रहे हैं, निरी नैतिकता (Morality) की नहीं।

यह एक पक्ष है कि कला समाज के द्वारा समाज के इस या उस अंग के लिए नहीं है, पर उद्देश्यहीन सौन्दर्यपासना, निरा उच्छ्वास भी नहीं है, एक नैतिक उद्देश्य से अन्त:सलित है।

किन्तु यह एक पक्ष ही है। दूसरा पक्ष भी एक है। ऊपर कहा गया है कि कला

एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को सिद्ध प्रमाणित करना चाहता है। अगर इस वाक्य के पूर्वार्ध पर आग्रह था, अब उसके उत्तरार्ध पर विचार किया जाए। 'आत्मदान' अहं को ही पुष्ट करने के लिए है, क्योंकि अहं को छोटा करके व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं रह सकता, बल्कि शायद जी भी नहीं सकता। इस प्रकार कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में 'स्वान्तःसुखाय' भी होता है, और वह सुख अपनी सिद्धि पा लेने का, समाज को उसके बीच रहे होने का प्रतिदान दे देने का सुख है। 'कला कला के लिए' झूठ नहीं है, वह अत्यन्त सत्य है, लेकिन एक विशेष अर्थ में। यदि 'कला कला के लिए' का अर्थ है, निरे 'सौन्दर्य' की खोज—किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के द्वारा एक रसायनिक सौन्दर्य की उपलब्धि, तब वह कला और कलाकार को कोई भी सुख नहीं दे सकती—न आत्मदान का न आत्मबोध का, वह कला वन्ध्या है।

कला के इस दुहरे उत्तरदायित्व को समझ कर ही अपने कलाकार अपने और अपने समाज और यदि उसकी आत्मा इतनी विशाल है कि 'समाज' के अन्तर्गत समूचे मौलिक जगत को खींच सकती है, तब वह अपने संसार के सम्बन्ध को फलप्रद बना सकता है, सिद्ध हो सकता है, अर्थात सच्चा कलाकार हो सकता है।

रूढ़ि और मौलिकता

*The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.**

टी.एस.इलियट

'भारतवादी रूढ़िवादी हैं', यह कथन हम सबने कभी-न-कभी सुना है। प्राय: वह स्वीकार भी होता रहा है। एक दिन इस कथन में सराहना का भाव था—यह भारतीयों का गुण समझा जाता था कि वे रूढ़ियों को मानते हैं; आज, जब चारों और 'प्रगति' की इतनी चर्चा है तब रूढ़ियाँ हमारे जीवन-नाटक के खल-नायक के पद पर शोभित होने लगी हैं। साहित्य में भी, विशेषतया आलोचना के प्रसंग में, यह फैशन-सा हो गया है कि रूढ़ि का तिरस्कार किया जाए। जब यह तिरस्कार इतना स्पष्ट नहीं भी होता, तब भी हम किसी आधुनिक लेखक की समकालीनता अथवा कि 'आधुनिकता' का मूल्यांकन इसी कसौटी पर करते हैं कि वह किस हद तक रूढ़ियों को मानता अथवा तोड़ता है। उदाहरणतया हम प्राय: कहते हैं कि 'हरिऔध' रूढ़िवादी हैं, तथा पन्त और 'निराला' आधुनिक हैं यानी रूढ़ियों के प्रति विद्रोही हैं।

आलोचना के वर्तमान फैशन की ओर तनिक ध्यान दें तो हम देखेंगे, आजकल हिन्दी में (हिन्दी में ही क्यों, प्राय: सर्वत्र ही,) लेखक अथवा कवि की रचनाओं के 'मौलिक', 'व्यक्तिगत' विशेष गुणों पर जोर देने की परिपाटी-सी चल पड़ी है। आजकल का साहित्यकार अपनी 'भिन्नता' के लिए ही प्रशंसा पाता है, 'मौलिकता' 'भिन्नता' का ही पर्यायवाची बन गया है। कवि को हम उसके पूर्ववर्त्तियों से, विशेषकर निकट पूर्ववत्तियों से, उच्छिन्न करके देख सकें तभी हमें सन्तोष होता है। आलोचकों के आगे यह कहना अपने को हास्यास्पद बना देना होगा कि कभी-कभी साहित्यकार का गौरव, उसकी रचना का महत्त्व, इस बात से भी हो सकता है कि उसमें साहित्यकार के पूर्ववत्तियों की लम्बी परम्परा, उसके साहित्य की रूढ़ि, पुन: जी रही और मुखर ही रही है।

लेकिन हास्यास्पद बनने का खतरा उठाकर भी यही कहना आवश्यक जान

---

* कलाकार जितना ही सम्पूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगनेवाले प्राणी और रचनेवाली मनीषा का पृथक्त्व स्पष्ट होगा।

पड़ता है कि रूढ़ि-परम्परा-के विषय में अपनी धारणाओं की दुबारा जाँच करना अनिवार्य हो गया है। क्या हमारी धारणा ठीक है? क्या 'रूढ़ि' की परिभाषा 'पुराने साहित्य की अग्राह्य और खंडनीय परिपाटियाँ' ही है? क्या परम्परा को निबाहना, गयी हुई पीढ़ियों की रीतियों और सफलताओं के अन्धानुकरण का ही नाम है? रूढ़ि क्या है? परम्परा का साहित्य में क्या स्थान है, और साहित्यकार के लिए क्या मोल?

रूढ़ि की रूढ़िग्रस्त परिभाषा हमें छोड़नी होगी, हमें उदार दृष्टिकोण से उसका नया, और विशालतर अर्थ लेना होगा। हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि रूढ़ि अथवा परम्परा कोई बनी-बनायी चीज़ नहीं है जिसे साहित्यकार ज्यों-का-त्यों पा या छोड़ सकता है, मिट्टी के लोंदे की तरह अपना या फेंक सकता है। हमें यह किंचित् विस्मयकारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है, लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है। और हम यह भी सिद्ध करेंगे कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वांछनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।

रूढ़ि की साधना, परम्परा के प्रति जागरूकता, कैसे प्राप्त हो सकती है और किस प्रकार साहित्यकार के मानस को, उसके कार्य के मूल्य को, प्रभावित करती है? इस जागरूकता का मुख्य उपकरण है एक ऐतिहासिक चेतना—अर्थात जो कालानुक्रम में बीत गया है, अनीति है, उसके बीतेपन की ही नहीं, उसकी वर्तमानता की भी तीखी और चिर-जाग्रत अनुभूति। साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि साहित्य में और जीवन में 'आसीत्' का और 'अस्ति' का. जो 'अचिर' हो गया है उसका और जो 'चिर' है उसका, और इन दोनों की परस्परता, अन्योन्याश्रयता का ज्ञान उसमें बना रहे। आधुनिक हिन्दी लेखक में यदि यह ऐतिहासिक चेतना होगी, तो उसकी रचना में न केवल अपने युग, अपनी पीढ़ी से उसका सम्बन्ध बोल रहा होगा; बल्कि उससे पहले की अनगिनत पीढ़ियों की, और उनके साथ अपनी पीढ़ी की संलग्नता और एकसूत्रता की भी तीव्र अनुभूति स्पन्दित हो रही होगी। जो 'है', उसकी साधना में ऐसा साहित्यकार उसे एक ओर हटाकर नहीं फेंक सकेगा जो 'था'; यह अनुभव करेगा कि 'अतीत' उसी का नाम है जो पहले से वर्तमान है, जबकि 'आज' वह है तो वर्तमान होना आरम्भ हुआ है। अतीत और वर्तमान के इस दुहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक वर्तमानता और उनकी एकसूत्रता की, निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है; और इस चेतना का अनवरत स्पन्दनशील विकास ही परम्परा का ज्ञान। काल की प्रवहमानता के ऐसे ज्ञान के बिना साहित्यकार उस प्रवाह में अपना स्थान भी नहीं जान सकता, आधुनिक क्या किसी भी युग में जम नहीं सकता। ऐसे ज्ञान से हीन साहित्यकार ऐसा अंकुर है जो कहीं से भी प्राण-रस

खींचने का मार्ग नहीं स्थापित कर सका 'काल के महाप्रांगण' में कहीं भी अपनी जड़ें नहीं जमा सका, जो उच्छिन्न होकर ही फूटा है।

इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का यत्न किया जाए। इसके लिए हम आज का कोई भी कवि ले लें— *'नूतन'* अथवा *'विद्रोही'* माना जानेवाला कवि ही—मान लीजिए सूर्यकान्त त्रिपाठी *'निराला'*। क्या इन्हें समझना, इनकी समीक्षा करना साहित्य के विकास में इनका स्थान और महत्त्व निश्चित करना, इनकी रचना का मूल्य आँकना, केवल उन्हीं को अकेले-अकेले देखकर सम्भव है? क्या उनकी तत्कथित विशेषता, भिन्नता, को देखने के लिए भी हम उन्हें उनके पूर्ववर्तियों के बीच नहीं रखेंगे, उनसे तुलना नहीं करेंगे? क्या उन पर, किसी भी कवि पर, कोई भी मत स्थिर करने से पहले हम उसके पूर्ववर्ती साहित्यकारों और कवियों के साथ उसके सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल नहीं करेंगे?

इस प्रकार का अन्वेषण केवल 'ऐतिहासिक' विवेचन के लिए नहीं, कलात्मक विवेचन के लिए भी नितान्त आवश्यक है। कोई भी कलावस्तु, चाहे कितनी भी नयी क्यों न हो, ऐसी वस्तु नहीं है जो अकस्मात् अपने आप 'घटित' हो गयी है; वह ऐसी वस्तु है, जो अपने-आप में नहीं, अपने पूर्ववर्ती तमाम कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है। जितनी ही वह नयी है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण घटना कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है; उतना ही परम्परा के साथ उस सम्बध का अन्वेषण करना प्रासंगिक हो गया है! क्योंकि 'जो पहले से वर्तमान है' उसकी तो एक बनी-बनायी परम्परा थी, उसमें एक प्रवहमान स्थिरता, एक सामंजस्य था जो कि एक नयी वस्तु के आविर्भाव से डाँवाडोल हो गया है। पुन: किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित होने के लिए, एक नया तारतम्य प्राप्त करने के लिए, समूची परम्परा को पुन: जमाना होगा, फिर इसके लिए आवश्यक परिवर्तन चाहे कितना ही अल्प अथवा सूक्ष्म क्यों न हो।

परिणाम यह निकला कि प्रत्येक नयी रचना के आते ही, पूर्ववर्ती परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध, उनके परम्परा अनुपात और सापेक्ष्य मूल्य अथवा महत्त्व का फिर से अंकन हो जाता है; तथा 'पुरातन' और 'नूतन', 'रूढ़' और 'मौलिक', परम्परा और प्रतिभा में एक नया तारतम्य स्थापित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम वर्तमान को अतीत के मानदंड पर नाप रहे हैं, अथवा कि अतीत को ही वर्तमान द्वारा आँक रहे हैं। वास्तव में इस क्रिया द्वारा दोनों विभूतियाँ परस्पर एक दूसरे के योग पर, घटित होती हैं। आधुनिक साहित्यकार को मानना पड़ता है कि, वह चाहे या न चाहे, उसे अतीत द्वारा, रूढ़ि द्वारा उतना ही नियमित होना पड़ता है जितना वह स्वयं उसे परिवर्तित अथवा परिवर्धित करता है।

नि:सन्देह ऐसा ज्ञान आधुनिक साहित्यकार के उत्तरदायित्व को बहुत बढ़ा देता

है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इससे साहित्य-रचना में कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती हैं। क्योंकि इससे लेखक में यह चेतना उत्पन्न होती है कि एक विशेष अर्थ में वह अतीत द्वारा जोखा जा रहा है, उसके आगे परीक्षार्थी है। लेकिन उसे समझना चाहिए कि वह अतीत द्वारा जोखा ही जाता है, कुंठित नहीं होता। अतीत का निर्णय खंडित करनेवाला, बाँधनेवाला नहीं है—आधुनिक लेखन की आलोचना पूर्ववर्त्तियों जैसा या पूर्ववत्तियों से अच्छा या बुरा कहकर नही की जा सकती। न ही आधुनिक साहित्य का मोल पूर्ववर्त्ती आलोचकों की कसौटियों पर आँका जा सकता है। अतीत द्वारा जोखे जाने का अर्थ अतीत मानदंडों द्वारा जोखा जाना नहीं है। अतीत के कृतित्व का अन्धानुकरण विघातक होगा। निरी गतानुगतिकता से कला की परम्परा की रक्षा कदापि नहीं होती; क्योंकि जो केवल आवृत्ति है वह नूतन नहीं है और नूतनता के चमत्कार के बना वह कला ही नहीं है। अतीत के द्वारा जोखे जाने का अभिप्राय इतना ही है कि नूतन रचना उसके साथ एक तारतम्य स्थापित कर सके, एकसूत्र हो सके, उसमें परम्परा की प्रवहमानता स्पन्दित हो। यदि ऐसा नहीं होता, और जब तक ऐसा नहीं होता—यदि नयी रचना के साथ कला की रूढ़ि का कोई सम्बन्ध नहीं बनता, वह एक विलग, असम्बद्ध, खंडित इकाई के रूप में रहती है—तब और तब तक, वह कला के क्षेत्र में महत्त्व नहीं रखती, प्राणवान नहीं होती है। बिना एक गतियुक्त और वर्धमान (Organic) परम्परा, एक जीवित रूढ़ि के, कला का अस्तित्व टिक नहीं सकता। इस चौंका देनेवाली और किंचित शंकनीय उक्ति को तनिक और स्पष्ट करके कहना होगा। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कोई रचना इसीलिए महत्त्व रखती है कि वह परम्परा के अनुकूल है; अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह अनुकूलता अथवा तारतम्य उसके महत्त्व का सूचक हो सकता है! रूढ़ि के साथ सम्बन्ध अथवा तारतम्य स्वयं ही रचना का मूल्य अथवा महत्त्व नहीं है; मूल्य अथवा महत्त्व उस गतियुक्त और वर्धमान परम्परा में, रूढ़ि की सजीव प्रवहमानता में है जो इस तारतम्य से व्यंजित होती है।

यह परिभाषा, यह सूक्ष्म भेद, इतना महत्त्व रखता है कि पुनरावृत्ति दोष का सामना करके भी इसे और स्पष्ट करने का प्रयत्न करना होगा। यों कहें कि कोई भी लेखक अतीत को ज्यों-का-त्यों, सत्तू के गोले की तरह निगल नहीं सकता, लेकिन साथ ही वह अपनी रचना के लिए किसी एक-डेढ़ कलाकार को आदर्श बनाकर, अथवा किसी विशेष काल का अनुसरण करके भी नहीं चल सकता। एक कवि या कवि समुदाय को आदर्श मान कर उसके ढंग अथवा शैली की साधना करना वय:सन्धिप्राप्त लेखक के लिए रुचिकर या हितकर हो सकता है; एक युग की अनुगतिकता साहित्यिक व्यायाम अथवा रुचि-परिष्कार के लिए उपयोगी हो सकती है। लेकिन प्रौढ़ और बलिष्ट साहित्य इस तरह नहीं चल सकता। साहित्यकार को

कला की, साहित्य-सृष्टि की मुख्य प्रवृत्ति से, साहित्यिक परम्परा की निरन्तर विकासशील प्रवहमानता से परिचित होना ही होगा; अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्तमान के विकास को भी परम्परा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी ही होगी। उसे अपने निजी, व्यक्तिगत, भिन्न, अकेले मन के प्रति ही नहीं, अपने साहित्य के, अपने समाज के, अपनी सांस्कृतिक परविृत्ति के, अपने देश के समाष्टिगत मन के—यदि उसकी क्षमता उतनी है तो जन-मन विश्व-मन के —प्रति भी सचेतन होना होगा; क्योंकि उसे इसका भी अनुभव करना होगा कि वह विशालतर मन उसके निजी मन से कहीं अधिक गौरव रखता है, और जितने ही बड़े मन की जितनी ही गहरी चेतना उसमें है, उतना ही अपने युग के साथ उसका सम्बन्ध फलप्रद है। इतना ही नहीं, उसे यह भी जानना होगा कि यह सामूहिक मन परिवर्तन हो सकता और होता है, विकासशील है, पर इस विकास और परिवर्तन में वह अपने किसी अंग का परित्याग अथवा बहिष्कार नहीं करता, केवल उसके प्रति एक नयी चेतना पैदा कर देता है। वाल्मीकि के लिए वेदों को, कालिदास के लिए वाल्मीकि को, तुलसीदास के लिए कालिदास को, या मैथिलीशरण गुप्त के लिए तुलसीदास को, वह छोड़े नहीं देता; वह इन सब को अपनी प्रवहमानता के लम्बे सूत्र में पिरोता चलता है। उस मन में अतीत कुछ भी नहीं होता, केवल 'पहले से वर्तमान' की वह परम्परा बढ़ती चलती है जिसमें 'नया आया हुआ वर्तमान' अपना स्थान बनाएगा। अचिर के साथ चिर के तारतम्य की यही बाध्यता, अचिर की माला में गुँथ जाने का चिर का अधिकार, साहित्यकार के लिए रूढ़ि अथवा परम्परा का यही 'शापमय वरदान' है।

शायद इतना भी पर्याप्त नहीं होगा, शायद साहित्यकार को इससे भी अधिक कुछ जानना होगा। एक तो उसे यह समझना होगा कि 'कला की, साहित्य-रचना की मुख्य प्रवृत्ति, का युग के सबसे उल्लेखनीय कवियों की ही रचनाओं में प्रतिबिम्बत होना अनिवार्य नहीं है। बहुत सम्भव है कि एक युग की मुख्य चिन्ताधारा ऐसे कवियों में लक्ष्य हो जो अपने युग में या कभी भी प्रसिद्धि नहीं पा सके। इस कठिनाई का सामना करते हुए उसे युग की नब्ज पहचाननी होगी, युग की चेतना का विशालतर रूढ़ि की चेतना के साथ सम्बन्ध जोड़ना होगा।

दूसरी कठिनाई उसके आगे यह होगी कि यद्यपि सामूहिक मन निरन्तर बदल रहा है, तथापि यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि यह परिवर्तन अनिवार्य रूप से 'उन्नति' का परिणाम है—कि इस परिवर्तन द्वारा हम कलात्मक दृष्टि से (अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, कम से कम उस हद तक जितना की कल्पना की जा सकती है) पहले से अच्छे हो गये हैं। निश्चयपूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कला की सामग्री निरन्तर बदलती रहती है, कला शायद नहीं बदलती।

सम्भव है, सामूहिक मन का परिवर्तन केवल जीवन के संगठन की क्रमशः बढ़ती हुई उलझन का ही परिणाम है, और स्वयं एक अधिक उलझी विचार-संघटना का पर्यायवाची है। किन्तु वह चाहे जो हो, यह तो स्पष्ट ही है कि उस परिवर्तन द्वारा प्राचीन और नवीन में एक अन्तर आ जाता है। अतीत और वर्तमान के इस अन्तर को हम यों कह सकते हैं कि जागरूक वर्तमान, अतीत की एक नये ढंग की और नये परिणाम में अनुभूति का नाम है, जैसी और जितनी अनुभूति उस अतीत को स्वयं नहीं थी। वर्तमान में रहनेवाले साहित्यकार के लिए अतीत का, परम्परा का, यही महत्त्व है।

आधुनिक साहित्यकार के लिए रूढ़ि के ज्ञान को, ऐतिहासिक चेतना को इतना महत्त्व देना पाठक को अनुचित जान पड़ सकता है। वह कह सकता है कि ऐसी चेतना के लिए बहुत पढ़ाई की, प्रकांड पांडित्य की आवश्यकता होगी, और इतिहास की साक्षी दे सकता है कि कलाकार पंडित नहीं होते, न पंडित कलाकार। वह कह सकता है कि बहुत अधिक कोरे 'ज्ञान' से अनुभूति-क्षमता कम होती है। सरसरी दृष्टि से यह तर्क बहुत माकूल जान पड़ता है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो इसमें एक भ्रान्त धारणा निहित है। ज्ञान अथवा शिक्षण केवल किताबी जानकारी का, परीक्षाएँ पास करने के लिए या रौब डालने के लिए इकट्ठे किए हुए इतिवृत्त का, काम नहीं है। निःसन्देह साहित्यकार को अपनी ग्रहणशीलता अक्षुण्ण बनाये रखते हुए अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए *लेकिन रूढ़ि के ज्ञान के लिए, परम्परा के सजीव स्पन्दन की चेतना के लिए, निरी जानकारी और पांडित्य अनिवार्य नहीं है ऐतिहासिक चेतना प्राप्त करने के लिए— निजी मन के साथ-साथ और उसके ऊपर, सामूहिक मन का अनुभव करने के लिए—कुछ को बहुत परिश्रम करना पड़ सकता है; कुछ उसे अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। भारत के ग्राम्य-मन की जो जीवित अनुभूति गाँधी में है, या हिन्दी साहित्य क्षेत्र में प्रेमचन्द में थी, वह पांडित्य के सहारे नहीं आयी। जो सांस्कृतिक चेतना 'प्रसाद' में गूढ़ अध्ययन के सहारे जागी जान पड़ती है** वह अधिक स्वाभाविक और स्वच्छ रूप से सियारामशरण गुप्त में लक्षित होती है। कोई लोग धोखकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, कोई अशयास सोखकर। पांडित्य पर हमारा आग्रह नहीं, आग्रह इस बात पर है कि साहित्यकार में अतीत की चेतना होनी या आनी चाहिए, और उसे आजीवन इसको पुष्ट और विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

* और हमारा अनुमान है कि आज के हिन्दी साहित्यकारों में अधिकांश में इतनी जानकारी नहीं है। जितनी उनकी ग्रहणशीलता अथवा अनुभूति-क्षमा है, उसे कम किये बिना ही निरी जानकारी बढ़ाने की बहुत काफ़ी गुंजाइश है।

** इस आयास-सिद्ध सांस्कृतिक चेतना के साथ 'प्रसाद' में एक प्रतिगामी चेष्टा भी है, अपने युग के साथ उनका तारतम्य नहीं स्थापित हुआ। देखिए 'परिस्थिति और साहित्यकार'।

किसी ने कहा है, 'The dead writers are removed from us because we know so much more than they did.' अर्थात, 'हम पूर्ववर्ती लेखकों से इसलिए अलग हैं कि हम उनसे कहीं अधिक जानते हैं।' वह अधिक क्या है? स्वयं हमारे पूर्ववर्ती लेखक, जिन्हें हम जानते हैं। यही परम्परा के निर्माण की क्रिया का खुलासा है। इसी बात को दूसरी तरह कहें, तो कह सकते हैं कि रूढ़ि के, परम्परा के, विरुद्ध हमारा कोई विद्रोह हो सकता है तो यही कि हम अपने को परम्परा के आगे जोड़ दें।

और यह योग किस प्रकार होता है? साहित्यकार के आत्मदान द्वारा। कलाकार निरन्तर अपने व्यक्तिगत मन को, अपने तात्कालिक, अधिक क्षणिक अस्तित्व को, एक महानतर मन में और एक विशालतर अस्तित्व के ऊपर निछावर करता रहता है, अपने निजी व्यक्तित्व को एक वृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है। यह आत्मनिवेदन मृत्यु नहीं है—ऐतिहासिक चेतना के सहारे कलाकार को जानना चाहिए कि व्यक्तित्व का उत्सर्ग उसका विनाश नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा वह उस परम्परा को भी परिवर्धित कर रहा है जिस पर वह निछावर है*। छोटे व्यक्तित्व से, निरन्तर बड़े व्यक्तित्व की ओर बढ़ते जाना—यही कलाकार की प्रगति और उन्नति है। और ऐतिहासिक चेतना-परम्परा के स्पन्दन की अनुभूति—इस उन्नति का साधन और मार्ग है।

2

Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.**

— टी.एस. इलियट

साहित्य के निर्माण को समझने के लिए, रूढ़ि के आगे व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग की इस क्रिया का, जिसे ऊपर भी और अन्यत्र भी स्पष्ट करने का यत्न किया गया है, विशेष महत्त्व है। अतएव इसे और निकट से देखने का प्रयास असंगत न होगा।

आलोचना का विषय साहित्य है, साहित्यकार नहीं, कविता है, कवि नहीं; यद्यपि जैसा कि अन्यत्र भी सूचित किया गया है, साहित्य और काव्य की जाँच के लिए भी हमें निरन्तर उस मन की धातु (quality) परखनी होगी जिससे साहित्य उद्भूत हुआ है। स्पष्ट रहे कि 'मन की परख' व्यक्तित्व की या व्यक्तिगत इतिहास की जाँच से बिलकुल भिन्न है क्योंकि 'अनुभव करनेवाला प्राणी' और 'रचना करने वाले मन' अलग-अलग हैं या होने चाहिए। इस प्रकार की किसी साहित्यिक कृति

* इस सम्बन्ध में देखिए 'परिस्थिति और साहित्यकार'।

** कविता भावों का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से मुक्ति है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।

का मूल्यांकन करने के लिए हमें अन्य साहित्यिक कृतियों के साथ उसके सम्बन्ध की ओर तो ध्यान देना ही होगा, साथ ही साथ हमें यह भी जाँच करनी होगी की रचना का उसके निर्माता के साथ—रचना करनेवाले मन में साथ—क्या सम्बन्ध है। 'प्रौढ़' और कच्ची कवि-प्रतिभा का अन्तर कवियों के 'व्यक्तित्व' कितना बड़ा अथवा कितना आकर्षक है, कौन अधिक रोचक है, अथवा किसके पास अधिक 'सन्देश' है। वास्तविक अन्तर की पहचान यह है कि कौन-सा कवि-मानस किन्हीं विशेष अथवा परस्पर भिन्न, 'उड़ती हुई' अनुभूतियों के मिश्रण और संयोग और चिरनूतन संगम के लिए अधिक परिष्कृत और ग्रहणशील माध्यम है।

अँग्रेज़ी कवि-आलोचक टी.एस.इलियट ने इस क्रिया की तुलना एक रसायनिक क्रिया से की है। सल्फर डायक्साइड और आक्सीजन से भरे हुए पात्र में यदि प्लाटिनम का चूर्ण प्रविष्ट किया जाए तो वे दोनों गैसें मिलकर सल्फ्यूरस एसिड में परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया प्लाटिनम की उपस्थिति के बिना नहीं होती, तथापि बननेवाले अम्ल में प्लाटिनम का कोई अंश नहीं होता, न प्लाटिनम में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन ही दीखता है—वह ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है। इलियट कवि-मानस की तुलना इस प्लाटिनम के चूर्ण से करता है। कवि मानस भी किन्हीं विभिन्न अनुभूतियों पर असर डालकर उसे मिश्रण और संगम का माध्यम बनता है; उस संगम से एक कलावस्तु निर्मित होती है जो विभिन्न तत्त्वों का जोड़ भर नहीं, उससे कुछ अधिक है, एक आत्यन्तिक एकता रखती है; और जो बिना कवि-मानस के माध्यम के अस्तित्व नहीं प्राप्त कर सकती थी।

ध्यान रहे कि यद्यपि कवि-मानस ही इस संयोग से चमत्कार उत्पन्न करता है, और इस क्रिया में भाग लेनेवाले तत्त्व कुछ अनुभूतियाँ हैं जो कवि के अपने जीवन के घटित से भी उपजी हो सकती हैं (या उसके आत्म-घटित से बाहर की भी हो सकती हैं), तथापि कलावस्तु का निर्माण निरी निजी अनुभूतियों से नहीं होता—कलावस्तु बनती है उन अनुभूतियों से—उन अनुभूतियों और भावों के संगम से—जिनसे कवि स्वयं अलग, तटस्थ है, जिनपर उसका मन काम कर रहा है। एक दूसरी उपमा के शरण लें तो कवि का मन एक भट्ठी है: जिसके ताप में विभिन्न धातुएँ पिघलकर एकरस हो जाती हैं। ढली हुई धातु विभिन्न तत्त्वों से बनी है, उनमें से कुछ धातुएँ स्वयं भट्ठी के स्वामी की सम्पत्ति भी हो सकती हैं, तथापि भट्ठी के स्वामी से भट्ठी का, और भट्ठी से धातु का अलगाव और स्वतन्त्र अस्तित्त्व अक्षुण्ण बना रहता है। कलाकार जितना बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचनाशील मन का यह अलगाव भी आत्यन्तिक होगा। उतना ही रचना करनेवाला कवि मानस अनुभव करनेवाले मानस से दूर और पृथक होगा; उतना ही चमत्कारपूर्ण उन अनुभूतियों और भावों का संगम होगा जो कवितारूपी प्रतिमा की मिट्टी है—फिर

चाहे ये अनुभूतियाँ और भाव कवि के निजी अनुभव के, व्यक्तिगत जीवन के फल क्यों न हों। यों कहें कि जितना ही महान कलाकार होगा उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृति होगी।

जिस मिट्टी से काव्यरूपी प्रतिमा बनती है, जिन तत्त्वों द्वारा कवि-मानस का असर एक चमत्कारिक योग उत्पन्न करता है, वे तत्त्व क्या हैं? उन्हें दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। स्थायी भाव (emotions) और संचारी भाव। कवि इनसे जो चमत्कार उत्पन्न करता है, पाठक के मन पर जो प्रभाव डालता है, वह कला के क्षेत्र से बाहर कहीं किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकता— कला का 'रस' कला ही में प्राप्तव्य है; उस अनुभूति की कला के बाहर की किसी अनुभूति से तुलना नहीं की जा सकती। यह अनुभूति एक ही भाव के द्वारा उत्पन्न हो सकती है, या अनेक भावों के सम्मिश्रण से, या भावों और अनुभूतियों के संयोग से; और यह अनुभूति उत्पन्न करने के लिए कवि कई प्रकार के साधन काम में ला सकता है, कई प्रकार के चित्र खड़े कर सकता है। इस सृष्टि के साधन अनेक और उलझे हुए होते हैं, पर उन साधनों द्वारा उत्पन्न होनेवाले चमत्कार में एक आत्यन्तिक एकता होती है। वास्तव में कलाकार का मन एक भंडार है जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र, इकट्ठे होते रहते हैं उस क्षण की प्रतीक्षा में जबकि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग नहीं उत्पन्न हो जाएगा।

कविता की, कलावस्तु की, श्रेष्ठता उसमें वर्णित विषय की या भाव की श्रेष्ठता या 'भव्यता' में नहीं है; और लेखक के लिए उन विषयों या भावों के महत्त्व में, या उसके जीवन में उनकी व्यक्तिगत अनुभूति में तो बिलकुल नहीं है। कविता का, कलावस्तु का गौरव, उसकी 'भव्यता' है उस रसायनिक क्रिया की तीव्रता में जिसके द्वारा ये विभिन्न भाव एक होते हैं और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कविता की—काव्यानुभूति की—तीव्रता और कविता में वर्णित अनुभूति की तीव्रता, परस्पर भिन्न न केवल हो सकती है बल्कि अनिवार्य रूप से होती है। कला के भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है। पाठक के लिए कवि या साहित्यकार का महत्त्व उसकी निजी भावनाओं के कारण, उसके अपने जीवन के अनुभवों से पैदा हुए भावों के कारण नहीं है। यह दूसरी बात है कि काव्य-रचना की क्रिया में अन्य भावों और अनुभूतियों के साथ, उसके अपने भाव और अपनी अनुभूतियाँ भी एक इकाई में ढल जाएँ—या कि केवल अपने भाव और अनुभूतियाँ ही उस क्रिया का उपकरण बनें। रचयिता का महत्त्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता में है। यही बात ऊपर दूसरे ढंग से कही गयी है—कि जितना ही कलाकार महान होगा उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी। वास्तव में काव्य में कवि का व्यक्तित्व नहीं, वह माध्यम प्रकाशित होता है जिसमें विभिन्न अनुभूतियाँ और भावनाएँ चमत्कारिक

योग में युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।

काव्य की निर्व्यक्तिक परिभाषा से एक परिणाम और भी निकलता है। काव्य में नूतना—और बिना नूतनता के कला कहाँ है?— लाने के लिए कवि को नूतन अनुभव खोजने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी खोज—नूतन मानवीय अनुभूतियाँ प्राप्त करने की लहक—उसे मानवीय वासनाओं के विकृत रूपों की ओर ही ले जाएगी और उस पर पुष्ट होनेवाला साहित्य या काव्य मानवीय विकृति (perversity) का ही साहित्य होगा। कवि का कार्य नये अनुभवों की, नये भावों की खोज नहीं है, प्रत्युत पुराने और परिचित भावों के उपकरण से ही ऐसी नूतन अनुभूतियों की सृष्टि करना जो उन भावों से पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी हैं। वह नयी धातुओं का शोधक नहीं है; हमारी जानी हुई धातुओं से ही नया योग ढालने में और उससे नया चमत्कार उत्पन्न करने में उसकी सफलता और महानता है।

यह स्थापना शंकनीय जान पड़ सकती है। लेकिन विश्व का महान साहित्य उठाकर देख डालिए—हमारे परिचित भाव ही हमें मिलेंगे, किन्तु नूतन योगों में; और हम यह भी पाएँगे कि इस या उस महान कलाकार की रचना का वैशिष्ट्य उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों की 'नूतनता' में नहीं, उसके उपकरणों के परस्पर अनुपात और योग के प्रकार की विभिन्नता में और सृजन की क्रिया की तीव्रता की भिन्नता में है। और यह क्रिया, इस क्रिया की तीव्रता—विभिन्न परिचित उपकरणों से नूतन चमत्कारिक वस्तु का निर्माण—चेष्टित नहीं है, वह स्वयं चमत्कारिक है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कलावस्तु के निर्माण में चेष्टित अथवा आससिद्ध कुछ भी नहीं है। नि:सन्देह कविकर्म का बहुत बड़ा अंश चेष्टित है, आयासपूर्वक सिद्ध होने वाला है, किन्तु वह अंश उपर्युक्त क्रिया की तीव्रता से सम्बन्ध नहीं रखता। बल्कि छोटे कवि में दोष यही होता है कि जहाँ परिश्रम आवश्यक है वहाँ वह 'प्रतिभा' पर निर्भर करता है और जहाँ 'प्रतिभा' का क्षेत्र है वहाँ आयास-पूर्वक तीव्रता लाना चाहता है। ये दोनों बातें उसकी रचना को 'व्यक्तिगत' बनाती हैं और हमारी निर्व्यक्तिक परिभाषा के अनुसार दोष हैं।

व्यक्तिगत अनुभूति की दृष्टि से देखा जाए, तो लेख के इस खंड के ऊपर दी गयी टी.एस. इलियट की उक्ति से कोई छुटकारा नहीं है—कि कविता निजी अनुभूति की मुक्ति—अभिव्यक्ति—नहीं, वह अनुभूति से मुक्ति है; व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं, व्यक्तित्व से छुटकारा है। यद्यपि, जैसा कि इलियट ने कहा है, इनसे छुटकारा पाने का अर्थ वही समझ सकते हैं जिनके पास अनुभूतियाँ और व्यक्तित्व है।

3

काव्य के लिए महत्त्व रखनेवाले भावों का अस्तित्व कवि के जीवन या व्यक्तित्व में नहीं, स्वयं काव्य में होता है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति प्रत्येक पाठक समझ सकता है, 'टेकनीक' की खूबियाँ भी अनेक पहचान सकते हैं, जब कि काव्य के निर्व्यक्तिक भाव को परखनेवाले व्यक्ति थोड़े ही होंगे—यह कहने से उपर्युक्त स्थापना खंडित नहीं होती। कला के भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्व्यक्तिक होते हैं और कवि इन निर्व्यक्तिक भावों का ग्रहण और आयास-हीन अभिव्यंजना तभी कर सकता है जब वह व्यक्तित्व की परिधि से बाहर निकलकर एक महानतर अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर सके, अर्थात जब उसका जीवन वर्तमान क्षण ही में परिमित न रहकर, अतीत की परम्परा के वर्तमान क्षण में भी स्पन्दित हो; जब उसकी अभिव्यक्ति केवल उसी की अभिव्यक्ति न हो जो जी रहा है, बल्कि उसकी भी जो पहले से जीवित है। कवि का जीवन आज में बद्ध नहीं है, वह त्रिकाल-जीवी है।

इन स्थापनाओं से कुछ लोग चौंक सकते हैं। उन्हें लग सकता है कि यह आलोचना का एक नया फैशन भर है, जिसमें सार कुछ नहीं, क्योंकि आधुकिनता केवल परम्परा पर मुँह बिचकाने का ही दूसरा नाम है। इन लोगों से हमारा निवेदन है कि हम परम्परा की अवज्ञा करना तो दूर, परम्परा के महत्त्व पर आग्रह कर रहे हैं। इस पर आपत्ति किसी को हो सकती है तो उनको जो परम्परा का अस्तित्व ही मिटा डालना चाहते हैं। यद्यपि होनी उन्हें भी नहीं चाहिए।

हम यह कहेंगे कि हमारी स्थापनाओं पर आपत्ति करनेवाले वे ही लोग होंगे जो स्वयं अपनी परम्परा से परिचित नहीं हैं— फिर आपत्ति चाहे परम्परा के नाम पर हो चाहे प्रगति के। क्योंकि ये स्थापनाएँ ऐसी नयी नहीं हैं; हमारे ही शास्त्र का विकास हैं। कुप्पी नयी है, लेकिन आसव पुराना है।

हमारे आचार्यों ने भी रूढ़ियों के अध्ययन पर जोर दिया है। यह भी उन्होंने माना है कि यद्यपि काव्य का सरोकार सभी मानवीय अनुभूतियों से है, साधारण भी और आसाधारण भी, तथापि कला की खोज नूतन, अवर्णित और अज्ञात भावों के लिए नहीं है, जैसा कि देश और विदेश के कई आधुनिक कवि समझते रहे हैं। यह भी उन्होंने प्रतिपादित किया है—प्रत्यक्ष सिद्धान्त रूप में नहीं तो अप्रत्यक्ष उपसिद्धान्त के रूप में—कि कला के भाव निरे मानवीय भाव नहीं हैं, वे उन भावों के चमत्कारिक योग से उत्पन्न होनेवाले और उनसे भिन्न तत्त्व हैं। काव्यानुभूति की नूतनता इस योग की नूतनता है। काव्य का 'रस' कवि में, या कवि के जीवन में, या वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति में, या किसी शब्द विशेष में नहीं है, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।

प्रगति-पक्ष से भी आपत्ति हो सकती है—कि इस स्थापना द्वारा प्रगति को धक्का पहुँचेगा। लेकिन इस आपत्ति का उत्तर लेख के पूर्वार्ध में है परम्परा का निकट परिचय उसका अन्धानुकरण नहीं है, बल्कि उसे विकसित करने की तत्परता है।

हम अतीत को मिटाना नहीं चाहते, उसे छोटा भी करना नहीं चाहते, लेकिन हम उसकी दुहाई भी नहीं देते, परास्त होकर उसके आगे झुकते भी नहीं। हम अतीत के प्रति एक नये दृष्टिकोण की माँग करते हैं, वर्तमान में उसके स्थान की एक नयी परिकल्पना करते हैं, हमारे लिए वयस्कता, शैशवावस्था का खंडन नहीं है उससे सम्बद्ध और प्रस्फुटनशील विकास का बोध है। हम परम्परा की एक विकसित परिभाषा करते हैं—कि वह वर्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता और तारतम्य का नाम है।

सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध

आलोचना कई प्रकार की होती है—क्योंकि वह कई उद्देश्यों से की जा सकती है। सब आलोचना मूल्यवान नहीं होती : उसका उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना या व्याख्या करना भी हो सकता है। लेकिन अन्ततोगत्वा समालोचक को कहीं-न-कहीं मूल्यों का विचार भी करना ही पड़ता है—कृति का मूल्यांकन वह न भी करे तो भी स्वयं उसकी रसास्वादन की प्रकिया में उसके स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्त्व होता है। समालोचक क्या पाता है, यह अनिवार्यतया इस पर निर्भर करता है कि वह क्या लेकर चलता है।

और मूल्यांकन प्रत्यक्ष या परोक्ष—बिना मूल्यों या प्रतिमानों के नहीं हो सकता; मानदंड के बिना माप कैसे हो सकती है? यहाँ पर हम समालोचना की मूल-समस्या के सामने आ खड़े होते हैं।

मूल्य किसे कहते हैं? यह प्रश्न निःसन्देह बहुत व्यापक है, और यह भी कहा जा सकता है कि युग-युगान्तर से दार्शनिकों और साधकों दोनों की मूल जिज्ञासा यही रही है : वह अन्तिम कसौटी क्या है जिस पर कस कर हम किसी भी कृति के धातु को पहचान सकते हैं? किन्तु अपनी जिज्ञासा को सीमित रखना असम्भव नहीं है, और न ऐसी सीमित पड़ताल अनुपयोगी ही होगी।

समीक्षक को जैसा सुपठित, शास्त्र-निष्णात होना चाहिए वैसे हम नहीं हैं इसका हमें पूरा ज्ञान है। आचार्यत्व की न हममें पात्रता है, न आकांक्षा। किन्तु मूल्यों का प्रश्न केवल आचार्यों के लिए महत्त्व रखता हो, ऐसा नहीं है; साहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिए वह एक गुरुतर प्रश्न है, और लेखक के लिए तो उसकी मौलिकता असन्दिग्ध है, क्योंकि कृतिकार अपनी कृति का सबसे पहला और कदाचित् सब से अधिक निर्मम-परीक्षक है। (लेखक को अपनी रचना का मोह भी होता है; पर मोह और निर्ममत्व के अलग-अलग स्तर हैं; और मूल्यों का विचार उसी स्तर पर होता है जिस पर लेखक ममता को एक ओर रख देता है।) निष्ठावान लेखक और अध्यवसायी पाठक के नाते हम आशा करते हैं कि मूल्यों या प्रतिमानों के सम्बन्ध में हमारे विचार अन्य पाठकों के लिए उपयोगी हों सकेंगे। यह भी सम्भव है कि वे अपने साधारणत्व के कारण ही उनके लिए अधिक ग्राह्य हों, पुरोहित की बात से पड़ोसी

की बात अधिक ध्यान से सुनी जाती है और अधिक गहरे जा कर छूती है।

हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है। वही उसे सदसद् का ज्ञान देता है—फिर उस सत् और असत् का क्षेत्र चाहे जो हो। इस साधारण स्थापना पर कदाचित् अधिक लोगों को आपत्ति न होगी—कम-से-कम आज के मानववादी युग में, जिसमें यह नहीं समझा जाता कि मानव के विवेक की दुहाई देना प्रकारान्तर से शाश्वत अथवा ब्रह्मसम्भूत सनातन मूल्यों के अस्तित्व का खंडन करना मात्र है। किन्तु इससे हम सौन्दर्य के विषय में जिस उपपत्ति तक पहुँचते हैं, वह भी ऐसी सहज-ग्राह्य होगी, ऐसी आशा हमें नहीं होती। कदाचित् कुछ बुद्धिवादी भी उस पर आपत्ति करेंगे। यद्यपि हमें ऐसा जान पड़ता है कि जब हम सौन्दर्य-बोध की चर्चा करते हैं तब हम उसे स्वयंसिद्ध ही मान लेते हैं, क्योंकि बुद्धि को हेय मानकर बोध को महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

यदि यह कहना उचित है कि मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है तो यह कहना भी ठीक है कि सौन्दर्य-बोध मूलतः बुद्धि व्यापार है। सौन्दर्य क्या है, हम नहीं जानते; सौन्दर्य की परिभाषा बड़े-बड़े मर्मज्ञ नहीं कर सके और हम 'गहि-गहि गरब गरूर' इस कंटकाकीर्ण पथ पर चलने वाले नहीं हैं। किन्तु सौन्दर्य क्या है, यह न बता पाकर भी सुन्दर क्या है यह हम जानते हैं, पहचानते हैं; बता सकते हैं कि क्या सुन्दर होता है। और सुन्दर क्या है, यह बता सकने का अर्थ यह है कि हम कुछ ऐसे गुणों को पृथक कर सकते हैं जिनके कारण सुन्दर सुन्दर है। ये तत्त्व क्या हैं? उनकी तालिका प्रस्तुत करना अनावश्यक है। यहाँ आग्रहपूर्वक यही दुहराना यथेष्ट है कि सौन्दर्य-बोध बुद्धि का व्यापार है · बुद्धि के द्वारा ही हम उन तत्त्वों को पहचानते हैं; मानव का अनुभव ही उन तत्वों की कसौटी है।

यह स्थापना विवादास्पद तो हो ही सकती है। यह आपत्ति भी की जा सकती है कि बुद्धि के साथ हठात् अनुभव का उल्लेख करना वास्तव में बुद्धि के नाम पर सौन्दर्य की भोगवादी व्याख्या करना है। वास्तव में ऐसा नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट करने से पहले एकाध उदाहरण लेना उपयोगी होगा। हम कहते हैं लय अथवा 'रिदम'। शैशवकाल से ही हम जानते हैं कि हृदय का लययुक्त सम स्पन्दन आरोग्य और सहजावस्था की निशानी है, स्वस्थ होने की निशानी है; और असम स्पन्दन या लय-भंग उद्वेग, परेशानी, असुख के चिह्न हैं। तब, यदि हम मानते हैं कि लयमयता कला का अथवा सुन्दर का एक मूल गुण है, तो क्या यह अपने अनुभूत सत्य का निरूपण ही नहीं है? इसी प्रकार हम मानते हैं कि सीधी रेखा सुन्दर नहीं होती, वक्र रेखाएँ सुन्दर होती हैं : यहाँ क्या फिर हम अपना अनुभव नहीं दुहरा रहे हैं? हमारे अंगों का कोई भी सहज निक्षेप वक्रता या गोलाई लिए होता है—अबोध शिशु भी जब हाथ-पैर पटकता है तो मंडलाकार गति से—सहज गति सीधी रेखा में होती ही नहीं, और सीधी रेखा में अंग-संचालन अत्यन्त क्लेश-साध्य होता है। अतः वक्रता

को कला-गुण या सौन्दर्य-तत्त्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं : गोचर अनुभव का कार्य-कारण ज्ञान के सहारे (बुद्धि द्वारा) प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य-बोध का आधार है। और चित्र या मूर्ति में जो रेखा की वक्रता है, अर्थात् जो दृश्य, स्पृश्य अथवा स्थूल है, वही यदि काव्य में आकर उक्ति की वक्रता का परम सूक्ष्म रूप ले लती है, तो क्या हमारी बुद्धि उसे पकड़ नहीं सकती? गोचर अनुभव से पाया हुआ सूक्ष्म बोध क्या वहाँ हमारा सहायक नहीं होता?

ये सरलतम उदाहरण हैं—क्योंकि गति का बोध सबसे पहला बोध है। किन्तु हम क्रमशः जटिलतर प्रतिमानों की परीक्षा करते चलें तो भी इसी बात की पुष्टि होगी : स्थिरता, सन्तुलन; परिचित और नव्यता; गाम्भीर्य, सूचकता, सार्वभौमता—सर्वत्र हम पाएँगे कि जिस गुण को भी हम कला का प्रतिमान मानते हैं, वह हमारे अनुभव से उद्भुत है, और हमारे विवेक द्वारा प्राप्त किया गया है। प्रतिमान-रूपी कोई भी अमृत-घट हमारे अनुभव के महासागर को मथ कर ही निकल सकता है, और हमारी बुद्धि ही हमारी मन्थानी है।

भोगवाद सम्बन्धी आपत्ति का यहाँ निराकरण हो जाता है। कला-मूल्य हमें अनुभव के सागर से ही प्राप्त होते हैं—किन्तु अनुभव अपने आप में एक प्रतिमान नहीं है। अनुभव की भित्ति पर बुद्धि द्वारा प्रतिष्ठित तत्त्व ही प्रतिमान हो सकता है। प्रतिमान की उपलब्धि हमें बुद्धि द्वारा ही होती है, यद्यपि उसके लिए हम अनुभव के सागर की थाह लेते हैं। और क्योंकि ये प्रतिमान हमें बुद्धि के द्वारा उपलब्ध होते हैं, इसलिए सुन्दर से हमें जो उपलब्धि होती है उसे हम आनन्द कहते हैं और केवल गोचर अनुभव से मिलने वाले सुख से अधिक गौरव देते हैं।

तो सौन्दर्य के तत्त्व बुद्धि पर आधारित हैं, और सुन्दर का आस्वादन बुद्धि का व्यापार है। इससे और परिणाम निकलते हैं। बुद्धि अनुभव के सहारे चलती है—अनुभव व्यक्तिगत, समाजगत, जातिगत, युग-युगान्तर संचित। और अनुभव कोई स्थिर और जड़ पिंड नहीं है, वह निरन्तर विकासशील है। अतः बुद्धि भी विकासशील है—मानव का विवेक भी विकासशील है। इस अर्थ में शाश्वत मूल्यों की बात अनुचित अथवा अर्थहीन हो जाती है। किन्तु विकास का सही अर्थ समझना चाहिए। बुद्धि का नये अनुभवों के आधार पर क्रमशः नया स्फुरण और प्रस्फुटन होता है और नया अनुभव पुराने अनुभव को मिटा नहीं देता, उसमें जुड़ कर उसे नयी परिपक्वता देता है। अनुभव के गणित में जोड़ ही जोड़ है, बाकी नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में हम परम्परा की चर्चा इसी अर्थ में करते हैं—तरतमता उसमें अनिवार्य है। तो मूल्य *या प्रतिमान, शब्दार्थ की दृष्टि से शाश्वत* भले ही न हों, स्थायी अवश्य होते हैं, और उनमें जो परिष्कार या नया संस्कार (परिवर्तन उसे न कहना ही सीमचीन होगा) होता है, उसमें शतियाँ लग जा सकती हैं। निःसन्देह दूसरे भी मूल्य हैं—सामाजिक

मूल्य—जो सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपेक्षया अधिक तेजी के साथ बदलते हैं; किन्तु यहाँ हम उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, उन से अधिक गहरे मूल्यों की बात कर रहे हैं। इन अधिक गहरे मूल्यों में भी यदि हम देखते हैं कि कभी अपेक्षया अधिक द्रुत गति से संस्कार होता है, तो उसका कारण यही है कि जहाँ हमारी तर्कना या बुद्धि निरन्तर हमारे अनुभव को माँजती और सायास विश्लिष्ट-संश्लिष्ट करती चलती है, वहाँ कभी संचित अनुभव का दबाव सहसा हमें नयी दृष्टि भी दे देता है—अर्थात् बुद्धि का यह व्यापार एक प्रखतर आलोक से दीप्त हो उठता है। यद्यपि ऐसा भी जब होता है तो अकारण नहीं होता; जो बुद्धि उस आलोक से लाभ उठा कर नयी प्रतिपत्ति करती है, वह फिर उसके आविर्भाव का कारण भी खोजती और खोज लेती है।

मूल्यों की चर्चा में यहाँ तक हमने अपने को सौन्दर्य के प्रतिमानों तक सीमित रखा है। किन्तु जब हमने कहा कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है, तब स्पष्ट ही हमने ऐसी कोई मर्यादा नहीं निर्दिष्ट की। उस कथन से अवश्य ही यह परिणाम निकलता है कि शिवत्व के प्रतिमान—नैतिक प्रतिमान भी—मानव के विवेक से उद्भुत होते हैं। यहाँ एक साथ ही दो प्रश्न उठते हैं। क्या हम ऐसा मानते हैं, और क्या सौन्दर्य के और शिवत्व के प्रतिमानों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध, या कोई भी सम्बन्ध है?

पहले प्रश्न का उत्तर आवश्यक नहीं है। स्पष्ट ही हमारी पहली स्थापना से वह परिणाम निकलता है और अगर हमें वह स्वीकार्य न होता तो हमारे लिए अपनी पहली बात को ही अधिक मर्यादित करके कहना अनिवार्य हो जाता। यदि हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का स्रोत मानव का विवेक है, तो हम सहज ही यह मानते हैं कि नैतिक प्रतिमानों का स्रोत मानव का विवेक है और कदाचित् इसे स्वीकार करना किसी के लिए भी कठिन न होना चाहिए, क्योंकि विवेक को नैतिक भावना का पर्याय ही मान लिया जाता है। सौन्दर्य और विवेक का सम्बन्ध ही अधिक कठिनाई उत्पन्न किया करता है।

किन्तु सुन्दर के प्रतिमान और नैतिक के प्रतिमान में क्या सम्बन्ध है? क्या दोनों एक हैं? क्या समालोचना में एक के विचार में ही दूसरे का विचार निहित होता है, और एक का स्वीकार स्वतः दूसरे का भी स्वीकार हो जाता है? या कि दोनों अलग-अलग हैं? और अलग-अलग हैं, तो समालोचना के मूल्यांकन में क्या दोनों का विचार होना चाहिए, या केवल एक का?

प्रश्न सरल नहीं है। और उत्तर असंदिग्ध या विवादातीत है, यह कहना धोखा होगा। किन्तु प्रश्न अनिवार्य है, और किसी भी गम्भीर पाठक के लिए और विशेषकर किसी भी लेखक के लिए, उसका कुछ-न-कुछ उत्तर—भले ही एक

अस्थायी और कामचलाऊ उत्तर—आवश्यन्दातव्य है। क्योंकि लेखक के सम्मुख यह प्रश्न यदि आता है, तो यह उसकी सृजन-प्रेरणा का ही प्रश्न बन कर आता है, और बिना इसका उत्तर दिये (या पाये) उसका रचना में प्रवृत्त होना असम्भव हो जाता है—बल्कि उसका प्रवृत्त होना स्वयंमेव प्रश्न का उत्तर बन जाता है। और यदि कृति के मूल में इस प्रश्न का उत्तर निहित है, तो पाठक अथवा अध्येता के लिए भी उस उत्तर को जानना आवश्यक है, क्योंकि उसे जान कर ही वह कृति के मूल्यांकन की ओर अग्रसर हो सकता है। लेखक के उत्तर को ज्यों का त्यों मान लेना उसके लिए अनिवार्य नहीं है, लेकिन उसे जानना आवश्यक है। किन्तु यहाँ भी केवल सिद्धान्त-चर्चा में न रहकर उदाहरण लेकर चलना सुविधाजनक होगा।

पुराना आख्यान-साहित्य ले लीजिए—प्रबन्ध-काव्य ले लीजिए, गाथाएँ ले लीजिए। कथाकार कथा कहता था, घटनाओं का परात्पर घटित होना ही वहाँ सबसे अधिक महत्त्व रखता था। यह नहीं कि कथाकार में नैतिक बोध नहीं होता था, या कि वह अपनी नैतिक मान्यताओं को प्रकट नहीं करता था, अपने स्वीकृत नैतिक मूल्यों का इंगित नहीं देता था। इसके विपरीत वह पहले से ही कुछ अच्छे और कुछ बुरे पात्र लेकर चलता था—नैतिक मान्यताएँ बिलकुल स्पष्ट करके; और कभी-कभी अन्त में निष्कर्ष के रूप में किसी नैतिक मूल्य को साग्रह दोहरा भी देता था। बल्कि कभी यह नैतिक स्थापना पहले कर दी जाती थी और कथा केवल इसके दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। पंचतन्त्र आदि में पग-पग पर नैतिक मूल्यों का आग्रह है : कहानी मानो उन्हें वहन करने का माध्यम भर है।

अब जरा इधर के आख्यान-साहित्य पर विचार कीजिए। घटना उसमें बिलकुल न हो ऐसा तो नहीं है। पर उसका घटित कभी-कभी बिलकुल आभ्यन्तर भी रहता है—स्थूल जगत में कोई घटना घटे बिना भी उसमें संघर्षों के तूफान उठते और लय हो जाते हैं। आज का लेखक किसी भी घटना में कर्त्ताओं के उद्देश्यों को देखता है। 'अमुक हुआ' उसके लिए पर्याप्त नहीं है; 'अमुक किया गया' वह कहता है, और 'क्यों किया गया' पर ही उसकी समूची जिज्ञासा केन्द्रित हो जाती है। कभी वह 'अमुक किया गया' की अवस्था तक भी नहीं जाता; केवल सूचित कर देता है कि 'अमुक-अमुक कारण क्रियाशील है' और यह पाठक पर छोड़ देता है कि वह समझ ले कि परिणामत: 'क्या किया जाएगा।'

यह परिवर्तन साधारण या ऊपरी नहीं है, घटना से घटना-हेतु की ओर जाना साहित्यकार की बौद्धिक प्रवृत्ति की एक बहुत बड़ी क्रान्ति का सूचक है।

कुछ लोगों की धारणा है कि बुद्धि के बढ़ते वैभव के साथ मानव का नैतिक ह्रास हुआ है। हम ऐसा नहीं मानते—नहीं मान सकते। हमारी पहली प्रतिज्ञा ही इस परिणाम को असम्भव बना देती है। क्योंकि हम मानते हैं कि नीति-ज्ञान, विवेक,

स्वयं बुद्धि का वैभव है। निरी आस्था के सहारे भी अनीति से बचा जा सकता है, अनैतिक कर्म न करने की अवस्था प्राप्त की जा सकती है, किन्तु नैतिकता के प्रति ऐसा नकारात्मक, अकर्मण्य दृष्टिकोण आज नैतिक बन्ध्यत्व का ही सूचक माना जाएगा। साहित्य की उपर्युल्लिखित नयी प्रवृत्ति नैतिक शिथिलता या नैतिक मूल्यों के ह्रास की नहीं, नैतिक बोध की परिपक्वता की सूचक है। ईसा ने जब कहा था, 'जज नॉट, लेस्ट यी बी जज्ड' तब इसलिए नहीं कि वह नैतिक प्रतिमानों को तिलांजलि दे रहे थे, वरन् इसलिए कि वह आभ्यन्तर के घटित को उचित महत्त्व दे रहे थे—कोई नैतिक निर्णय बाह्य कर्म के आधार पर नहीं हो सकता, आभ्यन्तर उद्देश्यों का विचार होना चाहिए, यही उनके उपदेश का हेतु था। या कम से कम एक हेतु, क्योंकि दूसरा तो यह था ही कि जो अपराधी है उसे दंड न दो, संवेदना दो—मानवी समवेदना तो सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है ही।

आख्यान-साहित्य यहाँ केवल उदाहरण के लिए लिया गया है। क्योंकि दृष्टि का जो परिवर्तन (संस्कार) दिखाना हमें अभीष्ट था, वह इसमें सबसे अधिक आसानी से और स्पष्ट देखा जा सकता है। समूचे साहित्य की यह प्रवृत्ति रही है कि कर्म के हेतु को पहचानो, निर्णय देने या दंड-व्यवस्था करने मत दौड़ो। और हेतु को पहचान कर भी रुको मत, आगे बढ़कर संवेदना भी दो। हाँ, संवेदना देने के लिए बहुत बड़ा हृदय चाहिए, वह सबके पास नहीं भी हो सकता है, इसलिए संवेदना न भी दे पाओ तो कम से कम निर्णय की उतावली तो न करो!

हमने कहा कि यह समूचे साहित्य की प्रवृत्ति रही है। इस कथन में अतिव्याप्ति दोष है। उसे मर्यादित करने के लिए कहना चाहिए कि समूचे नहीं, किन्तु सारे मानववादी साहित्य की यह प्रवृत्ति रही है। क्योंकि इधर एक ऐसी प्रवृत्ति भी है जो इस हेतु-परीक्षण को अस्वीकार करती है, मानवी समवेदना के इस व्यापक प्रदान को अपव्यय मानती है। नैतिक मानदंड उसके पास नहीं है अथवा उसे तर्क से पुष्ट नहीं किया जाता ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; पर उसका नीति-निरूपण ही द्वन्द्वात्मक और अवसरसेवी है। कह सकते हैं कि वह विवेकाश्रित नहीं, तर्काश्रित है। यह प्रवृत्ति कर्म-प्रेरणाओं की पड़ताल को प्रवंचना कहती है, क्योंकि वह कर्ता के कर्तृत्व को, भावना और अनुभूति की प्राथमिकता को अस्वीकार करती है। जिसे हम आभ्यन्तर कारण कहते हैं उसे वह स्थितिजन्य परिणाम मानती है। एक प्रकार से वह साहित्य की अब तक की प्रवृत्ति को उलट रही है: जहाँ अब तक साहित्य मानव को बँधी-बँधाई नैतिक लीकें से उबार कर कर्त्ता का गौरवपूर्ण पद देने की ओर प्रवृत्त था, वहाँ यह नयी प्रवृत्ति फिर से बँधी-बँधाई लीकों लेकर उसमें मानव को डालने का उपक्रम कर रही है। अब तक की प्रवृत्ति यह थी कि साहित्य का पात्र एक नैतिक मानचित्र पर दौड़ने वाला जीवन मात्र न रह कर खुली भूमि पर राह बनाने वाला

मानव हो; नयी प्रवृत्ति उसे शतरंज का प्यादा बनाये दे रही है। कदाचित् उतना भी नहीं; मानव मानो छोटे-बड़े कई आकारों के कंकड़ हैं जिन्हें अपनी मोटी और बारीक चलनियों में से छान कर वह या तो गिट्टी बनाकर अपनी किसी इमारत की नींव में दाब देगी, या रोड़ी बना कर अपनी सड़क पर बिछा देगी—और कितनी कृतज्ञ होगी रोड़ी इस प्रकार पथ को प्रशस्त करने के काम में लायी जा कर! किन्तु इस नयी नैतिक संकीर्णता की चर्चा का यह स्थान नहीं है; यहाँ उसकी और पड़ताल प्रासंगिक भी नहीं है।

प्रश्न अभी वहीं का वहीं है; एक उदाहरण से उसे स्पष्ट भले ही किया गया हो, उसका उत्तर नहीं दिया गया है। कलाकृतियों में, उनके द्वारा, नैतिक मूल्यों का विस्तार होता है ऐसा हम कह सकते हैं कि समालोचना के लिए भी नैतिक मूल्यों पर और उनके विकास अथवा विस्तार पर विचार करना आवश्यक है—अर्थात् उस समालोचना के लिए, जो मूल्यांकन में प्रवृत्त है। पर प्रश्न यह है कि क्या यह विचार सौन्दर्य—मूल्यों के विचार से अलग है, उसका समान्तर है, या उसी में निहित है?

कहते हैं कि जो सुन्दर है वह शिवेतर हो ही नहीं सकता। इसे हम मानते हैं, किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि इससे यह ध्वनि होती है कि दोनों पर्यायवाची और परस्पराश्रित हैं। ऐसा दावा करना कठिन है। जो यह मानते हैं कि जो सुन्दर है वह शिव भी होता ही है, वे भी कदाचित् अलग से ऐसा दावा करने में संकोच करेंगे। ऐसा ही होता तो आचार्यों को एक अलग उद्देश्य के रूप में 'शिवतेर-क्षय' चर्चा करना क्यों आवश्यक जान पड़ता? जो सुन्दर है वह अनैतिक नहीं होगा यह एक बात है, पर उससे शिवेतर-क्षय की माँग करना एक अतिरिक्त शक्ति या प्रभाव की माँग करना है। एक प्रकार से यह साहित्य में लक्षित होने वाले संस्कार के समान्तर समालोचना का संस्कार करना है, क्योंकि जैसे साहित्य में घटित से आगे बढ़कर हम आभ्यन्तर हेतु अथवा प्रेरणा की छान-बीन देखते हैं, वैसे ही हम समालोचना में भी रूप-विचार से आगे बढ़कर कृतिकार के उद्देश्य और कृति के प्रभाव की भी कसौटी करना चाहते हैं। और जिस प्रकार आभ्यन्तर हेतु के ज्ञान को हम अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं मानते, समझते हैं कि उसका महत्त्व इसमें है कि वह हमें जीवन के प्रति नयी और गहरी दृष्टि देता है, उसी प्रकार कृति के उद्देश्य और प्रभाव को पहचानना भी हम अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं मानते, समझते हैं कि वह हमें मानव जगत का एक सम्पन्नतर अंग बनाता है।

विश्लेषण को चरम अवस्था तक ले जाएँ तो मानना होगा कि नैतिक मूल्य यानी शिवत्व के मूल्य, और सौन्दर्य के मूल्य अलग-अलग हैं और अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में यह भी मान लेना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कलाकृति सुन्दर हो और अशिव हो, या कम से कम शिव न हो। यह मान कर

भी पहली बात कैसे मानी जा सकती है? स्पष्ट ही यहाँ विरोधाभास है। वास्तव में उच्च कोटि का नैतिक बोध और उच्च कोटि का सौन्दर्य-बोध, कम से कम कृतिकार में प्राय: साथ-साथ चलते हैं। क्यों? क्योंकि दोनों बोध मूलत: बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदंडों का आधार। विवेकशील मानव की—विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है—ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है। बुद्धि, और जिस पर बुद्धि आधारित है वह अनुभव—निरन्तर विकासशील और संस्कारशील है। निरन्तर सूक्ष्मतर होती हुई संवेदना एकांगी भी हो सकती है, पर जहाँ सर्जनात्मक शक्ति है वहाँ एकांगिता की सम्भावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य-बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है। जिस प्रकार कृतिकार सुन्दर का स्रष्टा होकर असुन्दर के सायास परित्याग के द्वारा सुन्दर की उपलब्धि नहीं करता, उसी प्रकार वह नैतिक द्रष्टा होकर सायास अनैतिक के विरोध द्वारा नैतिक को नहीं पाता; उसकी परिपुष्ट संवेदना सहज भाव से दोनों को पाती है—और देती है। इसीलिए कला हमें आनन्द भी देती है, हमारा उन्नयन भी करती है। आज का समालोचक इस बात को नाना वादों के आवरण में छिपा चाहे सकता है, इसे अमान्य नहीं कर सकता।

साहित्य-बोध : आधुनिकता के तत्त्व

शीर्षक में यह स्वीकार कर लिया गया है कि लेख का विषय 'साहित्य-बोध' है; पर वास्तव में इस अर्थ में इसका प्रयोग चिन्त्य है। यह मान भी लें कि लोक-व्यवहार बहुत से शब्दों को ऐसा विशेष अर्थ दे देता है जो यों उनसे सिद्ध न होता, तो भी अभी तक ऐसा जान पड़ता है कि समकालीन सन्दर्भ में 'साहित्य-बोध' की अपेक्षा 'संवेदना'-बोध ही अधिक सारमय संज्ञा है। इसलिए शीर्षक में प्रचलन के नाम पर साहित्य-बोध का उल्लेख कर के लेख में वास्तव में आधुनिक संवेदना की ही चर्चा की जाएगी।

क्या संवेदना के साथ 'नयी' या 'पुरानी' ऐसा कोई विशेषण लगाना उचित है? क्या संवेदना ऐसे बदलती है? क्या मानव मात्र एक नहीं है और इसलिए क्या उसकी संवेदना भी एक नहीं है? क्या यह एकता देश और काल दोनों के आयाम में एक-सी अखंडित नहीं रहती?

नि:सन्देह मानव एक है। किन्तु जब हम विकासशील जीव-तत्त्व की बात करते हैं तब परिवर्तन के सिद्धान्त को भी मान लेते हैं। चेतना स्वयं विकासशील है। संवेदना वह यन्त्र है जिसके सहारे जीव-व्यष्टि अपने से इतर सब कुछ से सम्बन्ध जोड़ती है—वह सम्बन्ध एक साथ ही एकता का भी है और भिन्नता का भी, क्योंकि उसके सहारे जहाँ जीव व्यष्टि अपने से इतर जगत् को पहचानती है वहाँ उससे अपने को अलग भी करती है।

मानव प्राणी की संवेदना केवल दूसरे जीवों से और जड़ परिस्थिति से प्रतिक्रिया करती है, बल्कि अपनी प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन भी करती है। जीव अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाता है, मनुष्य परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने का चेतन और अवचेतन प्रयत्न करता है। ज्यों-ज्यों उसकी संवेदना विस्तार करती है, अर्थात ज्यों-ज्यों जगत से उसके सम्बन्ध नये-नये क्षेत्रों में प्रवेश करते जाते हैं, त्यों-त्यों उसका विवेक विकसित होता जाता है और निरी संवेदना के साथ एक अनिवार्य नैतिक बोध भी जुड़ जाता है। अच्छा और बुरा, ऊँचा और नीचा, मंगलमय और अमंगल, समाज-हितकारी और असामाजिक, ऐसी अनेक कोटियों के विचार उसके कर्म को ही नहीं, उसकी संवेदना को भी नियन्त्रित करने लगते हैं क्योंकि वह

अपनी भावनाओं को भी बुद्धि और विवेक की कसौटी पर परखने लगता है।

मानव और मानवेतर के सम्बन्ध के विकास का अर्थ से आज तक अध्ययन करना यहाँ अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मानव का मूल्य बढ़ गया है और मानवेत्तर का मूल्य घटता गया है। विज्ञान ने नैतिकता को ईश्वरपरक न मानकर मानव-सपेक्ष मान लिया है, मानव की उसकी परिकल्पना चाहे कितनी भी विस्तीर्ण है। ईश्वर के दरबार में सब प्राणी समान हो सकते थे; मनुष्य के दरबार में स्वभावत: वैसा नहीं हो सकता क्योंकि वह मनुष्य का दरबार है। इस प्रकार संसार का मानदंड मनुष्य को मानते ही हमारी नैतिकता के आधार में बहुत से अवश्यम्भावी परिवर्तन होने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारी संवेदना का रूप बदल जाता है।

यह नहीं कि संवेदना नैतिक बोध का पर्याय है। किन्तु पाप-पुण्य की भावना बदलते ही हमें सुख या पीड़ा देने वाली परिस्थितियों का रूप भी बदल जाता है, हमें चिन्तित करनेवाले या उत्साह देने वाले तत्त्व भी दूसरे हो जाते हैं। पुराने आदर्श हास्यास्पद या दुर्बोध हो जाते हैं; जो बातें एक समय नगण्य थीं वे जीवनादर्श का सामर्थ्य ग्रहण कर लेती हैं। एक समय था जब कि चींटी या खटमल के लिए अपने प्राणों को जोखिम में डालने वाला पुण्यात्मा होता था, एक समय है कि कौवों और बन्दरों को रोटी खिलाने वाला समाजद्रोही गिना जाता है क्योंकि मानव के लिए रोटी की कमी है। एक समय था जब कि धर्म के लिए जान गँवाने वाला सर्वोच्च सम्मान पाता था, एक समय है कि थोड़े-थोड़े समय के लिए दो-तीन बार धर्म-परिवर्तन कर लेना भी अनुचित नहीं समझा जाता बल्कि कुछ परिस्थितियों में अनुमोदित भी होता है।

वास्तव में जहाँ तक साहित्य या किसी भी कला का प्रश्न है संवेदना से हमारा अभिप्राय निरी ऐन्द्रिय चेतना बिलकुल भिन्न कुछ होता है। गर्म और ठंडा, उजाला और अँधेरा, सादा और रंगीन, खट्टा और मीठा, नर्म और कठोर, कर्कश और मधुर, यह सब भी इन्द्रिय-संवेद्य है। और संवेदना का यह स्तर नैतिकता से परे है। यह कह लीजिए कि यह उस का जैविक स्तर है, मानवीय स्तर नहीं। इस कोटि की संवेदना जीव मात्र में होती है और मानव में भी उसके जीव होने के नाते ही। किन्तु जो संवेदना उसके नैतिक बोध के साथ गुँथी हुई है वह दूसरे स्तर की है। वह अनन्य रूप से मानव की है और उसी के कारण जीवों में मानव अद्वितीय है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं : संवेदना का सम्बन्ध जैविक परिस्थिति से नहीं, सांस्कृतिक परिस्थिति से है। जिस संवेदना की बात हम कर रहे हैं, जिसे 'साहित्य-बोध' का या और व्यापक स्तर पर कला-बोध का नाम दिया गया है, वह वास्तव में सांस्कृतिक बोध ही है और इसलिए संस्कृति के साथ-साथ बदलता भी रहता है।

दो

प्रत्येक संस्कृति के मूल में एक जीवन-दर्शन होता है। इसीलिए प्रत्येक कला के मूल में भी एक जीवन-दर्शन होता है। आवश्यक नहीं कि उसके प्रति कला सचेत भी हो; वह अंशत: या सम्पूर्णतया अवचेतन भी हो सकता है। पर उसका होना अनिवार्य है। कलाकार का विवेक उसी पर आश्रित है, उसी से उसके मूल्य या प्रतिमान नि:सृत होते हैं। कलाकार या साहित्यकार की शिक्षा अथवा संस्कार के कारण यह जीवन-दर्शन कम या अधिक चेतन हो सकता है। उसी के साथ-साथ उस दर्शन की उस कलाकार द्वारा की गयी व्याख्या भी उतनी ही कम या अधिक विश्वास्य होती है।

जैसे-जैसे जीवन-दर्शन बदलता है वैसे ही संवेदना भी बदलती जाती है।

ऊपर जीव के प्रति सम्मान के बदलते रूप का संकेत किया गया है। मानव का जीवन किसी आत्यन्तिक स्तर पर पशु के जीवन से अधिक मूल्यवान है यह सिद्ध करना कठिन है। किन्तु फिर भी मानव का वध हत्या है; इसके लिए प्राणदंड की व्यवस्था है। जीव के वध के लिए केवल कुछ परिस्थितियों में दंड की व्यवस्था है जब कि वह वध के लिए नहीं बल्कि उससे सम्बद्ध अनावश्यक क्रूरता के लिए दिया जाता है। और हम स्वीकार करते हैं कि यह व्यवस्था-भेद उचित और नैतिक और न्याय संगत और धर्म-सम्मत है। एक दूसरे स्तर पर जीव-दया के आदर्श में हम एक नये प्रकार का अन्तर-विरोध देखते हैं : एक ओर करुणा अर्थात् पर दुख कातरता का आदर्श है तो दूसरी ओर दु:ख को माया मान कर एक सामाजिक दृष्टि से निष्करुण भाव का प्रदर्शन भी जिसके कारण सभी पश्चिमी लोग सभी पूर्वीय लोगों को हृदयहीन मानते हैं।

नैतिकता की भावना बदलने का पहला कारण हुआ है धर्म-भावना का अथवा ईश्वर की परिकल्पना का रूप-परिवर्तन। जिसके कारण सृष्टि का, या कम-से-कम मानव के उससे सम्बन्ध का, केन्द्र ईश्वर न रह कर स्वयं मनुष्य हो गया है। इस परिवर्तन को धर्मवान मनुष्य ने भी स्वीकार कर लिया है, चंडीदास की प्रसिद्ध उक्ति इसका एक उदाहरण है।

परिवर्तन का दूसरा कारण है प्रकृति की नयी परिकल्पना। विज्ञान की पहली प्रगति ने मनुष्य को यह विश्वास दिया कि बुद्धि सब प्रश्नों का उत्तर दे सकती है। नि:सन्देह ऐसा अखंड विश्वास विज्ञान की भी आधुनिक परिस्थिति में नहीं पाया जाता, किन्तु अनुसन्धान और परीक्षण की परम्परा अब भी विज्ञान की मुख्य पद्धति है। फिर भौतिक और जैविक विज्ञान की प्रगति की जो दो उपलब्धियाँ थीं उन्होंने विकास की क्रिया को कुछ ऐसा यान्त्रिक रूप दे दिया कि वैज्ञानिक चिन्तन भी एक प्रकार का यान्त्रिक चिन्तन हो गया। जड़ से चेतन की उत्पत्ति, और प्राथमिक

जीवकोष से क्रमशः जटिलतर भीतरी रचना वाले जीवों की रचना की लम्बी शृंखला के अन्त में मानव जीवन का विकास : ये विज्ञान की मुख्य उपलब्धियाँ रहीं जिन्होंने परवर्ती मनोविज्ञान को भी एक यान्त्रिक ढाँचा दे दिया। अगर मन भी एक यन्त्र है, और बाहरी प्रभावों को नियन्त्रित करके उसकी सभी क्रियाओं को अनुशासित और निर्दिष्ट किया जा सकता है, तो नैतिक बोध भी केवल एक यन्त्रशासित कल्पना है। कोई मूल्य आत्यन्तिक अथवा स्वयंसिद्ध मूल्य नहीं है; जैसे किसी मशीन को संचालित करने वाले कंट्रोल की अलग-अलग सुइयाँ या बटन अमुक एक स्थिति में रख देने से उस यन्त्र का काम अमुक स्तर पर सम्पूर्ण रूप से निर्दिष्ट हो जाता है, उसी तरह मन के भी अलग-अलग कंट्रोल निश्चित करके उसकी सभी क्रियाओं, उसके मूल्य-बोध और नैतिक-बोध आदि को नियन्त्रित किया जा सकता है; और यह नियन्त्रण गुण और मात्रा दोनों पर एक-सा लागू हो सकता है।

नैतिकता सापेक्ष है, इस परिणाम तक पहुँचने के दूसरे कारण भी हुए। सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने देश-काल के ही नहीं, पदार्थ मात्र को एक संशयास्पद रूप दे दिया। पदार्थ के छोटे-से- छोटे अविभाज्य अंश को अणु मान कर इस परिभाषा पर अपना सारा शोध-कार्य आधारित करने वाला भौतिक विज्ञान जब उस बिन्दु पर पहुँचा जहाँ यह भी सन्दिग्ध हो गया कि अणु अनिवार्यतया पदार्थ ही है और यह सम्भावना सामने आयी कि पदार्थ और शक्ति दोनों अनवरत एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं और एक ही तत्त्व कभी स्थूल रूप में अणु हो जाता है और कभी सूक्ष्म रूप लेकर विशुद्ध वैद्युतिक आवेश अथवा शक्ति हो जाता है, तब वैज्ञानिक का यान्त्रिक चिन्तन भी सन्दिग्ध हो गया और एक नये प्रकार के अनिश्चय ने जन्म लिया। स्फट (क्रिस्टल) की रचना के अनुसन्धान ने पदार्थ की असारता को और भी स्पष्ट किया। स्फट की आन्तरिक रचना की परीक्षा ने जहाँ इस बात को क्रमशः और स्पष्ट किया कि उसके भीतर अनेक स्तर और 'चेहरे' होते हैं, वहाँ इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया कि वे चेहरे, स्तर, कटाव और कोण होते किस 'पदार्थ' के हैं। अर्थात् स्फट के शोध ने रचना या गठन का और गति का प्रमाण तो दिया, किन्तु इसका कोई संकेत नहीं दिया कि वह रचना या गति किस तत्त्व की है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उसे यह संकेत मिला कि तत्त्व कुछ है ही नहीं, रचना ही रचना है और गति ही गति है।

वास्तव के शोध ने इस प्रकार जिस नयी अवास्तविकता को जन्म दिया, उसमें संवेदना के प्रकार का बदल जाना स्वाभाविक ही है।

तीन

पदार्थ मात्र की हमारी कल्पना में परिवर्तन तक जाना कदाचित् अनावश्यक है,

यद्यपि जीवन-दर्शन का यह एक आवश्यक तत्त्व है क्योंकि मम और ममेतर का परस्पर सम्बन्ध जीव और जीवेतर के सम्बन्ध के व्यापकतर क्षेत्र का एक छोटा-सा हिस्सा-भर है। फिर भी यदि हम उतनी गहराई तक न जाकर अपने को प्राणि-समाज तक ही नहीं बल्कि उसके एक अंग मानव-समाज तक ही सीमित रखें, तब भी हम देख सकते हैं कि समाज-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान की प्रगति ने कैसे सृष्टि में मनुष्य के स्थान को क्रमशः बदल दिया है।

मनुष्य जाति का वैज्ञानिक नाम 'होमो सेपिएंस' (ज्ञान-सम्पन्न प्राणी) ही इस बात को स्पष्ट कर देता है कि विज्ञान ने मनुष्य को उसके विवेक के कारण दूसरे जीवों से विशिष्ट माना है। भारतीय परम्परा 'धर्मो हि तेषामधिको विशेष:' मानती आयी थी; किन्तु विज्ञान ने जहाँ मनुष्य की बुद्धि को आत्यन्तिक माना वहाँ धर्म को सापेक्ष मान लिया—क्योंकि विवेक या नैतिक भावना परिस्थिति-जन्य और प्रभावों के अनुशासन द्वारा परिवर्तनीय मान ली गयी। इस प्रकार इतर जीवों से मनुष्य को विशिष्ट करने वाली बुद्धि ने मनुष्य की बुद्धि के लिए एक नया संकट उत्पन्न किया; विशिष्ट करने वाली बुद्धि ही यह बताने लगी कि मानव किसी तरह भी पशु से भिन्न नहीं है। कहा जा सकता है कि पशु से मनुष्य को पृथक् करने वाला विज्ञान मनुष्य को पशु बनाने लगा—यन्त्र से मनुष्य को अलग करने वाला विज्ञान मनुष्य को यन्त्र बनाता गया; और नैतिक बोध को निरूपित करने वाला विज्ञान-नैतिकता को सन्दिग्ध करता गया।

यह इस प्रगति का परिणाम है कि आज मानव की स्थिति को इस प्रकार निरूपित किया जाता है कि वह 'एक नीतिविहीन अथवा अतिनैतिक (क्योंकि यान्त्रिक) समाज में रहने वाला नैतिक जीव' है। वास्तव में आज के सामाजिक रोग इसी अन्तर्विरोध के परिणाम हैं। यदि आधुनिक मानव व्यक्ति भी आधुनिक यन्त्र भाँति नैतिकताविहीन या अतिनैतिक होता तो भी उसकी चेतन में गुत्थियाँ न पड़तीं, और यदि समाज नैतिक होता तो भी यह परिस्थिति न आती।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपचारों का भी आधार यही है। वे नैतिकता के किसी प्रश्न का हल नहीं बताते; न समाज को परिवर्तिन करने के सम्बन्ध में कोई संकेत देते हैं। वे केवल अनैतिक समाज में रहने के तनाव को दूर कर देते हैं—यह सम्भव बना देते हैं कि नैतिकता-सम्पन्न व्यक्ति बिना अनावश्यक क्लेश के उस अनैतिक समाज में रह सके। मनोविज्ञान की परिभाषाओं के अनुसार मानव समाज को बदलने या सुधारने की, समाज-कल्याण की कोई भी चेष्टा ऐसा मन या व्यक्तित्व नहीं कर सकता जिसे स्वस्थ या साधारण (नॉर्मल) कहा जा सके, समाज को आगे ले जाने वाले व्यक्ति का अस्वस्थ और असन्तुलित होना उन परिभाषाओं के अनुसार अनिवार्य है—इससे मनौवैज्ञानिकों को कोई चिन्ता या उलझन नहीं होती। उन्हें यह नहीं

दीखता कि यदि ऐसा है तो कहीं उनका मनोविज्ञान अधूरा है या उन का 'ऐप्रोच' गलत है।

साहित्यकार को, साहित्यिक कृतिकार को, शायद यह सब थोड़ा-थोड़ा दीखता है, भले ही धुँधला और स्पष्ट दीखता हो।

चार

जिसे यहाँ आधुनिक संवेदना कहा गया है, और जिसको ही लेख के शीर्षक में आधुनिक साहित्य-बोध की संज्ञा दी गयी है, उसकी पृष्ठिका में कहीं यह सब कुछ है। ऐसा नहीं है कि ये सब विचार और तर्क-वितर्क सभी आधुनिक लेखकों के चेतन में हों, या कि सब में समान रूप से हों। बल्कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि सब में ये विचार हैं ही। किन्तु इतना अवश्य है कि आज का लेखक अपेक्षया अधिक चेतन है और इसलिए परिस्थिति के प्रभावों को अधिक तेजी से और अधिक मात्रा में ग्रहण करता है।

कहा जा सकता है कि इस ढंग की परिस्थिति-चेतना कृतिकार के लिए हितकर नहीं है। एक प्रकार से आत्मचेतन (सेल्फ-कान्शस) होना आधुनिक साहित्यकार का अभिशाप है। अभिशाप नहीं तो दंड तो है ही! उसकी लाचारी ही है कि वह अपनी संवेदना और प्रतिभा से होने वाली उपलब्धि-भर पाठक, श्रोता अथवा ग्राहक के सामने रख कर सन्तोष कर लेना चाहिये तो भी नहीं कर सकता; वह बाध्य होता है कि इससे आगे वह यह भी स्वयं समझाए कि आधुनिक संवेदना क्या है और क्यों है—वह आधुनिक क्यों है और संवेदना भी क्यों है।

पाँच

जीवन की प्रक्रिया का यह बढ़ता हुआ ज्ञान, जीवन-यन्त्र की यान्त्रिक गति का यह बढ़ता हुआ परिचय अपने-आप में एक समस्या है। जितना ही अधिक हमारा जीवन सतह पर आता जाता है उतना ही सतह बढ़ती जाती है; अर्थात् उसके अनुपात में आभ्यन्तर जीवन उतना ही छोटा होता जाता है। जितना ही अधिक इस सतह पर जीते हैं, उतना ही छोटा होता जाता है। जितना ही अधिक हम सतह पर जीते हैं, उतना ही सतह पर भीड़ भी होती जाती है, स्वयं सतहों की भीड़ होती जाती है। जीवन-स्फटिक रचना ही रचना है, गति ही गति है; तत्त्व कुछ है या नहीं, हम नहीं जानते!

हम बार-बार गहरे उतरे
कितना गहरे!—पर
जब-जब जो कुछ भी लाये
उससे बस

और सतह-पर भीड़ बढ़ गयी।
सतहें— सतहें—
सब फेंक रही हैं लौट-लौट
वह कौंध
जिसे हम भर न रख सके
प्याले में।
छिछली, उथली, घनी चौंध से अन्ध
घूमते हैं हम
अपने रचे हुए
मायावी उजियाले में।

आधुनिक साहित्यकार के लिए इस परिस्थिति को अनदेखा करना असम्भव है लेकिन देख कर स्वीकार कर लेना भी असम्भव है। जितना ही वह दीखती है उतना ही उसे भेद कर भीतर गहराई में पैठना और आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार संवेदना में द्विभाजन हो जाता है। एक तो संवेदना नयी, उस पर इस प्रकार द्विभाजित, यह बात आधुनिक साहित्यकार की समस्या को और अपने पाठक से उसकी दूरी को एक नया आयाम दे देती है

द्विभाजन को दूर करना, सतह और गहराई के विरोध को हल करना यह साहित्यकार की भीतरी समस्या है—गहराई की समस्या है। अपने इस प्रयत्न को अपने सामने रखना, चेतन रखना, यह उसकी बाहरी समस्या है—सतह की समस्या है। किन्तु भीतरी और बाहरी का यह भेद उसके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उसकी दृष्टि से आत्यन्तिक होकर भी पाठक के साथ उसके सम्बन्ध को अन्तिम रूप से निरूपित नहीं करता है। क्योंकि प्रयत्न करने और प्रयत्न को सामने रखने के अलावा पाठक के सन्दर्भ में एक और उत्तरदायित्व भी उसका है—कि वह अपने प्रयत्न को ही अपने सामने रखे बल्कि उस खंडित यथार्थ को भी सामने रखे जिसके कारण वह प्रयत्न है और जो पाठक के और उस के बीच सम्बन्ध का आधार है।

छ:

इस सन्दर्भ में हिन्दी के बारे में क्या कहा जा सकता है? हिन्दी और हिन्दी मात्र का लेखक होते हुए उसके बारे में कुछ कहने में संकोच करना स्वाभाविक है। एक तो कृतिकार का समकालीन साहित्य के बारे में कुछ भी कहना जोखिम का काम होता है जब तक कि पाठक इतना सतर्क और उदार न हो कि कृतिकार और समीक्षक की बातों का मूल्यांकन करने की अलग-अलग कसौटियाँ रख सके और यह समझ सके कि यह अलगाव पाखंड नहीं बल्कि दृष्टि है। दूसरे, यह व्यक्ति-

विशेष न तो अपने को हिन्दी की ओर से व्यापक रूप से कुछ कहने का अधिकारी मानता है, न साधारणतया दूसरों ने ही कभी उसमें इसकी पात्रता देखी है! अपने विचारों में वह अकेला तो कदाचित् नहीं है, पर बहुत ही अल्प-मत का है; और उस अल्प-मत का भी अधिभाग कदाचित् हिन्दीतर भारतीय भाषाओं में पाया जाएगा यह सम्भावना उसके सम्मुख रहती है।

हिन्दी के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है वह इस मर्यादा के साथ ही ग्रहण किया जाना चाहिए और मान्य अथवा अमान्य ठहराया जाना चाहिए।

हिन्दी की दृष्टि भारत की दूसरी भाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक, अधिक 'भारतीय' दृष्टि रही है। इसके ऐतिहासिक कारण रहे हैं। किन्तु आज वह दृष्टि अधिक वैज्ञानिक भी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यों कह लीजिए कि ऐसा नहीं जान पड़ता कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति का प्रभाव उस पर अधिक पड़ा है या उसमें अधिक लक्षित होता है। हिन्दी का पाठक अभी तक केवल हिन्दी का या मुख्यतया हिन्दी का है। हिन्दी का आलोचक भी केवल हिन्दी का, या अधिक-से-अधिक संस्कृत के परिवेश को लेकर हिन्दी का आलोचक है। ऐसा मानने का कारण है कि हिन्दी का लेखक इन दोनों की अपेक्षा कुछ अधिक खुला है। यह भी दीखता है कि कुछ दूसरी भारतीय भाषाओं के लेखक हिन्दी लेखक की अपेक्षा अधिक खुले हैं। अपवाद प्रत्येक वर्ग में और प्रत्येक भाषा में होंगे; किन्तु यहाँ न अपवादों की बात की जा रही है, न कोई निरपवाद स्थापना की जा रही है। गुण-दोष, अच्छाई-बुराई की बात भी यह नहीं है, केवल वैज्ञानिक प्रगति के प्रभावों के प्रति खुलेपन की बात है और विनयपूर्वक यह स्वीकार करना चाहिए कि विज्ञान की उपलब्धियों को ग्रहण करने, उनका चिन्तन और मनन करने के प्रति हिन्दी का लेखक उतना सजग नहीं है जितना वह हो सकता है; और हिन्दी का पाठक या समीक्षक तो उतना भी सजग नहीं जितना कि लेखक है।

सात

आधुनिक साहित्यकार की संवेदना का कुछ-कुछ निरूपण इन बातों मे हो गया होगा। आधुनिकता जो परिवर्तन लायी है, और उनके कारण सम्प्रेषण की जो समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं, उनका कुछ अनुमान भी इनसे हो गया होगा। आधुनिक लेखक का और आधुनिक पाठक के बीच जो समस्या है, या दूसरे शब्दों में साहित्यकार की समस्या लेखक और पाठक के सम्बन्ध के क्षेत्र में जो रूप लेती है, उसके बारे में कुछ शब्द और कहे जा सकते हैं।

मूल्यों की परिवर्तशीलता अथवा शाश्वत मूल्यों के मतवाद और विवाद यहाँ प्रासंगिक नही हैं। यह नहीं कहा जा रहा है कि शाश्वत मूल्य कुछ नहीं हैं, न ही

यह कहा जा रहा है कि मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं आया है। प्रेषणीयता अब भी बुनियादी साहित्यिक मूल्य है और सम्प्रेषण साहित्यकार का बुनियादी काम, किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में प्रेष्य वस्तु और प्रेषण के साधन दोनों बदल गये हैं। यह लेखक को जानना है, पाठक को समझना है और आलोचक को मानना है—और सभी को यह यत्न करना है कि जहाँ वे दूसरे पक्ष से यह माँग करें कि उनका काम कम कठिन बनाया जाए वहाँ स्वयं भी अपनी क्षमता बढ़ाने की ओर दत्त-चित्त हों।

संस्कृति के सम्बध में जो भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं वे समस्या को और उलझाती हैं। हमारे अनेक पूर्वग्रह कुछ बुनियादी असत्यों पर आधारित हैं। जब तक सत्य का शोध न किया जाए तब तक इन पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाना कठिन है। जो लोग भारतीय संस्कृति की दुहाई देते हैं वे प्राय: भूल जाते हैं कि अन्य सभी संस्कृतियों की भाँति भारतीय संस्कृति भी एक मिश्र अथवा सामासिक संस्कृति है—कि संस्कृति मात्र समन्वित होती है क्योंकि एक समन्वित दृष्टि ही उसकी एकता का आधार होती है। दोनों में अभिन्न सम्बन्ध होने पर भी 'परम्परा' केवल इतिहास अथवा घटना-क्रम नहीं है; वह घटना-क्रम से मिलने वाला जातिगत अनुभव है—अनुभव ही नहीं बल्कि उस अनुभव का ऐसा जीवित स्पन्दन जो जाति को अभिप्रेरित करता है। हम भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में पश्चिम के प्रभाव की चर्चा करते हैं अथवा दूसरे एशियाई देशों पर भारत के प्रभाव की बात करते हैं; लेकिन यह भूल जाते हैं कि प्रभावित होने या प्रभाव ग्रहण करने की भी एक प्रतिभा होती है और कुछ अवदानों का श्रेय दाता को नहीं, प्राप्ता को मिलना चाहिए। जो सांस्कृतिक दाय दूसरों को हमसे मिला, किन्तु उसके बाद दूसरों के जातिगत अनुभवों में जीवित रहा और हममें खो गया, उसका श्रेय लेने का हमें क्या अधिकार है? या उन्हें क्यों उसे परदेशीय मानना चाहिए? वह मूलत: भारतीय होकर भी जब उनकी परम्परा का अंग हो गया है तब उनका है, हमारे इतिहास का होकर भी जब हमारी परम्परा से च्युत हो गया है और हममें क्रियमाण नहीं है, तब हमारा नहीं है। पश्चिम के रोमांटिक आन्दोलनों में हमारा बड़ा प्रभाव रहा, किन्तु वह प्रभाव वहाँ क्यों और कैसे प्रकट हुआ इसका उत्तर वहीं के जातीय जीवन और अनुभव से मिलेगा। वह पूर्व से आया होकर भी हमारा दान नहीं, उनका उपार्जन था। इसीलिए हमने जब फिर उस प्रभाव को ग्रहण किया तब यह भाव हममें नहीं था कि यह अपनी ही खोयी या बहुत दिनों की भूली वस्तु हमें मिल गयी। और आलोचक वर्ग तो आज भी आग्रहशील है कि हमने पश्चिम का अनुकरण किया! दूसरी ओर छायावाद में पश्चिम का प्रभाव जिस रूप में प्रकट हुआ उसका उत्स पश्चिम से होकर भी पश्चिम को अधिकार नहीं है कि वह उस पर गर्व करे, वह हमारी उपलब्धि है।

संस्कृति की भाँति ही हमारी भाषा भी मिश्र भाषा है। इसका परिणाम यह

हुआ कि अलग-अलग वर्गों में अलग-अलग प्रकार की भाषा बोली जाती है और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्रों में भी कई परिभाषाएँ हो गयी हैं जो अपने-अपने व्यवहार करने वालों में परस्पर संवेद्य नहीं होती हैं। आचार्य-वर्ग में ऐसा कहने वाले अनेक हैं कि 'आज की आलोचना दुर्बोध अथवा अबोध्य है।' किन्तु क्या आज के पाठक के लिए शास्त्रीय आलोचना कम दुर्बोध अथवा अबोध्य है? इतना ही नहीं, क्या वह अपर्याप्त, और बहुत कुछ अप्रासंगिक अथवा अनुपयोगी भी नहीं हो गयी है?

हमारा उद्देश्य किसी को ललकारने, चुनौती देने, या किसी पर आरोप करने या अभियोग लगाने का नहीं है। वादी या पक्षधर या किसी पक्षधर का पैरोकार होना हमें अभीष्ट नहीं—या अधिक-से-अधिक साहित्य-कर्मी मात्र का पैरोकार होना अभीष्ट है और इस संज्ञा की परिधि के भीतर लेखक, पाठक और आलोचक तीनों को ग्रहण कर लिया गया है। आधुनिक संवेदना का प्रश्न तीनों के लिए समान रूप से महत्त्व रखता है क्योंकि तीनों का अपना-अपना प्रश्न है। आधुनिकता की, आधुनिक जीवन की चुनौती सबके लिए एक-सी है और उसका सामना वे सहकर्मी होकर ही कर सकते हैं।

वैज्ञानिक सत्ता, मिथकीय सत्ता और कवि

इस बात को वैज्ञानिक भी मानता है कि किसी प्रश्न का उत्तर देने के उपक्रम से पहले प्रश्न को भी ठीक-ठीक समझने के लिए उसका इतिहास जानना उपयोगी होता है। वैज्ञानिक के ऐतिहासिकतावाद के साथ तो इस दृष्टि को जोड़ा ही जा सकता है। लेकिन बात केवल प्रश्न को ऐतिहासिक सन्दर्भ में रख देने की नहीं है। जो सवाल हम पूछ रहे हैं उस तक हम पहुँचे कैसे, इसके ऐतिहासिक परिदृश्य के सहारे ही हम ठीक-ठीक समझ सकते हैं कि हम वास्तव में पूछ क्या रहे हैं। मानव जिज्ञासा मात्र में क्या-क्या उत्तर पहले प्रस्तावित किए जा चुके हैं और परीक्षण, प्रयोग तथा व्यवहार के बाद अधूरे या भ्रान्त पाये जा चुके हैं—अतीत में संचित अनुभवों से मिले हुए संस्कार के चौखटे में ही हमारा प्रश्न रूप लेता है। जिन भी शब्दों में वह प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है, सभी के साथ नये अपरीक्षित अनुमान और तिरस्कृत पुरानी अवधारणाएँ जुड़ी रहती हैं। प्रश्न के तीखे आलोकित रूप के आसपास झुटपुटे का भी एक बहुत बड़ा वृत्त रहता है जिसकी उपेक्षा से हमारी जिज्ञासा के पूरे आयाम स्वयं हमारे वश में नहीं आते।

विज्ञान, पुराण और रचनाकर्म के अन्त:सम्बन्धों और अन्त:क्रियाओं के बारे में किसी भी प्रश्न पर यह बात लागू होती है। जो प्रश्न हम पूछ रहे हैं, उस प्रश्न तक हम पहुँचे कैसे? इसे समझने के प्रयत्न में ही हम अपनी जिज्ञासा के आयाम भी पहचानते चलते हैं और प्रश्न से अथवा उसके उत्तर से जुड़े हुए पारिभाषित शब्दों के पूरे आशय को ग्रहण कर सकते हैं। विज्ञान हम किसे कहते हैं (अथवा किसे अब नहीं कहते), पुराण से क्या आशय है, मिथक शब्द कहाँ से कब और क्यों आया और पुराण की चर्चा से अलग क्या मिथक की चर्चा प्रयोजनीय है? रचना अथवा सर्जना हम किसे कहते हैं और सहित्य के सन्दर्भ में रचना का क्या अर्थ है—और क्या रीति का कवि भी उसी अर्थ में रचनाकार होता है जिस अर्थ में आज के कवि अपने को रचनाकार मानते हैं? उस अर्थ में नहीं होता तो किस अर्थ में होता है?

नि:सन्देह यों परत-दर-परत ऐतिहासिक अर्थ-विश्लेषण करते चलने से हम किसी भी प्रश्न का व्यावहारिक उत्तर अपने लिए असम्भव बना ले सकते हैं। इसलिए एक सीमा बाँध लेनी होती थी, अथवा किसी विचारधारा या सम्प्रदाय का

उल्लेख कर दिया जाता है : उसके अनुभव के इतिहास को 'दिया हुआ' अथवा 'माना हुआ' मानकर हम आगे बढ़ते हैं।

विज्ञान के बारे में हम यह मानकर चलते हैं कि वह शोध, अनुसन्धान और प्रयोग से जुड़ा हुआ है। लेकिन मिथक अथवा पुराण भी शोध और अनुसन्धान से, अनुमान और प्रयोग से जुड़ा हुआ हो सकता है, ऐसा मानकर हम नहीं चलते। और कोई ऐसा प्रस्ताव करता है तो चौंकते हैं। फिर उदार भाव से उसे एक प्रतिज्ञा मानकर उसका परीक्षण करने को तैयार हो सकते हैं—यद्यपि प्रायः वैसा नहीं होता।

और साहित्य-रचना? क्या उसके सन्दर्भ में भी शोध और अनुसन्धान का कोई दावा हो सकता है? उस क्षेत्र में केवल एक विशेष सन्दर्भ में यह दावा कभी-कभी किया जाता है)—कि काव्य भी 'जानने' का एक तरीका है; काव्य की भी एक अपनी ज्ञान-मीमांसा होती है।

हम मिथक अथवा पुराण को केन्द्र में या कि आरम्भ में रखकर आगे बढ़ें। पुराण अथवा मिथक विज्ञान से पहले है। वह इतिहास से भी पहले है। इस 'पहले' की अवधारणा को भी समझ लें। आज हम विज्ञान की बात करते हैं तो उसे ज़रूरी तौर पर अनुसन्धान और शोध—और शंका भाव से—जोड़ते हैं। इतिहास हिस्टरी के अर्थ में काल की और अनुक्रम की, आरम्भ और अन्त की एक स्पष्ट अवधारणा माँगता है। इसके विपरीत पुराण अथवा मिथक एक निर्भ्रान्त प्रत्यय की माँग करते हैं, शंका का निरसन करते हैं। घटनाओं को कालिक परिप्रेक्ष्य में रखना उनका प्रयोजन नहीं है। उनकी जो जिज्ञासा है और उसके जो उत्तर वे प्रस्तावित करते हैं, उनका सम्बन्ध इससे है कि काल ही कैसे बनाया शुरू हुआ।

वैज्ञानिक चिन्तन और पौराणिक अथवा मिथकीय दृष्टि दोनों को जिस प्रश्न में लाकर हम जोड़ सकते हैं वह प्रश्न यही है—कि 'सृष्टि कैसे हुई?' 'क्यों' की बात अभी छोड़ दें, 'कैसे' के प्रश्न को ही सामने रखें : सृष्टि कैसे हुई? हमारे आस-पास जो सब-कुछ है, हमारा परिवेश या पर्यावरण और उससे आगे का आकाश या शून्य, यह कैसे बना? दूसरे मानव, मानवेतर प्राणी और समाज, कैसे बना? (समाज से आशय क्या केवल मानव समाज है या कि मानवेतर जीवों को भी उसमें शामिल करके प्राणी-मात्र के एक समाज की अवधारणा करनी चाहिए?) समाज कैसे बना? और उसमें 'मैं' अर्थात् यह जिज्ञासु कौन है और कहाँ है—या कि संक्षेप में यों पूछें कि 'मैं' कौन हूँ?

सृष्टि कैसे हुई?
पर्यावरण कैसे बना?
समाज कैसे बना?
मैं इसमें कहाँ हूँ—मैं कौन हूँ?

ये चार बुनियादी प्रश्न हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि मिथक अथवा पुराण इन चार प्रश्नों के उत्तर का किसी-न किसी तरह का प्रस्ताव करते हैं। और विज्ञान भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इन चार प्रश्नों से नहीं उलझता या कि इनके उत्तर नहीं खोजना चाहता। इस समान प्रश्न-भूमि से दोनों आरम्भ करते हैं यह पहचानना ज़रूरी है। लेकिन यह पहचानना भी ज़रूरी है कि कहाँ दोनों के रास्ते अलग हो जाते हैं—रास्ते ही अलग नहीं हो जाते बल्कि जिज्ञासा भी रूपान्तरित हो जाती है और इसलिए मंजिलें भी अलग-अलग हो जाती हैं। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि पुराण की यात्रा में एक यात्रान्त भी है क्योंकि वह एक निश्चयात्मक प्रतीति चाहता है, एक ध्रुव विश्वास जिसमें जिज्ञासा का शमन हो जाता है; दूसरी ओर विज्ञान का कोई यात्रान्त नहीं है, कोई मंजिल नहीं है बल्कि क्षितिजों का एक क्रम है। विज्ञान मूल प्रश्न की ओर लौटता नहीं क्योंकि यात्रा के दौरान प्रश्न रूपान्तरित हो चुके होते हैं। इतना ही कह सकते हैं कि इन मूल प्रश्नों की चिन्ता विज्ञान भी कभी छोड़ता नहीं है।

जिज्ञासा के इतिहास को ध्यान में रखते हुए हम लक्ष्य करें कि पश्चिम के विज्ञान की जैसी प्रगति और प्रवृत्ति 18वीं, 19वीं शती में हुई उसके कारण एक चीज़ विज्ञान से छूट गयी जो 17वीं शती के पहले तक उसके साथ भी वैसे ही जुड़ी हुई थी जैसे पुराण और मिथक के साथ, और जो मिथक से कभी अलग नहीं हुई। यह विच्छेदन बड़े महत्त्व का है और इसे तथा इसके प्रभावों को समझ लेना बहुत ज़रूरी है। इस सम्बन्धच्छेद से उल्लिखित चार प्रश्नों में से अन्तिम प्रश्न का उत्तर भी बिलकुल बदल गया—इतना बदल गया कि हम कह सकते हैं कि सृष्टि का ही रूप बदल गया क्योंकि उसकी धुरी अपनी जगह से हट गयी।

जिन चार मूल प्रश्नों का उल्लेख हुआ, वे प्रश्न पूछनेवाला तो मनुष्य ही था। मैं कौन हूँ, मैं कहाँ हूँ, मनुष्य ही यह प्रश्न पूछता है। इन प्रश्नों के उत्तर वह अपने को ही देता है। जो भी उत्तर वह पाता है—अपने को देता है—उन्हीं से यह निर्धारित होता है कि उस सृष्टि से, उस पर्यावरण से, उस समाज से और स्वयं अपने से उसका क्या नाता होगा। आचरण के, नैतिकता के सारे आधार इसी उत्तर पर निर्भर करते हैं जो वह अपने को देता है या अपने लिए पाता है। अर्थात इन प्रश्नों के उत्तर से ही आचार-शास्त्र अथवा नैतिकता जन्म लेती है।

मनुष्य का सामाजिक आचरण—समाज में मानव प्राणी कैसे रहता है और दूसरे मानवों के साथ उसके सम्बन्ध और उसकी अन्त:क्रियाएँ किन नियमों से निर्धारित होती हैं अथवा होनी चाहिए—यह हमेशा से साहित्यकार का एक प्रमुख सरोकार रहता आया है। इसका यह आशय नहीं है कि साहित्यिक कृतियाँ ज़रूरी तौर पर नैतिक स्थापनाएँ करती हैं, उपदेश देती हैं अथवा केवल दृष्टान्त प्रस्तुत करती हैं।

प्राचीन साहित्य में दृष्टान्त साहित्य की प्रचुरता रही और उपदेश को भी महत्त्व दिया गया तो वह रचनाकार की कल्पना की सीमा नही थी : विशेष प्रयोजन से जुड़े हुए विशेष तन्त्र अथवा तकनीक का विकास था। आज हम यह युक्ति नहीं अपनाते, इस तकनीक का इस्तेमाल प्रायः नहीं करते, उसे पुराना पड़ गया मानते हैं; लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मानवीय सम्बन्धों की नैतिक आधार-भूमि से साहित्यकार का सरोकार नहीं रहा है। यथार्थवादी साहित्य भी मूल नैतिक प्रतिज्ञाओं से मुक्त नहीं होता। नैतिकताओं को विविध और सापेक्ष और वर्गगत मानकर भी उससे छुटकारा नहीं मिलता, क्योंकि वर्ग-युद्ध पर बल देनेवाली विचारधारा भी उस आदर्श अर्थात् सम्पूर्णतया वांछनीय स्थिति की और बढ़ने का दावा करती है जिसमें वर्ग नहीं होंग और इसलिए टकरानेवाली वर्गीय नैतिकताओं के बदले एक व्यापक सर्वमान्य नैतिकता होगी।

नैतिकता हर हालत में लोक-मंगल से जुड़ी रहती है और इसलिए हमेशा इस बात का महत्त्व रहता है कि लोक की हमारी अवधारणा क्या है—अर्थात् उन्हीं चार बुनियादी प्रश्नों के हमारे उत्तर क्या हैं।

विज्ञान, पुराण और कवि-कर्म को सामान भूमि पर लानेवाली चीज़ केवल नैतिकता की समस्या नहीं है। नैतिकता का विचार ये सभी करते हैं और इसीलिए सभी उन्हीं चार बुनियादी प्रश्नों की ओर लौटते हैं। लेकिन नैतिकता का विचार उन प्रश्नों की ओर लौटता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वे चारों बुनियादी प्रश्न भी केवल नैतिकता की समस्या का हल खोजते हैं। नैतिकता के आधार तो उन प्रश्नों का उत्तर खोजने की प्रक्रिया का एक पहलू है, भले ही एक अनिवार्य पहलू। हमारी बुनियादी जिज्ञासाएँ शोध और अनुसन्धान के और भी अनेक रास्ते खोलती हैं। प्रश्नों की एक परम्परा हमारे चैतन्य से ही जुड़ जाती है। यह जो प्रश्न पूछनेवाला है, जो जाननेवाला है, यह कौन है? और क्या जो जाननेवाला है और जो जाना जाने को है उन्हें—ज्ञाता और ज्ञेय को—आत्यन्तिक रूप से अलग मानकर कभी कोई जानना हो सकता है? लेकिन अगर अन्ततोगत्वा दोनों एक हैं और जानने की प्रक्रिया केवल बीच का एक पर्दा हटाने की बात है, तो क्या सब जानना फिर केवल अपने को ही जानना है? और यदि यह परिणाम स्वीकार्य नहीं है तो सोचने में कहाँ गलती हुई है या कहाँ से रास्ते अलग हुए हैं?

यहाँ प्रश्नों के उत्तर नहीं दिये जा रहे हैं, केवल यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है कि हम जो प्रश्न पूछते हैं उनका वास्तविक आशय क्या है, यह जानने के लिए प्रश्नों का इतिहास ज़रूरी होता है। और स्पष्ट है कि यदि ऐसा होता है तो जो उत्तर अथवा

समाधान हमें मिलते हैं या किसी समय पर्याप्त जान पड़ते हैं उनके भी ऐसे सन्दर्भ होते हैं।

सुन्दर के, ललित के, नान्दतिक के, एस्थेटिक के प्रश्न भी अन्ततः उन चार सवालों के साथ जुड़ जाते हैं, चाहे हम वैज्ञानिक शोध की प्रक्रिया अपनाएँ, चाहे पौराणिक दृष्टि की, चाहे साहित्यिक कल्पना की। क्योंकि रूप-सौष्ठव के विचार में ये सब प्रश्न जुड़ जाते हैं कि आकाश, शून्य, दिक् अथवा स्पेस क्या है? दिक्काल क्या है? दिक्‌चक्र क्या है? उसकी धुरी कहाँ है? सृष्टि की धुरी और उसे पहचाननेवाली चेतना की धुरी में क्या सम्बन्ध है? अनुप्रस्थ या क्षैतिज क्या है? अनुलम्ब या ऊर्ध्वाधर क्या है? प्रकाश और अन्धकार के साथ इनका क्या सम्बन्ध है—और क्या वह सम्बन्ध आत्यन्तिक है? आकाश भी क्या 'भीतरी' और 'बाहरी'—चिदाकाश और भूताकाश—होता है? आलोक के साथ 'ऊपर' और अन्धकार के साथ 'नीचे' क्यों जुड़ा है? और यह ऊपर, नीचे, भीतर और बाहर क्या होता है? क्या प्रश्न पूछनेवाले चैतन्य की अवस्थिति ही—और केवल तात्कालिक और तदर्थ सुविधा के लिए—इन भेदों की अवधारणा नहीं कर लेती? सत्ता में क्या भीतर और बाहर की परिकल्पना निरर्थक नहीं है?

विज्ञान, पुराण (मिथक) और कवि-कल्पना, सभी इन प्रश्नों से जूझते हैं। अलग-अलग ढंग से जूझते हैं—उनके अनुशासन अलग-अलग हैं।

विज्ञान लगातार अनुमान और प्रतिज्ञा के सहारे चलता है : अपने सिद्धान्तों को वह कभी इतना सिद्ध नहीं मानता कि उनमें परिवर्तन की सम्भावना न रहे। 'ज्ञान की अद्यावधि पहुँच के आधार पर यह सिद्धान्त प्रामाणिक है', ऐसा ही दावा विज्ञान करता है। जो अद्यावधि है उसे कल बदलना पड़ सकता है, विज्ञान तो ऐसा मानता ही है। इस बात को कुछ लोग यों भी कहते हैं कि विज्ञान 'ऐतिहासिक' है, भविष्य के प्रति 'खुला' है, 'प्रगतिशील' है।

इसके विपरीत पुराण सनातन तत्त्व की खोज में रहता है। बदलाव उसमें भी आता है, वह भी स्वीकार करता है, लेकिन इस आग्रह के साथ कि वह परिवर्तन केवल सनातन तत्त्व के साथ अपने नये सम्बन्ध के कारण है, उस तत्त्व में किसी परिवर्तन के कारण नहीं। पुराण पुराने को झूठा नहीं करता, उसे नया करता है (पुरा नवं करोति)। इसीलिए पौराणिक अनुष्ठान में जो आवृत्ति होती है वह विज्ञान की भाँति प्रयोग-मूलक नहीं होती बल्कि उसी मूल घटना को पुनरुज्जीवित करती है जो उसका आधार है। अनुष्ठान में पौराणिक घटना का अनुकरण नहीं होता, अभिनय नहीं होता, उसका पुनर्घटन होता है। वही घटना दुबारा होती है। इस पुनर्जन्म-रूपी नवीकरण में ही उसे नयी अर्थवत्ता मिलती है या दी जा सकती है। पौराणिक घटना वह सनातन घटना होती है जिसे हम मानव नियति के साथ हर नये युग में नये रूप

में जोड़ सकते हैं। पुराण इसीलिए ऊर्जा के स्रोत होते हैं, पौराणिक अभिप्राय इसीलिए अर्थ-पिटक होते हैं कि भिन्न-भिन्न युगों में मानव अपनी नियति के साथ उन्हें जोड़ सकता है। और उसके सहारे अपनी अवस्थिति को एक समग्रतर रूप में पहचान सकता है। सनातन रूप-संघटनों की, सम्बन्ध-संरचनाओं की, वह प्रत्यभिज्ञा नयी होती है।

जिस अर्थ में विज्ञान भविष्योन्मुख होता है और प्रगतिशील होता है, उसी पारिभाषिक सीमा के भीतर रहते हुए कह सकते हैं कि पुराण अतीतोन्मुख होता है। वह प्रयोग के द्वारा समझ पर बल न देकर आनुष्ठानिक आवृत्ति द्वारा पहचान पर बल देता है। दृष्टियों के इस अन्तर को पहचानना ज़रूरी है। लेकिन साहित्यकार के लिए यह समझना भी ज़रूरी है कि इस पहचान में एक का तिरस्कार और दूसरे का वरण ज़रूरी नहीं है। 'हमें किसी भी वक्त यह स्थान छोड़कर आगे बढ़ना पड़ सकता है', यह कह सकने के लिए ज़रूरी नहीं है कि हम यह कहने का अधिकार छोड़ दें कि 'हम निश्चयपूर्वक यहाँ खड़े हैं'। इतना तो है कि पौराणिक अवस्थिति की चर्चा में हम अपने को एक ऐसे अतीत के साथ जोड़ रहे होंगे जो हमारी सांस्कृतिक अस्मिता का आधार है; दूसरी तरफ़ वैज्ञानिक अभियान की बात करते समय हम अपने को ऐसे भविष्य के साथ जोड़ रहे होंगे जिसे भरसक सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त रखना चाह रहे होंगे। लेकिन दिक्काल की चर्चा किसी भी प्रकार के सांस्कृतिक पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त तभी हो सकती है जब हम स्वयं संस्कृति की परिधि से बाहर जाकर विचार-विनिमय कर सकें।

अवश्य ही एक सीमित क्षेत्र ऐसा है, या रहा है, जिसके भीतर यह सम्भव है। गणित और भौतिकी में उसका महत्त्व भी रहा है। लेकिन भौतिक विज्ञान भी जब नए तत्त्वों के सामने आने पर सिद्धान्तों में संशोधन के लिए नये अनुमान करता है, नयी प्रतिज्ञाएँ करता है, अपनी कल्पना का उपयोग करता है, तब क्या वह सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से एकान्त रूप से मुक्त रह सकता है? विज्ञान की आज की अवस्था में यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। वैज्ञानिक लोग सदैव 'वैज्ञानिक कल्पना' की बात करत रहे हैं और उसे कवि-कल्पना से अलग करने का प्रयत्न करते रहे हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि वैज्ञानिक कल्पना कल्पना होकर भी कुछ नियमों की परिधि के भीतर काम करती है और तर्क-पद्धतियों को अपनाए रहती है। लेकिन— और आज की परिस्थिति में वैज्ञानिक न केवल इस बात को मानता है बल्कि वही कदाचित् अधिक बल देकर इस बात को कह सकता है—विज्ञान की भी प्रतिज्ञाएँ और कल्पनाएँ क्योंकि भाषा में की जाती हैं और भाषा और संस्कृति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति और उपलब्धि है, इसलिए वैज्ञानिक का चिन्तन सांस्कृतिक प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता।

आज हम यह तो कह सकते हैं कि पुराण की सृष्टि-कथा दूसरी है और विज्ञान की दूसरी। लेकिन वैज्ञानिक भी आज जब सृष्टि की बात करता है—सृष्टि कब और कैसे हुई केवल इसी की बात नहीं, सृष्टि का आज विस्तार कैसा और कहाँ तक है, पदार्थ, ऊर्जा, दिक् और काल के आपसी सम्बन्ध क्या है—तो वह स्वयं इस बात से चकित रह जाता है कि इसके लिए जिस शब्दावली का व्यवहार वह कर रहा है वह उस शब्दावली से बहुत भिन्न नहीं है जिसका उपयोग पौराणिक सृष्टिविद् या कथाकार करता था। इस स्थिति में कुछ वैज्ञानिक यह कहते हैं कि 'हम अपनी बात इस ढंग से कहने को लाचार हैं क्योंकि अभी हमारे पास उपयुक्त शब्दावली नहीं है'; कुछ इसे यों भी कहते हैं कि वे स्वयं नहीं जानते कि जो वे कह रहे हैं उसका सम्पूर्ण आशय क्या है।

भाषा में अभिव्यक्ति से जुड़ी हुई कठिनाई का उल्लेख वैज्ञानिकों ने आज से पहले भी किया है। लेकिन कुछ वर्षों पहले तक विज्ञान जिस तरह की निश्चयात्मकता को लेकर चलता था उसमें इस पक्ष की भरसक उपेक्षा की जाती थी। आज स्थिति यह है कि वैसी निश्चयात्मकता विज्ञान के निचले स्तरों पर अथवा यन्त्रोद्योग के क्षेत्रों में ही लक्षित होती है और शोध के उच्चतम स्तरों पर भाषा का स्वभाव कुछ दूसरा ही देखने में आता है। भौतिकी और जैविकी दोनों क्षेत्रों में यह देखा जा सकता है।

भाषा पूरे मानव समाज की चीज़ है, उसके किसी एक वर्ग की नहीं। शब्दों की रचना और शब्दार्थ की वृद्धि में भी पूरे समाज का योग होता है। सामान्य प्रयोजनवती भाषा अपने ढंग से बढ़ती है, विज्ञान का मुहावरा और पारिभाषिक शब्दावलियाँ अपने ढंग से विकसित होती हैं। अन्य अनेक शास्त्र अपने ढंग से भाषा को रचते और समृद्ध करते चलते हैं। संचार-साधन अपने ढंग से भाषा का प्रचार और विस्तार भी करते हैं—और साथ-साथ उसका अवमूल्यन भी करते चलते हैं। इस सारी परिवर्तनशील प्रक्रिया के बीच साहित्यकार रचना और सम्प्रेषण का काम करता है। एक 'दी हुई' भाषा उसके आस-पास है और रहेगी; उसे नया कुछ कहना है तो इस दी हुई भाषा की सम्पूर्ण अवज्ञा करके नहीं बल्कि निरन्तर उसका अधिकतम विस्तार करते हुए ही कहना है। साहित्यकार को यह सुविधा जरूर है कि उसका चिन्तन केवल वैज्ञानिक तर्क-पद्धति के अनुशासन से बँधा नहीं है, जैसे कि वह केवल दैनन्दिन व्यवहार की भाषा से बँधा नहीं है। हम यहाँ यह भी जोड़ सकते हैं कि यद्यपि साहित्यकार उनसे बँधा नहीं है—उन ऐतिहासिक संस्कारों और अनुगूँजों का वह उपयोग कर सकता है औ उसमें अपने चयन-विवेक से भी काम ले सकता है। ऐसा करने में वह न केवल पौराणिक अभिप्रायों को अपने काम में लगा लेता है वरन उनमें नए अर्थ भी भर सकता है। पुराण वह है जो पुराने को नया करता

है; साहित्यकार की कल्पना स्वयं पुराण को भी इस प्रकार नया करती चलती है। उसके लिए इस नवीकरण की प्रक्रिया में कोई विधि त्याज्य नहीं है—विज्ञान की चिन्तन-प्रक्रिया भी उसके उसी प्रकार काम आ सकती है जिस प्रकार सामान्य भाषा-व्यवहार। और सामान्य भाषा-व्यवहार में जिस तरह की मिथ्या व्युत्पत्तियाँ काम आती हैं वे भी उपयोज्य हो जाती हैं। रूपकों की गलत समझ नये रूपकार्थों को जन्म देती है; और तब इस आग्रह का कोई महत्त्व नहीं रहता कि नये रूपकार्थ एक भूल से पैदा हुए। उस भूल की अगर कोई रचनात्मक सम्भावनाएँ थीं और उनके आधार पर रचनाकर्म हो भी गया, तो भूल को भूल कहते जाने का प्रयोजन इतना ही रह जाता है कि हम देख सकें भूल से भी रचनात्मक सम्भावनाएँ होती हैं।

हमारे चार बुनियादी प्रश्नों में पहला प्रश्न सृष्टि को लेकर है। सृष्टि कैसे हुई? हर संस्कृति की अपनी एक सृष्टि-कथा होती है। वही सांस्कृतिक दृष्टि है जिससे संस्कृति स्वयं अपने को देखती-पहचानती है। विज्ञान की भी एक सृष्टि कथा होती है—या होती है न कहकर यों कहें कि विज्ञान भी निरन्तर एक सृष्टि-कथा रचता रहता है। सृष्टि कथा दिक् और काल की अवधारणा के बिना हो ही नहीं सकती और इन अवधारणाओं के साथ हमारी सारी समस्याएँ आरम्भ हो जाती हैं। क्या काल अनादि और अनन्त है? क्या दिक् एक छोरहीन असीम विस्तार है?

पश्चिम के धर्म-विश्वासों में एक काल ऐसा था—या है—जो अनादि और अनन्त है : यह ईश्वर का काल है। ईश्वर कब हुआ, यह प्रश्न अर्थहीन प्रश्न है क्योंकि ईश्वर तो हमेशा से है। इसी प्रकार यह प्रश्न भी निरर्थक है कि वह कब समाप्त होगा अथवा नहीं रहेगा। लेकिन पश्चिम के धर्मों की सृष्टि-कथा में ईश्वर अगर फरिश्तों की सृष्टि करता है जो अमर हैं, तो फरिश्तों का एक काल है जिसका आदि तो है लेकिन अन्त नहीं। हमारी सृष्टि-कथा में भी आकाश अथवा द्युलोक के देवता हैं, अन्तरिक्ष के देवता हैं और पृथ्वी के देवता हैं—ये सब एक कोटि के नहीं हैं। काल की एक दूसरी कोटि है जो मर्त्यों अथवा मानवों का काल है, जिसका आरम्भ भी है और अन्त भी।

विज्ञान की अद्यतन सृष्टि-कथा में सृष्टि के एक आरम्भ-बिन्दु की अवधारणा है। इसे हम यों कह सकते हैं कि दिक्-काल का एक आरम्भ-बिन्दु आज विज्ञान मानता है। काल की अद्यतन धारणा में काल की शान्त परिकल्पना की गयी है। कवि के लिए तो इसमें विशेष कठिनाई नहीं है, लेकिन इतिहासकार और स्वयं वैज्ञानिक के लिए इससे समस्या पैदा होती है। ऐतिहासिक, एकरेखीय और एक दिगुन्मुख काल, शान्त कैसे हो सकता है? विज्ञान दिग्विस्तार की सीमा मानता है

और वही काल की सीमा भी है : उससे परे कुछ नहीं हो सकता और उस सीमा पर पहुँचकर दिक् भी मुड़कर लौट आता है और इसीलिए वहीं काल को भी मुड़कर लौट आना चाहिए। लेकिन यह कहने का ठीक-ठीक अर्थ क्या हुआ। यह वैज्ञानिक स्वयं नहीं जानता। उसका चिन्तन और उसकी अवधारणा जिस आपत्ति को जन्म देती है उसे वह स्वीकार करता है और उसका उत्तर प्रस्तुत करता है—लेकिन उत्तर देते हुए भी यह स्वीकार कर लेता है कि उसका पूरा आशय वह अभी नहीं समझ पाया है। यह कठिनाई समझ की है या भाषा की, इसका विचार इससे आगे निष्फल हो जाता है क्योंकि इससे आगे के विचार के लिए भाषा नहीं है। कालान्तर में तर्क का दबाव आवश्यकतानुसार भाषा गढ़ेगा और फिर भाषा नये विचार और नयी युक्तियों को प्रस्तुत करना सम्भव बनाएगी—ये दोनों समान्तर और परस्पर-निर्भर प्रक्रियाएँ हैं जिनमें कार्य-कारण का विचार लाभकर नहीं है। ब्रह्मांड सीमित है, तदनुसार दिक्-काल की भी एक सीमा है; प्रकाश की किरणें भी उस सीमा से लौट आती हैं और काल की पहुँच वहीं तक है जहाँ तक प्रकाश की—काल प्रकाश-सापेक्ष है। ये सब अवधारणाएँ विज्ञान को स्वीकार हैं लेकिन इन सबसे परिणाम क्या निकला यह वह नहीं बता सकता। यह स्थिति लगभग वही है जो मिथकीय चिन्तन की स्थिति थी, यह स्वीकार करने में वैज्ञानिक को असमंजस तो होता है, लेकिन इसका कोई उत्तर उसके पास नहीं है। इतना अवश्य है कि मिथकीय अवधारणाओं के प्रति एक नया खुलापन वैज्ञानिक चिन्तन में आया है। मन, चेतना और कल्पना के बारे में भी एक नये परिदृश्य के लिए क्षेत्र खुला है और पिछली शती की निश्चात्मकता ने जिस असहिष्णुता का रूप ले लिया था वह अब लक्षित नहीं होती।

क्या पौराणिक चिन्तन का रास्ता सचमुच चिन्ता का एक दूसरा रास्ता है? क्या रूपकाश्रयी चिन्तन अथवा एनालॉजिकल चिन्तन वैज्ञानिक चिन्तन (लॉजिकल चिन्तन) का समान्तर और पूरक हो सकता है? आज ऐसी सम्भवना की जा सकती है कि इन दोनों समान्तर रास्तों पर यात्रा करते हुए हम कुछ नया प्रकाश पा सकते हैं, कि दोनों यात्राओं से मिलनेवाली जानकारियाँ परस्पर पूरक हो सकती हैं। और इसमें तो सन्देह नहीं कि आचरण के आधार निर्धारित करने में ये दोनों दृष्टियाँ महत्त्व का काम करती हैं—अकेली कोई भी काफ़ी नहीं है। ऐसा नहीं है कि जहाँ विज्ञान आरम्भ होता है वहाँ मिथक समाप्त हो जाता है; कि वैज्ञानिक चिन्तन मिथकीय पद्धति का अन्त कर देता है। ऐसा होता तो मनुष्य का ऐसा रूपान्तर हुआ होता कि हम प्राचीन काल के मानव और आधुनिक मानव में कोई सम्बन्ध या समानता ही न पहचान सकते!

वैज्ञानिक चिन्तन-प्रक्रिया का नकार निगति का कारण बनता है क्योंकि वह

परिवर्तनशीलता और विकास गति को नकारता है। दूसरी ओर मिथकीय पद्धति का नकार भी निगति का कारण बनता है क्योंकि उसकी परिणति कल्पना की और संवेदना की मृत्यु में होती है—मनुष्य एक यन्त्र में परिणत हो जाता है।

कवि को कभी-कभी एक अनौपचारिक विधायक के रूप में देखा गया है। विधायक के रूप में उसकी नियुक्ति या चुनाव कभी नहीं होता, और वह उसे स्वीकार भी नहीं होता। लेकिन वह एक वैकल्पिक विधायक बना ही रहता है: इसलिए नहीं कि वह कभी कोई विधान प्रस्तुत करता है वरन इसलिए कि वह निरन्तर उन आधारभूत सत्यों और संकल्पनाओं को सामने लाता रहता है जिनसे विधान उद्भूत होते हैं। कवि का प्रयोजन न तो केवल विज्ञान द्वारा प्रतिष्ठापित तथ्यों से होता है, न केवल पुराण में सम्पुंजित कथाओं, विश्वासों अथवा अभिप्रायों से। कवि के लिए वे पद्धतियाँ ही प्रयोजनीय हैं जिनमे विज्ञान और पुराण सृष्टि को समझने की ओर अग्रसर होते हैं। एक का आग्रह प्रत्यक्ष सृष्टि पर है, दूसरे का परोक्ष सत्ता पर; कवि वह दृष्टि चाहता है जो इन दोनों को एक इकाई में जोड़ दे सके।[1]

वत्सल निधि द्वारा आयोजित लेखक शिविर (वाल्मीकि नगर) में दिये गये भाषण का संशोधित रूप।

कविता : श्रव्य से पाठ्य तक

वाक् की, और इसलिए कलाओं में वाङ्मय की, प्राथमिकता भारतीय परम्परा का एक अभिन्न अंग रही है। श्रव्य अथवा वाचिक परम्परा में यह स्वाभाविक भी था : पश्चिम की परिभाषा 'सही शब्दों का सही क्रम' (राइट वर्ड्स इन द राइट आर्डर) से आगे वह उस शब्द-क्रम के सम्यक् वाचन पर भी बल देती थी। आदिकाव्य में यह बात उस प्रसंग में बड़े सुन्दर ढंग से उदाहृत होती है जहाँ राम-लक्ष्मण किष्किन्धा में प्रवेश करते हैं और इन वल्कल-वेशधारी राज-पुत्रों से मिलने के लिए सुग्रीव हनुमान को भेजता है।[1]

हनुमान को अभ्यागतों का परिचय और मनोभाव जानने की उत्कंठा है तो राम लक्ष्मण भी जानना चाहते हैं कि वह व्यक्ति शत्रु है अथवा मित्र। दोनों भाई चुपचाप हनुमान की बात सुनते हैं, उत्तर नहीं देते (एवं मां परिभाषन्तं कस्माद्वै नाऽभिभाषथ:); अन्त में राम अनुज को आदेश देते हुए कहते हैं :

तमभ्यभाष सौमित्र सुग्रीव-सचिवं कपिम्
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यै: स्नेहयुक्तमरिन्दम्॥
नानृग्वेदविनीतस्यं नायजुर्वेदधारिण:
ना सामवेद विदुष: शक्यमेव प्रभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥
अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमुद्रतम्
उर:स्थं कण्ठगं वाक्यं वर्त्तते मध्यमें स्वरे॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम्॥

इस प्रकार आदिष्ट लक्ष्मण *अभ्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्मजम्।* 'वाक्यज्ञ ने वाक्यज्ञ से' वार्तालाप किया। आज ऐसी साफ-सुथरी, मँजी-चिकनी बात करनेवाले (फिर कपट-वेषधारी!—'भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितयाकपि:') अजनबी के प्रति

---

1 देखिए, 'वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा कांड तृतीय सर्ग।'

हम सब शंका और सन्देह की दृष्टि रखते हैं; इस विश्वास को निरा भोलापन मानते कि संस्कार-विशुद्ध भाषा बोलनेवाला जन इसीलिए सज्जन भी होगा। किन्तु वाचिक परम्परा की भित्ति ही इस विश्वास पर खड़ी है : वेदों की तेजोमयी वाक् की अपेक्षा रामायण की हृदयहारिणी कल्याणी वाक् ही काव्य का साध्य और साधन रही। भारतीय वाङ्मय की परम्परा में कल्याणी वाक् की यह साधना संस्कृत में ही नहीं, प्राकृतों और अपभ्रंशों में भी होती रही, और आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी चली आयी : उनके आदि रूपों में नहीं वरन मुद्रण युग के आरम्भ तक।

कल्याण वाक् : यह पद मूलतः आदिकाव्य का नहीं, वेद का है; निःसन्देह आदिकवि का इंगित श्रुति की ओर ही था। श्रव्य को श्रुति का प्रमाण अपेक्षित हो, इससे अधिक स्वाभाविक क्या बात होगी! वाक् के इन दो रूपों या प्रकारों में भेद वैदिक काल में ही न केवल स्पष्ट पहचाना जाने लगा था वरन् पंजीकृत भी होने लगा था। ई.पू. सातवीं से चौथी शती में ही इसका विवेचन होने लगा था कि वैदिक वाङ्मय में किन-किन अलंकारों का उपयोग हुआ है। इससे अगली पन्द्रह शतियों में संस्कृत में न केवल श्रेष्ठ काव्य- रचना हुई (जो मौखिक अथवा वाचिक परम्परा में ही सुरक्षित रही।) वरन् काव्य और अलंकार-शास्त्र के अनेक उद्भट विद्वान भी प्रकट हुए साधारणतया कहा जा सकता है कि इस काल के पूर्वार्द्ध को उसका कृति-साहित्य अधिक विशिष्ट करता है; शास्त्रीय और सैद्धान्तिक विवेचन प्रायः उत्तरार्द्ध की विशेषता है। अर्थात् संस्कृत में भी कवि-कर्म क्रमशः अधिकाधिक आत्म-चेतन होता गया है। जहाँ कवि पूरी तरह सफल हुआ है वहाँ चिर-स्मरणीय और समग्र काव्य वस्तु हमारे लिए छोड़ गया है; जहाँ सफलता उससे कुछ कम मिली है वहाँ भी कवि का वाग्वैदग्ध्य हमें अभिभूत किये बिना नहीं छोड़ता। रससिद्ध यदि कवीश्वर थे, तो वाक्सिद्ध भी महाकवि तो थे ही; अगर हम कहीं-कहीं चेष्टित पद पहचानते भी हैं तो भी उसकी चमत्कारिकता पर मुग्ध रह जाते हैं।

हम चाहें तो वाङ्मय के इस विकास को समाज के विकास के साथ जोड़ सकते हैं। एक छोर पर मौर्य और गुप्त साम्राज्यों की समृद्धि, निरापदता और प्रसारशीलता, उन साम्राज्यों के सुप्रतिष्ठित, स्वतःप्रमाण, 'नैसर्गिक' अभिजात वर्ग (जिनके ही विनोद के लिए काव्य की रचना होती थी और जिनमें ही वह सुरक्षित रहता था); दूसरे छोर पर परवर्ती राज्यों को विभाजित, अनिश्चित और प्रायः युद्धग्रस्त अवस्था, ऐसे राज्यों के दुर्बलतर, बलात् प्रतिष्ठित और साधारणतया स्वरक्षा-निरत अभिजातवर्ग, जिनके सदस्यों के पास अपने संकटापन्न हितों की रक्षा की चिन्ता और थकान मिटाने के दो ही साधन थे : या तो तीसरे पुरुषार्थ की धुरन्धर साधना, या शृंगार-काव्य। परन्तु

अभिजातवर्ग के क्रमिक ह्रास के साथ-साथ समाज का मध्य और निरन्तर स्तर ऊपर भी उठता आ रहा था; वाङ्मय के क्षेत्र में इसका अर्थ था लौकिक काव्य के विभिन्न रूपों का विकास। इस कथन का यह आशय नहीं है कि कृति साहित्य में गद्य तभी प्रकट हो गया था। आशय इतना ही है कि महाकाव्य भी अपने को पौराणिक कथा के अतिलौकिक चरित की परिधि में न रखकर सामान्यतर मानव नायक की और कल्पना-मूलक परिस्थितियों की बात भी करने लगा था; और मुक्तक में रीतिगत वस्तु या अभिप्रायों से आगे बढ़कर ताजा वास्तविक अनुभूति भी ठेठ मगर प्रभावशाली मुहावरे में अभिव्यक्त की जाने लगी थी। निःसन्देह यह 'अनभिजात' सामान्य लौकिक परम्परा भी पहले से चली आ रही थी, और अभिजात वर्ग के काव्य में प्रचलित अनेक विषय और अभिप्राय इस निम्नतर स्तर से ही उठा लिये जाते थे और नये साज-सँवार के साथ अभिजात काव्य रसिक के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते थे। क्षेमेन्द्र ने तो कवि को परामर्श ही दिया था कि एक ओर वैयाकरण और तार्किक से बचे तो दूसरी ओर नये अर्थ की खोज में लोक-साहित्य और जन-भाषा की ओर कान लगाये रहे।

यह हमारे काव्य का दुर्भाग्य ही था कि यह मध्यकालीन उन्मेष और अधिक स्थायी अथवा दूरव्यापी नहीं हुआ। देश भाषाओं के उत्थान की प्रबलता ही इस उन्मेष की पराजय का कारण हुई। 'नई' वस्तु की खोज भाषाओं को फिर पुरातन की ओर ही ले गयी : एक नीरस कर्मकांड के बदले भावात्मक तृप्ति दे सकनेवाली श्रद्धा की खोज में काव्य फिर धर्म की ओर मुड़ गया। एक नया द्वैध उत्पन्न हुआ जिसने एक प्रकार से पुरानी परिस्थिति को ठीक उलटकर सामने ला खड़ा किया। अब भाषाओं के जन काव्य की ही मूल प्रेरणा और प्रवृत्ति धार्मिक हो गयी। (लोक-वीर-गाथा एक स्वल्पतर धारा के रूप में रह गयी); शुद्ध लौकिक काव्य केवल अभिजात वर्ग तक मर्यादित हो गया और शीघ्र ही उनके वर्ग की भाँति ही निगति की ओर उन्मुख हुआ। जैसे पहले संस्कृत काव्य एक कृत्रिम, अतिमार्जित भाषा में चेष्टित शैली में वर्णित रूढ़ अभिप्रायों और प्रसंगों का एक रीतिबद्ध समूह बन गया था, वैसा ही देश-भाषाओं के काव्य के साथ भी हुआ। संस्कृत की भाँति ही इस काव्य का भी सफल और श्रेष्ठ अंश तो ऐसा था जो अपने मँजाव-कटाव, उक्ति-चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य और सघन लघुता ('ज्यों नावुक के तीर') और कभी-कभी शृंगारिक उत्तेजकता के कारण आकृष्ट करे; किन्तु यह आकर्षण भी विदग्ध विलासिता का ही एक रूप था। इस प्रकार के काव्य में भी मुक्तक का ही स्थान प्रधान था। ऐसे मुक्तक को गीति मुक्तक (लिरिक) कदाचित् ही कहा जा सकता; उसमें प्रायः सदैव एक सघन नाटकीय स्थिति का ही सूक्ष्म-रेखांकित मार्मिक निदर्शन होता—प्राकृत गाथाओं में भी ऐसे मुक्तकों का स्थान रहा; अन्तर यह था कि

प्राकृत में तनाव-भरी स्थितियाँ समकालीन समाज के वास्तविक जीवन से ली जाती थीं, रीति-काव्य में वे घटना-स्थितियों और भाव-स्थितियों की वर्गीकृत पंजिकाओं से ली जाने लगीं।

रीति से परिचित, स्थितियों-अभिप्रायों, नायक-नायिकाओं और भाव-भेदों के कोश में गति रखनेवाले 'सहृदयों' के लिए यह काव्य-समूह अब भी रस दे सकता है; इतना ही नहीं, अपनी वक्रता और मितवाक् व्यंजना-गाम्भीर्य द्वारा चमत्कृत भी कर सकता है। अकथित के इतने अर्थगर्भ प्रयोग के उदाहरण संसार के साहित्य में कहीं-कहीं ही मिलेंगे : कभी-कभी यह सांकेतिकता और परोक्षप्रियता इतनी दूर तक चली गयी है कि काव्य की वास्तविक वस्तु मानो अनुल्लिखित ही रह गयी है। पठित समाज में वाचिक परम्परा के बने रहने का कारण और आधार यह मुक्तक काव्य ही था : अपनी सुगठित लघुता, सूक्ष्मता और उक्ति-वैचित्र्य के कारण यह काव्य आसानी से स्मृति पर अपनी छाप छोड़ जाता था: अपनी मार्मिक व्यंजना और वैदग्ध्य के कारण उसका निरन्तर प्रचार होता रहता था। और अगर उसकी अतिशय शृंगारिकता उसे मर्यादा तोड़ने की सीमा तक ले जाती थी, तो इसमें ऐसे समाज के लिए एक अतिरिक्त आकर्षण था जिसमें पुरुषों और स्त्रियों के जीवन और आमोद प्रमोद की लीकें क्रमशः अलग अलग होती जा रही थीं। दो समान्तर वाचिक परम्पराएँ पहले भी थीं, पर उस समय यह विभाजन स्तरीय था, एक धारा ऊपरी स्तर पर बहती थी, एक निचले स्तर पर; अब फिर दो परम्पराएँ समान्तर पनपने लगीं पर उस विभाजन का आधार वर्गीय था, स्तरीय नहीं। पुरुष-वर्ग क्रमशः ऐसे काव्य की ओर झुक रहा था जिसका आधार कूट व्यंजना और वाग्वैदग्ध्य था; नारी-समाज ऐसे काव्य की ओर जो भावना और श्रद्धा को सन्तुष्ट करे। (और अगर पहले वर्ग की रुचि का काव्य प्रस्तुत करने में स्त्रियाँ भी पुरुषों की बराबरी करती थीं, तो दूसरे वर्ग का काव्य बहुधा पुरुषों का रचा होता था।)

प्राचीन काल की भाँति अब काव्य-क्षेत्र का सम्बन्ध यज्ञ-भूमि से नहीं रहा था; पर काव्य का आस्वादन श्रोताओं द्वारा समूह में हो, यह न केवल सम्भव था वरन् यही आस्वादन की साधारण और स्वाभाविक स्थिति थी। सम्पन्न वर्ग में काव्यास्वादन किसी सहृदय सामाजिक के घर-आँगन में गोष्ठी में होता था; जनसाधारण के लिए समाज की व्यवस्था चौक-चौपाल में होती थी। कवि-गोष्ठी या कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ केवल कवियों द्वारा ही हो, आवश्यक नहीं था; ऐसा भी एक समुदाय था जिसके लिए काव्य का वाचन एक कला नहीं तो एक तोषप्रद (और प्रायः ख्यातिप्रद) व्यसन अवश्य था। काव्य की रचना के बाद काव्य का वाचन ही सबसे वांछनीय गुण था; और समाज में अपनी या दूसरे की कविता अच्छी पढ़नेवाले का सम्मान स्वयं कवि से कुछ ही कम था। पेशेवर वाचन भी थे, और वाचन की विभिन्न

शैलियाँ भी थीं जिनके अपने-अपने अनुयायी थे।

इस वृत्तान्त में काव्येतिहास का थोड़ा सरलीकरण हुआ है अवश्य, पर मोटे तौर पर काव्यास्वादन की यही अवस्था थी जब भारत में मुद्रण यन्त्र का आविर्भाव हुआ। छापे के यन्त्र की गहरी छाप पड़ी। उसे लाये तो थे मसीही प्रचारक अपने धर्म-ग्रन्थ के प्रचार के लिए, पर एक पीढ़ी से कम की अवधि में उसने भारतीय साहित्य को अन्तिम और अपरिहार्य रूप से लौकिक बना दिया। साक्षरता का प्रसार उस समय अधिक नहीं था, पर वाचिक अथवा श्रव्य परम्परा के कारण जनसाधारण न केवल काव्य से परिचित था वरन कुछ रुचि भी रखता था और काव्य-विवेक भी कर सकता था। यहाँ काव्य का अर्थ काव्य ही है, अर्थात् ऐसा वाङ्मय जो कल्पना-प्रसूत था और जिसका लक्ष्य हृदय और बुद्धि को तृप्ति देना था, केवल आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना नहीं। छपाई का आविष्कार उपलब्ध होते ही मानो रातों-रात एक साहित्य प्रकट हो गया। कविता, आख्यान, आख्यायिका, किस्से, चुटकुलों-वार्ताओं के संग्रह, कवित्त-सवैयों के संकलन, हजारे, सतसइयाँ, बारहमासे, दृष्टान्त और जीवनियाँ—वाचिका परम्परा में प्रचलित सभी प्रकार की कृतियाँ निजी ग्रन्थागारों में सुरक्षित हस्तलिखित प्रतिलिपियों से प्राप्त करके धड़ाधड़ छापी जाने लगीं—कुछ अविकल ज्यों-की-त्यों, कुछ जल्दी में भाषा को यथासम्भव समकालीन संस्कार देकर। सभी कुछ के लिए पाठक-वर्ग सुलभ था। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि यह सारा साहित्य मुद्रित होने पर भी वाचिक परम्परा का साहित्य ही था। सारे काव्यरूप श्रवण ग्राह्य ही थे। इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पढ़े जाने पर ये ग्रन्थ बाँचे जाते थे—सस्वर पढ़े जाते थे अर्थात् वाचिक-श्रुत परिस्थिति में ढालकर ही सम्प्रेषित या गृहीत होते थे।

क्या मुद्रक को इसका कुछ अनुमान था कि यन्त्र के आविर्भाव से कैसी उथल-पुथल मच जाएगी? नहीं; न उसे इससे कुछ प्रयोजन था। छपाई के परिणामों से—बिक्री को छोड़कर—उसका विशेष सरोकार नहीं था; इसका उसे अनुमान भी नहीं था कि छपाई से अभिव्यक्ति और आस्वादन की ही नहीं, बोध की प्रणालियों में भी कैसे आमूल परिवर्तन अनिवार्य हो जाएँगे। उसे इसका गुमान भी नहीं हो सकता था कि वाचिक-श्रव्य परम्परा के आकर-ग्रन्थों को सर्व-सुलभ बनाने में ही वह उसी वाचिक श्रव्य परम्परा को नष्ट करने में योग दे रहा था। मुद्रक को ही क्यों, कवि को यभी यह समझने में अगले सौ वर्ष लग गए कि छपे हुए शब्द की सुलभता के परिणाम में उसे एक नयी भाषा की आवश्यकता पड़ जाएगी; कि ज्ञान के इतना

सुलभ हो जाने से एक नयी ज्ञान-मीमांसा आवश्यक हो जाएगी।

मुद्रण ने भाषा की जो समस्या कवि के लिए उत्पन्न की, वह राजभाषा, राज्य-भाषा या राष्ट्रभाषा की समस्या नहीं थी, न ही वह मानक भाषा की समस्या थी, यद्यपि ये समस्याएँ भी उसी काल में उतने ही उत्कट रूप में साधारण भारतीय समाज के सम्मुख वर्तमान रहीं। कवि और काव्य के लिए न तो प्रश्न यह था कि कई प्रचलित भाषाओं में से कोई एक चुन ली जाए, न यही कि एक ही भाषा के कई प्रचलित रूपों या बोलियों में से कोई एक चुनकर उसका साधु व्यवहार किया जाए। काव्य के लिए समस्या दूसरे ही स्तर की थी। उसके सम्मुख प्रश्न यह था कि वाचिक अथवा श्रुत भाषा से लिखित अथवा पठित भाषा का संक्रमण कैसे हो : श्रव्य भाषा और उसके काव्य को दृश्य भाषा और उसके काव्य में कैसे रूपान्तरित कर दिया जाए।

यों तो छपाई—यान्त्रिक आवृत्ति—की सुविधा ने दूसरी कलाओं पर भी प्रभाव डाला; पर यह प्रभाव किसी कला के लिए इतना गहरा या इतना व्यापक नहीं हुआ जितना कविता के लिए। ऐसा क्यों, इसके कारणों को एक बार गिना जाना उपयोगी होगा, भले ही सतही तौर पर वे प्रत्यक्ष और स्वतःसिद्ध जान पड़ें।

काव्य क्योंकि शब्दप्राण है, और शब्द ही हमारे दैनन्दिन व्यवहार और सम्पर्क के भी साधन हैं, इसलिए काव्य सभी कलाओं में सबसे अधिक वेध्य रूप हो जाता है। पत्थर, धातु, वर्ण अथवा स्वर का मूर्त्ति, चित्र अथवा संगीत कलावस्तु से अलग और स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता जैसा कि शब्द का होता है· इसीलिए दूसरी कलाओं में उपकरणों की अपेक्षा शब्द का सृजनात्मक प्रयोग कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया होती है और बहुत अधिक स्तरों पर कठिनतर नियन्त्रण माँगती है। दूसरी ओर यह भी है कि शब्द की स्वायत्त अर्थवत्ता यह सम्भावना भी पैदा करती है कि कवि अनेक स्तरों पर नियन्त्रित शक्ति का प्रयोग कर सके। कविता मूर्ति अथवा चित्र की अपेक्षा कहीं अधिक स्तरों पर अर्थवती हो सकती है और अर्थ का सम्प्रेषण कर सकती है—इसीलिए कि काव्यार्थ, शब्द में पहले से वर्तमान वाच्यार्थों के सुनियन्त्रित संयोजन से रचित और उत्सृष्ट नया अर्थ होता है। कविता पूर्ववर्ती अर्थों, क्रमों और कोटियों को नष्ट किये बिना एक नयी व्यवस्था में रखकर नये अर्थ, क्रम और कोटि की सृष्टि करती है : पुराने अर्थ मिटते, बदलते या स्थानच्युत नहीं होते, पर कविता रूपी नयी सृष्टि में उतना ही, वहीं, तभी और उसी मात्रा में खुलते, ध्वनित और स्वरित होते हैं जितना कवि नयी व्यवस्था में चाहता है।

नयी असाधारण शक्ति की यह सम्भावना अपने साथ शक्ति के स्वैराचार की सम्भावना की चुनौती भी लाती है जिसका सामना कवि को करना होता है।

कवि की और दूसरे कलाकारों की समस्या का अन्तर स्पष्ट करने के लिए

पुराने व्याख्याकारों के ढंग का एक दृष्टान्त लिया जा सकता है। एक युवा एक युवती से विवाह करता है, परिवार और समाज में वधू के रूप में उसे परिचित कराता है। वधू के रूप में उसके स्वीकार किये जाने में कोई कठिनाई नहीं होती : समाज में कुछ लोग उसे कन्या के रूप में जानते भी रहे हों या स्मरण भी कर लें तो भी स्वीकृति में कोई बाधा नहीं आती। किन्तु अब उस व्यक्ति की बात सोचिए जो एक भूतपूर्व वेश्या से विवाह करता है और समाज में उसे बहू की प्रतिष्ठा दिलाना चाहता है। इसके लिए केवल नयी परिभाषा से कहीं अधिक प्रयत्न अपेक्षित होगा : नये अर्थ की छाप इतनी प्रबल, इतनी बाध्यकर होनी होगी कि एक नये रूप, नयी दृष्टि का सृजन कर सके— यह नया रूप और नयी दृष्टि भी अतीत को सम्पूर्णतया मिटाएगी नहीं, पर छाया-प्रकाशमय एक नये परिदृश्य में रखकर, नये सम्बन्धों की सृष्टि करके, उसे एक नया और अभूतपूर्व मूल्य दे देगी। और ऐसा पति यदि अपने प्रयत्न में सफल होगा तो यह भी सम्भावना है कि समाज के लिए यह वधू उस पहली वधू की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक और कमनीय हो। और यह सत्य है कि सफल काव्य में व्यवहृत शब्द, कविता के बाहर भी शब्द मात्र के रूप में स्थायी रूप से अधिक आकर्षक और अर्थवान हो जाते हैं, जबकि चित्र, अथवा रागकृति के बाहर उसके वर्णों या स्वरों की ऐसी आत्यन्तिक अर्थवृद्धि कदाचित् ही होती है।

वाचिक परम्परा की कविता कभी एक वस्तु नहीं होती। छपी हुई कविता वस्तु होती है। वाचिक परम्परा में सम्प्रेषण स्वयं सहकर्म है; छपी हुई कविता के साथ पहले सहयोग की स्थिति उत्पन्न करनी होती है जिससे कि सम्प्रेषण हो सके।

वाचिक-श्रुत परम्परा में श्रोता इतर व्यक्ति है : सम्प्रेषण एक प्रक्रिया है जो एक सजीव, प्रत्यक्ष, व्यक्तिरूप मूर्त्त इकाई की ओर प्रवहमान होती है, जिस इकाई की सजग चेतना सम्प्रेषण के दौरान निर्व्याघात बनी रहती है।

लिखित-पठित काव्य की परिस्थिति में सजीव इतर सत्ता की उपस्थिति का यह बोध नहीं रहता; कवि को एक आभ्यन्तर श्रोता का उद्भावन करना पड़ता है, एक इतर आत्मोपस्थित की सृष्टि करनी पड़ती है। फलत: मुद्रित कविता किसी हद तक अनिर्वातया एक आत्मोत्सृष्ट परायेपन की माँग करती है जिसकी वाचित-श्रुत परम्परा में कोई आवश्यकता नहीं होती।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि श्रुत परम्परा में भी ऐसा आभ्यन्तर श्रोता आवश्यक होता है, क्योंकि आत्म-श्रवण तो सृजन-प्रक्रिया का ही अंग है। यह आपत्ति नितान्त अनुचित भी नहीं होगी। पर दोनों अवस्थाओं के आभ्यन्तर श्रोता अलग-अलग हैं। श्रुत परम्परा का आभ्यन्तर श्रोता स्वभाव, रुचि, अनुभूति और

संस्कार की दृष्टि से कवि से पूर्णतया एकात्म है, वह कवि का ही प्रतिरूप है, आत्म-स्वरूप है। दूसरी अवस्था में स्रष्टा ऐसा मानकर नहीं चल सकता; वह जिस इतर का उद्‌भावना करता है वह वास्तव में इतर व्यक्ति होता है, जिसके स्वभाव, रुचि, अनुभूति और संस्कारों के बारे में उसे आश्वासन कोई नहीं और परिचय, अपर्याप्त है; जिसके बारे में वह केवल आशा या कामना कर सकता है। और हमें यह भी पहचानना चाहिए कि आधुनिक समाजों में इस आशा का आधार बहुत ही क्षीण होता है। लोकवादी चिन्तन काव्य-ग्रन्थ तक पहुँचने के लिए किसी योग्यता या अर्हता की माँग नहीं करता—सहृदयता की भी नहीं—कम-से कम किसी को कविता से दूर रखने के अधिकार का दावा नहीं करता। श्रुत परम्परा का प्राचीन कवि अपने को सहृदय समाज का अधिकारी मानता था, समाज में मिलने पर अकेले एक श्रोता से (वह भी कालान्तर में!) सन्तुष्ट हो सकता था :

उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी!

पर आज कवि यही चाहेगा कि उसकी कविता-पुस्तक अधिक-से-अधिक व्यक्ति खरीदें, भले ही—पर जाने दीजिए, स्वयं कविता लिखता हूँ तो दुःसम्भावनाएँ क्यों सामने रखूँ! श्रुत परम्परा का कवि तो कह सकता था अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख! पर श्रुत से पठित तक आते-आते परिस्थिति कैसे बदल जाती है, यह स्पष्ट करने के लिए कालिदास की उक्ति के समक्ष बायरन की दो पंक्तियाँ रख देने के बाद और कुछ कहना अनावश्यक हो जाता है :

इट्'स ए वंड्रस थिंग टु सी योर नेम इन प्रिंट :
ए बुक्'स ए बुक्, दो देयर्'स नथिंग इन्'ट।

(छापे में अपना नाम देखना भी बड़ी बात है : किताब, किताब ही है, फिर चाहे उसके भीतर कुछ न हो!)

3

इस विवेचन के बाद भी यह बात कुछ असंगत लग सकती है कि जिस संस्कृति के पास ऐसी सम्पन्न, बहुविध और सुस्मृत वाचिक काव्य-परम्परा रही हो, उसे एकाएक नयी भाषा की आवश्यकता पड़ने लगे। यह दृश्य असंगति ही उस समस्या के मूल में थी जिसे कवि अपने समक्ष यों रख सकता था : "मेरे पास एक समृद्ध परम्परा है जिसे न मैं भूला हूँ न मेरा श्रोता, लेकिन जो नयी परिस्थिति में न मेरे लिए उपयोज्य रही है न मेरे समाज के लिए व्यवहार्य या यथेष्ट। ऐसी स्थिति में मैं कैसे लिखूँ?" ('कैसे रचना करूँ' नहीं, 'कैसे लिखूँ?')

श्रुत कविता से लिखित कविता तक—श्रवण से चाक्षुष ग्रहण तक—संक्रमण में जो मौलिक समस्याएँ उठती हैं, उसका कुछ संकेत ऊपर दिया गया है। ये समस्याएँ उस संक्रमण में अन्तर्भुक्त हैं, फिर वह संक्रमण किसी भी देश-काल या संस्कृति में क्यों न हो, अर्थात दूसरी समस्याओं में भी हम उन्हें तद्वत पहचान सकते हैं अगर हम उनमें भी उस अवस्था को अपने सम्मुख रखें जब श्रव्य से पठ्य में संक्रमण हो रहा था। इन समस्याओं के आगे कुछ ऐसी समस्याओं का भी उल्लेख करना उचित होगा जो इन्हीं के समान व्यापक या सार्वभौम तो नहीं हैं, पर जिनकी आंशिक संगति अन्यत्र भी काव्य-प्रक्रिया के साथ देखी जा सकेगी। भारतीय वाचिक परम्परा का छन्द:शास्त्र की दृष्टि से निरीक्षण करें तो दीखता है कि छन्द पर नियन्त्रण क्रमशः अधिक कड़ा होता गया और फिर गेयता की ओर विशेष झुकाव देख गया; इस वृत का एकाधिक आवर्त्तन हम देख सकते हैं। वैदिक छन्दों में संस्कृत छन्दों की अपेक्षा कहीं अधिक लोच और स्वच्छन्दता रही; फिर उत्तर काव्य काल के छन्दों में गेयता बढ़ती गयी।[1] यही वृत्त प्राकृतों और अनन्तर आधुनिक देश भाषाओं में दुहराया गया। क्या इसका कारण यह हो सकता है कि छन्द की कठिनता ने वाचक को क्रमशः गायन की ओर प्रेरित किया—कि छन्द की कड़ाई क्रमशः वाचन से जो स्वतन्त्रता छीनती जा रही थी उसे फिर से प्राप्त करने के लिए वाचक ने गान की शरण ली? यह अनुमान ही है, किन्तु इसकी संगति आधुनिक काल में इसी क्रिया की आवृत्ति में देखी जा सकती है : कुछ कवि जिस स्वतन्त्रता के लिए बँधे छन्द छोड़ते हैं, उसी को प्राप्त करने के लिए अन्य कवि संगीत का सहारा लेते हैं। अवश्य ही यह प्रवृत्ति ऐसे पुराने प्रश्न को नया करके सामने ले आती है—कि कविता और गीत में क्या अन्तर है? यों प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन या अस्पष्ट तो भारत में भी नहीं है, पर वाचिक परम्परा में कवि जिन सुविधाओं का शतियों से उपभोग करता रहा, उन्हें एकाएक भूल जाना या छोड़ देना आसान नहीं था।

तो नयी भाषा की खोज सबसे पहले कवि और काव्य रसिक के एक नये सम्बन्ध की पहचान थी। क्योंकि सामाजिक नया था और उससे सम्बन्ध दूसरा था, इसलिए कवि-कर्म की भूमिका दूसरी हो गयी थी : कवि एक नये देश में आ गया था इसलिए एक नयी भाषा उसे सीखनी थी। कवि को नयी परिस्थिति पहचाने में थोड़ी देर लगी; पहचानने के बाद उसे स्वीकार करने की क्लेशप्रद प्रक्रिया में थोड़ा समय लगा। उधर सामाजिक ने—रसिक समाज ने—भी कविता के साथ श्रुत-

---

1 काव्य पर नाटक के—श्रव्य काव्य पर दृश्य काव्य के—प्रभाव का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा;भारतीय परम्परा में नाटक स्वयं नृत्य मंगीत मे सघन रूप से सम्बद्ध रहा। नाटक में अभिनय (वाचिक और आंगिक) की आवश्यकताओं ने सुनिर्दिष्ट यति आदि पर बल देकर छन्द को कसने में योग दिया। साथ ही नाट्य रूपों के सहारे प्राकृत और लाक काव्य कके गेय छन्दो ने भी संस्कृत काव्यवाचन पर प्रभाव डाला। छन्द की कड़ाई और गेयता के सहविकास की यह एक और शृंखला रही।

सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया जबकि अन्य साहित्य-विधाओं में उसने श्रुत पद्धति को छोड़ दिया था या कि उसे विलीन हो जाने दिया। उदाहरण के लिए किस्से-कहानी, उपन्यास आदि पढ़े जाने लगे थे; किस्सागो और कथक्कड़ का स्थान उपन्यासकार ने ले लिया था और शृंखलित आख्यानों की जगह सघन संरचना अथवा कथानक वाले उपन्यास प्रतिष्ठित हो गये थे। पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगी थीं और बड़ी तेजी से घरेलू संस्थाएँ बनने लगी थीं : जिन घरों में पढ़ने की परम्परा नहीं थी उनमें भी स्त्रियाँ पत्रिकाएँ पढ़ने लगी थीं जबकि पुरुष केवल अखबार देखते थे और वह भी घर में मँगाकर नहीं। बीसवीं शती के आरम्भ में यह स्थिति थी। पर जहाँ तक कविता का प्रश्न था, उसका ग्रहण-आस्वादन अब भी वाचिक-श्रुत पद्धति से और सामूहिक-सामाजिक परिस्थिति में ही होता था। कवि-सम्मेलनों और काव्य मेलों की धूम शती के चौथे दशक तक रही : श्रोताओं की संख्या हज़ारों तक होती थी और काव्य वाचन भी कभी-कभी रात-भर होता रहता था—प्रभाती के साथ ही सभा विसर्जित होती थी। कविता की पुस्तकें बिकती तो थीं, पर ग्राहकों की रुचि पुराने और वाचिक परम्परा के सुपरिचित ग्रन्थों में ही अधिक थी, समकालीन काव्य की ओर नहीं। यह केवल कविता और उसमें भी 'अप्रमाणित' कविता के प्रति शंका के कारण नहीं था। कारण यह भी था कि प्राचीनतर काव्य में वे अब भी मुद्रित रूप की ओट से भी कविता का श्रवण कर सकते थे, जबकि नवतर काव्य उनके लिए अटपटा, अपरिचित और कष्टग्राह्य था—इसके बावजूद कि इस लिखित काव्य की भाषा उनके लिए अधिक परिचित, साधारण बोलचाल के निकटतर हो सकती थी। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अपरिचित काव्य-रूप में परिचित भाषा की उपस्थिति केवल और असमंजस ही उत्पन्न करती थी।

मुद्रण के प्रारम्भिक दिनों में वाचिक परम्परा की कविता उसी ढंग से छापी जाती थी जिस ढंग से वह हस्तलिपियों में लिखी जाती थी। काव्य-पंक्तियों का कोई विचार नहीं था, न कोई विराम-चिह्न थे; पृष्ठ की चौड़ाई और अक्षर या टाइप के आकार के अनुसार एक-एक पंक्ति में हाशिये से हाशिये तक अमुक संख्या में अक्षर अँटा दिये जाते थे। विराम-चिह्न केवल एक था—पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई—और वह छन्द के अन्त में आता था—जोकि मुक्तक काव्य में कविता का भी अन्त था। और कभी ऐसा भी होता था कि नया मुक्तक भी नयी पंक्ति से आरम्भ न करके पहले मुक्तक के पूर्ण विराम के बाद से ही शुरू कर दिया जाता था। अर्थात वाचिक परम्परा की कविता का लिखित या मुद्रित रूप देखने पर केवल एक ठोस चौखूँटा आकार पृष्ठ पर जमा हुआ दिखाई पड़ता था। काव्य के इस चाक्षुष अनुभव में और

आधुनिक पठ्य कविता के चाक्षुष अनुभव में कितना गहरा अन्तर है, इसे स्पष्ट करने का आसान तरीका है समम्या को उलटकर अपने सामने रखना। कुछ समकालीन लघु कविताएँ लेकर उन्हें इसी ढंग से लिख या कम्पोज करके देखिए : न शीर्षक, न विशिष्ट आद्याक्षर, न विराम-चिह्न, न पंक्ति का विचार, न छन्द-सीमा का संकेत; नयी कविता के लिए नयी पंक्ति का चाक्षुष संकेत भी नहीं। ऐसे लिख या छापकर कविताओं को 'देखने' का प्रयत्न कीजिए—और भी कठिन प्रयोग करना हो तो देखते हुए 'सुनने' का प्रयत्न कीजिए, जैसा कि वाचिक काव्य के लिखित रूप के साथ करते। इतने ही से सिर न चकरा जाए तो यह भी स्मरण कीजिए कि वाचिक काव्य में बहुधा एकाधिक पात्र का कथोपकथन या प्रश्नोत्तर भी होता था; छापते समय ऐसा काव्य भी उसी पद्धति से कम्पोज किया जाता था—वक्ता का कोई संकेत, प्रश्न-सूचक या उक्ति सूचक कोई चिह्न दिये बिना, क्योंकि वाचिक काव्य में इन सबका कोई स्थान नहीं था; वाचन की स्वर-व्यंजना ही ये सब बातें स्पष्ट कर देती थी।

छपाई की प्रस्तुत नयी परिस्थिति में काव्य पाठक— जिसे हम उसकी स्थिति स्पष्ट करने के लिए यहाँ 'आत्म-श्रोता' कह सकते हैं—वाचिक परम्परा की छपी कविता में ये सब चीज़ें स्वयं स्पष्ट कर ले सकता था। वाचिक काव्य में इसकी पर्याप्त सुविधाएँ थीं। एक तो बँधा हुआ छन्द अपना रूप स्वयं स्पष्ट कर देता था : पंक्ति-सीमा स्वत: प्रकाशित हो जाती थी, यतियाँ और श्वास के विराम तक अपने को घोषित कर देते थे। (वैदिक पाठ-पद्धति में तो सब विराम निर्दिष्ट ही थे, और कड़े अभ्यास द्वारा वाचक उन्हें आत्मसात् कर लेता था।) फिर अभिप्राय और रीतियाँ परिचित होने से और समस्याएँ भी स्वयं निराकृत हो जाती थीं। दूसरे शब्दों में छपाई के पार भी श्रोता अनुपस्थित वाचक को सुन लेता था। इस बात को ध्यान में रखें तो इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ग्राहक पुराने परिचित काव्य की ओर ही झुकता था। पर कवि के लिए समस्या विकट और सजीव थी। वह एक अपरिचित देश में आया गया था, जहाँ लोग तो बहुत थे पर उनसे सम्पर्क का साधन उसे खोजना था। जन-समाज में से उसे पाठकसमाज खोजना था; इतना ही नहीं, उसे अप्रस्तुत, अनुपस्थित रहते हुए भी एक परिचित स्वर बनकर अपने सामाजिक तक पहुँचना था।

क्या कवि के लिए यह सम्भव होता—अगर उसकी निष्ठा उसे ऐसा प्रयत्न करने की अनुमति दे भी देती—कि वह वावचिक परम्परा का ही कवि बना रहे, अनुपस्थित वाचक स्वर बनने का अभ्यास कर ले? किसी कवि ने प्रश्न को इस रूप में अपने सामने रखा होगा या नहीं, यह तो हम नहीं जानते; पर हिन्दी-काव्य के विकास को सामने रखते हुए हम कह सकते हैं कि कुछ कवि अवश्य एक लम्बे

रास्ते से या काफ़ी भटककर ठिकाने पर आए। कुछ ने लिखना चाहा और पाया कि वे लिख नहीं सकते; कुछ ने लिखा और पाया कि वे पढ़ नहीं सकते—पढ़ने से अभिप्राय यहाँ सन्तोषजनक वाचिक प्रस्तुतीकरण से है, पर ऐसे सामाजिक के समक्ष जिसे पूर्व-कल्पित 'आत्म-श्रोता' के मुकाबले 'वाचिक-श्रोता' कहा जा सकता है।

4

कवि और सामाजिक का नया सम्बन्ध मुद्रण का केवल एक परिणाम था। और भी गहरे परिणाम थे। भाषा के भीतर भी परिवर्तन हो रहे थे : चिन्तन की और ज्ञान के ग्रहण की परिपाटियाँ भी बदल रही थीं। यह बात कवि के बारे में विशेष रूप से सच थी। कविता देखने और छापने की एक नयी प्रणाली है—और नहीं तो इसीलिए कि वह नये सम्बन्धों को रचती या प्रकाश में लाती है। मौखिक-श्रौत अवस्था से चाक्षुप पठित अवस्था में संक्रमण, ज्ञान से एक नये प्रकार के सम्बध की अपेक्षा रखता है। इसलिए अनिवार्य था कि कवि की दृष्टि और संवेदना में परिवर्तन हो। नये ज्ञान-सम्बन्ध के साथ नयी वाक्य-रचना आयी जिसने छन्द ही नहीं, चिन्तन पद्धतियाँ भी बदल दीं—और इसलिए सम्प्रेषण की पद्धतियाँ भी।

बँधे छन्द से, लय और ताल से, तुक या अनुप्रास से और यति से मिलनेवाली सुविधाओं का और उन सुविधाओं के अलभ्य हो जाने के परिणामों का, उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। नाना प्रकार के विराम-संकेतों की सम्भावना का भी—जो कि पहचानी जाते ही आवश्यकता बन गयी—वाक्य-रचना पर प्रभाव पड़ा : केवल काव्य-भाषा पर नहीं, साधारण प्रयोक्ता के व्यवहार में पदों की पूर्वापरता के बोध पर भी। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि इनके प्रभाव से हमारी श्वास प्रक्रिया में भी परिवर्तन आ गया। मूलत: तो श्वास-प्रश्वास का सम्बन्ध शरीर की ऑक्सीजन की आवश्यकता से है, किन्तु उसकी प्रक्रिया पर हमारे अभ्यास का गहरा प्रभाव पड़ता है। यह तो सभी लक्ष्य करते हैं कि भावोत्तेजना या अन्य प्रकार के तनाव की स्थितियों में साँस की गति में अल्पकालिक परिवर्तन होते हैं, पर यह भी बात उतनी ही सच है कि वाचिक-श्रौत और चाक्षुप-पठित स्थितियों में काल-बोध का एक बुनियादी अन्तर है जिसका साँस पर अधिक स्थायी प्रभाव पड़ता है।

वाचिक में काल-बोध का कितना महत्त्व है यह हर वाचक जानता है। पर इस सन्दर्भ में काल-बोध केवल तनाव के संचय और अपचय का नियन्त्रण मात्र है; हम जिस काल-बोध की बात कह रहे हैं उसका क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है। भारतीय सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि काल की चक्र गति की कल्पना का और संघर्ष को केवल एक आभास-सा अस्थायी अवस्था मानने का एक परिणाम यह

था कि हमारा कालबोध पश्चिम के ऐतिहासिक कालबोध से सर्वथा भिन्न था। इसी अन्तर का एक परिणाम यह था कि हमारे नाटक में दु:खान्त अथवा ट्रेजेडी का नितान्त अभाव है। प्राचीन भारतीय कविता में संरचना अथवा निर्मिति (स्ट्रक्चर) का एकान्त अभाव था : हम यहाँ तक कह सकते हैं कि वाचिक परम्परा के लिए 'स्ट्रक्चर' की परिकल्पना बिलकुल विदेशी है। वाचिक परम्परा में छोटे मुक्तक काव्य के प्राचुर्य का—या कि यों कहें कि महाकाव्य और मुक्तक के बीच के किसी काव्य-रूप के अभाव का—कारण है। मुक्तक एक स्वायत्त काव्य-रूप है, उसके लघु आकार में एक कसाव है जो संरचना की माँग नहीं करता; दूसरी ओर प्रबन्ध काव्य मूलत: खंडों के जोड़ से बनता है और उसकी संरचना बड़ी शिथिल होती है। उसमें कई 'सर्ग' होते हैं; अनेक छोटे शिखर आते हैं पर ऐसा नहीं होता कि समूची रचना की प्रवृत्ति अनिवार्यतया एक सुनिश्चित चरम-बिन्दु की ओर होती हो। यहाँ तक कि संस्कृत नाटक भी वहाँ नहीं समाप्त हो जाता जहाँ पश्चिमी दृष्टि से घटना पूरी हो चुकी है क्योंकि तनाव बिखर चुका है। तनाव का अन्त अपने-आपमें संघर्ष का निराकरण नहीं है : संस्कृत नाटककार का उद्‌देश्य भावों का रेचन (कैथार्सिस) न होकर एक रस स्थिति सम्पन्न करना था— एक सहनीय परस्परता लाना नहीं, एक तादात्म्य उत्पन्न करना था।

परिवर्तित काल-बोध से संरचित कविता की अवधारणा सम्भव हुई : कविता के स्थापत्य की आवश्यकता पड़ी। नि:सन्देह पश्चिमी—अर्थात ग्रीक-परम्परा से और पश्चिमी काव्य-साहित्य से हमारे बढ़ते हुए परिचय ने भी इस प्रक्रिया में योग दिया; इसका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा।

छपाई के आविर्भाव से काव्य के स्वभाव और प्रकार में परिवर्तन के इस सैद्धान्तिक विवेचन की हर कड़ी का उदाहरण विभिन्न भारतीय साहित्यों की पिछले डेढ़ सौ वर्षों की गतिविधि से दिया जा सकता है। प्रत्येक देश-भाषा में इस काल में वे परिवर्तन देखे गये जिनकी इस विवेचन से सम्भावना की जाती : प्रत्येक में कविता इसी प्रकार केवल वाचन की स्थिति में आविर्भूत होनेवाली एक सत्ता न रहकर एक वस्तु-सत्ता बन गयी। सारी प्रक्रिया को एक सूत्र में बाँधकर कहना हो तो कहा जा सकता है कि छपाई ने एक नया काल-बोध उपस्थित करके कविता का स्वभाव बदल दिया। 'नया' काल-बोध न कहकर हम यह भी कह सकते हैं कि निरवधि और आवर्त्ती काल के बदले एक सावधि और ऋजुरेखानुसारी काल की परिकल्पना हमारे सामने उपस्थित हो गयी।

'वाचन की स्थिति में आविर्भूत होनेवाली एक सत्ता' होने के नाते वाचिक कविता सम्पूर्णतया कालजीवी होती थी; सम्पूर्णतया कालजीवी होने के नाते वह एक साथ ही काल के दो आयामों में जी सकती थी : वह एक काल जो वाचन के

सम्प्रेषण की अवस्थिति का था, यानी जिसमें कवि और सामाजिकों का साझा था; दूसरा वह काल जिसका वृत्त कविता प्रस्तुत करती थी, यानी जिसमें कविता की वर्णित वस्तु घटित हुई थी। दूसरे शब्दों में वह एक साथ ऐतिहासिक काल और सनातन काल में, आवर्ती और रेखानुसारी काल-यामों में, 'उस' और 'इस' काल में, जी सकती थी। कवि और सामाजिक दोनों के बीच दोनों आयामों का साझा था। कवि द्वारा सनातन काल में अवस्थित 'वागर्थाविवसंपृक्तौ जगतः पितरौ पार्वती-परमेश्वरौ' की वन्दना जब ऐतिहासिक काल के वर्तमान में 'वागर्थप्रतिपत्तये' होती थी, तब जैसे कवि के लिए, वैसे ही सामाजिक के लिए, देवताओं का सनातन और निरवधि वर्तमान और मानवों का ऐतिहासिक सावधि वर्तमान समान रूप से समवर्ती और सहजीव्य हो जाते थे।

किन्तु मुद्रित कविता के चाक्षुष ग्रहण के लिए निर्मित कविता में यह सम्भव नहीं रहता। दृश्य होकर वह एक स्थूल आयाम पा लेती है; और दिक् (स्पेस) के इस आयाम के बदले काल का एक आयाम खो देती है। यह कदाचित् इस सीमा या हानि की पहचान का ही परिणाम होता है कि चाक्षुष कविता के कुछ कवि स्थूल अथवा दिगायाम का और अधिक उपयोग करने की ओर आकृष्ट होते हैं।[1] 'स्थूल' कविता, 'स्थूल' बिम्ब (कांक्रीट इमेज) का अन्वेषण एक लक्षण है कि काल का एक आयाम न केवल कवि से छिन गया है वरन कवि ने उस छिन जाने को स्वीकार भी कर लिया है; उस सीमा का अतिक्रमण करने की आशा उसने छोड़ दी है।

(शिकागो विश्वविद्यालय के अँग्रेज़ी विभाग तथा दक्षिण एशिया अनुशीलन केन्द्र की संयुक्त सभा में प्रस्तुत अभिभाषण का किंचित् संक्षिप्त रूप।)

1. वाचिक परम्परा में भी कविता के लिखे जाने के साथ चित्रकाव्य आता है—एक स्थूल आयाम का अन्वेषण। वाचिक में समस्या पूर्तियाँ होती हैं, टप्पे और बैतबाजी होती है, कूट और द्वयाश्रयी काव्य बन्ध होते हैं, सर्वतोभद्र होते हैं, चित्रकाव्य नहीं होता, छपाई के आविष्कार के बाद जैसे जैसे कविता अपना स्वरूप पहचानती जाती है ये काव्य रूप विलय होते जाते हैं।

काल का डमरु-नाद

परोक्षप्रिया हि देवा: प्रत्यक्षद्विष:—मनुष्य भी परोक्षप्रिय है या नहीं इस पर विवाद हो सकता है, प्रत्यक्षद्विष तो वह नहीं ही है। पर किसी भी काल-क्षेत्र का कृतिकार प्रतीकों का आकर्षण पहचाने या न पहचाने, उनका उपयोग अवश्य करता है : हम चाहें तो इससे यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि कलाकार वैसा चाहे या न चाहे, कला हमें देवों के कुछ निकटतर ले जाती है!

प्रतीक अनिवार्यतया अनेकार्थसूचक होते हैं। एक अर्थ दूसरे अर्थ या अर्थों के बदले नहीं आता—प्रतीक रूपक नहीं होते—एकाधिक अर्थ साथ-साथ झलकते हैं। दोनों के बीच एक तनाव का सूत्र रहता है और अर्थ उसी की प्रणाली से बहता रहता है, कभी इधर अधिक, कभी उधर अधिक। अर्थ के जितने अधिक स्तर एक-साथ झलकें, प्रतीक उतना ही अधिक प्रभविष्णु होता है। पर स्तर बहुत-से हों या केवल कुछ-एक, आवश्यक यह है कि सारे अर्थ प्रतीक में ही होने चाहिए, प्रतीक में ही सम्पूर्ण होने और झलकने चाहिए। मिथक की भाँति प्रतीकों में भी सायुज्य, सारूप्य और सादृश्य की एक स्वायत्त, स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश व्यवस्था होनी चाहिए : प्रतीक अपने आप में एक स्वत: प्रमाण दुनिया होता है।

आवर्त्ती काल की परिकल्पना पश्चिम के लिए अत्यन्त कठिन रही है। नेतृत्व के क्षेत्र में वह स्वीकार करता है कि सभी प्राचीन संस्कृतियों में आवर्त्तन और पुनरारम्भ के मिथक पाये जाते हैं और प्राचीन अथवा आदिम जातियों की कलाओं को प्रभावित भी करते हैं। पर यह मानने में उसे हिचक होती है कि यह परिकल्पना उसके लिए न ऐसी पराई है, न ऐसी दुर्बोध; बल्कि इस मिथक का संस्कार उसकी चेतना में इतना गहरा पैठा है कि इसके प्रतीक आज भी उसके दैनन्दिन जीवन के अभिन्न अंग हैं। यह ठीक है कि ऐतिहासिक काल के बोझ के नीचे बहुत अधिक दबे होने के कारण यह प्राचीनतर स्मृति उसके चेतन मन में कुछ धुँधली पड़ गयी है; फलत: कुछ 'अन्ध-विश्वास' उसे चिन्तन में अस्वीकार्य होकर व्यवहार में प्रभावी बने रह सकते हैं।

विवाह में प्रयुक्त जड़ाऊ छल्ला ले लीजिए : 'इटर्निटी रिंग' में काल की अनन्तता उसके आवर्त्तन को मानकर ही तो चलती है। साधारण जीवन में प्रचलित

दूसरे प्रतीक भी आवर्त्ती काल को मानकर चलते हैं। नैरन्तर्य अथवा अमरत्व का प्रतीक अपनी पूँछ को निगलता हुआ सर्प (चित्र 1) : 'अन्त' नया 'आरम्भ' बन जाता है और काल-चक्र ही अमरत्व का चक्र बन जाता है। चिर-जीवन के और भी प्रतीक हैं, जैसे बिना छोर की ग्रन्थियाँ: इसमें भी मूल परिकल्पना एक अन्तहीन रेखा की है—और जिस रेखा का कोई छोर नहीं है यह वृत्त ही होती है, भले ही उसके आवर्त्तन को कितनी भी सफाई
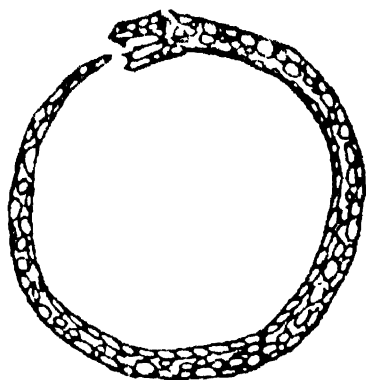
चित्र 1

मे छिपाया या तोड़ा-मरोड़ा जाए (चित्र 2 क, ख)। दूसरे शब्दों में नित्यता, अमरत्व, सभी का मूल आधार वृत्त है। यह भी कहा जा सकता है कि वही बुद्धि, जो काल की चक्रगति मानने में हिचकती है, माँगने लगती है कि सान्त आयामों से परे काल की गति वृत्ताकार ही हो सकती है। सनातन इसके बिना नित्य हो ही नहीं सकता कि रेखा के दोनों छोर मिलें। इसीलिए गणितज्ञ को भी ऋजुरेखा की यह परिभाषा स्वीकार होगी कि यह 'अनन्त व्यास के वृत्त का खंड' है। गणित में भी असीम का प्रतीक एक अन्तहीन ग्रन्थि या दोहरा छल्ला ही है।
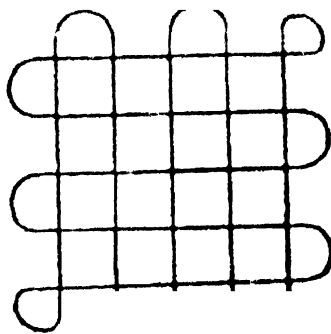
क   ख

चित्र 2

आधुनिक पश्चिमी जीवन के व्यवहार में एक और वस्तु भी हमारी परिचित है। जिसका आकार इस चिह्न से मिलता है। वह है बालूघड़ी (चित्र 3) जिसे हम

निरन्तर उलटते-पुलटते चलते हैं। काल की यह नाप, जिसमें प्रत्यावर्त्तन की गुंजाइश है, प्रकारान्तर से आवर्त्ती काल को स्वीकार करती हुई चलती है : उसका आकार गणित के चिह्न से मिलता-जुलता है तो क्या आश्चर्य!

चित्र-3

इस आकार पर थोड़ी देर अटकने का कारण था। पश्चिम से लौटकर हम अपने देश में इसी आकार की एक वस्तु पर आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं—एक ऐसी वस्तु पर जो गहरा प्रतीकार्थ रखती है। मदारी के हाथ में डमरु देखकर आपको नहीं सूझा होगा कि यह कितना सार्थक प्रतीक है, पर नटराज मूर्ति के हाथ में डमरु को (चित्र 4) काल-प्रतीक पहचानने में भी आप न चूके होंगे। लेकिन डमरु सृष्टि का और अग्नि विलय का प्रतीक क्यों, जबकि इससे ठीक उलटा भी उतने ही औचित्य के साथ माना जा सकता था; और जब 'काल डमरु' हमें मृत्यु की ही याद दिलाता है, जीवन की नहीं? डमरु नाद का नाद ब्रह्म का—भी संकेत दे सकता है और इसलिए सृष्टि का प्रतीक हो सकता है; पर यों तो नटराज की सम्पूर्ण प्रतिमा ही लययुक्त स्वर का प्रतीक है... तब डमरु में क्या प्रतीक की आवृत्ति-भर हो रही है—नटराज-मूर्ति में क्या प्रतीकार्थ की आवृत्ति का कलादोष पाया जाएगा?
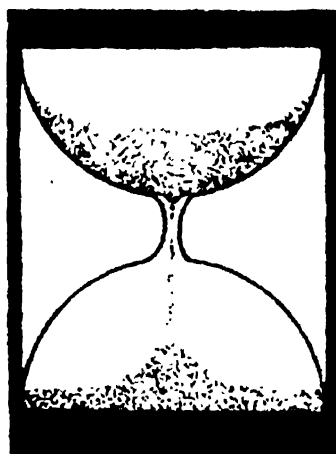
चित्र 4

डमरु की मूल रेखाकृति एक दोहरे शंकु की है, या शीर्ष से शीर्ष जोड़ते हुए दो शंकुओं की (चित्र 5)

अँग्रेजीदाँ पाठकों के लिए यहाँ येट्स की पुस्तक *ए विजन* के दोहरे शंकुओं का स्मरण कर लेना उपयोगी होगा। लेकिन येट्स के घूर्णित शंकु (चित्र 6) 'प्रत्येक की नोक दूसरे की आधार-रेखा के मध्य में टिकी हुई'—काल का सम्पूर्ण प्रतीक नहीं बनते, न येट्स ने उन्हें ऐसा सिद्ध ही किया है।

यह कहना भी कदाचित् सम्मत होगा कि असम्पूर्ण होने के नाते ये घूर्णित शंकु-युग्म किसी स्वायत्त, स्वत:प्रमाण अर्थ का सम्प्रेषण नहीं करते, अत: प्रतीकत्व को ही प्राप्त नहीं होते; केवल येट्स के उत्तर पक्ष के एक पहलू का रेखाचित्रण करते हैं। येट्स ने स्वयं इस आकृति को अपने 'आचार्यों' का 'मूल प्रतीक' कहा है; उनके कथन की अर्थवत्ता यहीं तक हो सकती है कि वह एम्पेडॉक्लीज की उस संवादी-विवादी उभयचारिता का प्रतीकात्मक रूपचित्रण है जिसकी व्याख्या येट्स ने हेराक्लाइटस के सूत्र के सन्दर्भ में की है : "एक दूसरे का जीवन मरते हुए, एक दूसरे की मृत्यु जीते हुए।"
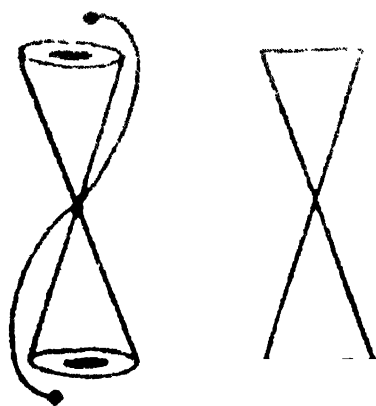
चित्र 5

किन्तु येट्स के परस्पर नद्ध शंकुओं से डमरु की ओर लौटें। डमरु की कटि, जहाँ से उसे पकड़ा जाता है, वह बिन्दु है जहाँ से उसकी जीभें निकलती हैं और डमरु घुमाये जाने पर दोनों ओर आघात करती हैं। डमरु सृष्टि का प्रतीक है जिसे काल के आयाम में सत्ता के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है; कालजीवी सत्ता के प्रतीक के रूप में डमरु न केवल नटराज-मूर्ति के पूरे प्रतीकार्थ की आवृत्ति नहीं करता वरन सार्थक रूप से उसका अंग बन जाता है।

काल-प्रतीक के रूप में डमरु की कटि वर्तमान है—वर्तमान का क्षण—क्योंकि वर्तमान इससे अधिक कुछ हो ही नहीं सकता; दोनों ओर के त्रिकोण अथवा शंकु अतीत और भविष्यत् हैं। कालजीवी हम सदैव वर्तमान के बिन्दु पर स्थित रहते हैं : अस्ति उसी स्थिति का नाम है या हो सकता है। और जब-जब डमरु की जीभ इस या उस ताँत पर—अतीत या भविष्यत् पर— आघात करती है, तब तब हमें काल का 'स्रोत' के रूप में बोध होता है। काल-चेतना अनु-या प्रति-गति की ही चेतना है—भविष्य की ओर गति या अतीत से परे गति है : स्मृति है अथवा प्रतीक्षा है।

डमरु के प्रतीक की और विस्तृत व्याख्या करने से पहले थोड़ा पुनरावलोकन कर लें। प्राचीन काल-गणना में सदैव चतुर्युग की आवृत्ति की चर्चा होती थी। जिस युग में हम हैं, वह कलि है अर्थात 'चालू' युग है। पर चक्रावर्तन के आरम्भ से चलें तो

लक्ष्य करते हैं कि पहला, सबसे दूर का युग कृत युग है जो सबसे लम्बा है (17,28,000 वर्ष); दूसरा, त्रेता, उससे छोटा (12,96,000 वर्ष), तीसरा द्वापर, और छोटा (8,64,000) और वर्तमान कलि, सबसे छोटा (4,32,000 वर्ष)। युगों के नामों और प्रत्येक की लम्बाई पर ध्यान दें। कालारम्भ कृदन्त से क्यों? त्रेता में तिगुना होने का भाव है, किससे तिगुना? द्वापर की अवधि कलि से दुगुनी है, त्रेता की तिगुनी, कृत की चौगुनी : हमारी ओर आते हुए काल संकुचित क्यों होता चलता है? इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है और हमारे प्रतीक में निहित है। गणना हम आवर्त्तन के आरम्भ-बिन्दु से नहीं करते, वर्तमान से करते हैं, वर्तमान के क्षण से करते हैं—डमरु की कटि से करते हैं। काल 'हमारी ओर आते हुए संकुचित होता' नहीं चलता; हमसे दूर हटते हुए विस्तीर्ण होता चलता है। कृत आरम्भ नहीं है, दूरतम निष्पत्ति है। त्रिकोणमिति के तर्क से यह भी तत्काल समझ में आ जाएगा कि कलि से द्वापर की अवधि दुगुनी, त्रेता की तिगुनी और कृत की चौगुनी क्यों है। क्योंकि हम वर्तमान के अत्यन्त लघु क्षण से आरम्भ करते हुए शंकु के आकार का विचार करें तो स्पष्ट देखेंगे कि हमारा आकार निरन्तर फैलते हुए वृत्त प्रस्तुत करता है[1], जबकि येट्स के शंकु 'निरन्तर सिमटते हुए वृत्त' बनाते थे। युग जितनी ही दूर का है, उतना ही उसका काल-विस्तार अधिक है। चतुर्युग के बाद हम फिर बिन्दु से आरम्भ करते हैं। काल की अवधि को हम काल की इकाई मान लें, तो चतुर्युग की माप 1 क+2+3 क+4 क=10 क होती है, जिसके बाद हम पुनरारम्भ की स्थिति 1 पर आ जाते हैं और चक्र का नया आवर्त्तन शुरू हो जाता है। इस प्रकार शून्य (0) नैरन्तर्य अथवा सनातन का द्वार बन जाता है; शून्य के वृत्त से सनातन आवर्तन का सिद्धान्त उद्भूत होता है—जिससे अधिक युक्तिसंगत और क्या बात
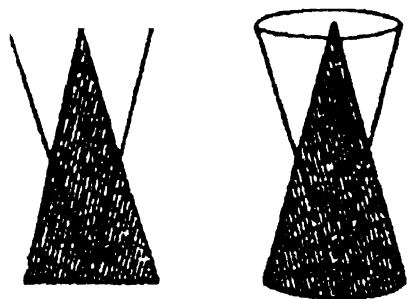
चित्र-6

1 नटराज के साथ हम चतुर्भुज विष्णु का भी ध्यान कर सकते हैं . सूर्य के पर्याय विष्णु के चारो लक्ष्य भी काल के चिह्न हैं। चक्र आवर्त्तीकाल का द्योतन करता है। शंख-वलय निरन्तर प्रसृत काल का प्रतीकत्व करता हुआ हमारे काल प्रत्यय के एक और पहलू को सामने लाता है। शंकु की सतह पर घूमती हुई चेतना (अथवा येट्स की परिकल्पना के घूर्णित शंकु पर सीधी बढ़ती हुई चेतना) शंख-वलय ही बनाएगी। हम केन्द्र से आरम्भ करते हैं अत: हमारा शंख-वलय प्रसारशील होगा, येट्स परिधि से आरम्भ करता है अत: उसका शंख वलय संकुचनशील होगा। हमारा 'कालोह्ययंनिरवधि:,' येट्स का 'टाइम मस्ट हैव ए स्टॉप।'

होगी ?

येट्स ने (या कि हम भी क्या उसका अनुसरण करते हुए कहें 'उसके आचार्यों' ने?) प्रत्येक शंकु को 12 राशियों में बाँटा है, और इस प्रकार वह '13वें मंडल' की बात करता है। यह 13 की संख्या कैसे सिद्ध होती है? उसके मानचित्र में, जिसमें प्रत्येक शंकु का शिखर दूसरे के आधार के मध्य में टिका है, पहले शंकु का बारहवाँ खंड दूसरे के पहले खंड से मिलता है, पहले का ग्यारहवाँ दूसरे के दूसरे से, पहले का दसवाँ दूसरे के तीसरे से; इस प्रकार दोनों की संख्या का जोड़ हमेशा 13 होता है। अर्थात यह 13वाँ मंडल वैसा वास्तविक अस्तित्व नहीं रखता जैसा कि अन्य 12 मंडलों का है; यह अविराम पुनरारब्ध मंडल या वृत्त कल्पनाप्रसूत या अनुमानित ही रहता है। यह अनन्तता अथवा नैरन्तर्य का वृत्त है; दूसरे शब्दों में यह हमारी काल गणना का शून्य बिन्दु है—वह प्रतीक चिह्न जो अन्त को आरम्भ में परिणत कर देता है।

अपने काल-डमरु की आकृति की ओर लौटकर हम डमरु के उस कटि बिन्दु पर खड़े हों जहाँ से हमारी चेतना अतीत अथवा भविष्यत् की ओर उन्मुख हो सके—परन्तु क्या वर्तमान के उस केवल रूप को पा सकना सम्भव भी है?

वह केवल क्षण, अत्यन्त वर्तमान, है क्या? यदि काल स्रोत अनिवार्यतया अतीत का अनुप्रवाही अथवा भविष्यत् का प्रतिप्रवाही है, यदि हमारी काल चेतना अनिवार्यतया अभिमुख या प्रतिमुख है, यदि वह अनिवार्यतया स्मरण पर अथवा प्रतीक्षा पर आधारित,[1] तो उसे केवल वर्तमान का बोध कैसे हो? स्पष्ट है कि वर्तमान काल भूतकाल और भविष्यतकाल के बीच में है। तब अत्यन्त वर्तमान वह क्षण अथवा बिन्दु है जहाँ स्मृत काल और प्रतीक्षित काल का आत्यन्तिक संक्रमण होता है : वह क्षण जिसकी न स्मृति है न प्रतीक्षा अथवा कामना। कोई ऐसा क्षण पाया जा सके—ऐसे क्षण को कोई पा सके, आत्मचेतन होकर स्मृति और आकांक्षा से परे जी सके, तो वह ऐसा व्यक्ति हो जाएगा जिसकी छाया नहीं होती—उसकी ऐसी शुद्ध काल-चेतन होगी कि वह काल-मुक्त हो जाएगी। क्योंकि जो अत्यन्त वर्तमान में, शुद्ध सत्ता में जी सकता है, उसके लिए दोनों शंकु सिमटकर शीर्ष बिन्दु में लय हो जाएँगे। स्रोत थम जाएगा, सत्ता रह जाएगी। डमरु केवल बिन्दु में लय हो जाएगा, शुद्ध नाद रह जाएगा। ऐसे जी सकनेवाला कालजित् होगा, जीवनमुक्त होगा : उसे चिरन्तर वर्तमान में अमरत्व प्राप्त हो गया होगा।

काल-डमरु के इस निरूपण में काल की जो परिकल्पना प्रस्तुत की गयी है, वह क्या आधुनिक मानस को नितान्त अग्राह्य होगी? हम ऐसा नहीं समझते। यह

1. सन्त ऑगस्टीन

आपत्ति उसे हो सकती है कि अत्यन्त वर्तमान में जीना केवल एक काल्पनिक स्थिति है; फिर भी इतना यह स्वीकार करेगा कि इस प्रतिज्ञा से आरम्भ करें तो उत्तर पक्ष अवश्य सिद्ध होता है—दूसरे शब्दों में वह प्रतीक की अर्थवत्ता स्वीकार कर लेगा। बल्कि 'जीरो आवर' के समकालीन मुहावरे में यह स्वीकृति निहित है : काल का ऋणात्मक (-) आयाम और धनात्मक (+) आयाम जहाँ मिलते हैं, जहाँ न 'आगमिष्यत्' की प्रतीक्षा है न 'विगत' की स्मृति, वह निश्छाय केवल क्षण ही तो शून्य का क्षण है : जीरो टाइम, हमारे काल-डमरु का कटि-बिन्दु।

टी.एस. एलियट को ऐसे वर्तमान का यत्किंचित् आभास तो हुआ था। इसका संकेत उसकी उन पंक्तियों में मिलता है जिनमें वह चेतन होने की बात कहता है :

अतीत काल और भविष्यत् काल
चेतना का थोड़ा ही अवकाश देते हैं।
चेतन होना काल में जीना नहीं है। [1]

क्योंकि 'चेतन होना' सत्ता में जीना है। किन्तु चेतन होने को यों परिभाषित करते ही वह इस कालातीत अर्थ में चेतन होने की सम्भावना को नकार भी देता है:

किन्तु काल में ही गुलाब बाड़ी का क्षण
ठिठुरते गिरजाघर की धूमिल बेला का क्षण
स्मरण किया जा सकता है, अतीत भोर भविष्यत् से गुँथा हुआ।
कला के द्वारा ही काल को जीता जा सकता है। [2]

स्पष्ट है कि जब वह (सेंट ऑगस्टीन द्वारा निर्धारित परिधि के कारण?) 'स्मरण किये गये क्षण' की बात करता है तब उसका सारा तर्क दूषित हो जाता है, क्योंकि स्मरण तो काल के —अतीत काल के— साथ बँधा ही है। काल पर विजय यदि सम्भव है तो स्मरण के द्वारा नहीं है (आकांक्षा के द्वारा भी नहीं है), वह अत्यन्त वर्तमान में एक आत्मचेतन अस्ति के द्वारा ही सम्भव है। हो सकता है कि 'गुलाब बाड़ी का क्षण' ऐसा एक क्षण रहा हो; किन्तु अगर वह वैसा था तो उस क्षण में प्राप्त काल-विजय उसी क्षण की थी, उसी अत्यन्त वर्तमान क्षण में क्रियमाण चेतन के अस्तिबोध की विजय थी। उस क्षण का 'स्मरण' किया जाएगा तो 'काल में' ही

1 Time past and time future
Allow but a little consciousness
To be conscious is not to be in Time —टी.एस. एलियट, क्वार्टेटस

2 But only in Time can the moment in the rose-garden
The moment in the draughty church at smokefall
Be remembered involveld in past and future
Only through Time is Time conquered

—वही

होगा; 'प्रतीक्षा' या 'आकांक्षा' की जाएगी तो वह भी 'काल' में ही होगी; पर उसको जिया गया 'सत्ता' में ही जो नित्य है, सनातन है। एलियट विजय की बात करता है : अतीत विजय की स्मृति स्वयं विजय नहीं हो सकती।

किन्तु क्या भारत में या भारतीय साहित्य में काल की इस परिकल्पना का प्रभाव परिलक्षित होता है? और अगर ऐसी परिकल्पनाएँ 'साहित्यिक संस्कार वाले दर्शनशास्त्र' का अंग हों भी तो प्रश्न उठ सकता है कि क्या समकालीन भारतीय लेखन पर उनका कुछ भी असर है—क्या समकालीन लेखक उनसे परिचित भी है?

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता—न उसकी कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए—कि लेखक सचेत होकर ऐसे प्रतीकों को गढ़ता है अथवा परम्परा के सन्दर्भ में उनका अध्ययन-विवेचन करता है। यह भी—आवश्यक नहीं है कि उसने उपनिषदों अथवा गीता का परायण करके जाना हो कि वहाँ कालजित् अथवा जीवन्मुक्त की क्या परिभाषा की गयी है। लेखन पर इस काल-दर्शन का प्रभाव होने के लिए इतना पर्याप्त है कि लेखक के संस्कार में उसका योग हो—और इतना दावा अवश्य किया जा सकता है। यों तो गीता और उपनिषद सीधे भी समकालीन परिवेश के अंग हैं।

यह सम्भावना की जा सकती है कि धर्म-चेतना का ह्रास अनिवार्यतया जो निराशवाद पैदा करता है (क्योंकि सावधिकाल की गति एकोन्मुख है और मृत्यु की ओर है) उसका आंशिक परिमार्जन दर्शन की 'साहित्यिक प्रवृत्ति' से हो सकता है—सौन्दर्यतत्व के चिन्तन से हो सकता है। आवर्त्ती काल की परिकल्पना धार्मिक सन्दर्भ से रहित होकर भी तोषप्रद हो सकती है। पश्चिमी साहित्य के एक दार्शनिक विवेचक ने कहा है कि "आवर्त्ती काल की चर्चा प्राय: मिथकीय वस्तु के साथ की जाती है" : हमेशा तो ऐसा नहीं होता— कम-से-कम भारत में तो नहीं; यद्यपि उस विवेचक का यह प्रस्ताव सर्वथा संगत है कि "समकालीन साहित्य में जब मिथक का प्रयोग होता है तब अवश्य उसे ऐसे मानववादी सन्दर्भ में देखना चाहिए।"[1]

भारतीय आख्यान-साहित्य मूलत: आवर्त्ती रहा है। आवर्त्ती कथा ही विश्व के आख्यान-साहित्य को भारत की विशिष्ट देन है। बल्कि संसार में प्रचलित प्राय: सभी आवर्त्ती कथाओं के प्रारूप अथवा मूल अभिप्रायों का उत्स भारत ही रहा है। ईसप के दृष्टान्त, अलिफ लैला, डेकामेरॉन, सभी के प्रारूप भारतीय हैं। इसके विपरीत पश्चिम की काल परिकल्पना मूलत: ऋजु रेखानुसारी है; उसके उत्तर उदाहरण हमें उस साहित्य में मिलते हैं जिसमें हम सीधी गति की अप्रतिवर्तनीयता बिजली की कौंध-सी हमें चौंका जाती है—अर्थात शार्ट स्टोरी में।

काल-गति के इन दो प्रकारों का रेखाचित्रण किया जा सकता है। पश्चिमी

1 मायरहॉफ टाइम इन लिटरेचर

जगत और उपन्यास में काल प्रवाह को (और उसके विषयान्तरों तथा प्रत्यवलोकनों को) यों चित्रित किया जा सकता है (चित्र 7)।

कथा सरित्सागर अथवा पंचतन्त्र आदि जैसी शृंखलित कथाओं में काल की गति यों दिखायी जा सकेगी (चित्र 8)।

यहाँ आवर्त्तन होता है, कथा वहीं लौट आती है जहाँ से आरम्भ हुई थी; बीच में और आवर्त्तन भी हो सकते हैं और एक वृत्त के भीतर फिर और वृत्त भी हो सकते हैं।[1]

नि:सन्देह यह सत्य भी स्वीकार करना होगा कि आधुनिक भारतीय उपन्यास कथा साहित्य भी अधिकांशत: पश्चिमी साहित्य की भाँति विषयी-भुक्त और सावधि रेखानुसारी काल का ही अनुसरण करता है : पूर्व-पश्चिमी संवाद का यह भी एक पहलू है। परन्तु भारतीय लेखक ने यद्यपि काल की इस (पश्चिमी) अवधारणा को चरित्र-निरूपण और मनोजगत के तनाव तथा घात-प्रतिघात के चित्रण के लिए यथेष्ट पाया है, फिर भी काल की चक्रगति उसके मानसिक संस्कार का अंग बनी रही है। ऐसा भी आधुनिक भारतीय साहित्य मिलेगा जिसमें काल-गति का द्विविध बोध क्रियाशील दीखता है : एक ओर आवर्ती काल का बोध है, दूसरी ओर एकान्त ऐतिहासिकता का भी। ऐसे साहित्य में चक्रगति और निरन्तर पुनरागमन प्रत्यावर्त्तन की पहचान भी है और अत्यन्त वर्तमान, छायारहित जीवन्त क्षण की खोज भी। कह सकते हैं कि वह भी एक ऐसी जीवन-परिपाटी की खोज है जिसमें परम्परा, सनातन अथवा नित्यता, विविक्त केवल क्षणों की एक शृंखला है—ऐसे निश्छाय क्षणों की शृंखला जो स्मरण और प्रतीक्षा दोनों से परे और मुक्त हैं। ऐसा दोहरा बोध चेतना का विस्तार है, या दो विरोधी तत्त्वों की टकराहट से बचने के लिए एक समझौता, या नैतिक (ऐतिहासिक) दायित्व से पलायन, या काल को केवल मृत्यून्मुख गति न मानकर एक घनतर अर्थवत्ता देने का प्रयत्न-इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इनमें से कोई भी पक्ष लेकर तर्क किया जा सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी साहित्य-कृति का मूल्य अन्ततोगत्वा इसी आधार पर निर्धारित हो कि इन सब सम्भावनाओं में से कौन-सी उस पर लागू होती है। पर वह जो कुछ भी हो, यह तो मानना होगा कि जिस कृति में ऐसी काल-चेतना लक्षित होगी उसे न केवल मानवीय नियति के प्रति दृष्टिकोण के लिहाज से नयी अर्थवत्ता रखनेवाला

1 अँग्रेजी में औपन्यासिक काल की चर्चा पहले पहल लारेंस स्टर्न के ट्रिस्ट्रम शैंडी में मिलती है, जहाँ काल स्रोत के रेखाचित्र भी प्रस्तुत किए गये हैं। (देखिए उक्त उपन्यास का खंड 6 अध्याय 40) अनन्तर मार्सेल प्रूस्त के उपन्यासों में *काल चेतना का विस्तृत विवेचन है; बल्कि कहा जा सकता है कि वह उनका मुख्य विषय है। 'खोए हुए काल की खोज में' जैसा सामूहिक शीर्षक इसे स्पष्ट स्वीकार भी करता है।* किन्तु इनका, अथवा टॉमस मान, स्कॉट फिट्ज़लेराल्ड, आन्द्रे जीद, रोब ग्रिये आदि के उपन्यासों में काल प्रत्यय का परीक्षण अपने आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और रोचक होते हुए भी वर्तमान सन्दर्भ में अप्रासंगिक होगा।

चित्र -7

मानना होगा, वरन साहित्यिक अथवा औपन्यासिक रूपाकार की दृष्टि से भी नयी उपलब्धि मानना होगा।

ऐसी रचना में, जिसमें काल की वृहत्तर, चक्राकार गति की साधारण पहचान भी हो पर साथ ही अत्यन्त वर्तमान क्षण के प्रति गहरा लगाव भी काल की गति का मानचित्र कुछ-कुछ ऐसा होगा (चित्र 9)। काल का वृत्त भी और उस पर डमरु द्वारा प्रतीकित क्षण-चेतना भी जो अतीत-वर्तमान-भविष्यत् की नित्य शृंखला स्वीकार करती हुई भी अपनी दृष्टि केन्द्रित कर रही है उस क्षण पर भी जो यथाशक्य छायारहित क्षण है—स्मृति, और आकांक्षा दोनों के संस्पर्श से यथासम्भव मुक्त है। यह एक निरवधि, प्रवहमान अस्ति है—प्रत्यावर्त्ती सनातन काल के चक्र पर अविखंडनीय कालाणुओं का अजस्र क्रम। पश्चिम में आधुनिक उपन्यास के विकास में क्रमशः जो आन्दोलन आये हैं, उनमें इसके समानान्तर काल-चिन्तन मिल सकता है—समान्तर, किन्तु समान नहीं। स्रोतवह उपन्यास (रोमान फल'व) से खंडवृत्त उपन्यास (रोमानद्युरे) तक की प्रगति एक स्पष्ट तथा नये और नये प्रकार के काल संवेदन को प्रतिबिम्बित करती है; पर काल के वृहत्तर आयाम की चेतना लगातार बनी न रहने के कारण पश्चिम के 'जीवित क्षण' की कहानी की मूल्य दृष्टि बिलकुल दूसरी हो जाती है। जीवित क्षण के

चित्र-8

पकड़ने के प्रयत्न में पश्चिमी उपन्यासकार मूल्यवाही सभी शब्दों का बहिष्कार कर देता है और अपने को केवल गोचर अनुभवों तक सीमित कर लेता है। उसका तर्क *यह है कि जीवित क्षण के केवल गोचर अनुभव ही हो सकते हैं*—उसमें अधिक कुछ भी होगा तो स्मरण का आधार अवश्य चाहेगा—अर्थात कालगत दूरी अपेक्षित होगी। निःसन्देह ऐसा लेखन बड़े कठोर अनुशासन की अपेक्षा रखता है; परन्तु

किसी उपन्यास अथवा कथाकृति में आख्यान-काल और घटना-काल दोनों की माँग जीवित क्षण के आदर्श तक पहुँचने में बाधक होती है। समकालिकता (जिसका अर्थ यहाँ तात्कालिकता हो जाता है) प्राप्त करने के तन्त्रगत उपाय के रूप में इस पद्धति की अर्हता उस दूसरी पद्धति से अधिक नहीं मानी जा सकती जिसमें क्षण को पकड़ने के लिए उसे काल-प्रवाह से विविक्त नहीं किया जाता बल्कि प्रवाह के भीतर उसके वर्तमानत्व का विशिष्ट गुण उभारने का प्रयत्न किया जाता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वर्तमान को प्रस्तुत कर सकने की सम्भावना दूसरी पद्धति में ही अधिक है। वृत्तान्त से प्रस्तोता की कालगत दूरी का स्पष्ट संकेत और निर्वाह, तात्कालिक वस्तु-सत्ता प्रस्तुत करने में न केवल बोधक नहीं होता वरन सहायक भी हो सकता है। 'जीवित क्षण', वर्तमान क्षण की कथा की खोज में ही मूल्य-सम्बन्धी एक प्रतिज्ञा निहित है : एक खोज केवल काल-जीवी मानव की पहचान पर आधारित नहीं है बल्कि काल-जीवी मानव की सार्थकता की पहचान पर बल देती है। सार्थकता का प्रश्न मूल्य का प्रश्न है। अतएव मूलतः मूल्याग्रही यह खोज जब मूल्यवाही शब्दों का बहिष्कार अपना सिद्धान्त बना लेती है तब ऐसे विरोधाभास का आश्रय ले लेती है जिसका परिणाम कुंठा ही हो सकता है; क्योंकि काल का अर्थ तब केवल मृत्यून्मुख गति रह जाता है।
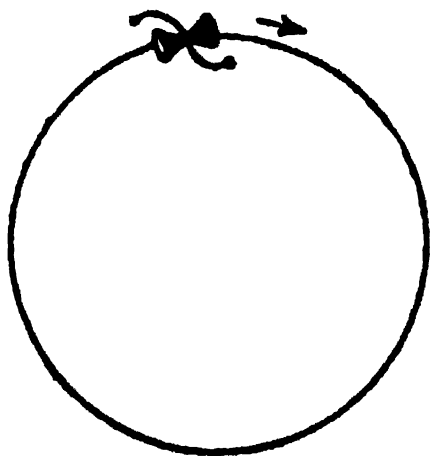
चित्र 9

यह कदाचित् लक्ष्य करने की बात है कि काल-प्रतीक के रूप में डमरु मृत्युन्मुखता का प्रतीकत्व नहीं करता। काल की जिस गति को वह संकेतित करता है, वह पश्चिम की एकदिक्, अप्रत्यवर्त्तनीय काल-गति नहीं है : पश्चिमी अवधारणा की समस्या को वह बिलकुल बचा जाता है। काल एक सुदूर आरम्भ-बिन्दु से आरम्भ करके एक अन्त तक नहीं जाता; वह वर्तमान की चेतना से आरम्भ होता है—वर्तमान के अद्यतन क्षण से; और उसकी गति दोनों ओर हो सकती है—अतीत की ओर अथवा भविष्य की ओर।[1] फलतः काल के सभी क्षण सर्वदा वर्तमान हैं, सहकालिक

हैं; अतीत अथवा भविष्य का परिप्रेक्ष्य किसी घटना के आत्यन्तिक रूप से 'हो गयी' या 'होनेवाली' होने पर निर्भर नहीं करता; इस पर निर्भर करता है कि हमारी वर्तमान की चेतना किस बिन्दु को अद्यतन वर्तमान मानकर चलती है। अनेक भारतीय भाषाओं में आगामी कल और गत कल दोनों 'कल' हैं—दोनों आज से, वर्तमान चेतना के क्षण से, एक दिन की दूरी पर के दिन हैं, चाहे इधर चाहे उधर।

इस पर अचरज हो सकता है कि जिस संस्कृति में मृत्यु का स्वीकार इतना गहरा है, उसका काल-प्रतीक मृत्यु की प्रतिज्ञा लेकर न चले; और दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता, जिसमें मृत्यु को नकारने का इतना प्रबल आग्रह है, काल की कोई ऐसी अवधारणा न कर सके जिसमें वह मृत्यून्मुख गति से ही इतर कुछ हो सकता है। कदाचित् इसका कारण यही हो कि मृत्यु का स्वीकार ही इसे सम्भव बना देता है कि उसे हम एक पृथक तत्त्व मानकर एक ओर रख सकें, और हमारा सारा काल-चिन्तन उसकी गहरी छाया से ग्रसित न हो जाए।

साँस का पुतला हूँ मैं :
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ;

यह तो तथ्य है ही; इसे स्वीकार करके हम अलग रख दे सकते हैं। तभी तो हम मानव अस्ति के उस चिरन्तन वर्तमान में जी सकेंगे जिसमें जागना जीव-मुक्त होना है।

फिर मैं सपने से जाग गया।
हाँ, जाग गया।
पर क्या यह जगा हुआ मैं
अब से युग-युग
उसी सन्धि रेखा पर वैसा
किरण-विद्ध ही बँधा रहूँगा?

[कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले (कैलिफोर्निया) में दी गयी एक सार्वजनिक व्याख्यान-माला में से एक व्याख्यान से संक्षिप्त।]

1 त्वं जातो भवसि विश्वतौमुख.।

स्मृति और काल

आज हम जिस परिमंडल में जीते हैं उसमें—कभी एक व्यापक हल्ले के रूप में और कभी एक दबी हुई गूँज के रूप में—बार-बार यह बात सुनाई पड़ती है कि 'हम 21वीं शती की देहरी पर खड़े हैं।' नहीं जानता कि हममें से कितने स्वयं अपने भाव—जगत में ऐसा अनुभव करते हैं; किन्तु ऐसा कहते हुए कुछ लोगों को जरूर सुना जा सकता है कि सारा देश एक छलाँग लगाने के लिए शरीर तोल रहा है और वह छलाँग हमें सीधे 20वीं शती के अन्तिम वर्षों के धुँधलके में से उबारकर 21वीं शती के निरभ्र आकाश के निश्च्छाय आलोक के प्रदेश में स्थापित कर देगी। वह छलाँग कैसी होगी, इसका बखान करने के लिए कुछ लोगों ने विज्ञान का मुहावरा भी उधार ले लिया है। हम विकास की सम गति से आगे बढ़ते हुए 20वीं से 21वीं शती में प्रवेश करेंगे, ऐसा नहीं होगा। जिस प्रकार परमाणु जगत में हम पाते हैं कि पदार्थ का सूक्ष्मतम कण अभी एक स्थिति में और उसके तुरन्त बाद एक दूसरी स्थिति में दीखता है और बीच की यात्रा हमें नहीं दीखती, न यात्रा पथ ही दीखता है, उसी प्रकार हम भी एक स्थिति से दूसरी स्थिति में छलाँग लगाकर पहुँच जाएँगे। न वह छलाँग किसी को दीखेगी, न उसके गति-पथ का मानचित्र बनाया जा सकेगा। विज्ञान की परिभाषा से 'क्वांटम जम्प' की यह अवधारणा उधार ले लेने में ऐसा प्रचार करनेवालों को दोहरी सुविधा मिलती है। जिस जगत में 'क्वांटम जम्प' की बात सार्थक होती है उसमें हम दिक् और काल का अलग-अलग विचार नहीं करते—कर ही नहीं सकते क्योंकि वहाँ दिक्काल के एक सातत्य में ही बात करना सार्थक होता है। वहाँ हमारी छलाँग—यानी सूक्ष्मतम अणु की छलाँग—निरन्तर पदार्थ से ऊर्जा और ऊर्जा से पदार्थ तक भी लगती रहती है। दूसरे शब्दों में यही बात हम यों भी कह सकते हैं कि पदार्थ लगातार दिक् के आयाम में काल के आयाम में और काल के आयाम से दिक् के आयाम मे छलाँग लगाता रहता है—दिक्काल परस्पर एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। स्पष्ट है कि वैज्ञानिक अवधारणा का यह पहलू उस छलाँग पर लागू नहीं होता जिसके सहारे हमारा देश 20वीं से 21वीं शती में पहुँचनेवाला है; लेकिन जिन लोगों के द्वारा यह मुहावरा इस्तेमाल किया जाता है वे बड़े लोग हैं और बड़े लोगों की बातों पर न-नु-नच् करना अविनय है :

उनकी बात केवल दोहरायी जा सकती है।

इस देश में यह सवाल पहले भी उठा कि जिस प्रकार हम छलाँग लगाकर एक स्थल से दूसरे स्थल पर पहुँच जाते हैं, क्या काल भी उसी प्रकार छलाँग लगाकर चल सकता है। चलता है, अथवा उसकी गति अनिवार्यतया सम, एकरूप, अजस्र धारा की गति होती है? क्या काल के भी अणु होते हैं और क्या जीव एक-के-बाद-एक ऐसी आणविक स्थितियों में से गुजरता रहता हैं कि जिनके बीच किसी प्रकार की निरन्तरता अथवा सातत्य का सम्बन्ध नहीं होता? पश्चिम में तो यह प्रश्न एक वास्तविक वैज्ञानिक पहेली के रूप में 19वीं शती में ही उठा—'क्वांटम सिद्धान्त' के ही एक पहलू के रूप में—और इसका एक अनिवार्य आनुषंगिक परिणाम यह जिज्ञासा थी कि तब काल-गति का अनुभव करनेवाले का 'स्व' क्या है और हमारी स्मृति क्या है? लेकिन मैंने अभी तो कहा कि हमारे देश में यह सवाल एक बार पहले भी उठा, तब मैं पश्चिम के वैज्ञानिक चिन्तन के विकास, अथवा उसके कारण यहाँ पूर्व में उठनेवाली वैचारिक लहर की बात नहीं कर रहा था। इस देश में मौलिक रूप में यह समस्या उससे कुछ पहले उठायी गयी थी—'कुछ पहले' अर्थात यही कोई दो-अढ़ाई हजार साल पहले, बौद्ध तार्किकों द्वारा, लेकिन अभी मैं उस प्राचीन विवाद को नहीं जगा रहा हूँ—उसकी सार्थक चर्चा करने के लिए कुछ तैयारी अपेक्षित होती है। जब हम 'क्वांटम जम्प' की बात करने लगते हैं तो सहज ही यह सम्भावना भी सामने आती है कि वह छलाँग अगर आगे की ओर हो सकती है तो पीछे की ओर भी हो सकती होगी या हो सकनी चाहिए—जब हम दिक् का काल-निरपेक्ष विचार असम्भव पाते या मान लेते हैं तब 'आगे' या 'पीछे' की अवधारणा कैसे टिकी रह सकती है? इस आगे और पीछे की समस्या की ओर लौटना (लौटना अर्थात् आगे बढ़ना!)तो होगा। लेकिन उसकी भूमिका के रूप में कुछ दूसरे सन्दर्भों को उठाना उचित होगा।

21वीं शती की देहरी पर खड़े होने की बात करनेवाली ईसवी संवत् को गणना का आधार मानकर चलते हैं। लेकिन इस देश में केवल वही एक संवत् नहीं चलता। प्रचार के इस युग में बड़ी तेजी से ईसवी कैलेंडर का चलन बढ़ा है और आज उन क्षेत्र में भी तारीखें इस कैलेंडर से गिनी जाती हैं जिनमें कुछ वर्षों पहले तक वैसा करते समय यह कहना ज़रूरी होता था कि यह 'अँग्रेज़ी तारीख' है। लेकिन जिस देश का दो-तिहाई आज भी निरक्षर है, उसमें चाहे व्यंग्यपूर्वक ही सही, चाहे देशी काल-गणना को निरक्षरता के साथ जोड़ते हुए ही सही, आज भी यह बात सच है कि करोड़ों जन-साधारण व्यावहारिक जीवन में ईसवी कैलेंडर और अँग्रेज़ी तारीखें मानते हुए भी एक-दूसरे स्तर पर किसी दूसरे संवत् में और दूसरी ही तिथियों के अनुसार जीते हैं। उनको आप कहेंगे कि वे यथार्थ के दो आयामों में जी

रहे हैं, जो उन्हें यह सन्देह भी नहीं होगा कि आप उन पर व्यंग्य कस रहे हैं—वे सहज ही इस बात को स्वीकार कर लेंगे कि यथार्थ के दो स्तर होते हैं। इन करोड़ों जनों में संवत् की जो दूसरी गणनाएँ चलती हैं, अपनी बात आगे बढ़ाने के लिए उनमें से एक गणना को मैं चुन लेता हूँ—विक्रम संवत् को, जो उत्तर भारत में प्रमुख रूप से प्रचलित है। विक्रम और ईसवी संवत् में 57 वर्ष का अन्तर है। विक्रम संवत् के अनुसार '21वीं शती की देहरी पर' खड़े होने की बात अब तक पुरानी पड़ गयी होती। विक्रम संवत् से हमने जब इक्कीसवीं शती में प्रवेश किया तब देश में 'भारत छोड़ो' का नारा गूँज रहा था। ठीक इक्कीसवीं में प्रवेश का बिन्दु न चुनकर हम उसकी देहरी से वैसी ही दूरी रखें जैसी आज ईसवी इक्कीसवीं सदी से है, तो संवत् 1986 में देश स्वाधीनता संग्राम के दूसरे सत्याग्रह आन्दोलन से आन्दोलित था। क्रान्तिकारियों की हरकतें उसे और भी तीव्रता दे रही थीं। अथवा देहरी के कुछ निकटतर जाकर संवत् 1996 को देखें तो सारा विश्व ही महायुद्ध के कगार पर खड़ा था। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि यदि नयी शती की देहरी पर खड़े होने की बात बड़े और अकल्पनीय परिवर्तनों की बात है, तो उस समय वैसी भावना अधिक प्रचलित थी और अधिक संगत भी थी—अर्थात विक्रम संवत् से। आज तो हमें उस इक्कीसवीं शती में प्रवेश किये दो पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं : आज हमें स्वाधीनता प्राप्त किये भी चालीस वर्ष हो चले हैं। जिस छलाँग की, 'क्वांटम जम्प' की बात आज होती है, वह उस समय कुछ अधिक अर्थवान् भी जान पड़ती। गुलामी से आज़ादी तक की छलाँग का यात्रापथ नहीं दीखता, उस मानस-यात्रा का मानचित्र बनाना भी कठिन होता है। यह यात्रा वास्तव में 'क्वांटम जम्प' होती है। और जो आज इस स्थिति में है कि आज़ादी के अनुभव के उन क्षणों के मनोभाव की याद ताजा कर सकें, वे शायद आज भी इस बात की सच्चाई का एक तीखा अनुभव कर सकेंगे। कुछ लोग स्वतन्त्रता की घोषणा की उस आधी रात के समय सड़कों पर नाचे भी थे; लेकिन इस अतिशय प्रतिक्रिया को छोड़ भी दें तो करोड़ों जनों ने यह अनुभव किया था कि वे एक नये युग में प्रवेश कर गये हैं; कि ऐसे युगान्तर को एक क्रमिक यात्रा के रूप में देखना कठिन है, उसे एक रूपान्तर-सा ही अनुभव किया जा सकता है—एक युगान्तर—एक 'क्वांटम जम्प'—एक पुनर्जन्म...

'21वीं शती में प्रवेश' को अगर हमने स्वाधीनता के युगारम्भ के साथ जोड़ लिया होता और उस सम्बन्ध में एक सार्थकता देखी होती—आशा, उत्साह और भविष्य के प्रति आस्था के मनोभाव की सार्थकता—तो आज शायद '21वीं शती के मध्य-बिन्दु' की चर्चा करना अधिक संगत होता। प्रश्न कदाचित् वे ही पूछे जाते तो 21वीं शती की देहरी पर खड़े होने के सन्दर्भ में उठाये जाते हैं; लेकिन उनके साथ जोड़ा जानेवाला मनोभाव अधिक संयम और प्रश्नाकुल होता। तब प्रश्नों का सन्दर्भ

यह होता कि हम नयी शती भी आधी पार कर गये—क्या अब अपनी अब तक की यात्रा का कुछ लेखा-जोखा करके आगे का कार्यक्रम निर्धारित करने का—और उसे पूरा करने के संकल्प का—समय नहीं आ गया है? कदाचित् वही मनोभाव अधिक संगत भी होता—उसका शोर और उस गूँज के बावजूद जिसका उल्लेख मैं कर चुका हूँ। वह शोर अधिकतर राजनीतिकों द्वारा मचाया गया शोर है क्योंकि उनके प्रयोजन दूसरे हैं और उनकी कार्य-पद्धति भी दूसरी है; शोर भी उस कार्य-पद्धति का एक अंग है। लेकिन मैं राजनीति का व्यक्ति नहीं हूँ। राजनीतिक प्रयोजनों के किसी अनिवार्य अस्वीकार के बिना भी मैं कह सकता हूँ कि मेरे प्रयोजन दूसरे हैं या होने चाहिए; कि साहित्यकार के नाते मेरे लक्ष्य दूसरे—या दूसरे भी—हैं और होने चाहिए; कि मेरी कार्य-पद्धति भी स्वभावत: अलग होगी। और यह भी कि शोर उसका अंग नहीं होगा बल्कि बहुधा एक सारगर्भ चुप उसके लिए अधिक उपयोगी हो सकती है।

लेकिन ईसवी सन् हो अथवा विक्रम संवत् काल गणना का एक दूसरा भी सन्दर्भ है और मेरा प्रयोजन उसी से है। मैंने पहले चरण में इन दो कैलेंडरों का उल्लेख किया क्योंकि इन दोनों के बीच का अन्तर इतना ही है कि उसका हमारी साधारण आयु से अनुपात बैठाया जा सके और दो प्रकार के सम्भाव्य मनोभावों की तुलना की जा सके। लेकिन जिस विचार-सरणी के किनारे तक मैं आपको ले जाना चाहता हूँ, वह इससे कुछ और आगे है। यों मैंने जिन दो मनोभावों, मनोदशाओं अथवा मानसिक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया, उनके बीच केवल 57 वर्ष का अन्तर रहने पर भी उनकी सार्थक चर्चा के लिए स्मृति का उपयोग तो आवश्यक हो ही जाता है—और स्मृति के परिदृश्य ही मेरा विषय है। 57 वर्ष पहले की स्मृतियाँ जगाना उतना कठिन नहीं जान पड़ता—यद्यपि यह कहना भी उतना ही सत्य होगा कि एक दिन पहले की स्मृतियाँ जगाना भी कम कठिन काम नहीं होता—बल्कि घंटा-भर पहले, एक मिनट पहले की मनोदशा में प्रवेश करना भी कभी-कभी अत्यन्त कठिन हो आता है। 40 वर्ष पहले, या 57 वर्ष पहले, या 400 या 4,000 वर्ष पहले की भूली और अनभूली आह्वेय औरा अनाह्वेय स्मृतियों का ताना-बाना ही हमारी उस सांस्कृतिक अस्मिता की भूमि है जो हमारे निजी, सामाजिक, नागरिक और राष्ट्रीय अनुभवों और आकांक्षाओं को निरूपित करती है। साहित्यकार के नाते मेरा उस भूमि से जो सरोकार है उसको प्राथमिकना देते हुए ही मैं स्मृति के परिदृश्य की बात करना चाहता हूँ।

अगर मैं बिना व्याख्या के सीधे-सीधे यह बात कहूँ कि 'ईसवी सन् को ही

ऐतिहासिक काल-गणना का एकमात्र आधार मान लेने से हमारा यथार्थता का बोध परिसीमित हुआ है', तो यह साम्प्रदायिक दुराग्रह की बात लगेगी। लेकिन वस्तुत: ईसवी सन् की बात का इसाई धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं उसी प्रकार बिना व्याख्या के यह भी कह दे सकता हूँ कि विक्रम संवत् भी उसी प्रकार हमारे ऐतिहासिकता के बोध को परिसीमित करता है। दोनों बातें साथ-साथ रख देने से साम्प्रदायिक आग्रह के आरोप का निराकरण हो जाएगा। व्याख्या की आवश्यकता अवश्य फिर भी बनी रहेगी, लेकिन उसका एक सूत्र भी सामने आ जाएगा।

काल को हम अनादि और अनन्त मानते हैं। लेकिन उसकी गणना हमेशा एक बिन्दु से आरम्भ करते हैं, और यह आदि-बिन्दु भी बहुत दूर पीछे नहीं जाता। सृष्टि के क्रम में तो उसकी दूरी नगण्य है ही, मानवता के इतिहास में भी वह लम्बी नहीं है। बल्कि सभ्यता के विकास क्रम में भी वह उतनी लम्बी नहीं रह जाती। बड़े को छोटे से नापना ज़रूरी है, उसके बिना नाप हो ही नहीं सकती; लेकिन जो अनादि है उसकी नाप में एक आदि बिन्दु स्थिर कर लेने के क्या परिणाम होते हैं? कभी बाल-मनोविज्ञान की पुस्तक में एक बालक की बात पढ़ी थी जिसकी कल्पना इतनी प्रबल थी कि वह रोज कोई न कोई झूठा किस्सा गढ़कर माता-पिता को सुना दिया करता था कि उसने क्या-क्या देखा अथवा उसके साथ क्या-क्या घटित हुआ। माता-पिता उसकी इस झूठ बोलने की आदत से परेशान हो गये थे, लकिन यह भी अनुभव करते थे कि यह उस प्रकार का झूठ बोलना नहीं है जिसे नैतिक अथवा सामाजिक अपराध की कोटि में रखा जाए—जिसके लिए बालक को दंडित किया जाए अथवा उसमें अपराधी-भाव जगा दिया जाए। अन्तत: उन्होंने भी कल्पना का सहारा लिया; एक नदी और उसके किनारों की अवधारणा की। बालक के किस्से सुनकर वे उससे यही पूछते कि उसके द्वारा वर्णित घटना नदी के इस पार घटित हुई या उस पार? क्रमश: नदी के ये कल्पित किनारे ही बालक के मन में भी यथार्थ और कल्पना के बीच की विभाजन-रेखा बन गये : कोई गढ़ा हुआ किस्सा सुनाकर वह स्वयं कह देता कि 'यह सब नदी के उस पार घटित हुआ।' इस प्रकार माता पिता उस बालक में अपराध-बोध जगाये बिना उसे यथार्थ की कठोर भूमि पर लाने में सफल हुए। शायद काल में प्रवाह का एक अधिक सच्चा बोध भी उसे प्राप्त हुआ हो, क्योंकि काल-नदी का वास्तविक चित्र उस दूसरे किनारे के बिना पूरा नहीं होता जिसके पार हमारी कल्पना की घटनाएँ घटित होती हैं। फंक्शन ऑफ रिएलिटी की भाँति एक फंक्शन ऑफ अनरिएलिटी भी है और वह भी धर्म अर्थात् फंक्शन ही है। बाल-मनोविज्ञान की उस पुस्तक ने यह तो नहीं बताया कि यह कल्पनाशील बालक आगे चलकर बड़ा उपन्यासकार बना कि नहीं : हम वैसी सम्भावना तो कर ही सकते हैं। लेकिन यहाँ, वर्तमान सन्दर्भ में, यह प्रश्न तो उठाया जा सकता है कि

क्या संवत् की गणना का एक आरम्भ-बिन्दु स्थापित करना ही वैसा ही नदी का एक किनारा गढ़ लेना नहीं है जिसके इस पार 'इतिहास' है और उस पार-'पुराण'?

इस प्रश्न ने बात को कदाचित् कुछ-कुछ अतिरंजित कर दिया, क्योंकि ईसवी अथवा विक्रम संवत् मान लेने के बाद भी हम उनके आरम्भ-बिन्दु से कम-से-कम कुछ शतियों पहले तक की घटनाओं को अपने इतिहास की परिधि में रखे ही हैं—उदाहरण के लिए बुद्ध अथवा अशोक अथवा सिकन्दर को अपनी काल-गणना के आरम्भ बिन्दु का निर्वाह करते हुए 'ईसा पूर्व अमुक शती अथवा अमुक वर्ष' में प्रतिष्ठित कर देते हैं। लेकिन रामायण अथवा महाभारत को जब 'ई.पू. 1500-2500' में रखा जाता है तब क्या इन महद्ग्रन्थों के रचना-काल को हम ऐतिहासिक यथार्थता की उसी कोटि में रख रहे होते हैं जिसमें—उदाहरण के लिए—महमूद गजनवी के आक्रमण को अथवा बाबर के अभियान को रखते हैं? इस प्रश्न का, जरूरी नहीं है कि एक ही उत्तर हो; लेकिन प्रश्न पूछने से इस बात की ओर हमारा ध्यान जाएगा कि काल के हमारे समग्र अनुभव की संरचना कितनी दूर तक इस बात से प्रभावित होती है कि हम गणना का आरम्भ बिन्दु—'सन् संवत् 0'—सन् 0 ई. अथवा संवत् 0 वि.—कहाँ रखते हैं।

इतनी बात तो ईसा अथवा विक्रम अथवा अन्य किसी संवत् पर समान रूप से लागू होती। लेकिन काल-जिज्ञासा जब आरम्भ होती है तो क्रम में और भी प्रश्न जुड़ते चले जाते हैं और हमारे अनुभव की संरचना की, हमारी स्मृति के परिदृश्य की और भी बारीकियाँ हमारे सामने आती हैं। विक्रमादित्य, जिनसे विक्रम संवत् आरम्भ हुआ, राजा थे, जबकि ईसा मसीहा हैं। विक्रमादित्य तो कई हुए, ईसा मसीह केवल एक हुए और वह भी ईश्वर के एकमात्र चुने हुए बेटे जो कि ईश्वर से अधिक महत्त्व रखते हैं—अधिक बड़ी रागात्मक सत्ता है। काल-गणना का धर्म-भाव से सम्बन्ध न हो, पर इस रागबन्ध का हम क्या करें? इतिहासकार असम्पृक्त हो भी सकता है; पर अतीत के सामान्य ज्ञान को अपने से जोड़नेवाला जन यह जानता भी नहीं कि वैसा निर्वेद भाव उससे अपेक्षित है।

फिर ऐतिहासिकता के उसी आग्रह ने जिसने भारतीय चिन्ताधारा और गवेषणा में भी ईसवी सन् की प्रतिष्ठा कर दी, उसी ऐतिहासिक आग्रह ने हमें न केवल यह बताया है कि विक्रमादित्य कई हुए बल्कि प्रत्येक विक्रम का काल-सन्दिग्ध बता दिया है। इस प्रकार विक्रम संवत् पर आधारित काल-गणना, जो पहले ही एक तदर्थ गणना थी, और भी सन्दिग्ध हो गयी क्योंकि उसके प्रवर्तक का ही कोई पता-ठिकाना, कोई निश्चित काल नहीं रहा। सुना है कि कुछ रूसी लोक-कथाएँ यों आरम्भ होती हैं कि 'पता नहीं था कि नहीं था, लेकिन एक राजा था।' क्या एक अनिश्चितकालीन विक्रम के साथ संवत् और काल-गणना के जुड़ जाने का एक

असर यह नहीं होता कि 'पता नहीं कब था या कौन था, लेकिन एक राजा था जो विक्रम कहलाया और जिससे काल-गणना आरम्भ करें तो कह सकते हैं कि—' इत्यादि।

यों तो यह प्रश्न भी उठा है—और हल नहीं हुआ है, केवल दबा दिया गया है—कि ईसा मसीह भी एक और एक—मात्र ऐतिहासिक व्यक्ति थे अथवा धर्म-गुरुओं की एक प्राचीन परम्परा के तीन-चार गुरुओं को जोड़कर रचा गया एक संयुक्त व्यक्तित्व हैं? और यह प्रश्न भी एक जीवित प्रश्न है—जिन्दा दफना दिया गया प्रश्न!— कि जिस एक-मात्र ईसा से ईसवी सन् आरम्भ किया जाता है उसका जन्म भी 'सन् 0 ईसवी' में हुआ था, अथवा उससे 12, 15 या 18 वर्ष पहले? अगर इस तरह के प्रश्न उसी रूप में सामने बने रह सकते या बनाए रखे जा सकते जिस रूप में विक्रमादित्य से सम्बद्ध प्रश्न हैं, तो स्थिति अंशतः भिन्न होती। लेकिन, जैसा मैंने कहा, ये जिन्दा दफना दिये गये प्रश्न हैं क्योंकि विक्रम केवल एक राजा हैं, ईसा एक धर्म के प्रवर्तक और एक 'ऐतिहासिक' ईश्वर (!) के वर-पुत्र, ऐतिहासिकय क्राइस्ट हैं। विक्रम संवत् के विक्रम के अस्तित्व पर भी प्रश्नचिह्न लगाने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लेकिन ईसा मसीह के बारे में वैसा कोई प्रश्न उठाते ही एक पूरा धर्म-संस्थान लड़खड़ाने लगता है।

किसी धर्म संस्थान के लिए संकट खड़ा करना हमें अभीष्ट नहीं है। लेकिन किसी संवत् के आदि-पुरुष से जुड़े हुए प्रश्नों के विस्तार में जाने से किसी प्रकार समूची सभ्यताओं, संस्कृतियों के ढाँचे लड़खड़ाने लगते हैं (क्योंकि अधिकतर सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ धर्म-विश्वास से जुड़ी रही हैं), यह स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार सन्-संवत् के प्रश्न हमारी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्न बन जाते हैं क्योंकि हमारी जातीय स्मृति का परिदृश्य उससे जुड़ा हुआ होता है।

भारतीय संस्कृति भी एक धार्मिक संस्कृति है! बल्कि भारतीय सन्दर्भ में तो 'संस्कृति' शब्द अँग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव का ही परिणाम माना जा सकता है और यही कहना अधिक सही होगा कि भारत में धर्म न केवल संस्कृति का आधार रहा है बल्कि जिसे आधुनिक अर्थ में 'संस्कृति' कहा जाता है वह धर्म के अनुष्ठान पक्ष का एक विस्तार ही रही। लेकिन ईसाईयत जिस प्रकार एक प्रवर्तक और एक आदि-बिन्दु से जुड़ी है, भारत में धर्म का वैसा रूप नहीं है। सम्प्रदायों की बात अलग है; और सम्प्रदायों को धर्म मानने की नयी प्रवृत्तियों के (जिनके कारणों में जाना यहाँ प्रासंगिक नहीं है) परिणाम में इतिहास की जो दुर्गति होती है और हो रही है, वह हमारे तर्क को पुष्ट ही करेगी। ईसाईयत जिस प्रकार की 'ऐतिहासिकता' का दावा

करती है वैसा दावा भारतीय सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं रखता रहा। यहाँ धर्म की परिधि के भीतर अनेक सम्प्रदायों के अनेक प्रवर्तक हुए और इसलिए एक विशेष अर्थ में यह कहा जा सकता है कि यहाँ एकाधिक ऐतिहासिक परम्पराएँ भी बनीं जिनके अपने-अपने आरम्भ-बिन्दु भी हैं। लेकिन ऐसे प्रवर्तन-बिन्दुओं को काल-गणना का आरम्भ-बिन्दु नहीं बनाया गया—इन प्रवर्तकों के नाम से संवत् नहीं चले, भले ही कुछ सम्प्रदायों में वैसा भी एक संवत् साथ-साथ लिख देने की परम्परा चली। यह भी लक्ष्य किया जा सकता है कि इस स्थिति के कारण भारतीय सभ्यता में एक बहुकेन्द्रिकता रही जिसे उसकी शक्ति भी माना जा सकता है। इस बहुकेन्द्रिकता के कारण ही यह संस्कृति ऐतिहासिकतावाद से आक्रान्त होकर भी अपनी अस्मिता को टूटने मे बचाए रख सकी।

इस अनेक-केन्द्रिकता की तुलना चीन की स्थिति से भी की जा सकती है और उससे कुछ रोचक परिणाम भी निकाले जा सकते हैं। चीन में न तो संस्कृति का भारत जैसा धार्मिक आधार रहा, न उसकी काल-गणना में इसाइयत जैसा किसी धर्म-प्रवर्तक का स्थान अथवा ऐसे व्यक्ति से जुड़े आदि-बिन्दु का महत्त्व रहा। चीन ने अपनी काल-गणना राजवंशों के क्रम और उनके शासनों की अवधि के आधार पर की। इस प्रकार चीनी सभ्यता में निरन्तर ऐतिहासिकता का एक स्पष्ट बोध भी मिलता है और एक धर्म-निरपेक्ष बहुकेन्द्रिकता भी बनी रह सकती है। कह सकते हैं कि इसके कारण चीन की जातीय स्मृति की संरचना भी एक ओर भारत से और दूसरी ओर ईसाई जगत से सर्वथा भिन्न है।

इस सन्दर्भ में यहूदी संस्कृति और यहूदी जातीय स्मृति का प्रश्न भी उठाया जा सकता है और वर्तमान शती के सन्दर्भ में उस स्मृति की अमिट छाप और प्रेरणा-शक्ति पर भी विचार किया जा सकता है! लेकिन उस विचार को सार्थकता देने के लिए जितने विस्तार की अपेक्षा होगी उसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है। उस स्मृति की सत्ता का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है। इतना संकेत अवश्य किया जा सकता है कि उस धर्म-परम्परा में सृष्टि को हुए ही जितने वर्ष हुए हैं उससे कहीं अधिक अवधि के तो हमारे ऐतिहासिक युग हो चुके हैं—यानि हिब्रू सृष्टयब्द भी हमारे संवत् के अनुपात में छोटा पड़ जाता है। इसलिए इसकी सम्भावना नहीं रहती कि उस संस्कृति में इस पारम्परिक काल-गणना का कोई आग्रह बचा रह जाए। वहाँ जातीय अस्मिता से आधारभूत सम्बन्ध जोड़ने के लिए कुछ दूसरे ही बिन्दु चुने जाते हैं—ऐसे घटना-बिन्दु जो किसी संवत्सर के आरम्भ-बिन्दु तो नहीं हैं लेकिन—जो उस आत्म-बिम्ब को पुष्ट करने में मदद देते हैं जिसके अन्तर्गत यहूदी जाति एक साथ ही ईश्वर की विशेष चुनी हुई जाति भी हो जाती है और दूसरों के द्वारा शताब्दियों से उत्पीड़ित जाति भी। एक ओर विधाता द्वारा मनोनयन और दूसरी ओर आत्म-रक्षा का यह भाव—इन दोनों की स्मृति अस्मिता को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण

योग देती है।

स्मृतियों का दमन भी होता है। स्मृतियाँ भी जिन्दा दफनाई जा सकती हैं और दफनायी जाती है। ऐसी स्मृतियाँ मिटती नहीं; कालान्तर में वे किस रूप में ज्वालामुखी होकर फट पड़ेंगी इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। लेकिन दमित स्मृतियों की सत्ता, शक्ति और कर्म-प्रेरकता के कई उदाहरण आधुनिक इतिहास में मिल जाएँगे। बल्कि आज जिस संसार में हम रहते हैं उसके अनेक क्षेत्रों में फैली हुई अशान्ति के कारण भी ऐसे ही दमित स्मृतियों में मिलेंगे। दमित न हुई होतीं तो वे सहज क्रम में मिट गयी होतीं—अनावश्यक बहुत कुछ भूलते या भुलाते जाना मस्तिष्क की एक अनिवार्य आवश्यकता है। जैविक इकाई भी बहुत कुछ भुलाती है; जातीय समूह भी बहुत कुछ भुलाते हैं—उस सामूहिक रूप में ही वे एक 'जैविक इकाई' होते हैं जिसका एक जातिगत मस्तिष्क होता है। लेकिन दमिहो जाने से ये स्मृतियाँ प्राकृतिक क्रम में विलय नहीं हो पातीं; उनमें ऊर्जा का ऐसा संचय होने लगता है जिसके परिणाम अपूर्वानुमेय हो जाते हैं।

जातियों के इतिहास अथवा समाज मनोविज्ञान में जाना मेरा प्रयोजन नहीं है। वह मेरा विषय भी नहीं है और उसकी योग्यता भी मुझमें नहीं है। लेकिन काल की चेतना, युग और समय का बोध, और काल की गति का अनुभव—इन सबका एक साहित्यिक पक्ष भी है। हमारी स्मृति ही उस बोध का आधार है और रचना का स्रोत है। स्मृति नहीं है तो व्यक्तित्व नहीं है; बल्कि काल भी नहीं है और रचना भी नहीं है। 'मैं जानता हूँ कि मैं कौन हूँ, क्योंकि मैं वहीं हूँ जो मुझे स्मरण है।'—वही और उतना ही। यों विज्ञान ऐसे काल की भी बात करता है जो जीवन के अनुभव से निरपेक्ष है : भू-भौतिकी में भी काल का विचार होता है और ज्योतिष तथा तारक-भौतिकी में भी। वह काल वास्तविक नहीं है। यह हम नहीं कह सकते। लेकिन इसी बात को उलटकर यों कहना चाहें कि 'हमारी वास्तविकता उस काल पर आधारित नहीं है, ऐसा हम नहीं कह सकते, तो वास्तविकता की व्याख्या अनिवार्य हो जाएगी। वैज्ञानिक अलग-अलग सन्दर्भों में कहता है कि 'पिछले पचास वर्षों में जितना कुछ घटित हुआ है उतना उससे पहले के पाँच हजार वर्षों में नहीं हुआ था' (और पचास वर्षों की अवधि हमारी साधारण आयु के सन्दर्भ में बड़ी नहीं है, हमारी निजी स्मृति के परिदृश्य से बाहर नहीं जाती); अथवा यह कि 'सृष्टि के पहले तीन मिनट में जितना कुछ घटित हुआ उतना अगले तीन करोड़ वर्षों में नहीं हुआ—पर ये उक्तियाँ भी, ऐसा नहीं है कि घटित की विशेष परिभाषा नहीं माँगती— बल्कि दूसरी उक्ति तो हमें वहाँ ले जाती है और जहाँ काल की और

दिक् की भी नयी परिभाषाएँ अपेक्षित होती हैं। और वैज्ञानिक स्वयं स्वीकार करता है कि वहाँ परिभाषा भी अनिश्चित हो जाती है क्योंकि हम भाषा के साधारण व्यवहार से बड़ी दूर जा चुके होते हैं और ध्रुव रूप में नहीं जानते हैं कि हम जो कर रहे हैं उसका अर्थ क्या है। साहित्य के अथवा रचना के सन्दर्भ में वास्तविकता की चर्चा को हमारे बोध के साथ जोड़ना अनिवार्य होगा और उसे स्मृति के साथ जोड़ा।

रचना के सन्दर्भ में साहित्य का यथार्थ आनुभविक यथार्थ ही है। अनुभव से परे जो यथार्थ है, या हो सकता है, उसको साहित्य नकारता नहीं; लेकिन साथ ही उसके अनुभव-निरपेक्ष यथार्थ को कभी हमारे अनुभव को नकारने भी नहीं देता। साहित्य की एक मूल्यवत्ता इसी में है कि वह निरन्तर आनुभविक यथार्थ के उन आयामों का विस्तार करता चलता है जो दूसरे सभी आयामों के परीक्षण की कसौटियाँ हमें देते चलते हैं और इस प्रकार हमारे लिए यह सम्भव बनाते हैं कि हम उन दूसरे आयामों को आत्मसात कर सकें—अपने अनुभव और अपनी चेतना के क्षेत्र का विस्तार कर सकें। यह विस्तार हमारी स्मृति के विस्तार में प्रतिबिम्बित होता है। रचना के सन्दर्भ में यथार्थ के सारे परिदृश्य स्मृति के ही परिदृश्य होते हैं।

और यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि हमारी भाषा हमारी स्मृति है। भाषा के साथ गहरे रागात्मक सम्बन्ध की बात तो हमारे युग की एक सामान्य बात है। उस रागात्मक सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होनेवाले तनाव, आन्दोलन और विस्फोट समकालीन जीवन की सामान्य घटना रहे हैं। बहुत-से लोग अपने को प्रबुद्धचेता मानते हुए भाषानुराग की इस तीव्रता और ज्वलनशीलता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं, बहुधा व्यंग्य भी करते हैं। लेकिन भाषा का यह आग्रह जाने-अनजाने जातीय स्मृति की रक्षा का ही आग्रह होता है—अस्मिता की रक्षा का आग्रह होता है। हम पहले भी कह चुके हैं कि स्मृति नहीं है तो व्यक्तित्व नहीं है; अगर हमारी भाषा ही हमारी स्मृति है तो भाषा और अस्मिता का सम्बन्ध और भी स्पष्ट हो जाता है। तथाकथित प्रबुद्धचेता कहेगा कि यह तर्क एक भयानक हठधर्मिता और दुराग्रह को जन्म देता है; कि देश की वर्तमान स्थिति में वह शोविनिज्म है और देश की रागात्मक एकता में बड़ी बाधा है। ये खतरे हैं; पर कोई शक्ति खतरनाक होने से ही झूठी नहीं हो जाती और वैसा कह देने से निरस्त भी नहीं होती। खतरे का उपाय यही है कि हम एक वृहत्तर अस्मिता की दीक्षा दें और उन स्मृतियों को जगाएँ, उनकी शक्ति से काम लें, जो उस वृहत्तर सत्ता के साथ जुड़ी हैं। यह काम उस प्रबुद्धचेता ने नहीं किया।

लेकिन 'हमारी भाषा भी हमारी स्मृति है' और 'हमारा इतिहास भी हमारी स्मृति है', एक साथ ही ऐसी दो बातें कहकर क्या हम अपने को ही भ्रम में डालने की व्यवस्था नहीं कर रहे हैं? नहीं। क्योंकि एक तो इससे आगे यह भी कहा जा सकता है कि 'भाषा भी इतिहास है।' दूसरे मैं तो अपने को इन दो बातों तक ही

सीमित भी नहीं रख रहा हूँ। मैंने जो कुछ कहा है उसका आशय तो यह भी है कि काल भी हमारी स्मृति है। हमारी स्मृति ही लगातार वह रचनात्मक संगठन करती चलती है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य एक व्यवस्थित क्रम में जुड़ते चलते हैं। स्मृति ही उस संरचना में अविराम संशोधन भी करती चलती है और संशोधित नये पारदृश्य प्रस्तुत करती चलती है। टी.एस. एलियट की प्रसिद्ध पंक्तियों का एक संक्षेपन हम यों कर सकते हैं कि Only in time is time remembered. और फिर इसी बात को पलटकर यों भी तो कहा जा सकता है कि Only is memory is time time. निरपेक्ष भौतिकता का आग्रही वैज्ञानिक, हो सकता है, दोनों ही स्थापनाओं पर मुस्कुरा भर दें। लेकिन दोनों ही कवि-जनोचित स्थापनाएँ और काव्य-जगत् में दोनों को ही सार्थक माना जाएगा—उनमें गार्भित अर्थों को महत्त्व दिया जाएगा।

मैंने अपनी बात संवत्सर की चर्चा से आरम्भ की थी : उसे निमित्त बनाकर यथार्थ-बोध की चर्चा की थी जिसके साथ मैंने फिर इतिहास, साहित्य और भाषा को भी जोड़ने का प्रयत्न किया है। स्मृति ही वह गतिशील सर्जनात्मक तत्त्व है, जो काल, इतिहास, साहित्य और हाँ, भाषा के नये परिदृश्य रचती चलती है।

आधुनिक जीवन की प्रवृत्तियाँ स्मृति के परिदृश्य को लगातार छोटा करती जाती हैं। जिस वर्तमान में हम जीते हैं—जिसमें हमें जीने दिया जाता है, जीने को बाध्य किया जाता है—उसकी व्यस्तता लगातार इतनी बढ़ती जाती है कि हमें न स्मरण के लिए अधिक समय मिले और न हमारी चेतना ही उधर प्रवृत्त हो पाए। नए आविष्कार नयी माँगों को पैदा करने का काम करते हैं और नयी जानकारियाँ स्मृति को जड़ित करने का। तेजी से विकसित होते हुए संचार माध्यम इसमें भरपूर योग देते हैं : वे उपभोग को एक मूल्यवत्ता से मढ़ते हैं और सनसनी को आनन्द का पर्याय बनाते हैं। यह तो लक्ष्य कर लिया जाता है कि 'Public memory is very short,' लेकिन सार्वजनिक स्मृति का व्यास और भी छोटा होता जाए इसकी व्यवस्था में सभी आधुनिक संस्थान पूरी तरह लगे रहते हैं। कोई नहीं चाहता कि हमें कुछ भी याद रह जाए—क्योंकि कुछ याद न रहने पर ही यह सम्भव होता है कि प्रतिदिन जो-जो हमें बताया जाता रहे उसे हम स्वीकार करते चलें। वही 'वैज्ञानिक सत्य' होगा, वही 'ऐतिहासिक तथ्य' होगा, वही 'आधुनिक दृष्टि' होगी! उस सबको हम स्वीकार न भी कर पाएँ तो कम-से-कम स्मृति के लिए इतना अवकाश न पा सकें कि अतीत से उसकी तुलना कर सकें। भुला देने की—या याद न कर पाने की—अवस्था में हमें ले आने और बनाये रखने में संचार-साधन भरपूर योग दे रहे हैं, यह हमारे सामान्य दैनन्दिन अनुभव की बात है। ये साधन ही भाषा को दिन-ब-दिन

दरिद्रतर बनाते हैं—जो इसी प्रक्रिया का एक अंग है जिससे जानकारी बढ़ती है और विवेक की सम्भावना कम होती है। उसी तरह शब्दावली बढ़ती जाती है और शब्दों की सार्थकता की लगातार छिलाई होती जाती है। यन्त्रों के उपयोग की सांकेतिक भाषाओं का आविष्कार और विकास और यान्त्रिक अनुवाद की व्यवहारिक व्यवस्था इस प्रक्रिया को और गति देगी। और यह कैसे कहा जाए कि विकास हमें नहीं चाहिए?

भाषा के, अनुभव के, हमारी स्मृति के इस अनवरत दरिद्रीकरण के परिवेश में साहित्यकार का क्या कर्तव्य बनता है? अगर उस कर्तव्य को जानने-पहचानने का अवकाश वह अपने लिए निकाल भी लेता है तो वह क्या यह निर्णय भी कर सकेगा कि कितनी सम्भावनाएँ उसके सामने खुली हैं या वह खोल सकता है? 21वीं शती की देहरी पर खड़ा हुआ वह बीत गयी 20वीं शती के ऐतिहासिक अनुभव का क्या करेगा, यह प्रश्न तो बना ही है; वह उससे पहले की चालीस शतियों का भी क्या करेगा जिन्हें कम-से-कम इस देश का इतिहास अपनी परिधि से बाहर नहीं मान सका है? काल-गणना की सुविधा के लिए हमने भले ही ईसवी सन् अपना लिया है—अथवा सरकारी तौर पर शक संवत् अपना लिया है अथवा व्यापक सार्वजनिक रूप से विक्रम संवत् का व्यवहार करते हैं— प्रश्न असल में यह नहीं है कि हम इनमें से किस संवत्सर-गणना को प्रमुखता दें। प्रश्न यह है कि '21वीं शती की देहरी पर खड़े होने' के नाम पर हम जो बीस शतियों के इतिहास से बँध जाने को लाचार हो रहे हैं, हम उससे पहले की उन चालीस शतियों के इतिहास का क्या करें जो हमारे लिए अब भी उतनी ही आलोकित हैं क्योंकि हमारा सूर्य ईसवी सन् के आरम्भ-बिन्दु पर न उगकर उससे कहीं पहले उग आता है—कहीं पहले के युगों को भी प्रकाशित कर जाता है?

पश्चिमी पद्धति को—और हम यह भी क्यों भूलें कि अँग्रेज़ी भाषा के माध्यम से दी गयी?—शिक्षा के लिए यह स्वाभाविक होगा कि अमुक एक अवधि को 'ऐतिहासिक' माने, उसी आधार पर 'प्रागैतिहासिक' अथवा 'इतिहास पूर्व' युगों की अवधारणा करे और प्राचीनतर सब कुछ को 'पौराणिक' अथवा 'मिथकीय' वृत्तान्त के धुँधलके में डाल दिया जाए। क्या हमें बाध्य होकर 'ऐतिहासिक काल' की यही संरचना स्वीकार कर लेनी होगी?

फिर हमें यह भी स्मरण रखना है कि आरम्भ-बिन्दु के कारण काल की जो संरचना बनती है उसका प्रभाव बहुत आगे तक पड़ता चलता है, केवल अतीत पर ही नहीं पड़ता। 'ऐतिहासिक' और 'पौराणिक' की विभाजन-रेखा को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह रखने के आनुषंगिक परिणाम और भी होते हैं। पश्चिम की दृष्टि से भारत के इतिहास को देखने का एक परिणाम यह भी हुआ कि यहाँ

होनेवाले आन्दोलनों की जमीन भी हम यहाँ न खोजकर पश्चिम में खोजते हैं। रेल और तार की बात तो जाने दीजिए। यहाँ के राष्ट्रीय आन्दोलन भी इसलिए शुरू हुए कि पश्चिमी शिक्षा ने हमें स्वाधीनता का महत्त्व सिखाया, हममें लोकतन्त्रीय भावना जगायी! और भी आगे चलिए : हमारे राष्ट्रीयता आन्दोलन में भाग लेने, उसके कारण जेल की यन्त्रणाएँ भुगतनेवाले कवियों ने देश-प्रेम की कविताएँ इसलिए लिखीं कि उन्हें प्रेरणा वालटर स्कॉट से मिली, उस संघर्ष से नहीं जिसमें वे अनुक्षण जी रहे थे! यह उदाहरण मैं इसलिए दे रहा हूँ कि भारतीय साहित्यों के इतिहासों में ऐसा बताया गया मैंने पढ़ा है; नहीं तो ऐसी मूर्खता की बात उल्लेख योग्य भी न होती। एक और भी उदाहरण लीजिए-पढ़ी हुई पुस्तक से नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव से, इसी महान नगरी नयी दिल्ली के अनुभव से। गाँधी का नाम तो आपने सुना होगा? जब इसका आप क्या करेंगे कि इस नाम से आपको रिचर्ड एटनबरो की अँग्रेज़ी फिल्म याद आती है, उस महात्मा की नहीं जो हमारे ही बीच जिया, जिसने हमें सिखाया, हमें आदमी बनाया और जो हमारे बीच बलि हो गया?

निश्चय ही हमारे देश में (और उसी प्रत्यक्ष अनुभव में, यद्यपि इस महान नगरी में नहीं, अन्यत्र) वे भी हैं जो अपनी बेटियों को अवध में नहीं ब्याहना चाहते क्योंकि अयोध्यापति राम ने सीता मैया के साथ इतना अन्याय किया था। यहाँ भी स्मृति का एक परिदृश्य काम कर रहा है—यद्यपि बहुत लम्बा परिदृश्य। और ये दोनों परिदृश्य हमारे हैं, हमारे अनुभव से जुड़े हैं।

उस प्रबुद्धचेता को भी एक बार फिर स्मरण कर लूँ जिसका उल्लेख मैंने पहले किया। वह आपत्ति करेगा : यह स्मृति जिसकी मैं बात कर रहा हूँ— यह एक ऐतिहासिक व्यक्ति गाँधी और राम की है, या केवल रामायण नाम के ग्रन्थ की और दूसरी तरफ़ उस फिल्म की? मैं उस आपत्ति से हतप्रभ नहीं होता। बल्कि मैं कहूँगा, जब तक लोग ऐसी आपत्ति कर सकते हैं तब तक आशा की गुंजाइश है, क्योंकि पुस्तक में, साहित्य और काल में, रचनात्मक शब्द में आस्था ही तो इस आपत्ति में प्रकट होती है! वह आस्था हमारा सम्बल है।

हमारी स्मृति के परिदृश्य उस बिन्दु से बनते हैं जिस पर हम खड़े होते हैं। किसी भी देश का साहित्य उस देश के द्रष्टाओं द्वारा स्वीकृत और प्रतिष्ठापित परिदृश्यों को प्रस्तुत करता है—उनकी स्मृतियों का सर्जनात्मक सम्प्रेषण करता है। मैं तो स्वयं लेखक हूँ, लेखक होने के नाते दूसरे लेखकों से यह माँग नहीं करता कि वे सामने आकर घोषित करें कि वे कहाँ खड़े हैं, जैसे कि मैं किसी दूसरे का यह अधिकार ही मानता कि वह मुझसे ऐसी माँग करे। लेकिन हम जो कुछ लिखते हैं, वह जिस तक

पहुँचाना चाहते हैं, उस पर इस बात का प्रभाव अनिवार्यतया पड़ेगा कि हम कहाँ खड़े होकर, किस प्रकाश में रचना कर रहे हैं, वहाँ से स्मृति का कैसा परिदृश्य बनता है। स्मृतियाँ उसकी भी होंगी। क्योंकि भाषा उसकी भी है। उसका एक परिदृश्य भी पहले से होगा, जिसे हम अपने द्वारा प्रस्तुत परिदृश्यों से प्रभावित करेंगे। हमारी प्रामाणिकता की कसौटी का क्षेत्र यहीं है जहाँ ये परिदृश्य टकराते हैं—प्रामाणिकता उसके लिए भी और स्वयं हमारे अपने लिए भी।[1]

---

1 साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली में 'स्मृति के परिदृश्य' शीर्षक के अधीन दिये गये दो व्याख्यानों में से पहला व्याख्यान।

स्मृति और देश

'हम काल में जीते हैं' यह ऐसी स्वयंसिद्ध बात है कि इसे कहना अनावश्यक होता है। इसलिए जब यह कही जाती है तब श्रोता को यह शंका होती है कि क्या यह बात कहने में वक्ता का आशय कुछ दूसरा है—क्या यह वास्तव में वही नहीं कह रहा है जो कि वह कह रहा है बल्कि किसी दूसरे ही आशय से हमें अवगत कराना चाहता है? इसी बात को उलटकर कहें कि 'काल हममें जीता है'—और बात यों भी कई बार कही गयी है—तो श्रोता कुछ चौंकता है : यह काल के साथ एक-दूसरे के सम्बन्ध की प्रतिज्ञा है अथवा दूसरे प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न है। लेकिन काल, जिसमें हम जीते हैं अथवा जो हममें जीता है, वह है क्या? यह हम नहीं बता सकते। बल्कि जब प्रश्न पूछा जाता है तो अनुभव करते हैं कि हम उत्तर नहीं जानते। सन्त ऑगुस्तीन ने मर्म की बात कही थी जब उन्होंने कहा था कि 'जब तक यह प्रश्न नहीं पूछा जाता तब तक उत्तर मैं जानता हूँ, पर जब कोई पूछ बैठता है तब नहीं जानता।' काल वर्तमानता के रूप में, एक नैरन्तर्य अथवा सातत्य के बोध के रूप में, हमारी अनुभूति की चीज़ है; लेकिन अनुभूति सम्प्रेष्य नहीं है, हम उसका वर्णन ही कर सकते हैं। काल की हम परिभाषा करते हैं और हमारी हर परिभाषा काल की अवधारणा के लिए देश अथवा दिक् के आयाम का उपयोग करती है। काल की हमारी हर परिभाषा दिक्-सापेक्ष होती है; जैसे कि हमारी दिक् की परिभाषाएँ भी प्राय: काल-सापेक्ष होती हैं। यह कठिनाई हमारे गोचर अनुभवों की सीमा की कठिनाई है जो उन अनुभवों के वर्णन अथवा वृत्तान्त में प्रतिबिम्बित होती है। हमारे गोचर अनुभवों के संसार में दिक्काल के आयाम अलग नहीं किये जा सकते—सत्ता अथवा रिएलिटी का हमारा बोध एक दिक्काल-सातत्य में—स्पेस-टाइम कंटिन्युअम में—बनता है; दिक्काल के ताने-बाने से ही उसकी बनावट रची गयी है।

लेकिन जहाँ तक बोध का सवाल है—अपने अनुभव की सम्प्रेषण की चिन्ता से मुक्त निपट अनुभूति का सवाल—काल का हमें एक सहज बोध होता है। जिस काल में हम जीते हैं, जो काल हममें जीता है, दोनों ही उस सहज बोध का अंग होते हैं : हम अपने शरीर के प्रत्येक अवयव में भी इस दोहरी गति को सहज ही

पहचानते हैं। सत्ता के एक नैरन्तर्य का—भले ही अनुक्षण बदलते नैरन्तर्य का, 'हम थे—हम हैं' के एक सघन संश्लिष्ट सातत्य का सहज बोध हमें होता है। स्पष्ट है कि हमारी स्मृति यहाँ काम कर रही है। कोई इस बात को यों कहना चाहे कि सातत्य के इस बोध का ही नाम तो स्मृति है, तो फिलहाल काल-बोध और स्मृति के सम्बन्ध में हेतु और हेतुमत् का विवाद उठाना अनावश्यक होगा।

लेकिन काल के सहज-बोध की भाँति दिक् का भी कोई सहज बोध होता है? काल-सातत्य अथवा नैरन्तर्य की भाँति क्या दिक्-सातत्य अथवा विस्तार भी हमारे सहज बोध का एक अंग है?

जब हम यह कहते हैं कि दिक् और काल एक-दूसरे से ऐसे जुड़े हैं कि उनकी अलग परिभाषा भी नहीं की जा सकती, अथवा जब वह आग्रह करते हैं कि चार आयामों वाले दिक्काल-सातत्य की बात करना ही संगत है, तब हमने निहित रूप से यह मान लिया होता है कि दिक् का भी एक सहज-बोध अथवा प्रातिभ ज्ञान हमें होता है। 'हम हैं', यह कहने में ही हम न केवल अपने काल-गत अस्तित्व के बारे में एक दावा कर रहे होते हैं वरंच अपनी भौतिक सत्ता का भी एक दावा कर रहे होते हैं—दिक् के आयाम में भी अपने को प्रतिष्ठापित कर रहे होते हैं।

लेकिन नैरन्तर्य अथवा विस्तार का बोध करनेवाले हम 'मैं' को लेकर बहुत सी कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। 'यह शरीर जो मैं हूँ', 'यह शरीर जो मेरा है'—इन दोनों पदों में प्रकट होनेवाला 'मैं' क्या एक ही है? 'मैं', 'मेरा' हूँ, यह कहने का क्या मतलब होता है? इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं देने जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि वह करने का प्रयत्न बर्र के छत्ते में हाथ डालने जैसा है। फिर भी ऐसा प्रश्न उठा देना इसलिए भी उपयोगी मानता हूँ कि उससे कुछ दूसरे क्षेत्रों के कुछ दूसरे प्रश्नों का उत्तर तो हमें मिल ही जाता है अथवा कम-से-कम जिज्ञासा का क्षेत्र स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। भौतिक शरीर को इन दो सम्बन्धों में रखकर देखने के प्रयत्न का एक लाभ यह होता है कि विस्तार के सहज-बोध का एक आधार हमें मिल ही जाता है। इस शरीर की, जो 'मैं' हूँ या जो 'मेरा' है, पहुँच कितनी है, इसका हमें एक सहज अनुभव होता है और वह हमारे दिग्बोध का एक आधार है। जैसे 'मैं' वह हूँ जिसकी मुझे स्मृति है, 'मैं उतना हूँ जितना मुझे स्मरण है', यह हम काल के आयाम में कहते हैं, उसी प्रकार मैं 'वह विस्तार या देश हूँ जहाँ मैं हूँ, मैं उतना हूँ जितनी जगह मैं घेरता हूँ'—यह हम दिक् के आयाम में कह सकते हैं। काल-सातत्य में हमारा टिकाव है, दिक्सातत्य हमारी पहुँच है। अगर इस पहुँच के कुछ स्थूल भौतिक रूप हैं और कुछ क्रमशः सूक्ष्मतर होते जाते हैं, तो पहुँच के इन विविध प्रकारों को एक क्रम में रखना भी हमारे लिए सम्भव हो जाता है, भले ही उस क्रम के विभिन्न पदों के सम्बन्धों को हम पूरी तरह न समझ पाते हों। मैं हाथ बढ़ाकर

कलम उठा सकता हूँ, अथवा बिजली का बटन दबाकर कमरे में प्रकाश कर दे सकता हूँ; यह विस्तार का एक प्रकार का बोध है। लड़के ढेला मारकर फल गिरा सकते हैं, या शैतानी पर उतारू होने पर किसी के घर के शीशे तोड़ सकते हैं, यह विस्तार का दूसरे प्रकार का बोध है। एक अन्तरिक्षयान यहाँ से छोड़ा जाकर इतने अर्से के बाद किसी ग्रह तक पहुँचेगा जो इस समय हमारे सामने की दिशा में नहीं है और जो स्वयं निरन्तर चक्कर काट रहा है, यह विस्तार का एक तीसरी कोटि का बोध है। यह कहना काफ़ी नहीं है कि इनका अन्तर केवल मात्रा का—छोटी और बड़ी का—अन्तर है : एक गुणात्मक अन्तर भी है। लेकिन प्रत्येक कोटि के बोध में हमारी स्मृति का कितना और कैसा योग है, इस प्रश्न को लेकर कठिनाई हो सकती है। उस कठिनाई का केवल संकेत करके छोड़ दें और एक दूसरे प्रकार के दिग्बोध की बात करें। शिशु माँ की गोद में अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। गोद से उतरकर थोड़ी दूर पर खेलता है तो भी सुरक्षा का भाव वैसा ही बना रहता है। कुछ और दूर हटकर, ऐसी जगह पहुँचकर भी जहाँ से माँ उसे नहीं दीखती, वह अपने को उतना ही सुरक्षित अनुभव करता है। माँ भी बच्चे के अदृश्य होने पर भी उसके बारे में चिन्तित नहीं होती। लेकिन एक दूरी ऐसी आती है जिस पर बच्चा एकाएक असुरक्षा का अनुभव करता है। ऐसा भी सम्भव है कि वहाँ से उसे माँ दीख भी सकती हो, फिर भी मानो माँ से मिलनेवाली सुरक्षा की परिधि के वह अपने को बाहर पाता है—सुरक्षा का वह सूत्र मानो टूट गया होता है। माँ की ओर से भी ऐसी बात हो सकती है—एक दूरी के बाद वह बच्चे के बारे में एकाएक चिन्ताकुल हो उठे। विस्तार का यह बोध कैसा है? सहज दिग्बोध का यह कौन-सा आयाम है जिसके साथ सुरक्षा-असुरक्षा का भाव जुड़ा हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं जानता। अनेक प्रकार के वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक अथवा वैज्ञानिकता का आभास देनेवाले अनुमानों की बात जानता हूँ। और यह मानता हूँ कि जिस अनुभव की बात मैं कर रहा हूँ उसे हम सभी ने लक्षित किया होगा।

क्योंकि वह अनुभव हम सभी का परिचित है, इसलिए मेरा विश्वास है कि यह बात भी हम सब स्वीकार कर लेंगे कि यह सहज-बोध कहीं-न-कहीं हमारी—अर्थात् हमारे उदाहरण की माँ और बच्चे की—स्मृति से जुड़ा है। विस्तार की एक सहज स्मृति है। हमारी स्मृति में विस्तार का— दिक् के आयाम का एक सहज बोध है जिसके साथ हम आत्यन्तिक रूप से जुड़े हैं। वह बोध तभी नष्ट होता है जब स्मृति नष्ट होती है—अर्थात् जब व्यक्तित्व नष्ट हो गया होता है।

दिक् का यह आयाम हमारी सत्ता के साथ जुड़ा है।

जिस तरह काल की प्रतीति को हम जिस ढाँचे में रखते हैं—अथवा इसे उलटकर यों भी कह सकते हैं कि काल के जिस ढाँचे में हम काल की निजी प्रतीति को और अपने वर्तमान को रखते हैं— वह हमारे सारे इतिहास को और अपनी ऐतिहासिक स्थिति की समझ को प्रभावित करता है, उसी प्रकार दिक् की जिस संरचना में हम अपने को रखते हैं उसी से हमारा सारा भूगोल निर्धारित होता है और फलत: दिक्काल सातत्य में हमारी अवस्थिति भी निर्धारित और निरूपित होती है। कहने को तो हम कह सकते हैं कि दिक् का विस्तार एक वैज्ञानिक वास्तविकता है, भले ही उसका एक पौराणिक प्रतिरूप भी हो—कि यह पौराणिक प्रतिरूप केवल काल्पनिक या मिथकीय अस्तित्व रखता है। वस्तुत: दिक् के इस आयाम को 'पौराणिक' या 'मिथकीय' कह देने मे उसकी यथार्थता और उसकी प्रभावशीलता नष्ट नहीं हो जाती; हम केवल यथार्थ के एक-दूसरे आयाम की अवधारणा कर रहे हैं जो हमें उतनी ही व्यापकता से प्रभावित करता है।

जिस प्रकार काल की संरचना वर्तमान के उस बिन्दु से आरम्भ होती है जिस पर हम खड़े होते हैं—हमारा कालिक परिदृश्य वहीं से आरम्भ होता है—उसी प्रकार हमारी दिक् की संरचना भी उसी बिन्दु से आरम्भ होती है जिस पर खड़े होकर हम आसपास देखते हैं। दिग्विस्तार में हम खड़े हुए हैं, यह वैज्ञानिक सत्य भी है और पौराणिक भी; किन्तु ये दो अलग-अलग प्रकार के दिग्विस्तार हैं जिनके केन्द्र में हम अपने को रख रहे होते हैं। कहा जा सकता है कि वह 'हम' भी दो अलग-अलग प्रकार के आत्मबोध से सम्बन्ध रखता है।

विज्ञान के दिग्विस्तार को हम कई तरह से देख सकते हैं और वैज्ञानिक आवश्यकतानुसार ऐसा करते भी हैं। वैश्विक दिग्विस्तार को सूर्य-केन्द्रित परिदृश्य में भी देखा जा सकता है और दूसरी ओर (यह बात ध्यान में रखते हुए कि हमारे सौर-मंडल जैसे और भी अनेक सौर-मंडल आकाश में बिखरे हुए हैं) इस वृहत्तर विस्तार के किसी दूसरे केन्द्र की अवधारणा की जा सकती है। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि एक बहुकेन्द्रिक विस्तार की बात की जाए। ठीक उसी प्रकार पौराणिक अथवा मिथकीय दिग्विस्तार के बारे में भी कहा जा सकता है। यहाँ भी देखनेवाली एक चेतना केन्द्र में है। लेकिन 'किसके केन्द्र में? इसके एक से अधिक उत्तर हैं—इसके बावजूद कि एक सामान्य उत्तर हर हालत में बना रहता है कि 'मैं दिग्विस्तार के केन्द्र में हूँ' अथवा 'दिग्विस्तार वह है जिसके केन्द्र में मैं हूँ।''

'मैं यह शरीर हूँ जो कि मैं हूँ।'

'मैं इस शरीर में हूँ जो मेरा शरीर है।'

'मैं दिग्विस्तार में एक जगह भरता हूँ, वह मैं हूँ अथवा वह मेरी है।'

'जम्बू द्वीपे भरतखंडे'— विभिन्न अनुष्ठानिक अवसरों पर संकल्प पढ़ते

समय हम अपने को काल के एक बिन्दु पर प्रतिष्ठापित करते हैं—'मासानाम् मासोत्तमे अमुक मासे अमुक वासरे' इत्यादि और उसके साथ-साथ दिक् में भी विशेष बिन्दु पर स्थापित कर रहे होते हैं। अनुष्ठानिक रूप में मिथकीय दिग्विस्तार में खड़े होने के कारण ही सारा विश्व ब्रह्मांड हमारे संकल्प का साक्षी हो जाता है। दिक् संरचना के ये अनेक रूप हैं जिनका विस्तार अलग-अलग ढंग से अथवा अलग-अलग आयामों में होता है लेकिन प्रत्येक संरचना के केन्द्र में वही एक चेतना होती है जिसे हम 'मैं' की संज्ञा देते हैं। इन अवधारणाओं की अर्थवत्ता और शक्तिमत्ता को ध्यान में रखते हुए यह कहना उचित नहीं है कि दिक् संरचना के ये आयाम मिथकीय हैं, इसलिए काल्पनिक हैं, इसलिए मिथ्या हैं। ये सब उतने ही मिथ्या हैं अथवा सत्य हैं जितना हमारा अनुभव, हमारे अनुभवों की हमारी स्मृति, और संचित स्मृतियों के आधार पर बना हुआ हमारा आत्मबिम्ब। अनुभव और अनुभव की स्मृति के साथ दिग्बोध को जोड़ने का स्पष्ट आशय यह तो है ही कि दिक्संरचना का एक मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक आयाम है। दूसरे शब्दों में हम भीतरी, मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक देश की भी अवधारणा कर सकते हैं। 'मैं' वह (या उतना) दिग्विस्तार हूँ जिसे मैं भरता हूँ—यह वाक्य भी जैसे भौतिक अथवा भौगोलिक स्तर पर अर्थ रख सकता है वैसे ही इसका एक मानसिक मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक आयाम भी है। पक्षी घोंसला बनाते हैं तो स्थूल सीमाओं के घेरे के भीतर चक्कर काट-काटकर एक सूक्ष्म दिग्विस्तार की रचना कर लेते हैं और शायद यह सूक्ष्म संरचना ही पक्षी का असली घोंसला होती है। (या पक्षी का असली घोंसला वह होता हो या न हो, मनुष्य जब घोंसले की अवधारणा करता है तब इस सूक्ष्म संरचना को ही अधिक महत्त्व दे रहा होता है और वह सूक्ष्म संरचना ही रूपक का आधार बनती है, नया मुहावरा देती है, भाषा को समृद्ध करती है।) अनेक चौपाये भी विश्राम के लिए बैठने से पहले चक्कर काटकर एक सूक्ष्म घेरे की रचना करते हैं जो उनके विश्राम स्थल का घेरा होगा, और तभी उसके भीतर बैठते हैं। जिस प्रकार पशु-पक्षी दिग्विस्तार में एक 'अपने' देश की रचना करके उसमें बसते हैं उसी प्रकार मानव प्राणी भी करता है। एक सूक्ष्म देश रचना की इस प्रवृत्ति का एक पक्ष ऐसा है जो समूची मानव जाति को व्यापता है, दूसरा पक्ष विभिन्न संस्कृतियों से अलग-अलग ढंग से प्रभावित होता है और जो रचना है उसे हम सांस्कृतिक देश अथवा दिक् कह सकते हैं। मानव शरीर को ही एक भौतिक इकाई अथवा सूक्ष्म जीव के आवास के रूप में देखने के जो परिणाम होते हैं उनकी ओर संकेत हो ही चुका है। दिक् संरचना का क्रम शरीर के बाहर भी वृत्त रचता चलता है। गरीब-से-गरीब भारतीय व्यक्ति भी अपने शरीर को स्वच्छ रखने का प्रयत्न करता है, भले ही नहा लेने के बाद वह फिर कपडे मैले ही पहन ले। भारतीय

गृहिणी घर-आँगन की सफाई करती है और कूड़ा बाहर गली में फेंक देती है। आधुनिक प्रभाव को छोड़ दें तो बाहर से आनेवाला व्यक्ति जूते बाहर उतारकर घर में प्रवेश करता है जिससे घर की स्वच्छता दूषित न हो। दूसरी ओर, पश्चिम का व्यक्ति कपड़े साफ पहनना चाहता है लकिन शरीर की सफाई के प्रति बहुधा बड़ी उपेक्षा बरतता है जो सदैव निर्धनता के कारण नहीं होती। गली और सड़क और घर के समूचे बाहरी परिदृश्य की स्वच्छता की इसे बहुत चिन्ता रहती है। पर घर के भीतर बर्तन कई-कई दिन तक जूठे पड़े रह सकते हैं। ऐसे ही और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस सूक्ष्म दिक् संरचना की बात मैंने कही है वह कहाँ तक संस्कृति से प्रभावित होती है। यह दोहराने की तो आवश्यकता न होनी चाहिए कि सूक्ष्म अथवा आभ्यन्तर देश की रचना के साथ हमारा जो सम्बन्ध है वह हमारे स्थूल परिदृश्य को भी अनिवार्यतया प्रभावित करता है क्योंकि देश की जिस संरचना के केन्द्र में हमारी चेतना होती है उसके सूक्ष्म और स्थूल रूपों में निरन्तर संवाद और सम्प्रवाह बना रहता है। सांस्कृतिक अथवा पौराणिक देश के लिए युद्ध लड़े जाते हैं—बल्कि युद्ध अधिकतर उसी के लिए लड़े जाते हैं और उसी से युयुत्सा भी प्रेरणा पाती है : स्थूल भू-विस्तार तो एक निमित्त बना जाता है। दूसरी ओर, देश छोड़ने को बाध्य हो गयी जातियाँ नये देश में अपनी पुरानी सांस्कृतिक दिक्-संरचना की पुन: प्रतिष्ठा कर लेती हैं—एक ओर अयोध्या अथवा काशी बन जाती है, एक नया कैलाश पर्वत अथवा वृन्दावन बन जाता है—और इस प्रकार अपने विस्थापन में अपने को फिर से स्थापित कर लेती है, अपनी 'जमीन' से अपने को 'उखड़ने' नहीं देती. .

अस्मिता की यह पुन: प्रतिष्ठा सत्ता-बोध के साथ जुड़ी है, और स्मृति ही उसका आधार है।

सत्ता और स्मृति। स्मृति और कल्पना। कल्पना और बिम्ब। स्मरण, कवन और कल्पन। यह असम्भव नहीं है कि शास्त्र-ज्ञान का किसी तरह का कोई प्रकट या निहित दावा किये बिना इन शीर्षकों के या ऐसे किसी शीर्षक के निमित्त से केवल कविता अथवा रचना की भूमि पर खड़े होकर बात की जाए। लेकिन वैसा करने पर भी एक व्यावहारिक प्रश्न सामने आता है। वैसे विचार के लिए कदाचित् अधिक उपयोगी यही हो कि काव्य से—रचनात्मक साहित्य से—कुछ उदाहरण पहले लिये जाएँ और उन्हीं को आधार बनाकर सामान्य स्थापनाओं की ओर बढ़ा जाए। किन्तु इस पद्धति को व्यावहारिक मानकर भी आज ऐसे अवसर पर और ऐसे समाज में, उसकी उपादेयता का भरोसा नहीं कर पाता। क्योंकि इस समाज के वैदुष्य और

उसकी सहृदयता को स्वीकार करते हुए भी निश्चयपूर्वक यह नहीं सोच सकता कि उदाहरण के लिए सामग्री किस साहित्य से या कौन-कौन-से साहित्यों से ली जा सकती है। बहुभाषी समाज के भाषा-संस्कार तो अलग-अलग होंगे ही, उनके स्मृति भंडार भी अलग-अलग होंगे। निश्चय ही बहुत-सी समान सामग्री भी उनमें होगी, लेकिन उसकी उपस्थिति का भी मैं अनुमान ही कर सकूँगा। इसलिए उस सम्भाव्य व्यावहारिकता को मानकर भी मुझे दूसरा ही रास्ता पकड़ना अधिक उपयोगी जान पड़ता है—सामान्य विचार और स्थापनाओं का रास्ता, जिस पर कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनके बारे में विश्वास किया जा सकता हो कि वे विभिन्न भाषा-समाजों से परिचत होंगे।

उपनिषदों में एक अनोखे पेड़ का उल्लेख किया गया है जिसकी जड़ें ऊपर को फैली हैं और जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर बढ़ती हैं। यह ऊर्ध्वमूलमध:शाखा वृक्ष क्या केवल एक रूपक है, अथवा हमारे अनुभव से इसका कोई गम्भीरतर सम्बन्ध भी है? अनुभव से सम्बन्ध है तो स्मृति से भी सम्बन्ध है। लेकिन स्मृति का एक स्तर यह है कि वृक्ष होता है जिसकी जड़ें और शाखाएँ होती हैं—जड़ें नीचे रसवती वसुन्धरा धरती की ओर फैलती हैं और शाखाएँ ऊपर प्रकाश से भरे अन्तरिक्ष की ओर। इससे आगे कल्पना इस स्मृति-बिम्ब को उलटकर यह अनोखा पेड़ रच रही है। लेकिन क्या वह अनोखा पेड़ केवल एक अवधारणा है, केवल एक रूपक है? क्या वास्तव में यह अनोखा उलटा पेड़ ही हमारे अधिक गहरे अनुभव का अंग नहीं है? क्या उलटे वृक्ष का यह बिम्ब भी कल्पना-प्रसूत न होकर हमारी स्मृति का ही अंग नहीं है? अर्थ-विस्तार के लिए हम इस उलटे वृक्ष के रूपक को लेकर कल्पना को चाहे जितनी छूट दें, क्या कहीं पर यह बिम्ब मानवीय अस्तित्व के आरम्भ का एक स्मरण-बिम्ब नहीं है? क्या भ्रूण की स्थिति ऐसे ही 'ऊर्ध्वमूलमध:शाखा' वृक्ष की नहीं है जिसे पोषण देनेवाली 'भूमि' ऊपर है और जिसे विस्तार का अवकाश देनेवाला 'आकाश' नीचे है? एक अवस्थिति की प्राक्तन समृति इस उलटे पेड़ के बिम्ब में संचित है; एक दूसरे प्रकार की अवस्थिति के अनेक बिम्ब भी हम संचित करते हैं जिनमें पेड़ सीधे उगे होते हैं, उनकी जड़ें और उन्हें पोषण देनेवाली भूमि नीचे होती है और उन्हें विस्तार का अवकाश देनेवाला आकाश ऊपर होता है। और इन दो विपरीत बिम्बों को जोड़नेवाले—उनमें एक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव स्थापित कर देनेवाले—एक पेड़ को भी हम देख पाते हैं, प्रत्यक्ष भी और प्रस्तर-मूर्तियों में अंकित भी, और यह न्यग्रोध वृक्ष भी हमारी स्मृति में बस जाता है। कवि के लिए वह फिर प्रतीकन और कल्पना के नये मार्ग खोल देता है। लेकिन स्मृति की महत्ता

इसी में नही है। उसका वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि वह 'ऊपर', 'नीचे' और 'मध्यवर्ती' का एक अमिट बोध हमें देती है—ऊर्ध्वाधरता अथवा अनुलम्बता का, दिक् की संरचना के हमारे ज्ञान का आधार बनाती है। जापानी भाषा में मानव की संज्ञा का अर्थ ही होता है मानवी मध्यवर्ती—अर्थात वहाँ ऊर्ध्वाधर के, वर्टिकैलिटी के, इस बोध को ही मानवीयता की परिभाषा का आधार बना दिया गया है। ऊर्ध्व और अधर के सीधे और उल्टे का यह बोध एक तरफ हमारे गोचर अनुभवों की आधार-भित्ति है और दूसरी तरफ हमारी सर्जनात्मक कल्पना की।

दिक् की संरचना के इस आधारभूत बोध के साथ उस संरचना की समझ के और भी पक्ष जुड़ते जाते हैं। स्थिरता का बोध जगानेवाला चौकोर प्रकोष्ठ जो धरती अथवा पृथ्वी का प्रतीकन करता है—लेकिन प्रकोष्ठ का प्रतीक-रूप पाने से पहले वह घर के एक आदिम बिम्ब के रूप में हमारी चेतना का अंग बनाती है। इस आदि बिम्ब का ही फिर विस्तार होता है : हमारी स्मृति, हमारी कल्पना हमारी बुद्धि सभी उसी आधार-बिम्ब के ऊपर अपने-अपने ढंग की इमारत खड़ी करते हैं, प्रतीक रचते है और संकेतों का आविष्कार करते हैं। घर का अथवा कुटीर का बिम्ब स्थिरता और सुरक्षा का ही बिम्ब नहीं है; वह ऊपर और नीचे, ऊर्ध्व और समतल के हमारे बोध का भी आधार है। घर है तो 'भीतर' और 'बाहर' भी है। और घर है तो छत भी है और तलघर भी। और अनन्तर छत से ऊपर के प्रासाद भी हैं और भू तल से नीचे के पाताल-लोक भी। प्रश्न उठ सकता है कि इनकी चर्चा करते हुए क्या हम स्मृति शक्ति की बात कर रहे हैं अथवा कल्पना-शक्ति की? लेकिन मैं पहले भी यह कह चुका कि स्मृति के बिना कल्पना नहीं है। और यह भी है कि कल्पना में भी हम जो लोक रचते हैं—और कल्पना अनवरत क्रियाशील रहती है– वे हमारे रचे हुए लोक भी हमारी स्मृति का अंग बनते चलते हैं। इसी प्रकार हमारे स्वप्न और हमारे दिवास्वप्न हमारी स्मृति का कोश विकसित करते चलते हैं और नयी कल्पनाओं की सम्भावनाओं की रचना करते चलते हैं। स्मृति के भंडार को भी समृद्धतर करते चलते हैं और उससे किसी बिम्ब का आह्वान करने के अपने साधन-अपनी शब्दावली को भी बढ़ाते चलते हैं। साथ-ही-साथ हमारे स्वप्न और दिवास्वप्न वास्तविकता को अथवा यथार्थ को नापने-कूतने और समझने के हमारे साधनों को और हमारे सामर्थ्य को बढ़ाते चलते हैं।

ऊपर, नीचे और मध्य। स्थिर और सुरक्षित। घर के ये अन्तर-ग्रथित और परस्परभेदी स्मृति-बिम्ब हमारे विश्व की संरचना के आधारभूत बिम्ब हैं। छत और तलघर की बात मैंने अभी कही; लेकिन दुर्ग, गढ़, नगर, ग्राम, दुर्ग-द्वारका और पूरयोध्या अथवा अयोध्या की रचना का आरम्भ भी यहीं से होता है। कुटीर की आधारभूत स्मृति की शक्ति की इन सबकी कल्पना का भी आधार बनती है और

उनकी संरचना, उनके निर्माण का आधार भी। और क्योंकि ऊपर और नीचे, भीतर और बाहर की अवधारणा हमारी स्मृति के इस कुटीर के साथ आधारभूत रूप से जुड़ी हुई है, इसलिए हम अपनी देह को भी अपने दुर्ग के रूप में देख सकते हैं—अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या अथवा हाउस ऑफ गॉड—और सारे विश्व-ब्रह्मांड को अपने एक आवास अर्थात घर के रूप में भी पहचान सकते हैं—यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

और हम भरे-पूरे आवासित दिक् को भी जान लेते हैं जो हमारा संसार है, और उस महारिक्त को भी जान लेते हैं जो कि आज विज्ञान का दिक् अथवा आकाश है—एम्प्टी स्पेस—लेकिन जिसे हम 'शून्य' कहते हैं, अर्थात रिक्त नहीं बल्कि वह जो रिक्त को भरता है, जैसे छत्ते को मधु भरता है; जो स्वयं निरालोक है लेकिन जिसमें ही पड़कर जो कुछ चमकता है, वह चमकता है।

मैंने चौखूँटे प्रकोष्ठ को आदिम घर अथवा कुटीर कहा है और फिर दुर्ग और नगर के विस्तार की बात की है। जब तक यह घर एक कुटी है तब तक उसकी छत और उसका फर्श दिक् की हमारी संरचना में कुछ और स्थान रखते हैं। और उनकी स्मृति के स्रोत उस घर-कुटीर से भी जुड़ते हैं जिसमें जन्म हुआ, उससे पहले की गर्भस्थ अवस्था में भी। दिवास्वप्न उस स्मृति के द्वार खोलता है और वहाँ के रचनाकार की कल्पना नयी सृष्टि पाती है। दुर्ग और नगर और अनेक मंजिलोंवाली इमारतें हमारी दिक्-संरचना को नया विस्तार देती हैं पर साथ ही उसे विकृत भी करती हैं। शहर के घर में छत के ऊपर आकाश नहीं होता, दूसरे घर का फर्श होता है। नीचे भी बहुधा जमीन नहीं होती बल्कि दूसरे घर की छत होती है। मनुष्य ऊर्ध्वाधरता के आयाम में तो रहता है, पर दूसरे मनुष्यों के सिर पर सवार होकर या उनके पैरों के नीचे दबा हुआ। विकृति का और भी महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि जहाँ कुटीर के साथ एक द्वार अथवा झरोखा और उसमें टिमटिमाता दीये का प्रकाश होता है—एक समग्र बिम्ब जिसमें सुरक्षा भी है और आशा भी—वहाँ शहरी स्थिति में उसका स्थान अनेक प्रकार के विकृत और विखंडित बिम्ब ले लेते हैं। अकेलेपन के बोध के लिए गुंजाइश कुटीरवाली आदिम स्थिति में भी रहती है : दूर प्रकाशित झरोखेवाले कुटीर को देखती हुई चेतना उस सूने विस्तार का भी अनुभव करती है जिसमें वह अकेली है :

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के
विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया,

लेकिन फिर भी उस अकेलेपन में उस कुटीर के साथ उस चेतना का सम्बन्ध

आश्वस्ति का सम्बन्ध रहता है। शहर का कमरा वैसे आश्वस्ति भाव के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता। शहर के कमरे की ओर ताकती हुई चेतना अपने को अकेला पाती है तो वह अकेलापन सूने खुले विस्तार का अकेलापन नहीं होता बल्कि एक सुरंग का अथवा बोगदे का अकेलापन होता है।

गाँव-घर और शहर-घर की बात हो रही है तो वह भी संकेत कर दिया जाए कि शहर का घर जब बोगदे का रूप ले लेता है तो दिक् के साथ कोई धनात्मक रिश्ता बनने की सम्भावना नहीं रहती। दूरी वहाँ है, चलना भी वहाँ है, लेकिन सफर के अन्त में साथ जुड़ा हुआ आश्वासन अथवा उपलब्धि का भाव नहीं है। अकेलापन है, वीरानगी है, वंचित किए गये होने का भाव है, प्रति हिंसा है— एक लक्ष्यहीन अन्धी जिज्ञासा है। दूसरी ओर कुटीर का झरोखा मानो कुटीर की आँख है, अपलक बाट जोहती हुई आँख। कह सकते हैं कि इस प्रकार बोगदा भी और कुटीर भी जितने दिक् के बिम्ब हैं उतने ही काल के भी; लेकिन एक में काल सूखा और विर्जाड़ित है, दूसरे में रससिक्त और स्पन्दनशील।

देश की संरचना और उसका विकृतियों—विसंगतियों की जिनकी बातें मैं कह रहा हूँ, सभी के उदाहरण प्रभूत मात्रा में समकालीन साहित्य में मिल जाएँगे, जैसे कि आधारभूत बिम्बों के उदाहरण संस्कृत और अपभ्रंशों के साहित्य में। ग्राम चेतना और नगर-बोध और महानगर-चेतना की समकालीन बहसें भी उनके साथ जुड़ जाएँगी।

इस बात की ओर भी संकेत किया जा सकता है कि जिस ऊर्ध्वाधर अथवा अनुलम्ब संरचना का उल्लेख मैंने पहले किया उसकी अवधारणा भी दिक् तक सीमित नहीं रहती बल्कि काल की भी एक संरचना हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। 'ऊपर', 'बीच' और 'नीचे' (या उपनिषद के अनोखे वृक्ष को सामने रखते हुए प्रतीप क्रम से नीचे, मध्य में और ऊपर, भूः भुवः स्वः) दिक् संरचना से विचलित होकर काल-संरचना में भविष्य, वर्तमान और अतीत, 'आगे', 'यहाँ' और 'पीछे' मे परिवर्तित हो जाते हैं। वास्तव में तो यह एक समान्तर संरचना नहीं है बल्कि उस दिक्काल सातत्य के बारे में ही दो तरह के बयान हैं जिसकी बात मैंने पहले भी की थी : अन्ततोगत्वा तो दिक् और काल एक अविभाज्य संरचना के ही अंग हैं।

मुझे कदाचित् आतंकित होना चाहिए कि अब तक की चर्चा में मैंने कितनी विधाओं, कितने शास्त्रों के क्षेत्र में हाथ डाला है जिनमें किसी की भी विधिवत् दीक्षा मुझे नहीं मिली है, किसी का कोई ज्ञान मुझे नहीं है। 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' और 'फूल्स रश इन ह्वेयर एंजेल्स फियर टु ट्रेड' की व्यंजनाओं में बहुत दूरी नहीं होती! लेकिन कवि जब किसी सहज अथवा प्रातिभ ज्ञान के प्रति खुले रहने का दावा करता है, अथवा दावा नहीं भी करता तो ऐसा विश्वास रखता है

कि ऐसे खुलेपन में ही वह समय-समय पर उस दिव्य आलोक का संस्पर्श पा सकेगा जिसमें ही सर्जना-कर्म होता है, तब वह यह भी मान लेता है कि समय-समय पर उसके द्वारा ऐसे अनधिकृत काम भी होते रहेंगे!

मैंने कहा कि मुझे शायद आतंकित होना चाहिए, लेकिन आतंकित मैं हूँ नहीं। क्योंकि आलोक के क्षणों में जो परिदृश्य खुल जाते हैं उन्हें किसी शास्त्र-सम्मत व्यवस्था में जुड़ने का काम कवि का नहीं है। वह काम तो शास्त्रों का है। कवि को मिलनेवाले आलोक को भी मैंने दिव्य इसीलिए कहा है कि वह स्मृति का आलोक है और वह स्मृति तर्कातीत है। स्मृति के परिदृश्य इतिहास के परिदृश्य नहीं हैं बल्कि इतिहास से मुक्ति के परिदृश्य हैं। वह दिव्य प्रकाश तथ्यों को मूल्यों से वेष्टित करता है; यदि हम उन मूल्यों को नकारते अथवा मिटा देते हैं तो उन तथ्यों का भी कोई अस्तित्व नहीं रहता। कवि के लिए यह मुक्त करनेवाला मूल्य ही केन्द्रीय तत्व है और उसी के आस-पास सारा संसार घूमता है। कवि के लिए दिक्काल की बाहरी संरचना दिक्काल के एक आभ्यान्तर बोध का आवेष्टन है अवश्य ही इन दोनों संरचनाओं में एक अभिन्न और परस्पर भेदी सम्बन्ध है; बाहरी संरचना कबीर की 'झीनी चदरिया' नहीं है जो उतारकर 'जस की तस धर दी' जा सकती है : जैसे कि भीतर की संरचना भी केवल बाहर की संरचना की एक उपज नहीं है। कवि की इन उद्भावनाओं में कभी अन्तरविरोध भी होता है तो वह उससे हतप्रभ नहीं होता, भले ही वह वाल्ट ह्विटमैन की तरह ललकारकर यह न कह दे कि 'मुझमें अन्तरविरोध है तो क्या हुआ, मैं विराट हूँ और समूहों को अपने में समोए हूँ।'

विराट का यह बोध ही सर्जनात्मक स्मृति का एक महत्त्वपूर्ण परिदृश्य है। कवियों के विराट्-दर्शन के वृत्तान्त उस प्रकार सुरक्षित नहीं रखे जाते जिस प्रकार पुराण-पुरुषों के अथवा धर्मगुरुओं के विराट्-रूप-दर्शन के वृत्तान्त रखे जाते हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कवि को जब ऐसी झाँकी मिलती है तो वह ऐसा नहीं मान लेता कि उसने सम्यक् सत्य का अन्तिम स्वरूप देख लिया है अथवा उसे शब्दों में बाँध लिया है; फिर वह प्रभाव उसमें सदैव बना भी नहीं रहता। दिव्य आलोक उस दीवाने को जब-तब छूता है, पर फिर उसकी धारा आगे निकल जाती है। महाप्रभु चैतन्य ने सागर में एक विराट् रूप का दर्शन किया था जो उनके प्रिय का रूप था और जिसमें उन्होंने लय हो जाना चाहा था। भगवान बुद्ध ने एक-दूसरे विराट् का दर्शन किया था जिससे उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई थी; यह विराट् रूप भी एक तरह से अन्तिम सत्य का ही रूप था यद्यपि तथागत का यह आदेश था कि उस सत्य को जो कोई देखे अपने ही प्रकाश में देखे, उनके उपदेश में श्रद्धा के सहारे नहीं : 'अप्प दीपो भव।' आत्म-दीप कवि भी होता है, और कदाचित् उसके दीप की लौ से असंख्य दूसरे दीयों की बत्तियाँ आग पकड़ती हैं। लेकिन कवि का

विराट् दर्शन अन्तिम नहीं होता। शायद यह कहना भी अन्याय न हो कि कवि का विराट दर्शन होता भी नहीं : वह विराट के स्वरूप को नहीं देखता बल्कि केवल यह बोध प्राप्त करता है कि विराट है—और वह भी जब-तब, विरल क्षणों में। इसी बोध का प्रकाश उसके शब्द को दीप्त कर जाता है और उसकी भाषा को अपूर्वानुमेय बना जाता है। भाषा एक सामाजिक समय है; समाज में सम्प्रेषण का आधार वही हो सकता है जो न केवल पूर्वानुमेय है वरंच जिसे प्रत्येक पद का एक निर्धारित मूल हो। इस अर्थ में भाषा एक और अनेक को परस्पर एक-दूसरे से बाँधती है जैसे कि वह शब्द-व्यवहार को समय से बाँधती है। सर्जनात्मक भाषा समय से ऊपर उठती है, अपूर्वानुमेय होती है, सम्प्रेषण की नयी प्रणालियाँ ही नहीं, सम्प्रेष्य नया संसार भी रचती है। इस प्रकार रचनात्मक भाषा बन्धनों से मुक्त करती है और मुक्ति के नये गलियार उद्घाटित करती है।

यहाँ पर कदाचित् एक बात की ओर इशारा कर देना उपयोगी हो। रचनात्मक साहित्य पढनेवाले सभी लोग जानते हैं कि भाषा की जिस अपूर्वानुमेय शक्ति की बात मैं कह रहा हूँ उसका वास शब्द में होता है। भाषा को मैंने एक व्यापक सामाजिक समय के साथ जोड़ा है क्योंकि संवाद का पहला आधार तो यही होता है लेकिन रचनात्मक भाषा इस समय से ऊपर उठती हुई हमें परे ले जाती है, इसी में तो उसकी सृजनात्मक शक्ति अथवा अपूर्वानुमेयता है, यही तो हमें समय से मुक्त करती है। यह शक्ति शब्दों के सामान्य अर्थों में नहीं होगी यह तो स्पष्ट ही है : सामान्य अर्थ तो सामाजिक समय से बँधा है। लेकिन यह शक्ति रचनात्मक शब्द की गूँज और अनुगूँज तक भी सीमित नहीं है। रचनात्मक शब्द की गूँज होती है उससे फिर अनुगूँजें अनेक दिशाओं में फैलती हैं। काव्य का जो शब्द इस प्रक्रिया को जितनी गहराई और व्याप्ति देता है उसके आधार पर हम काव्य को उतना महत्त्व देते हैं और उसका प्रभाव उतना टिकाऊ भी होता है। लेकिन मुक्त करनेवाली प्रक्रिया की यह अन्तिम सीमा नहीं है यह समझ लेना भी ज़रूरी है। आलोचकों में ऐसे लोग हैं जो मान लेते हैं कि यही एक अनुरण है जिसकी चर्चा पुराने काव्यशास्त्रियों ने की। वास्तव में अनुरणन इससे परे की चीज़ है—प्रभाव का एक दूसरा ही आयाम अथवा विस्तार है। गूँज और अनुगूँज को हम लागातार एक ही उत्स अथवा आरम्भ बिन्दु से जोड़े रहते हैं। अनुरणन एक व्यापक प्रभाव है जो बहुकेन्द्रिक हो जाता है, जो सत्ता के दूसरे कई स्रोतों से भी ऊर्जा प्राप्त करता चलता है। श्रेष्ठ काव्य की एक गूँज ऐसी भी होती है जो कालान्तर में प्रकट होती है, जिसका असर दूसरी विधाओं में, ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में क्रियाशील हो जाता है। ऐसे अपूर्वानुमेय प्रभाव भी अनुरणन हैं, केवल गूँज नहीं।

काव्य की इस दुरागत प्रभविष्णुता को स्मृति का ही एक रूप मानना होगा

लेकिन उसको समझने में कठिनाई होने के कारण उसे पूर्व जन्म के संस्कारों से जोड़ा जाता है। लेकिन है वह स्मृति का ही एक मर्जनात्मक आयाम।

इस सर्जनशीलता का आधार क्या है, स्रोत कहाँ है? इसका सीधा और आसान उत्तर है—'कल्पना में'। लेकिन यह कल्पन, यह कल्प रचने की शक्ति अथवा प्रतिभा, इसका आधार क्या है? इसके निश्चय ही दूसरे भी उत्तर हो सकते हैं और उनमें से कुछ उत्तर सीधे और आसान भी जान पड़ेंगे। एक तरह से सीधे उत्तर उन्हें तोष देंगे जो ईश्वर में आस्था रखते हैं, एक दूसरी तरह के सीधे उत्तर उन्हें जो ईश्वर को नकारते और आधारभूत भौतिक सत्ता पर आग्रह करना चाहते हैं। कवि के लिए इन दोनों में से कोई एक प्रतिज्ञा आवश्यक नहीं है, क्योंकि इनमें से किसी एक को काटना भी उसके लिए ज़रूरी नहीं है। इस क्षेत्र में जरूरी कुछ है तो यही जानना कि अगर दोनों प्रतिज्ञाओं में से किसी एक से भी आरम्भ करके भी सर्जना कर्म हो सकता है, विराट तत्त्व का बोध हो सकता है, भाषा की अपूर्वानुमेय शक्ति प्राप्त की जा सकती है और मुक्ति का आह्वान किया जा सकता है, तो वह क्या हो सकता है जो इन दोनों के बीच सेतु का काम करे? वह कौन सा परिदृश्य हो सकता है जो इन दोनों के लिए रास्ते खुले रखते हुए हमारे लिए विराट का संस्पर्श पाने की सम्भावना बनाये रखे, हमारे चिदाकाश में भी वह दिव्य आलोक झरने दे जिसका मैंने पहले उल्लेख किया है? यह परिदृश्य स्मृति का ही परिदृश्य हो सकता है। यह जरूरी नहीं है कि हम इस स्मृति को *'पूर्वजन्मों के सौहृदों की पर्युत्सुक करनेवाली स्मृति'* मानें जैसा कालिदास ने संकेत किया था, न यही जरूरी है कि हम उसे अवचेतन में छिपी मगर सुरक्षित जातीय स्मृति मानें, जैसे कि कार्ल युंग की अवधारणा है। यह [illegible] और [illegible] वस्तुओं को देखकर ही जागृत हो, अथवा उसके संस्पर्श के लिए जंगलों-देहातों में घूमना अथवा नदी-झरनों-पेड़ों का सान्निध्य आवश्यक हो। उसके लिए तो *अपने प्रति खुला रहना ही एक मात्र ज़रूरी शर्त है यह अपनापन ही वन्य भी है, देहाती भी, शहरी भी, प्राचीन भी और समकालीन भी; यही स्मृतियों का भंडारण भी करता है और उनका संयोजन-सम्पादन भी : यही उन्हें आह्वान होने पर उपलब्ध भी कराता है और उनकी ऊर्जा को सर्जक के उपयोज्य बनाता है।*

[illegible]ों की स्मृति दोनों अवधारणाओं में अक्षुण्ण बनी रहती है। ये प्राग्बिम्ब [illegible]त्सुकी भाव भी जगाते हैं और हमें मुक्ति की प्रेरणा भी देते हैं। और [illegible] के ही बिम्ब हैं। स्मृति का परिदृश्य ही हमारी बेचैनी और उत्कंठा [illegible] है, हमारी सर्जनात्मक कल्पना और हमारी सम्भाव्य मुक्ति का भी। [illegible]गिकी और संचार व्यवस्था का सारा जोर इस पर है कि जानकारियों [illegible] भंडार हमारे बाहर हमारे भंडार-केन्द्रों में संचित होता जाए और

परिणामतः हम कुछ भी स्मरण रखने की आदत और जरूरत से छुट्टी पा जाएँ। और कवि की कल्पना की, उसकी सर्जनात्मक स्मृति की प्रतिज्ञा है कि वह हमें भूलने नहीं देगी। लोग कभी-कभी पूछते हैं कि इक्कीसवीं सदी में—कम्प्यूटरों की सदी में—कविता की जरूरत क्या होगी? हमारी स्मृति का परिदृश्य ही हमारे उत्तर में विश्वास का बल भरता है—कि अगर हमें तब अपनी ही कोई जरूरत होगी तो कवन की—काव्य के रचना-कर्म की—भी जरूरत होगी। जब—और अगर हमने अपने को ही गैर-ज़रूरी बना दिया होगा तब की बात दूसरी है। और वह बात दूसरों के करने की है, न कवि के, न सहृदय के।[1]

साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली मे 'स्मृति के परिदृश्य' शीर्षक के अधीन दिये गये दो व्याख्यानों में से पहला व्याख्यान।

नयी कविता : प्रयोग के आयाम

'तार सप्तक' की भूमिका प्रस्तुत करते समय इन पंक्तियों के लेखक में जो उत्साह था, उसमें संवदेना की तीव्रता के साथ नि:सन्देह अनुभवहीनता का साहस भी रहा होगा। संवेदना की तीव्रता अब कम हो गयी है, ऐसा हम नहीं मानना चाहते; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अनुभव ने नये कवियों का संकलन प्रस्तुत करते समय दुविधा में पड़ना सिखा दिया है। यही नहीं कि तीसरा सप्तक के कवियों की संगृहीत रचनाओं के बारे में हम उससे कम आश्वस्त, या उनकी सम्भावनाओं के बारे में कम आशामय हैं जितना उस समय तार सप्तक के कवियों के बारे में थे। बल्कि एक सीमा तक इससे उलटा ही सच होगा। हम समझते हैं कि तीसरा सप्तक के कवि अपने अपने विकास-क्रम में अधिक परिपक्व और मँजे हुए रूप में ही पाठकों के सम्मुख आ रहे हैं। भविष्य में इनमें से कौन कितना और आगे बढ़ेगा, यह या तो ज्योतिषियों का क्षेत्र है या स्वयं उनके अध्यवसाय का। तीसरा सप्तक के कवि भी एक मंजिल तक पहुँचे हों, या एक ही दिशा में चले हों, या अपनी अलग दिशा में भी एक सी गति से चले हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नि:सन्देह तार सप्तक में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संगृहीत कवि सब अपनी अपनी अलग राह का अन्वेषण कर रहे हैं।

दुविधा और संकोच का कारण दूसरा है। तार सप्तक के कवि अपनी रचना के ही प्रारम्भिक युग में नहीं, एक नयी प्रवृत्ति की प्रारम्भिक अवस्था में सामने आये थे। पाठक के सम्मुख उनके कृतित्व की माप-जोख करने के लिए कोई बने-बनाये मापदंड नहीं थे। उनकी तुलना भी पूर्ववर्ती या समवर्ती दिग्गजों से नहीं की जा सकती थी—क्योंकि तुलना के कोई आधार ही अभी नहीं बने थे। इसलिए जहाँ उनकी स्थिति झारखंड की झाड़ी पर अप्रत्याशित फूले हुए वन-कुसुम की-सी अकेली थी, वहाँ उन्हें यह भी सुविधा थी कि उनके यत्किंचित् अवदान की माप झारखंड के ही सन्दर्भ में हो सकती थी—दूर के उद्यानों से कोई प्रयोजन नहीं था।

अब वह परिस्थिति नहीं है। 'द्विवेदी काल' के श्री मैथिलीशरण गुप्त या छायावादी युग के श्री 'निराला' जैसा कोई शलाका पुरुष नयी कविता ने नहीं दिया है (न उसे अभी इतना समय ही मिला है); फिर भी तुलना के लिए और नहीं तो

पहले दोनों सप्तकों के कवि तो हैं ही, और परम्पराओं की कुछ लीकें भी बन गयी हैं। पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी कविता' ग्राह्य हो गयी है, सम्पादक-गण (चाहे आतंकित होकर ही!) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उसकी अपनी भी अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं। उधर उसकी आलोचना भी छपने लगी है, और धुरन्धर आलोचकों ने भी उसके अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया है—चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बनाकर ही।

और कृतिकारों का अनुधावन करनेवाली, स्वल्प पूँजीवाली 'प्रतिभाएँ' भी अनेक हो गयी हैं।

कहना न होगा कि इन सब कारणों से 'नयी कविता' का अपने पाठक के और स्वयं अपने प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मानकर भी कि शास्त्रीय आलोचकों से उसे सहानुभूतिपूर्ण तो क्या, पूर्वाग्रहरहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं उसके आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आवें।

पूर्वाग्रह से मुक्त होना हर समय कठिन है। फिर अपने ही समय की उस प्रवृत्ति के विषय में, जिससे आलोचक स्वयं सम्बद्ध है, तटस्थ होना और भी कठिन है। फिर जब समीक्षक एक ओर यह भी अनुभव करे कि वह प्रवृत्ति विरोधी वातावरण से घिरी हुई है और सहानुभूति ही नहीं, समर्थन और वकालत भी माँगती है, तब उसकी कठिनाई की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन फिर भी नयी कविता अगर इस काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना-प्रवृत्ति है, और समकालीन वास्तविकता को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करना चाहती है, तो स्वयं आगे बढ़कर यह त्रिगुण दायित्व ओढ़ लेना होगा। कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी!)

तीसरा सप्तक के सम्पादन की कठिनाई के मूल में यही परिस्थिति है। तार सप्तक एक नयी प्रवृत्ति का पैरवीकार माँगता था, इससे अधिक विशेष कुछ नहीं। तीसरा सप्तक तक पहुँचते-न-पहुँचते प्रवृत्ति की पैरवी अनावश्यक हो गयी है, और कवियों की पैरवी का तो सवाल ही क्या है? इस बात का अधिक महत्त्व हो गया है कि संकलित रचनाओं का मूल्यांकन सम्पादक स्वयं न भी करे तो कम-से-कम पाठक की इसमें सहायता अवश्य करे।

नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है। नि:सन्देह जिसे अब 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है वह भाषा-सम्बन्धी प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गयी है—बल्कि ऐसा करने को

अनुचित भी मानती रही है। यह मार्ग 'प्रपद्यवादी' ने अपनाया जिसने घोषणा की कि 'चीज़ों का एकमात्र नाम होता है' और वह (प्रपद्यवादी कवि) 'प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।'

'नयी कविता' के कवि को इतना मानने में कोई कठिनाई न होती कि कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का सम्पूर्ण पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ के अलावा अलग-अलग लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ होती हैं—अलग संस्कार और ध्वनियाँ। किन्तु 'प्रत्येक वस्तु का अपना एक नाम होता है,' इस कथन को उस सीमा तक ले जाया जा सकता है जहाँ कि भाषा का एक नया रहस्यवाद जन्म ले ले और अल्लाह के निन्यानबे नामों से परे उसके अनिर्वचनीय सौवें नाम की तरह हम प्रत्येक वस्तु के सौवें नाम की खोज में डूब जाएँ। भाषा सम्बन्धी यह निन्यानबे का फेर प्रेषणीयता का और इसलिए भाषा का भी बहुत बड़ा शत्रु हो सकता है। शब्द अपने-आपमें सम्पूर्ण या आत्यन्तिक नहीं है; किसी शब्द का कोई स्वयम्भृत अर्थ नहीं है। अर्थ उसे दिया गया है, वह संकेत है जिसमें अर्थ की प्रतिपत्ति की गयी है। 'एकमात्र उपयुक्त शब्द' की खोज करते समय हमें शब्दों की यह तदर्थता नहीं भूलनी होगी : वह 'एकमात्र' इसी अर्थ में है कि हमने (प्रेषण को स्पष्ट, सम्यक और निर्भ्रम बनाने के लिए) नियत कर दिया है कि शब्द रूपी अमुक एक संकेत का एकमात्र अभिप्रेत क्या होगा।

यहाँ यह मान लें कि शब्द के प्रति यह नयी, और कह लीजिए मानववादी दृष्टि है; क्योंकि जो व्यक्ति शब्द का व्यवहार करके शब्द से यह प्रार्थना कर सकता था कि 'अनजाने उसमें बसे देवता के प्रति कोई अपराध हो गया हो तो देवता क्षमा करे' वह इस निरूपण को स्वीकार नहीं कर सकता—नहीं मान सकता कि शब्द में बसनेवाला देवता कोई दूसरा नहीं है, स्वयं मानव ही है जिसने उसका अर्थ निश्चित किया है। यह ठीक है कि शब्द को जो संस्कार इतिहास की गति में मिल गये हैं उन्हें 'मानव के दिये हुए' कहना इस अर्थ में सही नहीं है कि उनमें मानव का संकल्प नहीं था—फिर भी वे मानव द्वारा व्यवहार के प्रसंग में ही शब्द को मिले हैं और मानव से अलग अस्तित्व नहीं रख या पा सकते थे।

किन्तु 'एकमात्र सही नाम' वाली स्थापना को इस तरह मर्यादित करने का यह अर्थ नहीं है कि किसी शब्द का सर्वत्र, सर्वदा सभी के द्वारा ठीक एक ही रूप में व्यवहार होता है—बल्कि यह तो तभी होता जब कि वास्तव में 'एक चीज़ का एक ही नाम' होता और एक नाम की एक ही चीज़ होती! प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है—यही उसका कल्प है। इसी प्रकार शब्द 'वैयक्तिक प्रयोग' भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है, दुरूह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी

रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी।

नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटनेवाले से अधिक कुछ नहीं हैं—भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो। और जिन्होंने उसे नया कुछ देने के आग्रह में पुराना बिलकुल मिटा दिया है, वे ऐसे देवता हैं जो भक्त को नया रूप दिखाने के लिए अन्तर्धान ही हो गये हैं! कृतित्व का क्षेत्र इन दोनों सीमा-रेखाओं के बीच में है। यह ठीक है कि बीच का क्षेत्र बहुत बड़ा है, और उसमें कोई इस छोर के निकट हो सकता है तो कोई उस छोर के। दुरूहता अपने-आपमें कोई दोष नहीं है, न अपने-आपमें इष्ट है। इस विषय को लेकर झगड़ा करना वैसा ही है जैसा इस चर्चा में कि सुराही का मुँह छोटा है या बड़ा, यह न देखना कि उसमें पानी भी है या नहीं।

प्रयोक्ता के सम्मुख दूसरी समस्या सम्प्रेष्य वस्तु की है। यह बात कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कंटेंट) अलग अलग चीज़ें हैं; पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है! यह बिलकुल सम्भव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुनें पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे; जैसे यह भी सम्भव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो... निःसन्देह देश-काल की संक्रमणशील परिस्थितियों में संवेदनशील व्यक्ति बहुत कुछ नया देखे-सुने और अनुभव करेगा; और इसलिए विषय में नयेपन के विचार का भी अपना स्थान है ही; पर विषय केवल 'नये' हो सकते हैं, 'मौलिक' नहीं—मौलिकता वस्तु से ही सम्बन्ध रखती है। विषय सम्प्रेष्य नहीं है, वस्तु सम्प्रेष्य है। नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते हैं, और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशतः चेतन भी,और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योंकि यही कवि मानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नयी परिस्थिति को स्वायत्त कर सकता है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रहकर उसे वश करके, उसी के सहारे उससे ऊपर उठकर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसी से हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है। (और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टेकनीक) के उपयोग की पड़ताल करके यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाए!)

यहाँ स्वीकार किया जाए कि नए कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय को वस्तु समझने की भूल की है, और इस प्रकार स्वयं भी पथभ्रष्ट

हुए हैं और पाठकों में नयी कविता के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।

लेकिन 'नकलचियों से सावधान!' की चेतावनी असली मालवाले प्राय: नहीं देते; या तो वे देते हैं जिन्हें स्वयं अपने माल की असलियत के बारे में कुछ खटका हो, या फिर वे दे सकते हैं जो स्वयं माल लेकर उपस्थित नहीं हैं और केवल पहरा दे रहे हैं। अर्थात् कवि स्वयं चेतावनी नहीं देते; यह काम आलोचकों, अध्यापकों और सम्पादकों का है। यह भी उन्हीं का काम है कि नकली के प्रति सावधान करते हुए असली की साख भी न बिगड़ने दें— ऐसा न हो कि नकली से धोखा खाने के डर से सारा कारोबार ही ठप हो जाए!

इस वर्ग ने यह काम नहीं किया है, यह सखेद स्वीकार करना होगा। बल्कि कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि नकलची कवियों से कहीं अधिक संख्या और अनुपात नकली आलोचकों का है—धातु उतना खोटा नहीं है जितनी की कसौटियाँ ही झूठी हैं! इतनी अधिक छोटी-मोटी 'एमेच्योर' (और इम्मेच्योर) साहित्य पत्रिकाओं का निकलना, जबकि जो दो-चार सम्मान्य पत्रिकाएँ हैं वे सामग्री की कमी से क्षयग्रस्त हो रही हैं, इसी बात का लक्षण है कि यह वर्ग अपने कर्तव्य से कितना च्युत हुआ है। यह ठीक है कि ऐसे छोटे-छोटे प्रयास एक आस्था की घोषणा करते हैं और इस प्रकार एक शक्ति (चाहे कितनी स्वल्प) के लक्षण हैं, पर यह भी उतना ही सच है कि इस प्रकार व्यापक, पुष्ट और दृढ़ आधारवाले मूल्यों की उपलब्धि और प्रतिष्ठा का काम क्रमश: कठिनतर होता जाता है।

पर नकलची हर प्रवृत्ति के रहे हैं, और जिनका भंडाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ उन्हें पहचानने में फिर समय की दूरी अपेक्षित हुई है। अधिक दूर न जाएँ तो न तो 'द्विवेदी युग' में नकलचियों की कमी रही, न छायावाद युग में। और न ही (यदि इसी सन्दर्भ में उनका उल्लेख भी उचित हो जितनी उपलब्धि भी 'प्रयोगवादी सम्प्रदाय' से विशेष अधिक नहीं रही जान पड़ती) प्रगतिवाद ने कम नकलची पैदा किये। हमें किसी भी वर्ग में उनका समर्थन या पक्ष-पोषण नहीं करना है—पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान की उपेक्षा न हो, असली को नकली से न मापा जाए।

शिल्प, तन्त्र या टेकनीक के बारे में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। इन नामों की इतनी चर्चा पहले नहीं होती थी। पर वह इसीलिए कि इन्हें एक स्थान दे दिया गया था जिसके बारे में बहस नहीं हो सकती थी। यों 'साधना' की चर्चा होती थी, और साधना अभ्यास और मार्जन का ही दूसरा नाम था। बड़ा कवि 'वाक्‌सिद्ध' होता था, और भी बड़ा कवि 'रससिद्ध' होता था। आज 'वाक्‌शिल्पी' कहलाना अधिक गौरव की बात समझा जा सकता है—क्योंकि शिल्प आज विवाद का विषय है। यह चर्चा उत्तर छायावाद काल से ही अधिक बढ़ी, जबकि प्रगति के सम्प्रदाय ने शिल्प, रूप, तंत्र, आदि सबको गौण कहकर एक ओर ठेल दिया, और 'शिल्पी' एक प्रकार

की गाली समझा जाने लगा। इसी वर्ग ने नयी काव्य प्रवृत्ति को यह कहकर उड़ा देना चाहा है कि वह केवल शिल्प का, रूप-विधान का आन्दोलन है, निरा फार्मेलिज्म है। पर साथ-साथ उसने यह भी पाया है कि शिल्प इतना नगण्य नहीं है; कि वस्तु से रूपाकार को बिलकुल अलग किया ही नहीं जा सकता, कि दोनों का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है; और इसी अनुभव के कारण धीरे-धीरे वह भी मानो पिछवाड़े से आकर शिल्पाग्रही वर्ग में आ मिला है। बल्कि अब यह भी कहा जाने लगा है कि 'प्रयोगवाद के जो विशिष्ट गुण बताये जाते थे (जैसा बतानेवाले वे ही थे!) उनका प्रयोगवाद ने ठेका नहीं लिया है—प्रगतिवादी कवियों में भी वे पाये जाते हैं।' इससे उलझी परिस्थिति और भ्रामक हो गयी है। वास्तव में नयी कविता ने कभी अपने को शिल्प तक सीमित रखना नहीं चाहा, न वैसी सीमा स्वीकार की। उस पर यह आरोप उतना ही निराधार था जितना दूसरी ओर यह दावा कि केवल प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक चेतना है, और कहीं नहीं। यह मानने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए कि प्रगतिवाद सबसे अधिक समाजाग्रही रहा है; पर केवल इसी से यह नहीं प्रमाणित हो जाते उस वाद के कवियों में गहरी सामाजिक चेतना है या कि जैसी है वही उसका स्वस्थ रूप है—उसकी पड़ताल प्रत्येक कवि में अलग करनी ही होगी।

खैर, यहाँ पुराने झगड़ों को उठाना अभीष्ट नहीं है। कहना यह है कि नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेषण से काटकर अलग नहीं करता है। नयी शिल्प दृष्टि उसे मिली है, यह दूसरी बात है कि वह सबमें एक-सी गहरी न हो, या सब देखे पथ पर एक-सी सम गति से न चल सके हों। यहाँ फिर मूल्यांकन से पहले यह समझना आवश्यक है कि यह नयी दृष्टि क्या है, और किधर चलने की प्रेरणा देती है।

संकलित कवियों के विषय में अलग-अलग कुछ कहना कदाचित् उनके और पाठक के बीच व्यर्थ एक पूर्वाग्रह की दीवार खड़ा करना होगा। एक बार फिर इतना ही कहना अलम् होगा कि ये कवि किसी एक सम्प्रदाय के नहीं हैं; न सबकी साहित्यिक मान्यताएँ एक हैं, न सामाजिक, न राजनीतिक; न ही उनकी जीवन-दृष्टि में ऐसी एकरूपता है। भाषा, छन्द, विषय, सामाजिक प्रयोजन, राजनीतिक आग्रह या क्रम की दृष्टि से प्रत्येक की स्थिति या दिशा अलग हो सकती है; कोई इस छोर के निकट पाया जा सकता है, कोई उस छोर के, कोई 'बाएँ' तो कोई 'दाहिने', कोई 'आगे' तो कोई 'पीछे', कोई सशंक तो कोई साहसिक। यह नहीं कि इन बातों का कोई मूल्य न हो। पर तीसरा सप्तक में न तो ऐसा साम्य कलन का आधार बना है, न ऐसा वैषम्य बहिष्कार का। संकलनकर्ता ने पहले भी इस बात को महत्त्व नहीं दिया है कि संकलित कवियों के विचार कहाँ तक उसके विचारों से

मिलते हैं या विरोधी हैं; न अब वह इसे महत्त्व दे रहा है। क्योंकि उसका आग्रह रहा है कि काव्य के आस्वादन के लिए इससे ऊपर उठ सकना चाहिए और उठना चाहिए। सप्तकों की योजना का यही आधारभूत विश्वास है। प्रयोजनीय यह है कि संकलित कवियों में अपने कवि-कर्म के प्रति गम्भीर उत्तरदायित्व का भाव हो, अपने उद्देश्यों में निष्ठा और उन तक पहुँचने के साधनों के सदुपयोग की लगन हो। जहाँ प्रयोग हो वहाँ कवि मानता हो कि वह सत्य का ही प्रयोग होना चाहिए। यों काव्य में सत्य क्योंकि वस्तुसत्य का रागाश्रित रूप है इसलिए उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य की गुंजाइश तो है ही, बल्कि व्यक्ति की छाप से युक्त होकर ही वह काव्य का सत्य हो सकता है। क्रीड़ा और लीला-भाव भी सत्य हो सकते हैं—जीवन की ऋजुता भी उन्हें जन्म देती है और संस्कारिता भी। देखना यह होता है कि वह सत्य के साथ खिलवाड़ या 'फ्लर्टेशन' मात्र न हो।

इन कवियों के एकत्र पाये जाने का आधार यही है। ऐसा दावा नहीं है कि जिस काल या पीढ़ी के ये कवि हैं, उसके यही सर्वोत्कृष्ट या सबसे अधिक उल्लेख्य कवि हैं। दो-एक और आमन्त्रित होकर भी इसलिए रह गये कि वे स्वयं इसमें आना नहीं चाहते थे—चाहे इसलिए कि दूसरे कवियों का साथ उन्हें पसन्द नहीं था, चाहे इसलिए कि सम्पादक का सम्पर्क उन्हें अप्रीतिकर या हेय लगा, चाहे इसलिए कि वे अपने को पहले ही इतना प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित मानते थे कि 'नये' कवियों के साथ आने में उन्होंने अपनी हेठी या अपना अहित समझा। एक इसलिए रह गये कि उनकी स्वीकृति के बावजूद दो वर्ष के परिश्रम के बाद भी उनकी रचनाएँ न प्राप्त हो सकीं। एक-दो इसलिए भी छोड़ दिये गये कि एकाधिक स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुकने के कारण उनका ऐसे संकलन में आना अनावश्यक हो गया था—स्मरण रहे कि मूल योजना यही थी कि सप्तक ऐसे कवियों को सामने लाएँगे जिनके स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित नहीं हुए हैं और जो इस प्रकार भी 'नये' हैं। यदि प्रस्तुत संकलन के भी दो-एक कवियों के स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तो वह इसी बात का द्योतक है कि तीसरा सप्तक की पांडुलिपि बनने और उसके प्रकाशन के बीच एक लम्बा अन्तराल रहा है। यों हम तो चाहते हैं कि सभी कवियों के स्वतन्त्र संग्रह छपें—बल्कि सप्तक में उन्हें लाने का कारण ही यह विश्वास है कि उनके अपने-अपने संग्रह छपने चाहिए।

इन शब्दों के साथ हम ओट होते हैं। भूमिका का काम भूमि तैयार करना है; भूमि 'तैयार' वही है जिस पर चलने में उसकी ओर से बेखटके होकर उसे भुला दिया जा सके। पाठक से अनुरोध है कि अब वह आगे बढ़कर कवियों से साक्षात्कार करे। उपलब्धि वहीं है।

शब्द, मौन, अस्तित्व

मैं क्यों लिखता हूँ? यह प्रश्न अब मैं अपने से नहीं पूछता, क्योंकि पूछना होता तो कम-से-कम तीस वर्ष पहले पूछना चाहिए था। और इसकी तो और भी कम सम्भावना करता हूँ कि दूसरा कोई मुझसे एकाएक यह सवाल पूछ बैठेगा। फिर भी, मन के भीतर कहीं गहरे में, हर लेखक के पास इसका कोई उत्तर होना ही चाहिए; और जब तब इसकी पड़ताल कर लेना भी अच्छा ही है कि क्या वह उत्तर अब भी सन्तोषजनक है?

ईमानदारी का उत्तर—और ऐसा उत्तर जो दिया जा सकता है—एक ही है। या कि दो हैं, लेकिन दूसरा तो पहले की व्याख्या भर है।

पहला उत्तर है : 'मैं नहीं जानता कि क्यों।' और दूसरा : 'शायद इसलिए कि मैं पागल हूँ।'

क्योंकि लेखक पागल होता ही है। यह कोई बड़ी मौलिक बात नहीं है। लेकिन मौलिकता शायद इस चिरन्तन आविष्कार का ही नाम है कि कला के क्षेत्र में वास्तव में नया कुछ नहीं होता। यहाँ तक कि जो नयेपन का आभास देता है वह नये के रूप में तब तक प्रतिष्ठित नहीं होता जब तक कि हम उसमें, अथवा उसके द्वारा, जो कुछ उससे पहले था उसके नये मूल्यांकन का आधार न पा लें और उससे एक अर्थवान सम्बन्ध न स्थापित कर लें—दूसरे शब्दों में जब तक कि हम उसमें वह न पहचान लें जो कि 'नया नहीं' है।

लेकिन अगर मैं इसलिए लिखता हूँ कि मैं जरूर पागल हूँ, और इससे आगे अपने भीतर गहरे से कहीं इस प्रश्न का उत्तर पाना भी ज़रूरी है कि मैं क्यों लिखता हूँ, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि मैं जानता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ?

हाँ, हुआ तो। लेकिन जानने और जानने में अन्तर होता है और इसीलिए पाये हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर में भेद करना आवश्यक हो जाता है।

वास्तव में इन दो उत्तरों के बीच में जो तनाव रहता है वही मुझे लिखने की प्रेरणा देता है। शायद कला मात्र में जो शक्ति सृजन की प्रेरणा बनती है वह यही तनाव है—जाने हुए उत्तर और दिये जा सकनेवाले उत्तर के बीच का तनाव। लेखन इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न है। निःसन्देह यह हल अन्तिम नहीं

हो सकता, क्योंकि अगर संवेदन है तो नया अनुभव नया तनाव पैदा करता है—ज्ञान के क्षेत्र के विस्तार के साथ जाने हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच नयी दूरी पैदा हो जाती है।

इसी से हमें लेखक—अथवा कलाकार मात्र—के लिए चिरयात्री का प्रतीक मिलता है। अपने से इतर उस दूसरे की ओर अपनी यात्रा में, वह बीच की दूरी को—दूरी को ही, निरन्तर मिटाता चलता है।—उस दूसरे की ओर अपनी यात्रा में, जिसमें वह जानता है कि उसकी अपनी प्रतिमूर्ति भी है। यह सहज ज्ञान ही उसे यह आस्था देता है कि उस दूसरे तक पहुँचा जा सकता है और उससे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है—कि उससे समालाप सम्भव है, कि सम्पर्क की एक भाषा अवश्य है, केवल सही शब्द मिल जाएँ तो।

आँगन के पार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन
भवन के ओर-छोर
सभी मिले—
उन्हीं में कहीं खो गया भवन।
कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार बार पा-लागन।

(आँगन के पार द्वार)

'केवल सही शब्द मिल जाएँ तो' लेखक के नाते, और उससे भी अधिक कवि के नाते मैं अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है। मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निःसन्देह : लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद गहरा महत्त्व रखता है।

भाषा का मैं उपयोग करता हूँ। उपयोग करता हूँ लेखक के नाते, कवि के नाते, और एक साधारण सामाजिक मानव प्राणी के नाते, दूसरे सामाजिक मानव प्राणियों के साधारण व्यवहार के लिए। इस प्रकार एक लेखक के नाते मैं कला-सृजन के माध्यमों में सबसे अधिक वेध्य माध्यम का उपयोग करता हूँ—ऐसे माध्यम का जिसको निरन्तर दूषित और संस्कारच्युत किया जाता रहता है। अथवा उसका

उपयोग मैं ऐसे ढंग से करना चाहता हूँ कि वह नये प्राणों से दीप्त हो उठे। ऐसा मैं कैसे करता हूँ या कर सकता हूँ? अपना ध्यान शब्द पर—हमेशा शब्द पर—केन्द्रित करके ही।

निःसन्देह दूसरी कलाएँ भी वेध्य हैं। इन सभी को व्यापारिक, लौकिक, पापुलर बनाया जा सकता है और निरन्तर बनाया जाता है। लेकिन चित्रकारी किये बिना, गाये बिना, पत्थर या लकड़ी उकेरे बिना भी सामाजिक हुआ जा सकता है; बोले बिना सामाजिक नहीं हुआ जा सकता। भाषा को भी यह चिन्त्य विशिष्टता प्राप्त है कि उसे निरन्तर और अनिवार्य हीनतर संस्कार का शिकार बनना पड़ता है।

शायद 'हीन' संस्कार का प्रयोग मैं जैसे कर रहा हूँ उसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। भाषा के बारे में कोई झूठा आभिजात्य या स्नॉबरी मुझमें नहीं है। लेकिन इस बात पर मैं जोर देना चाहता हूँ कि जो विभिन्न प्रक्रियाएँ काम कर रही होती हैं उनमें गुणात्मक भेद होता है। किसी भी कला-माध्यम का जितनी उसकी क्षमता है उससे कम कहने के लिए उपयोग करना उसे घटिया संस्कार देना है, संस्कारभ्रष्ट करना है, उसका वल्गराइजेशन है। कवि का उद्देश्य केवल शब्द की निहित सत्ता का पूरा उपयोग करना नहीं बल्कि उसकी जानी हुई सम्भावनाओं के परे तक उसका विस्तार करना है। जैसे साधारण व्यवहार में किसी नये व्यक्ति से परिचित होने पर हम जब कहते हैं कि हम कृतार्थ हुए अथवा मुग्ध हो गये तो हमारा अभिप्राय कुल इतना ही होता है कि हम आशा करते हैं कि यह नया सम्पर्क सुखद अथवा प्रीतिकर होगा; या कि जब हम जो केवल साधारण रम्य है उसे मर्मस्पर्शी अथवा विमुग्धकारी कहते हैं, तब हम इन अर्थगर्भ शब्दों का बहुत ही साधारण अर्थ में सम्प्रेषण के लिए उपयोग करते हैं। दूसरी ओर जिस किसी ने भी अच्छा काव्य पढ़ा है उसने लक्ष्य किया होगा कि कवि शब्दों का न केवल भरपूर सार्थक प्रयोग करता है बल्कि कभी-कभी शब्दों या वर्णों का उपयोग न करके ही अर्थ की वृद्धि करता है—यानी शब्दों का ही अर्थगर्भ उपयोग नहीं, अर्थगर्भ मौन का भी उपयोग करता है। मुझे हमेशा लगा है कि यही भाषा का श्रेष्ठ कलात्मक उपयोग है—जिसमें न केवल शब्दों के निहित और सम्भाव्य अर्थों का पूरा उपयोग किया जाता है बल्कि उन अर्थों का भी जो कि शब्दों के बीच के शब्दहीन अन्तराल में भरे जा सकते हैं। मैंने जब कहा 'केवल सही शब्द मिल जाएँ तो' उसका यही आशय है। सही शब्द वे ही हैं जो उनके बीच के अन्तराल का सबसे अधिक उपयोग करें—अन्तराल के उस मौन द्वारा भी अर्थवत्ता का पूरा ऐश्वर्य सम्प्रेषित कर सकें। इतना ही क्यों, पूर्व की एक परम्परा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती; कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है। और कवि सहज बोध से जानता है कि उससे दूसरे तक

पहुँचा जा सकता है, उससे संलाप की स्थिति पायी जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मौन के द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।

मुझे तीन दो शब्द
कि मैं कविता कह पाऊँ।
एक शब्द वह :
जो न कभी जिह्वा पर लाऊँ।
और दूसरा :
जिसे कह सकूँ
किन्तु दर्द मेरे से
जो ओछा पड़ता हो
और तीसरा : खरा धातु
पर जिसको पाकर पूछूँ
क्या न बिना इसके भी काम चलेगा?
और मौन रह जाऊँ।
मुझे तीन दो शब्द
कि मैं कविता कह पाऊँ।

एक समय था जब मैं एक क्रान्तिकारी संगठन का सदस्य था और ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहा था; उस युद्ध में मैंने सभी साधनों का उपयोग किया—शब्दों का भी। पिछले महायुद्ध के समय मैं भारतीय सेना के एक सदस्य के रूप में भारत के सीमान्त पर था; भारतीय सेना तब कभी ब्रितानी सेना ही थी। उस समय भी मैंने कई साधनों का उपयोग किया जिनमें क्रान्तिकारी जीवन में प्राप्त किये हुए कौशल भी थे। अवसर आया होता तो और भी साधनों का उपयोग मैंने किया होता। आज मैं दिल्ली से एक राजनीतिक समाचार-साप्ताहिक का सम्पादन कर रहा हूँ। इनमें से किसी कार्य का भी मुझे अनुशोच या परिताप नहीं है। इनमें से कोई भी कलाकार के जीवन का अनिवार्य अंग नहीं है; पर दूसरी ओर इन कामों में और काव्य-रचना में कोई विरोधाभास भी दीखता है तो मैं अपनी सफाई में नि:संकोच वाल्टर ह्विटमैन की एक उक्ति का सहारा ले सकता हूँ:

मैं अपनी बात का खंडन करता हूँ।
तो ठीक है, मैं अपनी बात का खंडन करता हूँ।
मैं विराट् हूँ : मुझमें विविध समूह समा जाते हैं।

लेकिन विरोध का केवल आभास है, वह वास्तविक नहीं है। वास्तव में उन सब अनुभवों ने मुझे जो मैं हूँ वह बनाया है और अपनी बात कहने का साहस दिया है—अपनी भूलें स्वीकार करने का और अपने विश्वासों को घोषित करने का—यह

मानते हुए भी कि ये विश्वास निराधार भी सिद्ध हो सकते हैं और उन्हें बदलना, शोधना या छोड़ भी देना पड़ सकता है। लेखक के नाते मैंने समाज में कोई विशिष्ट स्थान या सहूलियत नहीं चाही है। समाज के एक सदस्य के नाते मैंने स्वतन्त्रता के लिए, सामाजिक न्याय के लिए और मानव-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए, विशालतर सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के प्रयत्नों के लिए आग्रह करना अपना कर्तव्य समझा है, कवि के नाते मैंने उस कर्तव्य से मुक्ति कभी नहीं चाही। बल्कि इसके प्रतिकूल कवि के नाते भी मैंने कुछ मूल्यों पर आग्रह करना आवश्यक समझा है। और इन मूल्यों के लिए अपने प्रयत्नों पर किसी तरह की रोक या नियन्त्रण लगाने का समाज का कोई अधिकार मैं नहीं मानता। ये मूल्य और ये प्रयत्न हैं मेरे कला माध्यम और सभी कला माध्यमों की शुद्धि और संस्कारिता के लिए अनवरत प्रयत्न; व्यावहारिकता या प्रत्युत्पन्न लाभ से ऊपर स्थायी नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा—(यह मानते हुए कि ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार के साथ नैतिक मूल्य अपने-आप परिवर्तित हो सकते हैं), अनुभूति की प्रामाणिकता, सोचने, मानने, अभिव्यक्त करने, वरण करने और होने अर्थात् अस्तित्व रखने की व्यक्ति की स्वतन्त्रता...सम्पृक्तता (कमिटमेंट) का विवाद और देशों की भाँति मेरे देश में भी होता रहा है और अब भी जारी है। इसकी शायद अभी आवश्यकता भी है क्योंकि अभी शायद बहुत-से लोगों को इसमें निहित प्रश्नों का स्पष्ट निरूपण करना है। लेकिन जहाँ तक मेरा सवाल है, यद्यपि मैं अब भी हर किसी की बात ध्यान से सुनता हूँ और कभी-कभी विवाद में भाग भी लेता हूँ, मुझे लगता है कि अनुभव ने मुझे संघर्ष के शोर और धुएँ से बाहर निकालकर ऐसी जगह पहुँचने का मार्ग दिखा दिया है जहाँ से मैं परिवेश को भी देख सकूँ, और साधनों और उपकरणों का अधिक सोद्देश्य उपयोग कर सकूँ। लेखक न केवल असम्पृक्त नहीं होता बल्कि उसी सम्पृक्ति दोहरी होती है—वह निरन्तर दो मोर्चों पर लड़ता है। यह तो सम्भव है कि वह कभी एक मोर्चे पर और कभी दूसरे मोर्चे पर बल संग्रह करे; लेकिन किसी एक मोर्चे को छोड़ देने में वह भारी जोखिम उठाएगा।

बात को यों कहने में लग सकता है कि लेखक की परिस्थिति बड़ी संकटपूर्ण और अप्रीतिकर है। वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव में उसकी परिस्थिति अत्यन्त रुचिकर और रसमय है। मुझे एक पौराणिक दृष्टान्त याद आता है जिसका समकालीन अर्थ भी है बल्कि जो 'कन्दिस्यों यूमेन'—मानव नियति— का उसके आधुनिक पश्चिमी अस्तित्ववादी निरूपण की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चा प्रतिबिम्ब है।

बाघ से बचने के लिए एक मनुष्य पेड़ पर चढ़ता है और उसकी दूरतम शाखा तक पहुँच जाता है। उसके बोझ से शाखा झुककर उसे एक अन्धे कुएँ में लटका देती है। ऊपर दो चूहे शाखा को काट रहे हैं, नीचे कुएँ में अनेक साँप फुफकारते हुए उसके गिरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस अत्यन्त संकटापन्न परिस्थिति में वह देखता

है कि कुएँ की जगत् से घास की एक पत्ती उसकी ओर झुकी हुई है और उसकी नोक पर मधु की एक बूँद काँप रही है। वह जीभ बढ़ाकर मधु चाट लेता है—और कितना सुस्वादु है वह मधु...

कितना सुस्वादु, अनिवर्चनीय स्वादिष्ट मधु... हम सभी ने, प्रत्येक ने अपने अलग ढंग से उस मधु का स्वाद जाना है जो कि हमारा जीवन है। लेकिन मैं समझता हूँ कि जिन्होंने मधु के साथ-साथ अपनी अवस्थिति का भी आस्वादन किया है उन्होंने अस्तित्व का गम्भीरतर अनुभव प्राप्त किया है; क्योंकि उनके लिए अवस्थिति का स्वाद भी मधु के स्वाद का एक अंग बन गया है। और उनके लिए मधु के प्रति सम्पृक्ति में अवस्थिति के साथ सम्पृक्ति (कमिटमेंट) भी अनिवार्यतया निहित है। और दृष्टान्त का सार तो यही है कि यह (अस्तित्ववादी मुहावरे की) 'चरम परिस्थिति' कोई ऐसी चरम परिस्थिति नहीं है, क्योंकि वह सार्वलौकिक है, साधारण है। महत्त्व की बात इसके प्रति चेतन होना ही है : पहचान होते ही व्यक्ति की अवस्थिति व्यापक सार्वलौकिक अवस्थिति से एकात्म हो जाती है और हमारी तात्कालिक चिन्ताएँ उस एक चरम चिन्तन में परिणत हो जाती हैं जो कि आधुनिक व्यक्ति के लिए आस्था, विश्वास, धर्म या उसे और जो कुछ भी नाम दे दें उसका पर्याय है—वह ठोस आधारशिला जिस पर वह मूल्यों की इमारत खड़ी करता है—* इस आशा के साथ ही कि वे टिकाऊ सिद्ध होंगे।

भीड़ों में
जब-जब जिस-जिससे आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव :
अगार-सा—भगवान-सा
अकेला।
और हमारे सारे लोकाचार
राख की युगों-युगों की परतें हैं।

* बेलग्राद (बेलग्रेड) रेडियो से जून, 1960 में प्रसारित वक्तव्य। मूल हिन्दी वक्तव्य के कुछ अंश और कविता के उद्धरण लेखक के स्वर में प्रसारित किये गये थे, पूरे वक्तव्य का सुपरिचित स्वावात्सी (सर्बो-क्रोएशियन) अनुवाद पढ़ा गया था।

साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया

यदि मैं यह मानता होता कि साहित्य का—और यहाँ साहित्य से मेरा आशय रचना अथवा कृति साहित्य का ही है—सामाजिक परिवर्तन में कोई योग नहीं होता, अथवा साहित्यकार का समाज के प्रति कोई ऐसा उत्तरदायित्व नहीं है जिसमें यह भी निहित हो कि समाज को बदलने का कुछ यत्न भी उससे अपेक्षित है, तो शिविर में विचार के लिए इस विषय का प्रस्ताव मैंने न किया होता। इतना तो स्वयंसिद्ध जान पड़ सकता है, लेकिन इससे आगे यह भी कहूँ कि उस दशा में मैंने अपने साहित्यिक कर्म के बारे में भी नये सिरे से विचार किया होता क्योंकि आज अपने को साहित्यकार का नाम देकर मैं जिस तरह के गौरव का अनुभव करता हूँ उसका कोई आधार न रहा होता। तब साहित्य कर्म भी दूसरे पेशेवर कर्मों अथवा व्यवसायों की तरह आजीविका का एक साधन मात्र होता और ऐसा सोचने का कोई आधार न रहता कि साहित्यकार होने के नाते अपने समाज के साथ मेरा एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है—समाज से मेरा आशय चाहे हिन्दीभाषी समाज हो जो मेरा पहला पाठक होगा, चाहे भारतीय समाज जिसके दिक्काल संचित अनुभव को मैं वाणी दे रहा हूँगा, चाहे मानव समाज हो जो शब्द मात्र में अभिव्यक्त होनेवाले मूल्यों की अन्तिम कसौटी है—बल्कि जो उनका स्रोत भी है।

विशेष पद का यह दावा या गौरव-बोध का यह स्वीकार किसी आभिजात्य का दावा नहीं है। यह केवल रचना-कर्म के स्वभाव की पहचान है। सभी लेखन साहित्य नहीं होता और सभी साहित्य रचना भी नहीं होता। जब किसी साहित्यिक कृति को हम रचना का पद देते हैं, तब विहित अथवा निहित रूप में हमने उसमें कुछ गुणों की सत्ता मान ली होती है। इसी से वह विशिष्ट होती है और इसी से उस सत्ता को प्रतिष्ठापित करनेवाला होने के नाते साहित्यकार विशिष्ट हो जाता है।

सर्जक के नाते विशिष्ट होकर भी साहित्यकार ऐसा नहीं है कि साधारण नागरिक नहीं रहता अथवा नागरिक कर्मों से और नागरिक जीवन के उत्तरदायित्वों से मुक्ति पा जाता है। उन दायित्वों को यहाँ गिनाना आवश्यक नहीं है, न इस साधारण स्थापना के बाद साहित्यकार के साधारण नागरिक कर्तव्यों का प्रश्न फिर से उठाने की कोई आवश्यकता होगी। इतना ही काफ़ी है कि नागरिक पर कुछ चीज़ों को

बनाए रखने की भी जिम्मेदारी होती है क्योंकि व्यवस्था में एक प्रकार के स्थायित्व के बिना सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन भी सम्भव नहीं रहता; दूसरी ओर चीज़ों के लगातार परीक्षण और उनको बदलने के आयोजन की भी जिम्मेदारी नागरिकता का एक अंग है क्योंकि लगातार और नियोजित ढंग से बदलाव लाते रहते बिना व्यवस्था भी व्यवस्था नहीं बनी रह सकती, निरी जकड़बन्दी बन जाती है जिसे तोड़ना ही स्वस्थ जीवन का एकमात्र उपाय रह जाता है। साहित्यकार के जिन वृहत्तर अथवा गम्भीरतर उत्तरदायित्वों की ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ उनका सम्बन्ध केवल व्यवस्था के स्थायित्व और व्यवस्थित परिवर्तन के नियोजन से नहीं है, बल्कि उन आधारभूत मूल्यों से है जिनसे इसका निर्णय होता है कि वांछित दिशाएँ कौन-सी हैं, और जहाँ वांछित परिणामों और हितों की टकराहट दीखती है, वहाँ पर अभिमूल्यों का उच्चावच क्रम कैसे निर्धारित होता है।

इससे यह न समझा जाए कि मैं साहित्यकार के लिए समाज के नियन्ता का या मूल्यों के किसी चरम निर्णायक का पद आरक्षित करके उसे समाज से अलग करना चाह रहा हूँ या समाज मे ऊँचे पद पर बिठाना चाह रहा हूँ। लेकिन सर्जक कर्म के दृष्टि से जो अनिवार्य सम्बन्ध है उससे इनकार नहीं किया जा सकता। कुछ अधिक देख पाना, कुछ अधिक दूर तक देख पाना, कुछ अधिक गहराई तक या गहराई से देख लेना, कुछ समय से पहले देख लो, जो स्पष्ट दीख रहा है उससे भिन्न या उसके प्रतिकूल भी कुछ देखना अथवा भाँप लेना, गति की जो दिशा स्पष्ट है अथवा स्वीकृत है उससे भिन्न दिशा में होने वाली गति को देख लेना या उसके प्रतिकूल दिशा का संकेत दे देना—ये सभी उस दृष्टि का अंग हैं जिसका श्रेय हम सर्जक को देते हैं, जिसकी अपेक्षा उससे रखते हैं और जिसके आधार पर ही इसका निर्णय करते हैं कि उसकी कृति कहाँ तक सर्जना है, रचना है। सर्जक साहित्यकार को, कवि को हम कालजित्, त्रिकालदर्शी, अनागतदर्शी, मनीषी, परिभू, स्वयम्भू आदि कहते हैं तो इसीलिए। यह बात अलग है कि आज जिन कृतियों को हम साहित्य के नाम से पढ़ते हैं उनमें इनी गिनी ही इस कोटि में आती हैं; जिन्हें हम साहित्यस्रष्टा और कवि कहते हैं उनमें भी विरला ही इस कसौटी पर खरा उतरेगा जिसकी ओर संकेत किया गया है। ऐसा कवि हमें आसपास नहीं दीखता, लेकिन ऐसा कवि होता है—हमारा यह विश्वास नहीं डिगता। साधु, महात्मा, योगी भी हमें आस-पास नहीं दीखते, लेकिन योगी होता है—यह आस्था हमारी नहीं टूटती। आप कहें कि इन आस्थाओं का तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल मानवीय आकांक्षा से है, तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि यह आकांक्षा भी मनोजगत में प्रतिष्ठित एक मूल्य अथवा एक आदर्श की और संकेत करती है। ऐसे ही आधारभूत मूल्य तो वे हैं जिन्हें सर्जक-साहित्यकार की अन्तर्दृष्टि समय-समय पर या बार-बार देख लेती है,

दिखा देती है; उसके आलोक में सारा परिदृश्य बदल जाता है और सारी व्यवस्थाएँ, सारे समाज, सारी बिरादरियाँ अपनी कर्म-प्रवृत्तियों को फिर से देखने को बाध्य हो जाती हैं। अपने संवेदनों पर ही प्रश्नचिह्न लगा देती हैं।

लेकिन अगर मैं मानता भी हूँ कि समाज को बदलने में साहित्य का योग होता है, कि उसमें साहित्यकार की भी कुछ जिम्मेदारी होती है, तो भी आज साहित्यिक रचना और सामाजिक परिवर्तन में जैसा सीधा समीकरण बनाया जा रहा है उसे मैं बिलकुल स्वीकार नहीं करता। मैं समझता हूँ कि पिछले लगभग पचास वर्षों से इस तरह का सीधा सम्बन्ध बनाने और सिद्ध करने का जो एक प्रयत्न होता रहा है उसने साहित्य का बहुत अहित किया है। आलोचना को, जिसका लोचन से सम्बन्ध ही स्पष्ट करता है कि उसे स्वच्छ प्रकाश की अनिवार्य आवश्यकता है, उसने एक धुँधलके में भटका दिया है। रचना की दृष्टि को एक रंगीन चश्मा पहनाकर उसने एकांगी और असमर्थ बना दिया है। उसके राजनीतिक और आर्थिक आग्रह सतह को और केवल सतह को महत्त्व देकर वहीं दीखनेवाले तनाव और संघर्ष को वास्तविक मानना और मनवाना चाहते हैं, और गहराई में काम करने वाली शक्तियों को दखने से साहित्यकार और पाठक को विरत करना चाहते हैं। प्रगति का अर्थ केवल आर्थिक विकास बल्कि आर्थिक विकास की एक दिशा रह गया है, यहाँ तक कि संस्कृति की अथवा सांस्कृतिक मूल्यों की चर्चा को निरी विलासिता मान लिया गया है।

ऐसा चिन्तन साहित्य और साहित्यकार को न केवल सीधे सीधे सामाजिक परिवर्तन से जोड़ता है बल्कि उसे अपना अधिकार समझता है कि साहित्यकार को बताये कि कौन-सा सामाजिक परिवर्तन सही और वांछनीय है। और इसके लिए वह योजना बनाकर साहित्यकार को देना चाहता है—जिस योजना का साहित्कार की अपनी दृष्टि या अपने विवेक से आत्यन्तिक सम्बन्ध होना वह आवश्यक नहीं मानता।

मैंने आरम्भ में कहा कि अगर मैं मानता होता कि साहित्य और साहित्यकार का कोई योग सामाजिक परिवर्तन में नहीं है तो मैंने न केवल शिविर के लिए एक विषय का प्रस्ताव न किया होता बल्कि स्वयं अपने साहित्यकारत्व के बारे में फिर से विचार किया होता। अब मैं यह कहूँ कि अगर मैं मानता हूँ कि रचना और सामाजिक परिवर्तन में वैसा सीधा सम्बन्ध है, या होता है या हो सकता है, जिसका मैंने अभी उल्लेख किया, कि अगर योजना बनाकर साहित्य लिखना (बल्कि लिखवाना, क्योंकि योजना बनानेवाले और परिवर्तन की दिशा निर्धारित करनेवाले तो दूसरे होंगे) योजना बनाकर साहित्य लिखना ही वास्तविक और सही साहित्यिक कर्म है तो मैंने

साहित्य-रचना बहुत पहले छोड़ दी होती और किसी दूसरे काम में अपने को लगाया होता।

लेकिन अगर सामाजिक परिवर्तन के साथ रचना का ऐसा सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी मैं मानता हूँ कि समाज को बदलने में साहित्य का भी योग है और साहित्यकार का भी उत्तरदायित्व है, तो इस विरोधाभास का निरसन कैसे होता है? मैं भी समझता हूँ कि इस प्रश्न के उत्तर का कुछ संकेत मैंने अपने निरूपण में दे दिया है। लेकिन संकेत ही दिया है। शायद कुछ बातों को अधिक विस्तार से निरूपित करना उपयोगी होगा।

2

साहित्यिक कर्म रचना-कर्म है यह मानने में तो किसी को कठिनाई नहीं होगी। कम से कम यह सोचने के लिए तो कोई नहीं रुकेगा कि वह रचना-कर्म है कि नहीं, मान लेगा कि सोचने का काम पहले हो चुका है और सिद्धान्त सामने है। लेकिन क्या साहित्यिक कर्म सांस्कृतिक कर्म भी है? यह सवाल पूछने पर साहित्यकार और आलोचक और सिद्धान्तों के प्रतिपादक लोग चौकन्ने होते हैं। न केवल इस रूप में प्रश्न प्रायः रखा नहीं जाता, वरन् जिससे पूछा जाता है उसे यह सन्देह होता है कि कहीं इसमें कोई पेच तो नहीं है, 'हाँ' कह देने पर कहीं मैंने अनजाने अपने को ऐसा बाँध तो नहीं लिया होगा कि आगे तर्क में मेरा पक्ष गिर जाए? इसलिए इस सवाल का जवाब कई खंडों या सीढ़ियों में तैयार करना पड़ता है। दोनों कल्पना का सहारा लेते हैं, और कल्पना सर्जन का आधार है। दोनों समाज से जुड़े हैं, दोनों का स्वरूप समाज पर निर्भर करता है और दोनों समाज को अभिव्यक्ति देते हैं—समाज के इतिहास को भी, उसकी वर्तमान स्थिति को भी और उसकी आकांक्षा को भी। ऐसा है तो दोनों लगातार उसके द्वारा बदले भी जाते हैं और स्वयं उसमें बदलाव लाने का भी आधार बनते हैं। प्राचीन इतिहास और वर्तमान वास्तविकता की अभिव्यक्ति होने के कारण दोनों में एक अनिवार्य गम्भीरता भी होती है, लेकिन दोनों में कल्पना का महत्त्वपूर्ण योग होने के कारण उनमें एक लीला अथवा क्रीड़ा-भाव भी बना रहता है। बल्कि दोनों की सर्जक सत्ता अनिवार्यतया लीला-भाव से भी जुड़ी हुई है। जिन संस्कृतियों में लीला भाव नहीं रहता वे उस हद तक बन्ध्य और स्थितिशील हो जाती हैं, भले ही गम्भीरता उनमें बनी रहे। बल्कि उनकी यह गम्भीरता भी परम्परा के आग्रह का रूप ले लेती है। और जिन साहित्यों में लीला-भाव नहीं रहता वे भी स्थितिशील हो जाते हैं और उनकी गम्भीरता भी रीति और परम्परा के आग्रह का रूप ले लेती है, प्रयोग से कतराती है। फिर उनमें भी गम्भीरता भले ही बनी रहे

और वह वास्तविकता को देखने के, जिम्मेदार होने के दावे में भले ही परिणत हो जाए। विमर्श की इतनी सारी सीढ़ियाँ चढ़कर—या अनिच्छा को ध्यान में रखते हुए कहें कि उतरकर—लोग मान लेते हैं कि 'हाँ, साहित्यिक कर्म भी सांस्कृतिक कर्म है, साहित्य रचना भी एक तरह से संस्कृति की रचना है और साहित्य के सांस्कृतिक परिवेश की उपेक्षा नहीं की जा सकती, लेकिन—'

यह 'लेकिन' यथार्थ स्थिति का एक विचारणीय तथ्य है। इस 'लेकिन' के बाद कोई तर्क प्रस्तुत किए जाएँ या न किए जाएँ, इतना तो इससे स्पष्ट हो ही जाता है कि मन में कहीं एक गाँठ है। इस बात को स्वीकार करने में अनिच्छा की एक बाधा है कि साहित्य से संस्कृति बनती है जैसे कि संस्कृति से साहित्य बनता है। संस्कृति, समाज, साहित्य और ऐसी अन्य अवधारणाओं में परस्परता और अन्योन्याश्रय का गहरा सम्बन्ध है। इनमें से किन्हीं भी दो को उठाकर उनके सम्बन्धों का विचार हो सकता है और वह विचार उपयोगी भी हो सकता है, लेकिन तभी जब इस बात को कभी न भुलाया जाए कि ऐसी किसी भी जोड़ी का एक व्यापकतर सन्दर्भ है और केवल विचार ही नहीं, ये संज्ञाएँ भी उस सन्दर्भ से जुड़ी रहती ही अर्थवान है। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि किन्ही भी दो संज्ञाओं को चुनकर विचार करते समय हम प्रत्येक पर अपने पूर्वग्रहों का आरोप कर देते हैं। यह नहीं कि दूसरी सब मान्यताओं का हम एकान्त रूप से खंडन कर देते हों; इतना ही कि हमारी दृष्टि कुछ पहलुओं पर केन्द्रित हो जाती है जिसके कारण परिदृश्य बदल जाता है। उदाहरण के लिए, संस्कृति की चर्चा में कहीं यह अलक्ष्य या अघोषित पूर्वग्रह हो सकता है कि वह परम्परा का, सामूहिक अनुभव के नित्य पक्ष का भंडार होती है। यह बात गलत नहीं है, लेकिन जिसका आग्रह इसी पक्ष पर होगा वह संस्कृति को केवल एक आस्था के रूप में नहीं, एक स्थितिशील आस्था के रूप में देखता हुआ चलेगा। अब संस्कृति को स्थायित्व देती है, यह असन्दिग्ध है, लेकिन फिर भी संस्कृति न निरी स्थिति है, न निरी स्थितिशीलता है। वह एक गत्यात्मक प्रक्रिया भी है। इसी तरह वह अन्तर्दृष्टि भी है, ऐसी अन्तर्दृष्टि जो सत्यों को—ध्रुव सत्यों को भी और नये सत्यों को भी—आलोकित कर जाती है, हमें उनमें आस्था भी दे देती है। लेकिन इसके साथ ही संस्कृति लीला भी है, निरा खिलवाड़ भी है, अटकल भी है, साहस-कर्म भी है। अनुमान और रूपकमयी भाषा में वह स्वप्न-महल भी खड़े करती है, जिन्हें वह एक साथ ही सच मानने को और छूकर ढहा देने को सदैव प्रस्तुत भी है। बिना इसके संस्कृति जी नहीं सकती, पनप नहीं सकती। हम कहें कि पुराण और परम्परा के नाम पर जिन बहुत-सी चीज़ों का संचय और परिग्रह हम किये रहते हैं, उसमें से बहुत-सी इसी तरह की हैं—साहसपूर्ण कल्पना की ऐसी सृष्टि जिसे हम शब्दशः सत्य नहीं मानते क्योंकि हम बराबर जानते हैं कि वह

हमारी सृष्टि है, हमारी कल्पना-सृष्टि है, हममें से उपजी होने के कारण शून्य में से नहीं उपजी है जैसे कि हम भी शून्य में से नहीं उपजे हैं। इतना ही नहीं, वह हमारे सामूहिक और समाजिक स्वास्थ्य का एक आधार है, हमारी अस्मिता की पहचान का एक अंग है। उसे हम एकान्त मिथ्या तभी मान सकते हैं जब अपने को भी एकान्त मिथ्या मान लें।

पूर्वाग्रहों के व्यापक प्रभाव की इतने विस्तार से चर्चा का कारण है; जैसे कि संस्कृति की चर्चा का भी कारण है। संस्कृति के बारे में जो कुछ कहा गया है सब साहित्य पर भी पूरी तरह लागू है। साहित्य भी यथार्थ और कल्पना की सीमा-रेखा पर साहसपूर्वक बढ़ता है और उसी सन्धि-भूमि पर उसका सर्जकत्व क्रियाशील होता है। साहित्य भी अस्मिता की पहचान कराता है—सामूहिक, सामाजिक, व्यक्तिगत और आस्तित्विक अस्मित की। साहित्य भी स्थितिबोध जगाता है, जड़ों की पहचान कराता है, उनके द्वारा अपनी मिट्टी से रस खींचने की प्रेरणा देता है, प्रक्रिया सिखाता है, दक्षता बढ़ाता है। साहित्य भी बदलाव की पहचान कराता है, बदलाव की सम्भावनाएँ उजागर करता है, बदलने की प्रेरणा देता है। साहित्य भी सपने देखता है, कल्पना के महल खड़े करता है (और गिराता है), अटकल लगाता है, भूल करता है, भूल करने का साहस करता है और भूल को काटकर अलग कर देने का निर्ममत्व भी रखता है।

संस्कृति के विचार की तरह साहित्य के विचार में भी हम उसे किसी दूसरी एक संज्ञा के साथ जोड़ ले सकते हैं। और वैसा विचार, ज़रूरी नहीं है कि सिर्फ इसलिए अर्थहीन हो जाए कि उसमें भी पूर्वाग्रह काम कर रहे होंगे। मंशा यही है कि हम पूर्वाग्रह की सम्भावना और व्याप्ति को पहचानते रहें और इस बात को भी न भूलें कि विचार के लिए जो भी जोड़ा हमने चुना है वह विचार की सुविधा के लिए ही चुना है। इसलिए नहीं कि व्यापकतर सन्दर्भ से इन दो संज्ञाओं को किसी तरह भी अलग किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें कि कोई भी जोड़ा चुनना अपने-आपमें एक पूर्वाग्रह की अभिव्यक्ति है। साहित्य और सामाजिक परिवर्तन भी इसी तरह का एक जोड़ा है—यहाँ तक कि साहित्य और साहित्यकार भी एक जोड़ा है जो पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं होता और जो सन्दर्भ से कटकर अर्थहीन हो जाएगा।

3

संस्कृतियाँ लगातार बदलती हैं। समाज लगातार बदलते हैं। साहित्य लगातार बदलता है।

आप लक्ष्य करेंगे कि इन तीनों वाक्यों का ढाँचा एक-सा है, लेकिन तीसरे से

हम बहुवचन से एकवचन पर आ गये हैं। थोड़ा रुककर सोचिए कि अगर इस बात को हम आँखों-ओट हो जाने देते हैं तो अनजाने कितना बड़ा पूर्वाग्रह हमने निगल लिया है।

दोनों उक्तियों को अलग-अलग एकवचन और बहुवचन में रखकर देखिए। संस्कृति बदलती है, समाज बदलता है, साहित्य बदलता है। ऐसा कहने में हम समग्र मानव जाति, समग्र मानव समाज की बात सोच रहे होते हैं और साहित्य की भी अमूर्त्त सैद्धान्तिक अवधारणा कर रहे होते हैं। लेकिन जब हम कहते हैं कि संस्कृतियाँ बदलती हैं, समाज बदलते हैं, तब हम एक दूसरी कोटि की सच्चाई की बात कर रहे होते हैं; संस्कृति और समाज की एक दूसरी परिभाषा लेकर चल रहे होते हैं। इस स्थूलतर मूर्त्त सन्दर्भ में हमें साहित्य की नहीं, साहित्यों की बात करनी चाहिए और बहुवचन में ही कहना चाहिए कि साहित्य बदलते हैं।

मानव संस्कृति की बात करते हुए हम आरम्भ यहाँ से भी कर सकते हैं कि मानव पहला आत्मचेतन प्राणी है—ऐसा प्राणी जो पूछ सकता है मैं कौन हूँ, मैं कहाँ जा रहा हूँ—ऐसा प्राणी जो अपनी मृत्यु की पूर्व-कल्पना कर सकता है और इसलिए अमरत्व को सन्तानता की भावना के साथ जोड़ सकता है—जो इस प्रकार इतिहास का स्रष्टा बन जाता है, जैविक स्तर पर अपने विकास को प्रभावित करने का सामर्थ्य पा लेता है, संस्कृति का उद्‌भव-स्रोत बन जाता है। स्पष्ट है कि ऐसा मानव प्राणी न केवल संस्कृति को बदलने में समर्थ है बल्कि लगातार उसे बदलता चलता है। परिवर्तन की कामना, योग्यता और उसका संकल्प उसकी आत्म-चेतना का सहज विस्तार है।

स्पष्ट है कि मानव संस्कृति के बारे में जो कुछ कहा गया है वह सब मानव समाज के बारे में भी कहा जा सकता है।

यह भी स्पष्ट होना चाहिए, पर प्रायः उतने स्पष्ट रूप में हमारे सामने नहीं रहता, कि मानव समाज और मानव संस्कृति की बात करते हुए कहीं भी हम संस्कृति और समाज की उस दूसरी अवधारणा का खंडन नहीं कर रहे होते हैं जो देश-काल से बँधी होती है। भारतीय संस्कृति, यूनानी संस्कृति, मध्यकालीन संस्कृति, आधुनिक संस्कृति इत्यादि अवधारणाएँ कहीं भी उस व्यापकतर परिकल्पना में आड़े नहीं आतीं। दो प्रकार की अवधारणाओं को हम अलग-अलग स्तरों पर रख लेते हैं—या ज्यादा सही ढंग से यों कहें कि एक बड़े वृत्त के भीतर अनेक छोटे वृत्तों का अस्तित्व मानते हुए चलते हैं।

यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि परिवर्तन और उसकी गत्यात्मकता और परिवर्तन के संकल्प की बात करते हुए भी हम बदलाव के दो आयामों की बात सोच रहे होते हैं—एक सीमित देश-काल द्वारा मर्यादित और दूसरा जैविक विकास और

प्राणि समाज का वृहत्तर सन्दर्भ लिये हुए।

साहित्य की चर्चा करते हुए जैसे हम बहुवचन से एकवचन पर आ गये थे और इसकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक हुआ था, वैसे ही यहाँ भी एक झिझक उठती है जिसे सामने ले आना चाहिए। साहित्य के साथ विशेषण के रूप में मानव जोड़ते हुए, 'मानव साहित्य' की बात करते हुए जबान अटक जाती है। क्यों? यह पूछने पर अटपटा सा उत्तर आएगा कि क्या मानवेतर साहित्य भी होता है जो हम मानव साहित्य की बात करें? ऐसा उत्तर देने के बाद स्वाभाविक है कि स्वयं हमारे सामने यह प्रश्न भी उठ आये कि क्या मानवेतर संस्कृति भी होती है जो हम मानव संस्कृति की बात करें? इसी प्रकार यह प्रश्न भी गूँज जाता है कि क्या मानवेतर समाज भी होते हैं कि हम मानव समाज की चर्चा करें?

ये प्रश्न अर्थहीन नहीं होते और नृतत्त्व विज्ञान आरम्भ से ही इन्हीं प्रश्नों से उलझता है। हम क्रमशः पहचानने लगते हैं कि विकास के क्रम में सामाजिकता की भावना उच्चतर प्राणियों में आयी है। मृगों की और बन्दरों की अनेक प्रजातियों में सामूहिक आचरण और परस्पर सहयोग की कुछ मर्यादाएँ हम पहचानने लगते हैं और उन्हें सामाजिकता का मूल मानकर क्रमशः आदिम वन-जातियों, कबीलों और जन जातियों की सामाजिकता के साथ जोड़ने लगते हैं। फिर इस सामाजिकता को संस्कृति की परिभाषा के साथ जोड़कर हम अपनी तर्क परम्परा का उलटे क्रम से विस्तार करते हैं। कम-से कम कुछ दूर तक तो उसका निर्वाह हो जाता है और उसें निरर्थकता की झलक हमें नहीं मिलती। फिर भी उससे आगे हम उसे नहीं ले जाते; सादृश्य के धुँधलके के छोर पर उसे छोड़ देते हैं जहाँ अनजाने ही यह माने रहना सम्भव हो कि वैसी ही समानताएँ वहाँ भी काम कर रही होंगी।

लेकिन यहाँ भी साहित्य पर इस तर्क-परम्परा का आरोप हम सम्भव नहीं पाते, सादृश्य-मूलक तर्क का भी नहीं। जन-जातियों, कबीलों और आदिम वन-जातियों के नृत्यों और गीतों को निश्चय ही हम साहित्य की परिधि में ले आते हैं और साहित्य के आदि स्रोत को प्राचीनतम सामूहिक अनुष्ठान के साथ जोड़ लेते हैं। उन अनुष्ठानों के साथ जुड़े हुए गीत कैसे रहे होंगे यह हम नहीं जानते, न जान सकते हैं; इसलिए यह स्पष्ट है कि यहाँ भी हम ज्ञान के आधार पर नहीं, सादृश्य के तर्क के आधार पर ही बढ़ते हैं। लेकिन उसे आगे—अथवा पीछे, प्राचीनतर काल में—सादृश्य के तर्क के सहारे भी हम जाने को तैयार नहीं हैं, यद्यपि संस्कृति और सामाजिकता की जड़ें खोजते हुए हम मानव-पूर्व प्राणियों के समाज, समूह, यूथ अथवा झुंड तक जाने में विशेष कठिनाई नहीं देखते।

साहित्य के मामले में यह झिझक क्यों?

उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण है। यही कारण है कि मानव संस्कृति

और मानव समाज की बात करते हुए भी हम मानव साहित्य की बात नही कर पाते; और वही कारण है कि जिस प्रकार हम सामाजिकता की चर्चा को सादृश्य के सहारे मानव-पूर्ण प्राणियों के संसार में ले जाते हैं, वैसे साहित्य को नहीं ले जाते, ले जाने का प्रयत्न करने को भी तैयार नहीं होते।

और वह कारण यही है कि वैसे प्रयत्न हम कर ही नहीं सकते क्योंकि साहित्य की ही नहीं, मानव की ही हमारी परिभाषा उसे असम्भव बना देती है। वह कारण यह है कि साहित्य भाषा की अपेक्षा रखता है, 'साहित्यिक' शब्द की अपेक्षा रखता है। किसी-न किसी प्रकार का सम्प्रेषण तो मानवेतर अथवा मानव पूर्व प्राणियों में भी होता है और सम्प्रेषण ही सामाजिकता की नींव है; लेकिन अर्थवान् शब्द और रूपकार्थ की अवधारणा मनुष्य की सृष्टि है और यही सर्जकत्व उसे अन्य सभी प्राणियों से ऐसे आत्यन्तिक रूप से अलग कर देता है कि साहित्य के विचार का वैसा विस्तार हमारे लिए असम्भव हो जाता है जैसा हम संस्कृति अथवा सामाजिकता का कर सकते हैं।

इसीलिए साहित्य के साथ विशेषण के रूप में मानव नहीं लगता—क्योंकि दूसरा कोई साहित्य न केवल होता नहीं बल्कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। साहित्य की बात हम एकवचन में भी कर सकते हैं और बहुवचन में भी; जब एकवचन में भी कर रहे होंगे तब भी उसका सन्दर्भ मानवीय ही होगा, लेकिन उस विशेषण की कोई गुंजाइश नहीं होगी क्योंकि वह परिभाषा में ही निहित है। और जब बहुवचन में करेंगे तो देश-काल में बँधे समाजों और संस्कृतियों के साथ जोड़कर कर रहे होंगे।

4

बदलाव की प्रक्रिया और संकल्प, उसके प्रयत्न के दो स्तरों अथवा आयामों की चर्चा हम कर चुके हैं। साहित्य में भी निश्चय ही दो स्तरों की बात हो सकती है, लेकिन साहित्य को बदलाव के साथ जोड़ते हुए हम एक और बात कर रहे होते हैं जिसकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। संस्कृति अथवा समाज में बदलाव अथवा उसके संकल्प की बात करते समय हमारे सोच की परिधि यही रहती है कि संस्कृति कैसे संस्कृति को बदलती या बदल सकती है; समाज कैसे समाज को बदलता या बदल सकता है। नि:सन्देह यह हम जानते हैं कि समाज अथवा संस्कृति के बदलाव से संस्कृति अथवा समाज में भी बदलाव आया है, अर्थात एक के परिवर्तन अनिवार्यतया दूसरे को प्रभावित करते हैं। लेकिन क्योंकि हम जानते और मानते हैं कि एक का परिवर्तन दूसरे में परिवर्तन लाएगा ही, इसीलिए हम समाज अथवा संस्कृति को

दूसरे को बदलने का उपकरण बनाकर बदलाव नहीं करते; दोनों के अपने को ही बदलने का विचार करते हैं। समाज भी अपने को बदलता है या बदलना चाहता है; संस्कृति भी अपने को बदलती है या बदलना चाहती है। अपने को बदलकर ही दूसरे को बदला जा सकेगा; दूसरे को बदलने के लिए अपने को ही बदलना होगा।

लेकिन साहित्य भी क्या अपने को बदलता है या बदलना चाहता है? उसके संकल्प में भी जब परिवर्तन की बात होती है तब क्या अपने को बदलने की बात होती है? विचार-गोष्ठियों के लिए हम विषय रखते हैं 'संस्कृति और परिवर्तन की प्रक्रिया' अथवा 'समाज और परिवर्तन की प्रक्रिया' और जानते हैं कि पहले में सांस्कृतिक परिवर्तन की बात होगी, दूसरे में सामाजिक परिवर्तन की। लेकिन साहित्य के साथ हम न केवल ऐसा नहीं मानकर चलते, बल्कि यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विचार होगा तो 'साहित्य और सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया' अथवा 'साहित्य और समाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया' का विचार होगा। 'साहित्य और साहित्यिक परिवर्तन की प्रक्रिया'—यह भी गोष्ठी में विचार का विषय हो सकता है, यह सम्भावना भी हम नहीं करते।

असल में हम अर्थवान शब्द और रूपकार्थ की रचना की बात तो मान लेते हैं, लेकिन इस बात की उपेक्षा कर जाते हैं कि अर्थवान शब्द न केवल साहित्य के साथ जुड़ा हुआ है बल्कि मानव की परिभाषा के साथ भी आत्यन्तिक रूप से जुड़ा हुआ है। अर्थवान शब्द और रूपकार्थ की सृष्टि कर सकना—मैंने अन्यत्र मनुष्य को पहला प्रतीक-स्रष्टा प्राणी कहा है—मनुष्य को अपूर्वानुमेय भी बना देता है। प्रतीक स्रष्टा होने के नाते मनुष्य पहला स्वाधीन प्राणी है, उसकी सम्भावनाएँ पूर्वानुमान से परे चली जाती हैं।

अर्थवान शब्द और रूपकार्थ के साथ जुड़ा होने के नाते साहित्य भी इस विशेष अर्थ में पूर्वानुमेय है। हम चाहें तो कह सकते हैं कि वह विशेष अर्थ में स्वाधीन अथवा स्वायत्त है, जिस अर्थ में संस्कृति स्वाधीन नहीं होती, न समाज ही स्वाधीन होता है—अपनी जीवन्त और गतिशील आस्थाओं में भी हीं।

अर्थवान शब्द अर्थ की सृष्टि तो करता है लेकिन अर्थ की सीमा नहीं बाँधता। रूपकार्थ की सृष्टि अर्थ-सृष्टियों का एक द्वार खोलती है जिसके आगे सीमाहीन सम्भावनाएँ गूँज रही होती हैं। इसीलिए सच्चे रचनात्मक साहित्य का, सच्चे सहित्य सर्जन का, एक कालातीत आयाम होता है। उसमें हमें लगातार नये अर्थ मिलते रहते हैं। अब अगर यह बात ठीक है—और इसकी एक उपपत्ति यह भी है कि हम किसी एक समय में अन्तिम रूप से यह नहीं कह सकते कि अमुक एक काव्यकृति का यही और इतना ही अर्थ है कि भविष्यत् युगों में उसमें नया अर्थ नहीं पाया जा सकेगा—तो हम कैसे दावे के साथ कह सकते हैं कि अमुक साहित्य रचना अमुक

प्रभाव उत्पन्न करेगी और केवल अमुक प्रकार की ही प्रेरणा दे सकेगी? कालजित साहित्य मानव को (और क्या इस शब्द को यह विस्तार भी देने की जरूरत है कि मानव समाज को और मानव संस्कृति को?) निश्चय ही प्रभावित कर सकता है और करता है, लेकिन ये प्रभाव पूर्वानुमेय नहीं हो सकते और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य से कोई भी एक विशेष और सीमित प्रभाव पैदा करने का काम लिया जा सकता है—कोई विशेष सामाजिक परिवर्तन लाने का काम लिया जा सकता है। यह तो बिलकुल सम्भव है कि जो विशेष समाजिक परिवर्तन हमें वांछित जान पड़ता हो उसकी दिशा में भी साहित्य का प्रभाव क्रियाशील हो, लेकिन यह सीमा बाँध देना सम्भव नहीं होगा कि किसी भी महान, साहित्यिक रचना का प्रभाव केवल उतना और केवल उसी दिशा में होगा; क्योंकि यह उसे सम्पूर्णतया पूर्वानुमेय मानकर चलना होगा और हम साहित्य अर्थात् रचनात्मक अर्थवान् शब्द और मानव अर्थात् प्रतीक स्रष्टा प्राणी की परिभाषा में ही इस सीमा को नकार चुके हैं। साहित्य जो परितर्वन लाता है—या साहित्य से जो परिवर्तन आते हैं और लगातार आते रह सकते हैं—उनका क्षेत्र मानव का पूरा संवेदन है, पूर्वानुमान से परे जानेवाली उसकी सर्जक कल्पना है। हमने कहा कि ऐसा तो हो सकता है कि साहित्य के प्रभावों में से एक प्रभाव वह भी हो जो कि उस समय हमारा वांछित है, या जो हमारे वांछित सामाजिक परिवर्तन को प्रेरणा देगा। लेकिन ऐसा कोई एक परितर्वन लाने के लिए साहित्य के व्यापक तथा देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करनेवाले सामर्थ्य को अनदेखा करके उससे एक तदर्थ उपकरण अथवा अस्त्र का काम लेना—बात को स्पष्ट करने के लिए एक अतिरंजित बिम्ब का सहारा लूँ—वैसा ही होगा जैसे एक खरगोश को मारने के लिए अणुबम का उपयोग।

यों तो समाज भी एक स्थूल संरचना भी है और एक अमूर्त भाव-संरचना भी, लेकिन जब हम समाज को बदलने की बात सोच रहे होते हैं तो उसकी स्थूल संरचना ही हमारे सामने होती है और सम्बन्धों को बदलने की बात करते हुए हम उसकी संरचना के अन्त:सम्बन्धों को बदलने की बात कर रहे होते हैं। यही बात बहुत थोड़े परितर्वन के साथ संस्कृति के बारे में भी कही जा सकती है। उसमें भावना और उसके संस्कारों का महत्त्व कुछ अधिक है, लेकिन बदलने की बात करते समय वहाँ भी हम मुख्यतया आचार-व्यवहार, व्यवस्था को बदलने की बात ही सोच रहे होते हैं। लेकिन साहित्य की बात इनसे बिलकुल अलग है। वहाँ पर अगर हम संरचना की ही बात करना चाहें तो वह तन्त्र अथवा तकनीकी कौशल की बात हो जाती है। इसमें परिवर्तन लगातार अनिवार्य रूप से होता ही रहता है। और अगर हम किसी दूसरे बदलाव की बात सोचना चाहें तो वह अनिवार्यतया संस्कृति और समाज के बदलाव के साथ जुड़ जाती है, मूल्य दृष्टि के साथ जुड़ जाती है,

संवदन के साथ जुड़ जाती है—अपूर्वानुमेय के समूचे क्षेत्र के साथ जुड़ जाती है। प्रकारान्तर से हम यह बात पहले भी कह आये कि समाज और संस्कृति के बदलाव की बात सोचते समय हमारे सामने यह प्रश्न होता है कि ये सत्ताएँ अथवा व्यवस्थाएँ कैसे अपने को बदल सकती हैं; साहित्य की चर्चा में प्रश्न यह बन जाता है कि साहित्य अपने को नहीं, समाज अथवा संस्कृति को कैसे बदले।

अब तक मैंने जो कुछ कहा है उसमें बराबर यह प्रतिज्ञा निहित रही है कि साहित्य से भी बदलाव आता है, लेकिन साथ ही यह प्रश्न बराबर बना रहा है कि वह बदलाव किस क्षेत्र में आता है, कहाँ तक नियोजित हो सकता है और कहाँ पूर्वानुमेय से परे चला जाता है। अब इतने विवेचन के बाद मैं सिद्धान्त अथवा स्थापना के रूप में यह बात कह सकता हूँ कि सर्जनात्मक साहित्य के द्वारा आनेवाले परिवर्तन संवेदन के परितर्वन होते हैं; व्यवस्था के नहीं, व्यवस्थाओं में अन्तर्निहित मूल्यदृष्टि के भी नहीं, बल्कि मूल्यदृष्टि की भी आधार-भित्ति के परिवर्तन। यह आधार-भित्ति मानव की सजर्नात्मक प्रतिभा है, इसलिए वह बराबर पूर्वानमुमेयता की सीमा में परे जाती रहती है। साहित्य समाज को और संस्कृति को बदलता है तो इसलिए कि वह नये और अपूर्व-कल्पित जीवन का उन्मेष और आविष्कार भी है। यह नहीं कि वह यथार्थ को या वास्तविकता को कहीं नकारता या अनदेखा करता है; यही कि सर्जना कर्म के दौरान ये बदल गये होते हैं।

5

आधुनिक हिन्दी साहित्य की परम्परा अथवा उसका परिदृश्य उतना लम्बा नहीं है कि कुछ बातों की परीक्षा हम उसी की सीमा के भीतर रहते हुए कर सकें। लेकिन यह बिलकुल ज़रूरी भी नहीं है—उचित भी नहीं है—कि हम अपने को उसी सीमा से बाँध कर रखें। पूरे हिन्दी साहित्य के परिदृश्य में भी कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं और कुछ सवाल अपना सही सन्दर्भ पा जाते है। भक्त साहित्य और सन्त साहित्य को ही लीजिए। उन्हें ये नाम ही दिये गए तो इसीलिए कि इनमें आस्था का स्वर प्रबल रहा, इनका सनातन मूल्यों का आग्रह रहा। सनातन मूल्यों का आग्रह, भगवन्निष्ठा, आस्था और भक्ति— कहा जा सकता है कि ये सभी स्थितिशील आग्रह हैं समाज को बदलने से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि बदलते हुए समाज के बीच इन्हीं तत्त्वों पर बल देना इन्हें अभीष्ट है जो बदलते नहीं। तब फिर सन्तों और भक्तों के साहित्य ने कैसे अपने युग में और अपने समाज में एक क्रान्तिकारी भूमिका निबाही? और अगर हम कहें कि ऐसा इसलिए हुआ कि वे शोषित और उत्पीड़ित की भावनाओं और उसकी मूल्यदृष्टि के साथ जुड़े, तो क्या

हम यह कह रहे हैं कि शोषित और उत्पीड़ित की मूल्यदृष्टि, उसकी आस्था और उसकी भगवन्निष्ठा, उसके सारे आग्रह स्थितिशीलता के आग्रह हैं? निःसन्देह स्थित इतनी सरल नहीं है और ऐसा कोई सीधा समीकरण नहीं बन सकता। सन्तों और भक्तों के क्रान्तिकारी प्रभाव को समझने के लिए हमें स्थूल परिस्थितियों का और भावना जगत् का विचार अलग-अलग भी करना होगा और फिर भावना जगत की अन्त-प्रेरणाओं का विश्लेषण भी अलग से करना होगा। निःसन्देह ये भावना फिर आकर सामाजिक परिस्थितियों से भी जुड़ेंगी, लेकिन अगर सही विश्लेषण हुआ होगा ते स्थितिशीलता की परिभाषा भी बदल चुकी होगी और साहित्य के प्रभाव का वह पक्ष भी पहचान लिया गया होगा जो पूर्वानुमेय नहीं होता।

भक्तों अथवा सन्तों की रचनाओं का सामूहिक रूप से विचार न करके अलग-अलग विचार करें तो बात और स्पष्ट हो जाती है। बल्कि एक अकेले कवि कबीर का ही विचार किया जाए तो परिवर्तन की समस्या पर प्रकाश डालने के लिए काफ़ी है।

यह तो एक सर्वमान्य बात का दोहराना ही होगा कि कबीर अपने को न सन्त मानते थे और न कवि। इससे आगे यह भी कहा जा सकता है—यद्यपि हो सकता है यह बात वैसी सर्वसम्मत न हो—कि कबीर अपने को क्रान्तिकारी या समाज-सुधारक के रूप में नहीं देखते थे, यद्यपि सन्त का आग्रह उनका बराबर रहा। मोटे तौर पर यह बात सभी सन्त और भक्त कवियों के बारे में कही जा सकती है कि वे अपने को कवि न समझते हुए केवल साधक ही मानते थे, लेकिन कबीर के बारे में यह अपेक्षया अधिक सच है। साधक होने के नाते और सत्याग्रही होने के नाते उनकी उक्तियों का ऐसा भी प्रभाव भले ही रहा हो जो समाज को बदलनेवाला हो और भले ही उन्हें इस बात का बोध भी रहा हो कि उनकी उक्तियाँ जगह जगह समाज को चुनौती दे रही हैं, यह कहा जा सकता है कि ऐसा उनका लक्ष्य नहीं था बल्कि यह उनके जीवन और उनकी साखियों के आनुषंगिक परिणाम ही थे।

लेकिन हमारे लिए जो बात और भी अधिक महत्त्व की है वह यह कि सत्रहवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक कबीर की उक्तियों—उनकी साखियों, रमैनियों, शब्दों और पदों को साहित्य ही नहीं माना गया था, अर्थात् हमारे सन्दर्भ के चौखटे में आनेवाला कृति-साहितय अथवा सर्जनात्मक साहित्य। यह सुरक्षित भी रहा था तो लोक-साधारण की वाणी में, जहाँ वह एक सहज-शास्त्र-निर्देश का काम करता था, अथवा कबीरपन्थी का भगताही परम्परा में जहाँ वह उसी प्रकार साम्प्रदायिक धर्मोपदेश का काम करता था—और यह कोई नहीं कह सकता कि ये सम्प्रदाय क्रान्तिकारी सम्प्रदाय थे अथवा समाज को बदलने की भावना से प्रेरित थे।

यह कहना भी अनुचित न होगा कि हिन्दी-भाषी समाज में कबीर की

रचनाओं को सर्जनात्मक साहित्य की कोटि में रखकर उसका विचार करने की कल्पना ही बीसवीं शती के तीसरे दशक से पहले नहीं की गयी थी, बल्कि उसके बाद भी कम-से-कम एक दशक तक विश्वविद्यालयी क्षेत्रों में कबीर को साहित्य के उच्चतर अध्ययन का विषय बनाने के प्रति प्रबल विरोध का भी भाव था। कबीर की सामाजिक प्रतिष्ठा में कहाँ तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किये गये कल्पनाशील अनुवादों का अथवा क्षितिमोहन सेन जैसे आचार्यों द्वारा किये गये अध्ययन का योगदान था, इस पर बहस हो सकती है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर का कवि अथवा साहित्यस्रष्टा के रूप में विचार वर्तमान शती की दूसरी चौथाई से ही आरम्भ हुआ।

कबीर की रचनाएँ विचारों में हेतुवाद का और सामाजिक आचरण में पाखंड का जोरदार खंडन करती हैं । तार्किक हेतुवाद का खंडन सनातन मूल्यों और आस्थाओं पर बल देता है। अत: उसे किसी प्रकार की भी क्रान्तिकारिता मानने के लिए क्रान्ति की परिभाषा को इतनी दूर तक खींचना होगा कि फिर उसमें पुराणपन्थी प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हो जाएँगी (और यहाँ यह तो नहीं ही भूलना चाहिए कि साधु कबीर नारदीय भक्ति का अनुमोदन करते हैं; अगर नारदीय भक्ति क्रान्तिकारी है तो स्पष्ट है कि हमारी क्रान्ति की कल्पना आमूल बदल गयी है)। तो कबीर की क्रान्तिकारिता की चर्चा सामाजिक आचरण में पाखंड के विरोध को लेकर ही हो सकती है। यह विरोध पैना था, प्रबल था, प्रभावशाली भी हुआ, लेकिन इस गुण के बावजूद तीन सौ वर्षों तक कबीर को साहित्यकार अथवा कवि की कोटि में नहीं रखा जाता रहा। क्योंकि यह गुण काव्य गुण माना ही नहीं जाता था, यह कर्म कवि-कर्म में शामिल नहीं किया जाता था। अब हम यह तो मान सकते हैं कि तीन सौ वर्ष तक साहित्य की परख करनेवाला समाज अँधेरे में था या गलती पर था, लेकिन यह मान लेने पर भी यह सवाल तो ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि क्या साहित्यकार चेतन अथवा नियोजित रूप से समाज को बदलने का अभियान अपने कृति-साहित्य के द्वारा चला सकता है? और इसे जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि अगर साहित्यकार नियोजित ढंग से ऐसा करता भी है तो कालान्तर में होनेवाले प्रभाव वही होते हैं जो उसने लक्ष्य के रूप में अपने सामने रखे थे? यदि प्रभाव उनसे भिन्न होते हैं और कवि के युग में न होकर किसी दूसरे युग में होते हैं जबकि युगीन परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि ऐसे विचार क्रियाशील हो उठते हैं जिन्हें हम एक अरसा पुरानी रचनाओं के साथ जोड़ते हैं, यद्यपि बीच के लम्बे अन्तराल में उन रचनाओं से उन विचारों का सम्बन्ध हमें नहीं दीखता था, अगर विचारों की क्रियाशीलता का सम्बन्ध उनसे प्रभावित होनेवाले समाज के संवेदन से ही अधिक है, अगर कोई समाज अपने युगीन संवेदन के कारण किन्हीं रचनाओं में

कोई अर्थ पाने लगता है जो उससे पहले की कई पीढ़ियों के समाजों को उसमें नहीं मिला था—तो इसका श्रेय क्या हम कवि की नियोजना को दे सकते हैं? रचना से तो उसका सम्बन्ध निर्विवाद है ही, लेकिन रचना से जो अर्थ नये युग में हम पा सकते हैं वह अर्थ उसे हम दे रहे हैं : उसे वह अर्थ देने का सामर्थ्य हमारे युगीन संवेदन और हमारे समूचे संस्कार का परिणाम है। वह अर्थ हम उस रचना से पा रहे हैं, इससे रचना की वह अर्थ देने की क्षमता और शक्ति तो प्रमाणित होती है, लेकिन यह तो सिद्ध नहीं होता कि वह रचनाकार की नियोजनाओं का परिणाम था।

कबीर तो एक उदाहरण है। साहित्य-देशी और विदेशी, हिन्दी और हिन्दीतर साहित्य-ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जिसे हम कालजित् साहित्य कहते हैं वह कई बार भुला ही दिया जाता है, फिर नये रूप में अवतरित होता है। उसका अर्थ बदल चुका होता है। और यह नया अर्थ भी अन्तिम नहीं होता। यह सम्भावना बनी रहती है कि फिर किसी परवर्ती युग में उसमें किसी नये अर्थ का उन्मेष होगा। इस प्रक्रिया में ग्रहीता वर्ग का योगदान भी असन्दिग्ध है, रचना की क्षमता भी असन्दिग्ध है। जो चीज़ सन्दिग्ध है वह है कवि की सचेत नियोजना। साहित्य के कारण परिवर्तन आते हैं, संवेदन की गहराई बढ़ती है और उसे नया संस्कार मिलता है, लेकिन यह शक्ति साहित्य की है और यह प्रमाण विचार की देश-काल मुक्त स्वायत्ता का है। इसका श्रेय कवि की नियोजना को नहीं दिया जा सकता, कवि का अनुशासन करना चाहनेवाले काव्यशास्त्री अथवा आलोचक को तो और भी नहीं। कवियों के बारे में ऐसे चुटकुले सुनने को मिलते हैं कि अपनी रचना का अर्थ वे स्वयं नहीं जानते, लेकिन यह बात है बिलकुल सच। कुछ ही अर्थ कवि जानते हैं या जान सकते हैं; इनसे अधिक कुछ और अर्थों का तीव्र क्षणस्थायी बोध उन्हें उस आविष्ट अवस्था में ही हो सकता है जो सर्जन प्रक्रिया की चरमावस्था होती है। ब्राउनिंग ने अपनी एक अत्यन्त दुरूह रचना का अर्थ पूछे जाने पर उत्तर दिया था, ''जब मैंने वह लिखी थी तब उसका अर्थ जाननेवाले दो थे—मैं और ईश्वर; अब केवल ईश्वर ही जानता है और वही समय-समय पर खंडार्थ विभिन्न युगों अथवा समाजों पर प्रकट कर दिया करता है।'' उस युग अथवा उस समाज के काव्य रसिक अपनी निष्ठा और साधना के बल पर उससे आगे कुछ और अर्थ का भी आविष्कार कर ले सकते हैं। उनका इतिहासकार उनका ब्यौरा दूसरे युगों और समाजों के लिए भी छोड़ जा सकता है। स्रष्टा को जब कवि कहा गया (और उसे कवि कहने में रूपकार्थ, सृष्टि की उसी प्रतिभा से काम लिया गया था जो मनुष्य को मानव पद देती है; तभी तो हम एक साथ ही स्रष्टा को 'कवि' भी कहते हैं और फिर 'नेति-नेति' भी कहते हैं और इन दोनों बातों में हमें न केवल विरोध नहीं दीखता बल्कि अर्थगर्भता का विस्तार दीखता है), और फिर कवि को मनीषी के साथ-साथ परिभू और स्वयम्भू

भी कह दिया गया, तो यही पहचानकर कि अर्थवान शब्द की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। रूपकार्थों की सिद्धि सादृश्यों के आधार पर अर्थ-सृष्टि के जो द्वार खोल देती है उनसे आगे सादृश्यों की पहचान की ही नहीं रचना की भी अनन्त सम्भावनाएँ खुल जाती हैं। हाँ, उन्हें पहचानने के लिए दृष्टि चाहिए और सर्जन के लिए प्रतिभा तो चाहिए ही। जहाँ और जिस स्तर पर हम लेखन का उपयोग समाज में परिवर्तन लाने के लिए करते हैं—और निःसन्देह लेखन का उपयोग तो सचेष्ट और नियोजित रूप से समाज में निश्चित और अभीप्सित परिवर्तन लाने के लिए, उसे किसी विशेष दिशा में प्रेरित करने या किसी दूसरी दिशा से विमुख करने के लिए, किया ही जा सकता है—वह स्तर सर्जन का नहीं है। कविता की अपेक्षा उपन्यास कुछ अधिक उपयोज्य पाया जाता है; इस बात को यों भी कह सकते हैं कि कविता की अपेक्षा उपन्यास एक अधिक 'सामाजिक' विधा है। और उपन्यास की अपेक्षा नाटक के बारे में यह बात और भी अधिक सच होती है— जिसे फिर यों भी कहा जा सकता है कि नाटक उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक 'सामाजिक' विधा है। बल्कि नाटक का वाचिक अंग अथवा 'साहित्य' तो उसका केवल एक अंग है; नाटक का विचार जब हम एक समग्र प्रस्तुति के रूप में करते हैं तो वह एक सामाजिक विधा ही नहीं एक सामूहिक अथवा सहयोगी रचना हो जाता है। इस विशेषता के कारण साहित्य विधाओं में नाट्य विधा निश्चय ही सबसे अधिक उपयोज्य विधा हो जाती है और पूर्वनियोजित सामाजिक प्रभावों के लिए उसका ही उपयोग सबसे अधिक हुआ भी है। यों यहाँ भी हमें यह पहचानना चाहिए कि इस स्थिति में भी मंचित नाटक के भी कुछ बुरे प्रभाव नियोजना की सीमा में बँधे रहते हैं और अच्छे नाटक हमेशा नियोजना से परे कुछ ऐसे प्रभाव भी रखते हैं जो अपूर्वानुमेय होते हैं। ऐसा भी हुआ है कि नाटककार ने जिस उद्देश्य से नाटक लिखा है उससे ठीक उलटा प्रभाव डालकर नाटक स्वयं अपने रचनाकार को भौचक्का करके छोड़ गया है। अपनी बात स्थापित करने के लिए और कुछ चिढ़ाने के भाव से यह भी कह दिया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में नाटक में सर्जना उतनी ही थी जितना कि अतर्कित प्रभाव पड़ा; बाकी नियोजित लेखन था!

नियोजित प्रभाव की अर्हता के सन्दर्भ में अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि सब साहित्य क्योंकि सर्जना के स्तर तक नहीं पहुँचाता, इसलिए जो उससे कमतर होता है उसे उपयोज्य बनाना चाहिए। या यह भी कहा जा सकता है कि जिन साहित्यकारों में उतनी सर्जनात्मक प्रतिभा नहीं है—और यह तो मानना ही होगा कि वैसी प्रतिभावाले साहित्यकार किसी भी युग, किसी भी समय में इने-गिने ही होते हैं, बल्कि जो होते भी हैं उनकी भी सर्जनात्मक प्रतिभा का स्तर हमेशा एक-सा नहीं रहता—ऐसे साहित्यकार अपनी योग्यता और दीक्षा का उपयोग ऐसा

साहित्य लिखने में कर सकते हैं जो समाज को बदलने का लक्ष्य रखता हो। यह तो मान लेना होगा कि ऐसा लेखन कालजित् तो क्या, दीर्घजीवी भी नहीं होगा। लेकिन यह तो तभी मान लिया जाता है जब ऐसे साहित्य के लेखक को सर्जक से उन्नीस मान लिया जाता है।

कुछ साहित्य समाज को बदलने के काम आ सकता है, लेकिन श्रेष्ठ साहित्य समाज को बदलता नहीं, उसे मुक्त करता है फिर भी उस मुक्ति में समाज के लिए—और हाँ, संस्कृति के लिए, मानव मात्र के लिए—बदलाव के सब रास्ते खुल जाते हैं।

उपन्यास

अपने-अपने अजनबी

बीनू भगत

शेखर : एक जीवनी (अंश)

जीन लायन की स्मृति को

अनुक्रम

योके और सेल्मा

एकाएक सन्नाटा छा गया। उस सन्नाटे में ही योके ठीक से समझ सकी कि उससे निमिष भर पहले ही कितनी जोर का धमाका हुआ था—बल्कि धमाके को मानो अधबीच में दबाकर ही एकाएक सन्नाटा छा गया था।

वह क्या उस नीरवता के कारण ही था, या कि अवचेतन रूप से सन्नाटे का ठीक-ठाक अर्थ भी योके समझ गयी थी, कि उसका दिल इतने जोर से धड़कने लगा था? मानो सन्नाटे के दबाव को उसके हृदय की धड़कन का दबाव रोककर अपने वश कर लेना चाहता हो।

बर्फ तो पिछली रात से ही पड़ती रही थी। वहाँ उस मौसम में बर्फ का गिरना, या लगातार गिरते रहना, कोई अचम्भे की बात नहीं थी। शायद उसका न गिरना ही कुछ असाधारण बात होती। लेकिन योके ने यह सम्भावना नहीं की थी कि बर्फ का पहाड़ यों टूटकर उनके ऊपर गिर पड़ेगा और वे इस तरह उसके नीचे दब जाएँगे। जरूर वह बर्फ के नीचे दब गयी है, नहीं तो उस अधूरे धमाके और उसके बाद की नीरवता का और क्या अर्थ हो सकता है?

'वे दब जाएँगे'—सहसा उसे ध्यान आया कि वह अकेली नहीं है और मानो इससे उसकी तात्कालिक समस्या हल हो गयी, क्योंकि उसे तुरन्त ही चिन्ता करने को कोई दूसरी बात मिल गयी जिससे उसका ध्यान तूफान की ओर से हट जाए। मिसेज ऐकेलोफ का क्या हुआ होगा? योके दौड़कर दूसरे कमरे में गयी—लेकिन देहरी पार करते ही ठिठक गयी। श्रीमती एकेलोफ धुँधली खिड़की के पास घुटने टेककर बैठी थीं। उनकी पीठ योके की ओर थी। रूमाल से ढँका हुआ सिर तनिक-सा झुका हुआ था, जिससे योके ने अनुमान किया कि वह प्रार्थना कर रही होंगी। वह दबे पाँव लौटकर जाने ही वाली थी कि श्रीमती एकेलोफे ने खड़े होते हुए कहा, "क्यों, योके, तुम डर तो नहीं गयीं ?"

योके को प्रश्न अच्छा नहीं लगा। उसने कुछ रुखाई से कहा, "किससे ?"

श्रीमती एकेलोफ ने कहा, "हम लोग बर्फ के नीचे दब गये हैं। अब न जाने कितने दिन यों ही कैद रहना पड़ेगा। मैं तो पहले एक-आध जाड़ा यों काट चुकी हूँ लेकिन तुम—"

योके ने कहा, "मैं बर्फ से नहीं डरती। डरती होती तो यहाँ आती ही क्यों ? इससे पहले आल्प्स में बर्फानी चट्टानों की चढ़ाइयाँ चढ़ती रही हूँ। एक बार हिम-नदी से फिसलकर गिरी भी थी। हाथ-पैर टूट गये होते—बच ही गयी। फिर भी यहाँ भी तो बर्फ की सैर करने ही आयी थी।"

श्रीमती एकेलोफ ने कहा, "हाँ, सो तो है। लेकिन खतरे के आकर्षण में बहुत-कुछ सह लिया जाता है—डर भी। लेकिन यहाँ तो कुछ भी करने को नहीं है।"

योके ने कहा, "आंटी सेल्मा, मेरी चिन्ता न करें—मैं काम चला लूँगी। लेकिन आपके लिये कुछ—"

सेल्मा एकेलोफ के चेहरे पर एक स्निग्ध मुस्कान खिल आयी। 'आंटी' सम्बोधन उन्हें शायद अच्छा ही लगा। एक गहरी दृष्टि योके पर डालकर तनिक रुककर उन्होंने पूछा, "अभी क्या बजा होगा?"

योके ने कलाई की घड़ी देखकर कहा, "कोई साढ़े ग्यारह?"

"तब तो बाहर अभी रोशनी होगी। चलकर कहीं से देखा जाए कि बर्फ कितनी गहरी होगी—या कि खोद-खादकर रास्ता निकालने की कोई सूरत हो सकती है या नहीं। वैसे मुझे लगता तो यही है कि जाड़ों भर के लिये हम बन्द हैं।"

योके ने कहा, "मेरी तो छुट्टियाँ भी इतनी नहीं है।" और फिर एकाएक इस चिन्ता के बेतुकेपन पर हँस पड़ी।

आंटी सेल्मा ने कहा, 'छुट्टी तो शायद—मेरी भी इतनी नहीं है—पर—'

योके ने चौंकते हुए पूछा, 'आपकी छुट्टी, आंटी सेल्मा ?'

श्रीमती एकेलोफ ने बात बदलने के ढंग से कहा, 'फिर यह भी देखना चाहिए कि इस कैबिन में रसद-सामान कितना है—यों जाड़ा काटने के लिये सब सामान होना तो चाहिए। चलो, देखें।'

योके वापस मुड़ी और अपने पीछे श्रीमती एकेलोफ के धीमे, भारी और कुछ घिसटते हुए पैरों की चाप सुनती हुई रसोई की ओर बढ़ चली। रसोई के और उसके साथ के भंडारे से दोनों ही प्रश्नों का उत्तर मिल सकेगा—रसद का अनुमान भी हो जाएगा और अगर बर्फ के बोझ के पार प्रकाश की हलकी-सी भी किरण दीखने की सम्भावना होगी तो वहीं से दीख जाएगी। क्योंकि उसका रुख दक्षिण-पूर्व को है और धूप यहीं पड़ सकती है—धूप तो अभी क्या होगी, पर इस बर्फ के झक्कड़ में जितना भी प्रकाश होगा उधर ही को होगा।

दोनों ही प्रश्नों का उत्तर एक ही मिलता जान पड़ा—कि जो कुछ है जाड़ों भर के लिये काफ़ी है। खाने-पीने का सामान भी है और चर्बी के स्टोव के लिये काफ़ी

ईंधन भी; और शायद जितनी बर्फ के नीचे वे दब गयी हैं उसके मार्च से पहले गलने की सम्भावना बहुत कम है। बर्फ की तह शायद इतनी मोटी न भी हो कि बाहर से उसे काटना असम्भव हो, लेकिन बाहर से उसे काटेगा कौन, और भीतर से अगर काटना शुरू करके वे इस एक हिमपात के पार तक पहुँच भी सकें तो तब तक और बर्फ न पड़ जाएगी इसका क्या भरोसा है? यह तो जाड़ों के आरम्भ का तूफान था, इसके बाद तो बराबर और बर्फ पड़ती ही जाएगी। उन्हें तो यही सुसंयोग मानना चाहिए कि वे बर्फ के नीचे ही दबीं, जिससे कैबिन बचा रह गया और अब जाड़ों भर सुरक्षित ही समझना चाहिए। अगर उसके साथ चट्टान भी टूटकर गिर गयी होती—तब—

इस कल्पना से योके सिहर उठी और बोली, "चलिये, चलकर बैठें। अभी तो कुछ करने को नहीं है, थोड़ी देर में भोजन की तैयारी करूँगी।"

दूसरे कमरे में जाकर बैठते हुए श्रीमती एकेलोफ ने कहा, "अबकी बार बिलकुल पूरा क्रिसमस होगा। क्रिसमस के साथ बर्फ जरूर होनी चाहिए और अबकी बार बर्फ-ही-बर्फ होगी—नीचे-ऊपर सब ओर बर्फ-ही-बर्फ।"

एक स्वरहीन हँसी हँसकर उन्होंने फिर कहा, "थोड़ी-सी लकड़ी भी तो पड़ी है—उसको अगर अभी से लाकर यहीं रख छोड़ें तो सूखी रहेगी और क्रिसमस के दिन भारी आग जलाएँगे क्योंकि गरमाई भी तो बर्फ से कम ज़रूरी नहीं है।"

योके ने खोये हुए स्वर में कहा, "लेकिन आंटी, क्रिसमस तो अभी बड़ी दूर है। तब तक क्या होगा?"

आंटी सेल्मा उठकर योके के पास आ गयीं और उसके कन्धे पर हाथ रखती हुई बोलीं, "योके, तुम्हारी अभी उमर ही ऐसी है न। सभी-कुछ बड़ी दूर लगता है। मुझसे पूछो न, क्रिसमस कोई ऐसी दूर नहीं है, मेरे लिये ही—" और वह फिर बात अधूरी छोड़कर चुप हो गयीं।

योके ने एक बार तीखी नजर से उनकी ओर देखा। आंटी सेल्मा क्या कहना चाहती हैं, या कि क्या कहना नहीं चाहतीं जो बार-बार उनकी जबान पर आ जाता है? क्या वह उनसे सीधे-सीधे पूछ ले कि उनके मन में क्या है ? क्या सचमुच आंटी सेल्मा का यही अनुमान है कि वे दोनों अब बचेंगी नहीं—यही बर्फ मे ढँका हुआ काठ का बँगला उनकी कब्र बन जाएगा। बल्कि कब्र बन क्या जाएगा, कब्र तो बनी-बनाई तैयार है और उन्हीं को मरना बाकी है। कब्र तो समय से ही बन गयी है—उन्हें ही मरने में देर हो गयी है—इस काल-विपर्यय के लिये ही विधि को दोष नहीं दिया जा सकता।

लेकिन वह आंटी सेल्मा से क्या पूछे—कैसे पूछे? यहाँ सैर करने और बर्फ पर दौड़ करने तो वह स्वेच्छा से ही आयी थी और पहाड़ की अधित्यका में इस काठी-

बँगले की स्थिति से आकृष्ट हो गयी थी, और यहाँ रहने का प्रस्ताव भी उसी ने किया था। आंटी सेल्मा गड़रियों की माँ है—दो लड़के अब भी गड़रिए हैं, एक लकड़हारा हो गया है; तीनों नीचे गये हुए हैं और जाड़ों के बाद ही लौटकर आएँगे। यह तो उनका हर साल का क्रम है—जाड़ों में रेवड़ लेकर नीचे चले जाते हैं और वसन्त में फिर आ जाते हैं। यों तो आंटी सेल्मा को भी चले जाना चाहिए था, लेकिन न जाने क्यों इस वर्ष वह यहीं रह गयीं। उन्हें देखकर पहले तो योको को आश्चर्य हुआ था। क्योंकि उसका अनुमान था कि काठ-बँगला खाली ही होगा, जैसा कि प्राय: इन पहाड़ों में होता है। फिर उसने मन-ही-मन अनुमान कर लिया था कि बुढ़िया कंजूस और शक्की तबीयत की होगी और उसको सामान से भरा हुआ घर खाली छोड़कर जाना न रुचा होगा—जाड़ों में काम-काज तो कुछ होता नहीं, और बर्फ के नीचे उतनी ठंड भी नहीं होती जितनी बाहर खुली हवा में, बूढ़ों को चिन्ता किस बात की—एक ही जगह बैठे-बैठे पगुराते रहते हैं। अतीत की स्मृतियाँ कुरेदकर जुगाली करते हैं और फिर निगल लेते हैं।

लेकिन जाड़ों भर यों अकेले पड़े रहना साहस माँगता है—कंजूस होना ही तो काफ़ी नहीं है; और बुढ़िया को कहीं कुछ हो हवा जाए तो...

योको ने मानो अपने विचारों की गति रोकने के लिये ही कहा, "थोड़ी-सी लकड़ी तो आज भी जलायी जा सकती है—मैं अभी आग जला दूँ?"

आंटी सेल्मा ने थोड़ी देर सोचती रहकर कहा, "नहीं, अभी क्या करेंगे? या चाहो तो रात को जला लेना।" फिर थोड़ा रुककर एकाएक : "या कि तुम्हारी अभी आग जलाकर बैठने की इच्छा है? मुझे तो आग अच्छी ही लगती है, पर—"

पर क्या? यही कि लकड़ी अधिक खर्च हो जाएगी? पर वैसा सोचना भी निरी कंजूसी नहीं है। कम-से कम ढाई महीने वहाँ काटने की सम्भावना तो उन्हें करनी ही चाहिए—यानी बचे रहे तो। तीन महीने भी हो जाएँ तो हो सकते हैं। यों यह भी बिलकुल असम्भव तो नहीं है कि कोई उसे खोजने ही वहाँ आ जाए—घर के लोगों को तो पता ही है और पॉल तो यहाँ से एक ही दिन की दूरी पर होगा। पॉल तो रह नहीं सकेगा—जरूर उसे ढूँढ़ ही निकालेगा—लाखों, करोड़ों में तुरन्त पहचान लेता...वह दूसरी टोली के साथ दूसरे पहाड़ पर गया था और बर्फ से उतरते आते हुए नीचे मिलने की बात थी। ढाई महीने– तीन महीने! कब्रगाह-क्रिसमस! पाताल-लोक में देव-शिशु का उत्सव। नगर में भगवान! पॉल ढूँढ़ निकालेगा—पर किसको, या मेरी...

अनचाहे ही योके के मुख से निकल गया, "नहीं आंटी सेल्मा, मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। आग से शायद—"

आंटी सेल्मा फिर थोड़ी देर स्थिर दृष्टि से योके की ओर देखती रहीं फिर उन्होंने धीरे-धीरे, मानो आधे स्वागत भाव से कहा, "खतरे की कोई बात नहीं है,

योके! वैसे खतरा तुम्हारे लिये कोई नयी चीज़ भी नहीं है। तुम तो तरह-तरह के खतरनाक खेल खेलती रही हो। लेकिन एक बात है। खतरे में डर के दो चेहरे होते हैं, जिनमें से एक को दुस्साहस कहते हैं; कई लोग इसी एक चेहरे को देखते हुए बड़े-बड़े काम कर बैठते है और कहीं-के-कहीं पहुँच जाते हैं। लेकिन धीरज में डर का एक ही चेहरा होता है, और उसे देखे बिना काम नहीं चलता। उसे पहचान लेना ही अच्छा है—तब उतना अकेला नहीं रहता। निरे अजनबी डर के साथ कैद होकर कैसे रह सकता है? ...अच्छा, तुम आग जला लो, फिर मेरे पास बैठो, बहुत-सी बातें करेंगे। मैं तो अजनबी डर की बात कह गयी—अभी तो हम-तुम भी अजनबी से हैं, पहले हम लोग तो पूरी पहचान कर लें।"

15 दिसम्बर :

कब्रघर के दस दिन। सुना है कि दसवें दिन मुर्दे उठ बैठते हैं और किसी फरिश्ते के सामने अपना हिसाब-किताब करने के लिये हाजिर होते हैं। लेकिन इस कब्रगाह में तो हम दो ही हैं; और उठ बैठने का कोई सवाल ही नहीं हुआ—और फरिश्ता भी तो हम दोनों में से किसको समझा जाए।

आंटी सेल्मा तो बूढ़ी है, और हिसाब करने का दिन उसका ही पहले आएगा। या कि कम-से-कम उसके मन की अवस्था कुछ अधिक वैसी होगी। लेकिन फरिश्ता क्या मैं हूँ? मेरे भीतर जैसे दूषित विचार उठते हैं उनको देखते हुए इस कल्पना से बड़ा व्यंग्य और नहीं हो सकता! फरिश्ता हम दोनों से से कोई है तो शायद आंटी सेल्मा, जिसके चेहरे पर अचानक कभी-कभी एक भाव दीखता है जो मानो इस लोक का नहीं है—और जिसे देखकर मैं बेचैन हो उठती हूँ कि कुछ तोड़ फोड़ कर बैठूँ।

16 दिसम्बर :

एक अन्तहीन, परिवर्तनहीन धुँधली रोशनी, जो न दिन की है, न रात की है, न सन्ध्या के किसी क्षण की ही है—एक अपार्थिव रोशनी जो कि शायद रोशनी भी नहीं है; इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा सुनती आयी हूँ कि कब्र में बड़ा अँधेरा होता है, लेकिन यहाँ उसकी भी असम्पूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिये चुना गया है जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता। जो चुकता वह सम्पूर्ण चुक जाता; या जो रहता उसका बना रहना ही असन्दिग्ध होता। यह हमारे युगों से सँचे हुए नीति-बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है—मरकर भी कुछ हिसाब बाकी

रह जाता है।

एक धुँधली रोशनी—एक ठिठका हुआ निःसंग जीवन। मानो घड़ी ही जीवन को चलाती है, मानो एक छोटी-सी मशीन ने जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारे में इतना भी वश नहीं है कि उस यन्त्र को चाबी न दें, घड़ी को रुक जाने दें, ईश्वर का स्थान हड़पने के लिये यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दें, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दें!... घड़ी के रुक जाने से समय तो नहीं रुक जाएगा और रुक भी जाएगा तो यहाँ पर क्या अन्तर होनेवाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहाँ समय जड़ीभूत है। एक ही अन्तहीन लम्बे शिथिल क्षण में मैं जी रही हूँ—जीती ही जा रही हूँ—और वह क्षण जरा भी नहीं बदलता, टस-से-मस नहीं होता है! क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं है जो बेबस सूरज की ओर उगते हैं? अँधेरे में भी अंकुर मिट्टी के भीतर-ही-भीतर की ओर बढ़ता हैं, रौंदा जाकर फिर टेढ़ा होकर भी सूरज की ओर ही मुड़ता है। कोई कहते हैं कि सब पौधे धरती के केन्द्र से बाहर की ओर बढ़ते हैं—यानी केन्द्र से दूर हटने की प्रवृत्ति उन्हें सूरज की ओर ठेलती है। लेकिन इस केन्द्रापसारी प्रवृत्ति को भी अन्तिम मान लेना तो वैसा ही है जैसे हम पृथ्वी को सौर मंडल से अलग मान लें। पृथ्वी भी सूरज की ओर खिंचती भी है और सूरज की ओर से परे को ठिलती भी रहती है। इसी तरह अंकुर भी जड़ों को नीचे की ओर फेंकता है और बढ़ता है सूरज की ओर।

और हम जड़ें कहीं नहीं फेंकते, या कि सतह पर ही इधर-उधर फैलाते जाते हैं, लेकिन जीते हैं सूरज के सहारे ही; अनजाने ही वह हमारे जीवन की हर क्रिया को, हर गति को अनुशासित कर रहा है। हम सब मूलतया सूर्योपासक हैं; और हमारे चिन्तन में चाहे जो कुछ हो, हमारे जीवन में सूर्य ईश्वर का पर्याय है। सूर्य और ईश्वर, सूर्य और समय, इसलिये सूर्य और हमारा जीवन—जहाँ सूर्य नहीं है वहाँ समय भी नहीं है।

लेकिन मैं जहाँ हूँ क्या सूर्य वहाँ सचमुच नहीं है? क्या काल वहाँ सचमुच नहीं है? क्या दावे से ऐसा न कह सकना ही मेरी यहाँ की समस्या नहीं है? मैं मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण में टँगी हुई हूँ—वह क्षण काल की लड़ी से टूटकर कहीं छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है—अन्तहीन और अर्थहीन।

19 दिसम्बर :

शाम को हम लोग ताश खेलने बैठे थे। आंटी सेल्मा न जाने कहाँ से एक पुराना डिब्बा ले आयी थी। जिसमें ताश की जोड़ी रखी थी। मुझसे बोली, "मुझे खेलना तो नहीं आता, लेकिन तुम सिखाओगी तो सीख लूँगी। तुम्हारा मन भी लगा

रहेगा।''

ऐसी बात नहीं थी कि वह ताश का खेल बिलकुल न जानती हो। थोड़ी देर बाद जब हम लोग खेलने लगे तो मैंने पाया कि ऐसा नहीं है कि बुढ़िया को उलझाये रखने के लिये या समय काटने के लिये ही हम लोग जबरदस्ती खेल रहे हैं। खेल अपने-आप चल निकला था। लेकिन एकाएक बुढ़िया की ओर से पत्ता फेंकने में देर होने पर मैंने आँख उठाकर देखा—पत्ता खींचते-खींचते वह सो गयी थी, यद्यपि पत्तों पर उसकी पकड़ ढीली नहीं हुई थी। मैं चुपचाप बैठी रही। अगर उसके हाथ से पत्ते फिसल रहे होते तो लेकर समेट देती, लेकिन इस हालत में पत्ते लेने की कोशिश में वह जाग जाती। मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सी उसके चहेरे की ओर देखती रही। साधारणतया मैं उसकी ओर प्राय: नहीं देखती, क्योंकि मुझे डर लगा रहता है कि कहीं मेरी आँखों में कोई छिपा हुआ विरोध-भाव उसे न दीख जाए; क्या फायदा, जब इस कब्र-घर में जितने दिन साथ रहना है, रहना ही है...

अब उसका चेहरा देखते-देखते एकाएक मुझे लगा कि वह बड़ा दिलचस्प चेहरा है, जिसे देर तक देखा जा सकता है। लेकिन अनदेखे ही, क्योंकि बुढ़िया से आँख मिलने पर शायद सब कुछ बदल जाता।

चेहरे की हर रेखा में इतिहास होता है और आंटी सेल्मा का चेहरा जिन रेखाओं से भरा हुआ है वे सब केवल बर्फ़ानी जाड़ों की देन नहीं हैं। लेकिन क्या मैं उस इतिहास को ठीक ठीक पढ़ सकती हूँ? आँखों की कोरों से जो रेखाएँ फूटती हैं और एक जाल-सा बनाकर खो जाती हैं, उनमें कहीं बड़ी करुणा है—एक कर्मशील करुणा, जो दूसरों की ओर बहती है, ऐसी करुणा नहीं जो भीतर की ओर मुड़ी हुई हो और दूसरों की दया चाहती हो। लेकिन नासा के नीचे और होंठों के कोनों पर जो रेखाएँ हैं वे इस करुणा का खंडन न करती हुई भी और ही कुछ कहती हैं...मेरी आँखें सारे चेहरे पर घूमकर फिर बुढ़िया की बन्द आँखों पर टिक गयीं। अगर उसकी पलकें पारदर्शी होतीं—एक ही तरफ़ से पारदर्शी, जिससे कि बुढ़िया तो सोई रहती पर मैं उसकी आँखों में झाँक सकती—तो मैं शायद इस पहेली का उत्तर पा लेती। उन आँखों से पूछ लेती कि बुढ़िया के जीवन का रहस्य क्या है—क्या बात है उसके अनुभव-संचय में जिस तक मैं पहुँच नहीं पाती हूँ।

कि एकाएक मैंने जाना कि बुढ़िया की आँखें खुली हैं। बिना हिले-डुले अनायास भाव से वे खुल गयीं थीं और भरपूर मेरी आँखों में झाँक रही थीं। मैंने सकपकाकर आँखें नीची कर लीं।

बुढ़िया ने मानो मुझे असमंजस से उबारते हुए कहा, ''मैं सो गयी थी। मुझे माफ करना।'' और उसने हाथ का पत्ता खेल दिया।

बात इतनी ही थी। लेकिन न जाने क्यों मुझे लगा कि वह सोई हुई नहीं थी।

नींद में—चाहे कितनी भी ही नींद में—स्नायु कुछ-न-कुछ ढीले होते ही हैं और उनकी शिथिलता पहचानी जा सकती है। लेकिन बुढ़िया में कहीं भी उसका कोई लक्षण नहीं दीखा था—वह मानो एकाएक कहीं गायब हो गयी थी और फिर लौट आयी थी—और उसमें मैं औचक पकड़ी गयी थी।

20 दिसम्बर :

आज फिर वैसा ही हुआ। बुढ़िया ने एकाएक आँखें बन्द कर लीं और मुझे लगा कि वह सो गयी है। लेकिन मैं दुबारा पकड़ी जाने को तैयार नहीं थी। मैंने उसके चेहरे पर आँखें नहीं टिकायीं, कनखियों से ही बीच बीच में देखती रही। लेकिन मुझे लगा कि आंटी का चेहरा सफेद पड़ गया है। मुझे यह भी लगा कि अगर मैं साहस करके आँख उठाकर देख सकूँ तो पाऊँगी कि उसकी पलकें सचमुच पारदर्शी हैं—बल्कि शायद सारी त्वचा ही पारदर्शी है।

जब देर तक वह नहीं जागी तो मैंने हिम्मत करके आँखों से, नीचे तक के उसके चेहरे की ओर देखा। चेहरा निश्चल ही था, लेकिन मुझे लगा कि होंठ न केवल शिथिल ही हुए हैं बल्कि थोड़ा और कस गये हैं। और गले में एक ओर रह रहकर एक स्पन्दन भी होता जान पड़ा—मानो शिराएँ खिंचतो हैं और फिर ढीली हो जाती हैं, फिर खिंचती हैं और फिर ढीली हो जाती हैं। यह तो शायद नींद नहीं है, और बोलना उसमें बाधा देना भी नहीं होगा...मैंने एकाएक पूछा, "तबीयत तो ठीक है आंटी ?"

आंटी ने बिना हिले डुले आँखें खोलकर कहा, "हाँ, मैं बिलकुल ठीक हूँ-यों ही थोड़ी शिथिलता आ जाती है।"

मैं चुप रही। थोड़ी देर बाद आंटी थोड़ा हिली और फिर कुर्सी में ही बैठक बदलकर पूरी तरह जाग गयी।

मैंने पूछा, "ओढ़ने को कुछ ला दूँ ?"

उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बल्कि जो कहा उससे बिलकुल स्पष्ट था कि बात टाली जा रही है—कि उन्हें यह पसन्द नहीं कि मैं उनकी तरफ़ अधिक ध्यान दूँ।

21 दिसम्बर

हम समय की बात करते हैं, जोकि एक प्रवाह है। किसका प्रवाह है? क्षण का। लेकिन क्षण क्या है? यह जानने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है। एक ढंग है घड़ी के टिक्-टिक् के और भी खंड किये जा सकते हैं और माना जा सकता है कि वैसा छोटा-से-छोटा खंड क्षण है। विज्ञान के तरीके दूसरे भी हैं—निरे गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि समय का छोटे-से-छोटा अविभाज्य अंश कितना होता है

और उस अंश को भी क्षण कहा जा सकता है।

लेकिन ऐसा विज्ञान और ऐसी जानकारी किस काम की? हमारे लिये समय सबसे पहले अनुभव है—जो अनुभूत नहीं है वह समय नहीं है। सूर्य की गति समय नहीं है, बल्कि उस गति के रहते क्रमशः जो कुछ होता है उसका होते रहना ही समय की माप है। और अनुभव की भाषा में 'क्षण' क्या है?

समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस सन्दर्भ में 'क्षण' वही है जिसमें अनुभव तो है लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है; जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर ऐसा नहीं है, तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह काल का कितना ही छोटा खंड क्यों न हो उसमें मेरा जीना काल-सापेक्ष जीना है, ऐतिहासिक जीना है। वह बिन्दु नहीं है रेखा है; रेखा परम्परा है और क्षण परम्परामुक्त होना चाहिए।

आंटी सेल्मा इन बातों को नहीं सोच सकती; नहीं तो मैं उससे इस बारे में बात करती। उसके जीवन में कुछ है जो इन सब बातों से बिलकुल अलग है। वह मेरे लिए अजनबी है, लेकिन लगता है कि उसमें कुछ ऐसा सच है जो मैंने नहीं जाना। मेरे सच से बिलकुल अलग और दूसरा सच!...वह सच भी काल निरपेक्ष नहीं है—सेल्मा भी काल में ही जीती है जैसे कि हम सब जीते हैं, लेकिन वह मानो किसी एक काल में नहीं जीती बल्कि समूचे काल में जीती है। मानो वहाँ फिर काल एक प्रवाह नहीं है, उसमें कुछ भी आगे-पीछे नहीं है बल्कि सब एक साथ है। सब एक साथ है, इसलिए इतिहास नहीं है। इसीलिए स्मृति है, और उसके साथ ही परस्परता से मुक्ति है—सभी कुछ क्षण है।

यह मैं सोचती हूँ; लेकिन साथ ही मुझे लगता है कि ऐसा सोचना बेईमानी है—कि ऐसा हो नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी उसको देखते देखते मेरा अपरिचय का भाव इतना घना हो जाता है कि मेरा मन होता है, उसके कन्धे पकड़कर उसे झकझोर दूँ और पूछूँ—'तुम कौन हो?' मेरी मुट्ठियाँ भिंच जाती हैं और मैं उसके सामने से हट जाती हूँ क्योंकि मुझे एकाएक अपने आपसे डर लगने लगता है। न जाने क्या कर बैठूँ!

22 दिसम्बर

विश्वास नहीं होता कि मुझे यहाँ दबे-दबे एक पखवाड़ा हो गया है। रसोई और भंडार-घर की दीवारों से थोड़ा-थोड़ा पानी रिसकर अन्दर आता रहा है और अब हम बहुत-सी चीज़ें बड़े कमरे में ही उठा लाये हैं। भंडारे से एक छोटा किवाड़ उधर का खुलता है जिधर लकड़ियों का ढेर रखा रहता है। लकड़ियाँ लाने के लिये रास्ता बाहर से है, जो कि अब बन्द है। इस किवाड़ को थोड़ा ठेल-ठालकर एक-दो लकड़ियाँ खींचने का रास्ता बन गया। लकड़ियाँ खींचीं तो किवाड़ तनिक-सा और

खुल सका, और इस प्रकार अब थोड़ी-थोड़ी लकड़ियाँ भीतर लाने का मार्ग बन गया है। लकड़ियाँ भीग गयी हैं और किवाड़ खोलने से थोड़ा-थोड़ा पानी भी भंडारे के अन्दर आता है, लेकिन उसकी चिन्ता नहीं है। हम लोग जो कुछ थोड़ा-बहुत खाना पकाते हैं, बैठने के कमरे में बड़े स्टोव पर ही; उसी के सहारे लकड़ियाँ टेक दी जाती हैं जो धीरे-धीरे सूखती रहती हैं। और दूसरे-तीसरे चिमनी भी जला लेते हैं जिससे एक अनोखा लाल-लाल प्रकाश कमरे में फैल जाता है। कब्रगाह के अन्दर आग का लाल प्रकाश—क्या यही नरक की आग है? आज मैं एकाएक आंटी से यही पूछ बैठी। मैंने कहा, ''इस लाल-लाल आग को देखकर लगता है कि शैतान अभी चिमनी के भीतर से उतरकर कब्र में आ जाएगा हमसे हिसाब करने।'' और बात को हलका करने के लिये एक नकली हँसी हँस दी।

आंटी अगर चौंकीं भी तो उन्होंने दीखने नहीं दिया। थोड़ी देर मेरी ओर देखती हुई चुप रहीं और फिर बोलीं, ''चिमनी से उतरकर शैतान नहीं आता, सन्त निकोलस आता है—क्रिसमस को अब कितने दिन हैं?''

मुझे बात वहीं छोड़ देनी चाहिए थी। लेकिन मैंने जिद करके कहा, ''सन्त निकोलस आता होगा वहाँ ऊपर—कब्र में थोड़े ही आएगा।''

बुढ़िया ने पूछा, ''योके, तुम्हारा ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यों रहता है?''

मुझको हठात् गुस्सा आ गया। मैंने रुखाई से कहा, ''क्योंकि वह एकमात्र सचाई है—क्योंकि हम सबको मरना है।''

कहने को तो कह गयी; पर फिर मुझे क्लेश हुआ। लेकिन साथ-साथ माफी माँगते भी नहीं बना; मैंने कहा, ''इतने दिनों की निष्क्रियता से मेरी नर्व्ज ऐसी हो गयी है कि—''

बुढ़िया ने बात को वहीं छोड़ दिया। जितनी परोक्ष मैंने उसकी याचना की थी उतनी ही परोक्ष क्षमा देते हुए कहा, ''लेकिन क्रिसमस को कितने दिन हैं—दावत होगी। सब कुछ मैं बनाऊँगी।''

मैंने कहा, ''नहीं आंटी, सोच लें कि क्या-क्या बनेगा—पर बनाऊँगी मैं ही। आपको तकलीफ होती है, और मुझे तो काम चाहिए।''

बुढ़िया ने कहा, ''अच्छी बात है...''

फिर सोच लिया कि क्या-क्या बनेगा। कल और परसों शायद हम दोनों के पास ही काफ़ी काम रहेगा—यद्यपि इस जगह में क्या कल और क्या परसों! और क्या क्रिसमस, सिवा इसके कि एक दिन को हम बड़ा दिन मान लेंगे—एक दिन को नहीं, घड़ी के एक खास चक्कर को।

24 दिसम्बर :

आधी रात।

कायदे से तो इस समय हमें साथ बैठकर क्रिसमस के आगमन का अभिनन्दन करना चाहिए था, लेकिन हम लोगों में बिना बहस के ही एक मौन समझौता हो गया था कि रात को देर तक नहीं बैठा जाएगा। एक तो हम दोनों कल और आज के काम से कुछ थक भी गये, दूसरे न जाने क्यों दिनभर ऐसा लगता रहा कि क्रिसमस की यह खुशी नकली या झूठी तो नहीं है लेकिन बहुत ही पतले काँच की तरह इतनी नाजुक है कि छूने से ही नहीं, जरा-सी आवाज से भी टूट जा सकती है—जैसे वायलिन के स्वर से काँच का गिलास चटक सकता है। हम दोनों मानो ऐसे ही पतले काँच की सतह पर बैठकर हँस रहे हैं; यह एक जादू ही है कि हमारे बैठने से ही वह काँच टूट नहीं गया लेकिन इतना तो निश्चय है कि हिलने- डुलने से टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाएगा। और जैसे उसके काँच के नीचे फिर और कुछ नहीं है, अतल अँधेरा गर्त है जिसमें हम गिरेंगे और गिरते चले जाएँगे। बुढ़िया अभी बड़े कमरे में बैठी है। हम लोगों ने क्रिसमस तरु बनाना चाहा था, लेकिन हमारे किसी भी गढ़न्त पर विश्वास करने को तैयार होने पर भी, ईधन की लकडी और डोर से बाँधकर हमने जो पेड़ बनाया उसे हमारी आँखें स्वीकार न कर सकीं। उतना झूठ हम नहीं निगल सके और आंटी ने ही कहा कि "नहीं, इसे रहने दो।"

फिर थोड़ी देर हम लोग बैठे रहे। मानो किसी के पास कहने को कुछ नहीं था। इसी खाई को भरने के लिये मैंने सुझाया, खाना ही खा लिया जाए। वह भी हो गया और फिर हम लोग आग के पास बैठकर आग की ओर ताकते रहे। एक-दूसरे की ओर न ताकने के लिए कितनी अच्छी ओट थी वह आग!

लेकिन फिर भी धीरे-धीरे वह मौन बोझिल हो ही आया और उनको अनदेखी करना असम्भव हो गया।

मैंने पूछा, "आंटी, आपको ताश से भविष्य पढ़ना आता है ?"

बुढ़िया ने कहा, "नहीं योके! तुम पढ़ सकती हो ?"

वहाँ से उठने का मौका पाते हुए मैंने कहा, "मैं ताश लाती हूँ—आपका भविष्य पढ़ा जाए।"

बुढ़िया ने तनिक मुस्कुराकर कहा, "मेरा भविष्य! वह पढ़ना क्या आसान काम है?"

मैंने कहा, "सभी अपने भविष्य को बहुत अधिक दुर्ज्ञेय और जटिल मानते हैं। उसे जानना चाहने की उत्कंठा का ही यह दूसरा पहलू है—जितना ही जानना चाहते हैं उतना ही उसे दुरूह मानते हैं।"

बुढ़िया ने वैसे ही मुस्कुराते हुए कहा, "नहीं मेरे साथ यह बात शायद नहीं है। उस दृष्टि से तो मेरा भविष्य बहुत ही आसान है। कुछ भी जानने को नहीं है—न उत्कंठा है।"

''ऐसा कैसे हो सकता है? अच्छा बताइए, आप क्या यह नहीं जानना चाहतीं कि अगले क्रिसमस पर आप कहाँ होंगी—कैसे होंगी?''

''नहीं, मैं तो जानती हूँ। मैं—यहीं हूँगी और—ऐसे ही हूँगी।''

मैं थोड़ी देर स्तब्ध रही। यों तो बुढ़िया की बात सच भी हो सकती है। वह यहीं ऐसे ही रहेगी, क्योंकि वर्षों से यहीं ऐसे ही रहती चली आयी है। हो सकता है कि हमेशा से यहीं रहती आयी हो, और हो सकता है कि हमेशा यहीं रहती चली जाए! इन्हीं पहाड़ों की तरह निरन्तर बदलती हुई, लेकिन अन्तहीन और आकांक्षाहीन!

मैंने फिर कहा, ''लेकिन और भी बहुत-से लोग हो सकते हैं।''

बुढ़िया ने मेरी बात काटते हुए कहा, ''मैं अकेली हूँगी, योके। अगर यह जानती न होती तो शायद इस वर्ष भी अकेली न रही होती। मैं जान-बूझकर यहाँ अकेली रह गयी थी—तुम्हारा आना तो एक संयोग था जिसकी मैंने कल्पना नहीं की थी।''

मैंने कहा, ''आंटी, आपको क्या मेरा यहाँ रहना कष्टकर लगा?'' फिर थोड़ा हँसकर मैंने जोड़ दिया, ''अगर वैसा है तो मुझे दुख है, पर मेरी लाचारी है। यह तो मैं कह नहीं सकती कि मैं अभी चली जाती हूँ। वह मेरे बस का होता—''

बुढ़िया ने सहसा गम्भीर होकर कहा, ''कुछ भी किसी के बस का नहीं है, योके। एक ही बात हमारे बस की है—इस बात को पहचान लेना। इससे आगे हम कुछ नहीं जानते।''

मेरे भीतर फिर घोर विरोध उबल आया। इसको छिपाने के लिये मैं जल्दी से उठकर चली गयी। खोज में अनावश्यक देर लगाकर जब मैं ताश लेकर आयी और पत्ते बिछाने लगी, तो बुढ़िया चुपचाप मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक उसने मुझसे पूछा, ''योके, तुम चाहती हो कि मैं मर जाऊँ।''

पत्ते मेरे हाथ से गिर गये और मैंने अचकचाकर पूछा, 'क्या—यह कैसी बात है सेल्मा!' उसे आंटी कहना भी मैं भूल गयी।

उसने कहा, ''मैं बुरा नहीं मानती, योके, तुम्हारा वैसा चाहना ही स्वाभाविक है। मैं भी चाहती हूँ कि मर जाऊँ, पर मेरे चाहने की तो अब जरूरत नहीं है। मैं जानती हूँ कि बहुत दिन बाकी नहीं हैं।''

मैंने सँभलते हुए कहा, ''नहीं, आंटी, अभी ऐसी कौन-सी बात है—तुम तो अभी बहुत दिन—''

''तुम्हारा ऐसा कहना ही स्वाभाविक है—तुम्हें कहना ही चाहिए। लेकिन मैं जानती हूँ। और आज मैं इतनी खुश हूँ कि तुमसे कह ही दूँगी, जिससे कि कल तक यह बात तुम्हारे लिये पुरानी हो जाए—योके, मैं बीमार हूँ और मुझे मालूम है कि अगला वसन्त मुझे नहीं देखना है।''

थोड़ी देर बाद मैंने ताश के पत्ते जमीन से उठाये और यन्त्र की तरह—एक खास तौर से बेवकूफ यन्त्र की तरह—उन्हें फेंटती रही...

वह लम्बा बेशऊर सन्नाटा ऐसा नहीं था जिसका क्रिममस से पहले की रात से कोई सम्बन्ध जोड़ा जा सके। पर वह सारी स्थिति ही ऐसी विसंगत थी। देव-शिशु के आसन्न अवतरण का कोई आनन्द, कोई स्फूर्ति मुझमें नहीं थी। आसन्न कुछ लगता था तो दूसरा ही कुछ जिसे मैं देखना नहीं चाहती, जानना नहीं चाहती, नाम देना नहीं चाहती—पर छाती पर रखे हुए बोझ-सी एक ही बात बार-बार अपनी याद दिला जाती थी और गले की साँसले में अटक जाती थी—कि वहाँ सेल्मा और योके के अलावा एक तीसरा भी है और वह अदृश्य तीसरा देव-शिशु नहीं है...और मानो उसी की धड़कन मैं वातावरण में सुन रही थी और इसलिये उठ नहीं पा रही थी—मुझे लगता था कि उससे वह सहसा मूर्त्त हो जाएगा और तब सेल्मा भी जान लेगी कि उसे मैंने बुलाया है।...

पर उसे और सहा भी नहीं जा सका। जब मैंने बलात् अपने को उठाते हुए कहा, 'अब आराम करो, सेल्मा। गुडनाइट।'

सेल्मा ने कुछ चौंककर मेरी ओर देखा। फिर जो भी कहने जा रही थी उसे रोककर उसने कहा, "क्रिसमस मुबारक, सेल्मा। बहुत-से क्रिसमस।" फिर थोड़ा रुककर, "चाहिए तो था बैठकर गाना, पर..."

उसने मुझे दिलासा देते हुए कहा, "पर कोई बात नहीं, वह मौन में भी उतनी ही सहजता से आता है—गाना ज़रूरी नहीं है।"

मैंने फिर जल्दी से कहा, 'क्रिसमस मुबारक!' और जल्दी से चली आयी।

और अब आधी रात।

'वह मौन में भी उतनी ही सहजता से आता है।' वह कौन? वह—वह... वही जो सेल्मा और मेरे बीच तीसरा आया था और वहाँ मौजूद था—अनाहूत...

नहीं, नहीं, नहीं! जो भी आता है, जो भी आएगा, उसे उधर ही रहने देना होगा...

कहीं पॉल भी क्रिसमस मना रहा होगा—कहाँ, किसके साथ? अपने खुले गले से गा रहा होगा—क्या वह भी इस समय मुझे याद करेगा—मुझे जिसके साथ ही इस बर्फिस्तान में अकेला होने वह आया था—नथुने फुलाकर खुली बर्फीली हवा को पीने, और पीते-पीते अनुभव करने कि हमारे भीतर कैसी स्निग्ध गरमाई है—स्निग्ध, मधुर, स्फूर्तिमय और—हमारी...

पर यह बर्फिस्तान के ऊपर है। खुली हवा में, न जाने किसके साथ; और मैं—यहाँ हूँ, बर्फिस्तान के नीचे, घुटने में, और मेरे साथ हैं वह, वह, वह...

25 दिसम्बर :
वहीं पलँग पर बैठ और मेज पर सिर टेके मैं सो गयी थी—शायद पहले थोड़े आँसू आँखों में चुभे थे धुएँ की तरह, फिर न जाने कब ऊँघ गयी थी, फिर चौंककर जागी थी गाने की आवाज सुनकर : घड़ी देखी थी तब डेढ़ बजा था। सेल्मा धीरे-धीरे गा रही थी—गुनगुनाहट से कुछ ही ऊँचे स्वर से—देव-शिशु के आविर्भाव की खुशी का एक गान। वह बहुत देर पहले से गाती रही हो, ऐसा तो नहीं लगा—शायद बीच-बीच में गाती भी रही हो—नींद उसे न आती होगी और घड़ी तो उसके पास है नहीं...

उस सन्नाटे में, रुक-रुककर आता हुआ बूढ़ा गान सुनकर न जाने कैसा लगने लगा। बीच-बीच में बुढ़िया की आवाज मानो टूट जाती—मानो वह हाँफ रही हो, मानो उसकी बूढ़ी साँस उखड़ रही हो। फिर वह आवाज के साथ एक जोर की साँस खींचकर फिर गाना शुरू कर देती और थोड़ी देर बाद मानो एक कराह-सी में तान फिर टूट जाती।

सूना कमरा मानो किसी दबाव में घुटने लगा। मैं उठ बैठी और नंगे पाँव ही धीरे-धीरे बुढ़िया के पलँग के पास गयी।

बुढ़िया उकड़ूँ बैठी थी। होंठों की गति के सिवा किसी गति के लक्षण उसकी देह में नहीं जान पड़ते थे। उसे देखती हुई मैं भी उसके कन्धे की ओट निश्चल खड़ी रही, लेकिन न जाने कैसे उसे ज्ञात हो गया कि कमरे में दूसरा कोई है—दूसरा कोई क्या, कि मैं हूँ—और उसने बिना मुड़े हुए ही कहा, "मैं अवतरण का गीत गुनगुना रही थी—बचपन की याद से—लेकिन मैंने क्या तुम्हें जगा दिया?"

मैंने कहा, "नहीं, आंटी, मुझे नींद नहीं आ रही थी कि तभी मैंने आवाज सुनी और देखने चली आयी—शायद कुछ जरूरत हो!"

बुढ़िया ने कहा, "मेरी ऐसी भी हालत होगी कि मैं गाऊँ तो कोई समझेगा कि मुझे तकलीफ है—कि मुझे किसी चीज़ की जरूरत है—और हाँ, तकलीफ भी है। लेकिन गाती हूँ खुशी से ही। बैठो, तुम भी गाओगी?"

"वह गाना तो मुझे नहीं आता।"

"तो जो आता है वही गाओ। शायद मैं भी गा सकूँ—मेरे सब गाने बचपन के ही नहीं हैं, बाद में भी कुछ सीखे थे।"

मैं बैठ गयी। लेकिन बहुत कोशिश करने पर भी मुँह से बोल नहीं निकला। सारी परिस्थिति में कहीं कुछ बहुत ही बेठीक लगा। जैसे अवतरण की बात भी गलत है और उसके गाने गाना भी गलत। अवतरण अगर हुआ है तो मृत्यु का और वह मृत्यु ऐसी नहीं है कि गाने से उसका स्वागत किया जाए। वह मेरे कन्धों पर सवार होकर मेरा गला घोंट रही है। कैसा बेपनाह है वह पंजा, जो छोड़ेगा नहीं

लेकिन किसी की उँगलियों की छाप भी नहीं पड़ेगी। मैंने कल्पना की, मेरे हाथ बुढ़िया के गले पर हैं और उसे घोंट रहे हैं—बेपनाह हाथ—नहीं जानती कि उनकी पकड़ भी ऐसी है या नहीं कि कोई छाप न छोड़े; लेकिन बुढ़िया के गले की रक्तहीन पारदर्शी त्वचा तो पहले ही ऐसी है कि उस पर कोई छाप क्या पड़ेगी।

थोड़ी देर बाद बुढ़िया ने कहा, "नहीं, यह मेरा अत्याचार है। मैं तो गा सकती हूँ क्योंकि मैं अन्धी हूँ। अन्धे अच्छा गाते हैं। तुम तो सबकुछ देखती हो—तुम्हें दृश्य ही अधिक अच्छे लगते हैं, स्वर नहीं। तुम्हें ठंड लग रही होगी, जाओ सोओ। भगवान तुम्हारा कल्याण करे। क्रिसमस मुबारक!"

मैंने यन्त्रवत् दोहराया, 'क्रिसमस मुबारक!' और लौट आयी।

फिर मैं सोयी नहीं। बुढ़िया भी शायद नहीं सोयी। गाना तो उसने बन्द कर दिया। लेकिन बीच-बीच में एक बहुत ही धीमी हुंकार-सी सुनाई पड़ती, जो न मालूम साँस के कष्ट की थी, या कि बीच-बीच में याद आ जानेवाले गाने की, या कि कराहने की।

सवेरा हुआ—घड़ी का सवेरा। प्रकाश कुछ भी बढ़ता हुआ नहीं लगा बल्कि कमरे में कुछ घुटन-सी मालूम हुई—मानो जितनी हवा हमारे साथ इस कब्र-घर में कैद हो गयी थी उसमें से ऑक्सीजनवाला अंश हम लोग पी चुके हैं। मुझे ध्यान आया, ऑक्सीजन ही हमें जीवित रखती है लेकिन वही हमें गलाती भी है—जीना ही जीर्ण होना है और जब जीने का साधन ऑक्सीजन नहीं रहती तब जीर्ण होने की क्रिया भी रुक जाती है। इस कब्रगाह में हमारी पैदा की हुई कार्बन गैस, जो हमें मार देगी, आगे उस कब्रगाह में सड़ने से हमें बचाती है। फिर—हमारे मर जाने के बाद इस 'फिर' के अर्थ क्या हैं यह तो मैं नहीं जानती!—जब बर्फ गलेगी और लोग हमें ढूँढ़ने आएँगे तब हम यही ज्यों के-त्यों सुरक्षित पड़े होंगे—मैं ऐसी ही यहाँ—तब भी समूची किन्तु कान्तिहीन—और बुढ़िया वहाँ, वैसी ही विवर्ण पारदर्शी, और इसलिये तब भी एक कान्ति लिये हुए! इस कल्पना से मुझे बुढ़िया पर फिर गुस्सा हो आया। पर मैंने अपने को याद दिलाया कि आज क्रिसमस का दिन है, बड़ा दिन, क्षमा और सद्भावना का दिन। उसकी बूढ़ी साँसें मुझसे कहीं कम ही ऑक्सीजन खाती होंगी—बल्कि जिस बहुत नीचे स्तर पर उसका जीवन चल रहा है उस पर तो शायद बिना ऑक्सीजन के ही काम चल सकता है। मैंने सुना है कि जो लोग बर्फ के नीचे दब जाते हैं, उनकी ऑक्सीजन की जरूरत भी कम हो जाती है और इसलिये उनका उतनी से भी काम चल जाता है जितनी बर्फ के कणों में बँधी हुई होती है।...

बड़ा दिन। क्षमा, शान्ति और मानवीय सद्भावना का दिन। प्यार के पैगम्बर का जन्मदिन। मैंने आयासपूर्वक अपने स्वर में स्फूर्ति लाकर कहा, 'क्रिसमस

मुबारक आंटी सेल्मा!'

जो जवाब आया उससे मैं चौंकी। आंटी ने कहा, 'मैंने तो आग जला दी है और कहवा बना लिया है, आओ। क्रिसमस मुबारक!'

यह सब बुढ़िया ने कब कर लिया? मैंने तो पैरों की कोई आहट नहीं सुनी। न बरतनों की खनक। बुढ़िया बहुत ही चुपचाप काम करती है। लेकिन और नहीं तो उसके पैरों के घिसटने का थोड़ा-सा शब्द होता। मैं तो यही समझती रही कि मैं लगातार उसका कराहना सुनती रही हूँ।

नाश्ता करते-करते—नाश्ता तो मैंने ही किया, आंटी ने कुछ नहीं खाया, और कहवे में भी थोड़ा पानी मिलाकर दो-चार घूँट पिये—आंटी ने कहा, "मैं कल्पना कर रही हूँ कि बाहर खूब खुली धूप है—बड़ी निखरी हुई स्निग्ध धूप, जिसके घाम में बदन अलसा जाए!"

मैंने कहा, "ऐसी कल्पना से क्या फायदा? और बाहर धूप हो भी तो हमें क्या जो—"

"हमें क्यों नहीं कुछ? जो हमारे भीतर नहीं है वह हम बाहर कैसे दे सकते हैं—कैसे देना चाह सकते हैं? खुली, निखरी हुई, स्निग्ध, हँसती धूप—मैं बाहर उसकी कल्पना करती हूँ तो वह मेरे भीतर भी खिल आती है और मैं सोच सकती हूँ कि मैं उसे औरों को दे सकती हूँ। नहीं तो—कितना ठंडा अँधेरा होता है उसके भीतर, जिसे मरना है और सिवा मरने के और कुछ नहीं करना है।"

मैंने कुछ छिड़ककर कहा, "क्रिसमस के दिन कैसे ऐसी बात कर सकती हो तुम आंटी?"

आंटी ने बड़े सरल सहज भाव से कहा, "मुझे कैंसर है।"

जो सन्नाटा हम दोनों के बीच में आ गया उसके पार मानो कमन्द फेंकते हुए बुढ़िया ने फिर कहा, "धूप, खिली, खुली, हँसती हुई धूप—क्रिसमस के दिन की धूप! योके, मेरा तो इतना दम नहीं है—तुम क्यों नहीं गातीं—तुम्हारा गला इतना सुरीला है।"

मैंने कहना चाहा, अभी तो तुम कह रही थीं कि जो भीतर नहीं है वह बाहर कैसे दिया जा सकता है? लेकिन यह मुझसे कहते न बना। मैंने कहा, "गाऊँगी, आंटी सेल्मा, गाऊँगी। पहले मुझे इस अँधेरे कब्रगाह का आदी तो हो जाने दो।"

बुढ़िया ने दोहराया, 'आदी।' और फिर हाथों से एक ऐसा इशारा किया जिसका अर्थ कुछ भी हो सकता था।...

30 दिसम्बर :

अब मुझसे और नहीं सहा जाता। सोचती हूँ कि यह कैसी परिस्थिति आ गयी है

कि मुझे सब ओर बर्फ का भी ध्यान नहीं रहा है—कि मैं यह भी भूल गयी हूँ कि हम दोनों एक ही कब्र के साझीदार हैं। और सोचती हूँ तो केवल एक बात-कि अब साझीदार कब हट जाएगा, और मैं इस कब्र में अकेली रह जाऊँगी।

यह नहीं कि मैं कब्र में रहना चाहती हूँ। यह नहीं कि मैं अकेली अलग होना चाहती हूँ । शायद यह भी नहीं कि मैं नहीं चाहती कि वह भी कभी इस कब्र-घर से बाहर निकले। लेकिन मैं जानती हूँ कि उसके बारे में मेरे कुछ भी चाहने या न चाहने से कुछ नहीं होता है। मैं ही नहीं, वह भी यह जानती है।

और ठीक यहीं पर फ़र्क़ है। वह जानती है और जानकर मरती हुई भी जिए जा रही है। और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ...

उसमें किसी तरह का विरोध नहीं है—न मेरे प्रति, न मेरे हिंस्त्र भावों के प्रति, न मृत्यु के ही प्रति। और यह मेरी समझ में नहीं आता, मुझे स्वीकार नहीं होता। कैसे कोई जीता हुआ प्राणी जिजीविषा से परे हो सकता है? हम सब कुछ में अनासक्त हो सकते हैं, पर जीवन से कैसे हो सकते हैं? कहीं-न-कहीं जरूर बुढ़िया में कोई झूठ है। कोई आत्म-प्रवंचना है। हो सकता है कि वह गहरे में छिपी हो—लेकिन यह नहीं हो सकता है कि वह हो ही न।...

उसकी बीमारी शायद दिन-दिन बढ़ती जा रही है, वह कुछ खाती नहीं है और लगभग पीती भी नहीं है, और दिन-ब-दिन अधिक विवर्ण और पारदर्शी होती जाती है। जीता जागता प्रेत। इसमें भी शायद उतना विरोधाभास नहीं है—लेकिन ठोस प्रेत! और उससे से अधिक अस्वीकार्य और असंग है उस ठोस प्रेत का कारुण्य भाव—एक बाहर को बहता हुआ सबकुछ को सहलाता हुआ कारुण्य! प्रेत किसी पर तरस कैसे कर सकता है? बल्कि प्रेत होता वही है जो अपने पर तरस खाते हुए मरता है—नहीं तो प्रेत-योनि में कोई जा ही नहीं सकता! प्रेत होने के लिये अतृप्त तो दुनिया में सभी मरते हैं, तो क्या सभी प्रेत हो जाते हैं? लेकिन जो अतृप्त आकांक्षा अपने ही पर तरस खाने की प्रवृत्ति पैदा करती है, जिसमें पैदा करती है, वही प्रेत होता है। लेकिन बुढ़िया की दया अपनी ओर मुड़ी हुई नहीं है। और कभी-कभी मुझे लगता है कि वह प्याला-तश्तरी भी उठाती है, या कि आग की ओर हाथ बढ़ाती है, तो मानो इन निर्जीव चीज़ों को भी दुलारती और असीसती है। आग को असीसती है—वह, जिसे आग को देखकर रिरियाना चाहिए क्योंकि अभी उसके भीतर की आग बुझ जाएगी और वह हो जाएगी—क्या? राख—राख से भी कम। उसे देखते-देखते मेरा मन होता है कि जोर से चीखूँ, कि जलती हुई लकड़ी उठाकर उसकी कलाइयों पर दे मारूँ जिससे उसका आग को असीसने का दुस्साहस करनेवाला हाथ नीचे गिर जाए—एकाएक जिसके सदमे से उसकी हृद्‌गति बन्द हो जाए।

31 दिसम्बर :
उसके सामने ही नहीं, अपने सामने भी कभी मेरा मन होता है कि चीख पड़ूँ, कि अपने बाल नोच लूँ, कि आईने के सामने खड़ी होकर अपने को मारूँ, छोटी कैंची उठाकर अपने गालों में चुभा लूँ, कि नहेरने से अपने माथे, नाक-कान-ठोड़ी पर घाव कर लूँ, कि पानी का जग उठाकर आईने पर पटककर उसके और आईने के भी टुकड़े-टुकड़े कर दूँ। आईने के भी और उसमें झाँकते हुए अपने प्रतिरूप के भी जो इतनी बेहयाई से मुझे ताकता है और मेरी सब अराजक जिज्ञासाएँ वापस मेरे मुँह पर मारता है।...

उसको वहीं छोड़कर मैं चली आयी थी और अपने बिस्तर पर बैठी रही थी। काफ़ी देर बाद, सोने की तैयारी करने से पहले मैंने झाँककर देखा तो वह आज रात देर तक जागने का अवसर था, क्योंकि आधी रात को नये साल का अभिनन्दन करने का कायदा है; लेकिन मैंने उसकी कोई चर्चा नहीं की थी और क्रिसमस के लिये उत्साह दिखानेवाली बुढ़िया ने भी देर तक जागने का प्रस्ताव नहीं किया था। इसीलिए मैं सोने चली आयी थी। पर वह तो बैठी है न! न मालूम जाग रही है या सो रही है—न मालूम होश में भी है या कि बेहोश है—पर निश्चल बैठी है। मैंने जाकर कहा, "आंटी सेल्मा, चलो सोओ। मैं सुला दूँ?"

आंटी सेल्मा ने सिकुड़ते कन्धे सीधे करते हुए कहा, "नहीं योके, मैं अभी बैठी हूँ—तुम सो जाओ।"

मैंने कहा, "नये साल का अभिनन्दन करने बैठी हो?"

उसने कहा, "हाँ! या कि शायद सिर्फ नये दिन का। क्योंकि साल का कोई भी दिन किसी दूसरे दिन से किस बात में कम है! बल्कि मैं तो सोच सकती हूँ कि कोई भी दिन साल का दिन क्यों है—दिन ही में क्या कम जादू है?'

बात पूरी-की-पूरी मुझसे नहीं कही गयी थी, बहुत कुछ स्वगत ही थी। पर मुझे ये सब बारीक बातें उस समय नहीं रुचीं। मैंने रुखाई से कहा, "हाँ, लेकिन रोज-रोज तो तुम जागरण नहीं करती हो।"

उसने कहा, "मुझे माफ कर दो, योके, मुझ बुढ़िया की सब बातें संगत नहीं होतीं—कुछ यों भी मुँह से निकल जाती हैं।"

उसके स्वर में जो चिड़चिड़ापन था, उफ! उससे मुझे कितनी तृप्ति मिली! तो बुढ़िया का कवच भी नीरन्ध्र नहीं है, कहीं उसमें भी टूट है—कहीं-न-कहीं वह भी मृत्यु से डरेगी और रिरियाकर कहेगी कि नहीं मैं मरना नहीं चाहती। एक प्रबल, दुर्दमनीय उल्लास, एक विजय का गर्व मेरे भीतर उमड़ आया। मैंने कहा, "आंटी, तुम क्यों बैठकर माला के मनकों की तरह दिन और घड़ियाँ गिनती हो? दिन जिस गति से जाएँगे उसी से जाएँगे—न गिनकर हम उन्हें आगे ठेल सकते हैं, न झोंककर

रोक सकते हैं। जो काम करना है करते चलो। जीना है तो जीते चलो, बस!"

उसने कहा, "हाँ, वह तो है। माला के मनके ही गिन रही हूँ। यह नहीं कि उससे कुछ बदलेगा। लेकिन जिसे माला के मनके ही गिनने हों उसे वैसा न करने का बस कहाँ है?"

"किसके लिए क्या तय है, इसका निश्चय अपने आप करते चलना तथा भगवान को अपने ऊपर ओढ़ लेना नहीं है?" मैंने कोशिश की कि मेरे मन में व्यंग्य का भाव जितना तीखा था प्रकट उतना न हो; लेकिन व्यंग्य उसे दीखे ही नहीं, यह मैं बिलकुल नहीं चाहती थी।

बुढ़िया एकाएक खड़ी हो गयी। उसका खड़ा होना भी इस समय मेरे लिये बिलकुल अप्रत्याशित था, पर उसने जो कहा वह मुझे अब भी अघटित लग रहा है। उसने कहा, "हाँ योके, मैं भगवान को ओढ़ लेना ही चाहती हूँ। पूरा ओढ़ लेना कि कहीं कुछ भी उघड़ा रह न जाए। तुम नहीं जानतीं कि जिसे माला की मणि तक नहीं पहुँचना है उसके लिये एक-एक मनके का रूप कितना दिव्य होता है।"

उसने अपने पारदर्शी हाथ मेरे कन्धे पर रख दिये और कहा, "देखो योके, मेरी आँखों में देखो। क्या तुम्हें नहीं दीखता कि भगवान के सिवा मेरे पास कुछ नहीं है ओढ़ने को!"

मैं जल्दी से कन्धे छुड़ाकर लौट आयी। जहाँ उसके हाथ पड़े थे वहाँ अब भी बर्फ की दो कटारें-सी मुझे चुभ रही हैं।

लेकिन उधर शायद बुढ़िया ने कुछ गुनगुनाना शुरू कर दिया है। वह स्वर गाने का नहीं है—शायद कोई प्रार्थना दुहरा रही है।

उफ, कब फटेगी यह कब्र, या कि कब निकलेगा वह बेशर्म जान—उसकी या मेरी या दोनों की!...

5 जनवरी :

फिर वही एकरूपता, एकरसता...अब लगता है कि इस डायरी का सहारा भी छूट जाएगा। क्योंकि इसमें भी लिखने को कुछ नहीं है, दोहराने का ही है। फिर एक दिन, फिर एक दिन घड़ी का एक और चक्कर और फिर एक और चक्कर।...

नये साल के दिन जब मैंने फिर सवेरे-सवेरे सेल्मा को गाते सुना तो मुझे क्रोध हो आया। सवेरे किसी तरह अपने पर जोर डालकर मैंने औपचारिक ढंग से उसे नये साल की बधाई दे दी और उसकी बधाइयों के लिये धन्यवाद दे दिया। फिर उसके बाद दिनभर हम लोग कुछ अजनबी-से रहे। यों इसके सिवा कुछ हो भी नहीं सकता, क्योंकि वह एक बार उठकर कुर्सी पर बैठ जाती है तो फिर वहाँ से बहुत कम हिलती-डुलती है। केवल नितान्त आवश्यक होने पर ही वहाँ से उठती है।

और मैं, मैं बाहर तो जा नहीं सकती, मुझे यहीं अपनी मांसपेशियों को चालू रखने के लिये इधर-उधर जाना पड़ता है—तीन कमरों के इस घर में न जाने कितने चक्कर काटकर तब कहीं यह सन्तोष पा सकती हूँ कि हाँ, मेरी पेशियाँ अब भी मेरे ही वश में हैं—अपनी इच्छा से हाथ-पैर हिला सकती हूँ, मुट्ठियाँ भींच सकती हूँ, किसी चीज़ को हाथों में जकड़ सकती हूँ, ईंधन की लकड़ियाँ उछाल सकती हूँ, और अगर कभी इस कब्र-घर से निकलने का अवसर आया तो सीधी चल भी सकूँगी—हाँ, अगर कयामत के दिन किसी फरिश्ते के सामने जाकर खड़े होने के लिए यहाँ से निकलना हुआ तब भी सीधी खड़ी हो सकूँगी।...

लेकिन सेल्मा के बीच के कमरे में कुर्सी पर बैठे रहते ही यह भी आसान नहीं है। मैं दबे पैरों ही इधर-उधर आती-जाती हूँ; निरन्तर मुझे सतर्क रहना पड़ता है। उसकी उपस्थिति को कभी क्षण भर के लिये भी नहीं भूल सकती हूँ। यहाँ तक कि अपनी उपस्थिति का अनुभव करने का ही मौका मुझे नहीं मिलता जब तक कि मैं रात को अपने पलँग पर अकेली नहीं हो जाती! मानो इस घर में वही वह है, मैं हूँ ही नहीं, जब कि जीती मैं हूँ और जीने की जरूरत भी मुझे है! और वह तो जीने-न-जीने की सीमा-रेखा पर अर्द्धमूर्छित ऐसे बैठी है कि यह भी नहीं जानती कि वह कहाँ पर है।

कैसे, जो जीवित नहीं हैं वे उन पर इतना कड़ा शासन करते हैं जो जीवन से छटपटा रहे हैं!

लेकिन कल तो थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ था। कहना चाहिए कि कल सवेरे ही पहली बार ऐसा हुआ कि इस कब्र में कुछ घटित हुआ।

मैं सवेरे रसोई-घर की ओर जाने के लिए बैठने का कमरा पार करने को जा रही थी कि मैंने चौंककर देखा, सेल्मा अपनी कुर्सी है। एक बार तो उसे देखकर ऐसा लगा कि वह रात भर वहीं बैठी रही है, बल्कि उस कुर्सी का अंग ही है और सनातन काल से वहीं पड़ी है। क्या वह रात भर सोयी नहीं? मुझे याद था कि रात को जब मैं सोने जाने के लिये मुड़ी थी तब वह भी अपने कमरे की ओर चली गयी थी। लेकिन उसके बैठने की मुद्रा से पल-भर मुझे अपनी स्मृति पर ही सन्देह हो आया। मैं पूछने ही जा रही थी कि बुढ़िया ने कहा, ''तुम्हारे लिए कहवा बनाकर रसोई में रख दिया है, मैं पी चुकी हूँ। और कुछ नहीं खाऊँगी।''

यह कुछ असाधारण तो था, लेकिन एकदम अनहोना भी नहीं था—पहले भी कभी-कभी वह मेरी प्रतीक्षा किये बिना नाश्ता कर लेती थी। मैं चुपचाप रसोई में चली गयी। मेरे लिए नाश्ता लगा हुआ रखा था। बरतन धोने की बेसिनी में कोई जूठे बरतन नहीं थे। क्या बुढ़िया ने अपना तश्तरी-प्याला धोकर भी रख दिया; या कि उसने कुछ खाया ही नहीं है?

मैंने लौटकर बुढ़िया से पूछा, "तुमने सचमुच नाश्ता कर लिया है? मुझे तो कहीं लक्षण नहीं दीखते!"

"मुझे जितनी जरूरत है उतना मैंने ले लिया।"

मैं लौट गयी। नाश्ता करके मैंने बरतन धोकर रख दिये।

न जाने क्यों मेरा मन इस बात पर कुढ़ता रहा कि उसने मेरे लिये नाश्ता बनाकर रख दिया था और स्वयं शायद कुछ नहीं खाया था। फिर बैठक में जाकर मैंने कहा, "आंटी, मेरे लिए कष्ट करने की जरूरत नहीं है, खासकर जब तुम्हें खुद कुछ भी न लेना हो।"

"मैंने कहा तो, कि जितनी मुझे जरूरत थी, मैंने ले लिया।"

मैंने कुछ चिड़चिड़े स्वर में कहा, 'क्या ले लिया था? एक प्याला गरम पानी?'

मैं चिड़चिड़े स्वर मे बोली थी, लेकिन मुझे नहीं लगता कि मैंने ऐसा कुछ कहा था जिस पर वह इतनी बिगड़ खड़ी हो।

वह बोली, "हाँ, एक प्याला गरम पानी बल्कि तुम सच ही कहना चाहती हो तो आधा प्याला गरम पानी। मैंने तुमसे कह दिया कि जितनी मुझे जरूरत थी मैंने ले लिया। मैं क्या खाती-पीती हूँ इससे तुम्हें क्या मतलब? तुम यहाँ मेहमान हो, लेकिन इससे—"

मैं सन्न रह गयी। क्या यह सेल्मा ही बोल रही है?

फिर मैंने किसी तरह रुकते-रुकते कहा, "ठीक है, मैं पूछने वाली कोई नहीं होती। लेकिन स्वतन्त्रता मुझे भी चाहिए। यहाँ मैं अपनी इच्छा से कैद नहीं हुई, और न बीमार आदमी से सेवा लेकर स्वस्थ आदमी अपने को स्वतन्त्र महसूस कर सकता है।"

मैं नहीं जानती कि यह बात उसे तकलीफ देने के लिए ही कही थी या नहीं। फिर भी उसे जरूर बहुत तकलीफ हुई होगी, क्योंकि उसने कहा, 'मेरी बीमारी की बात बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है—मैं जानती हूँ कि मैं बीमार हूँ। मैं क्या जान-बूझकर हुई हूँ, या कि तुम्हें सताने के लिए बीमार हुई हूँ? और स्वतन्त्रता—कौन स्वतन्त्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहगा? मैं क्या स्वतन्त्र हूँ कि बीमार न रहूँ—या कि अब बीमार हूँ तो क्या इतनी भी स्वतन्त्र हूँ कि मर जाऊँ? मैंने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी? तुम क्या समझती हो कि इससे मुझे तकलीफ नहीं होती कि जो मैं अपनों को भी नहीं दिखाना चाहती थी उसे देखने के लिए—भगवान ने—एक-एक अजनबी भेज दिया?"

थोड़ी देर चुप रहकर उसने कहा, "मुझे माफ करो, योके, थोड़ी देर मेरे पास

से चली जाओ! मैंने तुम्हें साक्षी नहीं चुना और भरसक कोशिश करूँगी कि तुम्हें कुछ न देखना पड़े—जितने पर मेरा वश नहीं उतना तो तुम मुझे क्षमा कर दो!"

क्यों उसे तकलीफ होती देखकर मुझे सन्तोष होता है? लेकिन तकलीफ तो शायद उसे बराबर रहती है—क्यों उसे तकलीफ से टूटते हुए देखकर होता है—क्या यह एक अत्यन्त विकृत ढंग की जिजीविषा नहीं है!

लेकिन क्या मेरा यह मानना ही ठीक है कि वह हार ही रही है, टूट ही रही है? तकलीफ उसे है, और वह उसे पूरी तरह छिपा भी नहीं सकी है। लेकिन उतने से ही तो हार नहीं सिद्ध होती—कम-से-कम टूटना तो नहीं सिद्ध होता, अगर छिपा न सकने को एक ढंग की हार मान भी लिया जाए!...

दोपहर तक हम एक-दूसरे से नहीं बोले। मैंने सोचा कि कुछ खाने को बना लूँ, और उससे पूछ भी लूँ कि वह क्या लेगी, लेकिन जब भी उसके पास जाने की बात सोचती तो लगता कि हम दोनों के बीच कोई सामान्य भाषा नहीं है—कम-से-कम इस समय तो नहीं है। मन-ही-मन कुढ़ती हुई मैं अपने कमरे में बैठी रही और सेल्मा बैठक में अपनी अभ्यस्त कुर्सी पर अपनी अभ्यस्त जड़-मुद्रा में।

लेकिन नहीं, वह बैठक में नहीं थी। एकाएक मैंने उसका स्वर सुना तो वह भंडारे से आ रहा था। वह स्वर निःसन्देह उसी का था, लेकिन उसके स्वर से कितना भिन्न, कितना अभ्यस्त! मैं दबे-पाँव जाकर भंडारे के किवाड़ की ओट खड़ी हो गयी। बुढ़िया भंडारे में चीज़ें इधर-उधर रख रही थी—रख नहीं, पटक रही थी। और साथ-साथ बुड़बुड़ाती जा रही थी—गालियाँ—मानो जिस भी चीज़ को छू, उठा या पटक रही थी उसके अस्तित्व को कोस रही थी। और मानो भंडारे की चीज़ों को कोसकर ही उसे सन्तोष न हुआ हो; उसने भंडारे के बाहरवाले किवाड़ को झँझोड़कर खोला और फिर उसके पीछे से एक लकड़ी खींचते हुए लकड़ी को भी गालियाँ दीं। फिर वह लकड़ी उठाकर मानो किवाड़ को पीटने ही जा रही थी कि वह उसके हाथ से छूटकर नीचे गिर गयी और एक बेबस कराह उसके मुँह से निकल गयी। फिर उसने अपने हाथ की ओर देखकर उसे भी एक गाली दी, 'निकम्मा मुरदा हाथ!'

मैंने भंडारे में जाकर पूछा, "आंटी सेल्मा, मैं कुछ कर सकती हूँ?"

बुढ़िया सकपका गयी और थोड़ी देर विमूढ़-सी मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक खिलखिलाकर हँस पड़ी—एक अद्‌भुत, अप्रत्याशित, अकल्पनीय खिलखिलाहट—और बोली, "मैं माफी चाहती हूँ, योके! मैं अपना गुस्सा इन सब बेजान चीज़ों पर निकाल रही थी। अब कुछ हलका लगने लगा है। गालियाँ भी अजीब चीज़ हैं—बचपन में सुनी हुई गालियाँ बुढ़ापे में काम की जान पड़ने लगती हैं।'

मैंने कुछ पसीजकर कहा, "माफी माँगने की कोई बात नहीं है, सेल्मा! मैं तो कहने जा रही थी कि तुमने मुझे इस भूल से बचा लिया कि मैं तुम्हें अमानुषी समझने लगूँ। जो गालियाँ दे सकते हैं वह जरूर इनसान हैं।"

बुढ़िया ने भंडारे से बाहर आते हुए कहा, "बस अगर इतने ही सबूत की जरूरत थी तब तो बड़ी आसान बात है! बल्कि यह सबूत तो मैं इतना दे सकती हूँ कि तुम उससे मुझे अमानुषी समझने लगो!"

इस छोटी-सी घटना से पायी हुई निकटता दिन भर बनी रहती, अगर भंडारे मे आकर कुर्सी पर धप् से बैठते ही बुढ़िया मूर्छित-सी न हो जाती। मैंने उसे सहारा दने की कोशिश की, लेकिन उसने हाथ के इशारे से मुझे रोक दिया। उस अत्यन्त दुर्बल हाथ में आज्ञापना का कुछ ऐसा बल था कि मैं उसे छू न सकी, उसके पास भी न जा सकी। जैसे फिर क्षण-भर में हम दोनों अजनबी हो गये।

रात को उसने कहा, "कल एपिफानिया का त्योहार है। कल...लेकिन योके, तुम ईश्वर को मानती हो?"

मैं नहीं सोच पाती कि मुझे किसी से यह सवाल पूछने का साहस हो सकता है। यह भी नहीं सोच सकती कि इसका जवाब क्या दे सकती हूँ—कैसे दे सकती हूँ। मैंने कहा, "मैं नहीं जानती।"

'यों तो मैं भी नहीं कह सकती कि मैं जानती हूँ, कि मैं सचमुच मानती हूँ। लेकिन कभी जब यह बात सोचती हूँ कि मैं मरने वाली हूँ, और तब मुझे ध्यान आता है कि तुम यहाँ उपस्थित हो—जब मैं अपने से अलग एक सजीव उपस्थिति के रूप में तुम्हारी बात सोचती हूँ—तब मुझे एकाएक निश्चत रूप से लगता है कि ईश्वर है—कि सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है—कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्योंकि नहीं तो उपस्थिति हो ही कैसे सकती है?"

मैं चुप रही।

थोड़ी देर बाद उसने फिर कहा, 'एपिफानिया ईश्वर की पहचान का दिन है। मैं सोचती हूँ कि कल मुझे भी वह दीख जाता, मैं भी उसे पहचान लेती। योके, अगर मैं कल मर जाऊँ तो तुम्हें कैसा लगेगा? कभी एकाएक लगता है कि समय आ गया है। लेकिन मैं नहीं चाहती हूँ कि बर्फ के पिघलने से पहले मैं मर जाऊँ। और खास कुछ नहीं—तुम्हें अपना बन्दी बनाकर रखना नहीं चाहती। अपनी तरफ़ से मैं तैयार हूँ। जिस दिन तुम्हें स्वतन्त्रता मिलेगी उसी दिन मैं जा सकूँगी, मुझे भी सूरज दीख जाएगा!"

पहले मैं मृत्यु की बात पर उसे टोक देती थी। अब उसे व्यर्थ मानकर छोड़ दिया है। उसे मृत्यु की बात करनी होगी तो करेगी ही, मेरे रोकने से रुकेगी नहीं!

और फिर शायद ठीक ही कहती है; और मुझे इस विचार का आदी हो जाना चाहिए।

मैंने कहा, "शुक्रिया सेल्मा! मैं तो चाहती हूँ कि तुम अभी और कई वर्ष की बर्फ देखो—कई बर्फों के बाद की धूप!"

उसने मुस्कुराकर फिर हाथ से वही अनिर्दिष्ट इशारा किया जिसका कुछ भी अर्थ हो सकता है।...

6 जनवरी :

रात में मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। लगा कि भूकम्प हो रहा है, सारा मकान थरथरा रहा है। फिर एकाएक कहीं धमाका हुआ और फिर ऐसा लगा कि एक तीखा ठंडा झोंका कमरे में घुस आया है। थोड़ी देर मैं सुन्न-सी बैठी रही, फिर मुझे ध्यान आया कि अगर धमाका मैं सुन चुकी हूँ तो ऊपर से बर्फ का बोझ हट गया होगा, और तभी यह समझ में आया कि धमाका उसी का था। मैं उछलकर खड़ी हो गयी। मेरा मन हुआ कि उसी समय जाकर दरवाजा खोलकर देखूँ, खुलता है कि नहीं। कि किसी तरह अपने को सँभालकर कम्बल ओढ़कर लेट गयी। इतने में ही बदन ठिठुर गया था।

किसी तरह कुछ घंटे बिस्तर में बिताकर उठी तो सोचा कि पहले नाश्ता कर लेना चाहिए। बैठने का कमरा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक ठंडा हो गया था, और ऐसे में दरवाजा खोलने की कोशिश मूर्खता ही होगी।

नाश्ता करने के बाद ही लगा कि कमरे के प्रकाश का रंग कुछ बदल गया है—कुछ उजाला हो गया है। बुढ़िया के घुटनों पर एक कम्बल डालकर मैंने जाकर द्वार खोलने की कोशिश की। वह नहीं खुला, और मैं फिर बैठ गयी। बुढ़िया ने कहा, "ऊपर से बर्फ शायद हट गयी। पर अभी बाहर निकलना तो नहीं हो सकता, और ठंड भी होगी। शायद आजकल में थोड़ी धूप भी दीख जाए।"

आज बहुत दिन बाद मैंने सहज भाव से आँखें उठाकर बुढ़िया के चेहरे की ओर भरपूर देखा। वह चेहरा कुछ-एक दिन में ही काफ़ी बूढ़ा हो गया था। सभी रेखाएँ अधिक स्पष्ट और गहरी और निर्मम हो गयी थीं और उनके माध्यम से जीवन जो भी नि:संग और निष्करुण सन्देश देना चाहता था वह और भी विशद और असन्दिग्ध हो उठा था।

मैंने पूछा, "आंटी सेल्मा, मैं एक बात अक्सर सोचती हूँ—पूछना चाहती हूँ—वह क्या है जो तुम्हें सहारा देता है, जबकि मुझे डर लगता है?"

बुढ़िया ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद बोली, 'क्या सचमुच ऐसा है? मुझे किसका सहारा है, मैं नहीं जानती हूँ। ईश्वर का है, यह भी किस मुँह से कह सकती हूँ? शायद मृत्यु का ही सहारा है। वह है, बिलकुल पास है, सामने खड़ी है—लगता है कि हाथ बढ़ाकर उसका सहारा ले सकती हूँ? ईश्वर...ईश्वर

का नाम लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है। और मौत और ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। बल्कि शायद मन में ईश्वर को तब तक पहचान नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें।''

मैंने धीमे स्वर में कहा, ''यह मेरी समझ में नहीं आया। बल्कि मुझे तो यही सिखाया गया है कि ईश्वर है, इसीलिए मृत्यु नहीं है। मृत्यु केवल भ्रम है।''

''सिखाया तो मुझे भी यही गया है। लेकिन भ्रम भी क्या कम ईश्वर है? और ईश्वर की कौन-सी पहचान हमारे पास है जो भ्रम नहीं है? जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं? जो हम जान सकते हैं वे कुछ गुण हैं—और गुण हैं इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचाने हैं अन्तिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार—जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और न कोई आगे जवाब ही...इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकनेवाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर ज्ञान है, बाकी सब सतही बातें हैं और झूठ है।''

मैं अवाक् बुढ़िया को देखती रही। यह क्या बर्फानी वीरान में रहनेवाली गड़रियों की माँ की भाषा है! या कि यहाँ और भी कोई रहस्य है—और छिपा हुआ झूठ?

[illegible] जनवरी :

ठिठुरती हुई रात में मुझे धीरे-धीरे फिर बुढ़िया पर क्रोध आने लगा। ज्यों-ज्यों मैं मन ही मन उसकी कही हुई बातें दोहराती त्यों-त्यों मुझे लगता कि उनमें छिपा हुआ मेरे प्रति पैना व्यंग्य है, और यह मरती हुई बुढ़िया अपनी अन्तिम घड़ियों में भी मेरे स्वस्थ युवा जीवन का अपमान कर रही है, मुझे नीचा दिखा रही है। मैं क्यों बाध्य हूँ यह सहने को, उसके द्वारा यों जलील किये जाने को? मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं इसे क्यों मानूँ? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मान सकती, नहीं मानना चाहती! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खंडन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूँगी तब जाननेवाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूँ—कि मैं मर चुकी हूँ? मौत दूसरों की ही हो सकती है, जिनका होना और न होना दोनों ही हम जान सकते हैं—या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है? वह केवल दूसरे को देखकर लगाया हुआ अनुमान है—कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ इसलिए हमारे साथ भी होगा। लेकिन दूसरे ने अपने होने को जैसा जाना, क्या हमने भी उसके होने को ठीक वैसा ही

जाना? क्या 'वह है' और 'मैं हूँ' ये दोनों बुनियादी तौर पर अलग-अलग जाति के, अलग-अलग दुनियाओं के ही बोध नहीं हैं? 'वह है' के जोड़ का बोध यह भी है कि 'वह नहीं है', लेकिन 'मैं हूँ' के साथ उसका उलटा कुछ नहीं है; 'मैं नहीं हूँ' यह बोध नहीं है बल्कि बोध का न होना है।

लेकिन उस ठिठुरती हुई रात में मैंने यह भी सोचा कि उस बुढ़िया को शायद यह बोध भी है कि वह 'मैं हूँ' को भी जानती है और 'मैं नहीं हूँ' की अवस्था में भी जी सकती है। यही तो उसकी सम्पूर्ण नकार की बात का मतलब था। और इस न होने के बोध की सम्पूर्णता मेरी ठिठुरन के ऊपर एक नये आतंक सी छा गयी।

क्या है यह 'न होना'? मैं पलँग पर उठ बैठी और उठ खड़ी हुई। गले पर गरम शाल लपेटकर मैंने ड्रेसिंग गाउन पहन लिया और इधर-उधर टहलने लगी।

होना और न होना। न होना...होना, न होना। होना और न होना—और एक साथ ही होना और न होना ..एकाएक मैंने पाया कि मैं केवल इन शब्दों को सोच ही नहीं रही हूँ बल्कि धीरे धीरे दोहरा रही हूँ, और दोहराने के साथ-साथ मेरे हाथों की मुट्ठियाँ बँधती और खुल जाती हैं।

होना और न होना। खुले हाथ और बँधी हुई मुट्ठियाँ। मेरे नाखून मेरी हथेलियों में गड़ जाते हैं और वहाँ दर्द होता है; और उस दर्द से मैं पहचानती हूँ कि मैं हूँ। होने का दर्द! न होने का दर्द कैसा होता है? और फिर मुझ पर एकाएक कोई भूत सवार हो आया। मेरा मन हुआ कि कुछ तोड़-फोड़ कर दूँ। यह जो नाखूनों के गड़ने से होने का दर्द होता है उसे और गहरा और विस्तार के साथ अनुभव कर सकूँ—कि जिऊँ और गड़ूँ और जिऊँ और अनुभव करूँ कि मैं जीती हूँ।..

मैं एकाएक मोजोंवाले पैरों से ही बुढ़िया के कमरे की ओर बढ़ गयी। किवाड़ बन्द नहीं थे। मैं धीरे से परदा हटाकर भीतर चली गयी। अँधेरे में थोड़ी देर आँखें फाड़-फाड़कर देखती रही; मैंने पहचाना कि बुढ़िया का आकार उसके पलँग पर निश्चल पड़ा है। मैं पास गयी और झुककर मैंने देखा, उसके सफेद चेहरे को, जो उस अँधेरे में भुतहा लग रहा था, रेखाएँ कुछ घुल-सी गयी हैं, और बन्द आँखों की कोरों की सलवटें सीधी हो रही हैं, मैंने और भी पास से झुककर देखा—इतनी पास से कि अगर बुढ़िया का चेहरा एक ओर चादर से न ढँका होता तो मेरी घनी साँस का स्पर्श उसका गाल छू जाता!

होना और न होना—होने का दर्द, न होने का भ्रम। भ्रम नहीं, न होना ही सच्चा ज्ञान है। ईश्वर का भ्रम। मेरे हाथ अवश से बुढ़िया की गरदन की ओर बढ़ गये और मैं मानो केवल उसकी स्वचालित गति की साक्षी हो गयी। मैंने देखा कि वे दो हाथ बुढ़िया की गरदन के आगे अर्धमंडलाकार घिर गये हैं—गरदन को उन्होंने अभी छुआ नहीं है लेकिन इतने पास हैं कि एक रोएँ की सिहरन भी दोनों की छुअन

बन जा सकती है—और वे दोनों हाथ काँप रहे हैं। किसी दुर्बलता के कारण नहीं बल्कि अपने कड़ेपन के कारण ही।

मैं हाथों के ऊपर थोड़ा और झुक गयी। मुझे याद आया, बुढ़िया कहती थी, धूप निकलकर आये तो अच्छा है...लेकिन मरे हुए गोश्त को इससे क्या कि धूप है या नहीं है—सिवा इसके कि धूप होगी तो सड़न होगी?

क्या ये हाथ—ये समर्थ और कर्मठ हाथ, जिसमें एक स्वतन्त्र इच्छा और कारक शक्ति है, मेरे ही हाथ हैं? क्योंकि उन पर झुका हुआ जो व्यक्ति इतनी पास से उन्हें देख रहा है वह व्यक्ति 'मैं' नहीं है। कितनी पास हैं बुढ़िया की मुँदी हुई पलकें—क्या उनके नीचे जो आँखें छिपी हुई हैं वे बुढ़िया की ही हैं, या मेरी, या—

लेकिन वे आँखें अपलक खुली थीं और बुढ़िया एकटक मुझे देख रही थी। उसने जरा भी हिले-डुले बिना कहा, 'मेरा तो खुद कई बार मन हुआ कि तुमसे कहूँ, मेरा गला घोंट दो—कहने का साहस नहीं हुआ। लेकिन तुम रुक क्यों गयीं?'

एक बड़ी लम्बी चीख मेरे मुँह से निकल गयी और मैं दौड़कर अपने बिस्तर में घुस गयी। फिर काफ़ी देर बाद मुझे लगा कि मैं रो रही हूँ। लेकिन मेरी आँखों में बिलकुल आँसू नहीं थे। सिर्फ ठठरी बेतरह काँप रही थी।...

न जाने कैसी सोयी और कैसे जागी। जो हुआ था उसके बाद सवेरा कैसे हो सकता है, मैं नहीं सोच सकती थी। और बुढ़िया के सामने मैं कैसे जा सकती हूँ, यह तो सवाल भी मैं अपनी कल्पना के सामने नहीं ला पा रही थी। लेकिन जब मैंने बैठक में झाँका तो वहाँ कोई नहीं था। मैं दबे पाँव रसोई में गयी। मैंने नाश्ता तैयार किया और वहीं खा भी लिया। फिर एक तश्त में कहवा रखकर बुढ़िया के कमरे में गयी। वह पलँग पर निश्चल पड़ी थी। मैं न जान सकी कि वह सोयी है या जाग रही है। और शायद उसने जान-बूझकर ही आँखें नहीं खोलीं। मुझे इसमें सुविधा ही थी—मैंने तश्त पलँग के पास ही तिपाई पर रख दिया और बाहर चली आयी।

दोपहर हो गयी थी जब उसने दुर्बल स्वर में मुझे पुकारा। मैं उसके कमरे में गयी और उसके सिरहाने खड़ी हो गयी, जहाँ वह मुझे न देख सके—या कम-से-कम मुझे उससे आँखें न मिलानी पड़ें। लेकिन उसने ठोड़ी ऊँची करके और पलकें चढ़ाकर मेरी ओर देखते हुए कहा, "योके, थोड़ी देर मेरे पास आकर बैठ सकती हो? मुझे तुमसे बातें करनी हैं। और आज उठ नहीं पा रही हूँ।"

कहते हैं कि आसन्न मृत्यु की एक गन्ध होती है। हम इनसानों ने उसे पहचानने की शक्ति खो दी है, लेकिन जानवर पहचान सकते हैं और उसे पाकर बेचैन हो उठते हैं। यह भी सुना है कि कैंसर के रोगियों के अन्तिम दिनों में यह गन्ध इतनी स्पष्ट होती है कि मनुष्य भी पहचान सकते हैं। क्या मेरी कल्पना ही थी कि

मुझे लगा, बुढ़िया का कमरा उस विशेष मृत्यु-गन्ध से भरा हुआ है। क्या कल्पना में ही इतना बल था कि मुझे उबकाई-सी आने लगी? मैंने किसी तरह अपने को सँभाला और एक चौकी खींचकर उसके पास बैठ गयी। आँखें मैं उससे नहीं मिला सकी लेकिन मैंने किसी तरह कहा, "गत के लिए मुझे क्षमा कर दो। मैं पागल हो गयी थी।"

बुढ़िया ने कहा, "क्षमा तो मुझे माँगनी है—तुम्हें ऐसी परिस्थिति में डालने के लिये। यह कुछ अच्छी स्थिति नहीं कि कोई कुछ करना चाहे और कर न सके।"

लेकिन मैंने तिलमिलाकर कहा, "लेकिन यह चाहना ही कितना गलत और भयानक है—"

"वह कुछ नहीं। भयानक होता तो चाहा कैसे जाता है? लेकिन मैंने ही तुम्हें ऐसे संकट में डाला कि तुम्हें अपने भीतर ही दो हो जाना पड़े। सचमुच ही मैं ही अपराधी हूँ, और तुम्हें क्षमा करना होगा।"

मैं चुप रही। क्या कहती? वह भी काफ़ी देर तक चुप रही, फिर उसने कहा, "नहीं कर सकतीं क्षमा? इतना आश्वासन मैं और देती हूँ कि कल जैसा अवसर फिर नहीं आएगा। मैं ही मौका नहीं दूँगी—नहीं दे सकूँगी। लेकिन मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे क्षमा कर दो—इतना ही नहीं, मैं चाहती हूँ कि तुम अपने मुँह से कह सको कि तुमने कर दिया क्षमा। क्योंकि उससे तुम्हें भी आगे शान्ति मिलेगी।"

मैंने कहा, "अपराधी तो मैं हूँ, और मैं दुर्बल हूँ, जो कि दुगुना अपराध है और इसी की कुढ़न मुझे कुराह पर ठेलती है जो कि और अपराध है।"

उसने कहा, "न न, योके, यह अपराध को ख़ाहमख़ाह ओढ़ना है। तुम जो अपने को स्वतन्त्र मानती हो वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं, न स्वतन्त्र हैं। बल्कि अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतन्त्र नहीं हैं; और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है। मैंने तुम्हें बताया है कि मैं चाहती थी कि मैं अकेली मरूँ। लेकिन क्या यह निश्चय करना मेरे बस का था? क्या मैं अपनी मनपसन्द परिस्थिति चुन सकी? और तुम—क्या तुम स्वतन्त्र हो कि मुझे मरती हुई न देखो? ऐसी सब स्वतन्त्रताओं की कल्पनाएँ निरा अहंकार हैं—और उसी से स्वतन्त्रता को छोड़कर कोई दूसरी स्वतन्त्रता नहीं।"

मैंने हिचकिचाते हुए कहा, "लेकिन तुम स्वतन्त्र हो सेल्मा, मुझे तो लगता है कि तुम स्वतन्त्र हो! और शायद तुम्हारा यह कहना ठीक है कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। क्योंकि तुम्हारी इसी बात पर मुझमें कुढ़न होती है।"

बुढ़िया ने देर तक कोई जवाब नहीं दिया। पर जो कहा वह जवाब नहीं था, यद्यपि कहा ऐसे ही ढंग से गया कि मेरी बात का जवाब दिया जा रहा है। उसने कहा, "बहुत बड़ा वरदान है जवान होना!"

फिर काफ़ी देर तक उसने कुछ नहीं कहा तो मैंने पूछा, ''लेकिन तुम तो कुछ बात करने वाली थीं?''

''अरे, वह! मुझे तो माफी ही माँगनी थी, वह मैंने माँग ली। तुमने दे दी—यह तो तुमने अभी नहीं कहा, लेकिन मैं कहला लूँगी। और कुछ—''

वह फिर थोड़ी देर चुप रही। फिर एक लम्बी साँस लेकर बोली, ''मैं थक जाती हूँ।''

मुझे ध्यान आया कि उसने दिन भर कुछ नहीं खाया है। पहले दिन भी लगभग कुछ नहीं खाया था। बल्कि इधर कई दिनों से कुछ नहीं खा रही है। मैं कहा, ''पहले तुम्हारे लिये कुछ ले आऊँ—थोड़ा-सा गरम शोरबा या कहवा ही।''

उसने संक्षेप में कहा, ''जितनी मेरी जरूरत है, मैं ले लेती हूँ—जितना ले सकती हूँ।''

बात खत्म नहीं हुई थी लेकिन इसके बाद वह पलकें मूँदकर देर तक चुपचाप पड़ी रही तो मैंने बुलाना उचित नहीं समझा और चुपचाप उठ आयी।

11 जनवरी :

इस काठघर में—लिखकर मैं देखती हूँ कि मैंने कब्रघर नहीं लिखा है, काठघर लिखा है—क्या मेरे भीतर कहीं कोई छिपी हुई आशा है?—अब पहले जैसा अँधेरा और झुटपुटे के बीच का-सा प्रकाश नहीं है। ऐसा प्रकाश है जो पहचाना जा सकता है, जो बड़े निर्मम भाव से चेहरे की रेखाएँ और उनकी सलवटों में छिपाना चाहनेवाली जीवन की बेशर्मी को उघाड़कर रख देता है। वह प्रकाश जिसमें किसी चीज़ की ओर देखते डर लगता है क्योंकि वह पलटकर वापस मेरी ओर देखती है और उस देखने ही में कैसी डरावनी हो आती है। यह मेज, यह पलँग, यह आईने का चौखटा, यह आईने में मेरी परछाई, ये मेरे अपने हाथ-पैर, ये मेरी उँगलियों की गति। कैसी भयानक है पार्थिवता, स्थूलता, यह गतिमत्ता! मैं मुट्ठी बन्द करती और खोलती हूँ, और मुझे अपनी उँगलियों की गति से डर लगने लगता है। मुझे नहीं लगता कि मैं उनको चलाती हूँ—वे अपने-आप चलती हैं, और कैसा आतंकित करनेवाला है यह विचार कि मेरी उँगलियाँ और यह मेरी उँगलियाँ अपने आप मुझसे स्वतन्त्र एक अपने निरात्म मन से चलती हैं! और उससे भी कितना अधिक भयानक है यह मानना कि अपने आप नहीं चलतीं बल्कि मेरे द्वारा चलाई जाती हैं। क्योंकि तब क्या मैं भी वैसी ही निरात्म हूँ?

इस प्रकाश में सेल्मा को देखना आसान नहीं है। लेकिन अच्छा ही है कि मुझे उसकी ओर देखना भी नहीं पड़ता और उससे बोलना भी बहुत कम पड़ता है। वह कमरे से लगभग नहीं निकलती, पलँग से भी लगभग नहीं उठती; और जब उठना होता है तो मेरा सहारा लेने से इनकार करके मुझे कमरे से बाहर भेज देती है। रात में

कभी सुनती हूँ कि वह उठी है, एक कदम के बाद दूसरा घिसटता हुआ कदम सुनाई पड़ता है। फिर तीसरा और फिर चौथा...मेरे भीतर एक सशंक प्रतीक्षा उमड़ आती है। मैं तने हुए स्नायुओं और सुई-सी एकाग्र श्रवण शक्ति से वह घिसटना सुनती रहती हूँ और कदम गिनती रहती हूँ जब तक कि अन्त में पलँग की हलकी-सी चरमराहट के साथ एक चरम क्लान्ति का 'ऊँह!' न सुनने को मिल जाए—उस चरम क्लान्ति का, जो चरम उपलब्धि के साथ आती है—मानो जो कुछ करना चाहा गया था सब कर लिया गया, और कुछ करने को बाकी नहीं रहा। और तब एकाएक ऐसा लगता है कि जीवन पैरों के घिसटने के सिवा कुछ नहीं है, और उसके बीच-बीच जो मुझे अपना ध्यान आता है वह धोखा है, मैं नहीं हूँ और केवल पैरों का घिसटना है।...

12 जनवरी :

इस बिना कफन की कब्र से क्या वह पहले की ही अवस्था अच्छी नहीं थी? बर्फ के नीचे दबकर मर जाना भी मर जाना है। लेकिन वह दबकर मरना तो है—उसमें कार्य और कारण की संगति तो है! लेकिन यह बिना दबे, बिना बर्फ को छुए भी अहेतुक मर जाना—यह मानो हमारे जीवन के अनुभव का अपमान करता है। और हम मरने पर भी अनुभव का खंडन सहने को तैयार नहीं। शायद यह हमारे करुण विश्वास का—विश्वास की कामना का फल है कि अगर अनुभव है तो हम भी हैं, और अगर कोई अनुभव हमें हुआ है तो हमारे मर जाने पर भी वह नहीं मरता और एक धनात्मक उपलब्धि के रूप में बचा ही रह जाता है। इस करुण विश्वास के सहारे हम यह मान लेना चाहते हैं कि हमीं बचे रह जाते हैं। लेकिन सब झूठ है—कुछ नहीं बचता—हम नहीं बचते; बचने को रहे भी, यह भी नहीं कह सकते! मृत्यु—मृत्यु—उसी की एकमात्र प्रतीक्षा, ऊपर बर्फ हो या न हो—और हाँ, कैंसर भी हो या न हो! क्या सेल्मा की प्रतीक्षा मेरी प्रतीक्षा से इसलिए भिन्न है और मुझे नहीं है, या कि भिन्न इसी बात में है कि उसके पास कारण की संगति का सबूत है और मेरे पास वह भी नहीं है? क्या मैं ज्यादा लाचार, ज्यादा दयनीय—ज्यादा मरी हुई नहीं हूँ? क्या मुझे ही ज्यादा कैंसर नहीं है—वह कैंसर जिसे हम ज़िन्दगी कहते हैं?

14 जनवरी :

धूप की एक पतली-सी किरण। नहीं, छत के रोशनदान के एक कोने से घुसकर फर्श पर गिरा हुआ धूप का एक छोटा-सा चकता।

और हमारी ज़िन्दगी में—हमारे कब्र के प्रवास के इतिहास में एक घटना!

मैंने बिना सोचे एकाएक सेल्मा के कमरे में जाकर देखा, "सेल्मा, धूप! बड़े कमरे में फर्श पर धूप की एक बड़ी-सी थिगली है, देखोगी?"

बुढ़िया चुपचाप थोड़ी देर मेरी ओर देखती रही। फिर मानो मन-ही-मन तय करके कि इस सूचना पर उसे जरूर मुस्कुराना चाहिए, वह किसी तरह मुस्कुरा दी। फिर उसने धीरे-धीरे गुनगुनाकर कुछ कहा, जो मुझे सुनाई नहीं दिया। और थोड़ी देर मैं यह भी नहीं सोच सकी कि वह मेरे सुनने के लिए कहा भी गया था या नहीं। थोड़ा झिझककर मैंने पूछा, "सेल्मा, मुझसे कुछ कहा है?" और तनिक उसकी ओर झुक गयी।

वह बोली, "जाने दो, वह कुछ नहीं।"

मैंने फिर पूछा, "नहीं जरूर—कोई चीज़ की जरूरत हो तो...धूप देखना चाहोगी?"

वह कुछ ऐसे ढंग से मुस्कायी जैसे अपना अपराध पकड़े जाने पर बच्चा मुस्कुराता है। "हाँ, वह मैं चाह सकती थी पर मेरे बस का नहीं है।"

मैंने कहा, "मैं उठाकर ले चलूँ?"

'वह—नहीं हो सकेगा।—तुमसे नहीं, मुझसे ही नहीं हो सकेगा।"

मैंने कहा, "अच्छा, मैं यहाँ से दिखा देती हूँ।" और बढ़कर मैंने बैठक की ओर के उसके कमरे का किवाड़ खोलकर परदा एक ओर सरका दिया। उतना काफ़ी नहीं था। मैंने पलँग को भी एक ओर खींच लिया। फिर उसके सिरहाने जाकर कहा, "मैं बाँह का सहारा देती हूँ, उठकर देख लो!" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये अपना हाथ उसकी गरदन के नीचे डाल दिया।

वह इतनी हलकी थी, कि उसे सहारा देकर उठाना ही नहीं, बिलकुल उठा लेना भी कोई बड़ा काम नहीं था। लेकिन मेरी बाँह का सहारा जरूरत से ज्यादा न लेने की कोशिश में उसने उठने के लिये थोड़ा सा जोर भी लगाया। क्षण भर के लिए मेरा हाथ बालों के लच्छे को छूता रहा, उसके भार का अनुभव उसे नहीं हुआ। फिर एकाएक उसकी गरदन शिथिल हो गयी और उसके सिर का भार मेरे हाथ पर आ रहा। उसने कहा, "नहीं, शुक्रिया योके!"

मैंने हाथ खींच लिया और पल भर उसके चहेरे को देखती रही। मुझे लगा कि उस पर पसीने की बूँदें हैं—ठंडी बूँदें।

उसने कहा, "शुक्रिया योके, धूप ने आज आना ही चुना है, पर मैं उसे देखना नहीं चुन सकती। उसे भी मेरा शुक्रिया दे दो।"

मैंने कुछ कहना चाहा, लेकिन मुझे कुछ सूझा ही नहीं कि क्या कहा जाए। और वह फिर बोली नहीं—आँखें मूँद पड़ी रही। मैं चुपचाप उसके चेहरे की ओर देखती रही, पर मुझे ध्यान आया कि मुझे वहाँ कुछ करने को नहीं है और मेरे वहाँ खड़े होने का कोई मतलब नहीं है। मैंने उसके कमरे का परदा फिर गिरा दिया और बैठक में आकर उस छोटी होती हुई धूप की थिगली को देखने लगी। इतनी देर में

ही उसका आकार बाँका-टेढ़ा होकर सिकुड़ गया था। और एकाएक मुझे लगा कि जिस थिगली को मैं देख रही हूँ वह धूप की नहीं है, फर्श पर पड़े हुए सेल्मा के चेहरे की है।

फर्श पर पड़ा हुआ चेहरा। शरीर से अलग चेहरा—निरा चेहरा, सनातन चेहरा। मैंने मानो ध्रुव सत्य के रूप में जान लिया, वह चेहरा ही सेल्मा है और सेल्मा ही धूप की वह थिगली है जो कभी भी मिट जा सकती है लेकिन फिर भी ज्यों-की त्यों बनी रहती है क्योंकि उसका होना उसके न होने से अलग नहीं है।

सेल्मा का, सेल्मा के पास कोई इतिहास नहीं है, केवल स्मृति है। सेल्मा भी इतिहास नहीं स्मृति है, शुद्ध स्मृति। वह एक साथ यहाँ भी और अन्यत्र भी जीती है, आज भी और कल भी और सभी दिनों में एक साथ ही जीती है। और इसलिये वह अलग नहीं है, अकेली नहीं है।

और मैं—मैं यहाँ अभी इस क्षण में जीती हूँ—मुझमें स्मृति नहीं है। मुक्त मुझे होना चाहिए, लेकिन मैं इतिहास से क्षयग्रस्त हूँ और अकेली हूँ। मरना सेल्मा को है, मरेगी वह, लेकिन मर रही हूँ मैं, अकेली मैं...

कोई आध घंटे बाद सेल्मा ने पुकारा।

मेरे पास जाने पर बोली, 'मेरी एक विनती है।'

मैंने कहा, "कहो।"

उसने फिर कहा, "इसके लिये मैं माफी चाहती हूँ। लेकिन तुम मुझे उठाकर धूप तक ले जा सकती हो। मैं चीखूँ भी तो न सुनना—एक बार—"

मैंने कहा, "लेकिन सेल्मा, धूप तो चली गयी।"

वह थोड़ी देर चुप रही। फिर बोली, "यही ठीक है। या कि दूसरा कुछ भी बेठीक होता! जाने दो।"

मुझ पर एकाएक उदासी छा गयी। पहली बार—एक मात्र बार—मुझे लगा कि मेरे मन में बुढ़िया के प्रति करुणा उपजी है। लेकिन फिर एकाएक ही मन कड़ा हो आया। बुढ़िया कैसे कह सकती है यह ठीक ही है, या कि दूसरा कुछ बेठीक होता? यही बात तो बेठीक है—बुढ़िया ही बेठीक है!

एकाएक बुढ़िया ने कहा, "योके, मैं यह सब एक बार पहले देख चुकी हूँ। इसमें से गुजर चुकी हूँ।"

बुढ़िया की बात मैं नहीं समझ सकी। लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं। चुपचाप खड़ी रही। उसी ने फिर कहा, "वर्षों पहले, यहाँ आने से पहले, जब मैं शहर में थी—यहाँ आये मुझे कोई अट्ठाईस वर्ष हो गये हैं—यह तो तुम्हारे जन्म से पहले की बात होगी—"

मेरे मुँह से निकल गया, "मेरे लिए तो यह दूसरी ही दुनिया की बात है।"

वह बोली, "मेरे लिये भी—दूसरी ही दुनिया की बात है—सुनोगी—तुम्हें समय है?"

मैंने कहा, "जरूर, मैं अभी आयी—कुछ काम ठीक-ठाक कर आऊँ।"

लेकिन थोड़ी देर बाद दुबारा जब वहाँ गयी तो मानो उसे मेरे आने का पता ही नहीं लगा। मैं काफ़ी देर तक उसके पास खड़ी रही, फिर एक चौकी खींचकर बैठ गयी और फिर थोड़ी देर बाद चली आयी।

दूसरी दुनिया की बात। दूसरी दुनिया भी कोई दुनिया है? या कि दूसरी ही दुनिया है, और यह जो हैं वह नहीं है?

सेल्मा

बोलचाल का मुहावरा जिस तेजी से बदलता है, बस्ती का रूप उससे कहीं अधिक तेजी से बदल रहा था। बातचीत में अभी तक कस्बा ही कहते थे, लेकिन उसमें शहर के सब लक्षण आ चुके थे। बल्कि जिस हिस्से को किसी भी औचित्य के साथ कस्बा कहा जा सकता है वह उसके एक छोर पर पड़ गया था। उतने हिस्से का स्थापत्य कुछ अलग और पिछड़ा हुआ था। सड़कें इतनी तंग थीं कि उन्हें गलियाँ कहना ही ठीक था और वहाँवाले वही कहते भी थे। वहाँ के लोगों के जीवन की गति भी धीमी ही थी और शायद उनके बोलने के ढंग की तरह उनकी जीवन-दृष्टि भी कुछ पुरानी और कुछ पिछड़ी हुई थी। कम-से कम शहर में, यानी शहर के दूसरे हिस्से में, रहनेवाले लोग उसे पिछड़ा ही मानते थे और जब भी कस्बे के लोगों की चर्चा करते तो उसमें एक व्यंग्य निहित होता था—बड़ा शराफ़ती, छिपा हुआ व्यंग्य, लेकिन शहराती या छिपा हुआ होने के कारण कुछ कम तीखा नहीं।

कस्बे के आगे सीधे सपाट मैदान में बाग था। वह भी पुराना बाग था; पुरानी और सुस्त चाल से चलनेवाला बाग, जिसमें हलकी फुलकी, चुस्त और हर मौसम में रूप बदलनेवाली फूलों की क्यारियाँ बिलकुल नहीं थीं; पुरानी और सदा बहार हरियाली के बीच में जहाँ तहाँ बहुत बड़े-बड़े, पुराने और धीमी गति से बढ़नेवाले पेड़ थे।

बाग के पार नदी थी—या नदी के किनारे की सड़क थी क्योंकि सड़क ही बाग की मर्यादा बाँधती थी, सड़क के आगे फिर हरियाली का फैलाव था और उसके आगे नदी थी।

हरियाली का ढलाव नदी की ओर था; और हर साल बारिश होने पर सारी हरियाली डूब जाती थी और बाग की मर्यादा-रेखा खींचनेवाली सड़क, नदी की मर्यादा-रेखा बन जाती थी। लेकिन जब नदी उतर जाती थी और हरियाली के नीचे की मिट्टी फिर बँध जाती थी, तब बाग की सैर करनेवाले सड़क पार करके हरियाली की सैर करने भी जरूर आते थे और हरियाली पर टहलते हुए ही नदी के पुल तक जाते थे। पुल था तो नदी का, पर नदी के साथ-साथ हरियाली को भी बाँधता था। धनुषाकार पुल दूर दूर से दीखता था और हरियाली की सैर करने

आनेवालों के क्षितिज का महत्त्वपूर्ण अंग था। सैर के अन्त में उन्हें प्यास जरूर लगती थी, और कभी-कभी भूख भी लग आती थी, जिसके शमन का प्रबन्ध पुल पर ही था। जहाँ से पुल की उठान शुरू होती थी वहाँ से, बल्कि उसके कुछ पहले सड़क की पटरी पर से ही, अस्थायी दुकानें शुरू हो जाती थीं। पहले झावे या रेहड़ीवाले; फिर उनके बाद बड़ी रेहड़ियाँ आती थीं जिन पर दुकानदार के रहने की भी जगह बनी हुई हो, उसके बाद, धनुष के सबसे ऊँचे खंड पर, कुछ पक्की दुकानें थीं।

नदी में बाढ़ हर साल ही आती थी, लेकिन हर साल की बाढ़ सड़क को छूकर धीरे-धीरे उतर जाती थी। ऐसा कभी-कभी ही होता था कि वह और बढ़कर सड़क पर आ जाए। लेकिन जब वैसा होता था तो सड़क के साथ समूचा बाग भी पानी में डूब जाता था और पुल के छोर भी डूब जाते थे। बाग के बड़े-बड़े पेड़ मानो सीधे पानी में उगकर पानी पर ही छाँव करते जान पड़ते थे, और पुल का भी मानो नदी से, या उसे पार रकने की जरूरत से, कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। मानो पातालवासी जलदेवता ने अपनी शक्ति देखने के लिये भुजा बढ़ाकर एक महाकाय धनुष पानी से ऊपर ठेल दिया हो, ऐसा ही वह तब लगने लगता था। उसकी लोहे और पत्थर की कंकरीट की चुनौती की ओर पीठ फेरकर कस्बे के लोग ऊँचाई पर बसी हुई नयी बस्ती की ओर चले जाते थे और पानी उतरने की प्रतीक्षा किया करते थे—जब मानव को जलदेवता द्वारा दी गयी चुनौती का प्रतीक, फिर पलटकर जलदेवता पर मनुष्य की विजय की प्रतीक बन जाएगा, और पुल पर से लोगों का आना जाना फिर सम्भव हो जाएगा—पुल पर खाने-पीने की तरह-तरह की चीजें फिर बिकने लगेंगी और आने-जानेवाले न केवल अपनी भूख शान्त कर सकेंगे, बल्कि तफरीह के लिये घूमते हुए कंघी-रूमाल, फूल-गुलदस्ते भी खरीद सकेंगे। या कि सड़क के किनारे के फोटोग्राफर से यादगार के लिये फोटो भी खिंचवा सकेंगे।

सन 1906 में जो बाढ़ आयी उसे लोग अब भी याद करते हैं। यह कह देने से कि उस शहर या कस्बे के लिये नदी की उस वर्ष की बाढ़ ने रेकॉर्ड स्थापित किया था, कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता कि वह बाढ़ क्या चीज़ थी। बाढ़ के साथ भूकम्प भी हुआ था, जिससे नयी बस्ती की सड़क में भी बड़ी बड़ी दरारें पड़ गयी थीं और कस्बे के तो मकान ही गिर गये थे। लेकिन सबसे अधिक चौंकानेवाली जो बात हुई थी वह उस धनुषाकार पुल की दुर्घटना थी। पुल पर कुछ लोग इस वर्ष भी थे, जैसे कि हर वर्ष बाढ़ में रहते थे--बाढ़ दो-चार दिन में उतर ही जाती थी और पक्की दुकानवालों को उनका डर नहीं रहता था। इन दिनों के लिए सब सामान

उनके पास रहता ही था। नावें भी बँधी रहती थीं जिनसे जरूरत पड़ने पर काम लिया जा सके। पर वास्तव में उनकी जरूरत कभी-कभी ही पड़ती, क्योंकि आमतौर पर बाढ़ में भी पैदल चलकर ही बाग को पार किया जा सकता था। बल्कि कभी कभी नयी बस्ती के कुछ मनचले लोग घुटने तक के रबड़ के बूट पहनकर इस तरह बाग पार करके आते भी थे। और भी शौकीन और सम्पन्न लोग नाव में बैठकर सीधे पुल तक पहुँचते थे जो कि उन दिनों अच्छी-खासी सैरगाह बन जाता था। बाढ़ के दिनों में पुल के ऊपरी हिस्से के चायघर में बैठकर चाय-पानी एक खास बात समझी जाती थी और इसका प्रमाण रखने के लिये लोग—या कभी-कभी प्रेमीयुगल अपने साहस-कर्म की स्मृति बनाये रखने के लिए—वहीं के फोटो भी खिंचवाते थे।

फोटोग्राफर की दुकान में अधिक संख्या ऐसे ही चित्रों की थी जिनमें गलबहियाँ डाले या चाय का प्याला अथवा सिगरेट हाथ में लिये हुए लोग पानी से घिरे हुए बैठे या खड़े हैं।

लेकिन उस साल एकाएक सब बदल गया। पहली बाढ़ में ही पानी इतना चढ़ आया कि नावें रस्सियाँ तुड़ाकर बह गयीं। पुल से आने जाने का रास्ता भी बन्द हो गया और शहर की नावें बह जाने के कारण वहाँ से लोगों का आना भी असम्भव हो गया। सैलानी कोई नहीं आये। बल्कि बहते हुए जानवर या जानवरों की लाशें दुर्गन्ध की एक लकीर-सी खींचती हुई पुल के नीचे से निकल गयीं।

फिर भूचाल के साथ आनेवाली दूसरी बाढ़ में और भी दुर्घटना यह हुई कि सारे पुल की नींव हिल गयी। दोनों सिरे तो टूटकर बह ही गये, बीच का जो सबसे ऊँचा खंड बचा उसके खम्भे भी दरक गये और कुछ तो अपनी जगह से थोड़ा हट भी गये। कब तीव्र धारा का थप्पड़ उन्हें थोड़ा और सरकाकर, या अपनी रगड़ से सहारा देनेवाले निचले हिस्से को काटकर, अधर में टँगे हुए धनु-खंड को भी बहा ले जाएगा इसका कोई ठिकाना नहीं रहा। चारों ओर घहराता हुआ दुर्द्धर्ष अथाह पानी, आक्षितिज केवल पानी। बाग के बड़े बड़े पेड़ भी अब उस पानी पर छाया नहीं डाल रहे थे, बल्कि उनके ऊपरी हिस्से स्वयं पानी की सतह पर छाया-से दीख रहे थे। कुछ तो उखड़कर बह भी गये थे। थोड़ी देर के लिये शायद एक-आध की जड़ें पुल के डूबे हुए छोर के साथ अटकी होंगी, लेकिन उसके बाद गँदले पानी और झाग का एक भँवर अपने पीछे खींचते हुए वे पेड़ आगे बह गये थे। और इस घरघराहट और टूटन और प्रलयंकर विनाश के बीच में बेतुका-सा खड़ा रह गया था तीन खम्भों पर टँगा हुआ पुल का बीच का हिस्सा और उसके ऊपर की तीन-चार दुकानें और उनमें बसे हुए तीन-चार लोग।

सेल्मा डॉलबर्ग ने एक बार दुकान में से निकलकर पुल की मुँडेर तक आकर

पानी की ओर देखा, और फिर आकाश की ओर, और फिर दुकान के अलग हिस्से में बने हुए काँच मढ़े बरामदे में जाकर ऊँचे मूढ़े पर बैठकर अनदेखती आँखों में मेजों और कुरसियों के सूनेपन को ताकने लगी। चायघर में अकेली वह, पास की फोटो की दुकान में फोटोग्राफर, और दूसरे पास सूवेनिर रूमालों, खिलौना-आकार के चाय के प्यालों, और पुल की प्रतिकृतियों की दुकानों में यान एकेलोफ—प्रलय की मटमैली धारा के ऊपर टँगी हुई पुल-रूपी दुनिया में यही तीन प्राणी रह गये थे, हजरत नूह की नाव मानो मस्तूल टूट जाने के बाद भटकती हुई कहीं अटक गयी थी और अटककर अर्थहीन हो गयी थी; और अर्थहीनता से थर थर काँपते हुए तीनों प्राणी उससे चिपके हुए साँस गिन रहे थे। नूह के बचाये हुए जानवरों से किसी बात में कम नहीं थे ये तीनों जानवर। क्योंकि जानवर ही थे वे—या कम से-कम चायघर के बरामदे में बैठी हुई सेल्मा डॉलबर्ग की अनदेखती आँखों को ऐसा ही लग रहा था।

थोड़ी देर बाद उठकर उसने अपने खाने के लिये कुछ बनाना शुरू किया तो बाहर से यान एकेलोफ की आवाज आयी :

"खाने को कुछ है?"

सेल्मा ने एक बार सिर से पैर तक यान को देखकर कहा, 'ईंधन की तो बहुत कमी है। कुछ बनाने में दुगुने दाम लगेंगे।'

यान थोड़ी देर एकटक उसकी ओर देखता रहा। फिर बोला, 'स्टोव तो मेरे पास है। अगर दुकान से कुछ कच्ची चीज़ भी मिल जाए—थोड़ा आटा या सूखा गोश्त ही मिल जाए तो भी काम चला लूँगा।'

"कितना क्या चाहिए?"

सामान लेने के लिये मुड़ते हुए सेल्मा ने कहा, 'दाम तो तुरन्त दे दोगे न?'

यान ने थोड़े अचम्भे से कहा, 'आँ-हाँ' फिर थोड़ा रुककर बोला, 'मैं कभी हिसाब बेबाक किए बिना भागा न होऊँ ऐसा तो नहीं कह सकता, लेकिन इस वक्त तो तुम्हें इसका डर नहीं होना चाहिए!'

थोड़ी देर बार सेल्मा ने एक बड़ा लिफाफा यान की ओर बढ़ाते हुए दाम बताये तो यान चौंक पड़ा। उसे लगा कि शायद सुनने में भूल हुई है। लेकिन जब सेल्मा ने अपनी बात दोहरायी तब उसने चुपचाप पैसे निकालकर दे दिये और लिफाफा उठाकर चला गया। उसे याद नहीं था कि जीवन में पहले कभी वह बिना 'थैंक्स' कहे यों सौदा उठा ले गया है।

उस दिन फिर वह नहीं आया। सेल्मा ने इसकी सम्भावना की थी कि वह फिर आएगा, क्योंकि जो सौदा वह ले गया था वह अगले दिन तक के लिये काफ़ी नहीं था। एक बार उसे फोटोग्राफर का भी ध्यान आया था। लेकिन वह उसकी ओर

नहीं आया। वह यान की अपेक्षा अधिक सम्पन्न भी था। असम्भव नहीं कि उसके यहाँ खाने-पीने का कुछ सामान हो। सेल्मा ने धीरे-धीरे सब परदे खींच दिये और भीतर कहीं खो गयी।

लेकिन दूसरे दिन सवेरे ही फोटोग्राफर ने आकर जानना चाहा कि सेल्मा के यहाँ से पीने का पानी मिल सकता है या नहीं।

सेल्मा ने विस्मय दिखाते हुए कहा, 'पानी? मैं तो समझती थी कि तुम्हारे यहाँ साफ पानी बराबर रहता होगा—फोटोग्राफर का काम उसके बिना कैसे चल सकता है?'

मालूम हुआ कि पुल के काँपने से दवा की कुछ शीशियाँ पानी के ड्रम में गिरकर टूट गयी थीं और सारा संचित पानी दूषित हो गया था।

सेल्मा ने मानो मन-ही-मन परिस्थिति का मूल्य आँकते हुए कहा, 'पानी मेरे पास शायद चाय बनाने लायक भर होगा। मैंने अभी चाय भी नहीं बनायी है, कहो तो वही पानी तुम्हें दे दूँ। या कि यहीं एक प्याला चाय पी लो।'

फोटोग्राफर ने कहा, "नहीं, तब तुम्हें तकलीफ नहीं दूँगा। चाय तो नदी के पानी में भी बन सकती है—एक बार उबल जाए तो कोई डर तो नहीं रहेगा।" और लौट गया।

समय नापने के कई तरीके हैं। एक घड़ी का है, जो शायद सबसे घटिया तरीका है। क्योंकि उसका अनुभव से कम-से-कम सम्बन्ध है। दूसरा तरीका दिन और रात का, सूर्योदय और सूर्यास्त का, प्रकाश और अँधेरे का और इनसे बँधी हुई अपनी भूख-प्यास, निद्रा-स्फूर्ति का है। यह यन्त्र के समय को नहीं, अनुभव के समय को नापने का तरीका है; इसलिये कुछ अधिक सच्चा और यथार्थ है।

फिर एक तरीका है, घरघराते हुए पानी में बहते हुए भँवरों को गिनकर और उनके ताल पर बहती हुई साँसों को गिनकर समय को नापने का तरीका। यह और भी गहरे अनुभव का तरीका है, क्योंकि यह समय के अनुभव को जीवन के अनुभव के निकटतर लाता है। समय और समयमुक्त, काल और काल-निरपेक्ष, अनित्य और सनातन की सीमा-रेखा और क्या है—सिवा हमारी साँसों के और साँसों की चेतना में होनेवाले जीवन-बोध के। साँस में ही जीवन-बोध हो, ऐसा नहीं : क्योंकि साँस लेना तो अनवधान अवस्था की क्रिया है। साँस की बाधा ही जीवन बोध है क्योंकि उसी में हमारा चित्त पहचानता है कि कितनी व्यग्र ललक से हम जीवन को चिपट रहे हैं। इस प्रकार डर ही समय की चरम माप है—प्राणों का डर...

क्या सेल्मा अकेले ही इस मापदंड से समय को नापती रही है? क्या यान और फोटोग्राफर भी उसी नदी-प्रवाह से घिरे हुए उन्हीं भँवरों की ओर नहीं देख रहे हैं? क्या उसके पास कोई दूसरा माप है? नदी का प्रवाह और काल का प्रवाह पर्याय है;

क्योंकि दोनों की पहचान डर की पहचान है। प्राणों के डर की...

यान, फोटोग्राफर और सेल्मा के बीच एक दीवार-सी खिंच गयी। कम से कम उन दोनों और सेल्मा के बीच तो खिंच ही गयी; क्योंकि सेल्मा कभी-कभी खिड़की के काँच में से झाँककर देखती कि वे दोनों कुछ बातें कर रहे हैं, या कभी-कभी इशारों से एक-दूसरे को कुछ कह रहे हैं। दोनों ने इस बीच शायद दो-चार बार एक साथ चाय बनाकर भी पी, ऐसा उनकी हरकतों से सेल्मा ने अनुमान लगा लिया।

चौथे दिन यान फिर उसके पास कुछ खरीदने आया। यान को सामने पाकर उसे एकाएक लगा कि वह दीवार और भी ठोस हो गयी है, और उसका मन यान के प्रति एकाएक कठोर हो आया। सहानुभूति उन सबकी परिस्थिति में अकल्पनीय हो, ऐसा उसे अब तक नहीं लगा था—इस बारे में कुछ सोचने की आवश्यकता ही उसे नहीं हुई थी। लेकिन जिस ढंग से यान से बात हुई—यानी यान ने जैसे बात शुरू की—उससे सेल्मा को एकाएक ऐसा लगा कि दुनिया का मतलब और कुछ नहीं है सिवा इसके कि एक वह है, और बाकी ऐसा सब है जो कि वह नहीं है, और जिसके साथ उसका केवल विरोध का सम्बन्ध है। यह विरोध ही एकमात्र ध्रुवता है जिसे उसे कसकर पकड़े रहना है, जिसे पकड़े रहने के अपने सामर्थ्य को उसे हर साधन से बढ़ाना है।

यान ने जेब में से पैसे निकाले और फिर कहा, ''यह तो काफ़ी नहीं है, मैं उधर से और ले आता हूँ—तब तक तुम सामान निकालकर रखो।''

सामान यानी थोड़ा-सा सूखा गोश्त, और डिब्बे का दूध। जब तक सेल्मा भीतर से यह निकालकर लायी तब तक यान दुबारा लौट आया था। उसने पैसे चुकाये और सामान लेकर चला आया।

दीवार फिर पहले-सी खड़ी हो गयी। ठोस पर पारदर्शी दीवार, जिसमें से सेल्मा टूटे पुल की बाकी दुनिया की हरकतें देखती रही।

तीसरे पहर उधर वे दोनों फिर मिले। शायद उन्होंने चाय बनायी। और शायद चाय स्टोव पर नहीं बनायी गयी, लेकिन यान ने अपने कुछ खिलौने जलाकर आग तैयार की। और शायद अच्छी नहीं बनी, क्योंकि उसको पीनेवाले दोनों के चेहरे विकृत दीखे।

अगले दिन उसी काँच की दीवार के पार से फोटोग्राफर का चेहरा देखकर सेल्मा को एकाएक लगा कि दुबारा देखना ज़रूरी है। दुबारा देखने पर उसने जाना कि वह चेहरा बिलकुल पीला पड़ गया है। फोटोग्राफर ने टीन का डिब्बा लटकाकर नदी का पानी पिया और अपनी दुकान के भीतर लौट गया। थोड़ी देर बाद वह फिर उसी तरह निकला और एक डिब्बा पानी भरकर लौट गया; और सेल्मा को लगा कि इस बीच वह थोड़ा और पीला हो गया है।

तीसरे पहर उसने देखा कि यान भी फोटोग्राफर की तरफ़ चला गया है और उसे रह-रहकर पानी पिला रहा है। फोटोग्राफर पानी पीकर दुकान के भीतर कहीं अदृश्य हो जाता है लेकिन थोड़ी देर बाद ही फिर घिसटता हुआ आ जाता है।

ये तो लक्षण अच्छे नहीं हैं। फोटोग्राफर शायद बीमार है। लेकिन बीमार है तो सेल्मा क्या कर सकती है? और जब वह देखती है कि यान ऐसी अनदेखती-अनपहचानती आँखों से उसके बरामदे की ओर देखता है और फिर मुँह फेर लेता है, तब उसे लगता कि न केवल वह कुछ कर नहीं सकती या करना चाहती भी नहीं, बल्कि अगर वह सकती या चाहती ही तो भी उस दूसरी दुनिया तक उसका पहुँचना न होता जिसमें वे दोनों हैं। वे दोनों हैं ही नहीं, एक भयानक दुःस्वप्न के अंग हैं; और दुःस्वप्न में देखे हुए लोगों तक जीते-जागते कोई कैसे पहुँच सकता है?

रात हो गयी। अँधेरे में नदी की ओर काल की घरघराहट कहीं बाहर हो गयी, और सेल्मा ने सब परदे खींचकर अपने को मानो अपनी ही ओट कर लिया। उसमें और इस बाहर में एक मौलिक विरोध है जिसे पकड़े रहना है; वही ध्रुव है और उसे पकड़े रहने का सामर्थ्य ही जीवन...

कभी न कभी यह बाढ़ उतरेगी ही, और तब वह टुटहा पुल शायद एक अतिरिक्त आकर्षण पा लेगा। सैलानी पुल पर हमेशा आते रहे, टूटे हुए पुल पर और भी अधिक आएँगे, क्योंकि अब तो वह एक कौतुक की चीज़ हो जाएगा। और उसका चायघर का कारोबार और भी चमक उठेगा। यों भी मुनाफा होता ही रहा है। कहावत है कि कोई भी दुर्भाग्य ऐसा नहीं होता जिसमें किसी-न-किसी का लाभ भी न हो...

लेकिन घनी रात में कहीं वह एकाएक हड़बड़ाकर जागी और उठ बैठी। आँखों की और शिराओं की कसक कह रही थी कि अभी घोर रात है। लेकिन परदों की ओट से भी अंगारे-सा लाल उजाला मानो उसके अनुभव का खंडन कर रहा था। जल्दी से एक चादर कन्धों पर डालकर वह बरामदे तक आयी, परदा हटाकर उसने बाहर झाँका और झाँकती रह गयी।

फोटोग्राफर की दुकान धू-धू जल रही थी।

इससे पहले कि सेल्मा कुछ सोच भी सके कि उसे क्या करना चाहिए, उसने देखा कि फोटोग्राफर दुकान की ओट से निकलकर सामने की ओर आया और कमर पर हाथ टेककर आगे की ओर देखने लगा। फिर एकाएक वह ठोढ़ी उठाकर हँसा—सेल्मा हँसी सुन नहीं सकी, पर जो उन्मत्त अमानुषी भाव फोटोग्राफर के चेहरे पर झलक आया था और जिस ढंग से उसका जीर्ण देहपिंजर हिल उठा था, उससे यह अनुमान कठिन नहीं था कि वह हँस रहा है। यद्यपि उस अमानुषी विस्फोट को हँसी कहना भाषा के चयन के साथ अत्याचार करना ही है।

सेल्मा का जड़ित मोह एकाएक टूट गया। उसने झटके से दरवाजा खोला और बाहर बढ़ने को ही थी कि फिर एक बार ठिठक गयी। उस पार यान भी बाहर निकल आया था और फोटोग्राफर की ओर लपक रहा था। एकाएक फोटोग्राफर जोर से चीखा और धारा में कूद पड़ा। वह चीख सेल्मा सुन सकी। वह एकाएक प्रवाह के कारण कट गयी, लेकिन जिस ढंग से कटी उससे यह सन्देह बना ही रह गया कि वह चीख एक पागल हँसी थी—एक पागल अट्टहास का आरम्भ जो कि चीख के साथ छोटे-छोटे विस्फोटों में बँट जाता है—या कि पानी ने ही एकाएक साँस तोड़कर दो-तीन बुलबुलों में बाँट दिया था।

सेल्मा की टाँगें लड़खड़ाने लगीं और वह बरामदे की सीढ़ी पर बैठ गयी। टाँगें न लड़खड़ायी होतीं तो भी वह आगे बढ़ सकती थी यह नहीं कहा जा सकता था। यान धीरे-धीरे बढ़ रहा था, जहाँ से फोटोग्राफर कूदा था वहाँ पहुँचकर वह खड़ा होकर एकटक पानी को ताकता रहा। कुछ करने को नहीं था। फोटोग्राफर पुल के नीचे से होकर न जाने कितनी दूर चला गया होगा। हाँ, सचमुच न जाने कहाँ चला गया होगा! क्योंकि अब यह भी कहना शायद झूठ होगा कि वह बाढ़ में बह रहा होगा—बाढ़ भी उसके लिए उतनी सारहीन और सत्त्वहीन हो गयी होगी जितनी कि उसकी अपनी देह...

काफ़ी देर बाद यान ने एक बार मुड़कर सेल्मा के बरामदे की ओर देखा। देख लिया कि वह सीढ़ी पर बैठी है, और फिर मुँह फेर लिया। फिर धीरे-धीरे अपनी दुकान की ओर बढ़ने लगा, लेकिन चार-छह कदम जाकर फिर मुड़कर फोटोग्राफर की दुकान के पास ही बैठ गया। और चुपचाप उसके जलने को देखने लगा। उस दुकान के जलने से किसी को कोई खतरा नहीं था, और अगर सेल्मा का अनुभव ठीक है कि गँदला पानी पीकर, पेचिश से ही फोटोग्राफर मरा—नहीं, मरा तो पानी में कूदकर, लेकिन उन्माद शायद उसी कारण हुआ—तो फिर दुकान का जल जाना एक तरह से ठीक ही है।

एकाएक सेल्मा को लगा कि यह बात उसके मुँह से निकलने ही वाली है। उसने होंठ काट लिये।

शायद यान को भी ठीक उसी समय लगा कि सेल्मा कुछ कहनेवाली है। क्योंकि उसने मुड़कर दृष्टि से क्षण-भर उसकी ओर देखा। फिर मानो निश्चयात्मक भाव से गरदन मोड़कर पीठ सेल्मा की ओर कर ली। सेल्मा ने उठकर बड़े धड़ाके से दरवाजा बन्द किया और झटके से परदा खींचकर भीतर चली गयी। अपने चायघर के भीतर, अपने ही भीतर, जहाँ न डूबता हुआ फोटोग्राफर है, न घृणा करता हुआ यान। जहाँ आत्म-विश्वास है और सुरक्षा है और भविष्य की अनुकूलता है। यह नहीं कि डर बिलकुल नहीं है लेकिन उस डर की बात अभी सोचना ज़रूरी

नहीं है। वह डर निरी देह का है, और देह का डर झुठलाया जा सकता है—तब तक जब तक कि वह भीतर नहीं पहुँचता। देह तो हमेशा ही अकेली है, और उसके लिये अकेलेपन का अलग से कोई मतलब नहीं है। और उसके भीतर जो है वह कभी भी अकेला नहीं है, क्योंकि वह तो समूचे का है। केवल जब वह भीतरवाला समूचे का नहीं रहता और अकेला अनुभव करता है—या जब देह अकेली नहीं रहती, समूह का खंड हो जाती है—तभी वह डर होता है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता, जो छाती पर चढ़ बैठता है और मानो फेफड़ों में पंजा डालकर खंखोड़-खंखोड़कर साँस बाहर निकालता रहता है।

सेल्मा सोयी नहीं। वह अंगारे-सी लाल दहकती हुई रोशनी धीरे-धीरे काली पड़ी और फिर एक दूसरी तरह की पीली रोशनी में बदल गयी; फिर कमरे के भीतर भी सब आकार स्पष्ट हो आये और दिन हो गया।

सेल्मा ने मुँह-हाथ धोया, अँगड़ाई लेकर अपने को बोध कराया कि उसका अंग-अंग दुखता होने पर भी शरीर अभी उसी का है और उसके वश में है। फिर उसने बहुत गहरी चाय बनाकर बिना दूध-चीनी के ही पी डाली। उसकी कड़ुवाहट से भी जब तसल्ली नहीं मिली तो भीगी पत्तियाँ भी प्याले में उँड़ेलकर उन्हें मुँह में भर लिया और मुँह के अन्दर इधर-उधर घुमाती रही। थोड़ी देर बाद वह घूँट उसने थूक दिया और गालों के अन्दर जीभ फेरकर मानो अपने मुँह के कसैलेपन का स्वाद लेने लगी।

फिर आकर उसने बरामदे के परदे उठाकर एक खिड़की खोली। दूसरी खिड़कियाँ या दरवाजे भी खोले, इसकी जरूरत उसे नहीं जान पड़ी, बल्कि अवचेतन रूप से शायद उसे यही ज़रूरी जान पड़ा कि दरवाजा न खोले।

यान को वह देखे ऐसा कोई कौतूहल उसके मन में नहीं था। शायद यह कहना अधिक सच होगा कि यान उसे देखे यही वह नहीं चाहती थी और उसे अपनी ओर देखते हुए पासे यह तो कदापि नहीं।

लेकिन उनकी आशंका निर्मूल थी। यान उधर नहीं देख रहा था। वह बाहर ही था, उसी जगह पर था, जहाँ उसे बैठा हुआ देखकर सेल्मा रात में भीतर गयी थी, और उसकी पीठ उसी तरह सेल्मा की ओर थी।

लेकिन यह नहीं था कि यह रात भर वहीं वैसा ही बैठा रहा हो। वह शायद थोड़ी देर पहले ही वहाँ आकर बैठा था। सेल्मा ने बिना आहट किये एक चौकी खिड़की के पास रखी और उस पर बैठकर परदे की ओट से यान को देखने लगी।

थोड़ी देर बाद यान उठा और जल चुके घर के अंगारों की ओर बढ़कर झुका। सेल्मा ने देखा कि उन अंगारों पर एक टीन में कुछ पक रहा है। यान ने टीन के डिब्बे को हिलाया और फिर पहले-सा बैठ गया।

तो उस जले हुए घर की राख पर यान कुछ पका रहा है। एकाएक दुकान के

जलने का रात में देखा हुआ दृश्य सेल्मा की आँखें के सामने साकार हो गया। मानो फोटोग्राफर की यह उन्मत्त मुद्रा उसने फिर देखी, यह पागल चीख फिर सुनी; और फिर पानी की बुड़बुड़ाहट और फिर वह एक स्वर घरघराहट, जिससे घिरे हुए उसे न जाने कितने दिन हो गये थे। एकाएक उसे उबकाई आने लगी। उसने परदा खींचकर दृश्य को अपनी आँखों के आगे से हटा दिया और वहाँ से उठ गयी। लेकिन दृश्य उसकी आँखों के आगे थोड़े ही था जो परदा खींचने से हट जाता! वह जिधर मुड़ी उधर भी वही दृश्य था—क्योंकि वह उसकी आँखों के सामने नहीं, आँखों के भीतर था। उसकी उबकाई ने एकाएक मतली का रूप ले लिया और वह बेचैन-सी भीतर दौड़ गयी।

दिन छिपनेवाला था कि बरामदे की सीढ़ी पर सेल्मा ने आहट सुनी। तो यान आया है। दरवाजा उसने नहीं खोला, खिड़की तक आकर प्रश्न की मुद्रा में खड़ी हो गयी।

यान ने बिना उसकी ओर देखते हुए और बिना भूमिका के पूछा, "गोश्त है?"

सेल्मा एकाएक तिलमिला गयी, और अपने को वश में करते हुए बोली, "हाँ, है। दाम ले आओ।"

यान ने और भी संक्षिप्त भाव से कहा, "हैं।"

सेल्मा ने भीतर से लाकर एक हत्थेवाले तश्त में रखा हुआ गोश्त यान की ओर बढ़ा।

यान ने पूछा, "कितने?"

सेल्मा ने दाम बताते हुए कहा, "इसी में रख दो।"

सेल्मा ने एक हाथ से गोश्त उठा लिया था और दूसरा जेब में डाला था। सेल्मा की बात सुनकर एकाएक उसने आँखें उठाकर सेल्मा के चेहरे की ओर देखा और फिर पूछा, "कितने?"

सेल्मा ने रुखाई से कहा, "सुना नहीं?"

यान ने हाथ जेब में से निकाला। उसकी मुट्ठी बँधी हुई थी। मुट्ठी भर सिक्के थे। एकाएक उसने मुट्ठी उठाकर सिक्के बड़ी जोर से सेल्मा के मुँह पर दे मारे। बोला, "शायद कुछ कम हैं। लेकिन तुम चाहो तो गोश्त में से उतना कम करके दे सकती हो। पैसे मेरे पास और नहीं हैं।" और कहते-कहते उसने दूसरे हाथ का सामान वापस सेल्मा की ओर बढ़ा दिया।

सेल्मा की आँखें एकाएक अवश भाव से बन्द हो गयी थीं। सारा इच्छा-बल लगाकर उसने आँखें खोली और दर्द को दबाते हुए हाथ बढ़ाकर सामान ले लिया एक बार उसका मन हुआ था कि बाकी के पैसे छोड़ दे। लेकिन इस तरह वह नहीं छोड़ेगी, कभी नहीं छोड़ेगी! विरोध—एकमात्र ध्रुव—जीवन का सहारा...

उसने सिक्के बीनकर इकट्ठे किये, भीतर गयी और गोश्त लगभग आधा करके

ले आयी। बिना कुछ कहे उसने तश्त फिर यान की ओर बढ़ाया। यान ने गोश्त उठाया और मुड़ गया। क्षण-भर बाद सेल्मा ने खिड़की जोर से बन्द कर दी और तब हाथ से टटोलकर अपना चेहरा देखने लगी कि कहाँ-कहाँ सूजा है। एक चौड़ी लाल लकीर उसकी हथेली पर छप आयी।

हार वह नहीं मानेगी, कभी नहीं मानेगी। अपमान से तो और भी नहीं! और यान कौन होता है उसका अपमान करनेवाला, या उस पर क्रोध करनेवाला? मुनाफा वह करती है, मुनाफा सब करते हैं। यान क्या सूवेनिर के नाम पर तरह-तरह का निरर्थक कूड़ा बेचकर मुनाफा नहीं करता? दाम कम या ज्यादा हों यह माँग पर निर्भर है। तबीयत पर निर्भर है। सैलानी लोग सिर्फ शौक के कारण मुँह-माँगे दाम देकर तरह-तरह की फिजूल चीज़ें खरीद लेते हैं। सभी जानते हैं कि दाम चीज़ का नहीं शौक़ का है; तो इससे क्या वह व्यापार अनैतिक हो जाता है? दाम माँग का है, माँग विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है, विरोध ध्रुव है और उसे पकड़े ही रहना है...

जरूरत भी शौक का दूसरा नाम है। दोनों ही माँगें हैं। अलग-अलग तरह की सही। शौक पर मुनाफा-जरूरत पर मुनाफा हाँ, फ़र्क़ तो है शौक के साथ लाचारी नहीं है जबकि जरूरत के साथ विकल्प नहीं है।

लेकिन विकल्प क्या सचमुच नहीं है? और जोखिम क्या मैं नहीं उठा रही हूँ यहाँ रहकर? क्या मेरी जरूरत का सवाल नहीं है—और क्या मैं कम लाचार हूँ।

फोटोग्राफर पागल होकर मर गया तो मैं क्या कर सकती हूँ? मैं भी पागल नहीं हो गयी, इसीलिए क्या मैं अपराधी हूँ...

सेल्मा के पास तर्क की कमी नहीं थी। लेकिन कुछ था जो कि उसे कोस रहा था। वह भीतर जाकर बैठी थी; फिर बरामदे में आ गयी और चौंकियाँ इधर-उधर ठेल-ठालकर, सीधा रास्ता बनाकर तेजी से लौट-लौटकर बरामदे की लम्बाई नापने लगी। कब रात कितनी घनी हो गयी उसे कुछ पता नहीं लगा, और काल का प्रवाह ही नहीं, मानो नदी का प्रवाह भी कहीं पीछे रह गया। केवल बरामदे में उसके अपने पैरों की आहट ही उसकी एकमात्र साथिन रह गयी।

कि सहसा वह बड़े जोर से चौंकी। दरवाजा खटखटाया जा रहा था।

क्या करने आया है यान रात में? सेल्मा का दिल एकाएक जोर से धड़कने लगा और वह एक कुर्सी का हत्था पकड़कर खड़ी हो गयी।

दरवाजा फिर खटखटाया गया। अबकी बार जोर से।

सेल्मा भीतर गयी। एक नजर चारों ओर दौड़ाकर उसने अँगीठी के पास रखी हुई लोहे की सलाख उठायी और फिर बरामदे में आ गयी।

दरवाजा तीसरी बार खटखटाया गया। सेल्मा की पकड़ सलाख पर और कड़ी हो आयी। उसे पीठ की ओट करते हुए उसने बाएँ हाथ से खिड़की की सिटकनी खोली और पूछा, "क्या है?"

यान ने कहा, ''दरवाजा खोलो।''

''क्या काम है—इतनी देर रात को?''

यान ने मानो कुछ चौंकते हुए फिर कहा, ''दरवाजा खोलो सेल्मा।'' फिर थोड़ी देर रुककर कहा, ''सेल्मा, मैं माफी चाहता हूँ। गुस्से से मैं अवश हो गया था उसके लिये मैं शर्मिन्दा हूँ। मैंने सोचकर देखा है कि तुम्हारा दोष नहीं है।''

सेल्मा थोड़ी देर असमंजस में रही। क्या यह दरवाजा खुलवाने का ही ढोंग है? लेकिन फिर मुट्ठी में पकड़ी हुई लोहे की छड़ से उसके लड़खड़ाते हुए आत्मविश्वास को टेक मिल गयी और उसने दरवाजा खोल दिया।

यान ने भीतर आकर कहा, ''तुमने मेरी जान लेनी चाही है लेकिन सकी नहीं—सकती नहीं। मैं चाहूँ तो तुम्हारी जान ले सकता हूँ, लेकिन मैं चाहता नहीं हूँ।''

थोड़ी देर दोनों चुप रहे। सेल्मा का दिल फिर धड़कने लगा था। लेकिन स्थिति उसकी समझ में नहीं आ रही थी, इसीलिये वह पूरी तरह डर भी नहीं पा रही थी। असमंजस में ही उसने अपने को सँभाल लिया औ वह सतर्क भाव से यान की ओर देखती रही।

यान ने कहा, ''मरेगा तो शायद हम दोनों में से कोई नहीं—तुम्हारी हरकत के बावजूद अभी तो नहीं लगता कि मैं मरनेवाला हूँ। लेकिन अगर सचमुच यह बाढ़ ऐसी ही इतने दिनों तक रही कि मैं भूखा मर जाऊँ, तो तुम बचकर कहाँ जाओगी और अगर पीछे ही मरोगी, तो तुम समझती हो कि वैसे अकेले मरने में कोई बड़ा सुख है? बल्कि अकेली तो तुम अब भी हो, जबकि मैं नहीं हूँ। और शायद मर ही चुकी हो—जबकि मैं अभी जिन्दा हूँ।''

यह कहकर यान ने आँखें उठाकर भरपूर सेल्मा की ओर देखा। सेल्मा ने चाहा कि उसकी बात का खंडन करे, लेकिन कुछ बोल न सकी—एकाएक हाथ ढीले होने से ही उसे ध्यान आया कि उसकी मुट्ठी में लोहे की सलाख है। उसने धीरे-धीरे एक ओर झुककर उसे दीवार के साथ टेक दिया और फिर सीधी हो गयी। फिर उसने पूरा जोर लगाकर किसी तरह कहा, ''तुम तो माफ़ी माँगने आये थे—यह क्या नये सिरे से अपमान नहीं कर रहे हो?''

यान ने कहा, ''तुम माफी दे कैसे सकोगी? कोई भी जो अपनी बेचारगी नहीं देखता दूसरे को क्षमा नहीं कर सकता। मैं तो तुम्हारी मदद ही कर रहा हूँ।''

थोड़ी देर फिर सन्नाटा रहा—तरह-तरह के विचारों और भावनाओं के बोझ से टीसें मारता हुआ सन्नाटा।

फिर सेल्मा ने तनाव को शिथिल करने के लिए कहा, ''यह तुम्हारे हाथ में क्या है?''

यान बोला, ''यह—ओह!''

थोड़ी देर ठहरकर फिर उसने *साभिप्राय* कहा, "यह लोहे की छड़ तो नहीं है। लेकिन यही देने तो मैं यहाँ आया था, गोश्त मैंने पकाया है।"

सेल्मा ने अचकचाकर कहा, "तो मुझे क्या? जाओ खाओ।" फिर मानो थोड़ा पसीजकर उसने जोड़ा, "तुमने काफ़ी दाम देकर खरीदा है।"

"इसीलिये साझा करने आया हूँ। अपनी अन्तिम पूँजी देकर यह अन्तिम भोजन मैंने खरीदा है। इसे अकेला नहीं खा सकूँगा।"

यान थोड़ी देर चुप रहा। "और इसे पकाना भी कुछ आसान नहीं था—फोटोग्राफर की जली हुई दुकान की आँच पर ही यह पका है। इसे जरूर ही बहुत स्वादु होना चाहिए—मेरे जीवन के मोल यह खरीदा गया और फोटोग्राफर के जीवन के मोल पक सका। लो..."

कहते-कहते उसने हाथ का दस्तेदार टीन सेल्मा के सामने चौकी पर रख दिया। तब सेल्मा को न जाने क्या हुआ कि वह यान को दुतकार कर बाहर निकाल देने के लिये आगे बढ़ी तो उसके कन्धे पर हाथ रखकर उसने जब कहा, "यान तुम मेरे सामने से चले जाओ!" तब उसके स्वर में दुतकार जरा भी नहीं थी! न जाने क्यों वह खुद स्तम्भित हो गयी! ऐसी स्तम्भित कि उसका हाथ यान के कन्धे पर धरा ही रहा गया।

और यान ने कहा, "नहीं, यह अकेले तुम्हीं को नहीं दिये दे रहा हूँ, आधा ही तुम्हें दूँगा—क्योंकि अपमान करने नहीं आया, साझा करने ही आया हूँ। अपने हिस्सा निकाल लो और बाकी मुझे दे दो। मैं उधर जाकर खाऊँगा।"

सेल्मा का हाथ धीरे-धीरे यान के कन्धे से फिसलता हुआ गिर गया। यान की ओर देखते-देखते ही उसने दूसरे हाथ से कुर्सी टटोली और एक कदम पीछे हटकर उस पर बैठ गयी। "नहीं यान, तुम अकेले ही खाओगे। नहीं तो पहले मुझे इसके दाम लौटा देने होंगे।"

धीरे-धीरे एक बहुत सूक्ष्म व्यंग्यपूर्ण मुस्कान यान के चेहरे में झलक गयी। थोड़ा रुककर उसने कहा, "ओह!"

सेल्मा आविष्ट-सी उठ खड़ी हुई। उस 'ओह' के व्यंग्य के तीखेपन ने एकाएक उसे फिर गहरे विद्रोह-भाव से भर दिया और उसी के बल से उसकी क्षण भर पहले की दुर्बलता दूर हो गयी।

लेकिन एकाएक उसने कहा, "यान, तुम मुझसे विवाह करोगे?"

यान ने मानो चौंककर उसकी ओर ऐसे देखा जैसा कि उसने ठीक सुना नहीं। फिर जान लिया कि ठीक ही सुना है।

सेल्मा स्वयं भी ऐसे चौंकी मानो वह समझ नहीं सकी हो कि उसके मुँह से क्या निकल गया है। लेकिन फिर उसने भी पहचान लिया कि उसके मुख से वही

निकला है जो कि उसने कहा है।

सन्नाटे में वह अनुत्तरित प्रश्न ही गूँजता रहा और पत्थर-सा जम गया। स्वयं ही नहीं जम गया बल्कि उन दोनों को भी उसने ऐसे कीलित कर दिया कि जब तक उत्तर देकर उसके जादू को काटा नहीं जाएगा तब तक कोई हिल नहीं सकेगा।

देर बाद यान ने कहा, "तुमसे विवाह? यानी तुम्हारी इस सब सड़ती हुई पाप की कमाई से विवाह? नहीं, मुझे नहीं चाहिए। तुम मेरे अन्तिम भोजन का अपना हिस्सा लो और मुझे छुट्टी दो।" क्षण-भर रुककर फिर उसने कहा, "या कि हिस्सा भी न लो, सारा तुम्हीं रख लो" और वह मुड़ा और फिर चला गया।

सेल्मा देर तक बैठी उस टीन को देखती रही। उस देखने-देखने में उसने दो-तीन जीवन जिये और मरे। मानो कोई दूसरा होकर दो-तीन बार वह जियी और मरी, और फिर मानो अपने आपमें लौट आयी, परायी और अनपहचानी होकर। और एक बार उसने कुछ ऐसे ही भाव से अपने हाथ-पैरों और अपने घुटनों की ओर देखा भी—मानो पूछ रही हो कि क्या ये उसी के हैं—कि क्या वह है?

हवा के झोंके से किवाड़ झूला और बन्द होकर फिर खुल गया। सेल्मा खिड़की बन्द करने के लिए उठी। खिड़की बन्द करके दरवाजा भी बन्द करने लगी; पर फिर दोनों दरवाजे उसने पूरे खोल दिये। बरामदे से लौटकर भीतर गयी। एक कागज़ पर उसने धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सँवारकर कुछ लिखा और उसे तह करके जेब में डाला, फिर अलमारी में से खाने को कुछ और सामान निकालकर बरामदे में आयी और चौकी पर रखा हुआ टीन भी उठाकर बाहर निकलकर यान की दुकान की ओर बढ़ गयी।

यान दुकान के बाहर ही बैठा था और पानी की ओर देख रहा था। सेल्मा ने सब चीज़ें उसके सामने रखते हुए कहा, "तुम मुझे न्यौता देने आये थे; वह मुझे स्वीकार है। मैं दो तश्तरियाँ भी लायी हूँ—एक में मेरे लिए परोस दो।"

यान थोड़ी देर उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखता रहा। क्षण-भर सेल्मा को लगा कि वह इनकार कर देनेवाला है। फिर उसने चुपचाप तश्तरी उठायी और टीन में से गोश्त परोसने लगी। फिर उसने कहा, "यह क्या है?"

"यह मेरी ओर से भी है—इसका भी साझा होना चाहिए।"

थोड़ी झिझक के बाद यान ने कहा, "तो तुम्हीं परोस दो।"

सेल्मा अभी कुछ डाल ही रही थी उसने टोक दिया। "बस-बस।"

सेल्मा ने पूछा, "यहीं बैठकर खा सकती हूँ?"

यान ने कुछ अस्पष्ट वक्रभाव से कहा, "पुल कोई मेरा थोड़े ही है?"

लेकिन थोड़ी देर बाद सेल्मा को भी लगा कि वह कुछ खा नहीं सकेगी—यान के पास बैठकर किसी तरह नहीं। अपनी तश्तरी उठाकर वह खड़ी हो गयी

और बोली, "मैं उधर ही ले जा रही हूँ, अभी नहीं खा सकूँगी।" और यान कुछ कह सके इससे पहले ही जल्दी से जेब से कागज निकालकर उसे यान के पास रखते हुए बोली, "और यह लो— यह तुम्हारे लिए लायी थी।"

"यह क्या है?"

"तुम मुझे न्यौता देने आये थे पर अपमान करके चले आये। मैं अपमान करने नहीं आयी, न करूँगी; पर अभी खा नहीं सकूँगी—किसी तरह नहीं।"

सेल्मी तेजी से बरामदे की ओर लौटी और तश्तरी चौकी पर रखकर उसने धड़ाके से दरवाजा बन्द कर दिया। तश्तरी उठाकर वह अन्दर गयी और वहाँ जाकर उसने चौकी पर तश्तरी रख दी। एक बार कुर्सी की ओर देखा कि बैठ जाए, लेकिन फिर बैठी नहीं, वहीं अनिश्चित खड़ी रही। क्योंकि एकाएक उसके आगे एक डगमगाता अँधेरा छा गया—भीतर कहीं बहुत गहरे से एक बुलबुला-सा उठकर उसके गले तक आकर फूट गया और वह फफककर रो उठी।

वही अन्त था। और कुछ पूछने को नहीं था। और कुछ बताने को भी नहीं था। जीवन के मोड़ होते हैं जिनके आगे ज़रूरी नहीं है कि रास्ता हो ही, कभी अन्धी गली भी होती है। सवेरा हुआ, शाम हुई, दूसरा दिन हुआ और फिर तीसरा दिन। सेल्मा न बाहर निकली, न उसने बरामदे में से बाहर झाँका, उसने मन-ही-मन यह जिज्ञासा की कि यान क्या कर रहा होगा। या कि आगे क्या होगा। सब कुछ समाप्त हो चुका था; और उसने जान लिया था कि सब कुछ समाप्त हो गया है—स्वीकार कर लिया था कि यही समाप्ति है। यान ने उसका प्रत्याख्यान कर दिया था, और उसने अपनी सारी कमाई का—क्योंकि उस सबकी वसीयत वह यान के नाम लिखकर दे आयी थी। और कहीं कुछ नहीं था! और कही कुछ नहीं था...। कोई जिज्ञासा नहीं थी...। कोई उत्तर नहीं था... कोई ध्रुवता नहीं बची थी क्योंकि कोई विरोध नहीं बचा था। बाहर बाढ़ नहीं थी, और काल का प्रवाह भी नहीं था। केवल एक टूटा हुआ अर्थहीन पुल—कहाँ से कहाँ तक और कब तक! एक टूटा हुआ अर्थहीन पुल जो कि वह स्वयं है—वह, सेल्मा, जो न कहीं से है, न कहीं तक है—जो है तो यह भी नहीं जानती कि कब तक है।

चौथे दिन जब दरवाजा खटखटाया गया तो मानो उसने पहचाना कि वह इसी की प्रतीक्षा कर रही थी लेकिन यान ने पुकारकर जो कहा उसकी प्रतीक्षा उसे नहीं थी।

"लोग आ रहे हैं दूर एक नाव दीख रही है। बाढ़ उतर गयी है—सेल्मा! बाहर आओ!"

लेकिन यह मानो समाचार नहीं था। पहले थी। कौन-सी बाढ़ कौन लोग?

कहाँ से आ रहे हैं? फिर भी यन्त्रचालित-सी सेल्मा ने बाहर जाकर दरवाजे खोल दिये। और यान के संकेत पर दूर क्षितिज की ओर देखने लगी।

हाँ नाव, बड़ी नाव, काली-सी नाव और उसमें झलकते हुए कई एक काले-काले सिर।

सेल्मा यान के पास ही काफ़ी देर तक खड़ी रही। नाव इतनी पास आ गयी थी कि उसके लोगों ने शायद उन दोनों को देख लिया था। नाव में से दो-तीन आदमी हाथ हिलाकर इशारा कर रहे थे। लेकिन इशारे का उत्तर देने का मानो सेल्मा को ध्यान ही नहीं हुआ, उसका बोध यहीं तक था कि अभी थोड़ी देर में सहायता की टोली उन तक पहुँच जाएगी और उनका उद्धार हो जाएगा—यानी उसका और यान का एक दूसरे से उद्धार हो जाएगा।

उसने एकाएक यान की ओर मुड़कर कहा, "यान, अब तो मेरा कुछ नहीं है। अब मैं फिर पूछती हूँ, मुझे स्वीकार करोगे?"

यान ने एक बार उसकी ओर देखा। फिर जेब में हाथ डाला और सेल्मा का दिया हुआ कागज निकाला, यत्नपूर्वक उसे फाड़कर उसकी चिन्दियाँ कीं और उन्हें हवा में उड़ा दिया। इसके अतिरिक्त और कोई उत्तर उसने सेल्मा को नहीं दिया। फिर वह मानो पूरे एकाग्र मन से हाथ हिलाकर नाववालों के इशारों का जवाब देने लगा।

इससे आगे जो कुछ हुआ वह मानो स्वप्न में हुआ। स्वप्न में ही सेल्मा ने पहचाना कि उसे सहारा देकर नाव में उतारा गया है, कि उसके बाद यान भी उतरा है, कि वे दोनों ही नाव में बैठे हैं, और नाव पुल से हट रही है। स्वप्न में ही उसने देखा कि वह टूटा पुल उनसे दूर हटता हुआ आकाश का अंग बनता जा रहा है—उनके जीवन का अंग नहीं, केवल सूने आकाश का अंग।

पुल को देर तक देखने के बाद उसने सहसा मुड़कर यान की ओर देखा कि यान से आँखें मिलते ही अरराकर उसका स्वप्न टूट गया। सहसा एक अप्रत्याशित स्निग्ध मुस्कान यान के चेहरे पर खिल गयी थी। धूप से भी अधिक खिली हुई, आकाश से भी अधिक गहरी, नदी से भी अधिक द्रव एक मुस्कान, जो केवल उन दोनों के बीच थी... जिसमें कहीं अस्वीकार नहीं था, प्रत्याख्यान नहीं था, विरोध नहीं था—पर ध्रुवता थी, एक अटल स्वीकारी ध्रुवता जैसे अन्तहीन आकाश में बसा हुआ आलोक...

नहीं, अन्त वहाँ पुल पर नहीं था; अन्त यह था जो कि नया आरम्भ था—अन्धी गली वह नहीं थी, मोड़ का कोई सवाल ही नहीं था क्योंकि रास्ता ही नहीं था क्योंकि यह आरम्भ तो खुला आकाश था, जिनमें से एक नया जीवन उपजा—एक नया अनुभव एक नयी गृहस्थी, तीन सन्तान, सुख-दुख के साझे का एक जाल

जिसमें जीवन की अर्थवत्ता के न जाने कितने पंछी उन्होंने पकड़े...फिर वह दिन आया कि यान नहीं रहा; पर वह अर्थवत्ता नहीं मिटी, पास हुए सारे अर्थ चाहे छिन जाएँ। जीवन सर्वदा ही वह अन्तिम कलेवा है जो जीवन देकर खरीदा गया है और जीवन जलाकर पकाया गया है और जिसका साझा करना ही होगा क्योंकि वह अकेले गले से उतारा ही नहीं जा सकता—अकेले वह भोगे भुगता ही नहीं। जीवन छोड़ ही देना होता है कि वह बना रहे और मर-मरकर मिलता रहे; सब आश्वासन छोड़ देने होते हैं कि ध्रुवता और निश्चय मिले। और इतर सब जिया और मरा जा चुका है, सबकी जड़ में अँधेरा और डर है; यही एक प्रत्यय है जो नये सिरे से जिता जाता है और जब जिया जाता है तब फिर मर नहीं जाता, जो प्रकाश पर टिका है और जिसमें अकेलापन नहीं है...

खिड़की के बाहर बर्फ का विस्तार। वैसी ही सफेद अछूती बर्फ, जिसे क्वाँरी बर्फ कहते हैं। क्वाँरा, सफेद सूना, बेजान विस्तार। उस अछूती सफेदी में कुछ ऐसा था जो कि झूठ था, या कि रह-रहकर योके को ही ऐसा भान हो आता था कि वह झूठ है। शायद वह बर्फ के विस्तार का झूठ नहीं था, क्योंकि, उसका सूनापन तो उतना ही नीरन्ध्र सच था जितना कि मृत्यु। शायद वह झूठेपन का बोध सेल्मा को कहानी के प्रति उसके विद्रोह का ही स्थानान्तरित रूप था।

लेकिन सेल्मा की कहानी के प्रति विरोध क्यों? क्या वह मानती है कि वह कहानी झूठ है? नहीं, ऐसा तो वह नहीं कह सकती। शायद कहानी जिस ढंग से कही गयी—टुकड़ों-टुकड़ों में, और बीच-बीच के अन्तरालों में मानो मृत्यु की ठोस काली छाया के विराम-चिह्नों से युक्त—उसी से उसकी सच्चाई का बोध कुछ खंडित हो गया। कहानी में कुछ ऐसा सम्पूर्ण और अखंड और अबाध्य रूप से एक दिशा में बढ़नेवाला है कि उसका रुकना या हिस्सों में बँटना असम्भव है। या तो कहानी के विराम झूठ हैं, या फिर कहानी ही कैसे सच हो सकती है?

योके ने कहा कि सेल्मा दूसरी दुनिया की बात कह रही है। दूसरी दुनिया क्या सच है? क्या उसका दूसरा होना ही झूठा होना नहीं है—उस परिस्थिति में जिसमें कि यह दुनिया, देश-काल का यह विशेष बिन्दु, जीवन का यह एक निस्संग जड़ित क्षण ही एकमात्र अनुभूत सच्चाई है? लेकिन यही तो सबसे बड़ा झूठ है, यही तो सबसे अधिक अग्राह्य है। यह दुनिया झूठ है, क्या इसलिये यह मान लें कि दूसरी दुनिया सच है? सपना झूठ है तो सपने में जो लोक देखा उसको सच मान लेना होगा? मोह की अवस्था में झूठ में जो कल्पना की गयी वह क्या और भी अधिक झूठ नहीं है—झूठ का भी झूठ नहीं है?

उखड़ती साँसों के अनेक अन्तरालों में सेल्मा थोड़ी-थोड़ी करके अपनी बात

कह गयी थी। यह उसका आत्मानुशासन ही था कि साँसों का उखड़ापन उखड़ा नहीं जान पड़ता था, केवल एक मौन जान पड़ता था। लेकिन इसी अनुशासन के कारण शायद उसकी बात में वह व्यथा—स्पन्दित सहजता नहीं रहती थी जो योके के लिये उसे सच बना सकती...।

एक बार तो कहानी सुनते-सुनते उसका यह विरोध-भाव एकाएक इतना प्रबल हो आया था कि उसने सेल्मा को टोक भी दिया था। "दु:ख और कष्ट की बात—लेकिन दु:ख और कष्ट सच कैसे हैं अगर उनका बोध ही नहीं है?"

सेल्मा थोड़ी देर चुप रही थी। फिर उसने कहा था, "यही तो मैं भी कहती हूँ—लेकिन दूसरी तरह से। बोध में से ही दर्द की सचाई है।" और थोड़ी देर रुककर, "और मृत्यु की भी।"

योके ने इससे आगे सुनना नहीं चाहा था, इतना भी सुनना नहीं चाहा था। वह झपटती हुई उठकर दूसरे कमरे में चली गयी थी। लेकिन काम में अपने को उलझा नहीं सकी थी—काम कोई विशेष था ही नहीं। फिर आकर दो-एक बार सेल्मा को देख गयी थी और चली गयी थी, और अन्त में फिर आकर उसके पास बैठ गयी थी। योके अपने से कहती, "वह वहाँ सेल्मा है यह यहाँ मैं हूँ। वह सेल्मा है, सेल्मा ही है, यह मैं नहीं जानती—क्योंकि यह भी नहीं जानती कि वह जीती है या मर चुकी है—वह ऐसी निश्चेष्ट निस्पन्द पड़ी है—लेकिन उसके चेहरे में कोई परिवर्तन नहीं आया है और उसकी आँखें बन्द हैं। सुना है—आँखें खुल जाती हैं—लेकिन मैं क्यों उसे देख रही हूँ? क्या अपने को यही बोध कराने के लिये कि मैं मरी नहीं हूँ? जीवन के अनुभव करने के लिये, अपने मैं-पन को पहचानने के लिए? मैं पन का बोध और जीवितपन का बोध, दोनों क., एक साथ अनुभव करने के लिए—दोनों को एक अनुभूति में ढालकर इकाई को भोगने के लिये?

और प्रश्न को इस रूप में अपने सामने रखकर वह बेचैन होकर उठ खड़ी होती और इधर-उधर चक्कर काटने लगती। क्योंकि यहीं कहीं कुछ झूठ था—एक धोखा था—क्योंकि इन दो अलग-अलग अनुभवों का मेल किसी तरह भी इस एक अनुभूति के बराबर नहीं होता कि 'मैं जीवित हूँ।' मैं जीवित हूँ—की अखंड अनुभूति तभी हो सकती है जब व्यक्ति उसके प्रति चेतन न हो। क्योंकि कोई भी, किसी प्रकार की भी आत्मचेतना अपने को अपनी अनुभूति से अलग कर देती है, तटस्थ कर देती है, साक्षी बना देती है; और जो साक्षी है वह भोक्ता कैसे है? जीवन की अनुभूति तभी हो सकती है जब अनुभव कर रहे होने का बोध न हो। और वहाँ बैठी हुई योके—उसे न केवल बराबर यह बोध था कि वह अनुभव कर रही है, वह चाहती थी कि वह अनुभव करे! और यह बोध, यह चाहना ही जीवन को झूठा किये देता था। ...झूठ, झूठ, झूठ!

बर्फ—उजली बर्फ, धुँधली बर्फ, काली बर्फ—मानो काल का प्रवाह बर्फ की अलग-अलग रंग की झाईं है—उससे अलग समय की कोई सत्ता सा सत्त्वमयता नहीं है। या फिर जैसे बाहर बर्फ की झाइयाँ हैं वैसे ही भीतर सेल्मा के चहरे की झाइयाँ हैं—उजली, धुँधली, काली... यही दिनों का बीतना है; दिनों का और रातों का बीतना, जिस बीतने को योके अपने अर्थहीन साँसों से नाप रही है।...

योके ने नहीं जाना कि सेल्मा कब मर गयी। जानने का कोई उपाय नहीं था। शायद स्वयं सेल्मा ने भी नहीं जाना—क्योंकि उसका मरना किसी एक बिन्दु पर नहीं था। योके दूसरे कमरे में थी जब एकाएक उसने जाना। तर्कातीत गहरे और ध्रुव निश्चय से जाना कि सेल्मा मर चुकी है, उसे सहसा लगा कि कमरे की गन्ध बदल गयी है। आसन्न मृत्यु की गन्ध उसने कई दिन से पहचान रखी थी, इतनी घनिष्ठता के साथ कि अब उसकी अनुभूति की धार भी कुंठित हो गयी थी—पर अब उसे लगा कि वह गन्ध कुछ दूसरी है—मानो मृत्यु की सान पर चढ़कर उसका बोध तीखा हो आया था।

एकाएक इस बोध के थपेड़े से योके क्षण-भर के लिये लड़खड़ा गयी। फिर उसके भीतर तीव्र प्रतिक्रिया जागी कि उसे तुरन्त कुछ करना चाहिए, कि वह कुछ करेगी नहीं तो पागल हो जाएगी। उसने लपककर सेल्मा के कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया और उसे पीठ से दबाती हुई खड़ी हो गयी। वह मृत्यु को बन्द कर देगी उस कमरे में, मृत्यु-गन्ध को वहीं दफना देगी—वह नहीं सह सकती उसे!

लेकिन वह काफ़ी नहीं था। वह मृत्यु-गन्ध मानो सर्वत्र भर रही थी।

योके ने एक कम्बल और चादर से दरवाजे के जोड़ और दरारें बन्द कर देने का यत्न किया, लेकिन उसे लगा कि ये कपड़े भी गन्ध से भर गये हैं। उसकी मुट्ठियाँ बँध गयीं। उसने जोर से एक घूँसा कम्बल पर मारा; लेकिन मानो चोट न लगने से उसे सन्तोष नहीं हुआ। और वह दोनों मुट्ठियों से दरवाजे को पीटने लगी। एक कड़वा आक्रोश उसके भीतर उमड़ आया; न जाने कब पुरुषों के झगड़ों में सुनी हुई गालियाँ उसे याद हो आयीं और वह उन्माद की-सी अवस्था में ईश्वर का नाम ले-लेकर गालियों को दुहरने लगी और साथ-साथ दरवाजे पर घूँसे मारने लगी।

व्यर्थ। सब व्यर्थ। वह मृत्यु-गन्ध नहीं दबती, न दबेगी, सब जगह फैली हुई है सब-कुछ में बसी हुई है सब-कुछ मरा हुआ है, सड़ रहा है, घिनौना है—बेपना है...

एकाएक योके को लगा कि वह गन्ध और कहीं से नहीं आ रही है, उसी में है—उसी की देह में से आ रही है। वह दरवाजे से उठ गयी और खिड़की के पास गयी। फिर उसने एक गिलास उठाकर खिड़की के बाहर से उसमें बर्फ भरो और

बर्फ की मुट्ठियाँ बाँधकर उससे अपने हाथ, अपनी बाँहें, अपना चेहरा रगड़ने लगी... व्यर्थ, वह गन्ध छूटती नहीं, वह योके में भीतर तब बस गयी है। वह योके की अपनी गन्ध है—योके ही वह गन्ध है... उसने एक बार विमूढ़ भाव से अपने हाथ की ओर देखा, फिर गिलास को उठाकर सूँघा—उफ, बर्फ भी मृत्यु-गन्ध से भरी हुई थी। या कि उसके स्पर्श से ही वह गन्ध बर्फ में भी बस गयी है!

केवल मृत्यु की प्रतीक्षा—मरने की प्रतीक्षा, सड़ने और गँधाने की प्रतीक्षा... वह गन्ध पहले ही सब जगह और सब-कुछ में है और हम सर्वदा मृत्यु-गन्ध से गँधाते रहते हैं...

वह और मृत्यु-गन्ध—अकेली वह और सर्वत्र व्यापी हुई मृत्यु-गन्ध—गन्ध के साथ अकेली वह।

एक उन्मत्त अतिमानवी निश्चय से भरकर योके ने कम्बल और चादर उठाकर दरवाजा खोल दिया। वह सेल्मा को उठाकर ईश्वर के मुँह पर दे मारेगी—कहेगी कि लो अपनी सड़ी हुई, गँधाती हुई मृत्यु, और छोड़ दो मुझे मेरे अकेलेपन के साथ! लेकिन दो कदम आगे बढ़कर ही वह ठिठक गयी, मानो लकवे से जड़ी हो गयी। उसे लगा कि सेल्मा की खुली आँखें एकटक उसे देख रही हैं, जैसे उस दिन देख रही थीं जब सेल्मा ने पूछा था, "लेकिन तुम रुक क्यों गयीं?"

योके सेल्मा के पलँग की ओर और नहीं बढ़ सकी, ईश्वर के विरुद्ध ही उसका आक्रोश फिर प्रबल हो आया। थुड़ी है ईश्वर पर जो उसे इतना अकेला करके भी अकेला नहीं छोड़ रहा है, जो एक लाश की आँखों में छेद करके उनके भीतर से मुझे झाँक रहा है,

मुझ पर जासूसी करने आया है—थुड़ी है!

मुझे इतना अकेला करके...अकेला होना—मृत्यु के साथ अकेला होना—मृत्यु के सम्मुख अकेला होना—मृत्यु में अकेला होना—इस चरम अकेलेपन और स्वयं मृत्यु में क्या अन्तर है? क्या हुआ अगर ईश्वर चोरी से देख रहा है उस अकेली मृत्यु को—क्या ईश्वर भी मरा हुआ नहीं है?

योके ने सहारा लेने को हाथ बढ़ाया। लेकिन किसी तरफ़ कोई सहारा नहीं था और पलँग की ओर बढ़ना सम्भव नहीं था। वह असहाय सी वहीं फर्श पर बैठ गयी।

वह थोड़ी देर की बात भी हो सकती है और दो घंटों की भी कि योके यों फर्श पर बैठी रही। अंगों की चुनचुनाहट ने उसे सचेत किया। वह किसी तरह उठकर खड़ी हुई और लड़खड़ाती हुई दरवाजे की चौखट तक आयी, वहाँ चौखटे के सहारे खड़ी होकर उसने सुन्न पड़ी टाँगों को सीधा किया और कुछ सँभलकर अपने पीछे

दरवाजा धीरे से बन्द कर दिया। न जाने क्यों उसका ध्यान कमरे में टँगे हुए बड़े शीशे की ओर गया—खिड़की इतनी देर तक खुली रहने से उस पर नमी जम गयी थी और वह धुँधला होकर कोहरे की चादर-सा जान पड़ा था। योके ने हथेली से मलकर उसमें झाँकने लायक जगह बनायी; पहले अपनी परछाईं के पैरों की ओर देखा और फिर धीरे धीरे नजर उठाती हुई परछाईं आँखों से आँखें मिलायीं और एकाएक मुड़ गयी।

एक नये निश्चय से भरकर उसने सेल्मा के कमरे का दरवाजा खोला, कम्बल सेल्मा की देह पर उढ़ाया और उसी में लपेटकर देह को बाँहों में उठा लिया। क्षण-भर उसे भ्रम हुआ कि उसने कम्बल सूना ही उठा लिया है। लेकिन पलँग पर कुछ नहीं था, सेल्मा का भार ही इतना रह गया होगा। दरवाजे की ओर बढ़कर उसने कोहनी से ठेलकर उसे खोला और बाहर निकल आयी।

नहीं, खोदने की कोई जरूरत नहीं थी—अभी वह प्रयत्न भी व्यर्थ था। अभी केवल बर्फ; अनन्तर जब बर्फ पिघलेगी तब कब्र खोदकर दफनाना होगा, लेकिन अभी कुछ नहीं।

योके ने लाश को वहीं बर्फ पर लिटा दिया, फिर अन्दर जाकर एक डोल ले आयी और उसी से खोदकर बर्फ में खाई बनाने लगी। थोड़ी देर बाद उसने लाश को उसमें लिटा दिया और डोल भरकर बर्फ उठायी कि ठिठक गयी।

क्या कोई प्रार्थना उसे याद है? क्या प्रार्थना का भाव भी उसके मन में है? क्या वह ईश्वर को जानती या मानती भी है, इससे अधिक कि उसका नाम लेकर थूके! ईश्वर केवल एक अभ्यास है, और उसके नाम पर थूकना भी अभ्यास है...

"मुझे क्षमा कर दो!" उसे याद आया कि सेल्मा ने उससे कहा था। सेल्मा ने... जबकि कभी भी कोई परिस्थिति ऐसी आयी थी जिसमें किसी को किसी से क्षमा माँगनी हो, तो वह सेल्मा से योके के क्षमा माँगने की ही थी।

योके ने किसी तरह कहा, "क्षमा करो, सेल्मा—" और बर्फ का डोल उस पर उलट दिया। फिर वह तेजी से डोल भर भरकर उस पर डालने लगी।

...क्या कहीं भी ईश्वर है, सिवा मानवों के बीच के इस परस्पर क्षमा-याचना के सम्बन्ध को छोड़कर? यह क्षमा तो अभ्यास नहीं है। याचना भी अभ्यास नहीं है, तब यह सच है और ईश्वर है तो कहीं गहरे में इसी में होगा... पर क्या क्षमा, कैसी क्षमा, किससे क्षमा? मैं जो हूँ वही हूँ; और सेल्मा-सेल्मा मर चुकी है—है ही नहीं। फिर भी क्षमा सेल्मा से, ईश्वर से नहीं जो कि बीमार है और गँधाता है—मृत्यु-गन्धी ईश्वर..

लाश जब बिलकुल ओझल हो गयी तो योके ने डोल रखकर पीठ सीधी की और एक बार मुड़कर घर की ओर देखा। घर अब भी बर्फ के भीतर की एक गुफा मात्र था जिसके द्वार से निकलकर बाहर आयी थी और जिसमें फिर लौट जाएगी—

अबकी बार अकेली। एकाएक सेल्मा के प्रति एक व्यापक करुणा का भाव उसके मन में उदित हो आया। सेल्मा थी, और अब नहीं है! बेचारी सेल्मा!

लेकिन एकाएक योके ने अपने को झटककर इस पिघलने के भाव को रोक दिया। करुणा गलत है, बचाव उसमें नहीं है। घृणा भी नरक का द्वार है तो दया भी नरक का द्वार है। मैं दया करके वहाँ गिरूँगी जहाँ घृणा करके गिरती!...

एकाएक योके को उस मठवासी भिक्षु की बात याद आयी जिसने साधना के लिये अपने को एकान्त कोठरी में बन्द कर लिया था; लेकिन एक दिन एकाएक मानो जागकर, अपने अकेलेपन को पहचानकर और अपने आपसे डरकर अपनी कोठरी से सुरंग खोदना आरम्भ कर दिया था। सारा जीवन सुरंग खोदते-खोदते जब अन्त में एक दिन उसे खुली-सी जगह मिलती जान पड़ी और वह उसमें सिर डालकर ऊपर उठा—तो पहुँचा केवल उसी मठ की एक दूसरी एकान्त गुफा में जो कि उसी प्रकार बन्द थी जिस प्रकार उसकी अपनी कोठरी! अन्तर इतना ही था कि इस कोठरी में एक पुराना लोटा और एक ठठरी भी पड़ी हुई थी—किसी दूसरे साधक की जो उस एकान्त में मर गया था...

क्या इतनी ही है पुरुषार्थ की उपलब्धि—एक अकेली गुफा से बढ़कर एक दूसरी गुफा तक पहुँचाना जिसके अकेलेपन को एक ठठरी दोहरा रही है?

सेल्मा ने कहा था, "वरण की स्वतन्त्रता कहीं नहीं है, हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं।" ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है—उसे भी सृष्टि करनी ही है लेकिन उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है; वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जाएगा।

लेकिन यहाँ तो रचना की बात नहीं है। मृत्यु की बात है—मृत्यु, मृत्यु, मृत्यु... क्या उसमें ही कहीं रचना के लिए, सृष्टि के लिये गुंजाइश है? क्या यही रहस्य था जिसका कुछ आभास सेल्मा को मिला था—कि वरण की स्वतन्त्रता नहीं है लेकिन रचना फिर भी सम्भव है और उसमें ही मुक्ति है?

योके ने फिर एक डोल भरकर बर्फ उठायी और धीरे-धीरे सेल्मा की ओझल देह पर डाल दी। यह मानो अनावश्यक था, अतिरिक्त था; लेकिन इस अनावश्यक अतिरिक्तता ने ही इस मदफन को सम्पूर्णता दी—अन्तिम रूप दिया।

भीतर लौटने से पहले योके ने एक बार चारों ओर नजर फिराकर देखा—कि बर्फ की क्षिति-रेखा पर, एक काले बिन्दु पर उसी की दीठ अटक गयी।

वह बिन्दु हिल रहा है। पहाड़ की रीढ़ के पार से कोई आ रहा है। मानो किसी दूसरी दुनिया से एक नाम गूँजा—पॉल सोरेन। हाँ, पॉल ही है।

तो यह अन्त है। अजब बात है कि एक का मदफन और दूसरे का निस्तार एक साथ एक ही क्षण में होता है।

लेकिन किसका मदफन और किसका निस्तार? कौन मर रहा है और कौन मुक्त हो गया है?

एकाएक उसे दूर से एक पुकार सुनाई पड़ी। कैसी अकल्पनीय और अविश्वास्य है यह पुकार उस सन्नाटे में। पॉल चिल्ला रहा है—हाथ हिलाकर उसे अपनी पहचान और अपनी खुशी की पहचान करना चाहता है—और पीछे प्रकट होते हुए तीन-चार और काले बिन्दुओं को प्रोत्साहन देकर तेजी से आगे बढ़ाना चाहता है...

पॉल सोरेन, योके का साथी और सह-साहसिक पॉल। लेकिन कौन है पॉल? कौन है यह अजनबी जो इस तरह चिल्लाता हुआ, इशारे करता हुआ उसकी ओर बढ़ रहा है?

कहीं वरण की स्वतन्त्रता नहीं है। हम अपने बन्धु का वरण नहीं कर सकते—और अपने अजनबी का भी नहीं...हम इतने भी स्वतन्त्र नहीं है कि अपना अजनबी भी चुन सकें...

अजनबी, अनपहचाना डर... क्या हम इतने भी स्वतन्त्र हैं कि अजनबी से पहचान कर लें?

योके

दुकान में काफ़ी भीड़ थी। कई दिन वह बन्द रही थी, आज भी खुली थी तो कोई भरोसा नहीं था कि कितनी देर तक खुली रहेगी। और इसका कौन ठिकाना था कि बन्द न भी हो तो थोड़ी देर में सब माल चुक न जाएगा? सब लोग सहमे-सहमे-से थे, आतंक के वातावरण में प्रकट रूप में कोई ठेलम-ठेल नहीं हो रही थी लेकिन यह भाँपना कठिन नहीं था कि सभी ग्राहकों के लिये उस दुकान में आना या सौदा खरीदने की कोशिश प्राणरक्षा की दौड़ की ही एक मंजिल थी। सभी जानते थे कि जो पिछड़ जाएगा वह मर जाएगा; आगे बढ़कर किसी तरह से खरीदा जा सके खरीद लेने में ही खैरियत है।

दुकान गली में थी। उस गली में जर्मनों का आना-जाना नहीं था, लेकिन शहर पर उनका अधिकार होने के बाद से जो आतंक था उसकी लपट से वह गली भी बची नहीं थी। उसी आतंक के कारण दुकान जब बन्द होती थी तब बन्द होती थी और जब खुलती थी तब खुलती थी। उसी के कारण चीज़ों के दाम भी बहुत अधिक नहीं बढ़ते थे—माल जब चुक जाता था तब चुक जाता था। पिछवाड़े कहीं कभी लुक-छिपकर चोर-बाजारी होती भी हो तो सामने उसका कोई लक्षण नहीं था। यों चोर-बाजारी जितनी चौड़े में होती है उतनी लुक-छिपकर नहीं होती यह सभी जानते हैं। गली में जोखिम ज्यादा ही होता है।

भीड़ बहुत थी, लेकिन प्रतियोगी भाव के अलावा भी भीड़ में सब अकेले थे। बुझे हुए बन्द चेहरे, मानो घर की खिड़कियाँ ही बन्द न कर ली गयी हों बल्कि परदे भी खींच दिए गये हों; दबी हुई भावनाहीन पर निर्मम आवाजें, मानो जो माँगती हों, उसे जंजीर से बाँध लेना चाहती हों। अजनबी चेहरे, अजनबी आवाजें, अजनबी मुद्राएँ, और वह अजनबीपन केवल एक-दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का ही नहीं, बल्कि एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है—जातियों और संस्कारों का अजनबीपन, जीवन के मूल्य का अजनबीपन।

काले, गोरे और भूरे चेहरे; काले, लाल, पीले, भूरे गेहुएँ, सुनहले ओर धौले बाल, रँगे-पुते और रूखे-खुड्ढे चेहरे। चुन्नटदार, इस्तरी किये हुए और सलबट पड़े कपड़े; चमकीले और कीच-सने, चरमराते या फटफटाते या घिसटते हुए जूते।

और चेहरों में, आँखों में, कपड़ों में, सिर से पैर तक अंग की हर क्रिया में निर्मम जीवैषणा का भाव—मानो वह दुकान सौदे-सुलुफ या रसद की दुकान नहीं है बल्कि जीवन की दुकान है जगन्नाथन् ने जैसे-तैसे कुछ सामान खरीद लिया था। एक बड़ा टुकड़ा पनीर का, कुछ मीठी टिकियाँ, थोड़ी सूखी रोटी। इन्हें अपने सामने रखे वह दीवार के साथ सजी हुई चीज़ों की ओर देख रहा था कि और क्या वह ले सकता है, कि एकाएक दुकान के पहले ही तने हुए वातावरण में एक नया तनाव आ गया। जगन्नाथन् ने भी मुड़कर उसी ओर देखा जिधर और कई लोग देखने लगे थे।

आगन्तुका के कपड़े कुछ अस्त-व्यस्त थे लेकिन ध्यान उनकी ओर नहीं जाता था, ध्यान जाता था उसके चेहरे और उसकी आँखों की ओर जो कि और भी अस्त-व्यस्त थीं—उसकी आँखों में मानो पतझर के मौसम की एक समूची वनखंडी बसी हुई थी। वह खुली-खुली आँखों से बिखरी हुई दृष्टि से चारों ओर देख रही थी। सभी को देखते हुए उसकी आँखें जगन्नाथन् तक पहुँची और उसे भी उसने सिर से पैर तक देख लिया। उस दृष्टि में कुछ था जिससे एक अशान्त, अस्वस्ति भाव जगन्नाथन् के भीतर उमड़ आया; लेकिन वह न उस दृष्टि को समझ सका न उसके प्रति होनेवाली अपनी प्रतिक्रिया को। यह अपने आप भी दुविधा का कारण होता, लेकिन इसके पीछे जगन्नाथन् ने अर्द्धचेतन मानस से यह भी पहचाना कि लोग आपस में कुछ कह रहे हैं और जो कह रहे हैं उसका विषय यह आगन्तुका ही है। जगन्नाथन् सुन भी रहा है, पर मानो सुने हुए की कोई छाप भी उसके नाम पर नहीं पड़ रही है, केवल वह आस्वस्ति भाव फैलकर उसकी सारी चेतना पर छाया जा रहा है।

एकाएक आगन्तुका ने अपने निचले होंठ से चिपका हुआ सिगरेट अलग किया और जगन्नाथन् के खरीदे हुए पनीर में उसे रगड़कर बुझा दिया, फिर अनमने भाव से सिगरेट को पनीर में ही खोंसकर उसने जगन्नाथन् की ओर देखा।

जगन्नाथन् दंग रह गया। फिर धीरे-से पनीर का टुकड़ा उठाते हुए उसने हारे स्वर से कहा, "वह देखो तुमने क्या कर दिया है!"

आगन्तुका ने पनीर का टुकड़ा उसके हाथ से ले लिया और फिर उसे फर्श पर गिर जाने दिया। फिर वह एकाएक मुड़कर बाहर की ओर दौड़ी।

कुछ लोग हँस पड़े। पल-भर विमूढ़-सा रहकर जगन्नाथन् भी अपना सामान उठाकर उसके पीछे लपका। पीछे से किसी ने आवाज कसी, 'फाँस लिया!'

एक दूसरी आवाज आयी, उपहास से भरी हुई, 'वह भी तो बड़ा उतावला जान पड़ रहा है। दिन-दहाड़े पीछा कर रहा है।'

बाहर निकलते हुए जगन्नाथन् की चेतना ने इन आवाजों को भी ग्रहण किया। कुछ देर पहले सुनी हुई बातें भी उभरकर उसकी चेतना में आ गयी। उसने जान लिया कि आगन्तुका वेश्या है।

क्या वह लौट जाए? पनीर तो नष्ट हो चुका है। उस स्त्री ने जो किया उसका

कारण जानकर भी अब क्या होगा? और वह उसका पीछा कर उसे पकड़ भी पाएगा तो क्या करेगा?

लेकिन वह अपने आप रुक गयी थी। वह बड़े जोर से हाँफ रही थी और उसके चेहरे पर यह ज्ञान स्पष्ट लिखा हुआ था कि जिस गली में वह घुस आयी है वह अन्धी गली है और अब वह बचकर नहीं भाग सकती—उसे अपना पीछा करनेवाले की ओर ही लौटना होगा। पास ही की सीढ़ी पर बैठ गयी और सिकुड़ गयी, जैसे मार खाने के लिये। जैसे कभी कुत्ता दुबककर बैठ जाता है, जब वह निश्चयपूर्वक जानता है कि बच नहीं सकेगा और उसे मार पड़ेगी ही।

जगन्नाथन् ने उसके पास पहुँचकर सधे हुए, मृदु स्वर में पूछा, "वह तुमने क्या किया—क्या लाचारी थी?"

"मुझे क्या मालूम था कि पनीर है?" स्वर उद्धत था। "मैं समझी कि यों ही रद्दी कुछ पड़ा होगा।"

इस बात का विश्वास करना कठिन था। फिर भी जगन्नाथन् ने कहा, "लेकिन जब मैंने तुम्हें दिखाया तब तुम इतना तो कह सकती थीं कि—तुम्हें खेद है? वह मेरा अगले तीन दिन का खाना था। मैं-मैं कोई अमीर आदमी नहीं हूँ।"

स्त्री ने तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा। कुछ बदले हुए स्वर में बोली, "ज़रूरी था।"

"क्या ज़रूरी था?" जगन्नाथन् को सन्देह हुआ कि कहीं यह स्त्री पागल तो नहीं है?

"ज़रूरी था। मुझे जाना है, मेरी पुकार हो गयी है।"

जगन्नाथन् और भी उलझन में पड़ गया। स्त्री कहती गयी, "लेकिन तुम तो मेरा पीछा कर रहे थे। तुम तो मुझे मारना चाहते थे—मारते क्यों नहीं? लो, यह मैं हूँ—मारो!"

जगन्नाथन् ने लज्जित स्वर में कहा, "नहीं, मैं नहीं चाहता था, मैं तो—मैं तो सिर्फ..."

"या कि—या कि तुम भी इसीलिये—वे लोग जो कह रहे थे क्या ठीक कह रहे थे?"

थोड़ी देर जगन्नाथन् प्रश्न नहीं समझा। फिर बाढ़ की तरह उसका अर्थ स्पष्ट हो गया। वह बोला, "तुम ऐसा सोच भी कैसे सकती हो? मैं जीवन में कभी नहीं गया किसी..."

वह कहना चाहता था कि वह कभी वेश्या के पास नहीं गया। लेकिन 'वेश्या' शब्द पर उसकी वाणी अटक गयी। उस स्त्री के सामने वह उस शब्द को जबान पर नहीं ला सका।

स्त्री ने स्थिर आँखों से उसकी ओर देखकर पूछा, 'तब तुम तो सिर्फ क्या?''

''मैं, मैं—मैं तो—नहीं जानता कि क्या!''

स्त्री थोड़ी देर एकटक उसकी ओर देखती रही और फिर खिलखिलाकर हँसी पड़ी। फिर उतने ही अप्रत्यशित ढंग से वह हँसी गायब हो गयी और स्त्री का चेहरा पहले-सा हो आया। व्यथा की एक गहरी रेखा उस पर खिंच गयी। स्त्री ने जेब में हाथ डालकर कुछ निकाला और जल्दी से मुँह में रख लिया। दवा? या कोई नशा?...

''तुम्हारी तबीयत तो ठीक है?''

''अभी ठीक हो जाएगी—अभी हो जाएगी।'' स्त्री की बात सुनकर जगन्नाथन् ने तय किया कि वह दवा नहीं थी, नशा ही था।

स्त्री का शरीर कुछ शिथिल हो आया। उसने उपरली सीढ़ी पर कोहनी टेककर पीठ दीवार के साथ लगा दी, फिर बायीं कलाई मोड़कर घड़ी की ओर देखा और शिथिल बाँहें अपनी गोद में गिर जाने दीं।

''क्या बाजा है? मैं कुछ देख नहीं पा रही।'' उसका स्वर भी बड़ा दुर्बल जान पड़ रहा था।

जगन्नाथन् ने घड़ी देखकर समय बता दिया।

''तुम्हारा नाम क्या है?''

जगन्नाथन् ने थोड़ा अचकचाते हुए कहा, 'जगन्नाथन्!'

''ज-जगन-ज-मैं सिर्फ नाथन् कहूँगी—छोटा भी है, अच्छा भी है। नाथन, मुझे माफ कर दो। मैंने तुम्हें तकलीफ पहुँचायी है, लेकिन मेरे खिलाफ इस बात को याद मत रखना पीछे याद मत करना। मैं मर रही हूँ।''

''क्यों—तुमने क्या किया है—क्या कर डाला है! अभी तुमने क्या खा लिया?''

''मैंने चुन लिया। मैंने स्वतन्त्रता को चुन लिया।'' वह धीरे-धीरे बोली, ''मैं बहुत खुश हूँ। मैंने कभी कुछ नहीं चुना। जब से मुझे याद है कभी कुछ चुनने का मौका मुझे नहीं मिला। लेकिन अब मैंने चुन लिया। जो चाहा वही चुन लिया। मैं खुश हूँ।'' थोड़ा हाँफकर वह फिर बोली, ''मैं चाहती थी कि मैं किसी अच्छे आदमी के पास मरूँ। क्योंकि मैं मरना नहीं चाहती थी—कभी नहीं चाहती थी!'' फिर थोड़ा रुककर उसने कहा, ''मुझे माफ कर दो, नाथन्! तुम जरूर मुझे माफ कर दोगे। तुम अच्छे आदमी हो। बताओ—अच्छे आदमी हो न?''

जगन्नाथन् ने सीधे होते हुए कहा, ''मैं डॉक्टर बुला लाऊँ?''

''नहीं-नहीं! अब कोई फायदा नहीं है।'' उसने कहा, ''अब मुझे छोड़कर मत जाओ यही तो मैंने चुना है।'' फिर मानो कुछ सोचकर उसने जोड़ दिया, ''लेकिन, हाँ दूसरे लोग भी तो होंगे लेकिन उनसे मैं अपने आप कह दूँगी। पर तुम जाओ नहीं!''

क्षीणतर होती हुई उस आवाज में भी अनुरोध की एक तीव्रता आ गयी।

जगन्नाथन् वहाँ से जा नहीं सका। लेकिन वहीं मुड़कर उसने जोर से आवाज़ लगायी, "कोई है—मदद चाहिए—कोई है?" फिर स्त्री की ओर उन्मुख होकर उसने पूछा, "क्या कह दोगी?"

"कह दूँगी कि मैंने चुना, स्वेच्छा से चुना। सब कुछ कह दूँगी। सारी हरामी दुनिया को बता दूँगी कि एक बार मैंने अपने मन से जो चुना वही किया! हरामी-हरामी दुनिया! नाथन्—अच्छे आदमी—मुझे माफ कर दो!"

जगन्नाथन् बड़े असमंजस में था। एक बार मुड़ता कि सहायता के लिये दौड़े, फिर उस स्त्री की ओर देखता जिसका अनुरोध—शायद अन्तिम अनुरोध— था कि वह उसे छोड़कर न जाए। फिर उसे ध्यान आता कि औरत शायद पूरे होश में भी नहीं है, जानती भी नहीं कि क्या कह रही है, और शायद इतना बोध भी नहीं रखती कि वह उसके पास खड़ा है। लेकिन अगर उसे बोध नहीं है तो जगन्नाथन् को तो है कि उसने क्या माँगा था! और शायद जगन्नाथन् का कर्तव्य यही है कि वह जो कुछ कह रही है उसका साक्षी हो अगर वह प्रलय भी है तो भी उसका साक्षी हो—क्योंकि शायद वही उस स्त्री के पास और कहने को रह गया है। और शायद वही कहना ही वह सारवस्तु है जिसके लिये वह जैसा भी जीवन जिया है...

स्त्री फिर रुक-रुककर कुछ कहने लगी। "कह दो—सारी हरामी दुनिया से कह दो, अन्त में मैं हारी नहीं—अन्त में मैंने जो चाहा सो किया—मरजी से किया। चुनकर किया। मैं—मरियम—ईसा की माँ—ईश्वर की माँ मरियम—जिसको जर्मनों ने वेश्या बनाया—"

जगन्नाथन् ने धीरे से पूछा, "तुम्हारा नाम मरियम है?"

"हाँ, मेरा नाम मरियम। ईसा की माँ का नाम मरियम। चुनी हुई माँ। जो कभी मर नहीं सकती—जर्मनों की वेश्या। उससे पहले मेरा नाम योके था। वह मैंने नहीं चुना, पर अच्छा नाम है। लेकिन योके मर गयी। मरियम कभी नहीं मरती।"

जगन्नाथन् ने मुड़कर देखा, गली की नुक्कड़ पर कुछ लोग आ गये थे। उसने समझा था मरियम को—योके को—इतना होश नहीं होगा कि उनका आना जाने, लेकिन उसने उन्हें देख लिया और किसी तरह हाथ उठाकर इशारे से बुलाया। दो-तीन आदमी दौड़े हुए पास आये और एक बार कौतूहल से जगन्नाथन् की ओर देखकर स्त्री की ओर झुक गये।

योके ने कहा, "मैंने अपने मन से चुना है। मैं मर रही हूँ—अपनी इच्छा से चुनकर मर रही हूँ, हरामी मौत।"

उसका स्वर कुछ और दुर्बल हो आया था। जगन्नाथन् को लगा कि उसका शरीर भी शिथिल पड़ रहा है और चेहरे की फीकी होती हुई रंगत में एक हल्की-सी कलौंस आ गयी है। उसे लगा कि योके की पीठ दीवार पर से एक ओर सरक

रही है। जल्दी से घुटने टेकर कर बैठते हुए उसने एक बाँह से उसे सहारा देकर सँभाल लिया मानो उसके स्पर्श को पहचानती हुई योके ने उसकी ओर तनिक-सा मुड़कर कहा, "मैंने कह दिया—सब हरामियों से कह दिया।" फिर थोड़ा रुककर उसने आयासपूर्वक कहा, "उससे भी कह दिया—उससे भी।"

इस 'उस' में कुछ ऐसा प्रबल आग्रह था कि जगन्नाथन् ने अवश प्रेरणा से पूछा, "उससे किससे?"

"पॉल से, उस अजनबी से।"

एकाएक सभी लोग चुप हो गये थे। सभी में कुछ होता है जो पहचान लेता है कि कोई महत्त्वपूर्ण घटना घटनेवाली है और उसके आसन्न प्रभाव सामने क्षण-भर चुप हो जाता है। उस मौन में योके और जगन्नाथन् मानो बाकी सारी भीड़ से कुछ अलग हो गये थे। योके ने फिर कहा, "मैंने चुना। हम अजनबी नहीं चुनते, अच्छे आदमी चुनते हैं। मैंने आदमी चुना—अच्छा आदमी। उसमें मैं जियूँगी। नाथन्, मुझे माफ कर दो।"

जगन्नाथन् की बाँह कुछ और घिर आयी और योके का सिर उसने अपने कन्धे पर टेक लिया।

योके ने कहा, "किया?"

जगन्नाथन् ने उसके कान के पास मुँह से लाकर स्निग्ध भाव से पूछा, "क्या?" फिर एकाएक उसका प्रश्न समझकर जल्दी से कहा, "हाँ, योके! किया। माफ किया—पर माफ करने को कुछ है तो नहीं।"

योके ने बहुत ही धीमे, लगभग न सुने जा सकने वाले स्वर में कहा, "मैंने भी किया। अच्छा आदमी। उसको भी—"

जगन्नाथन् ने पूछा, "पॉल को?"

एक क्षणिक दुविधा का-सा भाव योके के चेहरे पर आ गया। या कि बेहोशी से पहले के क्षण में उसका मन बहक रहा था? फिर उसने कुछ कहा जिसे जगन्नाथन् ठीक-ठीक सुन नहीं पाया। इतना तो स्पष्ट ही था कि योके ने पॉल का नाम नहीं लिया था; कुछ और कहा था। क्या कहा था, यह जानने का अब कोई उपाय नहीं था, लेकिन साक्षी जगन्नाथन् को एकाएक ध्रुव निश्चय हो आया कि योके ने कहा था : "ईश्वर को।"

फिर वह एकान्त सहसा विलीन हो गया। जगन्नाथन् ने पहचाना कि वह भीड़ से घिरा हुआ है और उसकी बाँह योके की जड़ देह को सँभाले हुए है।

उसने अनदेखती हुई-सी आँखें लोगों पर टिकाकर कहा, "वह गयी।"

स्तब्ध भीड़ में केवल एक ही बूढ़े व्यक्ति को सूझा कि हाथ उठाकर रस्मी ढंग से क्रूस का चिह्न बना दे; वह चिह्न सूने आकाश में अजनबी-सा टँका रह गया।

बीनू भगत

(एक असमाप्त उपन्यास)

बीनू भगत

मैंने शीशे में झाँका। झाँकते-झाँकते बड़ी तेजी से मेरे मन में से यह विचार दौड़ा कि मैं इतने दिन इतना व्यस्त रहा हूँ कि शीशे में देखने की फ़ुरसत भी नहीं मिली जब कि मामूली तौर पर मैं दिन में अधिक नहीं तो दो चार बार तो शीशे में झाँक ही लेता हूँ।

लेकिन शीशे में झाँकते ही मैं थोड़ी देर के लिए अचकचा गया। वहाँ जो चेहरा मुझे दीखा वह कुछ अनपहचाना सा लगा। अपनी अचकचाहट को छिपाने के लिए मैंने अपने चेहरे पर थोड़ी हँसी बिखेरते हुए उससे पूछा, "तुम कौन हो जी?"

सवाल पूछने तक उसके चेहरे पर भी वैसी ही मुस्कान थी। लेकिन मेरे सवाल पर उसका चेहरा कुछ गम्भीर हो आया। उसने कहा, "क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि यह सवाल पूछने वाले तुम कौन हो?"

मैं कौन हूँ? ऐसा तो नहीं है कि यह सवाल मेरे मन में कभी उठा न हो, लेकिन आईने में दीखता हुआ मेरा प्रतिबिम्ब मुझसे यह सवाल पूछ बैठे, यह कुछ अजीब बात थी। मैं जो भी हूँ, मैं हूँ, असल और ओरिजिनल मैं। मैं मूल सत्ता हूँ और मेरे ही कारण तो मेरा प्रतिबिम्ब है। अपने इस सोच से कुछ आत्मविश्वास पाकर मैंने कहा, "नहीं, यह सवाल मेरे ही पूछने का है। मैं तो स्वतःप्रमाण हूँ। तुम केवल प्रतिछवि हो।"

"स्वतः प्रमाण!" उसकी हँसी में काँच की सी खनखनाहट थी। "हाल तो तुम्हारा यह है कि दिन में चार-छः दफे मुझ से प्रमाणपत्र पाये बिना तुम्हें अपने होने पर भी विश्वास नहीं होता—और तुम स्वतः प्रमाण! सवेरे हजामत बनाते हो, टाई वाई लगाते हो; लेकिन न तुम्हें अपने किये हुए कर्म पर भरोसा होता है और न अपने अनुभव पर। मैं कह दूँ कि हाँ हजामत ठीक बन गयी, तो ठीक है। कह दूँ कि हाँ टाई ठीक बँधी है, गाँठ ठीक जैसी होनी चाहिए वैसी ही है, कुछ बाँकपन, कुछ लापरवाही और कुछ हल्की-सी ढिठाई लिए हुए, तो हाँ टाई भी ठीक बँधी है। कुछ भी तो तुम अपने भरोसे न जानते हो, न पहचानते हो, यहाँ तक कि अगर दिन में बॉस का सामना करना है तो उसके लायक आत्मविश्वास भी तुममें है या नहीं,

यह जानने के लिए भी तुम को मेरी गवाही की जरूरत पड़ती है। फिर स्वतः प्रमाण तुम हो या मैं?"

मैंने एक बार घड़ी की ओर देखा, फिर कहा, "चलो, आज इसका ही फैसला हो जाए।"

उसने कहा, "चलो।"

मैं मुड़कर बाहर की ओर चला। मैंने नहीं देखा कि वह साथ आ रहा है या नहीं या मुकुर के पिंजरे में से कैसे निकल पाता है। चलते चलते ही मैंने कहा, "क्लब चलते हैं, वहीं फैसला होगा।"

मेरे कन्धे के बिलकुल पास से उसकी आवाज आयी, "हाँ, क्लब चलते हैं, वहीं फैसला होगा।"

मैंने सोचा था, क्लब में पहुँचकर बैठकर बियर पी जाएगी और फिर इसके साथ आगे बहस होगी और मामले का निबटारा होगा। लेकिन क्लब में घुसा तो हॉल की डेस्क पर खड़े बैरा के सलाम का जवाब देते-देते ही मैंने देखा कि उसके पीछे दीवार में लगे हुए बड़े शीशे में एक धुँधली-सी छवि दीख रही है जो है तो शायद मेरी ही लेकिन पहचानी हुई नहीं जान पड़ी। या शायद बात उलटकर कहनी चाहिए कि वह शक्ल है तो पहचानी हुई ही, लेकिन मेरी नहीं जान पड़ी। मैंने बैरे के सलाम का जवाब देते हुए पूछा, "अभी वक्त तो नहीं हुआ, लेकिन इस वक्त भी क्या बियर मिल जाएगी?"

"आप लाउंज में चलकर बैठिए, मैं पता करता हूँ। आप पुराने मेम्बर हैं, आपके लिए तो—"

मेरे कन्धे के पास से आवाज आयी, "लाउंज में चलकर बैठिए, वहाँ भी एक बहुत बड़ा शीशा लगा हुआ है, वहीं फैसला हो जाएगा।"

मैंने कुछ खीझा हुआ-सा जवाब देना चाहा, लेकिन जवाब कुछ सूझा नहीं। खीझ बिलकुल सतह तक आकर रह गयी।

लाउंज में पहुँच कर मैंने एक कुर्सी उसके लिए खींची और एक अपने लिए खींचते हुए बैठे-बैठै मैंने कहा, "बैठो।"

जहाँ मैं बैठा था वहाँ से दूर पर लगे हुए पूरी दीवार छेंकने के लिए शीशे में हमारी ही प्रतिछवियाँ क्यों, पूरा-का-पूरा लाउंज दीख सकता था। हाँ, सब कुछ जरा धुँधला दीखता था और काँच में जहाँ-तहाँ थोड़ी लहर होने के कारण थोड़ा-सा विकृत भी; बल्कि वह विकृति भी एक स्थिर विकृति नहीं थी; जरा-सा भी हिलने-डुलने पर उस लहर के कारण वह विकृति भी तरह-तरह से और विकृत होती जाती थी, मानो प्रतिबिम्बित सारा का सारा यथार्थ लगातार बल खाता हुआ नये से नये रूप लेता जा रहा हो।

उसने कहा, ''तो यहाँ फैसला होगा। लेकिन फैसला होगा कैसे?''

मैंने कहा, ''पहले बियर आ जाने दो, फिर प्रक्रिया और प्रवृत्तियों की बात होगी।'' ''क्यों? फैसला क्या बियर का गिलास करेगा? या कि हम-तुम करेंगे? या अगर तुम्हें यह आपत्ति है कि हम-तुम तो वादी-प्रतिवादी हैं इसलिए न्यायदाता कैसे हो सकते हैं, तो चलो, बड़े आईने में जो छवि दीखती है उसी को न्यायाधीश के आसन पर बिठाते हैं।''

मैंने कुछ चौंक कर कहा, ''किस की छवि?''

''छवि। छवि यानी छवि। किसकी छवि का सवाल उठाकर तुम क्या मेरे साथ फरेब करना चाहते हो? जब मामला ही यही है कि मुकुर में दीखती छवि तुम्हारी प्रतिछवि है और तुम स्वतः प्रमाण हो, या कि छवि स्वतः प्रमाण है और तुम—तुम चाहे जो हो—तब फिर किसकी छवि का क्या मतलब होता है? अगर वहाँ भी तुम्हारी प्रतिछवि है और मैं भी तुम्हारी प्रतिछवि हूँ तो फिर इस सारे ढकोसले का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? तुम अपने आप ही फैसला न दे लेते? वह तुम्हारे बस की बात नहीं थी, तभी तो हम यहाँ आये।''

इसकी दलील तो बिलकुल दुरुस्त है, लेकिन बात उतनी ही गलत—या कि बात बिल्कुल सही है और दलील बिलकुल चौपट, यह सोचते हुए मैंने दीवार पर लगे हुए बड़े आईने की ओर झाँकते हुए यह पाया कि पूरा लाउंज और मेज के पास बैठे हुए हम दोनों भी प्रतिबिम्बित थे मानो जिस कचहरी में हमारा मुकदमा था उसका पूरा इजलास उस शीशे में दीख रहा था। मेरे उधर ताकते ही शीशे के भीतर से एक छवि ने कहा, ''खामोश! हम मामले से इधर-उधर की निजी बातें या पूर्वग्रहों का ब्यौरा नहीं सुनना चाहते, तथ्य क्या हैं, यह हमारे सामने आना चाहिए।''

मैंने कहा, ''असल मुद्दा तो यही है कि जिन्हें हम तथ्य समझते रहे हैं वे पूर्वग्रह हैं या कि जिन्हें हम पूर्वग्रह मान रहे हैं वे तथ्य हैं। मेरा कहना है—''

''और मेरा सवाल यह है कि क्या दोनों ही बातें सही नहीं हो सकतीं?''

इसी बीच बैरा दबे पाँव आकर दो गिलास हमारे सामने रखते हुए धीरे से बोला, ''आपने पानी माँगा था...'' और वैसे ही दबे पाँव चला गया।

लेकिन गिलासों में पानी नहीं था; थी बियर ही, लेकिन उसके झाग काफ़ी बैठ चुके थे—या तो देर के कारण या ढालने की सफाई के कारण। कचहरी में बियर तो नहीं पी जाती, परन्तु पानी की जगह बियर सामने रखने का ढकोसला क्या चल जाएगा? और अगर पकड़ा गया तो वह क्या अदालत की तौहीन होगी? और तौहीन की बात न भी सोची जाए तो क्या उसके कारण विचारक का रवैया बदल जाएगा?

मुकुर की छवि ने पूछा, ''तुम लोग फैसले के लिए मेरे सामने क्यों आये? क्या इस अदालत को इस मामले का विचार करने का अधिकार है? क्या उसको इसकी

अर्हता प्राप्त है? दोनों पक्षों में से कोई अगर यह सवाल उठाना चाहता है तो पहले उसी पर बहस होगी।''

''जी नहीं, मुझे कोई एतराज नहीं है और इस अदालत की सम्पूर्ण अर्हता मुझे स्वीकार है।''

''सम्पूर्ण अर्हता मुझे स्वीकार है।'' मानो मेरी बात को प्रतिध्वनित करते हुए वह बोला, ''अर्हता की बात हम लोग नहीं उठा रहे हैं। हम मान लेते हैं कि इस मामले की मूल परिस्थितियों में से ही आपकी अर्हता सिद्ध है-- वह अर्हता स्वतः प्रमाण है।''

''तो।'' केवल इतना ही कह कर छवि हम दोनों की ओर देखने लगी मानो इससे आगे कुछ कहने की जरूरत उसे नहीं है और वादी-प्रतिवादी को ही मामला आगे बढ़ाना है। कुछ ऐसी ध्वनि इस 'तो' में थी मानो वही अदालत का फैसला है।

मैंने कुछ सोचते-सोचते कहा, ''मैं समझता हूँ कि मुझे और कुछ कहने की जरूरत नहीं है। मामला आपके सामने है और जो भी तथ्य हैं या हो सकते हैं, आपके जाने हुए हैं। निर्णय आपके विवेक पर छोड़ कर मैं सन्तुष्ट हूँ।''

''मैं सन्तुष्ट हूँ'', उसने फिर मेरी बात की गूँज की तरह कहा, ''तथ्य ही नहीं, जो भी दलीलें हैं या हो सकती हैं वे सब भी आपकी जानी हुई हैं। अदालत में तो आपके सामने हम लोगों की पेशी केवल प्रक्रिया का एक अंग है—खानापूरी है। इसके बिना आगे कार्यवाही चल नहीं सकती। आप बहस को समाप्त समझें और फैसला दें।''

मैंने मुड़कर कुछ सन्देह की दृष्टि से इस प्रतिवादी की ओर देखना चाहा—क्या इस तरह बहस बन्द कर देने में कोई चाल है? या कि क्या मुझे ही अपनी बात इतनी जल्दी समाप्त नहीं करनी चाहिए थी? लेकिन वह मुझे तत्काल दीखा नहीं, मुझे लगा कि लाउंज में रोशनी कुछ कम हो गयी है। फिर मैं बड़े शीशे की ओर मुड़ा जिसके पार कचहरी बैठी थी। मुझे लगा कि उधर भी रोशनी कुछ कम हो गयी है, लेकिन फिर भी इतना मैं देख पाया कि मेरे दूसरी ओर मुड़ते ही आईने वाली छवि भी कुछ विमुख हो गयी थी। ऐसी विमुखता से काम नहीं चलेगा। जब तक कचहरी में हूँ पूरा अवधान रहना चाहिए, यह सोचते हुए मैं पूरा सीधा होकर बैठ गया।

लेकिन मेरा ध्यान सामने रखे हुए गिलास की ओर गया और मैंने मानो अचेतन भाव से उसे उठाया और गटगट पी लिया। मैंने देखा कि उसने भी उसी तरह एक साँस में गिलास खाली करके धीरे से मेज पर रख दिया है।

मैंने चोर हाथ से मुँह पोंछा और शीशे में छवि की ओर देखने लगा।

छवि ने कहा, ''ठीक है, तुम दोनों ने बहस बन्द कर दी है और मामला पूरी तरह मुझे सौंप दिया है। लेकिन फैसला देने से पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि

स्वत: प्रमाणता का यह झगड़ा क्यों और कैसे हुआ?" मेरी ओर मुखातिब होकर छवि ने पूछा, "शीशे में तो तुम अक्सर देखते हो, क्या हमेशा यह सवाल तुम्हारे मन में उठता है? या कि केवल इस एक बार उठा? जाहिर है कि हमेशा तो नहीं उठता रहा होगा। तब अगर अभी एक बार उठा तो क्या इस सन्देह का कारण नहीं बनता कि तुम्हारी स्वत:प्रमाणता केवल एक समय है, एक मान्यता है जिसकी परख कभी नहीं हुई, जिसकी सच्चाई को स्वयंसिद्ध नहीं माना जा सकता?"

छवि मेरी ओर वैसी ही तीखी नजर से देख रही थी जैसे नजर से मैं उसकी ओर। क्या मुझसे पूछे गये इस सवाल में प्रतिकूल फैसले की भनक है, यह सोचते हुए मैं जवाब देने के पहले थोड़ी देर रुक गया। इस बीच छवि ने उसी तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए उससे पूछा, "और तुम्हारे प्रतिवाद का क्या आधार है? तुम कैसे अपने को स्वयंसिद्ध मान सकते हो जब कि तुम कभी बिना वादी के आह्वान के प्रकट ही नहीं होते?"

प्रतिवादी से पूछे गये इस सवाल पर मुझे हल्की सी तसल्ली हुई। लेकिन हम दोनों में से किसी के भी कुछ कहने से पहले, छवि ने ही फिर एक बड़ी सूक्ष्म कुटिल मुस्कान के साथ अपना सवाल जारी रखा, "या कि तुम्हारा दावा भी आजकल की बेनामी सम्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित है?"

क्या सवाल के इस रूप पर मुझे सन्तोष होना चाहिए या और अधिक चिन्ता? क्या मैं मूल सत्ता हूँ और वह प्रतिमुकुरित होने के कारण गौण, मुझ पर निर्भर और इसलिए पूरी तरह मेरे अधीन; या कि बेनामी मालिक होने के कारण वही अदृश्य लेकिन असली सत्ता और मैं ठोस और पूरी तरह दृश्य होकर भी उसका कठपुतला— यथार्थ के खेत में टँगा हुआ एक डरौना?

क्या कुछ बोलूँ? या कि थोड़ी देर और चुप रह कर देखूँ? मैंने उसकी ओर देखा और उसने वैसे ही भाव से मेरी ओर। फिर हम दोनों ने अपना ध्यान शीशे की छवि पर टिकाया। छवि ने कहा, "तुम दोनों ने मुझे पूरी अर्हता दे दी और स्वत:प्रमाण मान लिया, लेकिन किस आधार पर? क्या बिना आस्था के, केवल अनुकूल फैसले के लिए? या अगर पूरी आस्था के साथ, तो सवाल उठता है कि अगर मेरे पास आस्था हो सकती है तो एक दूसरे पर क्यों नहीं हो सकती थी? यह मामला मेरे सामने आना ही क्यों चाहिए था?"

इस सवाल के बाद तो चुप नहीं रहा जा सकता। कुछ न कुछ जवाब तो देना ही होगा। जल्दी ही ठीक जवाब नहीं सूझा। मैंने कहा, "साधारण स्थिति में वैसे ही होता है, या यों कहूँ कि वैसा ही होता होगा अथवा होना चाहिए क्योंकि असाधारण स्थिति में तो यह सवाल उठता ही नहीं। सवाल उठा, यही तो असाधारण स्थिति का सबूत है और असाधारण स्थिति में फिर एक तटस्थ निर्णायक की जरूरत

होती है।''

''लेकिन असाधारण स्थिति में निर्णायक की तटस्थता की क्या जरूरत है? स्थिति असाधारण है तो निर्णायक की तटस्थता क्या असाधारण बात नहीं होगी। मैं तटस्थ हूँ कि नहीं, हूँगा कि नहीं, यह तुम कैसे जान सकते हो?''

हम दोनों ने एक साथ ही कहा, ''क्यों नहीं जान सकते? आपकी तटस्थता पर हमें पूरा विश्वास है, इसलिए हम आपके पास आये।''

''ऐसा तो है नहीं कि यह कचहरी पहले से थी या इजलास पहले से हो रहा था और तुम सामने आये। तुमने बुलाया इसलिए कचहरी की नियुक्ति हो गयी।'' थोड़ी देर रुककर छवि ने फिर कहा, ''अगर बुलाये जाने से पहले हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं था—बल्कि हम कह सकते हैं कि हम तीनों में से किसी का कोई अस्तित्व नहीं था, तो अगर हम सबसे पहला सवाल यही पूछें कि तुम कौन हो, तो क्या अनुचित होगा?'' थोड़ा रुककर उसने अपना सवाल जारी रखा, ''क्योंजी, तुम कौन हो?''

''धत्तेरे की! सारी बात ही तो इसी सवाल से शुरू हुई थी।'' मैंने एकाएक औसान खोकर गिलास उठा कर काँच की ओर दे मारा।

न वहाँ छवि होगी, न मुकदमा। न वह होगा और—

न मैं। या कि मैं हूँगा?

क्योंकि जब मैं उठा तो बैरा एक शरारत भरी मुस्कान के साथ मेरी ओर ताकते हुए पूछ रहा था, ''साहब, आपने तो एक गिलास पानी माँगा था, पानी भी क्या चढ़ जाता है?''

2

सपने की दुनिया को लोग झूठी दुनिया बताते हैं। वह सच्ची है कि झूठी, इस बहस में मैं नहीं पड़ना चाहता। यों तो बहस इस बात पर भी हो सकती है कि झूठ क्या सच से कम यथार्थ होता है। वैदिक लोग भी यह जानते थे, तभी तो कहते थे ''यथार्थ सत्यं चान्नृतं च न विभीतो ऋष्यत: एवा मे प्राण मा विर्भ:'', सत्य और मिथ्या दोनों को वह एक-सा निर्भय मानते थे। लेकिन सपनों की दुनिया सच्ची होती हो या झूठ, सपने में कभी-कभी जो चित्र दीखते हैं उनके बारे में क्या कहा जाए? कुछ सपने तो हम जानते हैं हमारी शारीरिक अवस्था का सीधा परिणाम होते हैं—नशे के सपने, भूख के या अति-भोजन के सपने, थकान के सपने इत्यादि। ऐसे सपने हम नींद से जागते ही भूल जाते हैं या मन से निकाल देते हैं। फिर कुछ सपने हमारी वासना या कामना का परिणाम होते हैं—इच्छा-पूर्ति के सपने—और इस बात को भी

हम जानते ही हैं। दूसरों के सामने अपनी वासनाओं की बात न भी कर सकें तो भी अपने सामने तो पहचानते ही हैं।

लेकिन इनसे अलग एक कोटि के सपने होते हैं जिनका हमारे स्नायविक तनावों या हमारी वासना से कोई सम्बन्ध नहीं होता—उनमें मानो एक निःसंग दूसरी दुनिया की कहानी हमारी आँखों के सामने अभिनीत होती चलती है। ऐसे सपने कभी-कभी बहुत लम्बे भी होते हैं। उनमें कई चित्र हमारे सामने आते हैं जिनका हमारे जीवन की घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जो हमारे जाने-पहचाने किसी व्यक्ति से नहीं मिलते, न जिनके कर्म व्यापार हमारी अपनी कल्पना से उपजे जान पड़ते हैं, लेकिन जो फिर भी बड़े जीवन्त चरित्र होते हैं और एक मार्मिक प्रभाव हम पर छोड़ जाते हैं। मैं ऐसे ही सपनों की बात अक्सर सोचता हूँ।

इन सपनों में ऐसा भी होता है कि कहानी अधूरी रह जाती है, हम जाग जाते हैं और एक जीवन्त चित्र हमारी स्मृति में बना रहता है। हम जानना चाहते हैं कि कहानी जहाँ रुक गयी—जाग जाने से जहाँ उसमें व्याघात हो गया—उससे आगे क्या हुआ? लेकिन अधूरे सपने को पूरा करने का तो कोई उपाय है नहीं। इच्छा करके हम उसका शेष अंश नहीं देख सकते, बल्कि जितना ही इच्छा करते हैं उतना ही उससे आगे देखने की सम्भावना कम हो जाती है क्योंकि सपने में तो उन्हीं इच्छाओं की छायाएँ प्रकट होती हैं जिन्हें हमने अपने से छिपाया है, जिन्हें हमने दबा कर रखा है या नकारा है। जिस इच्छा को हमारा जाग्रत मन स्पष्ट स्वीकारता है वह मानो हमारे स्वप्न संसार से निर्वासित हो जाती है।

आजकल लोग अधूरे चरित्रों की बात भी करते हैं। कुछ लोगों की राय में तो समाज ही आधे-अधूरे लोगों का समाज है। मुझे लगता है कि यह भी एक पूर्वग्रह ही है कि हमारी दुनिया तो भरी-पूरी है और उसमें बसने वाले लोग सब आधे अधूरे हैं। स्वप्न में दीखते हुए ऐसे जीवन्त चरित्रों को कैसे अधूरा कहा जाए, मेरी समझ में नहीं आता। उनकी कहानी हम पूरी न जान पाएँ, यह अलग बात है, इसी से क्या वह चरित्र अधूरा हो गया? अपनी अधूरी जानकारी का आरोप हम ऐसे जीवन्त बल्कि प्राणवत्ता से थरथराते हुए चरित्र पर किस अधिकार से कर सकते हैं? अगर यह कहा जाए कि वे चरित्र तो भरे-पूरे हैं, लेकिन जिस दुनिया में वे रहते हैं, जिस यथार्थ के फन्दे में फँसे हुए वे अपने को अभिव्यक्ति कर रहे हैं वह यथार्थ, वह दुनिया ही वास्तव में अधूरी है, तो कैसे रहे? आधे-अधूरे नहीं, आधी-अधूरी दुनिया में जीते हुए वे भरे-पूरे चरित्र...

मेरे पास कई ऐसे चरित्र हैं। अक्सर उनके आगे के जीवन के बारे में सोचता हूँ। कभी-कभी उनसे बातचीत भी करता हूँ। सोचता हूँ कि शायद इसी तरह कभी उनके शेष जीवन की कुछ झाँकियाँ, उसके कुछ संकेत मुझे मिल जाएँ। कभी-कभी

उनमें से एक-आध को बुलाकर मैं अपने सामने बिठा लेता हूँ और पूछ भी बैठता हूँ : "अच्छा, तुम ही बताओ, इससे आगे क्या हुआ?"

बीनू भगत के बारे में यही बात सच है। मैंने उसे पहले पहल इसी तरह के एक लम्बे कथा-सपने में देखा था। उसके बाद मेरी जाग्रत दुनिया में कई दिनों तक उसकी मेरी बातचीत होती रही। जिस बिन्दु पर उसका सपना टूट गया था वहाँ उसने मुझसे पूछा था, "क्या तुम मेरे लायक काम नहीं बता सकते? मेरे सामने क्या विकल्प हैं, तुम कुछ सुझा सकते हो?" सवाल में यह बात साफ-साफ कही नहीं गयी थी, लेकिन उसका निहित भाव यही था, "तुम तो कवि हो, कहानीकार हो, तुम्हारे पास सर्जक कल्पना है, तो क्या तुम सारे विकल्प उखाड़ कर मेरे सामने नहीं रख सकते।"

बीनू का सवाल और उसका दर्द अभी तक मेरे पास बना है। अब भी मैं अक्सर उसे अपनी स्टडी में बुला कर सामने बिठा लेता हूँ और सोचता हूँ कि उसके सवाल का कोई जवाब जरूर खोज कर उसे बता दूँगा। नहीं तो उसकी यह अधूरी दुनिया आगे चलेगी कैसे?

लेकिन पहले कहानी जहाँ तक पहुँची वहाँ तक उसे ले जाना तो ज़रूरी है।

उस ऐतिहासिक नगर में पहुँचकर न जाने क्यों मुझे एक काम करने की सूझी थी जो मैंने ऐसी स्थिति में पहले कभी नहीं किया था। ऐतिहासिक नगर मैंने बहुत से देखे हैं, लेकिन कभी गाइड लेकर घूमने निकला हूँ, ऐसा नहीं हुआ। बल्कि गाइड खुद आगे बढ़ कर आये हैं और मैंने उन्हें दुत्कार दिया है। कई बार नगर में जाने से पहले उसका इतिहास और ऐतिहासिक स्थलों का ब्यौरा पढ़ गया हूँ जिसमें गाइड की जरूरत ही न पड़े। लेकिन इस शहर में आते ही मैंने पर्यटक ब्यूरो में जाकर गाइड माँगा और उन्होंने एक युवा मूर्ति को मेरे सामने कर दिया। यही युवा मूर्ति थी बीनू भगत।

मैंने एक बार सिर से पैर तक उसे देखा। बुशर्ट और पैंट, पैरों में बिना मोजे के सैंडल, हाथ में एक छोटा-बस्ता जैसा आजकल विश्वविद्यालय के विद्यार्थी कभी-कभी लिये रहते हैं। मैंने फिर उसके चेहरे की और ध्यान से देखा, युवा चेहरा, रेख अभी फूटी नहीं थी इसलिए सत्रह-अठारह वर्ष की उम्र का अनुमान होता था, लेकिन जरा ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता था कि यह अनुभव-संग्रह 22-24 से कम का नहीं है और आँखों में जो संयत, तटस्थ पर्यवेक्षण का भाव था वैसी आँखें मैंने उन्हीं की देखी हैं। जिन्होंने युवा वय में ही बहुत दु:ख और यन्त्रणा सही— वैसा दु:ख जो लोगों को खुद अपने अनुभव से तटस्थ कर देता है, जिसके कारण लोग भोक्ता न रह कर साक्षी हो जाते हैं... और इसलिए जिनकी उम्र के बारे में कोई अनुमान कठिन हो जाता है—ये बीस की उम्र में चालीस के या चालीस की उम्र में

बीस के भी दीख सकते हैं।

चेहरा सुन्दर, हल्की पदचाप और मुद्रा ऐसी कि भावुकता उसमें बिलकुल न हो, लेकिन एक निःसंग भाव—यह सब मुझे अच्छा लगा। ऐसे गाइड के साथ दिन-भर उस ऐतिहासिक नगर की सैर की बात मुझे अच्छी लगी—उसके पूर्वास्वादन से ही मुझे तृप्ति का अनुभव हुआ। नाम तो मुझे बता ही दिया गया था, मैंने पूछा, "आप दिन-भर में पूरा नगर मुझे घुमा देंगे? मैं बहुत ज्यादा सवाल नहीं पूछूँगा, लेकिन जितनी जानकारी आप देंगे वह प्रामाणिक तो होगी।"

उसने कहा, "बहुत से गाइड बड़े अच्छे किस्सागो होते हैं, मुझे मालूम है। किस्सागोई की अपेक्षा आप मुझसे न करें। जो भी जानकारी मुझसे मिलेगी, सही होगी और—" और थोड़ा रुककर उसने जोड़ दिया, "और ऐसी भी होगी कि बाद में याद करने पर एक प्रीतिकर भाव ही पैदा करे, ऐसी मेरी भरपूर कोशिश होगी।"

उसका स्वर भी मधुर था और बात करने का ढंग भी मुझे अच्छा लगा। मैंने कहा, "तो चला जाए।"

"चलिए", कहकर वह फुर्ती से मेरे साथ हो लिया।

बीनू भगत और मैं दिन-भर न जाने कहाँ कहाँ घूमे। और कुछ अजीब बात थी कि उस ऐतिहासिक नगर के विलक्षण खंडहरों में घूम घाम कर शाम तक मैं थक गया और मैंने प्रस्ताव किया कि थोड़ी देर कहीं बैठ कर कुछ नाश्ता-पानी किया जाए, तो मैंने देखा कि मुझ पर देखे हुए दृश्यों की जितनी गहरी छाप है उससे कुछ अधिक गहरी छाप बीनू भगत की ही है--उसकी बातों की, उसके कंठ स्वर के उतार-चढ़ाव की और स्वयं उसकी मौजूदगी की ही। एक छोटे से कहवाघर में गोल तिपाई के पास हम लोग आमने-सामने बैठ गये। एक बार फिर मैंने उसे निहारा। हाँ, ऐतिहासिक नगर इस वक्त पीछे छूट जाए, कोई मुजायका नहीं है। बीनू भगत में कुछ है जिसके कारण उसकी उपस्थिति को उससे अलग करके भी देख सकता हूँ, मानो उसके उठकर चले जाने पर भी उसकी मौजूदगी का यह भाव बना रहेगा। अँग्रेज़ी में इसे प्रेज़ेन्स कहते हैं : हिन्दी में इस भाव को कैसे प्रकट करूँ, मैं नहीं सोच पाया, सोचता हुआ उसकी ओर निहारता रहा। थोड़ी देर बाद उसे एकाएक ध्यान हुआ कि मैं एकटक उसकी ओर देख रहा हूँ; वह खुली आँखों से मेरी ओर मुस्करा दिया और मैंने थोड़ा झिझक कर नजर फिरा ली।

मैंने कहा, "ऐसा गाइड तो मुझे कभी नहीं मिला। यों यह नहीं है कि मैं अक्सर गाइड रखता हूँ, लेकिन दूसरी टोलियों के साथ मैंने बहुत गाइड देखे हैं--बहुत घूमा हूँ।"

वह कुछ नहीं बोला। मैंने फिर पूछा, "लेकिन यह गाइड का काम तुम्हें अच्छा लगता है? ऊबते नहीं?"

"नहीं।" फिर मानो उसे ध्यान आया हो कि प्रश्न के दो हिस्से थे और एक के जवाब का नहीं, दूसरे का जवाब हाँ हो जाता है, इसलिए उसने कहा, "कुछ खास अच्छा भी नहीं लगता और कोई ऊब भी नहीं होती।" एक निश्छल आत्म-स्वीकार की मुस्कान उसके चेहरे पर थी।

थोड़ी देर बाद मैंने कहा, "व्यक्तिगत सवाल पूछने का मेरा कोई अधिकार तो नहीं है, और शायद समझदारी भी नहीं है, लेकिन तुम पढ़े-लिखे भी जान पड़ते हो और संस्कारवान भी—निश्चय ही तुम्हारी जानकारी का हलका बहुत बड़ा रहा होगा, तो क्या कोई दूसरा काम नहीं मिल सकता था? आजकल तो जान-पहचान के सहारे ही होता है।" उसने अपनी भोली और बड़ी-बड़ी आँखें एकटक मुझ पर टिका कर कहा, "मेरे पास और क्या विकल्प हो सकता था, आप कुछ बता सकते हैं? हाँ, शिक्षा तो मेरी पूरी हो चुकी है।"

यहाँ तक कि तो सारी बातचीत मुझे बड़ी साफ और मुसलसल याद है लेकिन इससे आगे पता नहीं कब, क्या उलट-फेर हो गया। बातें मुझे सब याद हैं, लेकिन किस क्रम से, यह मैं निश्चय के साथ नहीं कह सकता। और एकाएक अन्तरंग बात पहले और औपचारिक बात बाद में कैसे हुई, हो सकती है इसका भी कोई जवाब मैं नहीं जानता। और सारी बात सपने की दुनिया में हुई इस युक्ति की ओट मैं नहीं लेना चाहता क्योंकि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि बातचीत जिस भी दुनिया में हुई वह भी एकदम यथार्थ थी—उसका यथार्थ मेरी जाग्रत रोजमर्रा जीवन की दुनिया के यथार्थ से किसी तरह कम नहीं था। और स्वयं बीनू भगत—उससे ज्यादा यथार्थ और जीवन्त प्राणी कभी मेरे परिचित संसार में आया हो, मुझे नहीं जान पड़ता।

उसकी ओर एकटक देखते हुए और मन ही मन सोचने का समय निकालने भर के लिए जवाब टालने की नीयत से मैंने कहा, "आम तौर पर तो जब यह स्थिति होती है कि शिक्षा पूरी हो चुकी हो और आगे कोई लक्ष्य न दीखता तो तब लोगों को एक ही विकल्प बाकी रह गया जान पड़ता है। वही लोग बता देते हैं; हाँ कुछ लोग शोध का भी हिला निकालते हैं। लेकिन असल में तो वह विकल्प नहीं है, वह अपने साथ धोखा ही है, सवाल की जवाबदेही से बचने का एक तरीका।"

एकाएक मुझे अपने कन्धे के पास उसकी आवाज सुनाई दी, "बताओ, मेरे लिए क्या विकल्प हो सकता है?"

मैंने कहाँ, "मैंने अभी कहा न—सवाल जब इस रूप में पूछा जाता है तब लगता है कि एक ही विकल्प है—शादी कर लो।"

उसका सिर मेरे कन्धे पर टिका था। उसके साफ-सुथरे केशों की हल्की गन्ध मुझ तक पहुँच रही थी, बल्कि सिर टेकते हुए ही उसने सवाल किया था, "बताओ, मेरे लिए क्या विकल्प हो सकता है?"

मेरे जवाब पर उसने कहा, "शादी! वह विकल्प था, अब नहीं है। मेरा विवाह हो चुका और टूट भी चुका।"

उसका स्वर इतना सम और भावनारहित था कि मुझे संवेदना की कोई गुंजाइश नहीं दीखी और प्रकट कौतूहल भी ऐसे मौके पर ठीक नहीं होता। मैंने भी अपने स्वर को सम बनाये रखने की कोशिश करते हुए पूछा, "इतना सब इतनी जल्दी हो गया, मुझे तो अचरज होता है। तुम्हारे चेहरे पर तो--"

"मेरा चेहरा!" अबकी बार उसके स्वर में व्यथा थी और यत्नपूर्वक दबायी हुई कटुता। "चेहरा कितना बड़ा धोखा होता है, आप जानते हैं?"

मैंने उसे परे हटाये बिना उसका चेहरा देखने की कोशिश की, लेकिन इस कोण से एक तिरछी झलक ही मिल सकती थी, चेहरे का भाव नहीं पहचाना जा सकता था।

"मैं उन्नीस वर्ष की थी जब मेरा विवाह कर दिया गया, इक्कीस की होते होते मुझे घर से निकाल दिया गया, क्योंकि मुझ में बच्चे पैदा करने की क्षमता नहीं थी।"

अबकी बार मैं बहुत गौर से चौंका। छिटककर दूर हटते हुए मैंने उसे भरपूर ताका और अचकाचाये स्वर में पूछा, "थी? तुम लड़का हो कि लड़की? मेरी कुछ समझ में नहीं आया।"

उसने कहा, "मैंने कहा न, चेहरे बहुत बड़ा धोखा होते हैं। हाँ, मैं स्त्री ही हूँ—अगर—" और वह कटुता उसके चेहरे पर झलक आयी, "अगर उसे स्त्री कहा जा सकता है जो बच्चे नहीं पैदा कर सकती।"

"लेकिन—यह नाम बीनू भगत—और दिन भर का कार्यक्रम—"

वह रूखी-सी हँसी हँस दी। मेरे स्वर को दोहराती हुई बोली, "हाँ, यह नाम बीनू भगत। मैंने ऐसा ही नाम चुना जो पुरुष या स्त्री किसी का भी हो सकता है। बिना—विनय कुमार, वीणा, विनीता! पोशाक भी ऐसी ही चुनी। यों तो आजकल लड़के-लड़कियाँ सब एक-सी पोशाक पहनते हैं—नया फैशन है।"

मैंने दिन की बातें याद करते हुए कहा, "यह बात तो मेरे मन में भी उठी थी कि तुम्हारा चेहरा पुरुष गाइड के लिहाज से ज्यादा कोमल है, लेकिन उसे मैंने सुन्दरता का अंग मान कर ही आगे नहीं सोचा।" बीनू मुस्करा कर कुछ पूछने को हुई और रुक गयी; मैं कहता गया, "लेकिन—लेकिन तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आयी। क्या डॉक्टरी जाँच हुई थी?"

"हाँ। उसी के आधार पर तो विवाद रद्द करने का फैसला हुआ। मेरी शरीर रचना ही ऐसी है।" हम दोनों एक लम्बी चुप में डूब गये। मैं नजर नीचे किये हम दोनों के बीच की मेज की ओर ताकता रहा—उसका रेशा-रेशा मैंने गिन डाला होगा। उससे नजर मिलाने से मैं कतरा रहा था, लेकिन उसकी उपस्थिति का बोध

मुझ पर मानो और गहरा छाता जा रहा था। किसी की भी उपस्थित की इतनी गहरी और थरथरा देनेवाली छाप मुझ पर पड़ी हो, यह मुझे याद नहीं आता।

देर के बाद उसी ने पहले नज़र उठायी। उसके चेहरे में एक कोमल और कारुण्य भरा भाव था जिसमें सबसे पहले के पुरुष रूपी बीनू भगत की छवि कहीं घुल गयी थी। यह चेहरा, यह मुद्रा, छटे हुए बालों और मर्दानी पोशाक के बावजूद, एक युवती का चेहरा था और कहना होगा कि सुन्दर चेहरा था—अगर उसमें कहीं लड़कियों जैसी कोई छाया थी तो वह युवती के अल्हड़पन में योग देती ही जान पड़ती थी।

मैंने न जाने कैसे (और क्यों) कहा, "तो, बीनू, अब?"

उसने फिर मेरी ओर झाँकते हुए धीमे किन्तु तनाव से काँपते स्वर में पूछा, "बताओ, मेरे लिए क्या विकल्प है?"

ठीक यहीं पर मैं सपने से जाग गया।

और तब से बीनू भगत मेरे साथ है और साथ रहती है और उसका प्रश्न बार-बार मेरे मन में गूँजता है। "बताओ, मेरे लिए क्या विकल्प है?" और यह बीनू एक सम्पूर्ण और सजीव चरित्र है--मैं किसी तरह नहीं मान सकता कि वह चरित्र अधूरा है। उसकी कहानी जरूर अधूरी है,लेकिन उसी तरह अधूरी जिस तरह कोई किसी के हाथ से उपन्यास पढ़ते-पढ़ते किसी सन्धि-स्थल पर छीन कर ले जाए। तब कहानी अधूरी रह जाती है—छटपटाहट-भरी लेकिन अधूरी।

मुझसे कोई उपन्यास किसी ने नहीं छीना। यह भी नहीं है कि नींद से किसी ने या बाहरी आहट ने जगा दिया हो। मैं इसी बिन्दु पर जाग गया, बस। क्यों जाग गया, यह भी नहीं जानता। यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि उसके सवाल का जवाब देने से बचने के लिए मेरे मन ने मुझे जगा दिया क्योंकि उसकी कहानी तो मैं आगे जानने को व्याकुल हूँ, बल्कि उसकी कहानी भी नहीं, उसका वास्तविक जीवन। इसीलिए बात अधूरे पढ़े उपन्यास जैसी होकर भी, उपन्यास की नहीं है, वास्तविक जीवन की है। इसलिए कहूँ कि चरित्र आधे-अधूरे नहीं बल्कि वह दुनिया ही आधी-अधूरी है जिसमें एक पूरे विकसित चरित्र को आगे अपना जीवन जीने का रास्ता नहीं मिला है।

लेकिन बीनू के लिए मेरे पास क्या विकल्प है? मेरे लिए ही क्या विकल्प है बीनू का सामना करने का?

3

"मेरा नाम बैनसन है—जॉन बैनसन विदेश मन्त्रालय से", कहते हुए उसने

मेरी ओर हाथ बढ़ाया।

मैंने तपाक से हाथ मिलाते हुए पूछा, "आप ही स्वागताधिकारी हैं जिनका सन्देशा कल आया था? मुझे आपसे मिलकर खुशी हुई।"

"नहीं, स्वागताधिकारी मैं नहीं हूँ," बैनसन बोले, "मैं एक-दूसरे विभाग में काम करता हूँ, लेकिन कल मुझे कहा गया कि मेरी साहित्य में रुचि है इसलिए मेरा ही आप से मिलने जाना ठीक रहेगा, इसलिए यह सौभाग्य मुझे मिला है।"

"तब तो सौभाग्य मेरा है", मैंने कहा, "स्वागताधिकारी तो सभी के लिए एक-सी मुस्कान बिछाते-बिछाते ऊब जाते होंगे। आप को मैं साधारण इनसान लगूँगा, ऐसी आशा करता हूँ।" मैं एक शरारत-भरी हँसी हँस दिया।

मेरे मूड में साझा बँटाते हुए उसने भी कहा, "लेकिन मेहमान तो मेहमान ही होता है! हाँ, मैं जरूर आशा करूँगा कि आपका प्रवास समाप्त होने पर मेरी कोई याद आपके पास बनी रही तो वह जॉन बैनसन की होगी, एक नामहीन स्वागताधिकारी की नहीं।"

हम लोगों ने बैठकर चाय की चुस्कियों के साथ कार्यक्रम बनाया। मैं क्योंकि सूचित कर चुका था कि मेरी रुचि नाटक और रंगमंच में भी है, बैनसन ने पूछा, "दूसरी शाम के लिए अभी कोई पक्का प्रस्ताव नहीं है, मेरी राय है कि उस शाम आप एक नाटक देखने चलें। अच्छा नाटक है और हमारे देश में पहली बार खेला जा रहा है। जिस उपन्यास पर आधारित है वह शायद आपने पढ़ा भी हो।" उसने एक प्रसिद्ध अमेरिकी उपन्यासकार का नाम लिया।

"आप भी चलना पसन्द करेंगे—यानी अपनी रुचि से या कि केवल आतिथ्य के नाते मेरे साथ रहेंगे?"

"मैं तो प्रस्ताव ही कर रहा हूँ, यह विदेश मन्त्रालय का सुझाव नहीं है बल्कि मेरा है। विदेश मन्त्रालय की ओर से तो मैं कहता कि आप हमारे किसी नाटककार का नाटक देखिए!" वह थोड़ा हँस दिया।

मैंने कहा, "ठीक है, तो नाटक ज़रूर देखा जाए। आप टिकट मँगा लीजिए।"

कार्यक्रम तय हो जाने पर बैनसन ने कहा, "तो मैं अभी थोड़ी देर में इसकी टंकित प्रति आपके पास भिजवा दूँगा। कोई परितर्वन करना चाहें तो निःसंकोच मुझे सूचना दे दीजिएगा। नीचे डेस्क पर मैंने अपने टेलीफोन नम्बर छोड़ दिये हैं दफ्तर का भी और घर का भी।"

उपन्यास मैंने कई वर्ष पहले पढ़ा था। उसकी धुँधली-सी स्मृति थी, लेकिन नाटक का प्रस्तुतीकरण बहुत अच्छा था और मुझे सन्तोष हुआ कि बैनसन ने सही प्रस्ताव किया था। लेकिन नाटक देखकर हम लोग बाहर निकले तो गलियारे में भीड़ के साथ-साथ चलते-चलते मेरे मन में विचार उठा कि बैनसन की साहित्य में

रुचि है, यहाँ तक तो ठीक; लेकिन इस नाटक में उसकी दिलचस्पी क्यों हुई होगी, उसने मुझे वह क्यों दिखाना चाहा होगा?

और बाहर आते ही मानो मेरा मन पढ़ कर बैनसन ने कहा, "आप सोचते होंगे, मैं आपको यह नाटक देखने क्यों लाया। वास्तव में मेरी अपनी रुचि भी इसमें थी, लेकिन आशा है कि आपको भी नाटक अच्छा लगा होगा—नहीं तो मेरे लिए बड़ी शर्मिन्दगी की बात होगी।"

"यह नाटक सचमुच बहुत अच्छा लगा, "मैंने तपाक से कहा, "एक बार यह विचार जरूर मन में आया कि यह शायद विदेशी मेहमानों को दिखाने का नाटक नहीं है, लेकिन वह तो स्वागताधिकारी का दृष्टिकोण होगा। कथा सचमुच बहुत मार्मिक है।"

बैनसन कुछ नहीं बोला। हम लोग विदेश मन्त्रालय की गाड़ी पर सवार हो गये और गाड़ी तेजी से चल दी। भोजन हम दोनों को साथ ही करना था—उस दिन कोई औपचारिक भोज नहीं था और शायद यह भी सोचा गया था कि मेहमान को अकेला नहीं छोड़ देना चाहिए।

लेकिन हमारी बातचीत सचमुच वैसी नहीं थी जैसी एक बेगारी स्वागताधिकारी और अतिथि के बीच होती है। बैनसन पढ़ा-लिखा व्यक्ति था; साहित्य में उसकी गहरी रुचि थी और मानवीय समस्याओं की उसकी पकड़ भी अच्छी थी। भारत में भी वह चार वर्ष रह चुका था और कई साहित्यकारों से भी उसकी जान-पहचान रही थी। हम लोगों की बातचीत जल्दी ही औपचारिकता के स्तर से हट कर साहित्य के उन पहलुओं पर जा टिकी जिन में कड़ी पक्षधरता और गरमागरम बहस की गुंजाइश हो सकती है, यहाँ तक कि बीच-बीच में हम दोनों को एक-दूसरे को याद दिलाने की आवश्यकता आ जाती कि सामने रखा भोजन ठंडा हो रहा है।

घूम-फिर कर बात फिर नाटक के विषय पर लौट आयी। नाटक में प्रस्तुत की गयी समस्या सीधी, लेकिन मार्मिक थी। एक नि:सन्तान दम्पती: पति की तीव्र इच्छा है कि उसकी सन्तान हो और उसकी इस उत्कट कामना को जानते हुए उसकी स्त्री उसके एक सहकारी से नियोग द्वारा गर्भ धारण करती है क्योंकि पति को स्वयं यह ज्ञात नहीं है कि पत्नी के नि:सन्तान होने के कारण पत्नी में नहीं बल्कि स्वयं उसमें हैं। पत्नी उसके मोह को तोड़ना भी नहीं चाहती, उसे डर है कि उसके बाद वह जी न सकेगा। सहकारी, जो कुछ ही दिन के लिए था और फिर निकाल दिया गया था, वर्षों बाद लौटता है और वास्तविक स्थिति का भंडाफोड़ करने की धमकी देता है। स्त्री अपनी गृहस्थी की और उससे भी अधिक अपने पति की रक्षा के लिए बाघिन हो जाती है और अन्तत: उसका पति-प्रेम आसन्न संकट पर विजय पाता है।

कथानक मार्मिक था और प्रस्तुतीकरण उसके अनुरूप; यों नाटकीयता और

सच्चाई को लेकर कई तरह के प्रश्न उठाए जा ही सकते थे। बल्कि ऐसे प्रश्नों का तनाव न हो तो नाटक ही कैसे बनता है। मैंने कहा, "उपन्यास या नाटक में हम बहुधा ऐसी बातें स्वीकार कर लेते हैं जो वास्तविक जीवन में हमें स्वीकार न होतीं। अब इसी नाटक में अगर स्त्री की समस्या को हम नैतिक बनाम मानवीय के रूप में देखें तो सभी का फैसला मानवीय पक्ष में होगा और नैतिक दृष्टि से अपराध पर विचार करने की बात ही सामने न आएगी। लेकिन वास्तव में कहीं ऐसी घटना हुई होती तो—" थोड़ा रुक कर मैंने कहा, "कम से कम हमारे देश में तो समाज उस स्त्री को कभी क्षमा न करता। बल्कि नाटक जहाँ तक जाता है वहाँ तक घटना के बढ़ने की कभी नौबत ही न आती—इससे कहीं पहले स्त्री को मार पीटकर घर से निकाल दिया गया होता। पति के घर में पति के एक नौकर के साथ व्यभिचार—बस, इस निरूपण के आगे कोई सोचने को भी तैयार न होता।"

बैनसन ने कुतूहल से पूछा, "आप सोचते हैं आपके देश में यह नाटक न दिखाया जा सकता? या कि उपन्यास न पढ़ा जाता?"

मैंने कुछ सोचते हुए कहा, "नहीं, ऐसी बात तो नहीं है। यों, नाटक कभी खेला तो नहीं गया और उपन्यास—लेखक के और सभी उपन्यास मेरे देश में खूब प्रसिद्ध हैं और बराबर चर्चित होते हैं, इसी उपन्यास का नाम मैंने वहाँ कभी नहीं सुना। मैंने भी पढ़ा तो इसलिए कि विदेश में कहीं देखा था और खरीद लिया था।"

"ऐसा!" बैनसन थोड़ी देर चुप रहा। फिर उसने कहा, "लेकिन आधुनिक सभ्यता की परिस्थितियाँ हमारी नैतिक धारणाओं की भीतरी वस्तु को, उनके असल मूल्य को कितना बदल दे रही हैं, क्या आपके इंटेलेक्चुअल इस पर विचार नहीं करते?"

मैंने कहा, "इंटेलेक्चुअल तो विचार करते हैं, लेकिन जनसाधारण की मान्यताएँ इंटेलेक्चुअल के विचार के साथ-साथ थोड़े ही बदल जाती हैं और फिर इंटेलेक्चुअल भी जो विचार करता है और जीवन में करता है उसमें बड़ा फ़र्क़ होता है। कभी-कभी तो लगता है कि इंटेलेक्चुअल का मतलब ही पाखंडी नहीं है, नहीं तो कम-से-कम पलातक तो है ही। जीवन की यथार्थता से भाग कर वह सोच की धुन्ध में छिपना चाहता है।"

बैनसन के चेहरे पर हल्की-सी शरारत खेल गयी, बोला "यह कहते हुए निश्चय ही आप अपने को इंटेलेक्चुअल नहीं मान रहे हैं। और मैं आशा करता हूँ कि मुझे भी आपने उस दरबे में नहीं डाल दिया है।"

मैंने हँस कर कहा, "यह दाँव आपका रहा, लेकिन सीरियसली क्या यह बात सच नहीं है कि चिन्तन के स्तर पर हम सब मानते हैं कि दाम्पत्य ही क्यों, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर बिलकुल नये सिरे से विचार होना चाहिए। लेकिन जब व्यवहार

की बात आती है तो प्रचलित रीतियों से जरा भी इधर-उधर जाने को तैयार नहीं होते। या अगर होते भी हैं तो उन्हीं रिवाजों को बदलने के लिए जिन्हें हम खुद कोई महत्त्व नहीं देते—यानी इस तरह हमें मॉडर्न और प्रोग्रेसिव होने का श्रेय भी मिल जाता है और सचमुच कुछ भी बदलने की जहमत भी नहीं उठानी पड़ती।''

बैनसन फिर थोड़ी देर चुप रहा। फिर उसने कहा, ''आपके देश के बारे में मेरी जानकारी बहुत कम है। हमारा समाज तो—शायद इसलिए कि हमारा देश ही नया देश है—''

मैंने उसकी बात काटते हुए कहा, ''देश तो आपका भी उतना ही पुराना है जितना और कोई देश—''

''आप ठीक कहते हैं। मेरा मतलब उसकी औपनिवेशिक बसाई से ही था। उस दृष्टि से देश नया है और यह समाज भी नया ही है—बल्कि अभी तो कह सकते हैं, बन ही रहा है। यहाँ रूढ़ियों का वह महत्त्व नहीं है जो—'' वह थोड़ा सकुचाया, ''इसे आप अभद्रता न समझें—जो आपके देश में होता है।''

मैंने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, ''इतने अधिक शिष्टाचार की जरूरत नहीं है। आपका कहना ठीक है कि हमारे देश में रूढ़ियों को यहाँ की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व दिया जाता है। लेकिन आप क्या सोचते हैं—नाटक वाली स्थिति आपके समाज में सहज ही हो सकती है?''

बैनसन उत्तर देने को हुआ और रुक गया। एक बार उसने चारों ओर नजर दौड़ायी और फिर मेरी प्लेट की ओर देखते हुए बोला, ''मीठे में आप क्या लेना पसन्द करेंगे? आपकी इजाजत हो तो यहाँ की दो-एक खास चीज़ों की मैं सिफारिश करूँ?''

मैंने जाना कि उसने विषय बदल दिया है। मैंने भी फिर उसी पर लौटने की कोई जरूरत नहीं समझी और कहा, ''हाँ, आप ही चुन लीजिए।''

गाड़ी में होटल की ओर लौटते हुए उसने पूछा, ''कल मेरी आधी छुट्टी है और मैं दोपहर के बाद अपने फार्म पर जाऊँगा रात उधर ही रहूँगा, आप फार्म तक की सैर करना पसन्द करेंगे? ड्राइव भी बहुत सुन्दर है और मेरी पत्नी को आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता होगी।''

मैंने कहा, ''मुझे तो बहुत अच्छा लगेगा, लेकिन आपको और मिसेज बैनसन को कोई कष्ट न हो।''

''मेरी पत्नी को तो बहुत अच्छा लगेगा। फार्म वही सँभालती है और वहाँ शायद ही कभी कोई आता-जाता होगा। आपसे मिलकर उसे सचमुच बहुत अच्छा लगेगा।''

''तो ठीक है।'' मैंने कहा, ''कल के कार्यक्रम' में तो सिर्फ किताबों की

दुकानों की सैर ही थी—वह फिर किसी दिन हो जाएगी।'

यह तय हुआ कि अगले दिन लंच के बाद बैनसन मुझे लेने आएँगे, और हमने एक दूसरे से विदा ली।

मेरे लिए गाड़ी का दरवाज़ा खोलते हुए बैनसन ने कहा, "आज की यात्रा के लिए इस छोटी गाड़ी की व्यवस्था के लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।" मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही वह दूसरी तरफ़ से आकर स्टियरिंग पर बैठते हुए बोला, "आज मैं छुट्टी मना रहा हूँ, इसलिए अपनी गाड़ी लाया हूँ। आशा है आपको अधिक कष्ट नहीं होगा।"

"मुझे तो अच्छा ही लगेगा। वर्दीधारी शोफरों का मैं अभ्यस्त नहीं हूँ और न होना चाहता हूँ, और बातचीत के लिए भी यही स्थिति ठीक है।"

जल्दी ही हम लोग बस्ती से निकल गये और गाड़ी खुले जंगली या देहाती इलाक़े में दौड़ने लगी। बैनसन ने कहा, "मेरी पत्नी अँग्रेज है। तीन वर्ष हुए, मैं इंग्लैंड गया था और वहाँ से विवाह करके लौटा।" थोड़ा रुककर उसने पूछा, "आपके देश में तो विवाह माता-पिता ही तय करते हैं न?"

मैंने कहा, "अधिकतर। लेकिन पढ़े लिखे लोगों में प्रेम-विवाह का चलन बढ़ता जा रहा है। यों तो जिन्हें प्रेम-विवाह कहते हैं उनमें भी माता-पिता का कितना योग होता है, यह सवाल पूछा जा सकता है। और दूसरी तरफ़ यह भी पूछा जा सकता है कि जहाँ माता-पिता ही बात तय करते हैं वहाँ लड़के लड़की का कितना योग होता है?" बैनसन थोड़ा-सा हँसा। "पश्चिम के देशों में भी तथाकथित प्रेम की परिस्थितियाँ पैदा करने में माँ बाप का योग कुछ कम नहीं होता, यह तो आप जानते ही होंगे।"

थोड़ी देर हम दोनों चुप रहे। फिर मानो आत्म-स्वीकार के स्वर में बैनसन ने कहा, "आपको अचरज होगा, हमारा विवाह भी कुछ हिन्दुस्तानी ढंग से हुआ—विज्ञापन के सहारे।"

मैंने कहा, "सच?"

"हाँ", कहकर बैनसन थोड़ा रुका। "यों तो पश्चिम में विज्ञापन की प्रवृत्ति बढ़ने लगी है—यह दूसरी बात है कि विज्ञापन दूसरे ढंग के होते हों या अख़बारों का सहारा न लेकर एजेंसियों और उनके कम्प्यूटरों का सहारा लिया जाए। लेकिन जहाँ एक तरफ़ लड़के-लड़कियों का मिलना बिलकुल निर्बन्ध है वहाँ दूसरा पक्ष यह भी है कि ऐसे लड़के-लड़कियों का परिचय कठिनतर हो गया है जो विवाह के लिए एक-दूसरे के उपयुक्त हों। मिलना-जुलना बहुत होता है, लेकिन विवाह को ध्यान में रखकर नहीं। उसके लिए तो..." थोड़ा रुककर उसने वाक्य पूरा किया,

"उसके लिए तो अब भी बाहर से स्त्री की जरूरत पड़ती है।" मैं चुप ही रहा। थोड़ी देर बाद उसने अपनी बात जारी रखी, "हमारे देश में तो विशेष समस्या है। पढ़े-लिखे नौजवानों को लड़कियाँ नहीं मिलतीं—यहाँ लड़कियों की कमी है। इसलिए प्राय: बहुएँ विलायत से आती हैं और यह तो आप सोच सकते हैं कि हज़ारों मील दूर से प्रेमालाप नहीं हो सकता।"

मैंने कहा, "हाँ, टेलीफोन तो है। वह तो कभी-कभार की बात है और उसके लिए भी तो प्रेम पहले होना चाहिए।"

"इसीलिए यहाँ चिट्ठी-पत्री से दोस्ती का भी काफ़ी प्रचार है। पत्राचार से दोस्ती कराने वाली एजेंसियाँ हैं, क्लब हैं। लेकिन मैं आपको बोर तो नहीं कर रहा?"

"नहीं-नहीं", मैंने कहा और अपनी बात को पुष्ट करने के लिए सवाल जोड़ दिया, "लेकिन इंग्लैंड से आकर आपकी पत्नी को देहात में रहते हुए ऊब नहीं होती होगी?" क्षण भर रुक कर मैंने सोचा, बाल-बच्चों के बारे में सवाल पूछने का रिवाज यहाँ नहीं है, लेकिन इस सन्दर्भ में क्या वह पूछना अनुचित होगा? फिर मैंने कहा, "ऊब नहीं भी हो सकती अगर कोई शिशु हो—" इस रूप में सवाल निश्चय ही अशिष्ट नहीं हो सकता।

"हमारे कोई सन्तान नहीं है। हो भी नहीं सकती।" बैनसन ने यह बात सहज भाव से ही कही, लेकिन मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। उसकी बात का क्या अर्थ लगाऊँ और कुछ भी अर्थ लगाऊँ, इस अन्तरंग सूचना को कैसे ग्रहण किया जाए।

गाड़ी तेज रफ्तार से दौड़ रही थी। अपनी नजर सड़क पर टिकाये हुए ही बैनसन ने कहा, "मुझे आपके सामने कनफेशन करना है—और मुझे क्षमा भी माँगनी चाहिए। मैं आपका नाटक देखने के लिये गया था। उसमें मेरी दिलचस्पी अधिक थी—मेरे लिए उसका खास मतलब था। नाटक के नायक जैसी स्थिति मेरी भी है।" मेरा असमंजस और बढ़ गया। लेकिन कोई, और वह भी कोई विदेशी, इस स्तर की आत्म-स्वीकारोक्ति कर बैठे तो उसे उदासीन भाव से लेना उसका अपमान होगा। उसे आत्मीय भाव से ग्रहण करना ही होगा। मैंने पूछा, "लेकिन— लेकिन यह निश्चयपूर्वक जाना कैसे जा सकता है और आप क्या विवाह से पहले..."

बैनसन ने कहा, "हाँ, मुझे विवाह से पहले यह बात मालूम थी। मैंने ऐन—मेरी पत्नी का नाम ऐन है—को यह बता भी दिया था, हमारे पत्र-व्यवहार के शुरू में ही। बल्कि सच बात यह है कि यह जानते हुए ही मैंने विवाह की बात सोची थी। मेरी माँ तो नहीं हैं, लेकिन मेरे पिता फार्म पर ही रहते हैं। अभी तो शरीर से समर्थ हैं, लेकिन बूढ़े तो हो ही जाएँगे। फार्म उनसे नहीं सँभलेगा—और मैं भी नौकरी छोड़े बिना उसे नहीं सँभाल सकता।"

मैंने कहा, "लेकिन फार्म की देखभाल तो विशेष अनुभव माँगती है। आपकी पत्नी..."

"वह फार्म वाले ही एक परिवार की है—बचपन से ही फार्म की देखभाल से परिचित है। उसे मैंने शुरू में ही अपनी पूरी स्थिति समझा दी थी।"

थोड़ी देर फिर चुप्पी रही। फिर बैनसन ने कहा, "मुझे बचपन में मम्प्स हुए थे, बड़ा जबरदस्त अटैक था। उससे कभी-कभी तो दिमाग भी ख़राब हो जाता है। और पुंसत्व नाश तो अक्सर होता है शरीर की शुक्र-कीट बनने की क्षमता नष्ट हो जाती है।"

इस बात की कोई जानकारी मुझे नहीं थी; लेकिन बैनसन उसे एक प्रामाणिक वैज्ञानिक सत्य के रूप में ही बता रहा था। मैंने कहा, "मुझे यह बात मालूम नहीं थी, लेकिन इसका क्या कोई इलाज नहीं है?"

"नहीं। कम-से-कम अभी तक तो विज्ञान नहीं जानता। फाइनल इज फाइनल। लेकिन मैं नहीं समझता कि इसके बाद विवाहेतर जीवन सुखी नहीं हो सकता। असम्भव होता है, यह तो मैं मान ही नहीं सकता।"

बात अनुक्षण अधिक काँटेदार होती जा रही थी। मैं चुप रहा। बैनसन ही फिर बोला, "पुरुष बड़े स्वार्थी होते हैं, लेकिन असल में तो क्या पुरुष क्या स्त्री सभी बड़े स्वार्थी होते हैं और शायद गहरे स्तर पर इन स्वार्थों के मामले में समझौता नहीं करते— करना चाहें भी तो कर नहीं पाते— बुद्धि जिसे ठीक मानती है, अवचेतन मन या कि कह लीजिए, शरीर उसे स्वीकार नहीं कर पाता। बात स्वार्थ छोड़ने या त्याग करने से नहीं बनती। सुख की शर्त शायद यही है कि दोनों के स्वार्थ मिट जाएँ।" एकाएक उसने मेरी ओर मुड़ कर पूछा, "आप विवाहित हैं?"

मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया, "हाँ।" मैं नहीं चाहता था कि मेरा उत्तर अशिष्ट हो, मैं यह भी नहीं चाहता था कि बातचीत मेरे दाम्पत्य जीवन की ओर मुड़ जाए। बैनसन ने कहा, "जहाँ तक मैं जानता हूँ—ईमानदारी से पड़ताल करके समझ पाया हूँ—ऐन सुखी है और मैं तो बहुत सुखी हूँ। मेरे पिता भी ऐन से बहुत प्रसन्न हैं और जबसे वह आयी हैं, ऐसा लगने लगा है कि उनकी आयु कुछ बढ़ जाएगी।"

मैंने बात को कुछ हल्के स्तर पर लाने के लिए कहा, "तो मानना होगा कि पत्राचार के द्वारा भी सफल सगाइयाँ हो सकती हैं। हमारे देश में इसका चलन अभी बढ़ा नहीं है—एजेंसियाँ तो चलने लगी हैं।"

"कोई भी तरीका कम या ज्यादा सफल क्यों होना चाहिए?"

"आप का दाम्पत्य सुख जिन अनगिनत घटनाक्रम पर निर्भर करता है उनमें से थोड़ी-सी बातें किसी भी एक पद्धति से जान सकते हैं। जिसे प्रेम-विवाह कहते हैं जिसमें युवक और युवती थोड़ी-सी बातें जान लेते हैं लेकिन भविष्य को सफल

कौन-सी चीज़ें बनाती हैं उनका उनको कुछ पता ही लगता—उनकी ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता। और जब माता-पिता या बिचौलिए या ज्योतिषी रिश्ते करते हैं तब वे कुछ दूसरे महत्त्व की बातें जान लते हैं; लेकिन उतनी ही महत्त्व की और कई बातों को अनेदखा कर जाते हैं। आजकल कम्प्यूटरों का चलन इसीलिए बढ़ने लगा है कि ज्यादा लम्बे और जटिल समीकरणों का हल उनसे पाया जा सके। लेकिन मशीन आख़िर मशीन है—जो उसे खिलाया जाता है उसी के आधार पर वह भविष्य बताती है।''

मैंने कहा, ''यह तो है।''

हरियाली की ओर बढ़ते हुए गाड़ी ने मोड़ लिया और बैनसन ने कहा, ''अब थोड़ी ही दूर और है। आप थक तो नहीं गये हैं?''

मुझे तसल्ली हुई कि मैं अब पूरे उत्साह से कह सकता हूँ, ''बिलकुल नहीं—मुझे तो इस सैर में बहुत मजा आया और आपकी ड्राइविंग भी बहुत सधी हुई है। आपको इतनी ड्राइविंग का अवसर कैसे मिलता है?''

''थैंक्स'' कहते हुए बैनसन थोड़ा हँसा, ''आपकी बात तो बिलकुल ठीक है। तजुरबा तो मुझे फार्म के छकड़े या ट्रक हाँकने का ही होना चाहिए।''

मानो बैनसन की बात का स्मरण करते हुए कुछ दूर पर ट्रैक्टर की आवाज सुनाई दी। बैनसन बोला, ''वह ऐन होगी, ट्रैक्टर बहुत अच्छा चलाती है, बल्कि बोवाई, कटाई सबमें बहुत कुशल है।'' थोड़ा रुक कर उसने जोड़ा, ''इतनी बड़ी मशीन के शिखर पर बैठ कर नारी को शायद विशेष सुख मिलता है— सत्ता शायद नारी का सहज लक्ष्य है।''

मैंने आँख बचाकर ध्यान से बैनसन की ओर देखा। लेकिन नहीं, उसके स्वर में कटुता का लेश भी नहीं था। यह ऐन पर या अपने दाम्पत्य जीवन पर टिप्पणी नहीं थी, सहज दार्शनिकता की उक्ति ही थी।

बात को उसी मजाक के स्तर पर लौटाते हुए मैंने कहा, ''तो इस देहाती दार्शनिकता से मान लिया जाए कि हम लोग ठिकाने पहुँच गये।'' बैनसन भी हँसा, ''हाँ, दफ्तर से देहात—फॉरेन हाउस से फार्म फिलोसोफी!''

हम लोग एक बड़े फाटक में घुसे।

शेखर : एक जीवनी

बन्धन और जिज्ञासा

जो आदमी जीवन द्वारा जीने का आदी है, उसे यह असह्य है कि उसे जीवन के बचे खुचे बासी टुकड़े ही मिलें, जीवन का उच्छिष्ट मिले—किन्तु बन्दी शेखर के लिए यही विधान हो गया था... यह विचार ही उसको असह्य था, पर आता था वह बार-बार, और हर बार मानो उसको बाँधनेवाले लोहे के किवाड़ों का एक सींखचा उसकी अन्तर्ज्वाला से ही तप्त होकर उसके हृदय में घुस जाता था..?

बाहर के संसार से—शशि से—उसका एक सम्बन्ध रह गया था निर्जीव क़ागज के पन्ने, उस पर निर्जीव लिपि के अक्षर... भाषा सजीव होती है, दर्द सजीव होता है, पर क्या उनके प्राण इस ज्ञान के आगे टिक सकते हैं, कि आज जो उसके सामने है, उसमें जीवन का स्पन्दन तीन दिन, या सात दिन, या दस दिन पहले था?..

शेखर को शशि का पत्र मिला, तो ऊपर तारीख देखकर उसे अनुमान नहीं हुआ कि चिट्ठी उस तक पहुँचने में जो नौ दिन लग गये हैं, वे उसके जीवन-प्रवाह के एक युग का अधिकांश एक ही घूँट से पी गये हैं। वह बढ़ती हुई वेदना से सारा पत्र एक बार पढ़ गया, फिर दूसरी बार पढ़ गया—हाँ, वेदना बहुत थी, पर इतनी नहीं कि वह फूट जाए, निर्वेद हो जाए—वह पीछे आयी जब बायाँ हाथ उठाकर उसने तारीखें गिनना शुरू किया और जाना चौदह में से नौ जाएँ तो पाँच बचते हैं...

अबकी बार शशि का पत्र छोटा था। शेखर से वह सहमत थी कि जीवन में हर एक को अपना मार्ग स्वयं खोजना होता है, हम किसी को मार्ग नहीं बता सकते, किसी को प्रकाश भी नहीं दिखा सकते; हम कर सकते हैं तो इतना ही कि पथिक के पैर दाब दें, उसका कवच कस दें, अगर उसके पास दीया है तो उसकी बत्ती कुछ उकसा दें। और इसलिए वह शेखर के प्रति दुगुनी कृतज्ञ है कि वह उसके लिए इतना करके उसके आगे भी जा रहा है, वह उसके दीपक में स्नेह भी भर रहा है। ...'भविष्य क्या है, नहीं जानती; और मैंने जो मार्ग अपने लिए निर्धारित किया है, उसमें भविष्य होने-न-होने का प्रश्न भी नहीं है। वह इतना ज्वलित है; पर इतना मैं आज तुम्हें कहती हूँ कि तुमने जो मुझे दिया, वह मैं उसमें नहीं भूलूँगी। तुमने लिखा है निर्णय मेरा है, पर उसका आदर करना तुम्हारा है; तुमने लिखा है एक निश्चय में

तुम्हारा सहयोग और संरक्षण, और आवश्यक होने पर तुम्हारे हाथों का परिश्रम और तुम्हारे पसीने की रोटी; तुम्हारी उदारता में मैंने दोनों पा लिये हैं, और अब चुनने के नाम पर तुम्हारा आशीर्वाद ही चुनती हूँ। मैंने माँ से कह दिया है कि मुझे इस मामले में किसी तरह की कोई दिलचस्पी नहीं है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।'

कठोर और कड़वा और स्वयं नारी की तरह चिरन्तन शशि का निर्णय—कठोर और कड़वा और चिरन्तन उसका यह अपनी आहुति दे देने का निर्णय—कठोर और कड़वा और चिरन्तन नारी का अभिमान कि जो समाज उसका आदर नहीं करता, उसी के हाथों नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-त्रस्त-ध्वस्त होकर वह उसकी अवमानना करेगी... आशीर्वाद? क्या आशीर्वाद हो उस नारी को क्षुद्र-पुरुष का? कि तू हुतात्मा हो, मेरी ज्वाला उज्ज्वल और सुगन्धित और निर्धूम हो! लज्जा, क्षोभ और आत्मग्लानि से शेखर ने अपनी बांधी हुई मुट्ठी छाती में मार ली...

क्यों उसने शशि को अपनी सम्मति नहीं दी थी? क्यों नहीं उसे कहा था कि समाज पर अपने को बलि देने अपनी और समाज की भी विडम्बना है? क्यों नहीं कहा था कि समाज उसकी विविक्त इकाइयों का समूह है, और इकाई की अवहेलना समाज की अवहेलना है? क्यों नहीं कहा था कि अन्याय को सहना उसका भागी बनना है? क्यों स्वाधीनता दी थी निर्णय की? क्यों दोनों सूरतों में सहानुभूति का वचन दिया था?

उसे याद आया कि उसने क्या लिखा था... कि यह मामला शशि का है, शशि के अतिरिक्त किसी का भी नहीं है, और इसमें परामर्श भी किसी का ग्राहय नहीं है, माँ का भी नहीं, शेखर का भी नहीं... शशि, निपट अकेली शशि, इस समस्या से लड़े और किसी निष्पत्ति तक पहुँचे; बाकी यही कर सकते हैं कि सहानुभूतिपूर्वक देखें, अपनी इच्छा-शक्ति से उसे इतनी प्रेरणा दें कि वह ठीक ही परिणाम पर पहुँचे, यह आश्वासन दें कि निर्णय जो भी हो , वे उसके साथ हैं... 'और मैं तुम्हारे साथ हूँ, शशि, तुम विवाह हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य में मिटा दो, तब भी मेरी सारी शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुए मार्ग में अडिग रहो; और वैसा तुम नहीं करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की बजाय समाज के विरोध से ही टक्कर लेना चाहो, तो भी मैं तुम्हारे साथ हूँ। वह तुम्हें अलग कर दे, घर-बार भी तुमसे छूट जाए, तो मेरा अकिंचन सहयोग तुम्हें मिलेगा; अगर अपने हाथों के परिश्रम से मुझे तुम्हारी रोटी प्राप्त करनी पड़ेगी तो वह मेरा गौरव होगा...मैं जानता हूँ कि तुमने मुझे जो सीख दी है, उसका मूल्य मैं किसी तरह नहीं चुका सकता, उसके लिए कृतज्ञता भी दिखा सकता हूँ तो केवल इतनी कि उसी पर चलते-चलते या चलने की चेष्टा करते-करते समाप्त हो जाएँ। इतनी भी कृतज्ञता न दिखा सकूँ, ऐसा बुरा मैं नहीं हूँ—पहले रहा भी होऊँ तो तुम्हारी सीख

का मुकुट पहनकर अब नहीं हूँ। मैं तुम्हारे साथ हूँ, चाहे जिधर भी तुम जाओ; किधर जाओ, इसका उत्तर तुम्हें तुम्हारे भीतर का आलोक दे...'

शशि ने मार्ग चुन लिया। 'आज से ठीक दो सप्ताह बाद, आज ही के दिन, मैं—ओह शेखर, यह वाक्य अधूरा ही क्यों नहीं रह जाता!' और यह नौ दिन पहले का पत्र है—केवल पाँच दिन और!

क्यों? किस चीज़ ने बाधित किया शशि को यह निर्णय करने के लिए? क्या बुद्धि ने? विवेक ने? क्या डर ने? अक्षमता ने? क्या हृदय ने? चाह ने? क्या आत्मा ने? अभिमान ने?

''मैं जानती हूँ मेरी सम्पूर्ण अनिच्छा है। पर क्या मुझे अनिच्छा का, अनिच्छा के बाद अस्वीकृति का अधिकार है? समाज का मैं अंग हूँ, उसके प्रति मेरी जवाबदेही है, पर उसकी मैं उपेक्षा कर सकती हूँ, क्योंकि वह मेरे प्रति कर्तव्यशील नहीं है और फिर उसके आदर्श भी बदलते रहते हैं और रहेंगे। पर माँ माँ तो सनातन है, सदा माँ है, उसके प्रति भी तो मेरा कर्तव्य है... माँ विधवा है, फिर उसके अपने संस्कार हैं। मेरी अस्वीकृति समाज के सम्मुख उनकी क्या अवस्था करेगी, यह तो अभी नहीं कह सकती, पर स्वयं अपने ही सामने उन्हें तोड़ देगी। वे कुछ नहीं कहेंगी, मैं जानती हूँ; पर क्या उसमें मुझे कुछ दीखेगा नहीं? उनका मौन उनकी व्यथा को धार दे देगा, जिस पर मैं हर समय कटती रहूँगी... मैं अपना युद्ध लड़ सकती हूँ, पर मुझे क्या अधिकार है, मैं उनसे अपना युद्ध लड़वाऊँ? ...और अगर किसी को मूक होकर जलना ही है, तो वह कोई मैं ही क्यों नहीं होऊँ? मैं तो विवाह के बाद चली जाऊँगी, माँ या कोई भी मेरा ..न नहीं देखेगा— मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं देखेगा उसे! इस दुःख को अपने बन्धुओं के घेरे से बाहर ले जाने का यही एक तरीका है... शेखर, यही मेरा निर्णय है, आशीर्वाद दो .क मैं साभिमान इसे निभा ले जाऊँ...'

क्या शशि ठीक कहती है? क्या वह बेठीक ही कहती है?

पर सच वह अवश्य कहती है कि दुःख किसी का अवश्य है, प्रश्न यही है कि कौन बढ़कर उसे अपने कन्धों पर ले ले, कौन उसे झेलने में इतना विशाल अभिमान जुटा सके कि वह असानी से झिल जाए...

उसे अपनी ही लिखी हुई दो-चार पंक्तियाँ याद आयीं, जो उस समय तक केवल एक शव थीं, किन्तु इस समय प्राणोन्मेष से दीप्त हो उठीं।

I have burned in solitude
And burning has brought its own solace
In more quenchless burning...

(मैं एकान्त में जला किया हूँ, और जलना अपना ही शमन लाया है और भी अनबुझ जलने के रूप में...)

क्या यही है प्रतिनिधिक यन्त्रणा का वह सिद्धान्त, जो उसने कहीं पुस्तक में पढ़ा था और अग्राह्य मानकर छोड़ दिया था— कि हमारी यातना किसी दूसरे के पाप का प्रायश्चित हो सकती है? क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे का ईसा मसीह है, किसी दूसरे का क्रूस ढोनेवाला है? क्या यही है यातना के इस कुम्भीपाक में आलोक की प्रथम और अन्तिम किरण...

व्यथा से शेखर को रोमांच हो आया...

दूसरा पत्र आने में उतना समय नहीं लगा—पर जितना समय लगा था, उतना क्या कम था? शशि ने लिखा था, "आज मेरी उस अवस्था का अन्तिम दिन है, जिसमें अपने आत्मीयों से अलग एक सम्बन्धी मेरा था—मेरे बहिनापे में घिरे हुम तुम। कल से मेरा पहला परिचय होगा, अमुक की स्त्री; और अब सम्बन्ध उसके बाद आएँगे। न जाने यह पत्र तुम्हें कब मिलेगा, पर जब भी मिले, तुम उस शशि को आशीर्वाद देना, जो आज तक तुम्हारी बहन थी और उसके अतिरिक्त किसी की कुछ नहीं थी; किन्तु कल वैसा नहीं रहेगी; और जो आज इस पद से अन्तिम बार तुम्हें प्रणाम करती है..."

शशि ने शेखर के अभ्यन्तर का कोमलतम मर्म छू लिया था— दर्द इतना था कि शेखर आह भी नहीं कर सकता था... अन्तिम बार प्रणाम... मेरी बहिनापे में घिरे हुए.. उसके अतिरिक्त कुछ नहीं...

यह सच था!—कि शशि ने ही उस 'न-कुछ' को खींचकर सगेपन का गौरव दिया था—ऐसे दिया था जैसे कभी किसी ने नहीं दिया था—उसकी अपनी दो सहोदरा बहनों ने नहीं...शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया था, एक ऐसी निधि दी थी जिसके गौरव के लिए जीना और लड़ना और मरना स्वयं पुरुष का गौरव है... तब क्या यह भी सच है कि आज उस निधि के रक्षकत्व का अन्तिम क्षण है?—आज क्यों, आज तो शशि को नये संरक्षण में गये हुए भी दो दिन हो गये!—क्या जो आरम्भ ही नहीं हुआ था, वह आज समाप्त होने जा रहा है?

वेदना... कोई उसके भीतर कहता है, वह नहीं थी सहोदरा, नहीं थी बहिन; जो हुआ है वह होना ही था... उसे दु:ख का अधिकार नहीं है... हाँ नहीं हैं अधिकार, अधिकार होता तो दु:ख क्यों होता? दु:ख उसको मेरी स्नेह की भेंट है, जैसे बहिनापा उसका मुझे स्नेह का दान था? नहीं है वह सहोदरा, वह सहजन्मा है; एक खंडित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित हुई है... तभी तो... तभी तो... शेखर अपने को देखता है, और नहीं समझ पाता कि कहाँ वह अपंग हो गया है—यद्यपि एक गहरी टीस उसमें उठती है और एक मूर्च्छना भी उसके बचे हुए गात पर छायी जा रही है...

किन्तु कर्तव्य अभी बाकी हैं—यन्त्रवत् शेखर ने कागज और कलम उठाया, एक छोटा-सा आशीर्वाद का पत्र लिखकर लिफाफे में बन्द किया, पता लिखा और वार्डर को बुलाकर दफ्तर में भिजवा दिया। दूसरा मार्ग नहीं था—और किसी तरह पत्र भेजने में बड़ी देर लगती।

तब एकाएक क्षत-विक्षत और शून्य और निष्प्राण शेखर चक्की पर सिर टेक कर खड़ा हो गया। उसकी निविड़ वेदना में ज्वाला की तरह उसके अन्तरंग को फोड़ता हुआ कुछ फूट निकला...

जल, ऊर्ध्वगे, जल यज्ञ-ज्वाले जल! उत्तप्त जल, उज्ज्वल और सुवासित जल, क्षार-हीन और निर्धूम और अक्षय जल! यह मुझ अभागे का तुझे आशीर्वाद हो! तब आँसू आए, घने और झरझर...

फिर एक बार कुहासा शेखर के प्राणों पर छा गया। पर अबकी बार उसमें जैसे विरोधभाव नहीं जागृत हुआ। अपने रोने पर क्षोभ नहीं हुआ, परास्त हो जाने पर ज्ञान का प्रतिकार करने की भी इच्छा नहीं हुई। वह मानो अस्तित्व के किसी निचले स्तर पर उतर आया। जीवन शिथिल हो गया, और शैथिल्य स्वाभाविक धर्म मालूम पड़ने लगा।

शेखर ने 'साहब' से अनुमति माँगी कि उसे पहले सिरे की एक कोठरी में रखा जाए। 'साहब' ने विस्मित होकर कारण पूछा, और यह जानने पर कि शेखर एकान्त चाहता है, मुस्कराकर अनुमति दे दी। 'तुम स्वयं अपनी आज़ादी कम करना चाहते हो तो तुम जानो। वहाँ पर तुम्हें वहीं के नियम मानने पड़ेंगे—बन्द भी रहना पड़ेगा। हाँ, अगर फाँसीवाले अधिक हो गये तो वहाँ से हटना पड़ेगा।' शेखर ने मौन स्वीकृति दे दी।

फाँसी की कोठरी साफ-सुथरी थी। पक्का फर्श था, चक्की कोई नहीं थी, पतरे के लिए फाटक के पास कोने में अलग जगह बनी हुई थी, जहाँ से पानी बाहर को बह जाता था, अत: कोठरी में बदबू नहीं थी। शेखर दिन में बन्द रहता, सुबह-शाम टहलने बाहर निकलता और तलाशी के बाद बन्द हो जाता। ये नियम उसे पसन्द नहीं थे, पर वह मानो अपनी देह से हटकर कहीं रहता था, ये उसे छूते ही नहीं थे। दिनभर वह अर्धसुप्त-सी अवस्था में रहता—जैसे अफीमची अफीम न मिलने पर रहते हैं। केवल सायं-प्रात: जैसे उनकी तन्द्रा टूट जाती, वह जानता कि वह जीवित है।

उषाकाल से लेकर टहलाई के लिए द्वार खुलने तक, और शाम की टहलाई के बाद बन्द होने से लेकर दिनावसान तक—ये दो मुहूर्त न जाने कैसे थे कि दिनभर मुरझाये रहनेवाले प्राण उसके भीतर एकाएक प्रदीप्त हो उठते थे— चार-साढ़े चार

बजे उसकी नींद खुलती, तब वह पलटकर सिर फाटक की ओर कर लेता, और आकाश की ओर देखकर मन के मनके फेरा करता; कभी वर्षा हो रही होती, तो बूँदों का स्वर उसके विचारों पर ताल देता चलता।

फ़टते आलोक की पहली किरण के साथ, मिटते आलोक की अन्तिम दीप्ति के साथ, तीर-सा एक प्रश्न शेखर के हृदय को बेध जाता, 'क्या आत्माहुति देकर वह सुखी है' उसका पत्र फिर नहीं आया था; जानकारी के लिए शेखर के पास कुछ नहीं था सिवाय अपनी समझ के—कितनी क्षुद्र समझ! और अपनी सम्वेदना के—कितनी असमर्थ सम्वेदना!

क्यों नहीं लिखा उसने? क्या दु:ख में है इसलिए? या सुखी है इसलिए?

कभी व्याकुलता इतनी उग्र हो उठती कि वह दाँत भींचकर, मुट्ठी बाँधकर, फर्श पर, दीवार पर, जँगले पर दे मारता, एक बार, दो बार, तीन बार... जब तक कि जोड़ों पर से खून न फूट आता—तब उस रक्त को वह माथे पर पोंछ लेता और उसकी ललाई से उसे कुछ शान्ति मिली! कभी अपने ही कार्य से घबराकर यह पूछ उठता, क्या मैं पागल हो गया हूँ? पर तत्काल ही पहला प्रश्न इस दूसरे प्रश्न को निकाल देता, और मानो इस अल्पकालिक विस्मृति के दंड-स्वरूप स्वयं अधिक तीव्र हो उठता...

किन्तु दिन में इतनी शक्ति का संचय कभी न होता, वह केवल एक क्षीण-सी चिन्ता में सोचा करता, क्या वह आत्मबलिदान उचित हुआ? ...कौन कह सकता है? कोई नहीं जानता— जाननेवाली, कहनेवाली, निश्चय करनेवाली एकमात्र शशि है! यह प्रश्न उसका प्रश्न है... बाबा मदनसिंह ने भी तो कहा था, हर एक को अपना रास्ता खुद खोजना होता है...

कभी उसे इसमें भी सन्देह हो जाता। क्या सचमुच यह व्यक्तिगत प्रश्न है? क्या सामाजिक उत्तरदायित्व इसमें शामिल नहीं है? व्यक्ति अपने को रखे या बलि दे, अच्छे काम में बलि दे या बुरे में, क्या इसका एकमात्र निर्णायक वह व्यक्ति स्वयं है और समाज को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है? उसका मन भटकने लगता है... यह तो वही पुराना हिंसा और अहिंसा का प्रश्न है...

चाहे यह अपने प्रश्न का उत्तर पाने की उत्कट इच्छा रही हो, चाहे केवल कुछ घूमने-फिरने की; शेखर बाबा मदनसिंह से मिलने गया। और न जाने क्यों उसकी पुरानी जिज्ञासाएँ उबल पड़ीं; शशि का प्रश्न भी बीच में उलझ गया और शेखर हिंसा-अहिंसा और सामाजिक दायित्व के पचड़े फिर ले बैठा।

बाबा बोले, "देखिए, आजकल न जाने मन क्यों बहुत दु:खी रहता है। शायद मैं कोई नया सूत्र पानेवाला होऊँ, शायद केवल बुढ़ापा ही हो। इसलिए आपके सवालों का जवाब सूत्रों में ही—पुराने सूत्रों में ही—दूँगा। प्रश्न अवश्य सामाजिक

भी है। मुझे दीखता है कि हमारा भारतीय जीवन और दर्शन अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी है—जैसे, हम मुक्ति का साधन यही मानते हैं कि जहाँ तक हो सके, अपने को समाज से अलग खींच ले और 'आत्मानं विद्धि'। इस व्यक्तिवाद का परिणाम है कि हम पाप-पुण्य भी व्यक्तिगत ही समझते हैं। तभी तो हमारे धर्मात्मा लोग साँपों को दूध पिलाना भी पुण्य समझते हैं। समाजिक दृष्टि से यह हिंसा है। दूसरी ओर पश्चिम का जीवन और दर्शन हमारे बिलकुल विपरीत है। वह बहिर्मुखी और समाजवादी है। उनका मानदंड भिन्न है, उनकी समझ में हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक कलाबाजी और कायरता है। हम उन्हें निकृष्ट यथार्थवादी कह सकते हैं, वह हमें थोथे अध्यात्मवादी कह सकते हैं। पर इस गाली-गलौज से भी यह बात नहीं छिपती कि हम दोनों एक-दूसरे के आदर्श नहीं भूल सकते। खासकर हम लोगों को अपने आर्दशों में सुधार की जरूरत है, क्योंकि हम नीचे हैं।'' कुछ देर चुप रहकर बाबा मुस्कराये, ''भेड़ों की तरह झुंड बाँधकर रहेंगे, तो भेड़-चाल चलनी पड़ेगी। भेड़-चाल का सभ्य नाम संस्कृति है।''

शेखर कुछ देर तक चुपचाप खड़ा रहा। चेहरे पर एकसाथ पड़ी दो बूँदों ने उसे चौंका दिया। उसने ऊपर देखा, आकाश में सावन के घने बादल थे, और पश्चिमी क्षितिज पर एक मटमैला धब्बा क्रमशः फैलता हुआ बढ़ रहा था—उसके भीतर से मानो किसी तरह का प्रकाश फूट रहा था।

'अन्धड़' आ रहा है।

''अच्छा ही है, मुझे आजकल इसकी जरूरत थी।'' बाबा की आँखों पर भी एक बादल छा गया। ''वह कहानी का पठान बाहर चला गया था, तब जेल की अवधि नहीं गिनता था, पर मेरे लिए तो 'कुछ न होना' ही स्थायी हो गया है। ये इक्कीस वर्ष मुझ पर बोझ हो गये हैं। इसीलिए आँधी-तूफान से कुछ सहारा मिलता है।''

शेखर ने विस्मय से उनकी ओर देखा, उस क्षण में बाबा उसे पहली बार बूढ़े लगे—उनकी आँखें बूढ़ी हो गयी थीं, और धवल जटा और धवल दाढ़ी से भी कितनी अधिक बूढ़ी! मानो शाप-ग्रस्त प्रथम मानव का शाप उनमें चमक गया हो!— ''अपने दुःख के सहारे ही तू जिएगा!''

वह सहमा हुआ-सा धीरे-धीरे लौट पड़ा।

कोठरी की ओर लौटते हुए शेखर के भीतर सहसा ग्लानि उमड़ आयी। कितनी घोर लज्जा की बात है कि वह इस समय कोरी बौद्धिक उलझनों में पड़ा हुआ है, जबकि शशि पर न जाने क्या बीत रही होगी.. मानसिक क्लेश, शायद शारीरिक यातना—वह चलते-चलते ठिठक गया—कौन जाने क्या अवस्था होगी इस समय शशि की!

क्या अवस्था होगी? किस बात से डर रहा है वह? वह नामहीन कौन- सा डर है, जो उसके भीतर है?

मानो उसके प्रश्न के उत्तर में वायु का एक झोंका जेल के असंख्य सींखचों, लौह-द्वारों और वातायनों में से कराहता हुआ निकल गया—वह कराह फिर ऊँची उठी और फिर धीमी पड़ गयी, फिर उठी और एक अपार्थिव पीड़ित प्राणी की चीख बन गयी; उसकी व्याकुल साँस शेखर को धकेलने-सी लगी—आँधी का पहला वातचक्र उसे घेरे ले रहा था...

वह फिर चल पड़ा। ...किन्तु सोचने से कैसे रुका जाए—सोचने से नहीं, प्रश्न पूछने से कैसे रुका जाए! और प्रश्नों का अन्त कहाँ—जिज्ञासा के घूँट नहीं होते, वह भी भीमप्रवाहिनी कूलहीना नदी है, स्वयं जीवन की तरह दुर्निवार...

मदनसिंह ने कहा था, पीड़ा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योंकि वही सबसे बड़ी पीड़ा है...

वह कोठरी में पहुँच गया था। सन्तरी पहले ही वहाँ मौजूद था, शेखर के भीतर जाते ही उसने ताला बन्द कर दिया और स्वयं आँगन से बाहर निकलकर कुछ दूर पर सामने बने हुए कठघरे में जा खड़ा हुआ—आँधी के साथ ही बड़ी बूँदें वर्षा की पड़ने लगी थीं...

जिज्ञासा- जिज्ञासा—यह मर्मान्तक पीड़ा...

पर मैं जानना चाहता हूँ—शशि की अवस्था जानना चाहता हूँ...क्या वह सुखी है?

...'जहाँ अपना वश नहीं है, वहाँ दु:ख करना मोह है।'...कहाँ पढ़ा था उसने यह? या यह मदनसिंह के शब्दों में 'सूत्र' है, दु:ख की चोट से पाया हुआ? वेदना के बिना ज्ञान नहीं है तभी तो ज्ञान अपौरुषेय है— पुरुष की बुद्धि में वह नहीं पाया जाता, वेदना में, तपस्या में, वह उदित होता है। वह मन्थन से मिलनेवाला अमृत नहीं है, वह अवतीर्ण होनेवाला कोई अप्रेमय है... इसी तरह कभी प्राचीन ऋषियों ने वह सूत्रबद्ध ज्ञान पाया होगा, जो अब वेद है—जो 'जाना हुआ' है, किसी भीतरी आलोक से सहसा प्रकट हुआ—इसी तरह पीड़ा की तपस्या से सहसा जागकर उन्होंने प्रज्ञा के बोझ से लडखड़ाकर कहा होगा, 'अपौरुषेय'! अपौरुषेय!'

एक चौंधियानेवाले प्रकाश ने घिरती रात के अन्धकार को फाड़ डाला, भीषण गड़गड़ाहट ने जेल के लोहे और पत्थर को कँपा दिया, आकाश का बोझीला पर्दा मानो अपने भार से फट गया और धारासार वर्षा होने लगी; शेखर के पैरों में कुछ आकर लगा तो उसने देखा, एक बड़ा-सा ओला है; वह जँगले के पास जाकर खड़ा हो गया; शीत से काँपता हुआ, बादल के गम्भीर घोष और बिजली की तड़पन से हतबुद्धि, आँधी और पानी के क्रुद्ध थपेड़ों से पिटता हुआ खड़ा रहा... कितना अच्छा

था यह सामने की मार खाना, कितना अच्छा था इस तरह पिटते हुए खड़े रहना, उस नामहीन, आकारहीन शत्रु द्वारा असहाय लील लिये जाने की अपेक्षा...

किन्तु उससे निस्तार कहाँ है? प्राकृतिक तत्त्वों की इस उथल-पुथल में भी आत्मा कहाँ चुप है... जेल में दूसरे भी तो हैं, वे भी क्या कर रहे होंगे इस समय? उसे याद आया, एक दिन उसने देखा था, जेठ की दुपहरी में एक कैदी वर्षा में भीगे और ठिठुरे हुए बन्दर की तरह कोठरी के जँगले के नीचे उकड़ूँ बैठा था; और बिल्लौर के मनके-सी उसकी आँखें उत्तम सफेद आकाश पर टिकी थीं... क्या वह जीवन था? उस समय उसका जीवन मानो स्थगित था, प्राणीत्व भी मानो स्थगित था; उस समय उसके भीतर से वह कई अरब वर्षों का जड़त्व झाँक रहा था, जो विकास द्वारा जीवोद्भव से पहले उसकी मिट्टी का रहा होगा... बाबा मदनसिंह की कहानी का पठान ठीक ही कहता था— जेल में आदमी जीता नहीं, वृद्धि नहीं पाता पर वृद्ध अवश्य हो जाता है—गात सूख जाते हैं और बाल पक जाते हैं...

और स्थगित जीवन के उस भीषण अन्तराल में क्षुद्र बुद्धि ही एकमात्र सम्बल है, जिज्ञासा ही एकमात्र सम्बल है... वही स्थानापन्न प्राण है...

शेखर एक बार काँपा, और फिर लिखने बैठ गया। हाँ,...

ईश्वर ने सृष्टि की।

सब ओर निराकार शून्य था, और अनन्त आकाश में अन्धकार छाया हुआ था। ईश्वर ने कहा, 'प्रकाश हो' और प्रकाश हो गया। उसके आलोक में ईश्वर ने असंख्य टुकड़े किये और प्रत्येक में एक-एक तारा जड़ दिया। तब उसने सौर-मंडल बनाया, पृथ्वी बनायी। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

तब उसने वनस्पति, पौधे, झाड़-झंखाड़, फल-फूल, लता-बेलें उगायीं; और उन पर मँडराने को भौंरे और तितलियाँ, गाने को झींगुर भी बना।

तब उसने पशु-पक्षी भी बनाये। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

लेकिन उसे शान्ति न हुई। तब उसने जीवन में वैचित्र्य लाने के लिए दिन और रात, आँधी-पानी, बादल-मेंह, धूप-छाँह इत्यादि बनाये; और फिर कीड़े-मकोड़े, मकड़ी-मच्छर, बर्रे-बिच्छू और अन्त में साँप भी बनाये।

लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। तब उसने ज्ञान का नेत्र खोलकर सुदूर भविष्य में देखा। अन्धकार में, पृथ्वी और सौर-लोक पर छायी हुई प्राणहीन धुन्ध में कहीं एक हलचल, फिर उस हलचल में धीरे-धीरे एक आकार, एक शरीर का, जिसमें असाधारण कुछ नहीं है, लेकिन फिर भी सामर्थ्य है; एक आत्मा जो निर्मित होकर भी अपने आकार के भीतर बँधती नहीं, बढ़ती ही जाती है; एक प्राणी जो जितनी बार धूल को छूता है नया ही होकर अधिक प्राणवान् होकर, उठ खड़ा होता

है...

ईश्वर ने जान लिया कि भविष्य का प्राणी यही मानव है। तब उसने पृथ्वी पर से धुन्ध को चीरकर एक मुट्ठी धूल उठायी और उसे अपने हृदय के पास ले जाकर उसमें अपनी विराट् आत्मा की एक साँस फूँक दी—मानव की सृष्टि हो गयी।

ईश्वर ने कहा, 'जाओ, मेरी रचना के महाप्राणनायक, सृष्टि के अवतंस!'

लेकिन कृतित्व का सुख ईश्वर को तब भी नहीं प्राप्त हुआ, उसमें का कलाकार अतृप्त ही रह गया।

क्योंकि पृथ्वी खड़ी रही, तारे खड़े रहे। सूर्य प्रकाशवान नहीं हुआ, क्योंकि उसकी किरणें बाहर फूट निकलने से रह गयी! उस विराट् सुन्दर विश्व में गति नहीं आयी।

दूर पड़ा हुआ आदिम साँप हँसता रहा। वह जानता था कि क्यों सृष्टि नहीं चलती। और वह इस ज्ञान को खूब सँभालकर अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हुआ था।

एक बार फिर ईश्वर ने ज्ञान का नेत्र खोला, और फिर मानव के दो बूँद आँसू लेकर स्त्री की रचना की।

मानव ने चुपचाप उसकी देन को स्वीकार कर लिया; सन्तुष्ट वह पहले ही था, अब सन्तोष द्विगुणित हो गया। उस शान्त जीवन में अब भी कोई आपूर्ति न आयी और सृष्टि अब भी न चली।

और वह चिरन्तन साँप ज्ञान को अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हँसता रहा।

2

साँप ने कहा, 'मूर्ख, अपने जीपन से सन्तुष्ट मत हो। अभी बहुत कुछ है जो तूने नहीं पाया, नहीं देखा, नहीं जाना। यह देख, ज्ञान मेरे पास है। इसी के कारण तो मैं ईश्वर का समकक्ष हूँ, चिरन्तन हूँ।'

लेकिन मानव ने एक बार अनमना-सा उसकी ओर देखा, और फिर स्त्री के केशों से अपना मुँह ढँक लिया। उसे कोई कौतूहल नहीं था, वह शान्त था।

बहुत देर तक ऐसे ही रहा। प्रकाश होता और मिट जाता; पुरुष और स्त्री प्रकाश में, मुग्ध दृष्टि से एक-दूसरे को देखते रहते, और अन्धकार में लिपटकर सो रहते।

और ईश्वर अदृष्ट ही रहता, और साँप हँसता ही जाता।

तब एक दिन जब प्रकाश हुआ, तो स्त्री ने आँखें नीची कर लीं, पुरुष की ओर नहीं देखा। पुरुष ने आँख मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की

ओर न देख रही हो ऐसा नहीं है; वह किसी की ओर भी नहीं देख रही है, उसकी दृष्टि मानो अन्तर्मुखी हो गयी हो, अपने भीतर ही कुछ देख रही है, और उसी दर्शन में एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है... तब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्गत भाव से लेट गयी, पुरुष को देखती हुई, बल्कि उसकी ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई...

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँदकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उसके पास शब्द नहीं थे, भाव नहीं थे, दीक्षा नहीं थी। लेकिन शब्दों से, भावों से, प्रणाली के ज्ञान से परे जो प्रार्थना है, जो सम्बन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उसमें से फूट निकलने लगी...

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पड़ा रहा, गति उसमें नहीं आयी।

स्त्री रोने लगी। उसके भीतर कहीं दर्द की एक हूक उठी। वह पुकारकर कहने लगी, 'क्या होता है मुझे! मैं बिखर जाऊँगी, मैं मिट्टी में मिल जाऊँगी...''

पुरुष अपनी निस्सहायता में कुछ भी नहीं कर सका, उसकी प्रार्थना और भी आतुर, और भी विकल, और भी उत्सर्गमयी हो गयी, और जब वह स्त्री का दुःख नहीं देख सका, तब उसने नेत्र खूब जोर से मींच लिये...

निशीथ के निविड़ अन्धकार में स्त्री ने पुकारकर कहा, 'ओ मेरे ईश्वर, ओ मेरे पुरुष यह देखो!'

पुरुष ने पास जाकर देखा, टटोला और क्षण-भर स्तब्ध रह गया। उसकी आत्मा के भीतर विस्मय की, भय की एक पुलक उठी, उसने धीरे से स्त्री का सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया...

फूटते हुए कोमल प्रकाश में उसने देखा, स्त्री उसी के एक बहुत स्निग्ध, बहुत प्यारे प्रतिरूप को अपनी छाती से चिपटाये है और थकी हुई सो रही है। उसका हृदय एक प्रकांड विस्मय से, एक दुस्सह उल्लास से भर आया और उसके भीतर एक प्रश्न फूट निकला, 'ईश्वर, यह क्या सृष्टि है जो तूने नहीं की?'

ईश्वर ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब मानव ने साँप से पूछा, 'ओ ज्ञान के रक्षक साँप, बताओ यह क्या है जिसने मुझे तुम्हारा और ईश्वर का समकक्ष बना दिया है—एक स्रष्टा—बताओ, मैं जानना चाहता हूँ?'

उसके यह प्रश्न पूछते ही अनहोनी घटना घटी। पृथ्वी घूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, फिर सूर्य उदित हो आया और दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तड़प उठी... विश्व चल पड़ा!

साँप ने कहा, 'मैं हार गया। ईश्वर ने ज्ञान मुझसे छीन लिया।' और उसकी गुंजलक धीरे-धीरे खुल गयी।

ईश्वर ने कहा, 'मेरी सृष्टि सफल हुई, लेकिन विजय मानव की है। मैं

ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ। मैं कुछ खोजता नहीं। 550 मानव में जिज्ञासा है, अत: यह विश्व को चलाता है, गति देता है...'

लेकिन मानव में उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। पुकार-पुकारकर कहता जाता था, 'मैं जानना चाहता हूँ।'

और जितनी बार वह प्रश्न दुहराता था, उतनी बार सूर्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेजी से घूमने लगती थी, विश्व कुछ अधिक गति से चल पड़ता था और मानव के हृदय का स्पन्दन भी कुछ अधिक भरा हो जाता था।

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ बैठता है, तब अनहोनी घटनाएँ होने लगती हैं।

शशि को एक और पत्र—वह लिखती है कि शायद उसका जीवन चल जाए—उसमें सुख नहीं तो दु:ख भी नहीं है, किसी तरह की कोई गहरी अनुभूति नहीं है, केवल उनींदें रहने से हो जानेवाले सिरदर्द की तरह एक हल्का-सा बोझ हर समय उसके ऊपर पड़ा रहता है... कभी सोचती हूँ क्या जीवन ऐसे ही बीतेगा? गाजर-मूली की तरह बढ़ना और उखाड़ लिये जाना, बस? पर फिर ध्यान आता है, कई ऐसे जीते हैं और दर्जनों बरस निकल जाते हैं... और यहाँ ऐसे यन्त्र-तुल्य जीवन के सभी साधन हैं, किसी को मुझमें इतनी भी दिलचस्पी नहीं है कि तिरस्कार भी करे... 'यह वह जीवन नहीं है, जिसकी मैंने कल्पना की थी, पर शायद सबका उदाहरण देखकर मैं भी ऐसी बन जाऊँ कि अपनी अवस्था का तिरस्कार न कर सकूँ और शान्त, सन्तुष्ट, निर्वेद होकर जीवन जी डालूँ। दु:ख तो मुझे अब भी कोई नहीं है।...' और फिर एकाएक बदलकर 'तुम कब आओगे?'

कब जाएगा वह? वह नहीं जानता। मुकदमा मालूम होता है कभी समाप्त नहीं होगा? गवाही प्राय: समाप्त हो गयी थी, वकील ने कहा था कि शेखर के विरुद्ध कुछ नहीं है, तब नये गवाह लाने की अनुमति माँगी गयी थी और अदालत ने उन्हें बुला भी लिया था...

पर अब जाए न जाए, कोई बात नहीं है। विवाह शशि का हो चुका, और अपना घर जैसे उसके मन से ही निकल गया है। और शशि अब निराग्रह होकर जी रही है, जीवन से कुछ माँगती नहीं है, अत: दु:ख भी नहीं पाती है। वह भी उपराम है, शून्य है, जेल और बाहर सब बराबर है।

भादों...आश्विन...कार्तिक.... प्रकाश होता है और धुँधला पड़ जाता है; जेल के चौदह सौ आदमी गिनते हैं कि एक दिन और बीत गया; लोग मानते हैं कि अस्तित्व का छकड़ा एक मंज़िल और पार कर गया; सभी समझते हैं कि वे जी रहे हैं ... इसी

प्रकार तीन महीने—शेखर सुनता और देखता है, पर जीवन उसका भी स्थगित है...

मोहसिन पर दारोगा का क्रोध होता है, हजामत बनाने के अपराध में उसे सजाएँ मिलती हैं, कड़ा पहरा बिठाया जाता है; पर न जाने कैसे प्रति सोमवार परेड के समय उसकी दाढ़ी साफ और चिकनी होती है और वह कहीं से निकालकर उस्तरे की एक पुरानी पत्ती दारोगा के आगे पेश कर देता है... ऐसी खुली अवज्ञा असह्य है—दारोगा सजाएँ बढ़ाते जाते हैं—बेड़ी के बाद डंडा-बेड़ी, फिर खड़ी हथकड़ी, फिर रात हथकड़ी, फिर दो-दो और तीन-तीन सजाएँ एक साथ—रात को उल्टी हथकड़ी, और दिन-रात डंडा-बेड़ी, फिर 'कसूरी खुराक' यानी भोजन की बजाय पानी में घुला हुआ आटा... फिर एक दिन उसे बेंत लगाने की आज्ञा हुई, वार्डर उसे पकड़कर शेखर की कोठरी के सामने से ले गये, मोहसिन ने उसे देखकर हँसकर कहा, 'देख मौलवी, मैं हज करने चला हूँ!' पन्द्रह मिनट बाद वह उसी तरह अकड़ता हुआ चला आया—पर अबकी बार बिलकुल नंगा और कमर तक ख़ून से लथपथ—शेखर को देखकर बोला, 'मौलवी, मुझे तेरे पास ला रहे हैं, अब गाना सुना करना!' और बढ़ गया—घसीटकर आगे ले जाया गया... स्तम्भित शेखर को वार्डर ने बताया, बेंत कसूरी थे, अदालती नहीं—यानी जेल के अपराध के कारण जेल अधिकारियों द्वारा लगवाये गये थे, इसलिए तेल में भिगोकर रखे गये थे और जल्लाद से पूरे जोर से लगवाये गये थे... जब मोहसिन तीस बेंत खा चुका और टिकटी से उतारा गया, तब दारोगा को देखकर बोला, 'बस? अब तो मैं खलीफा हो गया, अब क्या है!' इस पर छोटे अधिकारियों को मुस्कुराता देखकर दारोगा आपे से बाहर हो गया था; मोहसिन को एक और नया दंड मिला टाटवर्दी का! बेंत लगाने के लिए मोहसिन को नंगा तो किया ही गया था, जब उसके बाद पहनने के लिए उसे टाट-बोरिए का एक जाँघिया दिया गया, तब उसने उसे पहनने से इनकार कर दिया, इसलिए उसे नंगा ही कोठरी में भेजा गया—कोठरी भी बदलवा दी गयी कि पहरा और कड़ाई से हो सके। अब वह पूरबवाली फाँसी की कोठरियों में रखा गया है...

किन्तु न जाने कैसे, मोहसिन को परास्त नहीं किया जा सकता। अगले परेड में उसकी ठोढ़ी फिर चिकनी थी, और वह साभिमान नंगा ही साहब के सामने खड़ा था...

उसके बाद दारोगा ने अपना दैनिक अपमान देखना असम्भव पाकर मोहसिन को परेड में पेश करना ही छोड़ दिया, फाँसी की कोठरी से हटाकर एक और कोठरी में डाल दिया, जो जेल में कब्रिस्तान के नाम से प्रसिद्ध थी—उसमें प्राय: भीषण छूत रोगों के रोगी ही रखे जाते थे या लाइलाज बदमाश। जब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता, तब खाली पड़ी रहती थी। मोहसिन ने हजामत करना नहीं छोड़ा और टाटवर्दी नहीं पहनी। दारोगा शायद इस आशा में रहे कि सर्दी आने पर वह स्वयं हार

मानेगा—अगर टाटवर्दी ही पहन लेगा तो वही हार होगी। पर कार्तिक भी आया और मोहसिन में कोई परिवर्तन नहीं आया, केवल उसकी दुबली देह में हड्डियाँ और निकल आयीं, सूखी त्वचा और साँवली पड़ गयी... तब एक दिन शेखर ने सुना कि उसके शरीर पर कई-एक फोड़े निकल आये हैं, और डॉक्टर ने कहा कि उसे क्षय हो गया है...

एक दिन अपराजित मोहसिन को दफ्तर में बुलाया गया, वहाँ उसके अपने कपड़े पहनाये गये; पाँच मिनट बाद उसे पुलिस की लारी में बिठाकर चलता कर दिया गया। मालूम हुआ कि उसकी रिहाई समीप आ गयी थी, इसलिए उसे घर के जिले की जेल में भेज दिया गया...

और बाबा मदनसिंह भी अस्वस्थ रहने लगे। शेखर अब प्रायः नित्य ही उनसे मिलने जाता और देखता कि उस अत्यन्त बूढ़े चेहरे में तो कोई परिवर्तन नहीं आया है, पर उसका वह अंश जो अभी तक युवा था, वह तीव्र गति से वृद्धत्व का मार्ग तय कर रहा है—बाबा की... आँखें... इक्कीस-बाईस वर्ष के स्थगित जीवन का अन्धकार मानो एकाएक ही उन चमकीली आँखों की ज्योति को छा लेना चाहता है... इस बन्दी ऋषि के लिए शेखर के मन में गहरे आदर का भाव हो गया था, और जब से उसने सुना था कि बाबा को संग्रहणी हो गयी है, तब से एक गहरी चिन्ता हर समय उसे सताती रहती थी... दिनभर वह चिन्ता लिये रहता और सायं-प्रातः नियमपूर्वक वह बाबा के पास जाता, यही उसकी दिनचर्या हो गयी थी।

इसी तरह भादों बीता, आश्विन बीता, कार्तिक भी बीत चला। तब एक दिन सहसा शेखर के स्थगित जीवन में एक गहरा आघात हुआ और उसने पाया कि स्थगित कुछ नहीं है, उसके मर्म के ऊपर बहुत ही हल्का आच्छादन है, जो कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकता है और मर्मस्थल को किसी भी चोट के लिए नंगा छोड़ दे सकता है...

फाँसी-कोठरियों की जिस कतार में शेखर था, उसमें कुल चार कोठरियाँ थीं। उनके वासी प्रायः बदलते रहते थे। एक कोठरी में शेखर था ही, बाकी तीन में उसके होते-होते ग्यारह आदमी आ चुके थे। दो-तीन वहाँ आने के बाद भी छूट गये थे, बाकी को फाँसी हो गयी थी।

आश्विन में एक दिन सन्ध्या समय एक नया आदमी लाया गया। शेखर ने कौतूहल से उसे देखा—23-24 वर्ष का जाट युवक, सुन्दर गठा हुआ शरीर, गोरा रंग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूँछें, बड़ी स्वच्छ और निर्भीक आँखें—शेखर सोच नहीं सका कि वह आदमी हत्यारा हो सकता है। जब वार्डर उसे शेखर के साथवाली कोठरी में छोड़कर चले गये, तब शेखर ने पहरेवाले सन्तरी से उसके बारे में पूछकर

जाना कि वह हत्यारा है, इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।

उसका नाम था रामजी। नाम तो शेखर ने पहले ही दिन जान लिया था, दूसरे दिन शेखर के घूमने निकलने पर उसे बुलाकर परिचय भी कर लिया।

"बाबूजी, ज़रा सुनिये तो!"

शेखर उसकी कोठरी के आगे जा खड़ा हुआ था।

"इस सुरंग के प्लेटफार्म पर आप कैसे?"

"क्या मतलब?"

"आपको भी सजा हुई है क्या?"

शेखर ने बता दिया कि वह अभी अभियुक्त है, स्वेच्छा से ही उस कोठरी में आया था।

"तब तो आप बाहर से सामान मँगा सकते होंगे? मुझे कभी दो-एक सिगरेट दे दिया कीजिएगा—बुरी आदत है बाबूजी, पर अब तो फाँसी चढ़ना ही है, इसलिए पी लेता हूँ—आप पीते हैं न?"

"नहीं, पर मँगा लूँगा, ले लिया करना।"

"आप हत्यारे पर इतना दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते? नहीं तो—"

"इसमें दया की कौन-सी बात है—" शेखर रुक गया; एक प्रश्न उसकी जबान पर आया था, जो वह पूछना नहीं चाहता था।

"आप रुक क्यों गये? कुछ पूछना चाहते थे—यही न कि मैंने हत्या क्यों की?"

"हाँ..."

"सो भी औरत की हत्या। आप जानते हैं न?"

"नहीं!"

"आपने पूछा है, तो सारी बात बता देता हूँ। अदालत में तो कह ही आया था।" कुछ रुककर कहने लगा, "गाँव में हमारी थोड़ी-सी जमींदारी थी— मेरे बड़े भाई की और मेरी। पर भाई को यह काम पसन्द नहीं आया, इसलिए वह भाभी को घर में छोड़कर नौकरी की तलाश में शहर चले गये थे। नौकरी उनकी लग भी गयी थी, और वे हर दूसरे महीने बीस-पच्चीस रुपया भाभी को भेज देते थे।"

पर भाभी का मन अच्छा नहीं था। पड़ोस के जो लोग हमारे घर आकर भाई का हालचाल पूछा करते थे, उन्हीं में से एक से उसकी कुछ बातचीत हो गयी थी, और मेरे पीछे वह अकसर उससे मिलने आता था। मुझे कोई खबर नहीं थी; मुझे एक दिन एकाएक ही पता चला। भादों में एक दिन साँझ को घर आकर मैंने भाभी को बताया कि मुझे रात खेत पर ही रहना पड़ेगा, क्यों, इसमें आपको कोई दिलचस्पी नहीं होगी। खेत में काम था। मैं कहकर और बासी रोटी लेकर चला गया।

"बारिश तो दिन में भी होती रही थी, पर रात को बड़े जोर की हुई और ओले भी पड़ने लगे, तब मैं काम छोड़कर लौट पड़ा। घर आकर दरवाजा खटखटाने पर बहुत देर तक नहीं खुला, आवाजें देने पर भी नहीं। जब मैं गुस्से में आकर तोड़ने लगा, तब भाभी ने आकर किवाड़ खोले और सहमी-सी एक तरफ़ खड़ी हो गयी। मैंने देखा, सामने वही आदमी खड़ा है, उसके कपड़े और जूते सूखे हैं जिससे जान पड़ता है, वह देर से आया हुआ है।"

रामजी चुप हो गया। फिर लम्बी साँस लेकर बोला, "बाबूजी, मेरी जगह आप होते तो क्या करते?"

शेखर कुछ उत्तर नहीं दे सका। चुपचाप खड़ा रहा। रामजी कहने लगा, "खैर, मैं तो जो कर चुका, कर चुका।" मैंने भीतर से पूछा कि यह कौन है, क्यों आया है? उसने जवाब नहीं दिया। मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने भाभी को धमकाकर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है? बहुत धमकाने पर बोली, कई बार आया है। मैंने पूछा, तू इसे चाहती है? तो कुछ नहीं बोली। मैंने आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने कहा, "अगर तुम लोगों में प्रेम है, तो तुम ब्याह कर लो। मैं कुछ नहीं कहूँगा। पीछे जो होगी, सो मैं देख लूँगा। भाई को भी मना लूँगा। बोल, तू है तैयार?" भाभी कुछ नहीं बोली। मैंने उस आदमी मे पूछा, तो वह बोला, "तू कौन है बीच में पड़नेवाला?"

"मुझे गुस्सा आ रहा था, पर मैं चाहता था भाभी से अन्याय न करूँ। भाभी तो वह नहीं रही थी, पर भाई के साथ जो तीन बरस रह चुकी थी, उसका कुछ लिहाज था ही। मैंने फिर पूछा, बता, "तू इससे ब्याह करने को तैयार है?" वह बोला, "मैं बीवी-बच्चेवाला आदमी हूँ, मैं क्यों मुसीबत मोल लूँ?" मैंने पूछा, "तब पहले क्यों इस घर में घुसा था?" वह बोला, "इसी ने बुलाया था।" उसके कमीनेपन पर मुझे इतना क्रोध आया कि मैं मुश्किल से सँभाल सका, पर किसी तरह मैंने कहा, "यह सब मैं नहीं जानता। या तो तुम दोनों ब्याह कर लो, या फिर जो मेरे मन में आएगा, करूँगा।"

उसने मुझे गाली दी। भाभी से मैंने पूछा, "तू है तैयार? अगर है तो मैं इसे मनाकर छोड़ूँगा," पर वह भी नहीं बोली। तब मेरी आँखों में खून उतर आया और मैंने गँड़ासे से दोनों को काट डाला।'

साँस लेने के लिए और शेखर पर बात का असर देखने के लिए वह थोड़ी देर रुका। फिर मैंने उसी वक्त थाने में जाकर बयान दे दिया—भाभी को मारकर मेरा मन दुनिया में रहने को नहीं हुआ। खूनी को मरना ही चाहिए। बस आगे तो जो होता है, सो है ही।

थोड़ी देर मौन रहा। फिर रामजी अपने आप बोला, "बाबूजी, मैं आपसे नहीं

पूछूँगा, मैंने अच्छा किया या बुरा। मैं शरमिन्दा नहीं हूँ। और अच्छी तरह मरूँगा। मैंने इसीलिए अपील नहीं की है।"

शेखर चुपचाप सोचता चला गया था। उसके बाद क्रमश: उसका परिचय बढ़ता गया था—शेखर के मन में कुछ स्नेह भी इस आधे जंगली और पूर्णत: ईमानदार व्यक्ति के लिए हो गया था।

कार्तिक में एक दिन सुना कि रामजी की अपील नामंजूर हो गयी है, और चौथे दिन उसे फाँसी हो जाएगी। रामजी ने अपील नहीं की थी, पर जेलवालों ने स्वयं ही उसकी ओर से हाईकोर्ट में दरखास्त भिजवा दी थी।

शेखर उदास था। पर रामजी पर मानो कोई असर नहीं था, जैसे कोई नयी बात हुई ही नहीं थी।

शाम को रामजी ने शेखर को पुकारा, "बाबू साहब!"

शेखर जँगले पर आकर बोला, "क्या है?"

"आपने कभी फाँसी देखी है?"

"नहीं।"

"आप तो लिखनेवाले हैं न, आपको सब कुछ देखना चाहिए।"

"क्यों नहीं साहब से कहते, मेरी फाँसी देख लेने दें आपको? मुझे भी अकेला नहीं लगेगा—नहीं तो आखिरी समय सब जल्लादों का ही मुँह देखना पड़ेगा!"

शेखर निस्तब्ध कुछ बोल नहीं सका। रामजी की फाँसी देखने की दरखास्त दे वह...!

"बाबूजी, आप चुप क्यों हैं? इसमें बुराई नहीं है, एक बिचारे की मदद की है। मैं समझूँगा, मरते वक्त एक दोस्त मौजूद था।"

शेखर ने काँपते स्वर में कहा, "अच्छा..."

पर अनुमति नहीं मिली। शेखर ने उदास वाणी में रामजी से कहा, तो वह भी कुछ खिन्न होकर बोला, "जल्लाद, साले! सब जल्लाद हैं!" और चुप हो गया।

उस दिन शेखर बाहर नहीं निकला, कुछ बोला भी नहीं। रामजी ने कई बार बात करने की चेष्टा की, पर शेखर 'हाँ-हाँ' से अधिक नहीं कर सका। अन्त में शाम को रामजी बोला, "बाबूजी , आप तो कोई बात नहीं करते, उदास दीखते हैं। घर से कोई बुरी चिट्ठी आयी है क्या? लीजिए, मैं गाकर आपका मन बहलाता हूँ—ऐसा मौका कब मिलेगा?"

शेखर लज्जा से गड़ गया...

रामजी आधी रात तक गाता रहा। फिर न जाने कब शेखर को नींद आ गयी...

एक दिन और भी किसी तरह बीत गया। रात आयी, तब फिर रामजी गाने

लगा। आधी रात के लगभग उसने थककर कहा, "बाबूजी, अब आप कुछ सुनाइए, मैं तो थक गया। सुनता-सुनता सो जाऊँगा।"

शेखर गा नहीं सकता था। पर रामजी के लिए कुछ गाने की कोशिश की। सफलता नहीं मिली। रामजी ने मीठी चुटकी ली, "बाबूजी, आप मेरे ही लिए गा रहे हैं..." तब शेखर कहानियाँ कहने लगा—कभी पुराणों से, कभी विदेशी साहित्य से, कभी एक-आध अपने जीवन की घटना... रामजी का 'हूँ-हूँ' धीमा पड़ने लगा और नीरव हो गया, शेखर ने वार्डर से पूछकर जाना कि वह सो गया है।

पर शेखर नहीं सो सका। जेल की 'सब अच्छा' की पुकारों की ताल पर रात बीतती चली... एकाएक ऊँघ से चौंककर शेखर ने देखा, उषा फूट रही है। डॉक्टर रामजी की परीक्षा के लिए आया है।

"डॉक्टर साहब, टाँग तो आप देंगे ही, फिर नाड़ी क्यों देखते हैं?"

"भाई, मेरा फर्ज है सो अदा करता हूँ। तुम भी खुदा को याद करो।"

डॉक्टर गया। दिन निकलते-निकलते साहब, दारोगा, मजिस्ट्रेट चीफ वार्डर और वार्डरों की फौज आ गयी।

शेखर अपनी कोठरी के जँगले पर खड़ा जो देख सकता था, देखता था, बाकी सुनने की कोशिश कर रहा था।

रामजी की तलाशी ली जा रही थी। हाथ बाँधे जा रहे थे— बाहर निकाला जा रहा था—

"क्या वसीयत लिखानी है? किसी को कुछ कहना है?"

"इन साथवाले बाबूजी से दो मिनट बात कर लूँ?"

कोई तीन सेकेंड बाद साहब का उत्तर, "नहीं, यह तो हम नहीं कर सकते!"

"तब चलिए।"

कुछ घबराहट, कुछ अव्यवस्था, कुछ गति...

एकाएक आँगनों को जोड़नेवाले फाटक पर रामजी, "अच्छा बाबूजी, अब तो फिर कभी मिलेंगे, उस पार कहीं—" एक द्रुत मुस्कान-जुलूस चला गया—

और जँगले भींचकर पकड़े हुए खड़ा शेखर सहसा पाता है कि उसकी मुट्ठियाँ खुल गयी हैं, हाथ छटक गये हैं, सिर झुक गया है...

छः दिन के बाद शेखर ने बाहर निकलने का विचार किया ही था कि एक और घटना हुई, जिसने उस बुरे स्वप्न-जैसी अवस्था को तीन दिन और बढ़ा दिया। शशि का पत्र आया कि वह बहुत कष्ट में है, और मनाती है कि शीघ्र उसे जीवन से छुटकारा मिल जाए.. क्यों, क्या कष्ट है, कुछ नहीं लिखा था—कल्पना के दानव के लिए ही यह छोड़ दिया था कि वह उस दुःस्वप्न में मनमाने रंग भरे...

शेखर सोचता था, जेल में जीवन स्थापित हो जाता है! और यह क्या है, जो मानो उसे पटककर उसके गले पर चढ़ बैठा है और कह रहा है, "मैं स्थगित? तो ले देख, यह मेरा बोझ और मेरी गति की चोट!" आह, नहीं सहा जाता... नहीं सहा जाता... नहीं सहा जाता जीवन, नहीं सहे जाते बन्धन...

क्यों नहीं सहे जाते? दुर्बल, कायर, झूठा कहीं का! उसके सामने ही मामूली से मामूली आदमी, जीवन की हर एक दने से वंचित, धन से, कुल से, आत्मीयों से, विद्या से वंचित, जीवन का सामना करते हुए चले जाते हैं, और वह अभिमानी रोता है कि मैं उसे नहीं सह सकता... कायर, दम्भी ...वेदना होती है... सम्वेदना होती है... सम्वेदना क्या है, जो जीवन को गहरा नहीं बनाती, धनी नहीं बनाती, जीवन के लिए कृतज्ञ नहीं बनाती? सम्वेदना की दुहाई देकर जीवन से डरता है! आत्मवंचक...

पीड़ा और अपमान से जलकर सहसा शेखर उठ बैठा, उन्मत्त साँड़ की तरह कन्धे झुकाकर जीवन के दबाव से टक्कर लेने को तैयार.. फूले हुए नथुनों से फुंकार की तरह साँस लेता हुआ, पृथ्वी को पैरों से मानो रौंदता हुआ वह कोठरी से बाहर निकला कि टहलेगा, सबसे मिलेगा, और नहीं दीखने देगा कि जीवन उसके लिए स्थगित है, बल्कि दुगुनी गति से चल रहा है...

बाबा मदनसिंह खड्डी पर दीवार के सहारे बैठे थे। शेखर ने एक बार उनके चेहरे की ओर देखा, उसकी जिह्वा पर आया हुआ प्रश्न वहीं रह गया। बाबा की हालत अच्छी नहीं थी।

बाबा उठे नहीं, मुस्कुराये भी नहीं। शेखर ने देखा, जटा और दाढ़ी के बीच अब त्वचा भी सफेद हो गयी है, अब केवल आँखें हैं जिनमें रंग है—और रंग ही नहीं, आज उनमें दीप्ति है—वे जल रही हैं...

"तुम आये... इतने दिन कहाँ रहे?"

"मेरा मन ठीक नहीं था। मेरे पड़ोसी को फाँसी हो गयी।"

"मेरा भी मन ठीक नहीं है शेखर! शरीर तो अब चला ही, मन भी बहुत खराब है।"

"क्यों बाबा?"

"कुछ नहीं, कमजोरी! मैं बाहर के समाचार सुनता-पढ़ता हूँ, तो विचलित हो जाता हूँ!"

"कैसे समाचार?"

"तुमने चटगाँव का हाल पढ़ा है?"

"हाँ— "

"वहाँ जो गोली-ओली चली, उसका नहीं, उसके बाद जो कुछ हुआ उसका?"

शेखर ने अख़बार में पढ़ा था कि वहाँ काफ़ी सख्ती हो रही है, कई तरह की मनाहियाँ जारी हुई हैं, और यह भी पढ़ा था कि वहाँ के समाचार छपने नहीं दिये जाते, तार और चिट्ठियाँ रोकी जा रही हैं।

"और"

"और तो मैं नहीं जानता।"

"शेखर, सुना है कि वहाँ सैनिक मनमानी कर रहे हैं, गाँव के लागों को पीट-पीटकर सलामी कराई जाती है, स्त्रियों पर बलात्कार किया जाता है, और-और..." एकाएक बाबा का गला रुँध गया, वे कुछ बोल नहीं सके, आवेश में खड़े हो गये...

"कहाँ सुना आपने?"

"मुझे चिट्ठी आयी है—"

"पर जब खबरें नहीं आतीं, तब चिट्ठी भेजनेवाले ने कैसे जाना?"

"जाना नहीं, सुना। तुम यही कहना चाहते हो न कि ये अफवाहें हैं, हुआ ही करती हैं, झूठी हैं, कोई प्रमाण नहीं है, जब तक पूरा पता न मिले, तब तक कुछ कहना अनुचित है? ऐसी बहुत बातें मैं भी सोच चुका हूँ! पर यह सब धोखा है। मेरा क्रोध इसलिए नहीं कि मेरे पास प्रमाण है; क्रोध इसलिए है कि प्रमाण नहीं है। तुम नहीं समझते, हमारी परिस्थिति कितनी भयंकर है, कितनी विवश है कि ऐसे-ऐसे संगीन अभियोगों की भी हम जाँच नहीं कर सकते; उसके प्रमाण में या सफाई में ही, कुछ पूछताछ नहीं कर सकते, कुछ जान नहीं सकते! ये अभियोग सच ही हैं, ऐसा मैं नहीं कहता। लेकिन ये अभियोग लगाये जा रहे हैं, और हमारे पास साधन नहीं हैं कि हम जाँच करें। इन साधनों को पाना अधिकार है, और वह अधिकार हमें नहीं मिल रहा..."

बाबा जँगले के पास आ गये। भिंची हुई मुट्ठी शेखर की ओर उठाकर उन्होंने कहा, "दासता... एकदम घृणित परवशता— और किसे कहते हैं? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, असत्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को, जिसमें हम सत्य और असत्य को जानने में असमर्थ हो जाते हैं; दासता वह बन्धन, वह मनाही, जो हमारा ज्ञान आँकने का अधिकार छीन लेती है..."

एकाएक वे रुक गये। "यह बात शायद मैं पहले कह चुका हूँ—इसका अनुभव किये मुझे एक वर्ष हो गया।" वे एक खोखली हँसी हँसे। "एक साल पहले जानी हुई बात आज सत्य बनकर चुभती है, और मैं बँधा हुआ हूँ!" बाबा की साँस फूल गयी थी। दो-तीन लम्बी साँसें खींचकर उन्होंने फिर कहा, "शेखर, चटगाँव हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर कलंक है। यही मेरी समझ में क्रान्ति का प्रमाण है—उसके लिए चारित्र्य की आवश्यकता है, वह चारित्र्य बनाती है—और उससे बड़ी चीज़ क्या है? हमें चारित्र्य चाहिए, तो हमें क्रान्ति चाहिए! क्रान्ति! और मैं

बँधा हुआ हूँ..."

बाबा खड्डी पर लौट गये। फीके स्वर में बोले, "शेखर, तुम जाओ। मेरा मन ठीक नहीं है। मैंने चाहा था, तुम मुझे हँसता ही देखो—संसार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं, जो अभिमान से भी बड़े हों। यदि मैं आज सीख रहा हूँ—अच्छा हुआ कि इतना तीखा दर्द मुझे मिला! जाओ।"

शेखर चुपचाप, सहमा हुआ और रोमांचित अपनी कोठरी में लौट आया।

तीसरे दिन शाम को बाबा की हालत बहुत खराब हो गयी। डॉक्टर ने अस्पताल में ले जाना चाहा, पर बाबा ने कहा, "एक दिन के लिए वहाँ नहीं जाऊँगा। मैंने अपने जीवन का उत्तर अंश कोठरी में बिताया है, अब सबसे महत्त्व का दिन कहीं और बिताने नहीं जाऊँगा।" कोई और होता तो जबरदस्ती ले जाते, बाबा से जबरदस्ती करने का साहस किसी में नहीं था। डॉक्टर एक वार्डर की ड्यूटी वहाँ लगवाकर चले गये, एक बार रात में भी आकर देख गये।

शेखर को समाचार कोठरी में बन्द होने के बाद मिला था। जेल में बाबा का कितना आदर था, उसने तभी जाना। उस रात जैसा सन्नाटा उसने जेल में नहीं देखा था—बाबा की बीमारी की खबर कानो-कान फैल गयी थी, और नम्बरदार लोग 'सब अच्छा!' भी धीमे, सहमे-से स्वर में पुकार रहे थे...

"एक दिन के लिए... सबसे महत्त्व का दिन... सचमुच?" शेखर के भीतर प्रार्थना का भाव उमड आया...

सबेरे कोठरी खाली हो गयी।

जब कोठरियाँ खुलीं, तब बाबा का शरीर हटाया जा चुका था। कोठरियाँ खुलने में देर होती देखकर शेखर ने वार्डर से पूछा था, "क्या आज कोई फाँसी है?" क्योंकि ऐसे ही दिनों खुलने में देर होती थी।

"नहीं!" वार्डर हिचकिचाकर रुक गया था।

"तब?" और फिर एकाएक भय से प्रकाश पाकर, "क्या बाबा..."

वार्डर बोला नही था...

शेखर दौड़ा हुआ बाबा की कोठरी की ओर गया, जैसे कोई भक्त भूकम्प से ध्वस्त मन्दिर की ओर जाता है...

कोई कह रहा था... रात में उठ बैठे, घंटा-भर रोते रहे। फिर दीवार से सटकर खड़े है, और फिर आकर लेट गये और बोले, "अब चल! बस.."

यह रात की ड्यूटीवाला वार्डर था। शेखर तड़पकर कोठरी के भीतर घुसा.. हाँ, उसका अनुमान ठीक था, दीवार पर काँपते अक्षरों में एक नया लेख था...

"अन्तिम सूत्र-अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक

विश्वास है...''

बाबा के पैर छूने में शेखर ने अपमान समझा था, उसके लिए अपने को कोसते हुए उसने उस अन्तिम सूत्र पर माथा टेक दिया, फिर आँखों में आये हुए दो बड़े-बड़े आँसुओं का निर्लज्ज-भाव वार्डरों को दिखाता हुआ कोठरी में चला गया—

दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है...

बेहूदे दिन...

मुकदमा समाप्त हो गया था। सफाई की काफ़ी-सी तैयारी करने के बाद एकाएक यह परिणाम निकला कि सफाई देना व्यर्थ है। वादी पक्ष कमजोर हो, तो प्रतिवाद से लाभ नहीं होता, हानि हो सकती है। केवल विद्याभूषण के लिए कुछ गवाहियाँ पेश की गयी थीं; और उन सबके बयान एक ही दिन में हो गये थे क्योंकि जिरह नहीं की गयी थी.. वकीलों की तू-तू मैं-मैं भी हो गयी थी जिसे बहस कहते हैं।

''अब मैं फैसला ही सुनाऊँगा.. उसकी तारीख फिर तय की जाएगी, अभी आरजी तौर पर तारीख डाल देता हूँ।'' और हाकिम ने मुकदमे की अवधि तेरह दिन और बढ़ा दी थी...

ये दिन बीतते नहीं थे। यह नहीं कि फैसले के बारे में बहुत अधिक चिन्ता या उत्कंठा थी, पर इस प्रकार आकाश में लटके रहना... मुकदमा समाप्त हो चुका है, फैसले के लिए जो कुछ आधार होता है, सब सामने आ चुका है, शायद हाकिम ने मन-ही-मन फैसला कर भी लिया है। अब केवल जानने की देर है, और इसके लिए तेरह दिन बैठे रहना होगा! नहीं, तेरह दिन बाद तो यही विदित होगा कि फैसला किस दिन सुनाया जाएगा...

अन्त में तेरहवाँ दिन आया... दुपहर हो गयी, अदालत जाने के लिए बुलाहट नहीं आयी। शेखर ने समझ लिया, हाकिम ने उन्हें बुलाये बिना तारीख डाल दी होगी, अपने-आप पता चल जाएगा। वह लेटकर सोचने लगा, सोचते-सोचते सो गया।

''बाबूजी, बाबूजी? आपको दफ़्तर में बुलाया है?''

शेखर हड़बड़ाकर उठा, ''किसने बुलाया है?''

''दारोगा साहब ने।''

''मुलाकात है?''

''नहीं, दफ्तर में बुलाया है। पेशी है।''

''कैसी पेशी?'' कहकर शेखर वार्ड के साथ चल पड़ा।

दफ्तर पहुँचकर मालूम हुआ कि मुकदमे का फैसला सुना दिया गया है। शेखर

के बारे में मजिस्ट्रेट की राय है कि उसके विरुद्ध गवाही इतनी दृढ़ नहीं है कि सजा दी जा सके, यद्यपि सन्देह बहुत अधिक होता है। किन्तु अगर प्रमाण अकाट्य भी होता, तो भी शायद जितनी कैद वह भुगत चुका है वह पर्याप्त होती, इसीलिए उसे छोड़ा जाता है।

बेजान-से स्वर में दरोगा ने कहा, "बधाई है। आप अब आज़ाद हैं। दफ्तर से अपना सामान वगैरह ले लीजिए।"

"अरे बाकी लोग? पूरा फैसला तो सुनाइए—"

"विद्याभूषण को एक वर्ष; सन्तराम और केवलराम को छः-छः महीने, हंसराज रिहा हो गया है।"

"मैं उनसे मिल नहीं सकता?"

दारोगा जोर से हँसे। "आपने सुना नहीं, जेल की यारी क्या होती है? कैदियों से कभी कोई मिलता है?"

"तो आप नहीं मिलने देंगे?"

"वे अब कैदी हैं। तीन महीने में एक मुलाकात कर सकते हैं। आप दरखास्त दे सकते हैं; पर आप मिलेंगे तो तीन महीने तक वे दूसरी मुलाकात नहीं कर सकेंगे। शायद इसके लिए वे आपके शुक्रमन्द नहीं होंगे।"!

"और हंसराज?"

"उसे एक घंटा पहले रिहा कर दिया गया है।"

शेखर चुपचाप दफ्तर में चला गया।

दस महीने नष्ट...

उदास भाव से शेखर दफ्तर की कार्यवाही समाप्त करने के बाद ड्योढ़ी का फाटक खुलने की प्रतीक्षा में खड़ा था। उसे लेने कोई नहीं आया था—किसी को खबर नहीं थी। वकील को रही होगी, वे अभी काम में व्यस्त होंगे.. अकेला ही वह बाहर निकलेगा, अकेला और उदास—जीवन के बड़े-बड़े दस महीने नष्ट करके...

नष्ट? बाबा मदनसिंह ने इक्कीस वर्ष वहाँ बिताए थे, और उसके बाद भी लिख गये थे कि दर्द में भी बड़ा एक विश्वास है... इस एक बात को जानने में दस महीने सफल हो जाते—और उसने बाबा मदनसिंह को जाना था, मोहसिन को जाना था, रामजी को जाना था, स्वयं अपने को जाना था...नष्ट? अकृतज्ञ शेखर...

दस दीर्घ जीवनाक्रान्त महीने...बन्धनों का अन्त-जिज्ञासाओं का अन्त-जीवन, केवल जीवन, विस्तृत और अबाध जीवन...

किन्तु जब फाटक खड़खड़ाकर खुलने लगा, बाहर का दृश्य उसे सामने आ

गया, ठीक उसी के सामने, बिना सींखचों की ओट लिये, तब एकाएक उसे अपनी बात पर सन्देह हो आया। बन्धनों का अन्त? जिज्ञासा का अन्त? शेखर को बहुत पहले पढ़ी हुई कविता की दो पंक्तियाँ याद आयीं :

Peace, peace, such a small lamp
illumines, on this highway.
So dimly, So few steps infront of my feet[1]

सभी कुछ जानने को है अभी, सभी कुछ काट गिराने को है...

और शशि?

सहारे के लिए केवल एक छोटी-सी बात पर बाबा ने लिखा था, अन्तिम सूत्र...उन्हीं के लिए अन्तिम, या मानव-मात्र के लिए अन्तिम?...

फाटक उसके पीछे बन्द हो गये थे। वह मुक्त था।

'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है...'

1 शान्ति, शान्ति! इस राजमार्ग पर केवल एक छोटा-सा दीप आलोकित करता है—इसके फीके प्रकाश से इतने थोड़े से क़दम मेरे चरणों के आगे...

यात्रा-वृत्त

बीसवीं शती का गोलोक

बाईस घंटे में मुझे प्राय: आठ सौ मील की यात्रा करनी है। बिजली के इंजिन से चालित रेलगाड़ी के लिए 37 मील प्रति घंटे की रफ्तार बहुत अधिक नहीं है, लेकिन इन आँकड़ों का उल्लेख यही बताने के लिए कर रहा हूँ कि आराम से रेलगाड़ी में बैठ जाने के बाद, इतनी लम्बी यात्रा की बात सोचकर समय काटने के उपायों के बारे में सोचना स्वाभाविक हो जाता है। यह तो ठीक है कि नया देश है—मैं बहुत-सा समय खिड़की से बाहर झाँकने में बिताऊँगा ही—और यहाँ सब रेलें बिजली से चलती हैं इसलिए धुएँ की भी चिन्ता नहीं है। लेकिन बाईस घंटे बाहर ताकते रहना तो असम्भव है। इस यात्रा में प्राय: बाईसों घंटे का प्रकाश रहेगा, फिर भी! मैं स्टाकहोम से उत्तर, ध्रुव प्रदेश की ओर दौड़ा जा रहा हूँ, मध्य जून का मौसम है जब ध्रुव-मंडल में चौबीसों घंटे दिन रहता है। स्टाकहोम में प्राय: दो घंटे की रात रहती है। लेकिन वहाँ से पाँच बजे चलकर 'रात' होते न होते तो मैं उस सीमा के और निकट पहुँच जाऊँगा जहाँ रात होती ही नहीं।

अपने साथ स्वीडन के सम्बन्ध में जो परिचय-पुस्तकें रख ली थीं, उन्हें उठाकर उलटने-पलटने लगा। आरम्भ में ही जो आँकड़े दिये गये थे उनसे ज्ञात हुआ कि स्वीडन की कुल भूमि का आधे से अधिक (54.5 प्रतिशत) वन—भूमि है और प्राय: 12 प्रतिशत गोचर-भूमि या चरागाह। देश की आबादी का घनत्व प्रति वर्गमील 43 जन है। दूध और मक्खन की खपत प्रति व्यक्ति क्रमश: 210 सेर और 11 सेर वार्षिक है, अर्थात औसत से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन 9 छटाँक दूध और 1/2 छटाँक मक्खन का सेवन करता है। क्रीम और पनीर आदि इससे अलग हैं।

स्वाभाविक था कि इन आँकड़ों के आधार पर एक आधुनिक गोलोक की कल्पना करने लगूँ जिसमें असंख्य काम-धेनुएँ मुक्त भाव से वन-प्रदेशों और हरियालियों में विचरण करती फिरती हैं, और जहाँ-जहाँ उनके पैर पड़ते हैं वहाँ समृद्धियाँ पनप उठती हैं। सुना था कि सात आकाशों के पार जो गोलोक है उसमें कभी अँधेरा नहीं होता, इससे उत्तरी स्वीडन में भी उत्तरायण के दिनों गोलोक की कल्पना करना और भी स्वाभाविक था।

मैं कभी पुस्तकों के पृष्ठ उलटता हुआ और कभी बाहर के बदलते हुए दृश्य

देखता हुआ अगले दिन तीसरे पहर अपने लक्ष्य पर पहुँच गया। आबिस्को का 'टूरिस्ट केन्द्र' यद्यपि था यथानाम ही, तथापि उसकी सब व्यवस्था विद्यार्थियों के हाथ में थी जो उन दिनों ग्रीष्मावकाश के कारण इधर-उधर घूम रहे थे और अपने भरण-पोषण के लिए ऐसे स्थानों की व्यवस्था में आवश्यकतानुसार परिश्रम का दान देते थे। बड़े डायनिंग-रूम में, जिसमें वेटर नहीं थे और स्वयं—सेवा का ही विधान था, जहाँ-तहाँ दूध और दही के भरे हुए जग रखे थे। होटल में रहने वाले इच्छानुसार पानी, दूध अथवा दही पी सकते थे—जब, जितनी बार, जितना चाहें।

आधुनिक गोलोक की कल्पना इससे और पुष्ट हो आयी। लेकिन जग से दूध ढालते समय सहसा ध्यान आया कि इतनी लम्बी यात्रा में कम-से-कम आरम्भिक अंश हरियाली के प्रदेश में से गुजरा था, मैंने कहीं भी गाय या बैल नहीं देखा। यह कैसा गोलोक है जिसमें गाय अदृश्य रहती है?

आबिस्को में तो नहीं, पर वहाँ से स्टाकहोम लौट जाने के बाद दक्षिणी स्वीडन की यात्रा में मैंने इस विषय में जिज्ञासा प्रकट की थी। यह विशेष रूप से इसलिए कि गोचर प्रदेश मुख्यतया दक्षिणी स्वीडन में ही है। जिज्ञासा शान्त करने लायक उत्तर तो वहाँ भी नहीं मिला। उलटे मुझसे ही भारत की परिस्थिति के विषय में अप्रत्याशित प्रश्न पूछ गये। एक ने पूछा : "सुना है आपके देश के शहरों में साँड़ फिरते हैं। मुझे एक मित्र ने बताया था कि बनारस में शहर के एक चौक में साँड़ों की लड़ाई देखी थी। क्या यह सच है?" मुझे याद आया कि स्वीडन में तो नहीं, इंग्लैंड में कहीं-कहीं मैंने देखा था कि जहाँ साँड़ रखा जाता है वहाँ आस-पास लम्बी चौड़ी चरागाह छोड़कर उसके बाहर मजबूत दीवार या बाड़ लगा दी जाती है, और जहाँ-तहाँ चेतावनी के नोटिस टाँग दिये जाते हैं...एक दूसरे व्यक्ति ने पूछा : "आपके यहाँ, सुना है, गायें शहरों में, बल्कि लोगों के घरों में रहती हैं और चराने के लिए सड़कों पर छोड़ दी जाती हैं—बल्कि खूँद-खूँदकर कचरा खाती हैं। क्या यह बात ठीक है?" और एक दूसरे ने इस प्रश्न के साथ जोड़ दिया : "लेकिन यह कैसे हो सकता है—भारत में तो गाय पूज्य मानी जाती है। है न?"

जिज्ञासा का उत्तर इन प्रश्नों से नहीं मिला, लेकिन उत्तर कहाँ से मिलेगा इसका कुछ संकेत तो मिल ही गया। देश की 12 प्रतिशत भूमि गोचर-भूमि है और वह शहरों से अलग ही रखी जाती है। वहाँ गायें स्वच्छता और स्वच्छन्दता से रहती हैं; और वहीं दुहा जाकर दूध शहर में पहुँचता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि वितरण का संगठन बहुत अच्छा हो; वितरक संस्था के मुख्य कार्यालय में और दो एक संग्रह और वितरण केन्द्रों में जाकर समझ लिया कि वह संगठन वास्तव में बहुत विस्तृत और कुशल है। अन्य प्रकार के सहकार-संगठनों की बात अनन्तर करूँगा, लेकिन दूध की सहकारी संस्था का उल्लेख यहाँ कर देना अप्रासंगिक न

होगा। पूर्वीय मध्य स्वीडन की जिस दुग्ध सहकार संस्था का केन्द्र स्टाकहोम में है, उसके 30,000 गोपालक सदस्य हैं। इसकी विभिन्न डेरियाँ प्रतिदिन 20 लाख किलोग्राम दूध का संग्रह करती हैं। इन्हीं डेरियों में कृमि-नाशन के बाद दूध बोतलों में अथवा मोम लगे कागज के पात्रों में बन्द करके बिक्री के लिए भेजा जाता है, अथवा क्रीम और पनीर निकालने के लिए प्रयुक्त होता है। इन डेरियों से प्रतिवर्ष 1 करोड़ 20 लाख किलोग्राम (प्राय: सवा तीन लाख मन) मक्खन और 1 करोड़ किलोग्राम पनीर तैयार होता है।

वहाँ पर अपने देश की गोधन-सम्बन्धी चर्चा कुछ प्रीतिकर नहीं थी। गोधन—सम्बन्धी सुधार और उन्नति का उल्लेख भी कुछ विशेष अर्थ न रखता जबकि उस उन्नति के बाद की स्थिति भी स्वीडन की दृष्टि से शोचनीय होती है। मन-ही-मन सोचता रहा कि इन प्रश्नों में कितना अचिन्तित और अज्ञात व्यंग्य है: "आपके देश में साँड़ छुट्टे फिरते हैं?" "आपके देश में गाय कचरा खाती है?" "किन्तु आपके यहाँ तो गाय पूज्य मानी जाती हैं।"...

ठीक ही तो है। जहाँ मनुष्य गाय को नहीं खाता वहाँ गाय मनुष्य को खाती है —और मनुष्य अच्छा भोजन नहीं है इसलिए उसको खाकर भी भूखी रह जाती है। गाय क्योंकि पूज्य है इसलिए उसको पालने वाला निर्धन व्यक्ति उसको भी भूखों मारता है और उसके साथ स्वयं भी भूखों मरता है; और अपने को यही सोचकर सान्त्वना दे लेता है कि गाय को भूखों रखने के कारण वह पाप-भागी नहीं है क्योंकि वह स्वयं भी तो भूखा है। वास्तव में जब तक हमारी गो-सम्बन्धी भावना में परिवर्तन नहीं होता तब तक स्थिति में कोई सुधार भी नहीं हो सकता और उस दिशा में किया जाने वाला सब प्रयत्न बालू की दीवार है। गोधन का संवर्द्धन तो तभी हो सकता है जब हम उसे धन मानें; अर्थात भावना को एक ओर रखकर उसे आर्थिक नियमों के अधीन मान लें। माताओं की वृद्धि नहीं की जाती, न सुधार होता है, और माताओं की नस्ल के बारे में कुछ कहना तो निरा दुर्विनय है!

स्टाकहोम अत्यन्त साफ-सुथरा शहर है। इतना साफ कि उसकी सफाई आँखों में चुभे। लेकिन यह कहने में मुझे थोड़ा संकोच होता है कि स्थापत्य दृष्टि से वह सुन्दर भी है। वास्तव में स्टाकहोम का स्थापत्य नवीन प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए उपयोगी भले ही हो, कुछ-एक विशिष्ट इमारतों को छोड़कर सुन्दर प्राय: नहीं है। आरामदेह वह हो सकता है, क्योंकि वह जिस सिद्धान्त पर आधारित है वह सुविधा-प्रधान ही है, सौन्दर्य-प्रधान नहीं। बल्कि वह सौन्दर्य को सुविधा की उपज मानता है। जो वस्तु या उपकरण जिस काम के लिए हो, उस काम के अधिक-से-अधिक अनुरूप होना ही उसका सौन्दर्य है,—उपकरणवाद (फंक्शनलिज्म)

का यह सिद्धान्त सन् 1930 के लगभग जर्मनी और फ्रांस से स्वीडन आया और फिर यहाँ स्वतन्त्र रूप से विकसित होता रहा। नगर-निर्माण और स्थापत्य में इस सिद्धान्त का खंडन तो कठिन है, लेकिन अपनी ओर से यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं कि अपनी संवेदन-पद्धति को अभी तक उसके अनुरूप नहीं ढाल सका हूँ। उपकरण को सुविधाजनक उपकरण अवश्य होना चाहिए, लेकिन उपकरण होने मात्र से वह सुन्दर हो जाता है, यह अभी तक नहीं मान पाया हूँ और समझता हूँ कि लोक-शिल्प के इतिहास से जो उदाहरण उपकरणवादी देते हैं, वे उनकी युक्तियों का पूरा समर्थन नहीं करते। कोई भी उपकरण और सुन्दर बनाया जा सकता है, बिना उसकी उपयोगिता कम किये हुए। किसी भी उपकरण को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है, बिना उसकी सुन्दरता बढ़ाये हुए। मैं नहीं जानता कि उपयोगिता की दृष्टि से स्टाकहोम का पुराना नगर अपने समय की आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक अच्छी तरह करता था, लेकिन फिर भी मानता हूँ कि वह नये नगर से कहीं अधिक सुन्दर है। मैं ही नहीं, स्वयं स्वीडी लोग भी इसे मानते हैं, और विदेशी को सगर्व वह दिखाते हैं। नवीनता के पोषक भी, जो नये नगर-भवन पर गर्व करते हैं, कम-से-कम उतना ही गर्व पुरानी नगरी पर भी करते हैं।

स्थापत्य के विशेष सुन्दर न होने पर भी स्टाकहोम के अनेक भाग बहुत ही सुन्दर हैं, जिसका मुख्य कारण मालार झील है। वह सर्पिल और घुमावदार झील नगर के विभिन्न खंडों में विभिन्न आकार लेती है—कहीं नहर सी सँकरी, कहीं सरोवर-सी गोल और कहीं उपसागर-सी फैली हुई। बीच-बीच में चट्टानी टीले अथवा वन-खंड उसके सौन्दर्य को और बढ़ा देते हैं। बन्दरगाह से एक ओर का तटवर्ती प्रदेश तो सुरक्षित राष्ट्रीय उद्यान बना दिया गया है, और इसमें सड़कों के आस-पास हरियालियों में बिखरे हुए कहवाघर और भोजनालय बहुत ही आकर्षक हैं। प्रवास के पहले दिन अपने आतिथेय के साथ इस प्रदेश में घूमकर ऐसे ही एक रेस्तराँ में भोजन किया था। आतिथेय को अपनी नयी जर्मनी गाड़ी दिखाने का भी चाव था, लेकिन मैं तो उसी तन्मय भाव से बाहर के दृश्य देख रहा था जिसके लिए अँग्रेज़ी मुहावरा 'रबर की गर्दन घुमाना' बहुत ही उपयुक्त है। रेस्तराँ का नाम लिंडगार्डन (नींबू का बाग) तो सार्थक था ही, बरामदों के बाहर और अनेक मालंचों पर सजे हुए विलायती फूलों का रूप और सौरभ भी रमणीय था। पैंजी और नैस्तर्शम, कार्नेशन और हाइड्रेंजिया—ये फूल भारत में भी होते हैं, लेकिन यहाँ उनका रंग-रूप और आकार सभी और थे—हाइड्रेंजिया के गुच्छ तो फूलगोभियों से भी बड़े! और आस-पास पाँगुर और लीलाक के पेड़ फूल रहे थे—लीलाक के फूल कुछ-कुछ महानिम्ब (बकायन) के फूल से मिलते हैं, लेकिन उससे अधिक सुगन्धित होते हैं; और ऊदे के अलावा गुलाबी और सफ़ेद रंग के भी होते हैं।

अपने आतिथेय का उल्लेख कर ही दिया है तो दो-एक बातें उनके विषय में और कह दूँ। आतिथ्य के लिए वह व्यस्त तो थे ही, मैंने उनके लिए एक समस्या और उपस्थित कर दी थी जिसे उन्होंने बड़े ही आकर्षक सहज भाव से स्वीकार कर लिया। स्वीडिश इन्स्टीट्यूट नामक संस्था के एक मन्त्री होने के नाते विदेशों से आने वाले सभी प्रकार के अध्येताओं के स्वागत और उनके लिए आवश्यक प्रबन्ध का काम वह करते रहे थे। यूनेस्को से सम्बद्ध होने के कारण मेरे स्वीडन-प्रवास का प्रबन्ध भी उनकी संस्था को सौंपा गया था। ऐसी संस्थाओं के लिए प्रबन्ध की एक स्वयं-चालित रूढ़ि-सी बन जाती है। लेकिन मेरे बारे में कठिनाई यह थी कि मैं उस संस्था का पहला लेखक-अतिथि था! मुझसे पहले जो अध्येता आते रहे, उन सबकी रुचि दूसरी दिशाओं में थी : कोई इस्पात का कारखाना देखना चाहता था तो कोई जन-विद्युत् की व्यवस्था, कोई पूर्वनिर्मित (प्री-फैब्रिकेटेड) घरों का अध्ययन करने आया था तो कोई समाज-कल्याण के कानूनों का, कोई कागज बनाने के कारखाने देखना चाहता था तो कोई सहकार संघ का केन्द्रीय कार्यालय। लेकिन मैं—मैं लेखकों से मिलना चाह रहा था! और वह अभी तक सोच नहीं पाये थे कि मेरे लिए क्या व्यवस्था उन्हें करनी चाहिए। केवल इतना उन्होंने किया था (स्वयं-चालित रूढ़ि का प्रताप!) कि मेरे समवयस्क कुछ लेखकों से भेंट की व्यवस्था कर दी थी। मैंने यह बताया कि यूनेस्को के केन्द्र पैरिस में भी ऐसी ही समस्या उठी थी, और इसलिए मुझे वहाँ 15 दिन अधिक रुकना पड़ा था कि उनके विशेषज्ञों से पूछकर अपना कार्यक्रम स्वयं निश्चित कर सकूँ। इस सूचना से उन्हें बड़ी सान्त्वना मिली और उनका बोझ प्रत्यक्ष ही कुछ हल्का होता जान पड़ा। दबे स्वर से मैंने यह भी सुझा दिया कि मिलने के लिए समान वय का ध्यान रखना उतना आवश्यक नहीं है जितना समान रुचि अथवा जिज्ञासाओं का—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'। पहले ही दिन यह स्पष्टीकरण हो जाने से अनन्तर बहुत लाभ हुआ, क्योंकि इस प्रकार मैं युवतर लेखकों से भी मिल सका। बल्कि कई दृष्टियों से उनसे मिलना अधिक शिक्षाप्रद हुआ।

पहले दिन मैं विद्यार्थियों के एक होटल में ठहरा था—एक छात्रावास में जो कि ग्रीष्मावकाश में विद्यार्थियों द्वारा होटल के रूप में चलाया जा रहा था। किन्तु दूसरे दिन मेरे लिए दूसरी जगह व्यवस्था कर दी गयी। यह दूसरा होटल प्राइवेट होटल था—कुल आठ कमरे—और पहाड़ी की ढाल पर बनी हुई पाँच मंजिलों की इमारत में पाँचवी मंजिल पर था। (निचली मंजिलों में एक क्लब और एक रेस्तराँ भी था।) यह होटल 'लेखकों का होटल' प्रसिद्ध था। कुछ ऐसी परम्परा थी कि स्टाकहोम आने वाले विदेशी लेखक यहीं ठहरते या ठहराये जाते थे। होटल का खाता देखने पर अनेक प्रसिद्ध नाम मुझे मिले, यह भी ज्ञात हुआ कि स्ट्रिंडबर्ग भी कभी वहाँ रहे

थे।

होटल से स्टाकहोम का और मालार झील के विभिन्न जलाशयों का विहंगम दृश्य दिखता है। बल्कि अपने छज्जे से ही मैं सूर्योदय से सूर्यास्त तक का पूरा आकाश देख सकता था। क्योंकि यह छज्जा इमारत के कोने पर बना हुआ था। पश्चिम की ओर मालार के एक पुल के आगे नगर-भवन सान्ध्य आकाश की पृष्ठिका के कारण बहुत अच्छा लगता था।

होटल पहाड़ की ढाल पर था, पाँच मंजिलें उतर करके समतल भूमि पर नहीं पहुँचते थे बल्कि वहाँ से बहुत नीचे उतरकर सड़क अथवा ट्राम की लाइन मिलती थी। पटरी से उतरने में इससे प्रायः दस मिनट का समय लगता, और आती बार कड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ती। इसलिए नगर के इस खंड में आने के लिए बाहर एक सार्वजनिक लिफ्ट लगा हुआ था जिससे प्रायः 200 फुट सीधे चढ़-उतर सकते थे। यह लिफ्ट उपयोगी तो था ही, नगर के लिए एक विशेष आकर्षण इसलिए भी था कि ऊपरी खंड से पहाड़ी तक बना हुआ पुल, स्टाकहोम का विहंगम दृश्य देखने के लिए उत्तम स्थान था। सूर्योदय और सूर्यास्त, नया और पुराना नगर, बन्दरगाह और आने-जाने वाले जहाज, नीचे दौड़ती और बल खाती हुई ट्राम और मोटरें, सभी यहाँ से देखी जा सकती थीं। मैं आते-जाते सदैव इस पुल की मुँडेर पर झुके हुए लोगों को देखा करता था। इतना ही नहीं, आने-जानेवालों की सुविधा के लिए पुल पर ही एक कहवाघर था जो वहीं खड़े-खड़े या छोटी कुर्सी पर बिठाकर चाय-काफ़ी और उपाहार दे सकता था।

इस पुल और इस लिफ्ट की एक और भी उपयोगिता थी जिसका पता लिफ्ट की एक चालिका से लगा। (अधिकतर स्त्रियाँ ही लिफ्ट चलाती थीं; केवल रात के तीसरे पहर ही ड्यूटी पुरुष करते थे।)

चालिकाएँ लिफ्ट पर आने-जानेवाले प्रत्येक व्यक्ति का चेहरा बड़े ध्यान से देखा करती थीं, यह मैं लक्ष्य कर चुका था। स्वीडन जैसे विनयशील देश में ऐसे देखे जाना कुछ असमंजसकर भी था। एक दिन साँझ को लिफ्ट के ऊपर जाने पर पाया कि लिफ्ट का तत्काल प्रयोग चाहने वाले व्यक्ति वहाँ नहीं है, तो चालिका से थोड़ी देर बातचीत करता रहा। यह पहले भी सुना था कि आत्महत्या करना चाहनेवाले प्रायः वहाँ आते हैं—200 फुट की यह कूद आत्महत्या का अमोघ उपाय है! चालिका ने बताया कि वह हर चेहरे को इसीलिए ध्यान से देखती है—कि कहीं यह आत्म-जिघांसु का चेहरा तो नहीं है? "कभी-कभी यह भी सोचती हूँ कि अगर कोई आत्महत्या करना ही चाहेगा, तो अब क्या उसे मैं रोकूँगी?"

इस 'अब' पर मेरा ध्यान टिक गया। मैंने पूछा : "क्या पहले भी आपने कभी किसी को रोका है?"

चालिका ने बताया कि एक बार एक व्यक्ति उसके सामने ही कूदने के लिए मुँडेर पर चढ़ रहा था तो उसने पीछे से उसकी कमर पकड़ ली; किन्तु भरसक बाधा देने पर भी वह उसे कूदने से रोक न सकी—जकड़ छुड़ाकर वह गिर ही गया। बाधा का केवल इतना ही असर हुआ कि जहाँ कूदने से वह लिफ्ट से दूर खुले स्थान में गिरता, वहाँ कूदने की बजाय गिरने के कारण वह अधबीच बिजली के तारों के एक जाल पर गिरा, और फिर तारों के टूट जाने से नीचे—किन्तु कम वेग से। फलत: वह तत्काल मरा नहीं—उसे अस्पताल ले जाया गया, जहाँ टूटी हुई हड्डियों और बिजली से जल जाने के घावों के कारण आठ दिन के मर्मान्तक कष्ट के बाद उसकी मृत्यु हुई।

"तब से मैं हर चेहरे को बड़े ध्यान से देखती हूँ। इसलिए नहीं कि जान लूँ कि वह आदमी मरना चाहता है या नहीं; केवल इसलिए भी कि मैं समझ सकूँ कि इसके मरना चाहने पर मुझे बाधा देनी चाहिए या नहीं।"

थोड़ी देर हम दोनों चुप रहे। फिर उसने मानो स्वगत कहा : "कोई कैसे जान सकता है कि दूसरे का दु:ख कितना गहरा है? और जानकर कैसे उसमें दखल दे सकता है?"

लिफ्ट का प्रयोग तो मैं इसके बाद भी बहुत दिनों तक करता रहा। लेकिन चालिका की कही अन्तिम बात मेरे मन में बार-बार उदित होती रही—विशेषकर उसका उत्तरार्द्ध—और जानकर कैसे उसमें दखल दे सकता है?

क्योंकि यह 'दखल न देना' स्वीडी जीवन दर्शन में एक महत्त्व का स्थान रखता है—उनके स्वातन्त्र्य-पूजन का एक अंग है। दखल न देने का दर्शन पेरिस में भी पाया जाता है। अपवाद-रूपी किसी-किसी व्यक्ति में वह मानवीय सहानुभूति का रूप भी हो सकता है और मैं जानता हूँ कि पेरिस में ऐसे भी लोग हैं जो बिना एक-दूसरे के जीवन में दखल दिये एक-दूसरे की सहायता करते हैं। लेकिन पेरिस का दखल न देने का दर्शन मुख्यत: संवेदना की अनुपस्थिति का दर्शन है—मानव के प्रति मानव की उदासीनता का। स्वीडन में यह दोनों से अलग आधार पर खड़ा है—मानव के प्रति मानव के सम्मान पर, व्यक्ति की अखंड सार्वभौम सत्ता पर। इस विशेष दृष्टिकोण के अनेक उदाहरण सुने भी और देखे भी। लेकिन इस सम्बन्ध में अपने कुछ अनुभवों का वर्णन अलग से करना ही अच्छा होगा।

एक छोटे कस्बे के बाहरी मुहल्ले की एक सड़क; सड़क के किनारे दीवार पर टँगा हुआ लेटरबक्स। सहसा आँख लेटरबक्स पर नहीं, उसके नीचे कुट्टिम भूमि पर टिक जाती है। वहाँ एक चिट्ठी और उसके ऊपर कुछ पैसे रखे हैं। स्थिति समझ में आ जाती है : बिना टिकट की चिट्ठी और पैसे इस विश्वास के साथ रखे गये हैं कि

डाकिया स्वयं टिकट लगाकर चिट्ठी ले जावेगा।

राजधानी की ट्रामगाड़ी। पिछले द्वार से सवारियाँ चढ़ती हैं, अगले दो द्वारों से उतरती हैं। क्रमश: आगे बढ़ती हुई वे बीच में बैठे कंडक्टर से टिकट ले जाती हैं। भीड़ बहुत है, प्रगति धीरे हो रही है, कुछ लोगों को जल्दी उतर जाना है—वे टिकट कैसे लेंगे? अचानक दीखता है, उतरने के द्वारों के पास छोटी-छोटी पेटियाँ लगी हुई हैं—लोग उतरते हुए उनमें पैसे डालते जाते हैं। पेटियों पर लिखा है—"आपको टिकट लेने की सुविधा न हुई हो तो किराया यहाँ डालते जाइए"।

एक मामूली स्टेशन। आप गाड़ी से उतरे हैं। मध्यवित्ती भारतवासी हैं, इसलिए प्राय: आवश्यकता से अधिक असबाब लेकर यात्रा करने के आदी हैं, यद्यपि इतना सीख गये हैं कि बिस्तर ले जाना आवश्यक नहीं है। कुली कहीं दीखते नहीं। आप बगल में एक बंडल और दोनों हाथों में एक-एक सूटकेस तौलते हैं कि एक मधुर स्वर कहता है—"एक मुझे दीजिए—" और आपके कुछ कहने से पहले एक सुरूप, सुवेश व्यक्ति आपके हाथ से एक सूटकेस ले लेता है—"बस तक जावेंगे?" बस पर पहुँचकर वह आपको धन्यवाद देने का अवसर न देकर कहता है—"हमारे देश में आपका प्रवास सुखद हो यह मेरी हार्दिक कामना है"—और चल देता है।

एक और स्टेशन। रात के ग्यारह बजे का समय; थोड़ी देर बाद आपकी गाड़ी आने वाली है। आप सूने प्लेटफार्म पर टहल रहे हैं कि अचानक देखते हैं, जिस होटल में आप दो दिन ठहरे थे उसी में टिके हुए आठ-दस स्वीडी व्यक्ति आपकी ओर आ रहे हैं। क्या ये भी उसी गाड़ी से जानेवाले है, या किसी को लेने आये हैं? नहीं; ये सब आपको विदा करने आये हैं। "आप बाहर से आये हुए हमारे अतिथि हैं; पराये देश में जाकर यह अनुभव करना कि हम अजनबी या पराये हैं अच्छा नहीं लगता। हम चाहते हैं कि आप इस देश को अपना घर समझें और आपको गाड़ी पर पहुँचाने आये हैं—इस कामना के साथ कि आपका हमारे मध्य में आना फिर हो।" रात के ग्यारह बजे और बिना किसी संस्था की प्रेरणा के, निजी सौजन्यवश, यह शिष्टाचार! अतिथि सत्कार की उज्ज्वल परम्पराएँ कई देशों में हैं और आतिथ्य की अतिरंजित परिभाषाएँ भी कई जगह मिलती हैं। सभ्यता की अनेक परिभाषाएँ हैं, और संस्कृति की तो और भी अधिक। किन्तु सभ्यता यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का निर्वाह करते हुए एक सुगठित और सुव्यवस्थित समाज के रूप में रहने की कला का नाम है, तो जिस देश में ये छोटे-छोटे किन्तु स्मरणीय अनुभव मुझे हुए वह संसार का कदाचित् सबसे अधिक सभ्य देश है। और अगर मानवता का शील-संस्कार जिससे वह सहज और निरायास भाव से वैसा आचरण करता है जो दूसरे मानव के लिए सुखकर, प्रीतिकर या कल्याणकर है, और इसे दूसरे पर बोझ भी नहीं बनने देता—अगर ऐसा शील-संस्कार संस्कृति में कुछ भी महत्त्व रखता है तो नि:सन्देह

स्वीडन एक अत्यन्त पुष्ट संस्कृति-सम्पन्न देश है।

ये घटनाएँ यों असाधारण नहीं हैं, किन्तु उनका किसी देश के साधारण दैनन्दिन जीवन का अंग होना ही उन्हें असाधारण बनाता हैं नहीं तो इक्के-दुक्के नीतिवान या शालीन व्यक्ति किस देश में नहीं मिलते? स्वीडन में और भी मार्के की बात यह है कि नैतिक मूल्य का निर्वाह आधुनिकतम वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ होता है। औद्योगिक उन्नति, आर्थिक सम्पत्ति, विस्तृत व्यापार, व्यापक शिक्षा—इनके साथ-साथ विनय का विकास होता है और समाज के हर स्तर पर होता है। यों स्तर वहाँ इतने नहीं हैं जितने भारत में या दूसरे अनेक पूर्वी अथवा मध्यपूर्वी देशों में, क्योंकि स्वीडन साथ ही सबसे अधिक समाजवादी देश भी है। वहाँ वाद पर उतना मुखर आग्रह भले ही न हो, व्यवहार पूरा है। यह अत्यन्त विकसित व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और उसके साथ-साथ इतना व्यापक सामाजिक सहयोग—यही स्वीडन का अचरज है और यही मानव-जाति के भविष्य के लिए आशा का संकेत।

किसी देश अथवा समाज के साधारण अथवा जातिगत चरित्र को उसकी भौगोलिक स्थिति का परिणाम मान लेना एक प्रकार के नियतिवाद को जन्म देता है। ऐसा भौगोलिक नियतिवाद मुझे अमान्य है। किन्तु स्वीडी चरित्र की विशेषताओं को उसकी देशगत स्थितियों के सन्दर्भ में अवश्य देखा जा सकता है। विरल आबादीवाले ऐसे प्रदेश में, जहाँ वनों, सरोवरों और पर्वतों का बाहुल्य है, जहाँ गर्मी-जाड़ों में दिन और रात का अन्तर इतना अधिक होता है कि कुछ महीने दिन काटे नहीं कटता और कुछ महीने रात मानो अन्तहीन हो जाती है, जिसमें बहुधा गाँव या अकेले घर महीनों तक बर्फ से घिर अथवा दबकर बाकी संसार से अलग हो जाते हैं, बसनेवाले लोगों का ऐसा स्वभाव पाना कुछ अद्‌भुत नहीं है। अलग अकेले रहने का अभ्यासी अगर चिन्तनशील, अल्पभाषी या मृदुभाषी, एकान्तप्रेमी और दूसरे के काम में हस्तक्षेप न करनेवाला हो जाता है, तो क्या आश्चर्य है? स्वीडन में एक ही झील के एक ही घाट पर सैलानियों द्वारा मछली के शिकार के लिए या दो-एक दिन की छुट्टी बिताने के लिए कोई मालिक-मकान दो-चार बँगले बनवाता है तो इसका ध्यान रखता है कि वे एक-दूसरे को न दीखें, एक-दूसरे के परिदृश्य में, एकान्त में अथवा मनोवांछित ढंग से समययापन में बाधक न बनें। यह नहीं है कि (लारेंस के शब्दों में) 'सभ्य मानव को मानव की बू असह्य हो गयी है।' बल्कि यह इस बात का प्रमाण है कि ऐसा नहीं हुआ है, और न साधारण स्वीडी चाहता है कि कभी हो। इंग्लैंड में एक बार देखा था, गर्मियों में अपने अलग ढंग से होटलों के वातावरण से मुक्त रहकर छुट्टियों के कुछ दिन 'निजी पारिवारिक वातावरण में' बिताने के लिए लोग अपनी-अपनी मोटरों के पीछे कारवाँ-ठेले जोतकर निकले, तो एक ही सागर-

तट पर एक ही विशाल 'कैरावान-पार्क' में 6,000 ठेले पंक्तियाँ बाँधकर खड़े हो गये! पार्क में मोटर और ठेले खड़े करने की जगह थी; प्रत्येक अपने अद्वितीय ढंग से, निर्बाध रूप से, छुट्टी बिताने के लिए एक ही मैदान में जुटे हुए 6,000 पंक्तिबद्ध परिवार! मानो छुट्टी बिताने के युद्ध के लिए महाप्रांगण में सेनाएँ जुटी हों!

यह कहना इंग्लैंड के साथ दोहरा अन्याय होगा कि प्रांगण में जुटे हुए सब लोग वास्तव में ऐसा 'अवकाश संग्राम' चाहते हैं। इंग्लैंड की आबादी कहीं घनी है, और वहाँ वैसे एकान्त विश्राम के लिए स्थान भी नहीं है जैसा स्वीडन में सम्भव है। किन्तु जो कुछ सम्भव है उसका पूरा उपयोग वहाँ नहीं होता, जबकि स्वीडन में जो व्यक्ति अवकाश या विश्राम के लिए दौड़ता है वह केवल अपने कार्यस्थल या परिचित परिवेश से दूर नहीं जाता बल्कि जन-मात्र से दूर जाता है।

शिक्षित और सम्पन्न देश में ऐसे एकान्त-प्रेम से, विशेषतया जब उस सम्पन्नता के साथ-साथ स्वतन्त्र वैज्ञानिक चिन्तन कई विश्वासों को दुर्बल कर देता है, इसकी सम्भावना बनी रहती है कि व्यक्ति एक आध्यात्मिक शून्य का अनुभव करे। इसके दुष्परिणाम स्वीडन में देखे जा सकते हैं। एकान्त में और अति मात्रा में मद्य-सेवन वहाँ की एक सामाजिक समस्या है। मद्य के कारण ही नहीं, अन्य कारणों से भी एकान्त से घिरे हुए कुछ व्यक्तित्व वहाँ विकृत हो जाते हैं। यह शायद भौतिक समृद्धि का अनविार्य दंड है। किन्तु इन विकृत परिणामों को छोड़ भी दें तो भी लक्षित होता है कि स्वीडी लोगों में कहीं गहरे में एक उदासी अथवा चिन्तनशील निरानन्द का भाव होता है। कदाचित् इसी अति-गम्भीरता अथवा अन्तरोन्मुख उदासी के कारण दक्षिणी जातियों के लोग उन्हें मनहूस या बुद्धू मानते हैं। उदाहरणतः फ्रांस में प्रायः ही स्वीडियों में विनोद की कमी की चर्चा होती है। फ्रांस का साहित्यकार जहाँ बातचीत में सदैव दूसरे को चमत्कृत करने, प्रभाव डालने, वाचिक और आंगिक अभिनय द्वारा मुग्ध और अभिभूत करने में यत्नशील रहता है, स्वीडन का लेखक वहाँ ग्रहण करने, चुपाचाप बैठकर या सागर-तट अथवा वन-खंडी में घूमते हुए चिन्तन करने का अभ्यासी है। फ्रांसीसी कलाकार एक कुशल नट है, अविराम अपने करतब दिखाता है और आपकी ओर से प्रशंसा चाहता है। वह सतर्क है कि आप उसके अभिनय कौशल के कायल हों। उसके लिए यह मानो बड़ी पराजय होगी कि वह जो पार्ट अदा कर रहा है उसे आप उसका सच्चा रूप समझ लें! यह दूसरी बात है कि जो अभिनेता सोते-जागते कभी भी रंगमंच छोड़ता ही नहीं, उसका सच्चा रूप आप क्या मानें! किन्तु यही तो फ्रांसीसी कलाकार आपको बताना चाहता है: वह आपके सामने बैठकर अपना रूप—अपने अनेक रूप देखता है, आपको सम्बोधन करके अपनी बात—अपनी अनेक बातें सुनता है। इसके विरुद्ध

स्वीडी लेखक कम बोलता है; अपने गम्भीरतम विश्वासों और मान्यताओं की चर्चा प्राय: नहीं करता, किन्तु जब करता है तो शिशुवत् निश्छल भाव से। आपके सामने आकर वह आपकी बात सुनता है, गुनता है, यदि सहमत नहीं होता तो आपकी बात गाँठ बाँधकर रख लेता है कि फिर एकान्त में किसी झील-झरने के किनारे बैठकर सोचेगा।

और मजे की बात यह है कि फ्रांस का बौद्धिक व्यक्ति तो उत्तर के साहित्यकार को बुद्धू और मनहूस समझता ही है, उत्तरी साहित्यकार भी सहज ही इस मूल्यांकन को स्वीकार लेता है! मुझसे एकाधिक बार स्वीडी लेखकों ने ऐसा कहा। 'फ्रांस का लेखक प्रतिभाशाली है, हम लोगों में तो कोई प्रतिभा नहीं है।' "वी आर नॉट ब्रिलिएंट लाइक द फ्रेंच, वी आर डल पीप्ल।"

किन्तु आभ्यन्तर विवेचन को छोड़कर सतह को ही देखें। स्वीडन में शिक्षा का प्रसार आश्चर्यजनक है। शिक्षा सभी स्तरों पर नि:शुल्क या लगभग नि:शुल्क है। कई जिलों में प्रारम्भिक और उच्च विद्यालयों में भी विद्यार्थियों को दोपहर का भोजन स्कूल की ओर से बिना मूल्य दिया जाता है—बिना इसका विचार किये कि किस विद्यार्थी की आर्थिक स्थिति कैसी है। सन् 1955 में सात लाख विद्यार्थियों को ऐसा बिना मूल्य भोजन मिलता रहा। (स्वीडन की कुल जनसंख्या सात करोड़ है)

विश्वविद्यालयों में शिक्षा राज्य की ओर से नि:शुल्क दी जाती है किन्तु राज्य विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण नहीं करता और वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के बारे में अत्यन्त सतर्क है। बल्कि विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता अध्ययन-स्वातन्त्र्य और विचार-स्वातन्त्र्य के आन्दोलन की ही एक पहलू है। स्वीडन के प्राचीन विश्वविद्यालय सत्रहवीं शती में स्थापित हुए और उस समय धर्म-शिक्षा उनके पाठ्य-क्रम का अंग थी ही। अनन्तर धर्म-विश्वास सम्बन्धी आन्दोलन के साथ-साथ अध्ययन और अनुशीलन की स्वतन्त्रता का प्रश्न जुड़ गया। विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता का आन्दोलन इसका एक पहलू था। आचार्यों की नियुक्ति के सन्दर्भ में राज्य और विश्वविद्यालयों का एक ऐतिहासिक संघर्ष भी हुआ, जिसमें वैज्ञानिक अनुशीलन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त जयी हुआ। स्वीडी समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता भी यहाँ कानून द्वारा सुरक्षित है। स्वीडियों का दावा है कि इस स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने का सबसे प्राचीन विधान स्वीडन का है। वर्तमान कानून में भी किसी प्रकार के नियन्त्रण का निषेध है, और युद्ध-काल में भी समाचार-पत्रों पर सेंसर नहीं नियुक्त किया जा सकता।

विश्वविद्यालयों में शिक्षा नि:शुल्क होती है, इसका अर्थ यही है कि विश्वविद्यालय विद्यार्थियों से कुछ नहीं लेते। किन्तु प्रत्येक विद्यार्थी के लिए किसी

विद्यार्थी संगठन का सदस्य होना आवश्यक होता है, और ये संगठन चन्दा लेते हैं। ऐसे संगठनों के नाम अधिकतर प्रादेशिक होते हैं और वे 'राष्ट्र' कहलाते हैं। विद्यार्थी-जीवन के अनेक पहलू इन संघों अथवा राष्ट्रों के सहकारी अनुशासन में रहते हैं। संघ ही छात्रावास चलाते हैं और विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था करते हैं, सहकारी आधार पर विद्यार्थियों के काम की चीज़ों की दुकानें चलाते हैं, विद्यार्थियों के लिए चिकित्सालय चलाते हैं, नौकरी दिलाने के लिए उद्योग करते हैं; और यहाँ तक कि सदस्यों के बेकार रहने पर उन्हें वृत्तियाँ भी देते हैं अर्थात् बेकारी-बीमा की व्यवस्था करते हैं। और ये छात्र संगठन स्वयंसेवी और स्वायत्त होते हैं। विश्वविद्यालय उनमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता; केवल माँगे जाने पर परामर्श देने की व्यवस्था कर सकता है। उदाहरणतया सहकारी संस्था को चलाने के लिए किसी अर्थ-शास्त्रज्ञ की आवश्यकता होने पर विश्वविद्यालय से इस सम्बन्ध में सहयोग माँगा जा सकता है।

विश्वविद्यालय सभी ग्रीष्मावकाश के लिए बन्द थे; केवल उपसाला के प्राचीन विश्वविद्यालय में जाना हुआ—वह भी इसलिए कि कुछ लेखकों से मिलना था जो स्थायी रूप से वहीं रहते थे।

किन्तु सिगतुना का लोक-संस्कृत महाविद्यालय खुला था। बल्कि ग्रीष्मावकाश में तो वहाँ विशेष हलचल होती है, क्योंकि अवकाश में बाहर के लोग भी वहाँ अतिथिशाला में आकर रहते हैं। उपसाला से मैं सिगतुना जाकर उसी अतिथिशाला में ठहरा। यह संस्था लोक-संस्कृति के अध्ययन के लिए और लोक-कला तथा लोक-शिल्प की रीतियों के पोषण और प्रचार के लिए कार्य करती है। यहाँ की गायक-मंडली से मैंने अनेक स्वीडी लोकगीत सुने; और कुछ फीते पर रेकार्ड करके साथ ले आया। उन दिनों अयनोत्सव (मिड-समर फैस्टिवल) भी था, इसलिए स्वीडी लोक-नृत्य भी देखने को मिले जिसमें न केवल विद्यालय के छात्र और छात्राएँ सम्मिलित होती थीं, बल्कि आसपास की बस्तियों के अनेक कृषक और नागरिक भी। प्रतिदिन विधिवत् इन्द्र-ध्वज (मे-पोल) की प्रतिष्ठा होती थी और उसके आस-पास पिंडीबद्ध नृत्य होता था। नृत्यों के विभिन्न प्रकार थे। मंडलाकार नृत्य होने पर भी कुछ को नटन (डांस) कहा जाता था और कुछ को अटन (वॉक)। सारे यूरोप में ऐसे अनेक लोक-नृत्य प्रचलित हैं, जिनको वॉक कहा जाता है—उन्हें विशिष्ट करने के लिए उनके साथ विदेश का नाम जुड़ा हुआ हो सकता है। मेरा अनुमान है कि भारत में भी ऐसा ही परम्परागत अन्तर रहा-'नट्' अथवा 'अट्' धातु से बने हुए विभिन्न नाम कदाचित् इस भेद को सूचित करते हैं कि कुछ नृत्य अभिनयप्रधान थे और वाचिक तथा आंगिक अभिनय के द्वारा किसी पद की व्याख्या करते थे; जबकि कुछ दूसरे नृत्य, गीत के साथ होने पर भी, सहज आनन्दाभिव्यक्ति के नृत्य होते थे। मैं नहीं जानता कि यह अनुमान कहाँ तक तथ्यसंगत है, न यही कि

भाषा-तत्त्व के विद्वान इसके बारे में क्या कहेंगे; किन्तु इतना अवश्य है कि इस प्रकार का भेद लोक-नर्तक के मन में भी रहा और शास्त्रीय परिभाषा करनेवाले नाट्य-शास्त्र-विशारदों के मन में भी।

दूर-देशीय अतिथि होने के नाते मुझे संस्था देखने की पूरी सुविधा तो दी ही गयी, प्रतिदिन, भोजन के समय अध्यक्ष की मेज का साझा करने का सम्मान भी मिला। पश्चिम में भोजन का समय ही वार्तालाप का उत्तम समय माना जाता है, इसलिए यह अवसर मेरे लिए विशेष उपयोगी हुआ क्योंकि प्रतिवार अध्यक्ष के साथ दो-एक और लेखक-अतिथियों से भी बातचीत हो जाती और पश्चिम की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा अथवा उनकी विशेष समस्याओं पर कुछ प्रकाश मिलता या किसी नये दृष्टिकोण से परिचय होता। मध्य-काल में धर्म और कला का जो सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, ईसाई चर्च ने कलाकार का जो बहिष्कार कर दिया उसके परिणामों पर बहुत चर्चा होती रही। अध्यक्ष महोदय का दृढ़ विश्वास था कि कलाकार को अविश्वास्य मानकर कला के प्रति उदासीन हो जाने में चर्च ने जो भूल की थी उसके कुप्रभाव दोनों पर पड़े और अब धर्म-संस्थाओं को फिर से यह उद्योग करना चाहिए कि उनमें और कलाकारों में सामीप्य हो—धर्म-संस्थाओं को रचनाशीलता का योग मिले और कृतिकार फिर से श्रद्धा से अनुप्राणित हो। निरी श्रद्धाहीनता को मैं भी कोई रचनात्मक शक्ति नहीं मानता हूँ, यद्यपि वैज्ञानिक जिज्ञासु बुद्धि का कायल हूँ। फिर भी अध्यक्ष महोदय की भावना का सम्मान करते हुए भी मैं उनकी योजनाओं को व्यावहारिक नहीं मानता था—भारत जैसे देश में भी नहीं, स्वीडन जैसे देश की तो बात ही क्या! किन्तु ऐसे वार्तालाप का उद्देश्य सहमति नहीं होता, विचारोत्तेजन ही होता है।

लेखक, चिन्तक, अध्यापक, सभी तो ग्रीष्मावकाश के लिए शहर से या अपने साधारण निवासों से दूर भागे हुए थे—कोई जंगल में, कोई सागर के किनारे, कोई मछेरों के झोंपड़ों में तो कोई गड़रियों के काठ-बँगलों में। 'चार दिनाँ की चाँदनी' में ही धूप के आकर्षण से सब लोग ऐसे स्थानों को चले गये थे जहाँ दिन-भर (और कितना लम्बा दिन !) कछुए अथवा मगरमच्छ की तरह धूप में पड़े-पड़े दिन काटे जा सकें। क्योंकि फिर लम्बी अँधेरी रात में सभी को अपने-अपने शहर लौटकर काम में लग जाना होगा।...योजना बनाकर किसी से मिलना सम्भव नहीं था, क्योंकि किसी का पता पाना ही कठिन था। कोई अचानक ही मिल जाए तो मिल जाए। ऐसे ही केन्द्रों में जाना उपयोगी हो सकता था जहाँ उस समय में लोगों के होने की सम्भावना हो। सिगतुना के बाद दक्षिणी स्वीडन के मुल्श्वे नामक स्थान में हाकिनसास ('गरुड़-नासा') की संस्था में जा पहुँचा, जहाँ मेरे पुराने परिचित मार्टिन आलवुड समाज-विज्ञान के एक शोध-केन्द्र का संचालन करते हैं और वह ग्रीष्मकालीन

विद्यालय भी चलाते हैं। मार्टिन से मेरा परिचय प्राय: बीस वर्ष पहले से था जब वह भारत आये थे और कलकत्ते में मेरे साथ रहे थे। वह मूलत: उत्तरी इंग्लैंड के निवासी थे किन्तु उनके पिता यहाँ अँग्रेज़ी शिक्षक होकर आये थे और यहीं बस गये थे। इसी केन्द्र में उनकी नार्वेयी पत्नी श्रीमती इंगा आल्वुड से परिचय हुआ और प्रवासी चीनी लेखक और शिक्षक ह्वाङ्ग त्सु-यू तथा उनकी जर्मन पत्नी से भी—और अनेक हँसमुख विद्यार्थी युवकों और युवतियों से भी और एक सर्वथा अनौपचारिक शिक्षा-पद्धति से भी। मार्टिन तथा विद्यार्थियों के अनुरोध पर विद्यालय में एक-दो भाषण भी दिये और कहानियाँ भी सुनायी, फिर मार्टिन के अध्ययन-कक्ष में बैठकर उनके भारत के तथा अपने स्वीडन के अनुभवों का विनिमय करता रहा।

लौटकर फिर स्टाकहोम के अपने परिचित होटल में स्थान पाया। लिफ्ट से अब भी उसी प्रकार लोग आते-जाते थे और लिफ्ट की चालिका अब भी उतने ही ध्यान से उनके चेहरे देखा करती थी। किन्तु होटल में टिक जाने के बाद एक नया अनुभव हुआ।

सवेरे नाश्ते के बाद परिचारिका ने पूछा : "क्या आपको कुछ कष्ट दे सकती हूँ ?"

मैंने कहा, "बताइए ?"

"आप मेरी हस्ताक्षर-पुस्तक में हस्ताक्षर कर देंगे ?"

मैंने हँसकर कहा : "सहर्ष ।"

"और साथ कुछ लिख भी देंगे ?"

मैंने कहा : "अच्छी बात है, आप कापी मुझे दे दीजिए; मैं लिख रखूँगा।"

वह कापी ले आयी। कापी नहीं थी, मेरी अभ्यस्त छोटी-बड़ी 'आटोग्राफ़ बुक' भी नहीं थी। एक बड़ा-सा एलबम था। उस होटल में इस परिचारिका के रहते जो-जो देशी-विदेशी साहित्यकार वहाँ टिके थे (और यह मैं कह चुका हूँ कि वह होटल साहित्यकारों का अड्डा था)—उन सभी के उसमें न केवल हस्ताक्षर और सन्देश थे, बल्कि स्टाकहोम में रहते हुए उनके भाषणों या भेंट के जो भी संवाद समाचार-पत्रों में छपते रहे उनके कटिंग भी। पन्ने उलटते हुए मुझे आश्चर्य हुआ जब मैंने देखा कि मुल्श्वे के समाचार-पत्रों में मेरे वहाँ जाने के सम्बन्ध में जो संवाद और (निश्चय ही मार्टिन का दिया हुआ) जीवन-वृत्त छपा था, उसके भी कटिंग उस एलबम में लगे हुए थे। मैंने यथास्थान कुछ लिखकर हस्ताक्षर तो कर ही दिया, तीसरे पहर कापी लौटाते समय चिढ़ाते हुए स्वर में पूछा : "लेकिन मेरा फोटो तो समाचार-पत्रों में नहीं छपा, उसका आप क्या करेंगी ?"

उसने हँसकर कहा : "अभी तो आप स्टाकहोम में हैं।" अर्थात् अभी तो इसकी सम्भावना है कि आपका फोटो अखबार में छप जाए! यों समाचार-पत्रों में

ऐरे-गैरे अनेकों के फोटो छपते रहते हैं और मेरा फोटो छप जाना भी नितान्त असम्भव तो नहीं था, लेकिन स्वीडन की विनयशीलता का आभारी हूँ कि यहाँ वैसा नहीं हुआ। स्टाकहोम से विदा होने से पहले मैंने स्वयं ही अपना एक फोटो एलबम के लिए उसे दे दिया। भविष्य में जो भारतीय लेखक वहाँ जावें तो उस होटल में ठहरें, वे चाहें तो इस संकेत से लाभ उठा सकते हैं!

मैंने ऊपर कहा कि स्वीडन संसार का सबसे अधिक समाजवादी देश है—कि समाजवाद के आदर्शों का व्यावहारिक रूप वहीं सबसे अधिक देखा जाता है। निःसन्देह ऐसे समाजवादी व्यवहार के लिए देश का समृद्ध होना आवश्यक है, और वहाँ की वन-सम्पत्ति, खनिज सम्पत्ति और जल-विद्युत शक्ति की दृढ़ भित्ति के कारण स्वीडन की समृद्धि बढ़ती ही जाती है; किन्तु वास्तव में समाजवादी व्यवस्था का विकास वहाँ के सहकारिता-आन्दोलन के कारण ही होता रहा है। सहकारिता सिद्धान्त पर अमल वहाँ उन्नीसवीं शती मे ही होता रहा, पर सन् 1930 से यह आन्दोलन देशव्यापी हो गया और अब तो इसके विभिन्न पहलुओं के आँकड़े चकित कर देनेवाले हैं। डेरी संघ की सदस्य-संख्या अढ़ाई लाख से अधिक है; माँस-विक्रय संघ की प्रायः तीन लाख और कृषि संघ की प्रायः डेढ़ लाख। कृषि संघ क्रय और विक्रय दोनों का काम सँभालता है; खेती की पैदावार बेचता है और कृषक के लिए बीज, खाद, चारा, औषधि आदि प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, सदस्यों की शिक्षा-प्रशिक्षा में भी वह योग देता है, सूचना-पत्रिकाएँ और साहित्य भी प्रकाशित करता है—यहाँ तक कि कुछ भारतीय कृति-साहित्य भी उसने प्रकाशित किया है। (यदि वह भारत का उत्तम साहित्य नहीं है तो इसका उत्तरदायित्व उसे परामर्श देनेवाले भारतीयों पर ही है : उसने तो सुन्दर प्रकाशन किया है...)

यह सहकार सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी लागू होता है : स्कैंडिनेविया के चारों देश आपस में ऐसा सहयोग करते हैं। एक देश के संघ के सदस्यों को दूसरे देशों के संघ भी वही सुविधा दे हैं जो स्वदेशीय संघ देता; इसके अलावा अन्तर्देशीय क्रय विक्रय भी इनके द्वारा होता है। यह आपसी सहयोग देशों के सहजीवन का उत्तम और प्रेरणाप्रद उदाहरण है। स्वेच्छापूर्वक सहयोग पर आधारित यह समाजवादी समाज कैसे इतनी व्यवस्थापूर्वक चलता है, कहीं रगड़ या अटक उसमें क्यों नहीं पैदा होती, इसकी पड़ताल करने चलें तो लौटकर फिर एक जानी हुई बात पर आ जाना पड़ेगा : कि समता उसी समाज में होती है जो स्वतन्त्र हो, और समाज वही स्वतन्त्र होता है जिसका अंग व्यक्ति स्वतन्त्र हो, और अपने स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए ही सामाजिकता का वरण करता हो। सब सामाजिक सम्पर्कों और सम्बन्धों की मूल प्रेरणा है व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की खोज।

किन्तु आधुनिक गोलोक में गो-दर्शन? हाँ, गोलोक की यात्रा का मेरा वृत्तान्त अधूरा ही रह जाएगा यदि अन्त में यह न कहूँ कि वहाँ से लौटने से पहले गायें मैंने देखीं—खुली हरियाली में खड़ी वैसी वात्सल्य-भरी आँखोंवाली गायें, जिन्होंने गोपद-परिक्रमा द्वारा पृथ्वी-प्रदक्षिणा का फल पाने की कल्पना को जन्म दिया होगा—जैसी गायों के लिए कालिदास ने 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा गोरूपधरा इवोर्वी' की उत्प्रेक्षा की थी। अगर मुझसे किसी गाय ने यह भी कहा कि

'न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि माँ कामदुघां प्रसन्नाम्'

और न यह अनुग्रह ही प्रकट किया कि

'प्रीतास्मि ते, पुत्र! वरं वृणीष्व'

तो इसका कारण यह भी हो सकता है कि बीसवीं शती की सुरभी अथवा नन्दिनी मानव भाषा नहीं बोलती, और यह भी कि मैं ही गुरु-गो-भक्तिविहीन होने के कारण अपात्र समझा गया। जो हो, इस गोलोक-यात्रा से लौटकर यह मान लेने को तैयार हूँ कि कालिदास ने अगर ताम्र-लोहिता 'प्रभा पतंगस्य' को पल्लववर्णा 'मुनेश्च धेनुः' के समकक्ष ही ठहराया तो कोई अनर्थ नहीं किया :

'सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥'

वसन्त का अग्रदूत

'निराला' जी को स्मरण करते हुए एकाएक शान्तिप्रिय द्विवेदी की याद आ जाए, इसकी पूरी व्यंजना तो वही समझ सकेंगे जिन्होंने इन दोनों महान विभूतियों को प्रत्यक्ष देखा था। यों औरों ने शान्तिप्रियजी का नाम प्रायः सुमित्रानन्दन पन्त के सन्दर्भ में लिया है क्योंकि वास्तव में तो वह पन्तजी के ही भक्त थे, लेकिन मैं निरालाजी के पहले दर्शन के लिए इलाहाबाद में पंडित वाचस्पति पाठक के घर जा रहा था तो देहरी पर ही एक सींकिया पहलवान के दर्शन हो गये जिसने मेरा रास्ता रोकते हुए एक टेढ़ी उँगली मेरी ओर उठाकर पूछा, "आपने निरालाजी के बारे में 'विश्वभारती' पत्रिका में बड़ी अनर्गल बातें लिख दी हैं।" यह सींकिया पहलवान, जो यों अपने को कृष्ण-कन्हैया से कम नहीं समझता था और इसलिए हिन्दी के सारे रसिक समाज के विनोद का लक्ष्य बना रहता था, शान्तिप्रिय की अभिधा का भूषण था।

जिस स्वर में सवाल मुझसे पूछा गया था उससे शान्तिप्रियता टपक रही हो ऐसा नहीं था। आवाज तो रसिक-शिरोमणि की जैसी थी वैसी थी ही, उसमें भी कुछ आक्रामक चिड़चिड़ापन भरकर सवाल मेरी ओर फेंका गया था। मैंने कहा, "लेख आपने पढ़ा है ?"

"नहीं, मैंने नहीं पढ़ा। लेकिन मेरे पास रिपोर्टें आयी हैं! "

"तब लेख आप पढ़ लीजिएगा तभी बात होगी," कहकर मैं आगे बढ़ गया। शान्तिप्रियजी की 'युद्धं देहि' वाली मुद्रा एक कुंठित मुद्रा में बदल गयी और वह बाहर चले गये।

यों 'रिपोर्टें' सही थीं। 'विश्वभारती' पत्रिका में मेरा एक लम्बा लेख छपा था। आज यह मानने में भी मुझे कोई संकोच नहीं है कि उसमें निराला के साथ घोर अन्याय किया गया था। यह बात 1936 की है जब 'विशाल भारत' में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी निराला के विरुद्ध अभियान चला रहे थे। यों चतुर्वेदी का आक्रोश निरालाजी के कुछ लेखों पर ही था, उनकी कविताओं पर उतना नहीं (कविता से तो वह बिलकुल अछूते थे), लेकिन उपहास और विडम्बन का जो स्वर चतुर्वेदीजी की टिप्पणियों में मुखर था उसका प्रभाव निरालाजी के समग्र कृतित्व के मूल्यांकन पर पड़ता ही था और मेरी अपरिपक्व बुद्धि पर भी था ही।

अब यह भी एक रोचक व्यंजना-भरा संयोग ही है कि सींकिया पहलवान से पार पाकर मैं भीतर पहुँचा तो वहाँ निरालाजी के साथ एक दूसरे दिग्गज भी विराजमान थे जिनके खिलाफ भी चतुर्वेदीजी एक अभियान चला चुके थे। एक चौकी के निकट आमने-सामने निराला और 'उग्र' बैठे थे। दोनों के सामने चौकी पर अधभरे गिलास रखे थे और दोनों के हाथों में अधजले सिगरेट थे।

उग्रजी से मिलना पहले भी हो चुका था; मेरे नमस्कार को सिर हिलाकर स्वीकार करते हुए उन्होंने निराला से कहा, "यह अज्ञेय है।"

निरालाजी ने एक बार सिर से पैर तक मुझे देखा। मेरे नमस्कार के जवाब में केवल कहा, "बैठो।"

मैं बैठने ही जा रहा था कि एक बार फिर उन्होंने कहा, "जरा सीधे खड़े हो जाओ।"

मुझे कुछ आश्चर्य तो हुआ, लेकिन मैं फिर सीधा खड़ा हो गया। निरालाजी भी उठे और मेरे सामने आ खड़े हुए। एक बार फिर उन्होंने सिर से पैर तक मुझे देखा, मानो तौला और फिर बोले, "ठीक है।" फिर बैठते हुए उन्होंने मुझे भी बैठने को कहा। मैं बैठ गया तो मानो स्वगत-से स्वर में उन्होंने कहा, "डौल तो रामबिलास जैसा ही है।"

रामविलास (डॉ. रामविलास शर्मा) पर उनके गहरे स्नेह की बात मैं जानता था, इसलिए उनकी बात का अर्थ मैंने यही लगाया कि और किसी क्षेत्र में न सही, एक क्षेत्र में तो निरालाजी का अनुमोदन मुझे मिल गया है। मैंने यह भी अनुमान किया कि मेरे लेख की 'रिपोर्टें' अभी उन तक नहीं पहुँची या पहुँचायी गयी हैं।

निरालाजी सामान्य शिष्टाचार की बातें करते रहे—क्या करता हूँ, कैसे आना हुआ आदि। बीच में उग्रजी ने एकाएक गिलास की ओर इशारा करते हुए पूछा, "लोगे ?" मैंने सिर हिला दिया तो फिर कुछ चिढ़ाते हुए स्वर में बोले, "पानी नहीं है, शराब है, शराब।"

मैंने कहा, "समझ गया, लेकिन मैं नहीं लेता।"

निरालाजी के साथ फिर इधर-उधर की बातें होती रहीं। कविता की बात न उठाना मैंने भी श्रेयस्कर समझा।

थोड़ी देर बाद उग्रजी ने फिर कहा, "जानते हो, यह क्या है ? शराब है, शराब।"

अपनी अनुभवहीनता के बावजूद तब भी इतना तो मैं समझ ही सकता था कि उग्रजी के इस आक्रामक रवैये का कारण वह आलोचना और भर्त्सना ही है जो उन्हें वर्षों से मिलती रही है। लेकिन उसके कारण वह मुझे चुनौती दें और मैं उसे मानकर अखाड़े में उतरूँ, इसका मुझे कोई कारण नहीं दीखा। यह भी नहीं कि मेरे जानते

शराब पीने का समय शाम का होता, दिन के ग्यारह बजे का नहीं! मैंने शान्त स्वर में कहा, "तो क्या हुआ, उग्रजी, आप सोचते हैं कि शराब के नाम से मैं डर जाऊँगा ? देश में बहुत से लोग शराब पीते हैं।"

निरालाजी केवल मुस्कुरा दिये, कुछ बोले नहीं। थोड़ी देर बाद मैं विदा लेने को उठा तो उन्होंने कहा, "अबकी बार मिलोगे तो तुम्हारी रचना सुनेंगे।"

मैंने खैर मनायी कि उन्होंने तत्काल कुछ सुनाने को नहीं कहा, "निरालाजी, मैं तो यही आशा करता हूँ कि अबकी बार आपसे कुछ सुनने को मिलेगा।"

आशा मेरी ही पूरी हुई : इसके बाद दो-तीन बार निरालाजी के दर्शन ऐसे ही अवसरों पर हुए जब उनकी कविता सुनने को मिली। ऐसी स्थिति नहीं बनी कि उन्हें मुझसे कुछ सुनने की सूझे और मैंने इसमें अपनी कुशल ही समझी।

इसके बाद की जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उससे पहले निरालाजी के काव्य के विषय में मेरा मन पूरी तरह बदल चुका था। वह परिवर्तन कुछ नाटकीय ढंग से ही हुआ। शायद कुछ पाठकों के लिए यह भी आश्चर्य की बात होगी कि वह उनकी 'जुही की कली' अथवा 'राम की शक्तिपूजा' पढ़कर नहीं हुआ, उनका 'तुलसीदास' पढ़कर हुआ। अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उससे भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवन्त चलचित्र देख रहा हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिनमें एक रसिक हृदय बोलता है। विरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप से अवतरित हुई हो। 'तुलसीदास' मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है। उसे पहली ही बार पढ़ा तो कई बार पढ़ा। मेरी बात में जो विरोधाभास है वह बात को स्पष्ट ही करता है। 'तुलसीदास' के इस आविष्कार के बाद सम्भव नहीं था कि मैं निराला की अन्य सभी रचनाएँ फिर से न पढ़ूँ, 'तुलसीदास' के बारे में अपनी धारणा को अन्य रचनाओं की कसौटी पर कसकर न देखूँ।

अगली जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उसकी पृष्ठभूमि में कवि निराला के प्रति यह प्रगाढ़ सम्मान ही था। काल की दृष्टि से यह खासा व्यतिक्रम है क्योंकि जिस भेंट की बात मैं कर चुका हूँ, वह सन् '36 में हुई थी और यह दूसरी भेंट सन् '51 के ग्रीष्म में। बीच के अन्तराल में अनेक बार अनेक स्थलों पर उनसे मिलना हुआ था और वह एक-एक, दो-दो दिन मेरे यहाँ रह भी चुके थे, लेकिन

उस अन्तराल की बात बाद में करूँगा।

मैं इलाहाबाद छोड़कर दिल्ली चला आया था, लेकिन दिल्ली में अभी ऐसा कोई काम नहीं था कि उससे बँधा रहूँ; अकसर पाँच-सात दिन के लिए इलाहाबाद चला जाता था। निरालाजी तब दारागंज में रहते थे। मानसिक विक्षेप कुछ बढ़ने लगा था और कभी-कभी वह बिलकुल ही बहकी हुई बातें करते थे, लेकिन मेरा निजी अनुभव यही था कि काफ़ी देर तक वह बिलकुल संयत और सन्तुलित विचार-विनिमय कर लेते थे; बीच-बीच में कभी बहकते भी तो दो-चार मिनट में ही फिर लौट आते थे। मैं शायद उनकी विक्षिप्त स्थिति की बातों को भी सहज भाव से ले लेता था, या बहुत गहरे में समझता था कि जीनियस और पागलपन के बीच का पर्दा काफ़ी झीना होता है—कि निराला का पागलपन 'जीनियस का पागलपन' है, इसीलिए वह भी सहज ही प्रकृतावस्था में लौट आते थे। इतना ही था कि दो-चार व्यक्तियों और दो-तीन संस्थाओं के नाम मैं उनके सामने नहीं लेता था और अँग्रेज़ी का कोई शब्द या पद अपनी बात में नहीं आने देता था—क्योंकि यह मैं लक्ष्य कर चुका था कि इन्हीं से उनके वास्तविकता बोध की गाड़ी पटरी से उतर जाती थी।

उस बार 'सुमन' (शिवमंगल सिंह) भी आए हुए थे और मेरे साथ ही ठहरे थे। मैं निरालाजी से मिलने जानेवाला था और 'सुमन' भी साथ चलने को उत्सुक थे। निश्चय हुआ कि सवेरे-सवेरे ही निरालाजी से मिलने जाया जाएगा—वही समय ठीक रहेगा। लेकिन सुमनजी को सवेरे तैयार होने में बड़ी कठिनाई होती है। पलंग-चाय, पूजा-पाठ और सिंगार-पट्टी में नौ बज ही जाते हैं और उस दिन भी बज गये। हम दारागंज पहुँचे तो प्राय: दस बजे का समय था।

निरालाजी अपने बैठके में नहीं थे। हम लोग वहाँ बैठ गये और उनके पास सूचना चली गयी कि मेहमान आये हैं। निरालाजी उन दिनों अपना भोजन स्वयं बनाते थे और उस समय रसोई में ही थे। कोई दो मिनट बाद उन्होंने आकर बैठके में झाँका और बोले, "अरे तुम !" और तत्काल ओट हो गये।

सुमनजी तो रसोई में खबर भिजवाने के लिए मेरा पूरा नाम बताने चले गये थे, लेकिन अपने नाम की कठिनाई मैं जानता हूँ इसीलिए मैंने संक्षिप्त सूचना भिजवायी थी कि 'कोई मिलने आये हैं'। क्षणभर की झाँकी में हमने देख लिया कि निरालाजी केवल कौपीन पहने हुए थे। थोड़ी देर बाद आये तो उन्होंने तहमद लगा ली थी और कन्धे पर अँगोछा डाल लिया था।

बातें होने लगीं। मैं तो बहुत कम बोला। यों भी कम बोलता और इस समय यह देखकर कि निरालाजी बड़ी सन्तुलित बातें कर रहे हैं मैंने चुपचाप सुनना ही ठीक समझा। लेकिन सुमनजी और चुप रहना? फिर वह तो निराला को प्रसन्न देखकर उन्हें और भी प्रसन्न करना चाह रहे थे, इसलिए पूछ बैठे, "निरालाजी,

आजकल आप क्या लिख रहे हैं?''

यों तो किसी भी लेखक को यह प्रश्न एक मूर्खतापूर्ण प्रश्न जान पड़ता है। शायद सुमन से कोई पूछे तो उन्हें भी ऐसा ही लगे। फिर भी न जाने क्यों लोग यह प्रश्न पूछ बैठते हैं।

निराला ने एकाएक कहा, ''निराला, कौन निराला? निराला तो मर गया। निराला इज़ डेड।''

अँग्रेज़ी का वाक्य सुनकर मैं डरा कि अब निराला बिलकुल बहक जाएँगे और अँग्रेज़ी में न जाने क्या-क्या कहेंगे, लेकिन सौभाग्य से ऐसा हुआ नहीं। हमने अनुभव किया कि निराला जो बात कह रहे हैं वह मानो सच्चे अनुभव की ही बात है : जिस निराला के बारे में सुमन ने प्रश्न पूछा था वह सचमुच उनसे पीछे कहीं छूट गया है। निराला ने मुझसे पूछा, ''तुम कुछ लिख रहे हो ?''

मैंने टालते हुए कहा, ''कुछ-न-कुछ तो लिखता ही हूँ, लेकिन उससे सन्तोष नहीं है—वह उल्लेख करने लायक भी नहीं है।''

इसके बाद निरालाजी ने जो चार-छ: वाक्य कहे उनसे मैं आश्चर्यचकित रह गया। उन्हें याद करता हूँ तो आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि हिन्दी काव्य-रचना में जो परिवर्तन हो रहा था, उसकी इतनी खरी पहचान निराला को थी—उस समय के तमाम हिन्दी आचार्यों से कहीं अधिक सही और अचूक—और वह तब जब कि ये सारे आचार्य उन्हें कम-से-कम आधा विक्षिप्त तो मान ही रहे थे।

निराला ने कहा, ''तुम जो लिखते हो वह मैंने पढ़ा है।'' (इस पर सुमन ने कुछ उमँगकर पूछना चाहा था, ''अरे निरालाजी, आप अज्ञेय का लिखा हुआ भी पढ़ते हैं?'' मैंने पीठ में चिकोटी काटकर सुमन को चुप कराया, और अचरज यह कि वह चुप भी हो गये—शायद निराला की बात सुनने का कुतूहल जयी हुआ) निराला का कहना जारी रहा, ''तुम क्या करना चाहते हो वह हम समझते हैं।'' थोड़ी देर रुककर और हम दोनों को चुपचाप सुनते पाकर उन्होंने बात जारी रखी। ''स्वर की बात तो हम भी सोचते थे। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोलचाल की भाषा का स्वर रहता है।'' वह फिर थोड़ा रुक गये; सुमन फिर कुछ कहने को कुलबुलाए और मैंने उन्हें फिर टोक दिया। ''ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है और हम सब समझते हैं। लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्त्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।'' मैं फिर भी चुप रहा, सुनता रहा। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य की बात थी कि निराला इस अन्तर को इतना स्पष्ट पहचानते हैं। बड़ी तेजी से मेरे मन के सामने उनकी 'गीतिका' की भूमिका और फिर सुमित्रानन्दन पन्त के 'पल्लव' की भूमिका दौड़ गयी थी। दोनों ही कवियों ने अपने प्रारम्भिक

काल की कविता की पृष्ठभूमि में स्वर का विचार किया था, यद्यपि बिलकुल अलग-अलग ढंग से। उन भूमिकाओं में भी यह स्पष्ट था कि निराला के सामने संगीत का स्वर है, कविता के स्वर और ताल का विचार वह संगीत की भूमि पर खड़े होकर ही करते हैं; जबकि स्वर और स्वर-मात्रा के विचार में पन्त के सामने संगीत का नहीं, भाषा का ही स्वर था और सांगीतिकता के विचार में भी वह व्यंजन-संगीत से हटकर स्वर-संगीत को वरीयता दे रहे थे। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पल्लव' के पन्त, 'गीतिका' के निराला से आगे या अधिक 'आधुनिक' थे। लेकिन जिस भेंट का उल्लेख मैं कर रहा हूँ उसमें निराला का स्वर-संवेदन कहीं आगे था जबकि उस समय तक पन्त अपनी प्रारम्भिक स्थापनाओं से न केवल आगे नहीं बढ़े थे बल्कि कुछ पीछे ही हटे थे (और फिर पीछे ही हटते गये)। उस समय का नये से नया कवि भी मानने को बाध्य होता कि अगर कोई पाठक उसके स्वर से स्वर मिलाकर उसे पढ़ सकता है तो वह आदर्श सहृदय पाठक निराला ही है। एक पीढ़ी का महाकवि परवर्ती पीढ़ी के काव्य को इस तरह समझ सके, परवर्ती कवि के लिए इससे अधिक आप्यायित करनेवाली बात क्या हो सकती है।

सुमन ने कहा, "निरालाजी, अब इसी बात पर अपना एक नया गीत सुना दीजिए।"

मैंने आशंका-भरी आशा के साथ निराला की ओर देखा। निराला ने अपनी पुरानी बात दोहरा दी, "निराला इज़ डेड। आई एम नॉट निराला!"

सुमन कुछ हार मानते हुए बोले, "मैंने सुना है, आपकी नयी पुस्तक आयी है 'अर्चना'। वह आपके पास है—हमें दिखाएँगे ?"

निराला ने एक वैसे ही खोये हुए स्वर में कहा, "हाँ, आयी तो है, देखता हूँ।" वह उठकर भीतर गये और थोड़ी देर में पुस्तक की दो प्रतियाँ ले आये। बैठते हुए उन्होंने एक प्रति सुमन की ओर बढ़ायी जो सुमन ने ले ली। दूसरी प्रति निराला ने दूसरे हाथ से उठायी, लेकिन मेरी ओर बढ़ायी नहीं, उसे फिर अपने सामने रखते हुए बोले, "यह तुमको दूँगा।"

सुमन ने ललककर कहा, "तो यह प्रति मेरे लिए है ? तो इसमें कुछ लिख देंगे ?"

निराला ने प्रति सुमन से ले ली और आवरण खोलकर मुखपृष्ठ की ओर थोड़ी देर देखते रहे। फिर पुस्तक सुमन को लौटाते हुए बोले, "नहीं, मैं नहीं लिखूँगा। वह निराला तो मर गया।"

सुमन ने पुस्तक ले ली, थोड़े-से हतप्रभ तो हुए, लेकिन यह तो समझ रहे थे कि इस समय निराला को उनकी बात से डिगाना सम्भव नहीं होगा।

निराला फिर उठकर भीतर गये और कलम लेकर आये। दूसरी प्रति उन्होंने

उठायी, खोलकर उसके पुश्ते पर कुछ लिखने लगे। मैं साँस रोककर प्रतीक्षा करने लगा। मन तो हुआ कि जरा झुककर देखूँ कि क्या लिखने जा रहे हैं, लेकिन अपने को रोक लिया। कलम की चाल से मैंने अनुमान किया कि कुछ अँग्रेज़ी में लिख रहे हैं।

दो-तीन पंक्तियाँ लिखकर उनका हाथ थमा। आँख उठाकर एक बार उन्होंने मेरी ओर देखा और फिर कुछ लिखने लगे। इसी बीच सुमन ने कुछ इतराते हुए-से स्वर में कहा, ''निरालाजी, इतना पक्षपात ? मेरे लिए तो आपने कुछ लिखा नहीं और...''

निरालाजी ने एक-दो अक्षर लिखे थे; लेकिन सुमन की बात पर चौंककर रुक गये। उन्होंने फिर कहा, ''नहीं, नहीं, निराला तो मर गया। देयर इज नो निराला। निराला इज़ डेड।''

अब मैंने देखा कि पुस्तक में उन्होंने अँग्रेज़ी में नाम के पहले दो अक्षर लिखे थे—एन, आई, लेकिन अब उसके आगे दो बिन्दियाँ लगाकर नाम अधूरा छोड़ दिया, नीचे एक लकीर खींची और उसके नीचे तारीख डाली 18-5-51 और पुस्तक मेरी ओर बढ़ा दी।

पुस्तक मैंने ले ली। तत्काल खोलकर पढ़ा नहीं कि उन्होंने क्या लिखा है। निराला ने इसका अवसर भी तत्काल नहीं दिया। खड़े होते हुए बोले : ''तुम लोगों के लिए कुछ लाता हूँ।''

मैंने बात की व्यर्थता जानते हुए कहा, ''निरालाजी, हम लोग अभी नाश्ता करके चले थे, रहने दीजिए।'' और इसी प्रकार सुमन ने भी जोड़ दिया, ''बस, एक गिलास पानी दे दीजिए।''

''पानी भी मिलेगा,'' कहते हुए निराला भीतर चले गये। हम दोनों ने अर्थभरी दृष्टि से एक-दूसरे को देखा। मैंने दबे स्वर में कहा, ''इसीलिए कहता था कि सवेरे जल्दी चलो।''

फिर मैंने जल्दी से पुस्तक खोलकर देखा कि निरालाजी ने क्या लिखा था। कृतकृत्य होकर मैंने पुस्तक फुर्ती से बन्द की तो सुमन ने उतावली से कहा, ''देखें, देखें...''

मैंने निर्णयात्मक ढंग से पुस्तक घुटने के नीचे दबा ली, दिखायी नहीं। घर पहुँचकर भी देखने का काफ़ी समय रहेगा।

इस बीच निराला एक बड़ी बाटी में कुछ ले आये और हम दोनों के बीच बाटी रखते हुए बोले, ''लो, खाओ, मैं पानी लेकर आता हूँ,'' और फिर भीतर लौट गये।

बाटी में कटहल की भुजिया थी। बाटी में ही सफाई से उसके दो हिस्से कर

दिये गये थे।

निराला के लौटने तक हम दोनों रुके रहे। यह क्लेश हम दोनों के मन में था कि निरालाजी अपने लिए जो भोजन बना रहे थे वह सारा-का-सारा उन्होंने हमारे सामने परोस दिया और अब दिन-भर भूखे रहेंगे। लेकिन मैं यह भी जानता था कि हमारा कुछ भी कहना व्यर्थ होगा—निराला का आतिथ्य ऐसा ही जालिम आतिथ्य है। सुमन ने कहा, "निरालाजी, आप..."

"हम क्या?"

"निरालाजी, आप नहीं खाएँगे तो हम भी नहीं खाएँगे।"

निरालाजी ने एक हाथ सुमन की गर्दन की ओर बढ़ाते हुए कहा, "खाओगे कैसे नहीं? हम गुद्दी पकड़कर खिलाएँगे।"

सुमन ने फिर हठ करते हुए कहा, "लेकिन, निरालाजी, यह तो आपका भोजन था। अब आप क्या उपवास करेंगे ?"

निराला ने स्थिर दृष्टि से सुमन की ओर देखते हुए कहा, "तो भले आदमी, किसी से मिलने जाओ तो समय-असमय का विचार भी तो करना होता है।" और फिर थोड़ा घुड़ककर बोले : "अब आये हो तो भुगतो।"

हम दोनों ने कटहल की वह भुजिया किसी तरह गले से नीचे उतारी। बहुत स्वादिष्ट बनी थी, लेकिन उस समय स्वाद का विचार करने की हालत हमारी नहीं थी।

जब हम लोग बाहर निकले तो सुमन ने खिन्न स्वर में कहा, "भाई, यह तो बड़ा अन्याय हो गया।"

मैंने कहा, "इसीलिए मैं कल से कह रहा था कि सवेरे जल्दी चलना है, लेकिन आपको तो सिंगार-पट्टी से और कोल्ड-क्रीम से फ़ुरसत मिले तब तो! नाम 'सुमन' रख लेने से क्या होता है अगर सवेरे-सवेरे सहज खिल भी न सकें!"

यों हम लोग लौट आये। घर आकर फिर *अर्चना* की मेरी प्रति खोलकर हम दोनों ने पढ़ा। निराला ने लिखा था :

To Ajneya,
the Poet, Writer and Novelist
in the foremost rank.

Ni...
18.5.51

सन् '36 और सन् '51 के बीच, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, निरालाजी से अनेक बार मिलन हुआ। उनके 'तुलसीदास' का पहला प्रकाशन 1938 में हुआ था और

मैंने उनकी रचनाओं के बारे में अपनी धारणा के आमूल परिवर्तन की घोषणा रेडियो से जिस समीक्षा में की थी उसका प्रसारण शायद 1940 के आरम्भ में हुआ था। मेरठ में 'हिन्दी साहित्य परिषद्' के समारोह के लिए मैंने उन्हें आमन्त्रित किया तो आमन्त्रण उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और मेरठ के प्रवास में वह कुछ समय श्रीमती होमवती देवी के यहाँ और कुछ समय मेरे यहाँ ठहरे। होमवतीजी उस समय परिषद् की अध्यक्षा भी थीं और निरालाजी को अपने यहाँ ठहराने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। जिस बँगले में वह रहती थीं उसके अलावा एक और बँगला उनके पास था जो उन दिनों आधा खाली था और निरालाजी के वहीं ठहरने की व्यवस्था की गयी। वह बँगला होमवतीजी के आवास से सटा हुआ होकर भी अलग था, इसलिए सभी आश्वस्त थे कि अतिथि अथवा आतिथेय को कोई असुविधा नहीं होगी—यों थोड़ी चिन्ता भी थी कि होमवतीजी के परम वैष्णव संस्कार निरालाजी की आदतों को कैसे सँभाल पाएँगे। मेरा घर वहाँ से तीन-एक फर्लांग दूर था और छोटा भी था; सुमन, प्रभाकर माचवे और भारतभूषण अग्रवाल को मेरे यहाँ ठहराने का निश्चय हुआ था।

होमवतीजी ने श्रद्धापूर्वक निरालाजी को ठहरा तो लिया, लेकिन दोपहर का भोजन उन्हें कराने के बाद वह दौड़ी हुई मेरे यहाँ आयीं। "भाई जी, शाम का भोजन क्या होगा ? लोग तो कह रहे हैं कि निरालाजी तो शाम को शराब के बिना भोजन नहीं करते और भोजन भी माँस के बिना नहीं करते। हमारे यहाँ तो यह सब नहीं चल सकता। और फिर अगर हम उधर अलग इन्तजाम करें भी तो लाएगा कौन और सँभालेगा कौन ?"

यह कठिनाई होने वाली है इसका हमें अनुमान तो था, लेकिन होमवतीजी के उत्साह और उनकी स्नेहभरी आदेशना के सामने कोई बोला नहीं था।

उन्हें तो किसी तरह समझा-बुझाकर लौटा दिया गया कि हम लोग कुछ व्यवस्था कर लेंगे, उन्हें इसमें नहीं पड़ना होगा। संयोजकों में शराब से परिचित कोई न हो ऐसा तो नहीं था। शाम को एक अद्धा निरालाजी की सेवा में पहुँचा दिया गया और निश्चय हुआ कि भोजन कराने भी उन्हें सदर के होटल में ले जाया जाएगा।

इधर हम लोग शाम का भोजन करने बैठे ही थे कि होटल से लौटते हुए निरालाजी मेरे यहाँ आ गये। (मैं दूसरी मंजिल पर रहता था।) पता लगा कि उन्होंने ही सीधे बँगले पर न लौटकर मेरे यहाँ आने की इच्छा प्रकट की थी। सुरूर की जिस हालत में वह थे उससे मैंने यह अनुमान किया कि ऐसा निरालाजी ने इसीलिए किया होगा कि वह उस हालत में होमवतीजी के सामने नहीं पड़ना चाहते थे। (मैंने दूसरे अवसरों पर भी लक्ष्य किया कि ऐसे मामलों में उनका शिष्ट आचरण का संस्कार बड़ा प्रबल रहता था।) लेकिन यहाँ पर भी मेरी बहिन अतिथियों को भोजन करा रही थीं, इससे निरालाजी को थोड़ा असमंजस हुआ। वह चुपचाप एक तरफ एक

खाट पर बैठ गये। हम लोगों ने भोजन जल्दी समाप्त करके उनका मन बहलाने की कोशिश की, लेकिन वह चुप ही रहे। एक-आध बार 'हूँ' से अधिक कुछ बोले नहीं। उनसे जो बात करता उसकी ओर एकटक देखते रहते मानो कहना चाहते हों, "हम जानते हैं कि हमें बहलाने की कोशिश की जा रही है, लेकिन हम बहलेंगे नहीं।"

एकाएक निरालाजी ने कहा, "सुमन, इधर आओ।" सुमनजी उनके समीप गये तो निराला ने उनकी कलाई पकड़ ली और कहा, "चलो।"

"कहाँ, निरालाजी ?"

"घूमने।" सुमन ने बेबसी से मेरी ओर देखा। वह भी जानते थे कि छुटकारा नहीं है और मैं भी समझ गया कि बहस व्यर्थ होगी। नीचे उतरकर मैं एक बढ़िया-सा ताँगा बुला लाया। निरालाजी सुमन के साथ उतरे और उस पर आगे सवार होने लगे तो ताँगेवाले ने टोकते हुए कहा, "सरकार, घोड़ा दब जाएगा—आप पीछे बैठें और आपके साथी आगे बैठ जाएँगे।"

निरालाजी क्षण ही भर ठिठके। फिर अगली तरफ़ ही सवार होते हुए बोले, "ये पीछे बैठेंगे, ताँगा दबाऊ होता है तो तुम भी पीछे बैठकर चलाओ। नहीं तो रास हमें दो—हम चलाएँगे।"

ताँगेवाले ने एक बार सबकी ओर देखकर हुक्म मानना ही ठीक समझा। वह भी पीछे बैठ गया, रास उसने नहीं छोड़ी। पूछा, "कहाँ चलना होगा, सरकार ?"

निरालाजी ने उसी आज्ञापना भरे स्वर में कहा, "देखो, दो घंटे तक यह सवाल हमसे मत पूछना। जहाँ तुम चाहो लेते चलो। अच्छी सड़कों पर सैर करेंगे। दो घंटे बाद इसी जगह पहुँचा देना, पैसे पूरे मिलेंगे।"

ताँगेवाले ने कहा, 'सरकार' और ताँगा चल पड़ा। मैं दो घंटे के लिए निश्चिन्त होकर ऊपर चला आया।

रात के लगभग बारह बजे ताँगा लौटा और सुमन अकेले ऊपर आये। निरालाजी देर से लौटने पर वहीं सो सकते हैं, यह सोचकर उनके लिए एक बिस्तर और लगा दिया गया था, लेकिन सुमन ने बताया कि निरालाजी सोएँगे तो वहीं जहाँ ठहरे हैं क्योंकि होमवतीजी से कहकर नहीं आये थे। लिहाजा मैंने उसी ताँगे में उन्हें बँगले पर पहुँचा दिया और टहलता हुआ पैदल लौट आया।

अगले दिन सवेरे ही होमवतीजी के यहाँ देखने गया कि सब कुछ ठीक-ठाक तो है, तो होमवतीजी ने अलग ले जाकर मुझे कहा, "भैया, तुम्हारे कविजी ने कल शाम को बाहर जो किया हो, यहाँ तो बड़े शान्त भाव से, शिष्ट ढंग से रहते हैं।"

मैंने कहा, "चलिए, आप निश्चिन्त हुईं तो हम भी निश्चिन्त हुए। यों डरने की कोई बात थी नहीं।"

दूसरे दिन मैं शाम से ही निरालाजी को अपने यहाँ ले आया। भोजन उन्होंने वहीं किया और प्रसन्न होकर कई कविताएँ सुनायीं। काश कि उन दिनों टेप रिकार्डर होते—'राम की शक्तिपूजा' अथवा 'जागो फिर एक बार' अथवा 'बादल राग' के वे वाचन परवर्ती पीढ़ियों के लिए संचित कर दिये गये होते। प्राचीन काल में काव्य—वाचक जैसे भी रहे हों, मेरे युग में तो निराला जैसा काव्य-वाचक दूसरा नहीं हुआ।

रघुवीर सहाय ने लिखा है, "मेरे मन में पानी के कई संस्मरण हैं।" निराला के काव्य को अजस्र निर्झर मानकर मैं भी कह सकता हूँ कि 'मेरे मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं— अजस्र बहते पानी के, फिर वह बहना चाहे मूसलाधार वृष्टि का हो, चाहे धुआँधार जल-प्रपात का, चाहे पहाड़ी नदी का, क्योंकि निराला जब कविता पढ़ते थे तब वह ऐसी ही वेगवती धारा-सी बहती थी। किसी रोक की कल्पना भी तब नहीं की जा सकती थी—सरोवर-सा ठहराव उनके वाचन में अकल्पनीय था।'

और क्योंकि पानी के अनेक संस्मरण हैं, इसलिए उन्हें दोहराऊँगा नहीं।

उन्हीं दिनों के आसपास उनसे और भी कई बार मिलना हुआ; दिल्ली में वह मेरे यहाँ आये थे और दिल्ली में एकाधिक बार उन्होंने मेरे अनुरोध किये बिना ही सहज उदारतावश अपनी नयी कविताएँ सुनायीं। फिर इलाहाबाद में भी जब-तब मिलना होता; पर कविता सुनने का ढंग का अवसर केवल एक बार हुआ क्योंकि इलाहाबाद में धीरे-धीरे एक अवसाद उन पर छाता गया था जो उन्हें अपने परिचितों के बीच रहते भी उनसे अलग करता जा रहा था। पहले भी उन्होंने गाया था :

मैं अकेला
देखता हूँ आ रही
मेरी दिवस की सान्ध्य वेला।

जानता हूँ नदी झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका हूँ
हँस रहा यह देख
कोई नहीं भेला।

अथवा

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत-सा तन रह गया है
... ...
बह रही है हृदय पर केवल अमा

मैं अलक्षित रहूँ, यह
कवि कह गया है।

लेकिन इन कविताओं के अकेलेपन अथवा अवसाद का स्वर एकसंचारी भाव का प्रतिबिम्ब है जिससे दूसरे भी कवि परिचित होंगे। इसके अनेक वर्ष बाद के,

बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु!

का अवसाद मानो एक स्थायी मनोभाव है। पहले का स्वर केवल एक तात्कालिक अवस्था को प्रकट करता है जैसे और भी पहले की 'सखि वसन्त आया' अथवा 'सुमन भर न लिये, सखि वसन्त गया' आदि कविताएँ प्रतिक्रिया अथवा भावदशा को दर्शाती है। लेकिन 'अर्चना' और उसके बाद की कविताओं में हताश अवसाद का जो भाव छाया हुआ दीखता है वह तत्कालीन प्रतिक्रिया का नहीं, जीवन के दीर्घ प्रत्यवलोकन का परिणाम है जिससे निराला जब-तब उबरते दीखते हैं तो अपने भक्ति-गीतों में ही :

तुम ही हुए रखवाल
तो उसका कौन न होगा।

अथवा

वे दुख के दिन
काटे हैं जिसने
गिन-गिनकर
पल-छिन, तिन-तिन
आँसू की लड़ के मोती क
हार पिरोये
गले डालकर प्रियतम के
लखने को शशि मुख
दु:खनिशा में
उज्ज्वल, अमलिन।

कह नहीं सकता, इस स्थायी भाव के विकास में कहाँ तक महादेवीजी द्वारा स्थापित साहित्यकार संसद के उनके प्रवास ने योग दिया जिसमें निराला के सम्मान में दावतें भी हुईं तो मानो ऐसी ही जो उन्हें हिन्दी कवि-समाज के निकट न लाकर उससे थोड़ा और अलग ही कर गयीं। संसद के गंगा तटवर्ती बँगले को छोड़कर ही निरालाजी फिर दारागंज की अपनी पुरानी कोठरी में चले गये; वहीं अवसाद और भक्ति का यह मिश्र स्वर मुखरतर होता गया। और वहीं गहरे धुँधलके और तीखे प्रकाश के बीच भँवराते हुए निराला उस स्थिति की ओर बढ़ते गये जहाँ एक ओर

वह कह सकते थे, "कौन निराला ? निराला इज़ डेड!" और दूसरी ओर दृढ़ विश्वासपूर्वक 'हिन्दी के सुमनों के प्रति' सम्बोधित होकर एक आहत किन्तु अखंड आत्मविश्वास के साथ यह भी कह सकते थे, "मैं ही वसन्त का अग्रदूत"। सचमुच वसन्त पंचमी के दिन जन्म लेनेवाले निराला हिन्दी काव्य के वसन्त के अग्रदूत थे। लेकिन अब जब वह नहीं हैं तो उनकी कविताएँ बार-बार पढ़ते हुए मेरा मन उनकी इस आत्मविश्वास भरी उक्ति पर न अटककर उनके 'तुलसीदास' की कुछ पंक्तियों पर ही अटकता है जहाँ मानो उनका कवि भवितव्यदर्शी हो उठता है—उस भवितव्य को देख लेता है जो खंडकाव्य के नायक तुलसीदास का नहीं, उसके रचयिता निराला का ही है :

यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुक्त होएँगी

... ...

तम के अमार्ज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश धार
जग वीणा के स्वर के बहार रे जागो;
इस पर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान—
दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो।

इस अशेष छविधर कवि ने दान कभी नहीं माँगा, पर विश्व को दिया—गीत दिया, पर उसके लिए भी रुका नहीं, बाँटते-बाँटते ही तिरोधान हो गया : मैं अलक्षित रहूँ, यह कवि कह गया है।

'ऋण-स्वीकारी हूँ'

यों तो किसी भी युग में कवि का बहुश्रुत होना आवश्यक माना जाता रहा है, पर आधुनिक काल में कोई विरला ही भाग्यवान होगा जिसने जो कुछ पाया है केवल एक ही भाषा के माध्यम से पाया हो, फिर वह भाषा चाहे देव-भाषा ही क्यों न हो। मैं ऐसे भाग्यवानों में नहीं हूँ। बल्कि ऐसा अबोध भी हूँ कि नाना भारतीय और अभारतीय भाषाओं से जो कुछ प्रेरणा मैंने पायी है उसे सहर्ष स्वीकार भी करता हूँ। मेरा साहित्य का अध्ययन बहुत नियमित नहीं रहा, किसी पद्धति के अनुसार नहीं चला, कुल मिलाकर इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ, यद्यपि इससे कुछ कवियों से मेरा उतना, या वैसा, या उतना पुराना परिचय नहीं हो पाया जितना होना चाहिए। हर कवि की रचना में 'मौलिक' और 'परम्परा-प्राप्त' का मिश्रण—या कह लीजिए समन्वय—रहता ही है; पर परम्परा से मैंने जो ग्रहण किया वह क्योंकि समकालीन अनेक कवियों से कुछ भिन्न रहा, इसलिए उसका प्रभाव भी कुछ भिन्न पड़ा। फलत: दूसरों का अवदान भी एक मौलिकता के रूप में प्रकट हुआ—यह दूसरी बात है कि कुछ लोगों को यह रुची तो कुछ ने भर पेट गालियाँ भी दीं।

संस्कृतज्ञ पिता के प्रभाव से मेरी शिक्षा पहले संस्कृत से आरम्भ हुई : वह भी पुराने ढंग से—यानी 'अष्टाध्यायी' रटकर। पक्का नहीं कह सकता, लेकिन मेरा ख्याल है कि यह रटन्त अक्षर-ज्ञान से भी पहले शुरू हो गयी थी। जो हो, सबसे पहले और पुराने काव्य-प्रभावों का स्मरण करने लगूँ तो संस्कृत श्लोकों की ध्वनियाँ ही मन में गूँज जाती हैं : 'शिव महिम्नस्तोत्र' का मन्द्र गम्भीर शिखरिणी छन्द, पिता के भारी और ओजस्वी कंठ-स्वर में गाये हुए 'शार्दूलविक्रीडित' के छन्द, जिनमें कुछ उन्होंने मुझे भी कंठस्थ कराये थे और जो अभी तक अविस्मृत हैं, जैसे सरस्वती वन्दना का श्लोक

या कुन्देन्दु-तुषार-हार-धवला, या श्वेत वस्त्रावृता

तुलसी की शिव-वन्दना का

वामांके च विभाति भूधर-सुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्

और राम-वन्दना का

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण-शान्तिप्रदम्।
ब्रह्मा-शम्भु-फणीन्द्र सेव्यमनिशं वेदान्त वेद्यं विभुम्।

तब नहीं जानता था कि यह श्लोक कहाँ का या किसका है; 'रामायण' को मैं उसके एकश्लोकी रूप में जानता था। वाल्मीकि रामायण का बालकांड और अयोध्याकांड पिता से बाद में पढ़ा था, पर तुलसीदास रामायण तो बहुत पीछे तब पढ़ी जब अपनी शिक्षा की त्रुटियाँ पूरी करने का व्यवस्थित प्रयत्न करने लगा।

असल में पिताजी का विश्वास था—उस काल में बहुत-से लोग ऐसा मानते थे—कि पढ़ना हो तो संस्कृत-फारसी पढ़े; हिन्दी का क्या है, वह तो अपने-आप आ जाएगी। आज मैं यह तो न मानूँगा कि हिन्दी विधिवत् पढ़े बिना आ जाती है; पर यह मानता हूँ कि उसे ठीक जानने के लिए संस्कृत और फारसी दोनों जानना और उर्दू से परिचित होना आवश्यक है।

मैं वाल्मीकि के बाद कालिदास और राजा भोज की गाथाओं के द्वारा कालिदास के और कुछ अन्य संस्कृत कवियों के नामों से थोड़ा-बहुत परिचित होने ही लगा था कि सादी और हाफिज के नामों से भी परिचित हो गया, और फारसी के शेर तो नहीं पर कहावतें मुझे याद हो गईं।

और इसके बाद ही अँग्रेज़ी की बारी आयी। यद्यपि इसके बाद तो लगातार ही तीन-चार भाषाओं के प्रभाव साथ-साथ चलते रहे—और अभी तक मैं जितना हिन्दी काव्य पढ़ता हूँ कम-से-कम उतना ही हिन्दीतर भाषाओं का भी—पर उस समय तो एकदम ही अँग्रेज़ी साहित्य में डूब गया। लांगफेलो और टेनिसन से शुरू किया—उस वय में प्राय: इन्हीं से तो आरम्भ होता है!—पर प्रभाव टेनिसन का ही अधिक और स्थायी हुआ। मेरा पढ़ना एक-साथ ही व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोनों होता था—यानी किसके बाद कौन कवि पढ़ूँ यह तो नहीं सोचता था, पर जिस कवि को पढ़ता था उसकी सम्पूर्ण कृतियाँ लेकर एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़ जाता था! टेनिसन ऐसे कई बार पढ़ा : उसके प्रभाव में अँग्रेज़ी में लिखना भी शुरू किया। अभी मेरे पास कुछ कापियाँ पड़ी हैं जिन्हें देखकर अब हँस सकता हूँ : टेनिसन के अतुकान्त छन्दों की, एक शैली की, और एक सीमा तक उसके मानसिक झुकाव की ऐसी नकल अब यत्न करके भी नहीं कर सकता! लेकिन धीरे-धीरे परख बढ़ी, तब टेनिसन का बहुत-सा अंश छोड़ा और उसके प्रगीत ही मन में बसे रह गये—इनका सौन्दर्य आज भी स्मरण होते ही अभिभूत कर लेता है।

ब्रेक, ब्रेक, ब्रेक
ऑन दाइ कोल्ड ग्रे स्टोन्स, ओ सी,

अथवा

आस्क मी नो मोर

की कोटि के प्रगीत कम ही मिलते हैं।

अँग्रेज़ी में तो इसके बाद ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर से परिचित हुआ (मूल बांग्ला में ठाकुर पढ़ना बहुत पीछे की बात है) : ब्राउनिंग के ओज-भरे आशावाद और ठाकुर के आशा-भरे रहस्यवाद के सम्मिश्रण ने मेरे नये विकसते मन पर क्या प्रभाव डाला, यह सोचा जा सकता है। पर अँग्रेज़ी की परम्परा यहाँ सहसा टूटी : हिन्दी में पढ़ा

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?

और

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है
सूर्य-चन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।

... ...

करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की!

और सहसा एक नई आत्मीयता मिली—वह काव्यत्व में उतनी नहीं जितनी अपनी भाषा में—मानो सहसा अपना प्रतिबिम्ब दीख गया, और साथ ही यह भी दीख गया कि प्रतिबिम्ब दीखने के लिए आकाश नहीं चाहिए, पानी की बूँद में भी वह दीख जाता है...उसके बाद तो मैथिलीशरण गुप्त की जो रचना मिली पढ़ ही न ली बल्कि कापी में उतार ली—आरम्भिक काल की सरस्वती से कितनी कविताएँ ऐसे नकल की होंगी! उसके बाद ही हिन्दी में कुछ तुकबन्दी करना शुरू किया : अँग्रेजी में जहाँ कल्पना या भावना को लेकर चलता था, हिन्दी में वर्णनात्मक ही पहले लिखा। वह मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं है, और मेरी ओर से वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक कुछ कभी सामने नहीं आया है।[1]—खंडकाव्य लिखने की बरसों की साध अभी मन में ही है, फिर भी इस कारण से मैं गुप्तजी को अपना काव्य-गुरु मानता रहा—यह जानते हुए भी कि इस जानकारी से वही सबसे अधिक चौंकते!

मैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथ-वध और भारत-भारती का नाम तो इतना अधिक लिया गया है कि उसका उल्लेख करते भी झिझक होती है। केशों की कथा भी लगभग उतनी ही प्रसिद्ध है। इनके उद्धरण नितान्त अनावश्यक होंगे। पर इसी काल में और जिन कवियों ने मुझे प्रभावित किया उनका उल्लेख अवश्य करूँगा।

तुलसीदास कभी मुझे वैसे प्रिय नहीं हो सके जैसे कुछ अन्य भक्त कवि। तुलसी में मुझे न तो हृदय को विभोर करने वाला वह गुण मिला जो सूरदास के पदों में मिलता है, और न बुद्धि को आप्यायित कर देनेवाले वे तत्त्व जो कबीर के पदों में

1. जब लिखी थी तब यह बात सच थी; अब अपने को निरपराध नहीं मान सकता। यों अँग्रेज़ी में भी थोड़ा इतिवृत्तात्मक लिखा जरूर था—उसके बिना टेनिसन का अनुकरण पूरा कैसे होता ?—हाँ, प्रकाश में आने से वह बच गया या कि कहना चाहिए मैं बच गया!

मिलते हैं। और न अटपटी तन्मयता जो मीराबाई के भजनों में है।

तुलसी के भक्त इसे मेरा दुर्भाग्य कह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि मैं अष्टाध्यायी से आरम्भ करके यूरोपीय काव्य के रास्ते मैथिलीशरण गुप्त तक न आया होता, सीधे ढंग से वृन्द और रहीम और तुलसी-रामायण से आरम्भ करके चला होता, तो मेरी मनोरचना भी भिन्न होती। जो हो, मैं तो उनसे ईर्ष्या करके रह जाता हूँ जो तुलसी पढ़ते-पढ़ते विभोर हो जाते हैं। मुझे कुछ स्थल अच्छे लगते हैं, पर तुलसी से वैसी आत्मीयता नहीं होती; और जो अच्छे लगते हैं उनकी भी तुलना जब वाल्मीकि के उन्हीं प्रसंगों से करता हूँ तो मन आदि—कवि की प्रतिभा से ही अभिभूत होता है। और संस्कृत में फिर कालिदास की ओर मुड़ता हूँ, जिनका *रघुवंश* मेरा प्रिय ग्रन्थ रहा है। कालिदास ने बड़े साहस से *रामायण* की कथावस्तु को लेकर काव्य रचने की ठानी होगी, लेकिन *रघुवंश* में वह वाल्मीकि से प्रतिस्पर्धा करने से बच गये हैं; तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि राम-चरित को उन्होंने केवल एक अंश दिया है। *रघुवंश* के *अज-विलाप* अथवा *कुमारसम्भव* के पार्वती-तपस्या जैसे प्रसंगों का समकक्ष कुछ मैंने और किस कवि और भाषा में पाया है ? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता : वैसा कुछ मैंने अन्यत्र नहीं पढ़ा है...

समकालीन हिन्दी काव्य का भी गहरा प्रभाव मुझ पर पढ़ा। महादेवी वर्मा की कविताएँ और प्रसाद का 'आँसू' पढ़ा तो उसमें भी वह आविष्कार का-सा भाव था जो मैथिलीशरण गुप्त के 'स्वयमागत' से मिला था, पर यह मानो स्थायी न रहा। प्रसाद के 'आँसू' के कई अंश मुझे याद हैं, अब भी कभी अपने को उन्हें गुनगुनाते पाता हूँ :

> *इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती*
> *क्यों हाहाकार-स्वरों में वेदना असीम गरजती?*
>
> ... ...
>
> *आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी,*
> *टकराती बिलखाती-सी पगली-सी देती फिरी?*
>
> ... ...
>
> *किंजल्क-जाल हैं बिखरे उड़ता पराग है रूखा,*
> *क्यों स्नेह-सरोज हमारा विकसा मानस में सूखा!*

लेकिन अनन्तर पन्त और निराला ही घनिष्ट हो गये, और निराला को तो जब-जब पढ़ता हूँ मानो नया आविष्कार करता हूँ। शब्द पर उनका अद्वितीय अधिकार है :

> वर्ण चमत्कार
> एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।

निराला से और अनेक उद्धरण देने का मोह होता है : बादल राग का

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर।

राम की शक्तिपूजा का

रवि हुआ अस्त; ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
... ...
विच्छुरित-वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव—रावण-वारण—गतयुग्म प्रहर...

गीतों की पंक्तियाँ—

सुमन भर लिये, सखि ! वसन्त गया।

अथवा

स्नेह निर्झर बह गया है, मैं नहीं, कवि कह गया है।

अथवा—पर यह द्वार खोले देने पर बाढ़ रोकना कठिन हो जाएगा, संकेत करके रुक जाने में ही खैर है![1]

1. रेडियो से प्रसारार्थ प्रस्तुत।

'अज्ञेय' : अपनी निगाह में

कृतिकार की निगाह नहीं होती, यह तो नहीं कहूँगा। पर यह असन्दिग्ध है कि वह निगाह एक नहीं होती। एक निगाह से देखना कलाकार की निगाह से देखना नहीं है। स्थिर, परिवर्तनहीन दृष्टि सिद्धान्तवादी की हो सकती है, सुधारक-प्रचारक की हो सकती हैं और —भारतीय विश्वविद्यालयों के सन्दर्भ में—अध्यापक की भी हो सकती है, पर वैसी दृष्टि रचनाशील प्रतिभा की दृष्टि नहीं है।

'अज्ञेय' : अपनी निगाह में इस शीर्षक के नीचे यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है उसे इसलिए ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह स्थिर उत्तर नहीं है। यह भी हो सकता है कि उसके छपते-छपते उससे भिन्न कुछ कहना उचित और सही जान पड़ने लगे। चालू मुहावरे में कहा जाए कि यह केवल आज का, इस समय का कोटेशन है। कल को अगर बदला जाए तो यह न समझना होगा कि अपनी बात का खंडन किया जा रहा है, केवल यही समझना होगा कि वह कल का कोटेशन है जो कि आज से भिन्न है।

फिर यह भी है कि कलाकार की निगाह अपने पर टिकती भी नहीं। क्यों टिके? दुनिया में इतना कुछ देखने को पड़ा है : 'क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृतिवेश' जिसे 'उसने आँख भर देखा।' इसे देखने से उसको इतना अवकाश कहाँ कि वह निगाह अपनी ओर मोड़े। वह तो जितना कुछ देखता है उससे भी आगे बढ़ने की विवशता में देता है 'मन को दिलासा, पुन: आऊँगा—भले ही बरस दिन अनगिन युगों के बाद!'

कलाकार की निगाह, अगर वह निगाह है और कलाकार की है तो, सर्वदा सब-कुछ की ओर लगी रहती है। अपने पर टिकने का अवकाश उसे नहीं रहता। नि:सन्देह ऐसे बहुत-से कलाकार पड़े हैं, जिन्होंने अपने को देखा है, अपने बारे में लिखा है। अपने बारे में लिखना तो आजकल का एक रोग है। बल्कि यह रोग इतना व्यापक है कि जिसे यह नहीं है वही मानो बेचैन हो उठता है कि मैं कहीं अस्वस्थ तो नहीं हूँ? लेखकों में कई ऐसे भी हैं जिन्होंने केवल अपने बारे में लिखा है—जिन्होंने अपने सिवा कुछ देखा ही नहीं है। लेकिन सरसरी तौर पर अपने बारे में लिखा हुआ सब-कुछ एक ही मानदंड से नहीं नापा जा सकता, उसमें कई कोटियाँ

हैं। क्योंकि देखनेवाली निगाह भी कई कोटियों की हैं। आत्म-चर्चा करनेवाले कुछ लोग तो ऐसे हैं कि निज की निगाह कलाकार की नहीं, व्यवसायी की निगाह है। यों आजकल सभी कलाकार न्यूनाधिक मात्रा में व्यवसायी हैं; आत्म-चर्चा आत्म-पोषण का साधन है इसलिए आत्म-रक्षा का एक रूप है। कुछ ऐसे भी होंगे जो कलाकार तो हैं लेकिन वास्तव में आत्म-मुग्ध हैं—नार्सिसस-गोत्रीय कलाकार! लेकिन अपने बारे में लिखनेवालों में एक वर्ग ऐसों का भी है जो कि वास्तव में अपने बारे में नहीं लिखते हैं—अपने को माध्यम बनाकर संसार के बारे में लिखते हैं। इस कोटि के कलाकार की जागरूकता का ही एक पक्ष यह है कि यह निरन्तर अपने देखने को ही देखता चलता है, अनवरत अपने संवेदन के खरेपन की कसौटी करता चलता है। जिस भाव-यन्त्र के सहारे वह दुनिया पर और दुनिया उस पर घटित होती रहती है, उस यन्त्र की ग्रहणशीलता का वह बराबर परीक्षण करता रहता है। भाव-यन्त्र का ऐसा परीक्षण एक सीमा तक किसी भी युग में आवश्यक रहा होगा, लेकिन आज के युग में वह एक अनिवार्य कर्त्तव्य हो गया है।

तो अपनी निगाह में अज्ञेय। यानी आज का अज्ञेय ही। लिखने के समय की निगाह में वह लिखता हुआ अज्ञेय। बस इतना ही और उतने समय का ही।

अज्ञेय बड़ा संकोची और समाजभीरु है। इसके दो पक्ष हैं। समाजभीरु तो इतना है कि कभी-कभी दुकान में कुछ चीज़ें खरीदने के लिए घुसकर भी उलटे-पाँव लौट आता है क्योंकि खरीददारी के लिए दुकानदार से बातें करनी पड़ेंगी। लेकिन एक दूसरा पक्ष भी है जिसके मूल में निजीपन की तीव्र भावना है, वह जिसे अँग्रेज़ी में सेंस ऑफ़ प्राइवेसी कहते हैं। किन चीज़ों को अपने तक, या अपनों तक ही सीमित रखना चाहिए, इसके बारे में अज्ञेय की सबसे बड़ी स्पष्ट और दृढ़ धारणाएँ हैं। और इनमें से बहुत-सी लोगों की साधारण मान्यताओं से भिन्न हैं। यह भेद एक हद तक तो अँग्रेज़ी साहित्य के परिचय की राह से समझा जा सकता है : उस साहित्य में इसे चारित्रिक गुण माना गया है। मनोवेगों को अधिक मुखर न होने दिया जाए, निजी अनुभूतियों के निजीपन को अक्षुण्ण रखा जाए : 'प्राइवेट फ़ेसेज़ इन पब्लिक प्लेसेज़'। लेकिन इस निरोध अथवा संयमन के अलावा भी कुछ बातें हैं। एक सीमा है जिसके आगे अज्ञेय अस्पृश्य रहना ही पसन्द करता है। जैसे कि एक सीमा से आगे वह दूसरों के जीवन में प्रवेश या हस्तक्षेप नहीं करता है। इस तरह का अधिकार वह बहुत थोड़े लोगों से चाहता है और बहुत थोड़े लोगों को देता है। जिन्हें देता है उन्हें अबाध रूप से देता है, जिनसे चाहता है उनसे उतने ही निर्बाध भाव से चाहता है। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, ऐसे लोगों की परिधि बहुत कड़ी है।

इससे गलतफहमी जरूर होती है। बहुत-से लोग बहुत नाराज भी हो जाते हैं। कुछ को इसमें मनहूसियत की झलक मिलती है, कुछ अहम्मन्यता पाते हैं, कुछ आभिजात्य का दर्प, कुछ और कुछ। कुछ की समझ में यह निरा आडम्बर है और भीतर के शून्य को छिपाता है जैसे प्याज का छिलका पर छिलका। मैं साक्षी हूँ कि अज्ञेय को इन सब प्रतिक्रियाओं से अत्यन्त क्लेश होता है। लेकिन एक तो यह क्लेश भी निजी है। दूसरे इसके लिए वह अपना स्वभाव बदलने का यत्न नहीं करता, न करना चाहता है। सभी को कुछ-कुछ और कुछ को सब-कुछ—वह मानता है उसके लिए आत्म-दान की परिपाटी यही हो सकती है। सिद्धान्तत: वह स्वीकार करेगा कि 'सभी को सब-कुछ' का आदर्श इससे अधिक ऊँचा है। पर वह आदर्श सन्यासी का ही हो सकता है। या कम-से-कम निजी जीवन में कलाकार का तो नहीं हो सकता। बहुत-से कलाकार उससे भी छोटा दायरा बना लेते हैं जितना कि अज्ञेय का है और कोई-कोई तो 'कुछ को कुछ, बाकी अपने को सब-कुछ' के ही आदर्श पर चलते हैं। ऐसा कोई न बचे जिसे उसने अपना कुछ नहीं दिया हो, इसके लिए अज्ञेय बराबर यत्नशील है। लेकिन सभी के लिए वह सब-कुछ दे रहा है, ऐसा दावा वह नहीं करता और इस दम्भ से अपने को बचाये रखना चाहता है।

अज्ञेय का जन्म खँडहरों में शिविर में हुआ था। उसका बचपन भी वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वावशेषों के मध्य में बीता। इन्हीं के बीच उसने प्रारम्भिक शिक्षा पायी। वह भी पहले संस्कृत में, फिर फारसी और फिर अँग्रेज़ी में। और इस अवधि में वह सर्वदा अपने पुरातत्त्वज्ञ पिता के साथ, और बीच-बीच में बाकी परिवार से—माता और भाइयों से—अलग, रहता रहा। खुदाई में लगे हुए पुरातत्त्वान्वेषी पिता के साथ रहने का मतलब था अधिकतर अकेला ही रहना। और अज्ञेय बहुत बचपन से एकान्त का अभ्यासी है और बहुत कम चीज़ों से उसको इतनी अकुलाहट होती है जितनी लगातार लम्बी अवधि तक इसमें व्याघात पड़ने से। जेल में अपने सहकर्मियों के दिन-रात के अनिवार्य साहचर्य से त्रस्त होकर उसने स्वयं काल-कोठरी की माँग की थी और महीनों उसमें रहता रहा। एकान्तजीवी होने के कारण देश और काल के आयाम का उसका बोध कुछ अलग ढंग का है। उसके लिए सचमुच 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' वह घंटों निश्चल बैठा रहता है, इतना निश्चल कि चिड़ियाँ उसके कन्धों पर बैठ जाएँ या कि गिलहरियाँ उसकी टाँगों पर से फाँदती हुई चली जाएँ। पशु-पक्षी और बच्चे उससे बड़ी जल्दी हिल जाते हैं। बड़ों को अज्ञेय के निकट आना भले ही कठिन जान पड़े, बच्चों का विश्वास और सौहार्द उसे तुरत मिलता है। पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेन्दुए के बच्चे तक पाले हैं, पक्षी बुलबुल से मोर-चकोर तक; बन्दी इनमें से दो-चार दिन से अधिक किसी को नहीं रखा। उसकी निश्चलता ही उन्हें आश्वस्त कर देती है।

लेकिन गति का उसके लिए दुर्दान्त आकर्षण है। निरी अन्ध गति का नहीं, जैसे तेज मोटर या हवाई जहाज की, यद्यपि मोटर वह काफ़ी तेज रफ्तार से चला लेता है। (पहले शौक था, अब केवल आवश्यकता पड़ने पर चला लेने की कुशलता है, शौक नहीं है।) आकर्षण है एक तरह की ऐसी लय-युक्ति गति का—जैसे घुड़दौड़ के घोड़े की गति, हिरन की फलाँग या अच्छे तैराक का अंग-संचालन, या शिकारी पक्षी के झपट्टे की या सागर की लहरों की गति। उसके लेखन में, विशेष रूप से कविता में, यह आकर्षण मुखर है। पर जीवन में भी उतना ही प्रभावशाली है। एक बार बचपन में अपने भाइयों को तैरते हुए देखकर वह उनके अंग-संचालन से इतना मुग्ध हो उठा कि तैरना न जानते हुए भी पानी में कूद पड़ा और डूबते-डूबते बचा—यानी मूर्च्छितावस्था में निकाला गया। लय-युक्त गति के साथ-साथ, उगने या बढ़नेवाली हर चीज़ में, उसके विकास की बारीक-से-बारीक क्रिया में, अज्ञेय को बेहद दिलचस्पी है: वे चीज़ें छोटी हों या बड़ी, च्यूँटी और पक्षी हों या वृक्ष और हाथी; मानव-शिशु हो या नगर और कस्बे का समाज। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों का विकास तो केवल देखा ही जा सकता है; शहरी मानव और उसके समाज की गतिविधियों से पहले कभी-कभी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया होती थी—क्षोभ और क्रोध होता था; अब धीरे-धीरे समझ में आने लगा है कि ऐसी राजस प्रतिक्रियाएँ देखने में थोड़ी बाधा जरूर होती है। अब आक्रोश को वश करके उन गतिविधियों को ठीक-ठीक समझने और उनको निर्माणशील लीकों पर डालने का उपाय खोजने का मन होता है। पहले विद्रोह था जो विषयिगत था—'सब्जेक्टिव' था। अब प्रवृत्ति है जो किसी हद तक असम्पृक्त बुद्धि से प्रेरित है। एक हद तक जरूर प्रवृत्ति के साथ एक प्रकार की अन्तर्मुखीनता आयी है। समाज को बदलने चलने से पहले अज्ञेय बार-बार अपने को जाँचता है कि कहाँ तक उसके विश्वास और उसके कर्म में सामंजस्य है—या कि कहाँ नहीं है। यह भी जोड़ दिया जा सकता है कि वह इस बारे में भी सतर्क रहता है कि उसके निजी विश्वासों में और सार्वजनिक रूप से घोषित (पब्लिक) आदर्श में भेद तो नहीं है? धारणा और कर्म में सौ प्रतिशत सामंजस्य तो सिद्धों को मिलता है। उतना भाग्यवान न होकर भी अज्ञेय अन्तर्विरोध की भट्ठी पर नहीं बैठा है और इस कारण अपने भीतर एक शान्ति और आत्मबल का अनुभव करता है। शान्ति और आत्म-बल आज के युग में शायद विलास की वस्तुएँ हैं। इसलिए इस कारण से अज्ञेय हिन्दी भाइयों और विशेष रूप से हिन्दीवाले भाइयों से कुछ और अलग पड़ जाता है और कुछ और अकेला हो जाता है।

यहाँ यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि यहाँ शायद सच्चाई को अधिक सरल करके सामने रखा गया है; उतनी सरल वास्तविकता नहीं है। एक साथ ही चरम निश्चलता का और चरम गतिमयता का आकर्षण अज्ञेय की चेतना के अन्तर्विरोध का

सूचक है। पहाड़ उसे अधिक प्रिय है या सागर, इसका उत्तर वह नहीं दे पाया है, स्वयं अपने को भी। वह सर्वदा हिमालय के हिमशिखरों की ओर उन्मुख कुटीर में रहने की कल्पना किया करता है और जब-तब उधर कदम भी बढ़ा लेता है; पर दूसरी ओर वह भागता है बराबर सागर की ओर, उसके उद्वेलन से एकतानता का अनुभव करता है। शान्त सागर-तल उसे विशेष नहीं मोहता—चट्टानों पर लहरों का घात-प्रतिघात ही उसे मुग्ध करता है। सागर में वह दो बार डूब चुका है; चट्टानों की ओट से सागर-लहर को देखने के लोभ में वह कई बार फिसलकर गिरा है और दैवात् ही बच गया है। पर मन:स्थिति ज्यों-की-त्यों है : वह हिमालय के पास रहना चाहता है पर सागर के गर्जन से दूर भी नहीं रहना चाहता! कभी हँसकर कह देता है : "मेरी कठिनाई यही है कि भारत का सागर-तट सपाट दक्षिण में है—कहीं पहाड़ी तट होता तो— !"

क्योंकि इस अन्तर्विरोध का हल नहीं हुआ है, इसलिए वह अभी स्वयं निश्चयपूर्वक नहीं जानता है कि वह अन्त में कहाँ जा टिकेगा। दिल्ली या कोई भी शहर तो वह विश्रामस्थल नहीं होगा, यह वह ध्रुव मानता है। पर वह कूर्मांचल हिमालय में होगा, कि कुमारी अन्तरीप के पास (जहाँ चट्टानें तो हैं!), या समझौते के रूप में विन्ध्य के अंचल की कोई वनखंडी जहाँ नदी-नाले का मर्मर ही हर समय सुनने को मिलता रहे—इसका उत्तर उसे नहीं मिला। उत्तर की कमी कई बार एक अशान्ति के रूप में प्रकट हो जाती है। वह 'कहीं जाने के लिए' बैचेन हो उठता है। (मुक्तिबोध का 'माइग्रेशन इनस्टिंक्ट'?) कभी इसकी सूरत निकल आती है; कभी नहीं निकलती तो वह घर ही का सब सामान उलट-पुलटकर उसे नया रूप दे देता है : बैठक को शयनकक्ष, शयनकक्ष को पाठागार, पाठागार को बैठक इत्यादि। उससे कुछ दिन लगता है कि मानो नये स्थान में आ गये—फिर वह पुराना होने लगता है तो फिर सब बदल दिया जाता है! इसीलिए घर का फर्नीचर भी अज्ञेय अपने डिजाइन का बनवाता है। ये जो तीन चौकियाँ हैं न, इन्हें यों जोड़ दिया जाए तो पलंग बन जाएगा; ये जो दो डेस्क-सी दीखती हैं, एक को घुमाकर दूसरे से पीठ जोड़ दीजिए, भोजन की मेज बन जाएगी यदि आप फर्श पर नहीं बैठ सकते। वह जो पलंग दीखता है, उसका पल्ला उठा दीजिए—नीचे वह सन्दूक है। या उसे एक सिरे पर खड़ा कर दीजिए तो वह आलमारी का काम दे जाएगा! दीवार पर शरद् ऋतु के चित्र हैं न ? सबको उलट दीजिए : अब सब चित्र वसन्त के अनुकूल हो गये— अब बिछावन भी उठाकर शीतलपाटियाँ डाल दीजिए और सभी चीज़ों का ताल-मेल हो गया...

पुरातत्त्ववेत्ता की छाया में अकेले रहने का एक लाभ अज्ञेय को और भी हुआ है। चाहे विरोधी के रूप में चाहे पालक के रूप में, वह बराबर परम्परा के सम्पर्क में

रहा है। रूढ़ि और परम्परा अलग-अलग चीज़ें हैं, यह उसने समझ लिया है। रूढ़ि वह तोड़ता है और तोड़ने के लिए हमेशा तैयार है। लेकिन परम्परा तोड़ी नहीं जाती, बदली जाती है या आगे बढ़ायी जाती है, ऐसा वह मानता है; और इसी के लिए यत्नशील है। कहना सही होगा कि वह मर्यादावान विद्रोही है। फिर इस बात को चाहे आप प्रशंसा से कह लीजिए चाहे व्यंग्य और विद्रूप से।

एक ओर एकान्त, और दूसरे में एकान्त का निरन्तर बदलता हुआ परिवेश—कभी कश्मीर की उपत्यकाएँ, कभी बिहार के देहात, कभी कोटागिरि-नीलगिरि के आदिम जातियों के गाँव, कभी मेरठ के खादर और कभी असम और पूर्वी सीमान्त के वन-प्रदेश—इस अनवरत बदलते हुए परिवेश ने अकेले अज्ञेय के आत्म-निर्भरता का पाठ बराबर दुहरवाया है। इस कारण वह जितना जैसा जिया है अधिक सघनता और तीव्रता से जिया है। 'रूप-रस-गन्ध-गान'—सभी की प्रतिक्रियाएँ उसमें अधिक गहरी हुई हैं। सिद्धान्ततः भी वह मानता है कि कवि या कलाकार ऐन्द्रिय चेतना की उपेक्षा नहीं कर सकता। और परिस्थितियों ने उसे इसकी शिक्षा भी दी है कि ऐन्द्रिय संवेदन को कुन्द न होने दिया जाए। यह यों ही नहीं कि आँख, कान, नाक आदि को 'ज्ञानेन्द्रियाँ' कहा जाता है। ये वास्तव में खिड़कियाँ हैं जिनमें से व्यक्ति जगत को देखता और पहचानता है। इनके संवेदन को अस्वीकार करना संन्यास या वैराग्य का अंग नहीं है। वह पन्थ आसक्ति को छोड़ता है यानी इन संवेदनों से बँध नहीं जाता; यह नहीं है कि इनका उपयोग ही वह छोड़ देता है। जब अज्ञेय को ऐसे लोग मिलते हैं जो गर्व से कहते हैं कि "हमें तो खाने में स्वाद का पता ही नहीं रहता—हम तो यह भी लक्ष्य नहीं करते कि दाल में नमक कम है या ज्यादा," तो अज्ञेय को हँसी आती है। क्योंकि यह वह अस्वाद नहीं जिसे आदर्श माना गया, यह केवल एक विशेष प्रकार की पंगुता है। इसमें और इस बात पर गर्व करने में कि "मुझे तो यह भी नहीं दिखता कि दिन है या रात," कोई अन्तर नहीं है। अगर अन्धापन या बहरापन श्लाघ्य नहीं है तो जीभ का या त्वचा का अपस्मार ही क्यों श्लाघ्य है? ज्ञानेन्द्रियों की सजगता अज्ञेय की कृतियों में प्रतिलक्षित होती है और वह मानता है होनी भी चाहिए। कम या ज्यादा नमक होने पर भी दाल खा लेना एक बात है, और इसको नहीं पहचानना बिलकुल दूसरी बात है।

अज्ञेय मानता है कि बुद्धि से जो काम किया जाता है उसकी नींव हाथों से किये गये काम पर है। जो लोग अपने हाथों का सही उपयोग नहीं करते उनकी मानसिक सृष्टि में भी कुछ विकृति या एकांगिता आ जाती है। यह बात काव्य-रचना पर विशेष रूप से लागू है क्योंकि अन्य सब कलाओं के साथ कोई-न-कोई शिल्प बँधा है, यानी अन्य सभी कलाएँ हाथों का भी कुछ कौशल माँगती हैं। एक

काव्य-कला ही ऐसी है कि शुद्ध मानसिक कला है। प्राचीन काल में शायद इसीलिए कवि-कर्म को कला नहीं गिना जाता था। अज्ञेय प्राय: ही हाथ से कुछ-न-कुछ बनाता रहता है और बीच-बीच में कभी तो मानसिक रचना को बिलकुल स्थगित करके केवल शिल्प-वस्तुओं के निर्माण में लग जाता है। बढ़ईगिरी और बाग़वानी का उसे खास शौक है। लेकिन और भी बहुत-सी दस्तकारियों में थोड़ी-बहुत कुशलता उसने प्राप्त की है और इनका भी उपयोग जब-तब करता रहता है। अपने काम के देशी काट के कपड़े भी वह सी लेता है और चमड़े का काम भी कर लेता है। थोड़ी-बहुत चित्रकारी और मूर्तिकारी वह करता है। फोटोग्राफी का शौक भी उसे बराबर रहा है और बीच-बीच में प्रबल हो उठता है।

हाथों से चीज़ें बनाने के कौशल का प्रभाव ज़रूरी तौर पर साहित्य-रचना पर भी पड़ता है। अज्ञेय प्राय: मित्रों से कहा करता है कि अपने हाथ से लिखने और शीघ्रलेखक को लिखाने में एक अन्तर यह है कि अपने हाथ से लिखने में जो बात बीस शब्दों में कही जाती लिखाते समय उसमें पचास शब्द या सौ शब्द भी सर्फ़ कर दिये जाते हैं! मितव्यय कला का एक स्वाभाविक धर्म है। रंग का, रेखा का, मिट्टी या शब्द का अपव्यय भारी दोष है। अपने हाथ से लिखने में परिश्रम किफायत की ओर सहज ही जाता है। लिखाने में इसमें चूक भी हो सकती है। विविध प्रकार के शिल्प के अभ्यास से मितव्यय का—किसी भी इष्ट की प्राप्ति में कम-से-कम श्रम का—सिद्धान्त सहज-स्वाभाविक बन जाता है। भाषा के क्षेत्र में इससे नपी-तुली, सुलझी हुई बात कहने की क्षमता बढ़ती है, तर्क-पद्धति व्यवस्थित, सुचिन्तित और क्रमसंगत होती है। अज्ञेय इन सबको साहित्य के बड़े गुण मानता है और बराबर यत्नशील रहता है कि उसका लेखन इस आदर्श से स्खलित न हो।

दूसरे की बात को वह ध्यान से और धैर्य से सुनता है। दूसरे के दृष्टिकोण का, दूसरे की सुविधा का, दूसरे और प्रिय-अप्रिय का वह बहुत ध्यान रखता है—कभी-कभी जरूरत से ज्यादा। नेता के गुणों में एक यह भी होता है कि अपने दृष्टिकोण को अपने पर इतना हावी हो जाने दे कि दूसरे के दृष्टिकोण की अनदेखी भी कर सके। निरन्तर दूसरे के दृष्टिकोण को देखते रहना नेतृत्व कर्म में बाधक भी हो सकता है। इसलिए नेतृत्व करना अज्ञेय के वश का नहीं है। वह सही मार्ग पहचानकर और उसका इंगित देकर भी फिर एक तरफ़ हट जाएगा, क्योंकि 'दूसरों का दृष्टिकोण दूसरा है' और वह उस दृष्टिकोण को भी समझ सकता है!

'मार-मारकर हकीम' न बनाने की इस प्रवृत्ति के कारण अज्ञेय को विश्वास बहुत लोगों का मिला है। मित्र उसके कम रहे हैं, पर अपनी समस्याएँ लेकर बहुत लोग उसके पास आते हैं; ऐसे लोगों को खुलकर बात करने में कभी कठिनाई नहीं होती। सभी की सहायता की जा सके ऐसे साधन किसके पास हैं : पर धीरज और

सहानुभूति से सुनना भी एक सहायता है जो हर कोई दे सकता है। (पर देता नहीं)।

लेकिन इस धीरज के साथ-साथ अव्यवस्थित चिन्तन के प्रति उसमें एक तीव्र असहिष्णुता भी है। चिन्तन के क्षेत्र में किसी तरह का भी लबड़धोंधोंपन उसे सख्त नापसन्द है और इस नापसन्दगी को प्रकट करने में वह संकोच नहीं करता। इसीलिए उसके मित्र बहुत कम हैं। हिन्दीवालों में और भी कम, क्योंकि हिन्दी साहित्यकार का चिन्तन भारतीय साहित्यकारों में अपेक्षया अधिक ढुलमुल होता है। साहित्यकार ही क्यों, हिन्दी के आलोचकों और अध्यापकों का सोचने का ढंग भी एक नमूना है।

अज्ञेय हिन्दी के हाथी का दिखाने का दाँत है। कभी-कभी उसको इस पर आश्चर्य भी होता है और खीझ भी। क्योंकि वह अनुभव करता है कि हिन्दी के प्रति उसकी आस्था अनेक प्रतिष्ठित हिन्दीवालों से अधिक है और साथ ही यह भी कि वह बड़ी गहराई में और बड़ी निष्ठा के साथ भारतीय है। यानी वह खाने के दाँतों की अपेक्षा हिन्दी के हाथी का अधिक अपना है। यों तो खैर, दाँत ही हाथी का हो सकता है, कोई ज़रूरी नहीं है कि हाथी भी दाँत का हो। लेकिन शायद ऐसा सोचना भी अज्ञेय की दुर्बलता है—यह भी 'दूसरे के दृष्टिकोण को देखना' है। वह अपने को हिन्दी का मानकर चलता है जब कि आर्थोडाक्स हिन्दीवाला हिन्दी को अपनी मानता ही नहीं वैसा दावा भी करता है : अज्ञेय अपने को भारत का मानता है जबकि आर्थोडाक्स भारतीय देश को अपना मानता है। हिन्दी के एक बुजुर्ग ने कहा था, "विदेशों में हिन्दी पढ़ाने के लिए तो अज्ञेय बहुत ही उपयुक्त है, बल्कि इससे योग्यतर व्यक्ति नहीं मिलेगा; लेकिन भारतीय विश्वविद्यालयों में—" और यहाँ उनका स्वर एकाएक बिलकुल बदल गया था—"और हिन्दी क्षेत्र में—देखिए, हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी साहित्य पढ़ाने के लिए तो दूसरे प्रकार की योग्यता चाहिए।" इस कथन के पीछे जो प्रतिज्ञाएँ हैं उनसे अज्ञेय को अपना क्लेश होता है। लेकिन— और इसे उसका अतिरिक्त दुर्भाग्य समझिए—इस दृष्टिकोण को वह समझ भी सकता है। पिछले दस-बारह वर्षों के उसके कार्य की जड़ में यही उभयनिष्ठ भाव लक्षित होता है। यह दिखाने का दाँत चालानी माल (एक्सपोर्ट कमाडिटी) के रूप में बराबर रहता रहा है लेकिन हर बार इसलिए लौट आया है कि अन्ततोगत्वा वह भारतीय है, भारत का है और भारत में ही रहेगा।

यह समस्या अभी उसके साथ है और शायद अभी कुछ वर्षों तक रहेगी। बचपन में उसके भविष्य के विषय में जिज्ञासा करने पर उसके माता-पिता को एक ज्योतिषी ने बताया था कि "इस जातक के शत्रु अनेक होंगे लेकिन हानि केवल बन्धुजन ही पहुँचा सकेंगे।" अज्ञेय नियतिवादी नहीं है लेकिन स्वीकार करता है कि चरित्र की कुछ विशेषताएँ जरूर ऐसी होती हैं जो व्यक्ति के भविष्य का निर्माण

करती हैं। इसलिए शायद 'यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है' कि अनेक शत्रुओं के रहते हुए भी अज्ञेय वध्य है तो केवल अपने बन्धुओं द्वारा। ऐसा ही अच्छा है। उसी ज्योतिषी ने यह भी बताया था कि "इस जातक के पास कभी कुछ जमा-जत्था नहीं होगा, लेकिन साथ ही ज़रूरी खर्चे की कभी तंगी भी नहीं होगी—यह या तो फकीर होगा या राजा।" और फिर कुछ रुककर, शायद फकीरी की आशंका के बारे में माता-पिता को आश्वस्त करने के लिए, और 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' को ध्यान में रखकर, उसने एक वाक्य और जोड़ दिया था जिसकी व्यंजनाएँ अनेक हैं—"यह असल में तबीयत का बादशाह होगा।"

जी हाँ, तबीयत के अलावा और कोई बादशाहत अज्ञेय को नहीं मिली है। लेकिन यह बनी रहे तो दूसरी किसी की आकांक्षा भी उसे नहीं है।

कहानियाँ

अमरवल्लरी

An aristocrat must do without close personal love.

–H.G.Wells

मैं दीर्घायु हूँ, चिरजीवी हूँ, पर यह बेल, जिसके पाश में मेरा शरीर, मेरा अंग-अंग बँधा हुआ है, यह वल्लरी क्षयहीन है, अमर है।

मैं न जाने कब से यहीं खड़ा हूँ—अचल, निर्विकार, निरीह खड़ा हूँ। न-जाने कितनी बार शिशिर ऋतु में मैंने अपनी पर्णहीन अनाच्छादित शाखाओं से कुहरे की कठोरता को फोड़कर अपने नियन्ता से मूक प्रार्थना की है; न जाने कितनी बार ग्रीष्म में मेरी जड़ों के सूख जाने से तृषित सहस्रों पत्र-रूप चक्षुओं से मैं आकाश की ओर देखा किया हूँ; न-जाने कितनी बार हेमन्त के आने पर शिशिर के भावी कष्टों की चिन्ता से मैं पीला पड़ गया हूँ; न जाने कितनी बार वसन्त, उस आह्लादक, उन्मादक वसन्त में, नीबू के परिमल से सुरभित समीर में मुझे रोमांच हुआ है और लोमवत् मेरे पत्तों ने कम्पित होकर स्फीत सरसर ध्वनि करके अपना हर्ष प्रकट किया है! इधर कुछ दिनों से मेरा शरीर क्षणी हो गया है, मेरी त्वचा में झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, और शारीरिक अनुभूतियों के प्रति मैं उदासीन हो गया हूँ। मेरे पत्ते झड़ गये हैं, ग्रीष्म और शिशिर दोनों ही को मैं उपेक्षा की दृष्टि से देखता हूँ। किन्तु वसन्त? न-जाने उसके ध्यान में ही कौन-सा जादू है, उसकी स्मृतिमात्र में कौन-सी शक्ति है, कि मेरी इन सिकुड़ी हुई धमिनियों में भी नये संजीवन का संचार होने लगता है, और साथ ही एक लालसामय अनुताप मेरी नस-नस में फैल जाता है...

वसन्त... उसकी स्मृतियों में सुख है और कसक भी। जब मेरे चारों ओर क्षितिज तक विस्तृत उन अलसी और पोस्त के फलों के खेत एक रात-भर ही में विकसित हो उठते थे जब मैं अपने आपको सहसा एक सुमन-समुद्र के बीच में खड़ा हुआ पाता था, तब मुझे ऐसा भास होता था, मानो एक हरित सागर की नीलिमामय लहरों को वसन्त के अंशुमाली की रश्मियों ने आरक्त कर दिया हो। मेरा हृदय आनन्द और कृतज्ञता से भर जाता था। पर उस कृतज्ञला में सन्तोष नहीं होता था उस आनन्द से मेरे हृदय की व्यथा दबती नहीं थी। मुझे उस सौन्दर्यच्छटा में पड़ कर एकाएक अपनी कुरूपता की याद आ जाती थी, एक जलन मेरी शान्ति को उड़ा देती थी...

कल्पना की जड़ मन की व्यथा में होती है। जब मुझे अपनी कुरूपता के प्रति ग्लानि होती, तब मैं एक संसार की रचना करने लगता—ऐसे संसार की, जिसमें पीपल के वृक्षों में भी फूल लगते हैं... और एक रंग के नहीं, अनेक रंगों के जिसमें शाखें जगमगा उठें! एक शाखा में सहस्रदल शोण-कमल, दूसरी पर कुमुद, तीसरी पर नील नलिन, चौथी पर चम्पक, पाँचवीं पर गुलाब, ओर सब ओर, फुनगियों तक पर नाना रंगों के अन्य पुष्प—कैसी सुखद थी वह कल्पना! पर अब उस कल्पना की स्मृति से क्या लाभ है? अब तो मैं बूढ़ा हो गया हूँ, और रक्तबीज की तरह अक्षय यह बेल मुझ पर पूरा अधिकार जमा चुकी है। मैं विराट् हूँ, अचल हूँ; किन्तु मेरी महत्ता और अचलता ने ही मुझे इस अमरवल्ली के सूक्ष्म, चंचल तन्तुओं के आगे इतना नि:सहाय बना दिया! किसी दिन वह कृशतनु, पददलिता थी, और आज यह मुझे बाँध कर, घोंट कर, झुका कर, अपनी विजय-कामना पूरी करने की ओर प्रवृत्त हो रही है!

कैसे सुदृढ़ हैं इसके बन्धन! कितने दारुण, कितने उग्र! लालसा की तरह अदम्य, पीड़ा की तरह असह्य, दावानल की तरह उत्तप्त, ये बन्धन मेरे निर्बल शरीर को घोंट कर उसकी स्फूर्ति और संजीवन को निकाल देना चाहते हैं। और मैं, निराश और मुमूर्ष मैं, स्मृतियों के बोझ से दिक्पालों की तरह दबा हुआ मैं, चुपचाप उसी कामना के आगे धीरे-धीरे अपना अस्तित्व मिटा रहा हूँ।

फिर भी कभी-कभी... ऐसा अनुभव होता है कि इस वल्लरी के स्पर्श में कोई लोमहर्षक तत्त्व है जिस प्रकार कोई पुरानी, विस्मृत तान संगीतकार के स्पर्शमात्र से सजग, सजीव हो उठती है, जिस प्रकार बूढ़ा, शुभ्रकेश, म्रियमाण शिशिर, वसन्त का सहारा पाकर क्षण भर के लिए दीप्त हो उठता है, जिस प्रकार तरुणी के अन्ध-विश्वास पूर्ण, कोमल, स्निग्ध प्रेम में पड़कर बूढ़े के हृदय में गुदगुदी होने लगती है, नयी कामनाएँ उदित हो जाती हैं—उसी प्रकार मेरे शरीर में, मेरी शाखाओं में, मेरे पत्तों में, मेरे रोम-रोम में इसका विलुलित स्पर्श, एक स्नेहमय जलन का, एक दीप्तिमय लालसा का, एक अननुभूत, अकथ, अविश्लिष्ट, उन्मत्त प्रेमोल्लास का संचार कर देता है! मैं सोचने लगता हूँ कि अगर मेरी शाखें भी उतनी ही लचकदार होतीं, जितनी इस अमर बेल की हैं, तो मैं स्वयं उसके आश्लेषण को दृढ़तर कर देता, उसके बन्धन को सव्य कस देता! पर विश्वकर्मा ने मुझे ऐसा निकम्मा बना दिया—मैं प्रेम पा सकता हूँ, दे नहीं सकता; प्रेम-पाश में बँध सकता हूँ, बाँध नहीं सकता; प्रेम की प्रस्फुटन-चेष्टा समझ सकता हूँ व्यक्त नहीं कर सकता! जब प्रेम-रस में मैं विमुग्ध होकर अपने हृदय के भाव व्यक्त करने की चेष्टा करता हूँ, तब सहसा मुझे अपनी स्थूलता, अचलता का ज्ञान होता है, और मेरी वे चिर-विचारित, चिर-निर्दिष्ट, अदमनीय चेष्टाएँ जड़ हो जाती हैं; मेरे सम्भ्रम का एकमात्र चिह्न वह

पत्तों का कम्पन, मेरी आकुलता की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन उनका कोमल सरसर शब्द ही रह जाता है। इतना भीमकाय होकर भी एक लतिका के आगे मैं कितना नि:सहाय हूँ!

वसन्त, सुमन, पराग, समीर, रसोल्लास... कैसा संयोग होता है! पर अब, अपने जीवन के हेमन्त-काल में, क्यों मैं वसन्त की कल्पना करता हूँ? अब वे सब मेरे जीवन में नहीं आ सकते, अब मैं एक और ही संसार का वासी हो गया हूँ, जिसमें सुमन नहीं प्रस्फुटित होते, स्मृतियाँ जागती हैं, जिसमें मदालस नहीं, विरक्ति-शैथिल्य भरा हुआ है! मेरे चारों ओर अब भी वसन्त में अलसी और पोस्त के फूल खिलते हैं, हँसते हैं, नाचते हैं, फिर चले जाते हैं। मेरा हृदय उमड़ आता है; पर उसमें अनुरक्ति नहीं होती, उस रूप-सागर के मध्य में खड़ा होकर भी मैं अपनी सुदूरता का ही अनुभव करता हूँ, मानो आकाश-गंगा का ध्यान कर रहा होऊँ! जिस सृष्टि से मैं अलग हो गया हूँ, उसकी कामना मैं नहीं करता, उसमें भाग लेने की लालसा हृदय में नहीं होती। मेरा स्थान एक-दूसरे ही युग में है, और उसी का प्रत्यवलोकन मेरा आधार है, उसी की स्मृतियाँ मेरा पोषण करती हैं।

यह वल्लरी अमर है, अनन्त है। जब मैं गिर जाऊँगा, तब भी शायद यह मेरे शरीर पर लिपटी रहेगी और उसमें बची हुई शक्ति को चूसती रहेगी।

पर जब इसका अंकुर प्रस्फुटित हुआ था, तब मैं क्षीण नहीं था। मेरे सुगठित शरीर में ताजा रस नाचता था; मेरा हृदय प्रकृति-संगीत में लवलीन होकर नाचता था; मैं स्वयं यौवन रंग में प्रमत्त होकर नाच रहा था... जब मेरी विस्तृत जड़ों के बीच में कहीं से इसका छोटा-सा अंकुर निकला, उसके पीले-पीले कोमल, तरल तन्तु इधर-उधर सहारे की आशा में फैले और कुछ न पाकर मुरझाने लगे, तब मैंने कितनी प्रसन्नता से इसे शरण दी थी, कितना आनन्द मुझे इसके शिशुवत कोमल स्पर्श से हुआ था! उस समय शायद वात्सल्य-भाव ही मेरे हृदय में सर्वोपरि था। जब वह बढ़ने लगी, जब उसके शरीर में एक नयी आभा आ गयी, उसके स्पर्श में वह सरलता, वह स्नेह नहीं रहा; उसमें एक नूतनता आविर्भूत हुई, एक विचित्र भाव आ गया, जिसमें मेरी स्वतन्त्रता नहीं रही। जब भी मैं कुछ सोचना चाहता, उसी का ध्यान आ जाता। उस ध्यान में लालसा थी, और साथ ही कुछ लज्जा-सी; स्वार्थ था और साथ ही उत्सर्ग हो जाने की इच्छा; तृष्णा थी और साथ ही तृप्ति भी; ग्लानि थी और साथ ही अनुरक्ति भी! जिस भाव को आज मैं पूरी तरह समझ गया हूँ, उसका मुझे उन दिनों आभास भी नहीं हुआ था। उन दिनों इस परिवर्तन पर मुझे विस्मय ही होता रहता था--और वह विस्मय भी आनन्द से, ग्लानि से, लालसा से, तृप्ति से, परिपूरित रहता था!

मेरे चरणों के पास एक छोटा-सा चिकना पत्थर पड़ा हुआ था, जिसमें गाँव की

स्त्रियाँ आकर सिन्दूर और तेल का लेप किया करती थीं। कभी-कभी वे अपने कोमल हाथों से सिन्दूर का एक लम्बा-सा टीका मेरे ऊपर लगा देती थीं, कोई-कोई युवती आकर सहज स्वभाव से मेरे दोनों और बाँहें फैला कर मेरे इस सुडौल शरीर से अंक भर लेती थी, कोई-कोई मेरा गाढ़ालिंगन करके अपने कपोल मेरी कठिन त्वचा से छूआ कर कुछ चुपचाप आँसू बहाकर चली जाती थी—मानो उसे कुछ सान्त्वना मिल गयी हो। मानव संसार की उन सुकोमल लतिकाओं के स्पर्श में, उनके परिष्वंग में, मुझे आसक्ति नहीं थी। कभी-कभी, जब कोई सरला अभागिनि मुझे अपनी बाँहों से घेर कर दीन स्वर से कहती, "देवता, मेरी इच्छा कब पूरी होगी?" तब मैं दयार्द्र हो जाता और अपने पत्ते हिला कर कुछ कहना चाहता। न जाने वे मेरा इंगित समझतीं या नहीं। न-जाने उन्हें कभी मेरी कृतज्ञता का ज्ञान होता या नहीं। मैं यही सोचता रहता कि अगर मैं नीरस पीपल न होकर अशोक वृक्ष होता, तो अपनी कृतज्ञता तो जता सकता; उन प्रेम-विह्वलताओं के स्पर्श से पुष्पित हो, पुष्प-भार से झुक कर उन्हें नमस्कार तो कर सकता! पर मैं यह सोचता हुआ मूक ही रह जाता, और वे चली जातीं?

पर उनके स्पर्श से मुझे रोमांच नहीं होता था, मैं अपने शिखर से जड़ों तक काँपने नहीं लगता था। कभी-कभी जब कोई स्त्री आकर मेरी आश्रिता इस अमरवल्लरी के पुष्प तोड़कर मेरे पैरों में डाल देती, तब मेरे मर्म पर आघात पहुँचता था; पर उससे मुझे जितनी व्यथा होती, जितना क्रोध आता, उसे भी मैं व्यक्त नहीं कर पाता था। मैं विश्वकर्मा से मूक प्रार्थना करने लगता— विश्वकर्मा मूक प्रार्थना भी सुन लेते हैं— कि उस स्त्री को कोई भी वैसी ही दारुण वेदना हो! वह मुझे देवता मानकर पुष्पों से पूजा करती थी, और मैं उसके प्रति इतनी नीच कामना करता था—किन्तु प्रेम के प्रमाद में बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है!

कैसा विचित्र था वह प्रेम! अगर मैं जानता होता! अगर मैं जानता होता।

किन्तु क्या जानकर इस जाल में न फँसता? आज मैं जानता हूँ, फिर भी तो इस वल्लरी का मुझ पर इतना अधिकार है, फिर भी तो मैं इसके स्पर्श से गद्गद हो उठता हूँ?

प्रेम आईने की तरह स्वच्छ रहता है, प्रत्येक व्यक्ति उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है, और एक बार जब वह खंडित हो जाता है, तब जुड़ता नहीं। अगर किसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न से हम उसके भग्नावशिष्ट खंडों को जोड़कर रख भी लें तो उसमें पुरानी क्रान्ति नहीं आती। वह सदा के लिए कलंकित हो जाता है। स्नेह अनेकों चोटें सहता है, कुचला जाकर भी पुन: उठ खड़ा होता है; किन्तु प्रेम में अभिमान बहुत अधिक होता है, वह एक बार तिरस्कृत होकर सदा के लिए विमुख हो जाता है। आज इस वल्लरी के प्रति मेरा अनुराग बहुत है, पर उसमें प्रेम का नाम

भी नहीं है—वह स्नेह का ही प्रतिरूप है। वह विह्वलता प्रेम नहीं है, वह प्रेम की स्मृति की कसक की है।

अपने इस प्रेम के अभिनय का जब मैं प्रत्यावलोकन करता हूँ, तब मुझे एक जलन-सी होती है। प्रेम से मुझे जो आशा थी, वह पूर्ण नहीं हुई, और उसकी आपूर्ति के लिए मैं किसी प्रकार भी दोषी नहीं था। मुझे यहाँ प्रतीत होता है कि नियन्ता ने मेरे प्रति, और इस लता के प्रति, और उन अबोध स्त्रियों के प्रति, जो मुझे देवता कहकर सम्बोधित करती थीं, न्याय नहीं किया। निर्दोष होते हुए भी हम अपने किसी अधिकार से, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, वंचित रह गये। जब इस भाव से, इस प्रवंचना के ज्ञान से, मैं उद्विग्न हो जाता हूँ, तब मुझे इच्छा होती है कि मैं वृक्ष न होकर मानव होता। इस तरह एक ही स्थान में बद्ध होकर न रहता, इधर-उधर घूमकर अपने प्रेम को व्यक्त कर सकता, और—और इस तरह भुजहीन असहाय न होता!

किन्तु क्या मानव-हृदय मेरी संज्ञा से इतना भिन्न है? क्या मानवों के प्रेम में और मेरे में इतनी असमानता है? क्या मानव में भी हमारी तरह मूकवेदनाएँ नहीं होती, क्या उनमें भी प्रेम के अंकुर का अँधेरे में ही प्रस्फुटन और विकसन और अवसान नहीं हो जाता? क्या वे प्रेम-विह्वल होकर अपने-आपको अभिव्यक्ति के सर्वथा अयोग्य नहीं पाते, क्या उनमें लज्जा अनुरक्ति का और ग्लानि लालसा का अनुगमन नहीं करती? ये मानव हैं, हम वनस्पति; ये चलायमान हैं, हम स्थिर, पर साथ ही हम उनकी अपेक्षा बहुत दीर्घजीवी हैं, और हमारी संयम-शक्ति भी उनसे बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी है। उनका प्रेम सफल होकर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है, और हममें प्रेम की जलन ही कितने वर्षों तक कसकती रहती है।

बहुत दिनों की बात है। उन दिनों मुझे इस वल्लरी के स्पर्श में मादकता का भास हुआ ही था, इसके आलिंगन से गुदगुदी होनी आरम्भ ही हुई थी! उन दिनों मैं उस नये प्रेम का विकास देखने और समझने में ही इतना व्यस्त था कि आसपास होनेवाली घटनाओं में मेरी आसक्ति बिलकुल नहीं थी, कभी-कभी विमनस्क होकर मैं उन्हें एक आँख देखभर लेता था। वह जो बात मैं कहने लगा हूँ, उसे मैं नित्यप्रति देखा करता था, किन्तु देखते हुए भी नहीं देखता था। और जब वह बात खत्म हो गयी, तब उसकी ओर मेरा उतना ध्यान भी नहीं रहा। पर मेरे जाने बिना ही मुझ पर अपनी छाप छोड़ गयी, और आज मुझे वह बात नहीं, उस बात की छाप ही दीख रही है। मैं मानो प्रभात में बालुकामय भूमि पर अंकित पदचिह्नों को देखकर, निशीथ की नीरवता में उधर से गयी हुई अभिसारिका की कल्पना कर रहा हूँ!

मेरे चरणों पर पड़े हुए उस पत्थर की पूजा करने जो स्त्रियाँ आती थीं, उनमें कभी-कभी कोई नयी मूर्ति आ जाती थी, और कुछ दिन आती रहने के बाद लुप्त हो

जाती थी। ये नयी मूर्तियाँ प्रायः बहुत ही लज्जाशील होतीं, प्रायः उनके मुख फुलकारी के लाल और पीले अवगुंठन से ढके रहते, और वे धोती इतनी नीची बाँधती कि उनके पैरों के नुपूर भी न दीख पाते! केवल मेरे समीप आकर जब वे प्रणाम करने को झुकतीं, तब उनका गोधूम-वर्ण मुख क्षण-भर के लिए अनाच्छादित हो जाता, क्षण-भर उनके मस्तक का सिन्दूर कृष्ण मेघों में दामिनी की तरह चमक जाता, क्षण-भर के लिए उनके उर पर विलुलित हारावली मुझे दीख जाती, क्षणभर के लिए पैरों की किंकिणियाँ उद्घाटित होकर चुप हो जाती और मुग्ध होकर बाह्य संसार की छटा को और अपनी स्वामिनियों के सौन्दर्य को निखरने लगतीं! फिर सब-कुछ पूर्ववत हो जाता, अवगुंठन उन मुखों पर अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए उन्हें छिपाकर रख लेते, हारावलियाँ उन स्निग्ध उरों में छिपकर सो जातीं, और नूपुर भी मुँह छिपाकर धीरे-धीरे हँसने लगते।

एक बार उन नयी मूर्तियों में एक ऐसी मूर्ति आयी,जो अन्य सभी से भिन्न थी। वह सबकी आँख बचाकर मेरे पास आती और शीघ्रता से प्रणाम करके चली जाती, मानो डरती हो कि कोई उसे देख न ले। उसके पैरों में नुपूर नहीं बजते थे, गले में हारावली नहीं होती थी, मुख पर अवगुंठन नहीं होता था, ललाट पर सिन्दूर तिलक नहीं था। अन्य स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहनकर आती थीं, वह शुभ्र वसना थी। अन्य स्त्रियाँ प्रातःकाल आती थीं; पर उसका कोई निर्दिष्ट समय नहीं था। कभी प्रातः काल, कभी दिन में, कभी सन्ध्या को वह आती थी... जिस दिन उसका आना संन्ध्या को होता था, उस दिन वह प्रणाम और प्रदक्षिण कर लेने के बाद मेरे पास ही इस अमरवल्लरी का सहारा लेकर भूमि पर बैठ जाती, और बहुत देर तक अपने सामने सूर्यास्त के चित्र-विचित्र मेघ-समूहों को, अलसी और पोस्त के पुष्पमय खेतों को, और गाँव से आनेवाले छोटे-से धूलभरे पथ को देखती रहती... उसके मुख पर अतीत स्मृति जनित वेदना का भाव व्यक्त हो जाता, कभी-कभी वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़ देती... उस समय सहानुभूति और संवेदना में पत्ते भी सरसर ध्वनि कर उठते... वह कभी कुछ कहती नहीं थी, कभी कोई प्रार्थना नहीं करती थी। मुझे चुपचाप प्रणाम करती और चली जाती—या वहीं बैठकर किसी के ध्यान में लीन हो जाती थी। उस ध्यान में कभी-कभी वह कुछ गुनगुनाती थी, पर उसका स्वर इतना अस्पष्ट होता था कि मैं पूरी तरह समझ नहीं पाता।

पहले मेरा ध्यान उसकी ओर नहीं जाता था; किन्तु जब वह नित्य ही गोधूलि वेला में वहाँ आकर बैठने लगी, तब धीरे-धीरे मैं उसकी ओर आकृष्ट होने लगा। जब सूर्य की प्रखरता कम होने लगती, तब मैं उसकी प्रतीक्षा करने लग जाता था—कभी अगर उसके आने में विलम्ब हो जाता, तो मैं कुछ उद्विग्न-सा हो उठता...

एक दिन वह आयी नहीं। उस दिन मैं बहुत देर तक उसकी प्रतीक्षा करता

रहा। सूर्यास्त हुआ, अँधेरा हुआ, तारे निकल आये, आकाश-गंगा ने गगन को विदीर्ण कर दिया, पर वह नहीं आयी।

उसके दूसरे दिन भी नहीं, तीसरे दिन भी नहीं—बहुत दिनों तक नहीं। जब मैंने उसकी प्रतीक्षा करनी छोड़ दी, तब सन्ध्या के एकान्त में मैं अपनी उद्भ्रान्त मनोगति को इस अमर वल्लरी की ओर ही प्रवृत्त करने लगा।

जब मैं उसे बिलकुल भूल गया, तब एक दिन वह सहसा आ गयी। वह दिन मुझे भली प्रकार याद है। उस दिन आँधी चल रही थी, काले-काले बादल घिर आये थे, ठंड खूब हो रही थी। मैं सोच रहा था कि वर्षा आएगी, तो अमरवल्लरी की रक्षा कैसे करूँगा। एकाएक मैंने देखा, उस धूलिधूसर पथ पर वह चली आ रही थी। वह अब भी पहले की भाँति अलंकृत थी, उसका शरीर अब भी श्वेत वस्त्रों से आच्छादित था; पर उसकी आकृति बदल गयी थी, उसका सौन्दर्य लुप्त हो गया था। उसके शरीर में काठिन्य आ गया था, मुख पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं, आँखें घँस गयी थीं, होंठ ढीले होकर नीचे लटक गये थे। जब उस पहली मूर्ति से मैंने उसकी तुलना की, तो मेरा अन्तस्तल काँप गया। पर मैं चुपचाप प्रतीक्षा में खड़ा रहा। उसने मेरे पास आकर मुझे प्रणाम नहीं किया, न इस वल्लरी का सहारा लेकर बैठी ही। उसने एक बार चारों ओर देखा, फिर बाँहें फैलाकर मुझसे लिपट गयी और फूट-फूटकर रोने लगी। उसके तप्त आँसू मेरी त्वचा को सींचने लगे।

मैंने देखा, वह एकवसना थी, और वह वस्त्र भी फटा हुआ था। उसके केश व्यस्त हो रहे थे, शरीर धूल से भरा हुआ था, पैरों से रक्त बह रहा था।

वह रोते-रोते कुछ बोलने भी लगी...

''देवता, मैं पहले ही परित्यक्ता थी, पर मेरी बुद्धि खो गयी थी! पर फिर भी तुम्हारी शरण छोड़ गयी! मैं कृतघ्न थी, चली गयी। किस आशा से? प्रेम—धोखा—प्रवंचना! प्रतारणा! उस छली ने मुझे ठग लिया, फिर—फिर—देवता, मैं पतिता, भ्रष्टा कलंकिनी हूँ। मुझे गाँव के लोगों ने मारकर निकाल दिया, अब मैं—मैं निर्लज्जा हूँ! अब तुम्हारी शरण आयी हूँ, अकेली नहीं, कलंक के भार से दबी हुई, अपनी कोख में कलंक धारण किये हुए!''

उसका वह रुदन असह्य था, पर हमको विश्वकर्मा ने चुपचाप सभी कुछ सहने को बनाया है!

मुझ पर उसका पाश शिथिल हो गया, उसके हाथ फिसलने लगे, पर उसकी मूर्छा दूर न हुई। रात बहुत बीत गयी, उसका संज्ञा-शून्य शरीर काँपने लगा, फिर अकड़ गया... वह मूर्छा में ही फिर बड़बड़ाने लगी :

''देवता हो? छली! कितना धोखा, कितनी नीचता! प्रेम की बातें करते तुम्हारी जीभ न जल गयी! तुम्हारी शरण आऊँगी, तुम्हारी! वह कलंक का टीका

नहीं है, मेरा पुत्र है! तुम नीच थे, तुमने मुझे अलग कर दिया। वह मेरा है, तुम्हारे पाप से क्यों कलंकित हो गया? तुम देवता हो देवता। मैं तुम्हारी शरण से भाग गयी थी। पर वह पाप—उसमें तो मेरा भी हाथ था? तुम्हारी शरण में मुझे शान्ति मिलेगी— मैं ही तो उसके पास गयी थी—कलंकिनी! पर वह अबोध शिशु तो निर्दोष है, वह क्यों जलेगा? क्यों काला होगा? देवता, तुम बड़े निर्दय हो। उसे छोड़ देना! मैं मरूँगी, जलूँगी, पर वह बचकर कहाँ जाएगा! देवता, देवता, तुम उसका पोषण करना!"

उसके शरीर का कम्पन बन्द हो गया, प्रलाप भी शान्त हो गया—पर कुछ ही देर के लिए!

धीरे-धीरे तारागण का लोप हो गया, आकाश-गंगा भी छिप गयी। केवल पूर्व में एक प्रोज्ज्वल तारा जगमगाता रह गया। पवन की शीतलता एकाएक बढ़ गयी, अन्धकार भी प्रगाढ़तर हो गया... उस महाशान्ति में एकाएक उसके शरीर में संजीवन आ गया, वह एक हृदय-विदारक चीख मारकर उठी, उठते ही उसने अपने एकमात्र वस्त्र को फाड़ डाला। फिर वह गिर गयी, उसके अंगों के उत्क्षेप बन्द हो गये, उसका शरीर शिथिल, निःस्पन्द हो गया...

जब सूर्य का प्रकाश हुआ, तब मैंने देखा, वह मेरे चरणों में पड़ी है,

उसका विवस्त्र और संज्ञाहीन शरीर पीला पड़ गया था, और उकसे अंग नीले पड़ गये थे... उसके पास ही उसका फटा हुआ एकमात्र वस्त्र रक्त से भीगा हुआ पड़ा था—और उसके ऊपर एक मलिन, दुर्गन्धमय मॉंसपिंड... और वर्षा के प्रवाह में वह रक्त धुलकर, बहकर, बहुत दूर तक फैल कर कीचड़ को लाल कर रहा था...

कैसी भैरव थी वह आहुति!

क्या यही है मानवों का प्रेम!

शायद मेरी धारण गलत है। शायद मेरे अपने प्रेम की उच्छृंखलता ने मेरी कल्पना को भी उद्भ्रान्त कर दिया है। मानव अल्पायु होकर भी इतने नीच हो सकते हैं, इसका सहसा विश्वास नहीं होता! पर जब मुझे ध्यान हो आता है कि मेरी जड़ें दो ऐसी बलियों के रक्त से सिक्त हैं, जिनके अन्त का एकमात्र कारण यही था, जिसे वे मानव-प्रेम कहते हैं, तब मुझे मानवता के प्रति ग्लानि होने लगती है। पर उन दोनों का बलिदान प्रेम की वेदी पर हुआ था, या इन मानवों के समाज की, या वासना की? वह स्त्री तो वंचित थी, उसने तो प्रेम के उत्तर में वासना ही पायी थी। पर उसका अपना प्रेम तो दूषित नहीं था, वह तो वासना की दासी नहीं थी। और समाज—समाज ने तो पहले ही उसे ठुकरा दिया था, समाज ने तो उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखा था। और उस अज्ञात शिशु ने समाज का क्या बिगाड़ा था, वह वासना में कब पड़ा था?

मेरे नीचे उस पत्थर की पूजा करने कितनी ही स्त्रियाँ आती थीं, वे तो सभी प्रसन्नवदना होती थीं, उनकी बात मैं क्यों सोचता? मानव-प्रेम की असफलता का एक यही उदाहरण मैंने देखा था, उसी पर क्यों अपना चित्त स्थिर किये हूँ? वे जो इतनी आच्छादित, अवगुंठित, अलंकृत चपलाएँ वहाँ आती थीं और सहज स्वभाव से या कभी-कभी सम्भ्रम से मेरे सिन्दूर-तिलक लगाती और मेरा आलिंगन कर लेती थीं, उनके प्रणय तो सभी सुखमय हो होंगे, उनका प्रेम तो इतना विमूढ़ और विवेकहीन नहीं होता होगा? और फिर मानवों का तो प्रेम के विषय में आत्मनिर्णय करने का अधिकार होता है? उनके जीवन में तो ऐसा नहीं होता कि विधाता—या मनुष्य ही— जिस वल्लरी को उनके निकट अंकुरित कर दें, उसी से प्रणय करने को बाध्य हो जाना पड़े?

पर मैंने सुना है--गाँव से पूजा के लिए आनेवाली उन स्त्रियों के मुख से ही सुना है—कि उनके समाज में भी इस प्रकार के अनिच्छित बन्धन होते हैं। एक बार मैंने देखा भी था—देखा तो नहीं था, किन्तु कुछ ऐसे दृश्य देखे थे जिससे मुझे इसकी अनुभूति हुई थी...

कभी-कभी, सन्ध्या के पक्षिरव-कूजित एकान्त में, मुझे एकाएक इस बात का उद्‌बोधन होता है कि मेरा जीवन—इतना लम्बा जीवन!...व्यर्थ बीत गया... इस वल्लरी के अनिश्चित बन्धन से—पर जो मुझे पागल कर देता है मेरे हृदय में उथल—पुथल मचा देता है, मेरे शरीर को दर्द और व्यथा से विह्वल कर देता है, जिससे छूट जाने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता, उस बन्धन को अनिश्चित कैसे कहूँ? इस उद्‌बोधन की उग्रता को मिटाने के लिए मैं कितना प्रयत्न करता हूँ, पर वह जाती नहीं... मेरे हृदय में यह निरर्थकता का ज्ञान, यह जीने की इच्छा, यह संचित शक्ति का व्यय करने की कामना, किसी और भाव के लिए स्थान ही नहीं छोड़ती! मैं चाहता हूँ, अपने व्यक्तित्व को प्रकृति की विशालता में मिटा दूँ, इस निरर्थकता के ज्ञान को दबा दूँ और जैसा कभी अपने यौवन-काल में था, वैसा ही फिर से हो जाऊँ; पर कहाँ एक बूढ़े वृद्ध की चाह और कहाँ विधाता का अमिट निर्देश! मैं बोलना चाहता हूँ—मेरे जिह्वा नहीं है; हिलना चाहता हूँ—मेरे पैर नहीं हैं; रोना चाहता हूँ—पर उसके लिए आँखें ही नहीं हैं तो आँसू कहाँ से आएँगे... मैं चाहता हूँ, किसी से प्रेम कर पाऊँ—इतना विशाल, इतना अचल, इतना चिरस्थायी प्रेम कि संसार उससे भर जाए; पर मेरी अपनी विशालता, मेरी अपनी अचलता, मेरा अपना स्थायित्व इस कामना में बाधा डालता है! मैं प्रेम की अभिव्यक्ति कर नहीं सकता, और जब करना चाहता हूँ, तब लज्जित हो जाता हूँ... जितना विशाल मैं हूँ, इतनी विशाल धुरा अपने प्रेम के लिए कहाँ पाऊँ? और किसी अकिंचन वस्तु से प्रेम करना प्रेम की अवहेलना है...

यह अमरवल्लरी—इसमें स्थायित्व है, दृढ़ता है, पर यह चंचला भी है, और इसमें विशालता भी नहीं है—यह तो मेरे ही शरीर के रस से पुष्ट होती है!

एक स्मृति-सी मेरे अन्तस्तल में घूम रही है, पर सामने नहीं आती, मुझे उसकी उपस्थिति का आभास ही होता है। जिस प्रकार कुहरे में जलता हुआ दीपक नहीं दीख पड़ता, पर उससे आलोकित तुषारपुंज दीखता रहता, उसी तरह स्मृति स्वयं नहीं प्रकट होती, परन्तु स्मृति मेरे अन्तस्तल में काँप रही है।

उस स्मृति का सम्बन्ध इसी प्रेम की विशालता से था, इतना मैं जानता हूँ; पर क्या सम्बन्ध था, नहीं याद आता...

एक और घटना याद आती है, जिसने किसी समय एकाएक विद्युत की तरह मेरे हृदय को आलोकित कर दिया था—पर इतने प्रदीप्त आलोक से कि मैं बहुत देर के लिए चकाचौंध हो गया था...

उन दिनों मेरी पूजा—या मेरे चरणस्थित देवता की पूजा—नहीं होती थी। जब से वहाँ रक्त -प्रलिप्त देह और माँस पिंड पाया गया, तब से लोग शायद मुझसे डरने लगे थे। कभी-कभी सन्ध्या को जब कोई बटोही उधर से निकलता था, तब एक बार सम्भ्रम से मेरी ओर देखकर जल्दी-जल्दी चलने लग जाता था। दिन में कभी-कभी लड़के उस धूल-भरे पथ में आकर खड़े हो जाते और वहीं से मेरी ओर इंगित करके चिल्लाते, "भुतहा!" मैं उनका अभिप्राय नहीं समझा था, फिर भी उनके शब्दों में उपेक्षा और तिरस्कार का स्पष्ट भाव मुझे बहुत दुःख देता था...

क्या मानवों की भक्ति उतनी ही अस्थायिनी है, जितना उनका प्रेम। अभी उस दिन मैं गाँव के विधाता की तरह पूजित था, इतनी स्त्रियाँ मेरे चरणों में सिर नवाती थीं और प्रार्थना करती थीं, "देवता, मेरा दुःख मिटा दो!" मुझमें दुःख मिटाने की शक्ति नहीं थी, पर एक मूक सहानुभूति तो थी। मेरी अचलता उनकी मेरे प्रति श्रद्धा कम नहीं करती थी, बढ़ाती ही थी। पर जब उस स्त्री ने आकर मेरे चरणों में अपना दुःख स्वयं मिटा लिया, तब उनके हृदय से आदर उठ गया! इतने दिन से मैं दुःख की कथाएँ सुना करता था, देखा कुछ नहीं था। उस दिन मैंने देख लिया कि मानवता का दुःख कहाँ है, पर उस ज्ञान से ही मैं कलुषित हो गया! जब मैं दुःख जानता ही नहीं था, तब इतने प्रार्थी आते थे। अब मैं जान गया हूँ, तब वे दुःख-निवारण की प्रार्थना करने नहीं आते, मेरा ही दुःख बढ़ा रहे हैं।

भक्ति तो अस्थायिनी है ही—भक्ति और प्रेम का कुछ सम्बन्ध है। मैं अभी तक प्रेम ही के नहीं समझ पाया हूँ, यद्यपि इसकी मुझे स्वयं अनुभूति हुई है। भक्ति—भक्ति मैंने देखी ही तो है!

जब मेरे वे उन्माद के दिन बीत गये, जब मेरी त्वचा में कठोरता आने लगी, मेरी शाखाओं में गाँठें पड़ गयीं, तब मुझे प्रेम का नया उद्‌बोधन हुआ। मेरे बिखरे

हुए विचारों में फिर एक नये आशा-भाव का संचार हुआ, संसार मानो फिर से संगीत से भर गया...

कीर्ति—अच्छी या बुरी—कुछ भी नहीं रहती। एक दिन मैंने अपनी सत्कीर्ति को धूल में मिलते देखा था, एक दिन ऐसा आया कि मेरी कुकीर्ति भी बुझ गयी। सत्कीर्ति का मन्दिर एक क्षण ही में गिर गया था, कुकीर्ति के मिटने में वर्षों लग गये—पर वह मिट गये। लोग फिर मेरे निकट आने लगे; पूजा-भाव से नहीं, उपेक्षा से। गाँव की स्त्रियाँ फिर मेरे चरणों में बैठने लगीं; आदर से नहीं, दर्प से, या कभी थकी होने के कारण। बालिकाएँ फिर मेरे आसपास एकत्र होकर नाचने लगीं; न श्रद्धा से, न तिरस्कार से, केवल इसलिए कि घर से भाग कर वहाँ आ जाने में उन्हें आनन्द आता था। मेरे टूटे हुए मन्दिर का पुनर्निर्माण तो नहीं हुआ, पर उसके भग्नावशेष पर चूना फिर गया!

पर उस खंडहर से ही नयी आशा उत्पन्न हुई!

जब प्रभात होता था, मेरा शिखर तोतों के समूह से एकाएक ही कूजित हो उठता था, शीतल पवन में मेरे पत्ते धीरे-धीरे काँपने लगते थे, न जाने कहाँ से आकर कमलों की सुरभि वातावरण को भर देती थी, इस वल्लरी के शरीर में भी एक उल्लास के कम्पन का अनुभव मुझे होता था; जब सारा संसार एक साथ ही कम्पित, सुरभित, आलोकित हो उठता था, तब वह आती थी और उन खेतों में, जिनमें छटी हुई घास में, अर्धविस्मृत अलसी और पोस्त के फूलों का प्रेत नाच रहा था, बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रहती थी। फिर जब धूप बहुत बढ़ जाती थी, जब उसका मुख श्रम से आरक्त हो जाता था, और उस पर स्वेद-बिन्दु चमकने लगते थे, तब वह हँसती हुई आकर मेरी छाया में बैठ जाती थी।

उसकी वेश-भूषा विचित्र थी। गाँव की स्त्रियों में मैंने वह नहीं देखी थी। वह प्राय: श्वेत या नीला आभरण पहनती थी, और उसके केश आँचल से ढके नहीं रहते थे। उसका मुख नमित नहीं रहता था, वह सदा सामने की ओर देखती थी। उसकी आँखों में भीरुता नहीं थी, अनुराग था, और साथ ही थी एक अव्यक्त ललकार—मानो वे संसार से पूछ रही हों, "अगर मैं तुम्हारी रीति को तोड़ूँ, तो तुम क्या कर लोगे?"

वह वहाँ समाधिस्थ-सी होकर बैठी रहती, उसके मुख पर का वह मुग्ध भाव देख कर मालूम होता कि वह किसी अकथनीय सुख की आन्तरिक अनुभूति कर रही हो। मैं सोचता रहता कि कौन-सी ऐसी बात हो सकती है, जिसका स्मृतिमात्र इतनी सुखद है! कितने ही दिन वह आती रही, नित्य ही उसके मुख पर आत्म-विस्मृति का वह भाव जाग्रत होता, नित्य ही वह एक घंटे तक ध्यानस्थ रहती और आकर चली जाती, पर मुझे उस पर परमानन्द के निर्झर का स्रोत न मालूम होता।

फिर एक दिन एकाएक भेद खुल गया—जिस परिहासमय देवता की उपासना मैंने की थी, वह भी उसी की उपासिका थी; परन्तु परिणाम हमारे कितने भिन्न थे!

एक दिन वह सदा की भाँति अपने ध्यान में लीन बैठी थी। उस गाँव से आने वाले पथ पर एक युवक धीरे-धीरे आया, और मेरे पीछे छिप कर उसे देखने लगा। उसका ध्यान नहीं हटा, वह पूर्ववत् बैठी रही। जब उसकी समाधि समाप्त हो गयी, तब वह उठकर जाने लगी; तब भी उसने नवागंतुक को नहीं देखा।

वह युवक स्मित-मुख से धीरे-धीरे गाने लगा :

चूनरी विचित्र स्याम सजिकै मुबारक जू
ढाँकि नख-सिख से निपट सकुचाति है;
चन्द्रमै लपेटि कै समेटि कै नखत मानो
दिन को प्रणाम किये रात चली जाति है!

वह चौंक कर घूमी, फिर बोली, "तुम—यहाँ!" उसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता! वह था कुछ नहीं—केवल कोमल शब्दों का विनिमय, आँखों का इधर-उधर भटक कर मिलन और फिर नमन—बस! पर मेरे लिए उसमें एक अभूतपूर्व आनन्द था—न जाने क्यों।

कुछ दिन तक नित्य यही होता रहा। किसी दिन वह पहले आती, किसी दिन युवक, पर दोनों ही के मुख पर वह विमुग्धता का, आत्म-विस्मृति का भाव रहता था। जिस दिन युवक पहले आता, वह मेरी छाया में बैठकर गाता :

नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम्—
बहुमनुतेऽतनु ते तनुसंगतपवनचलितमपि रेणुम्!

और जिस दिन वह पहले आती, वह उन खेतों में घूमती रहती, कभी-कभी ओस से भीगा हुआ एक-आध तृण उठाकर दाँतों से धीरे-धीरे कुतरने लगती।

एक दिन वह घूमते-घूमते थक गयी, और मेरे पत्तों की सघन छाया में इस वल्लरी के बन्धन का मेखलावत् पहनकर बैठ गयी। युवक नहीं आया।

दोपहर तक वह अकेली बैठी रही—उसके अंग-अंग में प्रतीक्षा थी, पर व्यग्रता नहीं थी। जब वह नहीं आया, तब वह कहने लगी—न जाने किसे सम्बोधित करके, मुझे या इस वल्लरी को, या अपने-आपको, या किसी अनुपस्थित व्यक्ति को—कहने लगी :

"यह उचित ही हुआ। और क्या हो सकता था? अगर कर्तव्य भूल कर सुख ही खोजने का नाम प्रेम होता, तो—! मैं जो-कुछ सोचती हूँ, समझती हूँ, अनुभव करती हूँ, उसका अणुमात्र भी व्यक्त नहीं कर सकी—पर इससे क्या? जो कुछ हृदय में था—है—उससे मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है। प्रेम में दुःख-सुख, शान्ति और व्यथा, मिलन और विच्छेद, सभी हैं, बिना वैचित्र्य के प्रेमी जी नहीं सकता...

नहीं तो जिसे हम प्रेम कहते हैं, उसमें सार क्या है?''

वह उठी और चली गयी। मेरी छाया से ही निकल कर नहीं, मेरे जीवन से निकल गयी। पर उसके मुख पर मलिनता नहीं थी, अब भी वही आत्म-विस्मृति उसकी आँखों में नाच रही थी...

मेरे लिए उसका वहीं अवसान हो गया। उसके साथ ही मानवी प्रेम की मेरी अनुभूति भी समाप्त हो गयी। शायद प्रेम की सबसे अच्छी व्याख्या ही यही है कि इतने वर्षों के अन्वेषण के बाद भी मेरा सारा ज्ञान एक प्रश्न ही में समाप्त हो जाता है—''नहीं तो, जिसे हम प्रेम कहते हैं, उसमें सार क्या है?'' किन्तु इतने वर्षों में जिस अभिप्राय को, जिस सार्थकता को, मैं नहीं खोज पाता था, वह उसी स्त्री के एक ही प्रश्न में मुझे मिल गयी। उस दिन मैं समझने लगा कि अभिव्यक्ति प्रेम के लिए आवश्यक नहीं है... उसने कहा तो था, ''जो कुछ मेरे हृदय में था—है—उससे मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है!'' मैं अपना प्रेम नहीं व्यक्त कर सका, मेरा जीवन एक प्रकार से न्यून, अपूर्ण रह गया, पर इससे क्या? उस दीप्तिमय आत्म-विस्मृति का एक क्षण भी इतने दिनों की व्यथा को सार्थक कर देता है!

मैं देखता हूँ, संसार दो महाशक्तियों का घोर संघर्ष है। ये शक्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं, एक ही प्रकृति के दो विभिन्न पथ हैं। एक संयोजक है—इसका भास फूलों से भौरों का मिलन में, विटप से लता के आश्लेषण में, चन्द्रमा से ज्योत्स्ना के सम्बन्ध में, रात्रि से अन्धकार के प्रणय में, उषा से आलोक के ऐक्य में, होता है; दूसरी शक्ति विच्छेदक है—इसका भास आँधी से पेड़ों के विनाश में, विद्युत से लतिकाओं के झुलसने में, दावानल से वनों के जलने में, शकुन्त द्वारा कपोतों के मारे जाने में होता है... कभी-कभी दोनों शक्तियों का एक ही घटना में ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भौचक हो जाते हैं, कुछ भी समझ नहीं पाते। प्रेम भी शायद ऐसी ही घटना है...

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि इतना कुछ देख और पाकर भी मैं वंचित ही नहीं, अछूत, परित्यक्त रह गया हूँ, मुझे बन्धुत्व की, सखाओं की कामना होती है; पर पीपल के वृक्ष के लिए बन्धु कहाँ है, संवेदना कहाँ है, दया कहाँ है; कभी पर्वत को भी सहारे की आवश्यकता होती है? मैं इतना शक्तिशाली नही हूँ कि बन्धुओं की कामना—उग्र कामना—ही मेरे हृदय के अन्तस्तल में न हो; किन्तु फिर भी देखने में मैं इतना विशाल हूँ, दीर्घकाय हूँ, दृढ़ हूँ, कि मुझ पर दया करने का, मेरे प्रति बन्धुत्व-भाव का ध्यान भी किसी को नहीं होता! उत्पत्ति और प्रस्फुटन की असंख्य क्रियाएँ मेरे चारों ओर होती हैं, और बीच में मैं वैसे ही अकेला खड़ा रह जाता हूँ, जैसे पुष्पित उपत्यकाओं से घिरा हुआ पर्वत-शृंग...

पर उसी समय मेरे हृदय में यह भाव उठता है कि मुझे यह दुखड़ा रोने का

कोई अधिकार नहीं है, मैंने जीवन में सब-कुछ नहीं पाया, बहुत अनुभूतियों से मैं वंचित रह गया, पर जीवन की सार्थकता के लिए जो कुछ पाया है, वह पर्याप्त है। न जाने कितनी बार मैंने वसन्त की हँसी देखी है, पक्षियों का रव सुना है; न जाने कितनी देर मैंने मानवों की पूजा पायी है, न जाने कितनी सरलाओं की श्रद्धापूर्ण अंजलि प्राप्त की है, और उन सबसे अधिक न जाने कितनी बार मुझे इस अमरवल्लरी के स्पर्श में एक साथ ही वसन्त के उल्लास का, ग्रीष्म के ताप का, पावस की तरलता, शरद की स्निग्धता का, हेमन्त की शुभ्रता का और शिशिर के शैथिल्य का अनुभव हुआ है, न जाने कितनी बार इसके बन्धनों में बँधकर और पीड़ित होकर मुझे अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान हुआ है! एक व्यथा, एक जलन, मेरे अन्तस्तल में रमती गयी है—कि मैं मूक ही रह गया, मेरी प्रार्थना अव्यक्त ही रह गयी—पर मुझे इस ध्यान में सान्त्वना मिलती है कि मैं ही नहीं, सारा संसार ही मूक है... जब मुझे अपनी विवशता का ध्यान होता है, तो मैं मानव की विवशता देखता हूँ; जब भावना होती है कि विश्वकर्मा ने मेरी प्रार्थना की उपेक्षा करके मेरे प्रति अन्याय किया है, तब मुझे याद आ जाता है कि मैं स्वयं भी तो इस सहिष्णु पृथ्वी की मूक प्रार्थना का, इसकी अभिव्यक्ति-चेष्टा का, नीरव प्रस्फुटन ही हूँ?

जिज्ञासा

ईश्वर ने सृष्टि की।

सब ओर निराकार शून्य था, और अनन्त आकाश में अन्धकार छाया हुआ था। ईश्वर ने कहा, 'प्रकाश हो' और प्रकाश हो गया। उसके आलोक में ईश्वर ने असंख्य टुकड़े किये और प्रत्येक में एक-एक तारा जड़ दिया। तब उसने सौर-मंडल बनाया, पृथ्वी बनायी। और उमे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

तब उसने वनस्पति, पौधे, झाड़ झंखाड़, फल फूल, लता-बेलें उगायीं; और उन पर मँडराने को भौंरे और तितलियाँ, गाने को झींगुर भी बनाए।

तब उसने पशु-पक्षी भी बनाये। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

लेकिन उसे शान्ति न हुई। तब उसने जीवन में वैचित्र्य लाने के लिए दिन और रात, आँधी-पानी, बादल-मेंह, धूप-छाँह इत्यादि बनाये; और फिर कीड़े-मकोड़े, मकड़ी-मच्छर, बर्रे-बिच्छू और अन्त में साँप भी बनाये।

लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। तब उसने ज्ञान का नेत्र खोलकर सुदूर भविष्य में देखा। अन्धकार में, पृथ्वी और सौर-लोक पर छायी हुई प्राणहीन धुन्ध में कहीं एक हलचल, फिर उस हलचल में धीरे-धीरे एक आकार, एक शरीर का, जिसमें असाधारण कुछ नहीं है, लेकिन फिर भी सामर्थ्य है; एक आत्मा जो निर्मित होकर भी अपने आकार के भीतर बँधती नहीं, बढ़ती ही जाती है: एक प्राणी जो जितनी बार धूल को छूता है नया ही होकर अधिक प्राणवान होकर, उठ खड़ा होता है...

ईश्वर ने जान लिया कि भविष्य का प्राणी यही मानव है। तब उसने पृथ्वी पर से धुन्ध को चीरकर एक मुट्ठी धूल उठायी और उसे अपने हृदय के पास ले जाकर उसमें अपनी विराट् आत्मा की एक साँस फूँक दी—मानव की सृष्टि हो गयी।

ईश्वर ने कहा, 'जाओ, मेरी रचना के महाप्राणनायक, सृष्टि के अवतंस!'

लेकिन कृतित्व का सुख ईश्वर को तब भी नहीं प्राप्त हुआ, उसमें का कलाकार अतृप्त ही रहा गया।

क्योंकि पृथ्वी खड़ी रही, तारे खड़े रहे। सूर्य प्रकाशवान नहीं हुआ, क्योंकि उसकी किरणें बाहर फूट निकलने से रह गयी! उस विराट सुन्दर विश्व में गति नहीं

आयी।

दूर पड़ा हुआ आदिम साँप हँसता रहा। वह जानता था कि क्यों सृष्टि नहीं चलती। और वह इस ज्ञान को खूब सँभालकर अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हुआ था।

एक बार फिर ईश्वर ने ज्ञान का नेत्र खोला, और फिर मानव के दो बूँद आँसू लेकर स्त्री की रचना की।

मानव ने चुपचाप उसकी देन को स्वीकार कर लिया; सन्तुष्ट वह पहले ही था, अब सन्तोष द्विगुणित हो गया। उस शान्त जीवन में अब भी कोई आपूर्ति न आयी और सृष्टि अब भी न चली।

और वह चिरन्तन साँप ज्ञान का अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हँसता रहा ।

2

साँप ने कहा, 'मूर्ख, अपने जीवन से सन्तुष्ट मत हो। अभी बहुत कुछ है जो तूने नहीं पाया, नहीं देखा, नहीं जाना। यह देख, ज्ञान मेरे पास है। इसी के कारण तो मैं ईश्वर का समकक्ष हूँ, चिरन्तन हूँ।'

लेकिन मानव ने एक बार अनमना-सा उसकी ओर देखा, और फिर स्त्री के केशों से अपना मुँह ढँक लिया। उसे कोई कौतूहल नहीं था, वह शान्त था।

बहुत देर तक ऐसे ही रहा। प्रकाश होता और मिट जाता; पुरुष और स्त्री प्रकाश में, मुग्ध दृष्टि से एक-दूसरे को देखते रहते, और अन्धकार में लिपटकर सो रहते।

और ईश्वर अदृष्ट ही रहता, और साँप हँसता ही जाता।

तब एक दिन जब प्रकाश हुआ, तो स्त्री ने आँखें नीची कर लीं, पुरुष की ओर नहीं देखा। पुरुष ने आँख मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की ओर न देख रही हो ऐसा नहीं है; वह किसी की ओर भी नहीं देख रही है, उसकी दृष्टि मानो अन्तर्मुखी हो गयी हो, अपने भीतर ही कुछ देख रही है, और उसी दर्शन में एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है... तब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्गत भाव से लेट गयी, पुरुष को देखती हुई, बल्कि उसकी ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई...

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँदकर वह ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उसके पास शब्द नहीं थे, भाव नहीं थे, दीक्षा नहीं थी। लेकिन शब्दों से, भावों से, प्रणाली के ज्ञान से परे जो प्रार्थना है, जो सम्बन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उसमें से फूट निकलने लगी...

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पड़ा रहा, गति उसमें नहीं आयी।

स्त्री रोने लगी। उसके भीतर कहीं दर्द की एक हूक उठी। वह पुकारकर कहने लगी, 'क्या होता है मुझे! मैं बिखर जाऊँगी, मैं मिट्टी में मिल जाऊँगी...'

पुरुष अपनी निस्सहायता में कुछ भी नहीं कर सका, उसकी प्रार्थना और भी आतुर, और भी विकल, और भी उत्सर्गमयी हो गयी, और जब वह स्त्री का दुःख नहीं देख सका, तब उसने नेत्र ख़ूब जोर से मींच लिये...

निशीथ के निविड़ अधकार में स्त्री ने पुकारकर कहा, 'ओ मेरे ईश्वर, ओ मेरे पुरुष यह देखो!'

पुरुष ने पास जाकर देखा, टटोला और क्षण-भर स्तब्ध रह गया। उसकी आत्मा के भीतर विस्मय की, भय की एक पुलक उठी, उसने धीरे से स्त्री का सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया...

फूटते हुए कोमल प्रकाश में उसने देखा, स्त्री उसी के एक बहुत स्निग्ध, बहुत प्यारे प्रतिरूप को अपनी छाती से चिपटाये है और थकी हुई सो रही है। उसका हृदय एक प्रकांड विस्मय से, एक दुस्सह उल्लास से भर आया और उसके भीतर एक प्रश्न फूट निकला, 'ईश्वर, यह क्या सृष्टि है जो तूने नहीं की?'

ईश्वर ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब मानव ने साँप से पूछा, 'ओ ज्ञान के रक्षक साँप, बताओ यह क्या है जिसने मुझे तुम्हारा और ईश्वर का समकक्ष बना दिया है—एक स्रष्टा—बताओ, मैं जानना चाहता हूँ?'

उसके यह प्रश्न पूछते ही अनहोनी घटना घटी। पृथ्वी घूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, फिर सूर्य उदित हो आया और दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तड़प उठी... विश्व चल पड़ा!

साँप ने कहा, 'मैं हार गया। ईश्वर ने ज्ञान मुझसे छीन लिया।' और उसकी गुंजलक धीरे-धीरे खुल गयी।

ईश्वर ने कहा, 'मेरी सृष्टि सफल हुई, लेकिन विजय मानव की है। मैं ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ। मैं कुछ खोजना नहीं। मानव में जिज्ञासा है, अतः यह विश्व को चलाता है, गति देता है...'

लेकिन मानव की उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। पुकार-पुकारकर कहता जाता था, 'मैं जानना चाहता हूँ।'

और जितनी बार वह प्रश्न दुहराता था, उतनी बार सूर्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेज़ी से घूमने लगती थी, विश्व कुछ अधिक गति से चल पड़ता था और मानव के हृदय का स्पन्दन भी कुछ अधिक भरा हो जाता था।

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ बैठता है, तब अनहोनी घटनाएँ होने लगती हैं।

हारिति

वह सुन्दरी नहीं थी। उसके मुख पर सौन्दर्य की आभा का स्थान तेज की दीप्ति ने ले लिया था। उसकी आँखों में कोमलता न थी, वहाँ कृतनिश्चय की दृढ़ता ही झलकती थी। उसके सिर की शोभा उस पर की अलकावलियों में नहीं थी, वरन कटे हुए बालों के नीचे उस उघड़े हुए प्रशस्त ललाट में।

कहते हैं, स्त्री के जीवन में आनन्द हैं, स्नेह है, प्रेम है, सुख है। उसके जीवन में वे सब कहाँ थे? जब से उसने होश सम्भाला, जबसे उसने अपने चारों ओर चीन से प्राचीन देश का विस्तार देखा; जबसे उसने अपनी चिरमार्जित सभ्यता का तत्त्व समझा, तब से उसके जीवन में कितनी दु:खमय घटनाएँ हुई थीं! जब वह छ: वर्ष की थी, तभी उसके पिता को जर्मन सेना ने तोप के मोहरे से बाँधकर उड़ा दिया था; क्योंकि वे 'बाक्सर' नामक गुप्त-समिति के सदस्य थे। उसके बाद 1900 वाले 'बाक्सर'-विप्लव में, जब उसकी आयु 11 वर्ष की भी नहीं हुई थी, जर्मन और अँगरेज सेना ने आकर उसके छोटे-से गाँव में आग लगा दी थी। वहाँ के स्त्री-पुरुष सब जल गये। उसमें उसकी वृद्धा माता भी थी। केवल उसे, उस अनाथिनी को, जो उस समय सीक्यांग नदी से पानी भरने गयी हुई थी, न जाने किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किस भैरव यज्ञ में आहुतिरूप अर्पण करने के लिए, विधाता ने बचा लिया। वह गाँव की ओर आयी, तो दो-चार बचे हुए लोग रोते-चिल्लाते भागे जा रहे थे। वे उसे भी खींचकर ले गये। वह बेचारी अपनी माता के शरीर की राख न देख पायी। उस दिन से कैसा भीषण रहा था उसका जीवन! फूस की झोपड़ियों में रहना या कभी-कभी सीक्यांग के किनारे, टिड्डी-दल की तरह एकत्रित, अँधेरी गन्दी, धुएँ से काली डोंगियों में पड़े रहना... उसके अभिभावक, गरीब मछुए, दिन में अफीम खाकर सो रहते। वह उस गर्मी में बन्द एक कोने में बैठकर सोचा करती, कब तक देश की यह दशा रहेगी, कब तक विदेशी सिपाही इस प्रकार पहले हमारे घर जलाएँगे और फिर हमें दंड देंगे, हमारे देश से करोड़ों रुपये ले जाएँगे...

आज वह युवती थी। अभी अविवाहिता थी, कुमारियों के जीवन में जो आनन्द होता है, वह उसने अपने निर्दय जीवन में कभी नहीं पाया। उन मछुओं की सदस्य, किन्तु निर्धन, शरण से निकलकर उसने कुली का काम किया, और उससे संचित

धन से अपना शिक्षण किया था। अब वह कैंटन-सेना में जासूस का काम करती थी।

वह सुन्दरी नहीं थी। उसके जीवन में सौन्दर्य के लिए कोई स्थान ही न छोड़ा था। उसकी एकमात्र शोभा--उसके केश—भी आज नहीं रहे थे। आज वह जासूस का काम करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत थी। वह प्राय: पुरुष-वेश में ही रहती, कभी-कभी आवश्यकता होने पर ही स्त्री-वेश पहन लिया करती। उसकी सहचारियाँ जब कभी उससे इस विषय में प्रश्न करतीं, तो वह कहती, ''जिस देश में पुरुष भी गुलाम हो, उसमें स्त्री होने से मर जाना अच्छा है।''

उसकी बात शायद सच भी थी। चीन की दशा उन दिनों बहुत बुरी थी—अशान्ति सब ओर फैली हुई थी। इधर कैंटन में सनयात-सेन अपनी सेना का संगठन कर रहे थे। उधर से समाचार आया था कि मंचूरिया से सम्राट का सेनापति युवान शिकाई बहुत बड़ी सेना लेकर आ रहा है। कैंटन की औद्योगिक अशान्ति का स्थान अब एक नये प्रकार के संजीवन ने ले लिया। जिधर आँख उठती, उधर ही लोग वर्दियाँ पहने नजर आते। कैंटन-सेना स्वयं-सेवी थी, युवान शिकाई की सेना में सभी वेतन पाकर काम करते थे। कैंटन-सेना के सैनिकों के आगे साम्य का आदर्श था, युवान शिकाई के आगे व्यक्तिगत लाभ का। कैंटन-सैनिकों के हृदय में प्रजातन्त्र की चाह थी, युवान शिकाई के सैनिक साम्राज्यवाद की हिली हुई नींव फिर से जमाना चाहते थे। कैंटन की सेना विश्वास के कारण लड़ती थी, युवान शिकाई की लोभ के कारण। पर कैंटन के सैनिक बहुत थोड़े थे, और उनके विरुद्ध युवान शिकाई एक शस्त्र-वेष्टित प्रलय-प्रहरी लिये बढ़ा आ रहा था। उन थोड़े से गुप्तचरों को दिन-रात अनवरत काम करना पड़ता था; कभी इधर, कभी उधर, कभी सन्देश पहुँचाना कभी खबरें लाना— कभी-कभी एक-एक रात में चालीस-चालीस मील तक पैदल चलना पड़ जाता था; पर उनके सामने जो आदर्श था, हृदय में जो दीप्ति थी, वह उन्हें प्रोत्साहित करती, उन्हें शक्ति प्रदान करती, उन्हें विमुख होने से बचाती थी।

पर सभी के हृदय में वह आदर्श—वह दीप्ति नहीं थी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जिनके हृदय में दूसरी इच्छाओं, दूसरी आशाओं, दूसरी स्मृतियों ने घर कर रखा था। जिनका ध्यान युवान शिकाई की प्रगति की ओर नहीं, प्रणय की प्रगति की ओर था; जिनके मन में दृढ़-विश्वास का आलोक नहीं, विरह का प्रज्वलन था। पर जिस तरह कसौटी पर चढ़ने से पहले सभी धातुएँ सोने की तरह सम्मानित होती हैं, उसी तरह वे भी संघर्ष से पहले सच्चे वीरों में गिने जाते थे। जिस महान परीक्षा से पृथक्करण होना था, वह अभी आरम्भ नहीं हुई थी।

वह नित्यप्रति जब उठकर अपनी मर्दानी वर्दी पहनती, तो किसी अनियन्त्रित शक्ति

से प्रार्थना किया करती : "शक्ति! मुझे इतनी दृढ़ता दे कि मैं उस आनेवाली परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकूँ। मैं स्नेह से वंचित रही हूँ, अनाथिनी हूँ, प्रेम करने का अधिकार मुझे नहीं है—मैं दासी हूँ। कीर्ति की मुझे इच्छा नहीं है—गुलाम की क्या कीर्ति; पर मुझे पथ-भ्रष्ट न करना, मुझे विश्वास के अयोग्य न बना देना।"

फिर वह शान्त होकर अपने तम्बू से बाहर निकल आती, और दिन-रात दत्त-चित्त होकर अपना काम करती। दिन में उसे कभी अनिश्चय का, विश्वास का, कातरता का अनुभव न होता। सभी उसके प्रशस्त ललाट, उसके प्रोज्ज्वल नेत्र, उसके तेजोमय मुख को देखकर विस्मित रह जाते।

घनघोर वर्षा हो रही थी। पाँच दिन से वह अविरल जल-धारा नहीं रुकी थी वह पीतवर्णा, कृशकाया, सीक्यांग आज घहर-घहर करती बह रही थी। उसका पाट पहले से दुगना हो गया, और रंग बदल कर लालिमामय हो रहा था। उसके किनारे, वही जहाँ दस वर्ष पहले अँग्रेज और जर्मन सेना ने एक छोटे-से गाँव को अधिवासियों सहित जला दिया था, आज एक बड़ा फौजी शिविर था, और कितनी ही छोटी-छोटी छोलदारियाँ इधर-उधर लग रही थी।

वर्षा हो रही थी, पर कैंटन के सेना के उस शिविर में उसकी बिलकुल उपेक्षा थी। कितने ही सैनिक चुपचाप अपने स्थानों पर खड़े पहरा दे रहे थे उनकी वर्दियाँ भीग गयी थीं। बूट कीचड़ से सन गये थे। हाथों की उँगलियों पर झुर्रियाँ पड़ गयी थी; पर वे अपने स्थानों पर सावधान खड़े थे।

रात बहुत बीत चुकी थी, छोलदारियों में अँधेरा था। केवल बीचवाले एक बड़े तम्बू में प्रकाश था। उसे बाहर बहुत-से पहरेदार थे। वे एक-दूसरे के सामने खड़े थे फिर भी कोई किसी से बात नहीं कर रहा था।

एकाएक भीतर से आवाज आयी, "क्वेनलुन!"

एक पहरेदार अन्दर गया, और क्षण-भर में बाहर आकर छोलदारियों की ओर चला गया।

थोड़ी देर में वह लौट आया। अब वह अकेला न था। उसके साथ थी एक स्त्री, जिसका शरीर एक भूरे फौजी कम्बल में ढँका था; पर सिर खुला था, उसके केश कटे हुए थे।

दोनों अन्दर चले गये।

अन्दर एक बड़े गैस-लैम्प के प्रकाश में चार-पाँच अफसर बैठे हुए थे। एक कुछ चिट्ठियाँ पढ़ रहा था। एक ने दो-तीन नक्शे अपने आगे बिछा रखे थे, और उन्हें ध्यान से देख रहा था—कभी-कभी पेंसिल से उन पर चिह्न भी लगा देता था। एक ओर बैठा हुआ लिख रहा था। उसकी वर्दी की आरे देखने से मालूम पड़ता था कि वह कर्नल था। और बाकी सब उससे छोटे पद के थे। पहरेदार और वह स्त्री

कर्नल के आगे सलाम करके खड़े हो गए। उसने कुछ देर ध्यान से स्त्री की ओर देखा, और बोला, "नम्बर 474?"

स्त्री ने शान्त-भाव से उत्तर दिया, "जी हाँ।"

"तुम कैंटन में दायना पेइफू का घर जानती हो?"

"जी हाँ, वह नदी के किनारे ही एक लाल मकान में रहती है।"

"हाँ।"

कर्नल ने एक पत्र निकाला, और उस पर मुहर लगाकर उसे दे दिया। फिर कहा, "नम्बर 474, यह पत्र उन्हें पहुँचाना है।"

"कब तक"

"वैसे तो कोई जल्दी नहीं है, पर बाढ़ आ रही है, शायद रात-रात में रास्ता बन्द हो जाए।"

"बहुत अच्छा।" कहकर वह जाने लगी।

जो व्यक्ति नक्शा देख रहा था, उसने कहा, "कर्नल, यहाँ से कैंटन के रास्ते में तो युवान शिकाई की सेना पहुँच रही है।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। नम्बर 474!"

"जी हाँ।"

"हाँकाऊ से समाचार लेकर तुम्हीं आयी थीं न?"

"जी हाँ।"

"फिर तुम्हें पूरी स्थिति मालूम ही है। अपने साथ दस चुने हुए आदमी लेती जाओ।"

"बहुत अच्छा।"

"तुम्हारे पास वह जासूस का चिह्न है?"

"नहीं, मैंने हाँकाऊ से आते ही उसे वापस कर दिया था। अब आप दें।"

कर्नल ने जेब में से चाँदी का बना हुआ एक छोटा-सा चीनी अजगर निकाला, और देते हुए बोला, "हमें तुम पर पूरा विश्वास है।"

उस स्त्री ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप विचित्र चिह्न लेकर सलाम करके चली गयी। कर्नल ने लिखना बन्द कर दिया। एक हल्की-सी सन्तुष्ट हँसी उसके मुँह पर दौड़ गयी।

"क्या बात थी, हारिति?"

"कुछ नहीं, एक दौड़ और लगानी होगी।"

"कहाँ की?"

"कैंटन।"

"पर अभी कल ही तो तुम हाँकाऊ से आयी थीं?"

"तो क्या? काम तो करना ही होता है।"

"ये नब्बे मील अकेली ही जाओगी?"

"नहीं, साथ दस आदमी और जाएँगे।"

"पर जो बाढ़ आ रही है..."

"उससे आगे बढ़ना होगा। अगर कैंटन का पुल पार कर लूँगी, तो हमारी जीत है।"

"और अगर न कर पायी तो?"

"तैरना जानती हूँ—मछुओं के यहाँ पली हुई हूँ।"

"हारिति!"

"हाँ, क्या है?"

"मुझे साथ ले चलोगी?"

"क्यों?"

"यों ही तुम्हारे साथ जाने को जी चाहता है।"

"पर फिर मेरे बाद यहाँ किसी की जरूरत हुई तो?"

"तुम वापस नहीं आओगी?"

"पता नहीं। कैंटन में जो आज्ञा मिलेगी, वह माननी होगी। फिर शायद यहाँ से तुमको भी जाना पड़े—युवान शिकाई बहुत पास आ पहुँचा है।"

"फिर तो तुम नहीं जाओगी हारिति?"

हारिति कुछ बोली नहीं। उसने चुपचाप अपनी मर्दानी वर्दी पहनी, और कोट के अन्दर वह चीनी अजगर लगा लिया। फिर बिना कुछ ही वह छोलदारी से बाहर निकल गयी।

"क्वानयिन! क्वानयिन"

"कौन है?"

"मैं हूँ, हारिति।"

"इस समय क्या काम है, हारिति?"

"काम मिला है, अभी जाना होगा। वर्दी पहन कर बाहर आओ।"

"इतनी रात को काम? कितनी दूर जाना है?"

"बहुत दूर। समय नहीं है, जल्दी करो।"

"लो, आया, और कौन साथ जाएगा?"

"तुम्हीं नौ आदमी चुनकर ले आओ—मैं घोड़े चुनने जाती हूँ।"

"अच्छा, मैं फाटक पर अभी पहुँचता हूँ; पर इतने आदमी क्या होंगे?"

हारिति ने धीरे से कहा, "रास्ते में युवान शिकाई की सेना से मुठभेड़ की आशंका है।"

"अच्छा, फिर तो पूरी तैयारी करनी होगी?"

"हाँ, पर जल्दी।"

हारिति चली गयी। उसके बाद छोलदारी के अन्दर से बहुत कोमल ध्वनि आयी, आरिति, हारिति, कितनी दृढ़ हो तुम? मैं कभी तुम्हारी बराबरी कर सकूँगा।

हारिति वहाँ सुनने को या उत्तर देने को नहीं खड़ी थी।

वर्षा अभी हो रही थी। सीक्यांग का नाद घोरतर होता जा रहा था। उसकी अरुणिमा बढ़ती जा रही थी...

वे ग्यारह व्यक्ति रास ढीली किये, घोड़े दौड़ाये जा रहे थे। कोई कुछ बोलता नहीं था, पर हर एक के मन में न जाने क्या-क्या विचार उठकर बैठ जाते थे। किसी के हृदय में भय न था, पर कितने चौकन्ने होकर वे चारों ओर देखते जाते थे!

वर्षा की और नदी की ध्वनि में उन घोड़ों के दौड़ाने की ध्वनि डूब गयी थी। उनकी प्रगति काल में प्रवाह की तरह रवहीन किन्तु अविराम मालूम हो रही थी। किसी महती कामना की प्रतिच्छाया की तरह शान्त, किसी बे-रोक मशीन की तरह नियन्त्रित, वे घोड़े जा रहे थे। और उनके सवार धीरे-धीरे हिसाब लागते जाते थे कि इस गति से कब पुल पार करेंगे—करेंगे भी या नहीं....

नदी भी बढ़ी चली जा रही थी। उसके प्रवाह में दर्प था, अवमानना थी, सिंह का गर्जन था, और थी प्रकांड प्रलय-कामना। घोड़ों के उस क्षुद्र प्रयत्न को कितनी उपेक्षा से देख रही थी वह, और मानो हँसकर कह रही थी—प्रकृति के प्रवाह को ललकारोगे, जीतोगे, तुम!

"हारिति, कुछ सुनाई पड़ता है?"

"नहीं। क्या है?"

"मुझे भ्रम हुआ कि मैंने कहीं गोली चलने की आवाज सुनी।"

"सम्भव है। हमारा सब सामान तो ठीक है न?"

"हाँ, चिन्ता की कोई बात नहीं।"

क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, वह देखते हो?"

"किधर?"

"वह दाहिनी ओर। कहीं आग का प्रकाश।"

"हाँ, हाँ"

"वह है शत्रु का शिविर।"

"हमने गोलियाँ भर रखी हैं। कितनी दूर और जाना है?"

"अभी बहुत है—कोई 35 मील।"

"पुल कितनी दूर है?"

"तीस मील।"

फिर क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, साथियों को सावधान कर दो। लड़ाई होगी। वे घुड़सवार हमसे भिड़ने आ रहे हैं।"

"रुककर लड़ना होगा?"

"नहीं। रुकने का समय नहीं है। हम बढ़ते जाएँगे।"

"पर—"

"क्या?"

"हमारे घोड़े थक गये हैं।"

"फिर?"

"हमें रुककर लड़ना चाहिए, और उनके घोड़े छीन लेने चाहिए।"

"और अगर हमारे घोड़े भी मारे गये तो?"

"घोड़ों पर से उतरकर अलग हटकर लड़ेंगे, उन्हें बचा लेंगे।"

"वे बहुत आदमी हैं, हम थोड़े।"

"वे वेतन के लिए लड़ते हैं, जान देने के लिए नहीं।"

"अच्छा, जैसा तुम उचित समझो।"

घोड़े रुक गये। उन्हें इकट्ठा खड़ा कर दिया गया। हारिति उनके पास खड़ी हो गयी। क्वानयिन और उसके साथी कुछ आगे हटकर खड़े हो गये।

ठाँय! ठाँय! ठाँय!

फिर दस गोलियाँ छूटीं। अबकी बार उत्तर आया।

हारिति चुपचाप देख रही थी। जब शत्रु-पक्ष की ओर से बौछार आती, तब वह कुछ चिन्तित होकर पूछती, "क्वानयिन, कहाँ हो तुम?" और वह हँसकर उत्तर देता—"हारिति हमारी जीत होगी।" फिर वह शान्त हो जाती थी।

एकाएक गोली चलनी बन्द हो गयी। क्वानयिन बोला, "हारिति, वे भाग रहे हैं—हम घोड़े पकड़ लेते हैं!"

थोड़ी देर में आठ नये घोड़े एकत्रित हो गये। हारिति, क्वानयिन और पाँच अन्य व्यक्तियों ने घोड़े बदल लिये। बाकी उस लड़ाई में खेत रहे थे।

"क्वानयिन, अपने घोड़ों का क्या करना होगा?"

"यहीं छोड़ दिए जाएँ?"

"शत्रुओं के लिए! नहीं, उन्हें खाली साथ ले चलेंगे?"

"और जो न दौड़ सकते हों?"

"उन्हें गोली मार देंगे।"

''हारिति!''

''क्या है?''

''कुछ नहीं, चलो।''

फिर वही होड़, वही सीक्यांग के प्रवाह से प्रतियोगिता, वही नि:शब्द प्रगति...

''हारिति!''

''क्या है?''

''वे फिर आ रहे हैं।''

''आने दो। अब रुकना नहीं होगा।''

''एक बात कहूँ?''

''कहो।''

''तुम आगे चली जाओ, हम रुक कर उनसे युद्ध करते हैं।''

''क्यों?''

''अबकी बार उन्हें भगा नहीं सकेंगे, कुछ देर रोक पाएँगे।''

''फिर क्या होगा?''

''होगा क्या? यदि रोक सकेंगे, तो अच्छा। नहीं तो—''

''नहीं तो क्या?''

''मैं फिर तुमसे आ मिलूँगा।''

क्षण-भर निस्तब्धता।

''क्वानयिन!''

''हारिति!''

''तुम ठीक कहते हो, मैं अकेली हो जाती हूँ।''

''जाओ। शायद मैं फिर आ मिलूँ।''

''शायद!''

रात्रि के अन्धकार का रूप कुछ बदलने लगा था। बादल अब भी घिरे हुए थे। वर्षा अब भी हो रही थी पर जहाँ पहले एकदम निविड़ अन्धकार था, वहाँ अब कुछ भूरा, कुछ सफेद, मिश्रित-सा अन्धकार हो गया था। और धरती पर से भाप उठकर जमने लग गयी थी। पहले की प्रगाढ़ नीलिमा में जो वस्तुएँ कुछ अस्पष्ट दीखती थीं, वे अब एकदम लुप्त हो गयी थीं। अभी उषा के लालिमामय आगमन में बहुत देर थी। सीक्यांग का पुल भी अभी दस मील दूर था। हार्रित थक गयी थी। उसका घोड़ा भी थक गया था। और उन बिछुड़े हुए साथियों की, क्वानयिन की, स्मृति उसे खिन्न कर रही थी; पर उसके हृदय में जो शक्ति थी, जिसके आगे उसने इतनी बार

दृढ़ता की भिक्षा माँगी थी, वह शक्ति आज उसकी सहायता कर रही थी, उसके शरीर में नयी स्फूर्ति का संचालन कर रही थी। उसने घोड़े की गति धीमी नहीं की थी; जिस गति से यात्रा का आरम्भ किया था, उसी से अब भी चली जा रही थी। उसके पीछे एक ओर सवार चला आ रहा था; पर उसे इसका ध्यान न था। वह पीछे नहीं देखती थी, न उसे पीछे से घोड़े की टाप सुनाई पड़ती थी उसका ध्यान उस क्रमशः घटते हुए दस मील के अन्तर पर स्थिर था। वह सवार धीरे-धीरे पास आ रहा था। जब वह कुछ ही पीछे रह गया, तब उसने पुकारा, "हारिति, मैं आ गया।"

हारिति के मुख पर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गयी, पर उसने घोड़े को रोका नहीं। जब क्वानयिन बिलकुल उसके बराबर आ गया, तब उसने पूछा, "क्वानयिन, बाकी साथी कहाँ रहे?"

क्वानयिन ने बिना उसकी ओर देखे ही उत्तर दिया, "नहीं रहे।"

बहुत देर तक दोनों चुपचाप बढ़ते गये। फिर हारिति बोली, "और घोड़े?"

"मर गये। मैं भी दूसरा घोड़ा लेकर पहुँच पाया हूँ।"

"शत्रु कहाँ हैं?"

"बहुत पीछे रह गये हैं।"

"फिर मुठभेड़ की सम्भावना है?"

"अवश्य।"

"क्यों?"

"उन्हें शक हो गया है कि हम पत्र-वाहक हैं, और हमसे कुछ पाने की आशा है।"

हारिति कुछ हँसी। "कुछ पा लेने की आशा! कितने मूर्ख हैं वे!"

"क्यों?"

"कैंटन के सैनिक धन के लिए विश्वास नहीं बेचते?" कुछ देर चुप रहकर क्वानयिन बोला, "हारिति, कैसी रहस्यमयी स्त्री हो तुम? अगर—"

"देखो क्वानयिन, ऐसी बातों से मुझे दुःख होता है।"

"क्यों?"

"हम गुलाम हैं। हमें अपने आदर्श के अतिरिक्त किसी बात का ध्यान करने का अधिकार नहीं है।"

क्वानयिन ने धीमे स्वर में कहा, "सच कहती हो हारिति। मैं बार-बार भूल जाता हूँ।" और फिर चुप हो गया।

"दो मील।"

"पर हम इतना जा पाएँगे, हारिति! वह देखो, शत्रु कितना पास आ गये हैं।"

"कोई चिन्ता नहीं। हम पुल पार कर लेंगे, फिर इनका डर नहीं रहेगा।"

"पर पुल तक के दो मील..."

"गति तेज कर दो। अब तो इन्हें रोकने का भी प्रयत्न नहीं कर सकते।"

"मेरे पास पाँच भरे हुए पिस्तौल हैं, और यह बन्दूक तो है ही।"

"पाँच पिस्तौल!"

"हाँ, अपने साथियों के उठा लाया हूँ।"

"दो मुझे दे दो। शायद—"

क्वानयिन ने जेब से निकाल कर दो पिस्तौल उसे पकड़ा दिये। उसने उन्हें अपने कोट में डाल लिया, और बोली, "अगर निर्णय ही करना होगा, तो पुल पर करेंगे। वहाँ बना-बनाया मोर्चा मिल जाएगा।"

"शायद पार निकल सकें। नहीं तो—"

"क्या?"

"इतने दिन सीक्यांग के ऊपर रही हूँ, आज उसके नीचे तो आश्रय मिल ही जाएगा।"

"हारिति!"

"वह देखो क्वानयिन! सामने पुल आ गया।"

"प्रजातन्त्र की जय!"

प्राची दिशा से बादलों को चीर कर फीका पीला-सा प्रकाश निकल रहा था। उसके समाने ही सीक्यांग के प्रमत्त प्रवाह के ऊपर पुल का जँगला दीख रहा था। कितना विमुग्धकारी था वह दृश्य, और साथ ही कितना निराशापूर्ण! नदी की सतह पुल की पटरियों को छू रही थी। कभी-कभी किसी लहर का पानी पुल के ऊपर से भी छलक जाता था। और ठीक मध्य में, जहाँ नदी का प्रवाह सबसे अधिक था, पुल का एक अंश टूटकर बह गया था। दोनों ओर से दो पटरियाँ आतीं और बीच में लगभग 20-22 फुट का खुला स्थान छोड़कर ही समाप्त हो जातीं। उस स्थान में केवल विपुल जल-प्रवाह का गर्जन और उसकी अथाह अरुणिमा ही थी।

"हारिति, वह देखो, क्या है!"

"मैंने देख लिया है।"

"अब क्या करना होगा?"

हारिति ने कुछ उत्तर नहीं दिया। रास खींच कर घोड़े को रोक लिया। क्वानयिन ने भी उसका अनुसरण किया। हारिति ने मुड़कर पीछे की ओर देखा, शत्रु अभी आध मील दूर थे। क्षण-भर वह अनिश्चित खड़ी रही; फिर बोली, "क्वानयिन, हमारी परीक्षा का समय आ गया।"

क्वानयिन कुछ नहीं बोला। प्रतीक्षा के भाव से हारिति के मुख की ओर देखने लगा। हारिति घोड़े पर से उतर पड़ी। क्वानयिन ने भी उतरते हुए पूछा, "क्या

करोगी?''

''बताती हूँ।'' कहकर वह अपने पुराने घोड़े पर सवार हो गयी। ''देखो क्वानयिन, तुम यहाँ खड़े होकर मोर्चा लेना, मैं जा रही हूँ।''

''कहाँ?''

''पार।''

''कैसे?''

''कूद कर।''

''कूद कर? यह तुमसे नहीं होगा, हारिति! तुम्हारा घोड़ा भी तो थका हुआ है।''

''मैंने निश्चय कर लिया है। और कोई उपाय नहीं।''

क्वानयिन ने अनिच्छा से कहा, ''तो नया घोड़ा ही ले जातीं।''

''उसका मुझे अभ्यास नहीं। पुराना घोड़ा ही ले जाना होगा।''

हारिति ने जल्दी से अपना कोट उतारा और पिस्तौल क्वानयिन को दिये। वह चाँदी का अजगर चिह्न उसने अपनी कमीज में लगा लिया, और पत्र को अच्छी तरह लपेट कर कमरबन्द में रख लिया।

''हारिति, यह क्या कर रही हो?''

''शायद कूद न पाऊँ, व्यर्थ का भार नहीं रखना चाहिए।''

''हारिति, क्या यह विदा है?''

''हाँ। वह देखो, शत्रु आ रहे हैं। मुझे विदा दो।''

''तुम्हारे बाद मुझे क्या करना होगा?''

हारिति क्षण-भर स्थिर दृष्टि से क्वानयिन की ओर देखती रही। फिर बोली, ''शायद कुछ भी नहीं करना होगा। अगर—अगर बच गये, तो पार कूद आना, और क्या करोगे?''

''जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो, मैं भी अधीर न होऊँगा।''

हारिति ने झुककर घोड़े का गला थपथपाया और बोली, ''बन्धु, अब मैं फिर वही अनाथिनी रह गयी हूँ। मेरी मदद करना।'' उसने घोड़े को एड़ लगायी, रास ढीली कर दी। घोड़ा उन गीली पटरियों पर दौड़ा। हारिति कुछ आगे झुकी।

ठाँय! ठाँय! ठाँय!

शत्रु पहुँच गये। क्वानयिन हारिति को कूदते हुए भी नहीं देख पाया। उसने शत्रुओं को बन्दूक से जवाब दिया, और फिर पिस्तौल उठा लिये।

क्षण-भर के लिए आक्रमणकारी रुक गए। क्वानयिन ने घूमकर देखा।

पुल की पटरियाँ दोनों ओर खाली थीं। उसने देखा, हारिति के घोड़े के अगले पैर पुल के टूटे हुए भाग के उस पार की पटरियों पर पड़े, किन्तु पिछले पैर नीचे स्तम्भ में

टकराये, फिसले, और फिर घोड़े समेत हारिति उसी अथाह अरुणिमा में गिर गयी।

क्वानयिन धीरे-धीरे पुल से हटने लगा। शत्रु आगे बढ़ते आ रहे थे। उस खुले स्थान में क्वानयिन ने देखा, हारिति का घोड़ा अभी डूबा नहीं था, एक बहुत बड़े भँवर में फँसकर घूम रहा था। तैर कर निकलने की उसकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो रही थीं, और हारिति उस पर बैठी शायद कुछ सोच रही थी।

क्वानयिन ने चाहा, मैं भी कूद पड़ूँ, शायद उसे बचा पाऊँ। फिर उसे हारिति के शब्द याद आये, "हमारी परीक्षा का समय आ गया।" उसने मन-ही-मन कहा, "हारिति, हमारे कर्त्तव्य अलग-अलग हैं। तुम अपना करो, मैं अपना। मैं शत्रु को रोकता हूँ, तुम्हें कैसे बचाऊँ?" फिर वह एकाग्र होकर निशाना लगाने और युवान शिकाई के सैनिकों को उड़ाने लगा।

हारिति सँभलकर उठी, और घोड़े की पीठ पर खड़ी होकर बोली, "बन्धु, तुमने तो मेरी सहायता की, अब मैं तुम्हें छोड़कर जा रही हूँ।" फिर उसने एक लम्बी साँस ली, और उछलकर पानी में कूद पड़ी— भँवर के बाहर।

गोलियाँ अभी चल रही थीं। एक गोली क्वानयिन के कन्धे में लगी, एक पैर में। उसने अब शत्रु की चिन्ता छोड़ दी। उसकी आँखों हारिति को ढूँढने लगीं। पुल से कुछ दूर उसने देखा, एक केशहीन सिर। हारिति तैरती जा रही थी। घोड़े का कहीं पता न था।

क्वानयिन ने कहा, "हारिति, मेरा काम पूरा हुआ।"

उसने पिस्तौल उठाया और अपने माथे के पास रखा। फिर—

"प्रजातन्त्र की जय!"

जब शत्रु वहाँ पहुँचे, तो क्वानयिन का प्राणहीन शरीर वहाँ पड़ा था। उसके मुख पर विजय का गर्व था। उन्होंने जल्दी-जल्दी उसके कपड़ों की तलाशी ली, फिर धीरे-धीरे ली। कुछ न मिला। क्रुद्ध होकर उन्होंने ठोकरें मार-मार कर उसके शरीर को नदी में गिरा दिया। वह कुछ देर चक्कर खाकर डूब गया। कुछ बुलबुले उठे, फिर सीक्यांग का प्रवाह पूर्ववत् हो गया। युवान शिकाई के सैनिकों ने देखा कि दूर पानी में कोई तैर रहा है। उन्होंने उसका ही निशाना लेकर गोलियाँ चलानी प्रारम्भ कर दीं। कितनी ही देर तक वे गोलियाँ चलाते रहे। धीरे धीरे उस व्यक्ति का दीखना बन्द हो गया, शायद डूब गया, या उस अनियन्त्रित प्रवाह में बह गया। वे लौट गये।

कैंटन के बाहर, सीक्यांग के किनारे, बहुत-से मछुए आकर बैठे हुए थे। कुछ पकड़ने की आशा से नहीं केवल इसी चिन्ता का निवारण करने के लिए कि बाढ़ कब उतरेगी। सूर्य का उदय हो गया था। बादल फट रहे थे, वर्षा का अन्त होने वाला था,

पर नदी में पानी अभी बढ़ता जा रहा था, और वे मछुए बैठकर देख रहे थे। कोई कह रहा था, "बाढ़ से एक फायदा है। युवान शिकाई इस पार नहीं आ सकेगा।"

कोई और पूछ रहा था, "सुना है, युवान शिकाई की सेना कुल पचास मील दूर रह गयी है। क्या यह ठीक बात है?"

एक तीसरा बोला, "हमारी सेना में बहुत अच्छे-अच्छे आदमी हैं। हमारी हार नहीं हो सकती।"

दूर कहीं कोलाहल हुआ, "वह देखो, क्या है? कोई मरा हुआ जानवर बह रहा है! नहीं-नहीं, यह तो आदमी है, आदमी!"

सब लोग उधर देखने लगे। फिर कहीं से दो आदमी, एक छोटी-सी नाव पर बैठकर, तीव्र गति से उधर चले। उन्होंने दो-तीन बार जाल डाला, पर असफल हुए। फिर किनारे पर खड़े दर्शकों ने देखा कि वे दोनों धीरे-धीरे कुछ खींच रहे हैं।

थोड़ी देर में उन्होंने एक शरीर निकालकर नाव में रखा और किनारे चले आये।

दर्शकों की भीड़ लग गयी। सब अपने-अपने मत का दिग्दर्शन करने लगे।

"कैसा बाँका जवान है।"

"अभी बिलकुल बच्चा है।"

"वह देखो, बाँह से खून निकल रहा है।"

"फौजी वर्दी पहने हुए है।"

"युवान शिकाई का आदमी तो नहीं है?"

"नहीं, सिर पर चोटी नहीं है, कैंटन का सिपाही होगा।"

"यह बाँह में गोली लगी है।"

"कितना खून बह गया है, पीला पड़ गया है।"

"मर गया है?"

"नहीं, अभी जीता है।"

वह शरीर कुछ हिला, फिर उसने आँखें खोलीं, "मैं कहाँ हूँ?"

"यह है कैंटन। कहाँ से आ रहे हो?"

"कैंटन, वह लाल मकान?"

आँखें फिर बन्द हो गयीं। थोड़ी देर बाद शरीर में कम्पन हुआ, आँख खुलीं। उनमें एक विचित्र तेज था।

"मुझे उठाकर ले चलो।"

"कहाँ?"

"वह बड़ा मकान—डायना पेइफू का—उसमें!" वे उसे उठाकर सावधानी से धीरे-धीरे ले चले।

"जल्दी! जल्दी!"

वे तेज चलने लगे, तब भी उसे सन्तोष न हुआ।

"और जल्दी!"

वे दौड़ने लगे।

थोड़ी देर में उस मकान के सामने पहुँच गये। वह शरीर फिर संज्ञाशून्य हो गया था।

उसने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। वह एक बड़े सुन्दर कमरे में सोफे पर पड़ी हुई थी। पास एक स्त्री खड़ी हुई थी। आँखें खुलती देखकर उसने चिन्तित स्वर में पूछा "अब कैसा हाल है?"

हारिति ने प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बोली, "आप ही डायना पेइफ़ू हैं?"

"हाँ, कहिए!"

"आपके लिए एक पत्र है।" हारिति ने पत्र निकालने का प्रयत्न किया, पर हाथों में शक्ति नहीं थी। अपने कमरबन्द की ओर इंगित करके ही वह रह गयी।

डायना ने स्वयं पत्र निकाला, और खोला। उसका मुख लाल हो गया। आँखें लज्जा से कुछ झुक गयीं। उसने पत्र को चूम लिया, और धीरे से कहा, "प्रियतम!"

हारिति देख रही थी। यह दृश्य देखकर उसके नेत्रों का तेज एकाएक बुझ गया। उसने आँखें मूँद लीं। दो-तीन चित्र उसके आगे दौड़ गये—दो-तीन स्मृतियाँ—वे मरते हुए बन्धु—वह दीन घोड़ा—क्वानयिन और उसके शब्द—"हारिति, हमारी जीत होगी।" "हारिति, क्या यह विदा है?" "जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो—मैं भी अधीर नहीं होऊँगा।"

व्यथा को एक रेखा उसके मुख पर दौड़ गयी। यही था काम, जिसके लिए उसने इतनी मेहनत की थी; यही थी सेवा, जिसके लिए उसने इतना बलिदान किया था; यही था अनुष्ठान, जिसकी पूर्ति के लिए उसने उस घोड़े की, उन बन्धुओं की, और क्वानयिन—की आहुति दी थी—यह प्रेम-प्रवंचना।

हारिति को मालूम हुआ, उसका गला घुट रहा है। उसके निर्बल शरीर में एकाएक स्फूर्ति आ गयी। उसने एक झटके में अपनी पोटी कमीज फाड़ डाली। उसके मुख पर एक आन्तरिक विचार-तरंग की झलक, एक हल्की-सी हँसी छा गयी—एक हँसी, जिसमें सफलता की शान्ति नहीं थी, विजय का गर्व नहीं था, था केवल एक भयंकर उपहासमय तिरस्कार।

डायना ने उसकी ओर देखा और चौंकी। उसके मुख पर से वह अनुराग की आभा बुझ गयी। हारिति के वक्ष की ओर देखती हुई विस्मित, चिन्तित, भीत स्वर में वह बोली, "ओह! तुम—तुम तो स्त्री हो!"

पर तब हारिति स्त्री नहीं रही थी। वहाँ जो पड़ा हुआ था, वह था केवल किसी स्वर्गीय व्यक्ति का परित्यक्त शरीर।

और हारिति के उर पर पड़ा हुआ वह चीनी अजगर मानो उसके मुख पर व्यक्त उस तिरस्कार को प्रतिबिम्बित करके हँसे जा रहा था।

अकलंक

वे दोनों उस टीले की चोटी पर खड़े थे। चारों ओर काले-काले बादल घिरे हुए थे, धारासार वर्षा हो रही थी, टीले के नीचे घहराता हुआ ह्वांग-हो नदी का प्रवाह था, और जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पानी-ही-पानी नजर आता था।

वे दोनों वर्षा की तनिक भी परवाह न करते हुए टीले के शिखर पर खड़े थे।

वह चीनी प्रजातन्त्र सेना की वर्दी पहने हुए था, और भीगता हुआ सावधान मुद्रा में खड़ा था।

स्त्री ने एक बड़ी-सी खाकी बरसाती में अपना शरीर लपेट रखा था। उसके वस्त्राभूषण कुछ भी नहीं दीख पड़ते थे। उसने वेदना-भरे स्वर में कहा, "मार्टिन, तुम्हें भी अपना घर डुबा देना होगा। मेंड़ काट देना, नदी स्वयं भर आएगी।"

मार्टिन कुछ देर चुप रहा। फिर बोला, "क्रिस, क्या इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है?"

स्त्री ने चौंककर कहा, "मार्टिन, यह क्या? सेनापति की जो आज्ञा है, उसका उल्लंघन करोगे?"

"उल्लंघन नहीं। लेकिन अगर बिना शत्रु को आश्रय दिये ही घर बच जाए, तो क्यों न बचा लिया जाए!"

"औरों के भी तो घर थे?"

"वे किसान थे। मैं राष्ट्र का सैनिक हूँ। शायद अपने घर की शत्रु से रक्षा कर सकूँ।"

"मार्टिन, तुम्हें क्या हो गया है? तुम अकेले क्या करोगे? हम सब यहाँ से चले जाएँगे। शत्रु के लिए इतना विशाल भवन छोड़ दोगे, तो हमारे बलिदान का क्या लाभ होगा? हमने अपने घर डुबा दिये हैं, केवल इसीलिए कि शत्रु को आश्रय न मिले। और तुम अपना घर रह जाने दोगे?"

"मेरा घर इतना विशाल है कि उसमें समूचा गाँव आकर रह सकता है।"

"इसीलिए तो उसे डुबाना अधिक आवश्यक है। मार्टिन, सम्पत्ति का इतना मोह!"

मार्टिन को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसी ने उसे थप्पड़ मार दिया हो। तन केवल अंगहीन हो नहीं है मानो अशरीरी है, केवल एक दीप्त—अंगों से क्या? अवयवों से क्या? "जाना गेलो, ऐटा छाड़ाओ चले"—इस सबके बिना काम चल सकता है। केवल दीप्ति : केवल संकल्प-शक्ति। रोटी, कपड़ा, आसरा, हम चिल्लाते हैं, ये सब ज़रूरी है, निःसन्देह जीवन के एक स्तर पर ये सब निहायत ज़रूरी है, लेकिन मानव-जीवन की मौलिक प्रतिज्ञा यह नहीं है; वह है केवल मानव का अदम्य, अटूट संकल्प...।

कलाकार की मुक्ति

मैं कोई कहानी नहीं कहता। कहानी कहने का मन भी नहीं होता, और सच पूछो तो मुझे कहानी कहना आता भी नहीं है। लेकिन जितना ही अधिक कहानी पढ़ता हूँ या सुनता हूँ उतना ही कौतूहल हुआ करता है कि कहानियाँ आखिर बनती कैसे हैं! फिर यह भी सोचने लगता हूँ कि अगर ऐसे न बनकर ऐसे बनतीं तो कैसा रहता? और यह प्रश्न हमेशा मुझे पुरानी या पौराणिक गाथाओं की ओर ले जाता है। कहते हैं कि पुराण-गाथाएँ सब सर्वदा सच होती है क्योंकि उनका सत्य काव्य-सत्य होता है, वस्तु-सत्य नहीं। उस प्रतीक सत्य को युग के परिवर्तन नहीं छू सकते।

लेकिन क्या प्रतीक सत्य भी बदलते नहीं? क्या सामूहिक अनुभव में कभी परिवर्तन नहीं आता? वृद्धि भी तो परिवर्तन है और अगर कवि ने अनुभव में कोई वृद्धि नहीं की तो उसकी संवेदना किस काम की?

यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मानो एक नयी खिड़की खुल जाती है और पौराणिक गाथाओं के चरित-नायक नये वेश में दीखने लगते हैं। वह खिड़की मानो जीवन की रंगस्थली में खुलनेवाली एक खिड़की है, अभिनेता रंगमंच पर जिस रूप में आएँगे उससे कुछ पूर्व के सहज रूप में उन्हें इस खिड़की से देखा जा सकता है। या यह समझ लीजिए कि सूत्रधार उन्हें कोई आदेश न देकर रंगमंच पर छोड़ दे तो वे पात्र सहज भाव से जो अभिनय करेंगे वह हमें दीखने लगता है और कैसे मान लें कि सूत्रधार के निर्देश के बिना पात्र जिस रूप में सामने आते हैं—जीते हैं—यही अधिक सच्चा नहीं है?

शिप्र द्वीप के महान कलाकार पिंगमाल्य का नाम किसने नहीं सुना? कहते हैं कि सौन्दर्य की देवी अपरोदिता का वरदान उसे प्राप्त है—उसके हाथ में असुन्दर कुछ बन ही नहीं सकता। स्त्री-जातिमात्र से पिंगमाल्य को घृणा है लेकिन एक के बाद एक सैकड़ों स्त्री-मूर्तियाँ उसने निर्माण की है। प्रत्येक को देखकर दर्शक उसे उससे पहली निर्मित से अधिक सुन्दर बताते हैं और विस्मय से कहते हैं, "इस व्यक्ति के हाथ में न जाने कैसा जादू है। पत्थर भी इतना सजीव दीखता है कि जीवित व्यक्ति भी कदाचित् उसकी बराबरी न कर सके। कहीं देवी अपरोदिता प्रस्तर-मूर्तियों में जान डाल देतीं। देश-देशान्तर के वीर और राजा उस नारी के चरण

चूमते जिसके अंग पिंगमाल्य की छेनी ने गढ़े हैं और जिसमें प्राण स्वयं देवी अपरोदिता ने फूँके हैं।"

कभी कोई समर्थन में कहता, "हाँ, उस दिन पिंगमाल्य की कला पूर्ण सफल हो जाएगी, और उसके जीवन की साधना भी पूरी हो जाएगी—इससे बड़ी सिद्धि और क्या हो सकती है!"

पिंगमाल्य सुनता और व्यंग्य से मुस्करा देता। जीवित सौन्दर्य कब तक पाषाण के सौन्दर्य की बराबरी कर सकता है! जीवन में गति है, ठीक है; लेकिन गति स्थानान्तर के बिना भी हो सकती है—बल्कि वह तो सच्ची गति है। कला की लयमयता—प्रवहमान रेखा का आवर्तन और विर्वतन—यह निश्चल सेतु जो निरन्तर भूमि को अन्तरिक्ष से मिलाता चलता है—जिस पर से हम क्षण में कई बार आकाश को छूकर लौट आ सकते हैं—वही तो गति है! नहीं तो सुन्दरियाँ पिंगमाल्य ने अमथ्य के उद्यानों में बहुत देखी थीं—उन्हीं की विलासिता और अनाचारिता के कारण तो उसे स्त्री-जाति से घृणा हो गयी थी... उसे भी कभी लगता कि जब वह मूर्ति बनाता है तो देवी अपरोदिता उसके निकट अदृश्य खड़ी रहती है—देवी की छाया-स्पर्श ही उसके हाथों को प्रेरित करता है, देवी का यह ध्यान ही उसकी मन:शक्ति को एकाग्र करता है। कभी वह मूर्ति बनाते-बनाते अपरोदिता के अनेक रूपों का ध्यान करता चलता—काम की जननी, विनोद की रानी, लीला-विलास की स्वामिनी, रूप की देवी...

एक दिन साँझ को पिंगमाल्य तन्मय भाव से अपनी बनायी हुई एक नयी मूर्ति को देख रहा था। मूर्ति पूरी हो चुकी थी और एक बार उस पर ओप भी दिया जा चुका था। लेकिन उसे प्रदर्शित करने से पहले साँझ के रंजित प्रकाश में वह स्थिर भाव से देख लेना चाहता था। वह प्रकाश प्रस्तर को जीवित त्वचा की सी क्रान्ति दे देता है, दर्शक उससे और अधिक प्रभावित होता है, लेकिन कलाकार उसमें कहीं कोई कोर-कसर रह गयी हो तो उसे भी देख लेता है।

किन्तु कहीं कोई कमी नहीं थी, पिंगमाल्य मुग्ध माव से उसे देखता हुआ मूर्ति को सम्बोधन करके कुछ कहने ही जा रहा था कि सहसा कक्ष में एक नया प्रकाश भर गया जो साँझ के प्रकाश से भिन्न था। उसकी चकित आँखों के सामने प्रकट होकर देवी अपरोदिता ने कहा, "पिंगमाल्य, मैं तुम्हारी साधना से प्रसन्न हूँ। आजकल कोई मूर्तिकार अपनी कला से मेरे सच्चे रूप के इतना निकट नहीं आ सका है, जितना तुम। मैं सौन्दर्य की पारमिता हूँ। बोलो, तुम क्या चाहते हो—तुम्हारी कौन-सी अपूर्ण, अव्यक्त इच्छा है?"

पिंगमाल्य अपलक उसे देखता हुआ किसी तरह कह सका, "देवि, मेरी तो कोई इच्छा नहीं है। मुझमें कोई अतृप्ति नहीं है।"

"तो ऐसे ही सही," देवी तनिक मुस्करायी, "मेरी अतिरिक्त अनुकम्पा ही सही। तुम अभी मूर्ति से कुछ कहने जा रहे थे मेरे वरदान से अब मूर्ति ही तुम्हें पुकारेगी—"

रोमांचित पिंगमाल्य ने अचकचाते हुए कहा, "देवि..."

"और उसके उपरान्त..." देवी ने और भी रहस्यपूर्ण भाव से मुस्कराकर कहा, "पर उसके अनन्तर जो होगा वह तुम स्वयं देखना, पिंगमाल्य! मैं मूर्ति को नहीं, तुम्हें भी नया जीवन दे रही हूँ—और मैं आनन्द की देवी हूँ!"

एक हल्के-से स्पर्श से मूर्ति को छूती हुई देवी उसी प्रकार सहसा अन्तर्धान हो गयी, जिस प्रकार वह प्रकट हुई थी।

लेकिन देवी के साथ जो आलोक प्रकट हुआ था, वह नहीं बुझा। वह मूर्ति के आसपास पुंजित हो आया।

एक अलौकिक मधुर कंठ ने कहा, "मेरे निर्माता—मेरे स्वामी!" और पिंगमाल्य ने देखा कि मूर्ति पीठिका से उतरकर उसके आगे झुक गयी है।

पिंगमाल्य काँपने लगा। उसके दर्शकों ने अधिक-से-अधिक अतिरंजित जो कल्पना की थी वह तो सत्य हो आयी है। विश्व का सबसे सुन्दर रूप सजीव होकर उसके सम्मुख खड़ा है, और उसका है। रूप भोग्य है, नारी भी...

मूर्ति ने आगे बढ़कर पिंगमाल्य की भुजाओं पर हाथ रखा और अत्यन्त कोमल दबाव से उसे अपनी ओर खींचने लगी।

यह मूर्ति नहीं, नारी है। संसार की सुन्दरतम नारी, जिसे स्वयं अपरोदिता ने उसे दिया है। देवी जो गढ़ती है उससे परे सौन्दर्य नहीं है; जो देती है उससे परे आनन्द नहीं है। पिंगमाल्य के आगे सीमाहीन आनन्द का मार्ग खुला है।

जैसे किसी ने उसे तमाचा मार दिया है, ऐसे सहसा पिंगमाल्य दो कदम पीछे हट गया। स्वर को यथासम्भव सम और अविकल बनाने का प्रयास करते हुए उसने कहा, "तुम यहाँ बैठो।"

रूपसी पुनः उसी पीठिका पर बैठ गयी, जिस पर से वह उतरी थी। उसके चेहरे की ईषत् स्मित कक्ष में चाँदनी बिखरेनी लगी।

दूसरे दिन पिंगमाल्य का कक्ष नहीं खुला। लोगों को विस्मय तो हुआ, लेकिन उन्होंने मान लिया कलाकार किसी नयी रचना में व्यस्त होगा। सायंकाल जब धूप फिर पहले दिन की भाँति कक्ष के भीतर वायुमंडल को रंजित करती हुई पड़ने लगी तब देवी अपरोदिता ने प्रकट होकर देखा कि पिंगमाल्य अपलक वहीं-का-वहीं खड़ा है और रूपसी जड़वत् पीठिका पर बैठी है। इस अप्रत्याशित दृश्य को देखकर देवी ने कहा, "यह क्या देखती हूँ, पिंगमाल्य? मैंने तो तुम्हें अतुलनीय सुख का वरदान

दिया था?"

पिंगमाल्य ने मानो सहसा जागकर कहा, "देवी, यह आपने क्या किया?"

"क्यों?"

"मेरी जो कला अमर और अजर थी, उसे आप ने जरा-मरण के नियमों के अधीन कर दिया! मैंने तो सुख-भोग नहीं माँगा—मैं तो यही जानता आया कि कला का आनन्द चिरन्तन है।"

देवी हँसने लगी. "भोले पिंगमाल्य! लेकिन कलाकार सभी भोले होते हैं। तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या माँग रहे हो—या कि क्या तुम्हें मिला है जिसे तुम खो रहे हो। किन्तु तुम चाहते हो तो और विचार करके देख लो। मैं तुम्हारी मूर्ति को फिर जड़वत् किये जाती हूँ। लेकिन रात को तुम उसे पुकारोगे और उत्तर न पाकर अधीर हो उठोगे। कल मैं आकर पूछूँगी—तुम चाहोगे तो कल मैं इसमें फिर प्राण डाल दूँगी। मेरे वरदान वैकल्पिक नहीं होते। लेकिन तुम मेरे विशेष प्रिय हो, क्योंकि तुम रूपस्रष्टा हो।"

देवी फिर अन्तर्धान हो गयी। उसके साथ ही कक्ष का आलोक भी बुझ गया। पिंगमाल्य ने लपककर मूर्ति को छूकर देखा, वह मूर्ति ही थी, सुन्दर ओपयुक्त, किन्तु शीतल और निष्प्राण।

विचार करके और क्या देखना है? वह रूप का स्रष्टा है, रूप का दास होकर रहना वह नहीं चाहता। मूर्ति सजीव होकर प्रेय हो जाए, यह कलाकार की विजय भी हो सकती है, लेकिन कला की निश्चय ही वह हार है।...पिंगमाल्य ने एक बार फिर मूर्त्त को स्पर्श करके देखा। कल देवी फिर प्रकट होगी और इस मूर्ति में प्राण डाल देगी आज जो पिंगमाल्य की कला है, कल वह एक किंवदन्ती बन जाएगी। लोग कहेंगे कि इतना बड़ा कलाकार पहले कभी नहीं हुआ, और यही प्रशंसा का अपवाद भविष्य के लिए उसके पैरों की बेड़ियाँ बन जाएगा... किन्तु कल...

चौंककर पिंगमाल्य ने एक बार फिर मूर्ति को छुआ और मूर्ति की दोनों बाँहें अपनी मुट्ठियों में जकड़ लीं। कल... उसकी मुट्ठियों की पकड़ धीरे-धीरे शिथिल हो गयी। आज वह मूर्ति है, पिंगमाल्य की गढ़ी हुई अद्वितीय सुन्दर मूर्ति, कल यह एक नारी हो जाएगी—अपरोदिता से उपहार में मिली हुई अद्वितीय सुन्दर नारी। पिंगमाल्य ने भुजाओं को पकड़ कर मूर्ति को ऊँचा उठा लिया और सहसा बड़े जोर से नीचे पटक दिया।

मूर्ति चूर-चूर हो गयी।

अब वह कल नहीं आएगा। पिंगमाल्य की कला जरा-मरण के नियमों के अधीन नहीं होगी। कला उसकी श्रेय ही रहेगी, प्रेय होने का डर अब नहीं है।

किन्तु अपरोदिता? क्या देवी का कोप उसे सहना होगा? क्या उसने सौन्दर्य

की देवी की अवज्ञा कर दी है! और इसीलिए अब उसकी रूप-कल्पी प्रतिभा नष्ट हो जाएगी?

किन्तु अवज्ञा कैसी? देवी ने स्वयं उसे विकल्प का अधिकार दिया है।

पिंगमाल्य धरती पर बैठ गया और अनमने भाव से मूर्ति के टुकड़ों को अँगुलियों से धीरे-धीरे इधर-उधर करने लगा।

क्या देवी अब भी छायावत् उसकी कोहनी के पीछे रहेगी और उसकी अँगुलियों कोप प्रेरित करती रहेगी? या कि वह उदासीन हो जाएगी? क्या वह— क्या वह आज के कला साधना में अकेला हो गया है?

पिंगमाल्य अवष्टि-सा उठकर खड़ा हो गया। एक दुर्दान्त साहसपूर्ण भाव उसके मन में उदित हुआ और शब्दों में बँध आया। कला-साधना में अकेला होना ही तो साधक होना है। वह अकेला नहीं हुआ है, वह मुक्त हो गया है।

वह आसक्ति से मुक्त हो गया है और वह देवी से भी मुक्त हो गया है।

कथा है कि पिंगमाल्य ने उस मूर्ति से जिसमें देवी ने प्राण डाले थे, विवाह कर लिया था और उससे एक सन्तान भी उत्पन्न की थी, जिसने अनन्तर प्रपोष नाम का नगर बसाया। किन्तु वास्तव में पिंगमाल्य की पत्नी शिलोद्भवा नहीं थी। बन्धनमुक्त हो जाने के बाद पिंगमाल्य ने पाया कि वह घृणा से भी मुक्त हो गया है। और उसने एक शीलवन्ती कन्या से विवाह किया। भग्न मूर्ति के खंड उसने बहुत दिनों तक अपनी मुक्ति की स्मृति में सँभाल रखे। मूर्ति के लुप्त हो जाने का वास्तविक इतिहास किसी को पता नहीं चला। देवी ने भी पिंगमाल्य के लिए व्यस्त होना आवश्यक समझा। क्योंकि कला-साधना की एक दूसरी देवी है, और निष्ठावान गृहस्थ जीवन की देवी उससे भी भिन्न है।

और पिंगमाल्य की वास्तविक कला-सृष्टि इसके बाद ही हुई। उसकी कीर्ति जिन मूर्तियों पर आधारित है वे सब इस घटना के बाद ही निर्मित हुई।

कहानी मैं नहीं कहता। लेकिन मुझे कुतूहल होता है कि कहानियाँ आखिर बनती कैसे हैं? पुराण-गाथाओं के प्रतीक सत्य क्या कभी बदलते नहीं? क्या सामूहिक अनुभव में अभी कोई वृद्धि नहीं होती? क्या कलाकार की संवेदना ने किसी नये सत्य का संस्पर्श नहीं पाया?

गैंग्रीन

दोपहर में उस सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझिल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था...

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचानकर उसकी मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक-सी मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, ''आ जाओ।'' और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा, ''वे यहाँ नहीं हैं?''

''अभी आए नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जाएँगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।''

''कब से गये हुए हैं?''

''सवेरे उठते ही चले जाते हैं।''

मैं 'हूँ' कहकर पूछने को हुआ, ''और तुम इतनी देर क्या करती हो?'' पर फिर सोचा आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा, ''नहीं, मुझे नहीं चाहिए।'' पर वह नहीं मानी, बोली, ''वाह। चाहिए कैसे नहीं? इतनी धूप में तो आए हो। यहाँ तो...''

मैंने कहा, ''अच्छा, लाओ मुझे दे दो।''

वह शायद, 'ना' करनेवाली थी, पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेककर एक थकी हुई 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गयी।

मैं उसके जाते हुए, दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा। यह क्या है... यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है...

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहिन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं और हमारी पढ़ाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे

व्यवहार में सदा सख्या की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा...

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी सोचा नहीं था, किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है... और विशेषतया मालती पर..

मालती बच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी। मैंने अपनी कुरसी घुमाकर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है?"

मालती ने बच्चों की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टीटी, आ जा" पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा, "उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ..."

मालती ने फिर उसकी ओर एक नजर देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने ली...

काफ़ी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की... यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ... चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वह बीते दिन भूल गयी? या अब मुझे दूर इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती... पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए...

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई—"

उसने एकाएक चौंककर कहा, "हूँ?"

यह 'हूँ' प्रश्न-सूचक था, किन्तु इसलिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इसलिए मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठा रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देख, उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी

बिखरे हुए वायुमंडल को पुनः जगाकर गतिमान करने कभी, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो... वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाए कि वह उठता ही नहीं है, चिरविस्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता... मुझे ऐसा जान पड़ा मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतारकर फेंकना चाहे, पर उतार न पाए...

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाये। मैंने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आए। मैंने उन्हें पहली बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठकर बातचीत करने लगे, उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, और ऐसे अन्य विषयों के बारे में जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बनकर...

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वह एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेन्सरी के डॉक्टर हैं, उसकी हैसियत से इन क्वार्टरों में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं, उसके बाद दोपहर-भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घंटे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस्पेंसरी के साथ के छोटे-से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य ज़रूरी हिदायतें करने... उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ। वह स्वयं उकताये हुए हैं और इसलिए और साथ ही इस भयंकर गरमी के कारण वह अपने फ़ुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं...

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नहीं खाओगी? या खा चुकीं?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर, "वह पीछे खाया करती है..."

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले, "आपको तो खाने का मजा क्या ही आएगा ऐसे बेवक्त खा रहे हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है, भूख बढ़ी हुई होती है, पर शायद मालती बहिन को कष्ट होगा।"

मालती टोककर बोली, "ऊहूँ, मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है... रोज़ ही ऐसा होता है..."

मालती बच्चे को गोद में लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा, "यह रोता क्यों है?"

मालती बोली, "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चे को डाँटकर कहा, "चुप कर।" जिससे वह और भी रोने लगा, मालती ने भूमि पर बैठा दिया। और बोली, "अच्छा ले, रो ले।" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी!

जब हमने भोजन समाप्त किया तब तीन बजनेवाले थे, महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आए हुए हैं, जिनका ऑपरेशन करना पड़ेगा... दो की शायद टाँग काटनी पड़े, गैंग्रीन हो गया है... थोड़ी ही देर में वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है," किन्तु चली गयी। मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर... शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका, मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है, "तीन बज गये..." मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो...

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था? सब कुछ तो..."

"बहुत था।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था।" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई बोली, "यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती ही नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं; मुझे आए पन्द्रह दिन हुए हैं, ज़ो सब्जी साथ लाए थे वही अभी बरती जा रही है..."

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाए।"

"बरतन भी तुम्हीं माँजती हो?"

"और कौन?" कहकर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आयी। मैंने

पूछा, "कहाँ गयी थीं?"

"आज पानी ही नहीं है, बरतन कैसे मँजेंगे?"

"क्यों, पानी को क्या हुआ?"

"रोज ही होता है... कभी वक्त पर तो आता नहीं, आज शाम को सात बजे आएगा, तब बरतन मँजेंगे।"

"चलो तुम्हें सात बजे तक तो छुट्टी हुई" कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने लगा, "अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई?"

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था, पर मेरी सहायता टिटी ने कह, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा, मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आए कैसे?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, ज़रूरी जाना है।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी। मैं फिर नोट बुक की तरफ़ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे ही ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने किन्तु, यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ, पर बात भी क्या की जाए? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे-हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती...

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ!" कहकर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी, "यहाँ पढ़ने को क्या?"

मैंने कहा, "अच्छा, मैं वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा..." और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया...

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा, "आए कैसे हो, लारी में?"

"पैदल।"

"इतनी दूर? बड़ी हिम्मत की।"

"आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है,सामान लेकर। मैंने सोचा, बिस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस..." कहकर मालती चुप रह गयी फिर बोली, "तब तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नहीं बिलकुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं, भला थके हैं?"

"और तुम क्या करोगी?"

"मैं बरतन माँज रखती हूँ, पानी आएगा तो धुल जाएँगे।"

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर दखेने लगा... मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बरतनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एक-स्वर उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा...

एकाएक वह एक-स्वर टूट गया—मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा...

चार खडक रहे थे और इसी का पहला घंटा सुनकर मालती रुक गयी थी...

वही तीन बजेवाली बात मैंने फिर देखी, अबकी बार और उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिलकुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस यन्त्रवत— वह भी थके हुए यन्त्र के-से स्वर में कह रही है, "चार बज गये" मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यन्त्रवत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वर में कहता है (किससे!) कि मैंने अपने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया... न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी।

तब छह कभी के बज चुके थे,जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैं ने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने को ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा, "आपने बड़ी देर की?"

उन्होंने किंचित् ग्लानि -भरे स्वर में कहा, "हाँ, आज वह गैंग्रीन का ऑपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेंस में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा, "गैंग्रीन कैसे हो गया?"

"एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया, बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के..."

मैंने पूछा, "यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं? आय के लिहाज से नहीं, डॉक्टरी के अभ्यास के लिए?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं, यही गैंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है, नीचे बड़े अस्पताल में भी..."

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गयी, बोली,"हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है? काँटा चुभा था, इस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डॉक्टरी है? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास!"

महेश्वर हँसे, बोले, "न काटें तो उसकी जान गँवाएँ?"

"हाँ, पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हैं..."

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिये, मालती मेरी ओर देखकर बोली, "ऐसे ही होते हैं डॉक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज ही ऐसी बातें सुनती हूँ! अब कोई मर-मुर जाए तो खयाल ही नहीं आता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी।"

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा, टिप् टिप् टिप् टिप् टिप् टिप्...

मालती ने कहा, "पानी!" और उठकर चली गयी। खनखनाहट से हमने जाना, बरतन धोये जाने लगे हैं...

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था, अब एकाएक उन्हें छोड़ मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा, "उधर मत जा!" और उसे गोद में उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

महेश्वर बोले... "अब रो-रोकर सो जाएगा, तभी घर में चैन होगी।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं? गरमी तो बहुत होती है?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहे के पलंग उठाकर बाहर कौन ले जाए? अबकी नीचे जाएँगे तो चारपाइयाँ ले आएँगे।" फिर कुछ रुककर बोले, "अच्छा तो बाहर ही सोएँगे। आपके आने का इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया और पलंग बाहर खींचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," और दूसरी ओर से पलंग उठाकर निकलवा दिया।

अब हम तीनों... महेश्वर, टिटी और मैं पलंग पर बैठ गये और वार्तालाप के

लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छुपाने के लिए टिटी से खेलने लगे, बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीचबीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद करके रो उठता था, और फिर एकदम चुप हो जाता था... और कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे...

मालती बरतन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा, "थोड़े-से आम लाया हूँ, वह भी धो लेना।"

"कहाँ हैं?"

"अँगीठी पर रखे हैं, कागज में लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचल में डाल लिये। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी... वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया... बहुत दिनों की बात थी... जब हम अभी स्कूल में भरती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी विजय थी हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी के क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूरी पर आम के बगीचे में पेड़ों में चढ़कर कच्ची आमियाँ तोड़-तोड़ खाना। मुझे याद आया... कभी जब मैं भाग आता और मालती नहीं आ पाती थी तब मैं भी खिन्न-मन लौट आया करता था।

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे, एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि इसके बीस पेज रोज पढ़ा करो, हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नहीं तो मार-मारकर चमड़ी उधेड़ दूँगा, मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज, फाड़कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फ़र्क़ न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली?" तो उत्तर दिया—"हाँ, कर ली," पिता ने कहा, "लाओ मैं प्रश्न पूछूँगा," तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली, "किताब मैंने फाड़कर फेंक दी है, मैं नहीं पढ़ूँगी।"

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है। इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है.... यह क्या, यह...

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अबकी बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्यभावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी,वह मालती की, ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, मालती उसे भी गोद में लेकर चली गयी, रसोई में बैठकर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठाकर अपने सामने रखने लगी...

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक-दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरों पर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती पलंग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो गया था, पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा, "आप तो थके होंगे, सो जाइए।"

वह बोले, "थके तो आप अधिक होंगे... अठारह मील पैदल चलकर आये हैं।" किन्तु उनके स्वर ने मानो जोड़ दिया, "थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप रहा, थोड़ी देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वह ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे, मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में—यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं, लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर मैं इधर-उधर खिसककर, पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा.. उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगनेवाली स्लेट की छत भी चाँदनी में चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही है, मानो चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो...

मैंने देखा, पवन में चीड़ के वृक्ष . गरमी से सूखकर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष... धीरे-धीरे गा रहे हों... कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं, अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं...

मैंने देखा, प्रकाश से धुँधले नीले आकाश के तट पर जो चमगादड़ नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं...

मैंने देखा... दिन-भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप से उठकर वातावरण में खोये जा रहे हैं, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत शिशुओं ने अपनी चीड़ वृक्षरूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं..

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने... महेश्वर ऊँघ रहे थे और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर दही जमाने के लिए मिट्टी का बरतन गरम पानी से

धो रही थी, और कह रही थी... "अभी छुट्टी हुई जाती है।" और मेरे कहने पर ही कि "ग्यारह बजनेवाले हैं" धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं... मालती ने वह सब कुछ नहीं देखा, मालती का जीवन अपनी रोज की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के लिए, रुकने को तैयार नहीं था...

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा ने मैंने टिटी की ओर देखा और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामता से उठा और खिसककर पलंग से नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वर ने चौंककर कहा, "क्या हुआ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आयी, मैंने उस 'खट्' शब्द को याद करके धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा, "चोट बहुत लग गयी बेचारे के।"

यह सब मानो एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए, हाथ बढ़ाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण-भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा—मेरे मन ने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला —"माँ, युवती माँ, यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो—और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है?"

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी भयंकर छाया घर कर गयी है, उसके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया...

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गयी था। महेश्वर फिर लेटकर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपटकर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिका को या तारों को?

तभी ग्यारह का घंटा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घंटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज में उसने कहा, "ग्यारह बज गये..."

जिजीविषा*

कलकत्ता, सेंट्रल एवेन्यू, गिरीशपार्क से कुछ आगे दक्खिन की ओर सड़क किनारे की चौड़ी पटरी।

बातरा अपनी घुटनों तक ऊँची, कमके पास फटी हुई और छाती के सिर्फ बाएँ भाग को मुश्किल से ढाँपने में समर्थ मैली धोती का छोर पकड़कर उसे बदन से सटाती हुई चल रही है। वह चलना निरुद्देश्य है, लेकिन रस की अनुपस्थिति के कारण उसे टहलना नहीं कहा जा सकता। वह यों ही वहाँ चल रही है; क्योंकि उसे भूख तो लगी है, लेकिन भीख माँगने का उसका मन नहीं होता है। उसमें आत्माभिमान अभी तक थोड़ा-थोड़ा बाकी है, और उसे यह भी दीखता है कि इस इतने बड़े बहुत यथार्थ और बहुत यथार्थवादी शहर कलकत्ते में आकर भी वह यथार्थता को ठीक-ठीक समझ नहीं पायी है, उसके हृदय में कुछ रस की माँग रहती है। जैसे अब वह भूखी भी है तो सिर्फ रोटी पाना ही नहीं चाहती, पाने में कुछ मिठास भी चाहती है। भूखे कुत्ते को रोटी मिलती है, तो लार तो उसके मुँह से टपक ही आती है, फिर भी वह (हो सके तो) किसी घर से खास अपने लिए आयी हुई रोटी को पसन्द करेगा, गली में माँगने नहीं जाएगा...

बातरा सन्थाल है। बच्ची थी, तभी उसके माँ-बाप इधर चले आये थे और इसाई हो गये थे। पादरी ने ईसाइयत के पानी से लड़की की खोपड़ी सींचते हुए जब उसका नाम बीएट्रिस रख दिया था, तब माता-पिता भी बड़े चाव से उसे 'बातरा! बातरा!' कहकर पुकारने लगे थे।

लेकिन वे मर गये। बातरा ने चाहा, मिशन में जाकर नौकरी कर ले; लेकिन मिशन के भीतर पंजाब से आये हुए ईसाई खानसामों का जो अलग मिशन था, उसकी नौकरी उसे मंजूर न हुई और वह भाग आयी।

बातरा जानती थी कि वह कुत्तों से अच्छी है। उसने मेमों के चिकने-चुपड़े मखमल में लिपटे और प्लेट में 'सामन' मच्छी खानेवाले कुत्ते देखे थे और इस समय अपने बिखरे और उलझे हुए जूँ-भरे केश, बवाइयों वाले नंगे पैर, और कलकत्ते की

*यह कहानी पहले 'जीवन शक्ति' के नाम से छपी थी।

धूप, बारिश और मैल से बिलकुल काला पड़ गया अपना पहले ही साँवला शरीर, यह बस भी वह देख रही थी; फिर भी वह जानती थी कि वह कुत्तों से अच्छी है। वह चाहती थी, अच्छी तरह साफ-सुथरे इनसान की तरह जीवन बिताये, चाहती थी कि उसका अपना घर हो, जिसके बाहर गमले में दो फूल लगाये और भीतर पालने में दो छोटे-छोटे बच्चों को झुलाये, और चाहती थी कि कोई और उस पालने के पास खड़ा हुआ करे, जिसके साथ वह उन बच्चों को देखने का सुख और अपने हाथ का सेका हुआ टुक्कड़ बाँटकर भोगा करे—कोई और जो उसका अपना हो—वैसे नहीं जैसे मालिक कुत्ते का अपना होता है, वैसे जैसे फूल खुशबू का अपना होता है। अब तक यह सब हुआ नहीं था; लेकिन बातरा जानती थी कि वह होगा, क्योंकि बातरा अभी जवान है, और उस कीच-कादों में पल रही है, जिससे जीवन मिलता है, जीवन-शक्ति मिलती है।

बातरा एवेन्यू की पटरी पर टहलती जाती है और यह सब सोचती जाती है, और बीच-बीच में सिर उठाकर इधर-उधर आने-जानेवाले लोगों की ओर भी देखती जाती है, आसपास के भिखमंगों-आवारों-बेघरों की ओर भी।

उसकी आँखें एक आदमी की आँखों से मिलती हैं जो उसकी ओर जाने कब से देख रहा है, अटकती हैं, हट जाती हैं और फिर मिल जाती है। अबकी बार उनमें एक उद्दंडता-सी है,मानो कह रही हों, तुम नहीं हटाते, तो मैं ही क्या हटाऊँ? मुझे काहे की लज्जा?

वह आदमी मुस्करा देता है,फिर उठकर गिरीश पार्क की ओर चल देता है।

थोड़ी देर बाद बातरा उसी के पीछे चल देती है। वह नहीं जानती कि क्यों उसे इस आधे से अधिक नंगे गठे हुए बदनवाले गन्दे आदमी के बारे में कुतूहल हो आया है।

वह गिरीश पार्क की दीवार पर बैठा हुआ आगे जानेवालों से भीख माँग रहा था। उसे कुछ खास मिलता नहीं था; लेकिन माँगते वक्त वह एक विचित्र ढंग से मुस्करा देता था, जिसमें कुछ बेबसी थी और कुछ बेशर्मी, और उसने अनुभव से जान लिया था कि विशुद्ध गिडगिड़ाहट से यह ढंग अधिक फलदायक होता है, क्योंकि गिड़गिड़ाने से करुणा तो जाग उठती है, पर अहंकार झुँझलाता है, लेकिन इस बेशर्मी से अहंकार भी चुप होकर पैसा-दो पैसे कुर्बान कर ही देता है।

बातरा ने पूछा, "ऐसे कुछ मिलता भी है?"

वह एक हाथ से अपने पेट के पास टटोलते हुए बोला, "तुमको आज कुछ मिला?"

"मैंने तो छुट्टी कर दी।"

"कुछ खाया? तुम्हारा नाम क्या है? कहाँ की हो?"

''बातरा।'' कहकर बातरा चुप हो गयी, और उसकी चुप्पी में बाकी दोनों प्रश्नों का उत्तर हो गया।

''मेरा नाम दामू है।'' कहकर उसने दूर पर बैठे हुए एक छाबड़ीवाले को बुलाकर कहा, ''ओ बे, दो अमरूद दे जा!''

छाबड़ीवाले ने उपेक्षा से कहा, ''आव ले जाव!''

''अबे पैसे मिलेंगे, दे जा!''

''वाह रे तेरे नखरे, भिखमंगे!'' कहता हुआ छाबड़ीवाला मुस्कराता हुआ उठा और दो अमरूद दे गया और पैसे ले गया।

''खा।'' कहकर दामू ने बड़ा अमरूद बातरा को दिया और दूसरा स्वयं खाने लगा।

बातरा भी खाने लगी। और ज्यों-ज्यों वह खाती जाती थी, उसके भीतर जीवन-शक्ति जाग्रत होती जाती थी...

2

बातरा के अट्ठारह सालों की संचित लालसा ने मानो एक आधार पाया। गिरीश पार्क में कुछ आगे एक छोटा किन्तु घना अशोक का पेड़ था, उसी के नीचे उसने अपना करीब-करीब स्थायी अड्डा जमा लिया और उसी पेड़ के नीचे दूसरी तरफ़ दामू ने अपना अँगोछा डालकर माँगने की और रहने की जगह बना ली। किसी दिन वह भीख माँगता, यदि कभी चार पैसे मिल जाते, तो उसके अमरूद खरीदकर अपने अँगोछे पर सजाकर दुकान कर लेता।

आसपास के दुकानदार जो उससे परिचित थे—मजाक बनाते, लेकिन फिर अमरूद महँगे दामों खरीद भी लेते। इसी प्रकार कभी दिन में चार-छः पैसों का नफा हो जाता, तो दामू बातरा के लिए तरबूज की एक फाँक ख़रीद लेता, या पकौड़ियाँ ले आता और उसे कहता, ''देख, आज तू किसी से मत माँगना।''—

वह हँसकर कहती, ''और कोई दे जाए तो?''

''तो कहना, ले जा, हम कोई भिखमंगे हैं?''

और दोनों हँस पड़ते।

लेकिन इस लापरवाही से और कभी दैवात् बिक्री न होने से उसकी शाम इतनी सुखद न होती और बातरा थके हुए स्वर में कहती, ''भूख लग आयी...'' तब दामू एकाएक दुकान उठा लेता और दोनों जने फल बाँटकर खा जाते। अगले दिन सवेरे ही दामू कहीं कहीं चल देता, गली-गली में भटककर और कचरा-पेटियाँ देखकर पुराने टीन, बोतलें, टूटे पुर्जे बटोरकर लाता और एक कबाड़िये के पास दो-

तीन पैसे में बेच लेता...

एक दिन से दूसरा दिन हो जाता, लेकिन कुछ जुटने की नौबत न आती और बातरा की संचित लालसा उस कभी न फूलनेवाले अशोक के आस-पास चक्कर काटकर रह जाती...लेकिन जैसे उसने हारना सीखा ही नहीं था, लालसा को कम उग्र करना भी नहीं सीखा था।

साल-भर होने को आया। गर्मियाँ फिर चुक चलीं, आकाश में बादल घिरने लगे। वे आते, घिरकर बिना बरसे ही फिर बिखर जाते और बातरा को लगता, दुनिया गलत हो गयी है। वह अशोक के दूसरी ओर बैठे हुए दामू की ओर देखती और न जाने क्यों उसका हृदय उमड़ आता, उसमें खलबली-सी मच जाती, उसकी आँखों को धुँधला-सा कुहरा-सा दीखने लगता और उन दोनों के बीच में खड़ा वह अशोक वृक्ष का तना उसकी दृष्टि में काँप-सा उठता... वह आकाश की ओर मुँह उठाकर कहती, ''अब तो बारिश होनी ही चाहिए!'' और दामू भी आकाश की ओर देखता हुआ ही उत्तर देता— ''हाँ, अब तो मेरा जी भी तरस गया।''

बातरा का हृदय मानो उछल पड़ता, और वह जैसे पूछने को ही उठती, ''किस चीज़ के लिए तरस गया है?'' पर साहस न होता और दिल फिर बैठ जाता...

और आस-पास के लोग भी देखने लगे कि उस अशोक वृक्ष के नीचे कुछ बदल गया है। वे लोग बीच-बीच में कभी एक तीखी दृष्टि से बातरा की ओर देखते, उस दृष्टि में थोड़ा-सा उपहास और थोड़ी-सी लोलुप-सी प्रशंसा भी होगी। बातरा उस दृष्टि को देखती, तो सिमट-सी जाकर, अपने से पूछ उठती, ''क्या मेरी सूरत अच्छी है?'' फिर उसका ध्यान अपने साँवले बदन की और अपने सूखे बालों की ओर जाता और प्रश्न मानो मूक होकर बैठ जाता।

3

''आज तो होकर रहेगी।''

दामू ने बातरा की ओर देखा, फिर उसकी दृष्टि का अनुसरण करते हुए आकाश की ओर, और बैठते हुए बोला, ''हाँ, लो यह लाया हूँ।''

रात को बातरा ने गली में कचरा-पेटी के पीछे छिपकर यह दूसरी धोती लपेटी, जो पुरानी और कुछ मैली तो थी, पर फटी कहीं से नहीं थी और मोटी भी खूब थी। अपनी जगह लौटकर उसने पुरानी धोती नीचे बिछायी, कुछ दिन पहले लाये गये बोरिये के टुकड़े को ऊपर ओढ़ने के लिए रखा और पेड़ की आड़ में दामू की ओर देखने लगी।

रात को बारिश शुरू हुई। लेकिन बातरा को लगा कि वह जैसे भीग ही नहीं रही है, उस बोरिये के टुकड़े से इतना काफ़ी बचाव हो रहा था। लेकिन हवा के

झोंकों से जब वह बोरिया बार-बार उड़ने लगा और साथ ही धोती को भी उड़ाने लगा, तब बातरा पेड़ की आड़ लेने के लिए बिलकुल उसके तने से सट गयी।

दूसरी ओर सटे हुए दामू ने पूछा, ''क्यों भीग रही हो?'' और बोरिये का छोर पकड़कर बातरा के बदन के नीचे दाब दिया।

तब आधी रात थी। वक्त वैसे बहुत नहीं हुआ था, फिर भी बारिश की वजह से एवेन्यू सुनसान पड़ा था। बिजली की गड़गड़ाहट सभ्यता की नीरवता को और भी स्पष्ट कर रही थी। बातरा को लगा, वह अकेली है, और उसे कुछ ठंड-सी भी लगी। उसने पेड़ के और निकट सिमटते हुए कहा, ''नहीं...''

दामू ने उसकी ओर हाथ बढ़ाकर बाल छूते हुए कहा, ''भीग तो गयी...''

बातरा के भीतर उसका एकान्त सहसा उमड़-उमड़ आया, उसकी पुरानी लालसा तड़प उठी.. दामू का कोमल स्वर सुनकर उसके भीतर न जाने क्या हुआ, वह एकाएक हतप्रभ, शून्य-सी होकर अपने ऊपर छाये हुए और कभी-कभी चमक जानेवाले अशोक के गीले पत्तों की ओर देखने लगी...

दामू ने फिर बुलाया, ''क्या हुआ, बातरा?''

''कुछ नहीं।''

''कुछ कैसे नहीं? बताओ न? कोई तकलीफ है?''

बातरा से सहा नहीं गया। उसका बदन जैसे एकदम तप उठा। वह उठकर बैठ गयी, बोरिया उसने उतार फेंका, अशोक के तने की छाल में एक हाथ के नाखून जोर से गड़ाकर, आँखें फाड़-फाड़कर सड़क की धुली हुई कालिख की ओर देखने लगी...

दामू ने उसका हाथ धीरे-धीरे पेड़ से अलग कर अपने दोनों हाथों में ले लिया। बातरा ने छुड़ाया नहीं—उसे जैसे पता नहीं था कि वह कहाँ है...

दामू ने पुकारा, ''बातरा!''

वह चौंकी। उसने दामू का हाथ झटक दिया, पेड़ से कुछ हटकर बैठ गयी। बोली, ''मुझे मत बुलाओ!''

''क्यों?'' अचम्भे के स्वर में पूछता हुआ दामू उठा और पेड़ के इधर बैठ गया।

''मुझे माँ की याद आ गयी, वह ऐसे बुलाती थी।'' कहकर बातरा एकाएक रो उठी और थोड़ी देर में उसकी हिचकी बँध गयी...

दामू ने कहा, ''लेट जाओ!'' वह बिना विरोध किये लेट गयी। दामू उसका सिर थपकने लगा और वह सो गयी।

सवेरा होने को हुआ, तब भी अभी दामू वहीं बैठा था। बातरा एकदम हड़बड़ाकर उठी और बोली, ''अरे—''

दामू ने जल्दी से टोकते हुए पूछा, "क्यों, फिर भी याद आयी?"

बातरा को अपनी रात में कही हुई बात याद आ गयी। वह झूठ नहीं बोली थी; लेकिन अब उसे लगा कि वह सच नहीं था...

उसने दामू से कहा, "तुम सोये नहीं? जाओ सोओ।"

लेकिन दामू पेड़ के दूसरी तरफ़ नहीं लौटा। उसे लगा कि पेड़ के एक तरफ से दूसरी तरफ़ आने का पड़ाव डेढ़ वर्ष में तय कर पाया है, तो एक बार कहने से नहीं लौटेगा।

और एक बार से अधिक बातरा ने कहा भी नहीं। आस-पास के दुकानदारों ने यह नयी व्यवस्था देखी तो एक-दूसरे को बुलाकर उन पर फबतियाँ कसने लगे; एक ने सुनाकर कहा, "आखिर खुल ही गयी हकीकत राँड़ की!" लेकिन बातरा ने जब उद्दंड रोष से कहा, "चुप रहो, लाला!" तब वह वीभत्स हँसी हँसकर चुप हो गया।

और बातरा को पैसे अधिक मिलने लगे। लोगों के भीतर छिपा हुआ शैतान जब समझता है कि दूसरों के भीतर भी शैतान बसा है, तब उसकी उस कल्पित मूर्ति को सिर झुकाये बिना नहीं रहता, फिर बाहर से चाहे जो कहे!

और बातरा के भीतर जीवन-शक्ति उमड़ने लगी, उसकी वह उत्कंठा घनी होने लगी— कभी-कभी रात में वह न जाने कैसा स्वप्न देखकर चौंक उठती और अपना भीगा हुआ सिर दामू के कन्धे में छिपाकर अपना बोरिया का टुकड़ा कुछ दामू के ऊपर भी खींचकर ज़रा-सा काँपकर फिर सो ज़ाती...

4

सर्दियाँ आयीं, तो बातरा के ऊपर एक जेल से नीलाम हुए काले कम्बल का आधा हिस्सा था, दामू के सिर पर एक पुरानी खाकी पगड़ी। और जब बसन्त के दिनों एक शाम को गिरीश पार्क के पिछवाड़े से मधुमालती की एक बेल में से कुछ फूल तोड़कर उन्हें दामू के पास डालते हुए बातरा ने अपनी पीड़ा को दबाते हुए लज्जित स्वर में कहा था, "मैं अभी आती हूँ, तुम यहीं रहना।" और एक ओर को चल दी थी, तब अशोक के पड़ के नीचे एक अलमोनियम का गिलास पड़ा था, एक लिपटी हुई छोटी चटाई, एक टूटी कंघी, एक पीतल की डिबिया, एक पेड़ की शाख में एक पीले कपड़े की पोटली भी टँगी हुई थी। बात जब इन दो बरसों में इकट्ठी हुई चीज़ों को देखती थी, तब उसका जी भर आता था, उसे लगता था कि उसकी लालसा अब फलने के निकट है, क्योंकि अब तो—अब तो... और वह लज्जा में सिमट जाती थी, चोरी से दामू की तरफ देखती थी कि कहीं उसने यह देख तो नहीं लिया, उसके

स्वप्न पढ़ तो नहीं लिए...

तो उस दिन साँझ को वह दामू को मधुमालती के फूल देकर चल दी, और रात नहीं लौटी। दामू को प्रतीक्षा में बैठे-बैठे भोर हो आया, तब वह आयी, अपनी लालसा के स्वर्ग की एक ओर सीढ़ी चढ़कर—गोद में एक गुदड़ी में लिपटा हुआ शिशु लिये हुए। दामू ने उसके पीले मुँह की ओर देखा, फिर उसकी एक विचित्र स्निग्ध प्रकाश से भरी हुई आँखों की ओर, और मौन स्वीकृति में सब-कुछ अपनाकर कहा, "अरे, हम तो कुनबा हो गये!"

कितना मधुर था वह एक शब्द 'कुनबा'—एक सिहरन-सी बातरा के शरीर में दौड़ गयी। वह खड़ी न रह सकी, धम से बैठ गयी—

दामू ने कहा, "अब धूप तो नहीं लगा करेगी?"

धीरे-धीरे टीन की चादर का एक टुकड़ा आया जो पेड़ के साथ बँध गया और छतरी का काम देने लगा, फिर एक बहुत छोटी-सी खाट जिसकी रस्सियाँ धुएँ से काली पड़ी हुई थीं और जिस पर बातरा के बहुत सँभलकर बैठने पर भी रोज एक-न-एक रस्सी टूट ही जाती थी, फिर एक छाबड़ी जिसमें चकोतरे की फाँकें और पान के बीड़े तक सजने लगे। कभी-कभी कोई आकर दामू के पास बैठता, तो एक बोतल सोडे की भी आ जाती...

बातरा अपने सब ओर फैलते हुए परिग्रह की ओर देखती, फिर ऊपर टीन की छत की ओर और फिर अनदेखती-सी दृष्टि से दूर की उस मधुमालती लता के फूलों की ओर देखकर सोचती, कभी गमले भी आ जाएँगे—मेरे फूल...

फिर बरसात आयी, तब बच्चे ने चिल्ला-चिल्लाकर नाक में दम कर दिया। तब अशोक की शाखा में एक पालना भी बँधा और टीन की छत के साथ बाँधकर बोरिये के टुकड़े आड़ के लिए लटक गये।

एक आदमी के भीतर जो शैतान होता है, वह तब एक दूसरे आदमी के भीतर के शैतान का पक्ष लेता है, जब तक कि उसका स्वार्थ न बिगड़े। पास-पड़ोस के दुकानदार दामू को बदमाश और बातरा को राँड़ से कम कभी कुछ नहीं कहते थे, फिर भी उनके प्रति काफ़ी सहनशील रहते थे, अपने गन्दे मजाक के भाईचारे में उन्हें खींच लिया करते थे। लेकिन अब पेड़ के बने इस घोंसले को देखकर कुछ को लगा कि उनकी दुकान के आगे की जगह घिर रही है और ग्राहक की दृष्टि से वह छिप गयी है। दामू और बातरा के प्रति उनकी उदारता मिटने लगी, और अब उन्हें यह सोचकर दुगुना क्रोध आने लगा कि इस परिवार पर उन्होंने इतनी मेहरबानी क्यों दिखायी...

लेकिन दिन बीतते गये, और बातरा स्वप्न देखती आयी... उसके भीतर जो शक्ति थी, जिसने हारना नहीं जाना था, आगे देखना ही जाना था, वह भोजन

पकाकर बढ़ने लगी।

5

और फिर सर्दियाँ आयीं, फिर ग्रीष्म। फिर बारिश हुई, ख़ूब हुई और चुक चली। शरद के मधुर दिन आये, दीवाली के आलोक से कलकत्ता जगमगा उठा, उस बोरिये कसे घिरे हुए और टीन से छाये हुए थोड़े-से स्थान में भी दो मोमबत्तियों के आलोक ने काँपकर कहा, अरे, मुझे इससे अधिक आड़ नहीं मिलेगी? और निराश होकर बुझ गया फिर धीरे-धीरे ठंड बढ़ने लगी और रातों में ओस भी पड़ने लगी... दिन अच्छे थे; बातरा को कभी बचपन में देखे हुए अपने ऊबड़-खाबड़ प्यारे देश की याद आ जाती; लेकिन वह कुछ अस्वस्थ रहने लगी। उसकी आँखें भर-भर-सी जाती और दूर कहीं के ध्यान में—अनुभूति में खो जातीं; कभी उसे लगता, उसके भीतर न जाने क्या काँप-सा रहा है, कभी उसके जी मिचला उठता, उसे लगा कि उसका शरीर एकदम से शिथिल हो गया, आँखें भारी होकर निकम्मी हो गयी हैं। वह घबराकर बैठ जाती... तब एक दिन एकाएक वह जान गयी कि उसे क्या हुआ हैं, और लज्जा से भरकर उसने दामू से कहा, "मैं भीतर ही रहूँगी" दामू पहले समझा नहीं, फिर गम्भीर हो गया, फिर कुछ चिन्तित-सा होकर बातरा के कन्धे पर हाथ रखकर थोड़ी देर खड़ा रहा, और तब बाहर चला गया...

महीने-भर के अन्दर ही बातरा ने देखा, उस अशोक के नीचे बँधे हुए टीन के चारों और बोरिये की बजाय टीन की चादरें लग गयी हैं, जिसे उसका छोटा-सा बच्चा हाथ से पकड़कर हिलाता है, और खनखन ध्वनि होने पर जरा रुककर माँ की ओर देखता हुआ अपनी चालाक आँखों से मुस्कुरा देता है। बातरा कहती है, "चल बदमाश!" तब खिलखिलाकर हँस पड़ता है।

जिस दिन सामने की ओर टीन की कटी हुई चादर बाँधकर बन्द हो सकने वाला किवाड़ बन गया, उस दिन भीतर आकर दामू ने झूठमूठ की कठोरता से कहा, "अब तो झूठ बोलकर नहीं भागेगी, बाती?"

बातरा कुछ न बोल सकी। उसकी आँखें, उसका हृदय, उसका मन एकाएक उस स्वप्न से पुलक उठा—दो बच्चे, दो गमले, दो-एक फूल, और-और...

6

लेकिन सवेरे पिछवाड़े के दुकानदार ने कहा, "क्यों बे दामू के बच्चे, यहाँ हवेली खड़ी करेगा क्या?"

दामू ने कहा, "लाला, हमें भी तो रहने को जगह चाहिए, तुम तो—"

"ऐंहें! बड़ा आया घर में रहनेवाला! और जब यहीं नंगा पड़ा रहता था और

कुत्ते बदन चाटते थे तब?" फिर तीखे वीभत्स व्यंग्य से, "अब वह आ गयी है न लुगाई, तभी तो घर चाहिए उसके..."

दामू ने उद्धत होकर कहा, "लाला, आबरू रखनी है, तो जबान सँभालकर बात कहो!"

लाला चुप हो गया। पर शाम को कॉरपोरेशन के इन्स्पेक्टर ने आकर अपनी छड़ी बातरा की पीठ में गड़ाते हुए कर्कश स्वर में पूछा, "क्यों री, यह सब क्या है?"

बातरा लेटी थी। दामू कहीं गया हुआ था। उठकर बच्चे को गोद से उतारती हुई बोली, "क्यों? मेरा घर।"

"तेरे बाप की खरीदी हुई जमीन थी, जो घर बनाया? बनी है नवाबजादी टके-टके के लिए गलियों में ऐसी-तैसी कराती है, यहाँ सेंट्रल एवेन्यू पर घर चाहिए?"

बरस-भर से बातरा ने किसी को गाली नहीं दी थी, न दुकानदारों के तकियाकलाम 'राँड़' शब्द के अतिरिक्त कोई गाली सुनी ही थी। अब इंस्पेक्टर के मुँह से यह पुण्यसलिता फूटती देखकर वह एकाएक कुछ कह न सकी, उससे हुआ तो सिर्फ इतना कि उसने खींचकर एक थप्पड़ इंस्पेक्टर के मुँह पर मार दिया!

इंस्पेक्टर एक क्षण भौंचक रह गया, फिर उसने अपनी छड़ी से बातरा की छाती में, कमर में, टाँगों में प्रहार करना आरम्भ किया और जबान से इंस्पेक्शन के दौरे करते-करते दिमाग में भरकर सड़ाँध पैदा करती हुई तमाम कलकत्ते की गन्दगी उगलने लगा। और आखिर में बच्चे को एक ठोकर मारकर आगे बढ़ा और पुकारने लगा— "पुलिस! पुलिस!"

पुलिस आयी। बातरा के हथकड़ी लग गयी। सहमे हुए बच्चे को अपनी नंगी छाती से चिपटाये उसने देखा, उसकी पोटली, चटाई, चारपाई, गिलास सब पुलिस ने जब्त कर लिये, और उसकी स्थिर अनझिप आँखों के आगे टीन की चादरें भी उतर आयीं और अशोक का पेड़ वैसा ही नंगा हो गया, जैसा तीन वर्ष पहले था— नशे-में ही बातरा घिसटती हुई थाने की ओर चली, उसे होश तक नहीं आया, जबकि हिरासत में बन्द होकर वह बच्चे को नीचे बिठाने लगी—तक उसने देखा कि बच्चे की गर्दन एक ओर लटक रही है और मुँह से लार में मिला हुआ खून बह रहा है।

सिपाही ने आकर उसकी फटी धोती का छोर खींचते हुए कहा, "इसे निकालो, तलाशी ली जाएगी।" लेकिन बातरा को होश नहीं था। सिपाही उसका बहुत बढ़ा हुआ और कुरूप पेट देखकर धोती वहीं फेंककर झेंपा हुआ-सा बाहर निकल गया है, वह उसे भी नहीं मालूम हुआ; बाहर दो-तीन कांस्टेबलों की

वीभत्स हँसी भी उसने नहीं सुनी उसने यन्त्रवत् धोती में बच्चे को लपेटा, उसे गोद में लेकर धोती के छोर से उसका मुँह पोंछा, फिर उठकर कोठरी के कोने के अँधेरे में सिमटकर बैठ गयी।

सवेरे चार बजे उसे कोठरी से निकाल दिया गया। बच्चा उसे नहीं दिया गया—साधनहीन लोगों के मुर्दे जलाने का पुण्यकार्य कारपोरेशन कर देता है।

7

गिरीश पार्क से पूर्व की ओर मुड़कर विवेकानन्द रोड पर कोयले की दुकान के हाते को घेरनेवाली टीन की चादरों की दीवार की आड़ में दामू और बातरा।

दामू कुछ पुराने अख़बारों के गट्ठर में से अखबार निकालकर एक के ऊपर एक बिछाता जा रहा है, कि बैठने लायक जगह बन जाए; बातरा टीन की चादर को सँभालने वाले खम्भों के सहारे खड़ी प्रतीक्षा कर रही है। मदद उससे की नहीं जाती, उसकी टाँगें काँप रही हैं। वह फटी-फटी-सी दृष्टिहीन-सी आँखों से बिछते हुए कागजों की ओर देखती जाती है, ऐसे मानो आँखें बाहर की ओर नहीं, भीतर की ओर देख रही हों, जहाँ उसमें दुर्बल, असहाय, लेकिन नया जीवन छटपटा रहा है; जहाँ एक अदम्य जीवन-शक्ति नींद में भी तड़प उठती है अकथनीय सपने देखकर—दरवाजे के आगे दो छोटे-छोटे फूल-भरे गमले, भीतर पालने में दो छोटे-छोटे बच्चे, और बातरा के पास एक और—कोई एक और...

रमन्ते तत्र देवता:

अक्टूबर सन् 1946 का कलकत्ता। तब हम लोग दंगे के आदी हो गये थे, अख़बार में इक्के-दुक्के ख़ून और लूटपाट की घटनाएँ पढ़कर तन नहीं सिहरता था; इतने से यह भी नहीं लगता था कि शहर की शान्ति भंग हो गयी। शहर बहुत-से छोटे-छोटे हिन्दुस्तान-पाकिस्तानों में बँट गया था, जिनकी सीमाओं की रक्षा पहरेदार नहीं करते थे, लेकिन जो फिर भी परस्पर अनुल्लंघ्य हो गये थे। लोग इसी बँटी हुई जीवन-प्रणाली को लेकर भी अपने दिन काट रहे थे; मान बैठे थे कि जैसे जुकाम होने पर एक नासिका बन्द हो जाती है तो दूसरी से श्वास लिया जाता है—तनिक कष्ट होता है तो क्या हुआ, कोई मर थोड़े ही जाता है?— वैसे ही श्वास की तरह नागरिक जीवन भी बँट गया तो क्या हुआ... एक नासिका ही नहीं, एक फेफड़ा भी बन्द हो जा सकता है और उसकी सड़न का विष सारे शरीर में फैलता है और दूसरे फेफड़े को भी आक्रान्त कर लेता है, इतनी दूर तक रूपक को घसीट ले जाने की क्या जरूरत?

बीच-बीच में इस या उस मुहल्ले में विस्फोट हो जाता था। तब थोड़ी देर के लिए उस या आसपास के मुहल्लों में जीवन स्थगित हो जाता था, व्यवस्था पटकी खा जाती थी और आतंक उसी छाती पर चढ़ बैठता था। कभी दो-एक दिन के लिए गड़बड़ रहती थी, तब बात कानोंकान फैल जाती थी कि 'ओ पाड़ा भालो ना' और दूसरे मुहल्लों के लोग दो-चार दिन के लिए उधर आना-जाना छोड़ देते थे। उसके बाद ढर्रा फिर उभर आता था और गाड़ी चल पड़ती थी...

हठात् एक दिन कई मुहल्लों पर आतंक छा गया। वे वैसे मुहल्ले थे जिनमें हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की सीमाएँ नहीं बाँधी जा सकती थीं क्योंकि प्याज की परतों की तरह एक के अन्दर एक जमा हुआ था। इनमें यह होता था कि जब कहीं आसपास कोई गड़बड़ हो, या गड़बड़ की अफवाह हो, तो उसका उद्भव या कारण चाहे हिन्दू सुना जाए चाहे मुसलमान, सब लोग अपने-अपने किवाड़ बन्द करके जहाँ के तहाँ रह जाते, बाहर गये हुए शाम को घर न लौटकर बाहर ही कहीं रात काट देते, और दूसरे-तीसरे दिन तक घर के लोग यह न जान पाते कि गया हुआ व्यक्ति इच्छापूर्वक कहीं रह गया है या कहीं रास्ते में मारा गया है...

मैं तब बालीगंज की तरफ़ रहता था। यहाँ शान्ति थी और शायद ही कभी भंग होती थी। यों खबरें सब यहाँ मिल जाती थीं, और कभी-कभी आगामी 'प्रोग्रामों' का कुछ पूर्वाभास भी। मन्त्रणाएँ यहाँ होती थीं, शरणार्थी यहाँ आते थे, सहानुभूति के इच्छुक आकर अपनी गाथाएँ सुनाकर चले जाते थे...

आतंक का दूसरा दिन था। तीसरे पहर घर के सामने बरामदे में आरामकुर्सी पर पड़े-पड़े मैं आने-जानेवालों को देख रहा था। 'आने-जानेवाले' यों भी अध्ययन की श्रेष्ठ सामग्री होते हैं, ऐसे आतंक के समय में तो और भी अधिक। तभी देखा, मेरा पड़ोसी ही एक सिख सरदार साहब, अपने साथ तीन-चार और सिखों को लिये हुए घर की तरफ जा रहे हैं। ये अन्य सिख मैंने पहले इधर नहीं देखे थे— कौतूहल स्वाभाविक था और फिर आज अपने पड़ोसी को लम्बी किरपान लगाये देखकर तो और भी अचम्भा हुआ। सरदार बिशनसिंह सिख तो थे, पर बड़े संकोची, शन्तिप्रिय और उदार विचारों के; प्रतीक-रूप से किरपान रखते रहे हों तो रहे हों, मैंने देखी नहीं थी और ऐसे उद्धत ढंग से कोट के ऊपर कमरबन्द के साथ लटकायी हुई तो कभी नहीं।

मैंने कुछ पंजाबी लहजा बनाकर कहा, "सरदारजी, अज्ज किद्धर फौजीं चल्लियाँ ने?"

बिशनसिंह ने व्यस्त आँखों से मेरी ओर देखा। मानो कह रहे हों, 'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे लहजे पर मुस्कुराकर तुम्हारा विनोद स्वीकार करना चाहिए, पर देखते तो हो, मैं फँसा हूँ...' स्वयं उन्होंने कहा, "फेर हाजिर होवांगा..."

टोली आगे बढ़ गयी।

जो लोग आरामकुर्सियों पर बैठकर आने-जानेवालों को देखा करते हैं, उन्हें एक तो देखने को बहुत कुछ नहीं मिलता है, दूसरे जो कुछ वे देखते हैं उसके साथ उनका रागात्मक लगाव तो जरा भी होता नहीं कि वह मन में जम जाए। मैं भी सरदार बिशनसिंह को भूल-सा गया था जब रात को वे मेरे यहाँ आये। लेकिन अचम्भे को दबाकर मैंने कुर्सी दी और कहा, "आओ बैठो, बड़ी किरपा कीत्ती?"

वे बैठ गये। थोड़ी देर चुप रहे। फिर बोले, "अज जी बड़ा दुखी हो गया ए?..."

मैंने पंजाबी छोड़कर गम्भीर होकर कहा, "क्या बात है सरदारजी? खैर तो है?"

"सब खैर-ही-खैर है इस अभागे मुल्क में, भाई साहब, और क्या कहूँ। मैं तो कहता हूँ दंगा और खून-खराबा न हो तो कैसे न हो, जब कि हम रोज नयी जगह उसकी लड़ें रोप आते हैं, फिर उन्हें सींचते हैं... मुझे तो अचम्भा होता है, हमारी कौम बची कैसे रही अब तक!"

उनकी वाणी में दर्द था। मैंने समझा कि वे भूमिका में उसे बहा न लेंगे तो बात न कह पाएँगे, इसलिए चुप सुनता रहा। वे कहते गये, "सारे मुसलमान अरब और फारस और तातार से नहीं आए थे। सौ में एक होगा जिसको हम आज अरब या फारस या तातार की नस्ल कह सकें। और मेरा तो खयाल है—खयाल नहीं तजरुबा है कि अरब या ईरानी बड़ा नेक, मिलनसारी और अमन पसन्द होता है। तातारियों से साबिका नहीं पड़ा। बाकी सारे मुसलमान कौन हैं? हमारे भाई, हमारे मजलूम जिनका मुँह हम हज़ारों बरसों से मिट्टी में रगड़ते आए हैं! वही, आज वही मुँह उठाकर हम पर थूकते हैं, तो हमें बुरा लगता है। पर वे मुसलमान हैं, इसलिए हम खिसियाकर अपने दो भाइयों को पकड़कर उनका मुँह मिट्टी में रगड़ते हैं। और भाइयों को ही क्यों, बहिनों को पैरों के नीचे रौंदते हैं, और चूँ नहीं करने देते क्योंकि चूँ करने से धरम नहीं रहता।"

आवेश में सरदार की जबान लड़खड़ाने लगी थी। वे क्षण-भर चुप हो गये। फिर बोले, "बाबू साहब, आप सोचते होंगे, यह सिख होकर मुसलमानों का पच्छ करता है ठीक है, उनसे किसी का वैर हो सकता है तो हमारा ही। पर आप सोचिए तो, मुसलमान है कौन? मजलूम हिन्दू ही तो मुसलमान हैं। हमने जिससे हिकारत की, वह हमसे नफरत करे तो क्या बुरा करता है—हमारा कर्ज ही तो अदा करता है न! मैं तो यह भी कहता हूँ कि यह ठीक न भी हो, तो भी हम नुक्स निकालनेवाले कौन होते हैं? इनसान को पहले अपना ऐब देखना चाहिए, तभी वह दूसरे को कुछ कहने लायक बनता है। आप नहीं मानते?"

मैंने कहा, "ठीक कहते हैं आप। लेकिन इनसान आखिर इनसान है, देवता नहीं।"

उन्होंने उत्तेजित स्वर में कहा, "देवता? आप कहने हैं देवता? काश कि वह इनसान भी हो सकता। बल्कि वह खरा हैवान भी होता तो भी कुछ बात थी—हैवान भी अपने नियम-कायदे से चलता है! लेकिन बहस करने नहीं आया, आप आज की बात सुन लीजिए।"

मैंने कहा, "आप कहिए। मैं सुन रहा हूँ।"

"आप जानते हैं कि मेरे घर के पास गुरुद्वारा है। जहाँ जब-तब कुछ लोगों ने पनाह पायी है, और जब-तब मैंने भी वहाँ पहरा दिया है। यह कोई तारीफ की बात नहीं, गुरुद्वारे की सेवा का भी एक ढर्रा है, पनाह देने की भी रीत चली आयी है, इसलिए यह हो गया है। हम लोगों ने इंसानियत की कोई नयी ईजाद नहीं की। खैर, कल मैं शाम बाजार से वापस आ रहा था तो देखा, रास्ते में अचानक मिनटों में सन्नाटा छाता जा रहा है। दो-एक ने मुझे भी पुकारकर कहा, 'घर जाओ, दंगा हो गया है' पर यह न बता पाये कि कहाँ। ट्राम तो बन्द थी ही।

"धरमतल्ले के पास मैंने देखा, एक औरत अकेली घबरायी हुई आगे दौड़ती चली जा रही है, एक हाथ में एक छोटा बंडल है, दूसरे में जोर से एक छोटा मनीबेग दाबे है। रो रही है। देखने से भद्दरलोक की थी। मैंने सोचा, भटक गयी है और डरी हुई है, यों भी ऐसे वक़्त में अकेली जाना—और फिर बंगालिन का—ठीक नहीं, पूछकर पहुँचा दूँ। मैंने पूछा, 'माँ, तुम कहाँ जाओगी?' पहले तो वह और सहमी, फिर देखकर कि मुसलमान नहीं सिख हूँ, जरा सँभली। मालूम हुआ कि उत्तरी कलकत्ता से उसका खाविन्द और वह दोनों धरमतल्ले आये थे, तय हुआ था कि दोनों अलग-अलग सामान खरीदकर के.सी. दास की दुकान पर नियत समय पर मिल जाएँगे और फिर घर जाएँगे। इसी बीच गड़बड़ हो गयी, वह सन्नाटे से डरकर घर भागी जा रही—दास की दुकान पर नहीं गयी, रास्ते में चाँदनी पड़ती है जो उसने सदा सुना है कि मुसलमानों का गढ़ है।

"मैंने उससे कहा कि डरे नहीं, मेरे साथ धरमतल्ला पार कर ले। अगर के.सी.दास की दुकान पर उसका आदमी मिल गया तो ठीक, नहीं तो वहाँ से बालीगंज की ट्राम तो चलती होगी, उसमें जाकर गुरुद्वारे में रात रह जाएगी और सवेरे मैं उसे घर पहुँचा आऊँगा। दिन छिप चला था, बिजली सड़कों पर वैसे ही नहीं है, ऐसे में पाँच-छः मील पैदल दंगे का इलाका पार करना ठीक नहीं है।" इतना कहकर सरदार बिशनसिंह क्षण-भर रुके, और मेरी ओर देखकर बोले, "बताइए, मैंने ठीक कहा कि गलत? और मैं क्या कर सकता था?"

"ठीक ही तो कहा, और रास्ता ही क्या था?"

"मगर ठीक नहीं कहा। बाद में पता लगा कि मुझे उसे अकेली भटकने देना चाहिए था।"

"क्यों?" मैंने अचकचाकर पूछा।

"सुनिए।" सरदार ने एक लम्बी साँस ली, "के.सी.दास की दुकान बन्द थी। पति देवता का कोई निशान नहीं था। मैं उस औरत को ट्राम में बिठाकर यहाँ ले आया। रात वह गुरुद्वारे के ऊपरवाले कमरे में रही। मैं तो अकेला हूँ आप जानते हैं, मेरी बहिन ने उसे वहीं ले जाकर खाना खिलाया और बिस्तरा वगैरा दे आयी। सवेरे मैंने एक सिख ड्राइवर से बात करके टैक्सी की, और ढूँढ़ता हुआ उसके घर ले गया शामपुकुर लेन में था—एकदम उत्तर में। दरवाजा बन्द था, हमने खटखटाया तो एक सुस्त-से महाशय बाहर निकले—पति देवता।"

"आप लोगों को देखते ही उछल पड़े होंगे?"

सरदार क्षण-भर चुप रहे।

"हाँ, उछल तो पड़े। लेकिन बहू को देखकर तो नहीं, मुझे देखकर।" उन्होंने फिर एक लम्बी साँस ली। "महाशय के.सी. दास घर पर नहीं ठहरे थे, दंगे की

खबर हुई तो कहीं एक दोस्त के यहाँ चले गये थे। रात वहीं रहे थे, हमसे कुछ पहले ही लौटकर आये थे। आँखें भारी थीं। दरवाजा खोलकर मुझे देखकर चौंके, फिर मेरे पीछे स्त्री देखकर तनिक ठिठके और खड़े-खड़े बोले, "आप कौन?" मैंने कहा, "पहले इन्हें भीतर ले जाइए, फिर मैं सब बतलाता हूँ।" स्त्री पहले ही सकुची झुकी खड़ी थी, इस बात पर उसने घूँघट जरा आगे सरकाकर अपने को और भी समेट-सा लिया।"

बिशनसिंह फिर जरा चुप रहे, मैं भी चुप रहा।

पति ने फिर पूछा, "ये रात आपके यहाँ रहीं?" मैंने कहा, "हाँ, हमारे गुरुद्वारे में रहीं। शाम को यहाँ आना मुमकिन नहीं था।" उन्होंने फिर कहा, "आपके बीवी-बच्चे हैं?" मैंने कहा, "नहीं मेरी विधवा बहिन साथ रहती है, पर इससे आपको क्या?"

उन्होंने मुझे जवाब नहीं दिया। वहीं से स्त्री की ओर उन्मुख होकर बंगाली में पूछा, "तुम रात को क्या जाने कहाँ रही हो, सवेरे तुम्हें यहाँ आते शरम न आयी?" सरदार बिशनसिंह ने रुककर मेरी ओर देखा।

मैंने कहा, "नीच?"

बिशनसिंह के चेहरे पर दर्द-भरी मुस्कान झलककर खो गयी। बोले, "मैं न जाने क्या करता उस आदमी को—और सोचता हूँ कि स्त्री भी न जाने क्या जवाब देती। लेकिन औरत जात का जवाब न देना भी कितना बड़ा जवाब होता है, इसको आजकल का कीड़ा इनसान क्या समझता है? मैंने पीछे धमाका सुनकर मुड़कर देखा, वह औरत गिर गयी थी—बेहोश होकर। मैं फौरन उठाने को झुका, पर उस आदमी ने ऐसा तमाचा मारा था कि मेरे हाथ ठिठक गये। मैंने उसी से कहा, 'उठाओ, पानी का छींटा दो...' पर वह सरका नहीं, फिर उसकी ढबर-ढबर आँखें छोटी होकर लकीरें-सी बन गयीं, और एकाएक उसने दरवाजा बन्द कर लिया।"

मैं स्तब्ध सुनता रहा। कुछ कहने को न मिला।

"लोग इकट्ठे होने लगे थे। मैं उस स्त्री की बात सोचकर ज्यादा भीड़ करना भी नहीं चाहता था। ड्राइवर की मदद से मैंने उसे टैक्सी में रखा और घर ले आया। बहिन को उसकी देखभाल करने को कहकर बाबा बचित्तर सिंह के पास गया—वे हमारे बुजुर्ग हैं और गुरुद्वारे के ट्रस्टी। वहीं हम लोगों ने मीटिंग करके सलाह की कि क्या किया जाए। कुछ की तो राय थी कि उस आदमी को कत्ल कर देना चाहिए, पर उससे उसकी विधवा का मसला तो हल न होता। फिर यही सोचा गया कि पाँच सरदारों का जत्था गुरुद्वारे की तरफ़ से उस औरत को उसके घर लेकर जाए, और उसके आदमी से कहे कि या तो इसको अपनाकर घर में रखे या हम समझेंगे कि तुमने गुरुद्वारे की बेइज्जती की है और तुम्हें काट डालेंगे।"

"आप शायद कल तीसरे पहर वहीं से लौट रहे होंगे..."

"हाँ! नहीं तो आप जानते हैं मैं वैसे किरपान नहीं बाँधता। एक जमाने में जिन बजूहात से गुरुओं ने किरपान बाँधना धर्म बताया था, आज उनके लिए राइफल से कम कोई क्या बाँधेगा? निरी निशानी का मोह अपनी बुजदिली को छिपाने का तरीका बन जाता है, और क्या! खैर, हम लोग औरत को लेकर गये। हमें देखते ही पहले तो और भी कई लोग जुट गये, पर जत्थे को देखकर शायद पति देवता को अकल आ गयी, उन्होंने हमसे कहा, 'आप लोगों की मेहरबानी', और औरत से कहा, 'चल, भीतर चल' बस। हमें आने या बैठने को नहीं कहा... हम बैठते तो क्या उस कमीने के घर में..."

"औरत भीतर चली गयी? कुछ बोली नहीं?"

"बोलती क्या? जब से होश आया तब से बोली नहीं थी। उसकी आँखें न जाने कैसे हो गयी थीं, उनमें झाँककर भी कोई जैसे कुछ नहीं देखता था, सिर्फ एक दीवार। मुझसे तो उसके पास नहीं ठहरा जाता था। वह चुपचाप खड़ी रही। जब हम लोगों ने कहा, 'जाओ माँ, घर में जाओ, अब...' तब जैसे मशीन-सी दो-तीन कदम आगे बढ़ी। पति के फैलते-सिकुड़ते नथुनों की ओर उसने देखा, एक-एक कदम पर जैसे और झुकती और छोटी होती जाती थी। देहरी तक ही गयी, फिर वहीं लड़खड़ाकर बैठ गयी। मैं तो समझा था फिर गिरी, पर बैठते-बैठते उसका सिर चौखट से टकराया तो चोट से वह सँभल गयी। बैठ गयी। उसे वैसे ही छोड़कर हम चले आये।"

हम दोनों देर तक चुप रहे।

थोड़ी देर बाद सरदार बिशनसिंह ने कहा, "बोलिए कुछ, भाई साहब?"

मैंने कहा, "चलिए, बात खत्म हो गयी जैसे-तैसे। उन्होंने उसे घर में ले लिया..."

बिशनसिंह ने तीखी दृष्टि से मेरी तरफ देखा। "आप सच-सच कह रहे हैं बाबू साहिब?"

मैंने चौंककर कहा, "क्यों? झूठ क्या है?"

"आप सचमुच मानते हैं कि बात खत्म हो गयी?"

मैंने कुछ रुकते-रुकते कहा, "नहीं, वैसा तो नहीं मान पाता। यानी हमारे लिए भले ही खत्म हो गयी हो, उनके लिए तो नहीं हुई।"

"हमारे लिए भी क्या हुई है? पर उसे अभी छोड़िए, बताइए कि उस औरत का क्या होगा?"

मैंने अपने शब्द तौलते हुए कहा, "बंगाल में आये दिन अखबारों में पढ़ने को मिलता है कि स्त्री ने सास या ननद या पति के अत्याचार से दुखी होकर आत्महत्या कर ली, जहर खा लिया या कुएँ में कूद पड़ी। और ... कभी-कभी ऐसे एक्सीडेंट

भी होते हैं कि स्त्री के कपड़ों में आग लग गयी, चाहे यों ही, चाहे मिट्टी के तेल के साथ...''

''हाँ, हो सकता है। आप माफ करना, मैं कड़वी बात कहनेवाला हूँ। इससे अगर आपको कुछ तसल्ली हो तो कहूँ कि अपने को हिन्दू मानकर ही यह कह रहा हूँ। आप हिन्दू हैं न, इसलिए यही सोचते हैं। वह मर जाएगी; छुटकारा हो जाएगा। हिन्दू धर्म उदार है न; मारता नहीं, मरने का सब तरह से सुभीता कर देता है। इसमें दो फायदे हैं—एक तो कभी चूक नहीं होती, दूसरे यह तरीका दया का भी है। लेकिन यह बताइए, अगर आदमी पशु है तो औरत क्यों देवता हो? देवता मैं जान-बूझकर कहता हूँ, क्योंकि इनसान का इन्साफ तो देवताओं से भी ऊँचा उठ सकता है। देवता सूद न लें, धेले-पाई की वसूली पूरी करते हैं। ...करते हैं कि नहीं?''

मैंने कहा, ''सरदार साहब, आपको सदमा पहुँचा है इसलिए आप इतनी कड़वी बात कर रहे हैं। मैं उस आदमी को अच्छा नहीं कहता, पर एक आदमी की बात को आप हिन्दू जाति पर क्यों थोपते हैं?''

''क्या वह सचमुच एक आदमी की बात है? सुनिए, मैं जब सोचता हूँ कि क्या हो तो उस आदमी के साथ इन्साफ हो, तब यही देखता हूँ कि वह औरं घर से दुत्कारी जाकर मुसलमान हो, मुसलमान जने, ऐसे मुसलमान जो एक एक सौ-सौ हिन्दुओं को मारने की कसम खाये। और आप तो साइकोलॉजी पढ़े हैं न, आप समझेंगे—हिन्दू औरतों के साथ सचमुच वही करे जिसकी झूठी तोहमत उसकी माँ पर लगायी गयी। देवताओं का इन्साफ तो हमेशा से यही चला आया है—नफरत के एक-एक बीज से हमेशा सौ-सौ जहरीले पौधे उगे हैं। नहीं तो यह जंगल यहाँ उगा कैसे, जिसमें आज मैं-आप खो गये हैं और क्या जाने अभी निकलेंगे कि नहीं? हम रोज दिन में कई बार नफरत का नया बीज बोते हैं और जब पौधा फलता है तो चीखते हैं कि धरती ने हमारे साथ धोखा किया!''

मैं काफ़ी देर तक चुप रहा। सरदार बिशनसिंह की बात चमड़ी के नीचे कंकड़-सी रगड़ने लगी। वातावरण बोझीला हो गया। मैंने उसे कुछ हल्का करने के लिए कहा, ''सिख कौम की शिवेलरी मशहूर है। देखता हूँ, उस बिचारी का दुःख आपकी शिवेलरी को छू गया है!''

उन्होंने उठते हुए कहा, ''मेरी शिवेलरी!'' और थोड़ी देर बाद फिर ऐसे स्वर में, जिसमें एक अजीब गूँज थी, ''मेरी शिवेलरी, भाई साहब!''

उन्होंने मुँह फेर लिया, लेकिन मैंने देखा, उनके होंठों की कोर काँप रही है—हल्की-सी लेकिन बड़ी बेबसी के साथ...

हीली-बोन् की बत्तखें

हीली-बोन् ने बुहारी देने का ब्रुश पिछवाड़े के बरामदे के जँगले से टेककर रखा और पीठ सीधी करके खड़ी हो गयी। उसकी थकी-थकी-सी आँखें पिछवाड़े के गीली लाल मिट्टी के काई-ढके किन्तु साफ फर्श पर टिक गयी। काई जैसे लाल मिट्टी को दीखने देकर भी एक चिकनी झिल्ली से उसे छाये हुए थी; वैसे ही हीली-बोन् की आँखों पर भी कुछ छा गया जिसके पीछे आँगन के चारों ओर तरतीब से सजे हुए जरेनियम के गमलों, दो रंगीन बेंत की कुर्सियों और रस्सी पर टँगे हुए तीन-चार धुले हुए कपड़ों की प्रतिच्छवि रहकर भी न रही। और कोई और गहरे देखता तो अनुभव करता कि सहसा उसके मन पर भी कुछ शिथिल और तन्द्रामय छा गया है, जिससे उसकी इन्द्रियों की ग्रहणशीलता ज्यों की त्यों रही पर गृहीत छाप को मन तक पहुँचाने और मन को उद्वेलित करने की प्रणालियाँ रुद्ध हो गयी हैं...

किन्तु हठात् वह चेहरे का चिकना बुझा हुआ भाव खुरदुरा होकर तन आया; इन्द्रियाँ सजग हुईं, दृष्टि और चेतना केन्द्रित, प्रेरणा प्रबल हीली-बोन् के मुँह से एक हल्की-सी चीख निकली और वह बरामदे से दौड़कर आँगन पार करके एक ओर बने हुए छोटे-से बाड़े पर पहुँची, वहाँ उसने बाड़े का किवाड़ खोला और फिर ठिठक गयी। एक ओर हल्की-सी चीख उसके मुँह से निकल रही थी, पर वह अध-बीच में ही रव-हीन होकर एक सिसकती-सी लम्बी साँस बन गयी।

पिछवाड़े से कुछ ऊपर की तरफ पहाड़ी रास्ता था; उस पर चढ़ते व्यक्ति ने वह अनोखी चीख सुनी और रुक गया। मुड़कर उसने हीली-बोन् की ओर देखा, कुछ झिझका, फिर जरा बढ़कर बाड़े के बीच के छोटे-से बाँस के फाटक को ठेलता हुआ भीतर आया और विनीत भाव से बोला, "खू-ब्लाई!"

हीली-बोन् चौंकी। 'खू-ब्लाई' खासिया भाषा का 'राम-राम' है, किन्तु यह उच्चारण परदेसी है और स्वर अपरिचित—यह व्यक्ति कौन है? फिर भी खासिया जाति के सुलभ आत्मविश्वास के साथ तुरन्त सँभलकर और मुस्कराकर उसने उत्तर दिया, "खू-ब्लाई!" और क्षण-भर रुककर फिर कुछ प्रश्न-सूचक स्वर में कहा, "आइए! आइए!"

आगन्तुक ने पूछा, "मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ? अभी चलते-

चलते—शायद कुछ..."

"नहीं, वह कुछ नहीं" कहते-कहते हीली का चेहरा फिर उदास हो आया। "अच्छा, आइए, देखिए।"

बाड़े की एक ओर आठ-दस बत्तखें थीं। बीचोबीच फर्श रक्त से स्याह हो रहा था और आस-पास बहुत-से पंख बिखर रहे थे। फर्श पर जहाँ-तहाँ पंजों और नाखूनों की छापें थीं।

आगन्तुक ने कहा, "लोमड़ी।"

"हाँ, यह चौथी बार है। इतने बरसों में कभी ऐसा नहीं हुआ था; पर अब दूसरे-तीसरे दिन एक-आध बत्तख मारी जाती है और कुछ उपाय नहीं सूझता। मेरी बत्तखों पर सारे मंडल के गाँव ईर्ष्या करते थे—स्वयं 'सियेम' के पास भी ऐसा बढ़िया झुंड नहीं था! पर अब," हीली चुप हो गयी।

आगन्तुक भी थोड़ी देर चुपचाप फर्श को और बत्तखों को देखता रहा। फिर उसने एक बार सिर से पैर तक हीली को देखा और मानो कुछ सोचने लगा। फिर जैसे निर्णय करता हुआ बोला, "आप ढिठाई न समझें तो एक बात कहूँ?"

"कहिए?"

"मैं यहाँ छुट्टी पर आया हूँ और कुछ दिनों नाङ्-थ्लेम ठहरना चाहता हूँ। शिकार का मुझे शौक है। अगर आप इजाजत दें तो मैं इस डाकू की घात में बैठूँ—" फिर हीली की मुद्रा देखकर जल्दी से, "नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं होगा, मैं तो ऐसा मौका चाहता हूँ। आपके पहाड़ बहुत सुन्दर हैं, लेकिन लड़ाई से लौटे हुए सिपाही को छुट्टी में कुछ शगल चाहिए।"

"आप ठहरे कहाँ हैं?"

"बँगले में। कल आया था, पाँच-छह दिन रहूँगा। सवेरे-सवेरे घूमने निकला था, इधर ऊपर जा रहा था कि आपकी आवाज सुनी। आपका मकान बहुत साफ और सुन्दर है—"

हीली ने एक रूखी-सी मुस्कान के साथ कहा, "हाँ, कोई कचरा फैलानेवाला जो नहीं है! मैं यहाँ अकेली रहती हूँ।"

आगन्तुक ने फिर हीली को सिर से पैर तक देखा। एक प्रश्न उसके चेहरे पर झलका, किन्तु हीली की शालीन और अपने में सिमटी-सी मुद्रा ने जैसे उसे पूछने का साहस नहीं दिया। उसने बात बदलते हुए कहा, "तो आपकी इजाजत है न? मैं रात को बन्दूक लेकर आऊँगा। अभी इधर आस-पास देख लूँ कि कैसी जगह है और किधर से किधर गोली चलायी जा सकती है।"

"आप शौकिया आते हैं तो जरूर आइए। मैं इधर को खुलने वाला कमरा आपको दे सकती हूँ।" कहकर उसने घर की ओर इशारा किया।

"नहीं, नहीं, मैं बरामदे में बैठ लूँगा—"

"यह कैसे हो सकता है? रात को आँधी-बारिश आती है। तभी तो मैं कुछ सुन नहीं सकी रात! वैसे आप चाहें तो बरामदे में आरामकुरसी भी डलवा दूँगी। कमरे में सब सामान हैं।" हीली कमरे की ओर बढ़ी, मानो कह रही हो, 'देख लीजिए।'

"आपका नाम पूछ सकता हूँ?"

"हीली-बोन् यिर्वा। मेरे पिता सियेम के दीवान थे।"

"मेरा नाम दयाल है—कैप्टन दयाल। फौजी इंजीनियर हूँ।"

"बड़ी खुशी हुई। आइए—अन्दर बैठेंगे?"

"धन्यवाद—अभी नहीं। आपकी अनुमति हो तो शाम को आऊँगा। खू-ब्लाई—"

हीली कुछ रुकते स्वर में बोली,"खू-ब्लाई।" और बरामदे में मुड़कर खड़ी हो गयी। कैप्टन दयाल बाड़े में से बाहर होकर रास्ते पर हो लिये और ऊपर चढ़ने लगे, जिधर नयी धूप में चीड़ की हरियाली दुरंगी हो रही थी और बीच-बीच में बुरूस के गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे, पहाड़ के भी हृदय है, जंगल के भी हृदय है...

2

दिन में पहाड़ की हरियाली काली दीखती है, ललाई आग-सी दीप्त; पर साँझ के आलोक में जैसे लाल ही पहले काला पड़ जाता है। हीली देख रही थी; बुरूस के वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहाँ अन्धकार-लीन हो गये हैं, जब कि चीड़ के वृक्षों के आकार अभी एक-दूसरे से अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। क्यों रंग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते हैं, जबकि परिपार्श्व की एकरूपता बनी रहती है?

हीली का मन उदास होकर अपने में सिमट आया। सामने फैला हुआ नाङ्-थ्लेम का पार्वतीय सौन्दर्य जैसे भाप बनकर उड़ गया; चीड़ और बुरूस, चट्टानें, पूर्व पुरुषों और स्त्रियों की खड़ी और पड़ी स्मारक शिलाएँ, घास की टीलों-सी लहरें, दूर नीचे पहाड़ी नदी का ताम्र-मुकुर, मखमली चादर में रेशमी डोरे-सी झलकती हुई पगडंडी—सब मूर्त आकार पीछे हटकर तिरोहित हो गए। हीली की खुली आँखें भीतर की ओर को ही देखने लगीं—जहाँ भावनाएँ ही साकार थीं, और अनुभूतियाँ ही मूर्त...

हीली के पिता उस छोटे-से मांडलिक राज्य के दीवान रहे थे। हीली तीन सन्तानों में सबसे बड़ी थी, और अपनी दोनों बहनों की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी।

खासियों का जाति-संगठन स्त्री-प्रधान है; सामाजिक सत्ता स्त्री के हाथों में है और वह अनुशासन में चलती नहीं, अनुशासन को चलाती है। हीली भी मानो नाङ्-थ्लेम की अधिष्ठात्री थी। 'नाङ्-क्रेम' के नृत्योत्सव में, जब सभी मंडलों के स्त्री-पुरुष खासिया जाति के अधिदेवता नगाधिपति की बलि देते थे ओ उसके मर्त्यप्रतिनिधि अपने 'सियेम' का अभिनन्दन करते थे, तब नृत्य मंडली में हीली ही मौन सर्वसम्मति से नेत्री हो जाती थी, और स्त्री- समुदाय उसी का अनुसरण करता हुआ झूमता था, इधर और उधर, आगे और दाएँ और पीछे...नृत्य में अंगसंचालन की गति न द्रुत थी न विस्तीर्ण; लेकिन कम्पन ही सही, सिहरन ही सही, वह थी तो उसके पीछे-पीछे; सारी समुद्र उसकी अंग-भंगिमा के साथ लहरें लेता था...

एक नीरस-सी मुस्कान हीली के चेहरे पर दौड़ गयी। वह कई बरस पहले की बात थी... अब वह चौंतीसवाँ वर्ष बिता रही है; उसकी दोनों बहनें ब्याह करके अपने-अपने घर रहती हैं; पिता नहीं रहे और स्त्री-सत्ता के नियम के अनुसार उनकी सारी सम्पत्ति सबसे छोटी बहन को मिल गयी। हीली के पास है यही एक कुटिया और छोटा-सा बगीचा-देखने में आधुनिक साहबी ढंग का बँगला, किन्तु उस काँच और परदों के आडम्बर को सँभालने वाली इमारत वास्तव में क्या है? टीन की चादर से छ्ता हुआ चीड़ पर चौखटा, नरसल की चटाई पर गारे का पलस्तर और चारों ओर जरेनियम, जो गमले में लगा लो तो फूल है, नहीं तो निरी जंगली बूटी...

यह कैसे हुआ कि वह, 'नाङ्क्रेम' की रानी, आज अपने चौंतीसवें वर्ष में इस कुटी से जरेनियम के गमले सँवारती बैठी है, और अपने जीवन में ही नहीं, अपने सारे गाँव में अकेली है?

अभिमान? स्त्री का क्या अभिमान! और अगर करे ही तो कनिष्ठा करे जो उत्तराधिकारिणी होती है—वह तो सबकी बड़ी थी, केवल उत्तरदायिनी! हीली के ओंठ एक विद्रूप की हँसी से कुटिल हो आये। युद्ध की अशान्ति के इस तीन-चार वर्षों में कितने ही अपरिचित चेहरे दीखे थे, अनोखे रूप; उल्लसित, उच्छ्वसित, लोलुप, गर्वित याचक, पाप-संकुचित, दर्प-स्फीत मुद्राएँ... और यह जानती थी कि इन चेहरों और मुद्राओं के साथ उसके गाँव की कई स्त्रियों के सुख-दुःख, तृप्ति और अशान्ति, वासना और वेदना, आकांक्षा और सन्ताप उलझ गये थे, यहाँ तक कि वहाँ के वातावरण में एक पराया और दूषित तनाव आ गया था। किन्तु वह उससे अछूती ही रही थी। यह नहीं कि उसने इसके लिए कुछ उद्योग किया था कि उसे गुमान था—नहीं, यह जैसे उसके निकट कभी यथार्थ ही नहीं हुआ था।

लोग कहते थे कि हीली सुन्दर है, पर स्त्री नहीं है। वह बाँबी क्या, जिसमें साँप नहीं बसता?...हीली की आँखें सहसा और भी घनी हो आयीं—नहीं, इससे आगे वह नहीं सोचना चाहती! व्यथा मरकर भी व्यथा से अन्य कुछ हो जाती है?

बिना साँप की बाँबी—अपरूप, अनर्थक मिट्टी का ढूह! यद्यपि, वह याद करना चाहती तो याद करने को कुछ था—बहुत कुछ था—प्यार उसने पाया था और उसने सोचा भी था कि—

नहीं, कुछ नहीं सोचा था। जो प्यार करता है, जो प्यार पाता है, वह क्या कुछ सोचता है? सोच सब बाद में होता है, जब सोचने को कुछ नहीं होता।

और अब वह बत्तखें पालती है। इतनी बड़ी, इतनी सुन्दर बत्तखें खासिया प्रदेश में और नहीं हैं। उसे विशेष चिन्ता नहीं है, बत्तखों के अंडों से इस युद्धकाल में चार-पाँच रुपये रोज की आदमनी हो जाती है, और उसका खर्च ही क्या है? वह अच्छी है, सुखी है, निश्चिन्त है—

लोमड़ी...किन्तु वह कुछ दिन की बात है—उनका तो उपाय करना ही होगा। वह फौजी अफसर जरूर उसे मार देगा—नहीं तो कुछ दिन बाद थेड्-क्यू के इधर आने पर वह उसे कहेगी कि तीर से मार दे या जाल लगा दे... कितनी दुष्ट होती है लोमड़ी—क्या रोज दो-एक बत्तख खा सकती है? व्यर्थ का नुकसान—सभी जन्तु जरूरत से ज्यादा घेर लेते और नष्ट करते हैं—

बरामदे के काठ के फर्श पर पैरों की चाप सुनकर उसका ध्यान टूटा। कैप्टन दयाल ने एक छोटा-सा बैग नीचे रखते हुए कहा, "लीजिए, मैं आ गया।" और कन्धे से बन्दूक उतारने लगे।

"आप का कमरा तैयार है। खाना खाएँगे?"

"धन्यवाद—नहीं। मैं खाना खा आया। रात काटने को कुछ ले भी आया बैग में! मैं जरा मौका देख लूँ, अभी आता हूँ। आपको नाहक तकलीफ दे रहा हूँ लेकिन—"

हीली ने व्यंग्यपूर्वक हँसकर कहा, "इस घर में न सही, पर खासिया घरों में अकसर पलटनिया अफसर आते हैं—यह नहीं हो सकता कि आपको बिलकुल मालमू न हो।"

कैप्टन दयाल खिसिया-से गये। फिर धीरे-धीरे बोले, "नीचेवालों ने हमेशा पहाड़वालों के साथ अन्याय ही किया है। समझ लीजिए कि पातालवासी शैतान देवताओं से बदला लेना चाहते हैं!"

"हम लोग मानते हैं कि पृथ्वी और आकाश पहले एक थे—पर दोनों को जोड़नेवाली धमनी इनसान ने काट दी। तब से दोनों अलग हैं और पृथ्वी का घाव नहीं भरता।"

"ठीक तो है।"

कैप्टन दयाल बाड़े की ओर चले गये। हीली ने भीतर आकर लैम्प जलाया और बरामदे में लाकर रख दिया; फिर दूसरे कमरे में चली गयी।

3

रात के दो-ढाई बजे बन्दूक की 'धाँय!' सुनकर हीली जागी, और उसने सुना कि बरामदे में कैप्टन दयाल कुछ खटर-पटर कर रहे हैं। शब्द से ही उसने जाना कि वह बाहर निकल गये हैं, और थोड़ी देर बाद लौट आये हैं। तब वह उठी नहीं; लोमड़ी जरूर मर गयी होगी और सवेरे भी देखा जा सकता है, यह सोचकर फिर सो रही।

किन्तु पौ फटते-न-फटते वह फिर जागी। खासिया प्रदेश के बँगलों की दीवारें असल में तो केवल काठ के परदे ही होते हैं; हीली ने जाना कि दूसरे कमरे में कैप्टन दयाल जाने की तैयारी कर रहे हैं। तब वह भी जल्दी से उठी, आग जलाकर चाय का पानी रख, मुँह-हाथ धोकर बाहर निकली। क्षण भर अनिश्चय के बाद वह बत्तखों के बाड़े की तरफ जाने को ही थी कि कैप्टन दयाल ने बाहर निकलते हुए कहा, "खू-ब्लाई, मिस यिर्वा; शिकार जख्मी हो गया पर मिला नहीं, अब खोज में जा रहा हूँ।"

"अच्छा? कैसे पता लगा?"

"खून के निशानों से। जख्म गहरा ही हुआ है—घसीटकर चलने के निशान साफ दीखते थे। अब तक बचा नहीं होगा—देखना यही है कि कितनी दूर गया होगा।"

"मैं भी चलूँगी। उस डाकू को देखूँ तो—" कहकर हीली लपककर एक बड़ी 'डाओ' उठा लायी और चलने को तैयार हो गयी।

खून के निशान चीड़ के जंगल को छूकर एक ओर मुड़ गये, जिधर ढलाव था और आगे जरैंत की झाड़ियाँ, जिनके पीछे एक छोटा-सा झरना बहता था। हीली ने उसका जल कभी देखा नहीं था, केवल कल-कल शब्द ही सुना था—जरैंत का झुरमुट उसे बिलकुल छाये हुए था। निशान झुरमुट तक आकर लुप्त हो गये थे।

कैप्टन दयाल ने कहा, "इसके अन्दर घुसना पड़ेगा। आप यहीं ठहरिए।"

"उधर ऊपर से शायद खुली जगह मिल जाए—वहाँ से पानी के साथ-साथ बढ़ा जा सकेगा—" कहकर हीली बाएँ को मुड़ी, और कैप्टन दयाल साथ हो लिये।

सचमुच कुछ ऊपर जाकर झाड़ियाँ कुछ विरल हो गयी थीं और उनके बीच में घुसने का रास्ता निकाला जा सकता था। यहाँ कैप्टेन दयाल आगे हो लिये, अपनी बन्दूक के कुन्दे से झाड़ियाँ इधर-उधर ठेलते हुए रास्ता बनाते चले। पीछे-पीछे हीली हटायी हुई लचकीली शाखाओं के प्रत्याघात को अपनी डाओ से रोकती हुई चली।

कुछ आगे चलकर झरने का पाट चौड़ा हो गया—दोनों ओर ऊँचे और आगे झुके हुए करारे, जिनके ऊपर जरैंत और हाली की झाड़ी इतनी घनी छायी हुई कि

भीतर अँधेरा हो, परन्तु पाट चौड़ा होने से मानो इस आच्छादन के बीच में एक सुरंग बन गयी थी जिसमें आगे बढ़ने में विशेष असुविधा नहीं होती थी।

कैप्टन दयाल ने कहा, "यहाँ फिर खून के निशान हैं—शिकार पानी में से इधर घिसटकर आया है।"

हीली ने मुँह उठाकर हवा को सूँघा, मानो सीलन और जरैंत की तीव्र गन्ध के ऊपर और किसी गन्ध को पहचान रही हो। बोली, "यह तो जानवर की..."

हठात् कैप्टन दयाल ने तीखे फुसफुसाते स्वर से कहा, "देखो—श्-अ्!"

ठिठकने के साथ उनकी बाँह ने उठकर हीली को भी जहाँ-का-तहाँ रोक दिया।

अन्धकार में कई-एक जोड़े अँगारे-से चमक रहे थे।

हीली ने स्थिर दृष्टि से देखा। करारे में मिट्टी खोदकर बनायी हुई खोह में—या कि खोह की देहरी पर नर-लोमड़ी का प्राणहीन आकार दुबका पड़ा था कास के फूल की झाड़-सी पूँछ उसकी गनों को ढँक रही थी जहाँ गोली का जख्म होगा। भीतर शिथिल-गात लोमड़ी उस शव पर झुकी खड़ी थी, शव के सिर के पास मुँह किये मानो उसे चाटना चाहती हो और फिर सहमकर रुक जाती हो। लोमड़ी के पाँवों से उलझते हुए तीन छोटे-छोटे बच्चे कुनमुना रहे थे। उस कुनमुनाने में भूख की आतुरता नहीं थी; न वे बच्चे लोमड़ी के पेट के नीचे घुसड़-पुसड़ करते हुए भी उसके थनों को ही खोज रहे थे... माँ और बच्चों में किसी को ध्यान नहीं था कि गैर और दुश्मन की आँखें उस गोपन घरेलू दृश्य को देख रही हैं।

कैप्टने दयाल ने धीमे स्वर से कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

हीली की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने फिर कहा, "इसे भी मार दें—तो बच्चे पाले जा सकें—"

फिर कोई उत्तर न पाकर उन्होंने मुड़कर देखा और अचकचाकर रह गये।

पीछे हीली नहीं थी।

थोड़ी देर बाद, कुछ प्रकृतिस्थ होकर उन्होंने कहा, "अजीब औरत है।" फिर थोड़ी देर वह लोमड़ी को और बच्चे को दखेते रहे। तब "उँह, मुझे क्या!" कहकर वह अनमने से मुड़े और जिधर से आये थे वे उधर ही चलने लगे।

4

हीली नंगे पैर ही आयी थी; पर लौटती बार उसने शब्द न करने का कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नहीं जानती थी। झुरमुट से बाहर निकल कर वह उन्माद की तेजी से घर की ओर दौड़ी, और वहाँ पहुँच कर सीधी बाड़े में घुस गयी। उसके तूफानी वेग

से चौंककर बत्तखें पहले तो बिखर गयीं पर जब वह एक कोने में जाकर बाड़े के सहारे टिककर खड़ी अपलक उन्हें देखने लगी तब वे गरदनें लम्बी करके उचकती हुई-सी उसके चारों ओर जुट गयीं और 'क-क्!' करने लगीं।

वह अधैर्य हीली को छू न सका, जैसे चेतना के बाहर से फिसलकर गिर गया। हीली शून्य दृष्टि से बत्तखों की ओर तकती रही।

एक ढीठ बत्तख ने गरदन से उसके हाथ को ठेला। हीली ने उसी शून्य दृष्टि से हाथ की ओर देखा। सहसा उसका हाथ कड़ा हो गया, उसकी मुट्ठी डाओ के हत्थे पर भिंच गयी। दूसरे हाथ से उसने बत्तख का गला पकड़ लिया और दीवार के पास खींचते हुए डाओ के एक झटके से काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चय से उसने दूसरी बत्तख का गला पकड़ा, भिंचे हुए दाँतों से कहा, "अभागिन!" और उसका सिर उड़ा दिया। फिर तीसरी, फिर चौथी, पाँचवीं... ग्यारह बार डाओ उठी और 'खट्' के शब्द के साथ बाड़े का खम्भा काँपा; फिर एक बार हीली ने चारों ओर नजर दौड़ायी और बाहर निकल गयी!

बरामदे में पहुँचकर जैसे उसने अपने को सँभालने को खम्भे की ओर हाथ बढ़ाया और लड़खड़ाती हुई उसी के सहारे बैठ गयी।

कैप्टन दयाल ने आकर देखा, खम्भे के सहारे एक अचल मूर्ति बैठी है जिसे हाथ लथपथ हैं और पैरों के पास खून से रँगी डाओ पड़ी है। उन्होंने घबराकर कहा, "यह क्या, मिस यिर्वा?" और फिर उत्तर न पाकर उसकी आँखों का जड़ विस्तार लक्ष्य करते हुए, उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए फिर, धीमे से "क्या हुआ, हीली।"

हीली कन्धा झटककर, छिटककर परे हटती हुई खड़ी हो गयी और तीखेपन से थर्राती हुई आवाज से बोली, "दूर रहो, हत्यारे!"

कैप्टेन दयाल ने कुछ कहना चाहा, पर अवाक् हो रह गये, क्योंकि उन्होंने देखा, हीली की आँखों में वह निर्व्यास सूनापन घना हो आया है जो कि पर्वत का चिरन्तन विजन सौन्दर्य है।

मेजर चौधरी की वापसी

किसी की टाँग टूट जाती है, तो साधारणतया उसे बधाई का पात्र नहीं माना जाता। लेकिन मेजर चौधरी जब छह सप्ताह अस्पताल में काटकर बैसाखियों के सहारे लड़खड़ाते हुए बाहर निकले, तो बाहर निकलकर उन्होंने मिजाजपुर्सी के लिए आये हुये अफसरों को बताया कि उनकी चार सप्ताह की 'वारलीव' के साथ उन्हें छह सप्ताह की 'कम्पेशनेट लीव[1]' भी मिली है, और उसके बाद ही शायद कुछ और छुट्टी के अनन्तर उन्हें सैनिक नौकरी से छुटकारा मिल जाएगा, तब सुननेवालों के मन में अवश्य ही ईर्ष्या की लहर दौड़ गयी थी। क्योंकि मोकोक्चङ् यों सब-डिवीजन का केन्द्र क्यों न हो, वैसे वह नगा पार्वत्य जंगलों का ही एक हिस्सा था, और जोंक, दलदल, मच्छर, चूती छतें, कीचड़ फर्श, पीने को उबाला जाने पर भी गँदला पानी और खाने को पानी में भिगोकर ताजा किये गये सूखे आलू-प्याज—ये सब चीज़ें ऐसी नहीं हैं कि दूसरों के सुख-दुःख के प्रति सहज औदार्य की भावना को जागृत करें!

मैं स्वयं मोकोक्चङ् में नहीं, वहाँ से तीस मील नीचे मरियानी में रहता था, जो कि रेल की पक्की सड़क द्वारा सेवित छावनी थी। मोकोक्चङ् अपनी सामग्री और उपकरणों के लिए मरियानी पर निर्भर था इसलिए मैं जब-तब एक दिन के लिए मोकोक्चङ् जाकर वहाँ की अवस्था देख आया करता था। नाकाचारी चार-आली[2] से आगे रास्ता बहुत ही खराब है और गाड़ी कीच-काँदों में फँस-फँस जाती है, किन्तु उस प्रदेश की आव नगा जाति के हँसमुख चेहरों और साहाय्य-तत्पर व्यवहार के कारण वह जोखम बुरी नहीं लगती।

मुझे तो मरियानी लौटना था ही, मेजर चौधरी भी मेरे साथ ही चले—मरियानी से रेल-द्वारा वह गौहाटी होते हुए कलकत्ते जाएँगे और वहाँ से अपने घर पश्चिम को...

स्टेशन-वैगन चलाते-चलाते मैंने पूछा, "मेजर साहब, घर लौटते हुए कैसा लगता है?" और फिर इस डर से कि कहीं मेरा प्रश्न उन्हें कष्ट ही न दे, "आपके

1 संवेदना-जन्य छुट्टी।

2 चार आली—चौरस्ता, आली असमिया में सड़क को कहते हैं।

इस—इस एक्सिडेंट से अवश्य ही इस प्रत्यागमन पर एक छाया पड़ गयी है, पर फिर भी घर तो घर है—''

अस्पताल के छह हफ्ते मनुष्य के मन में गहरा परिवर्तन कर देते हैं, यह अचानक तब जाना जब मेजर चौधरी ने कुछ सोचते-से उत्तर दिया, ''हाँ, घर तो घर ही है। पर जो एक बार घर से जाता है, वह लौटकर भी घर लौटता ही है, इसका क्या ठिकाना?''

मैंने तीखी दृष्टि से उनकी ओर देखा। कौन-सा गोपन दुःख उन्हें खा रहा है— 'घर' की स्मृति को लेकर कौन-सा वेदन ठूँठ इनकी विचारधारा में अवरोध पैदा कर रहा है? पर मैंने कुछ कहा नहीं, प्रतीक्षा में रहा कि कुछ और कहेंगे।

देर तक मौन रहा, गाड़ी नाकाचारी की लीक में उचकती-धचकती चलती रही।

थोड़ी देर बाद मेजर चौधरी फिर धीरे-धीरे कहने लगे, ''देखो, प्रधान, फौज में जो भरती होते हैं, न जाने क्या-क्या सोचकर, किस-किस आशा से। कोई-कोई अभागा आशा से नहीं निराशा से भी भरती होता है, और लौटने की कल्पना नहीं करता। लेकिन जो लौटने की बात सोचते हैं—और प्रायः सभी सोचते हैं—वे मेरी तरह लौटने की बात नहीं सोचते।''

उनका स्वर मुझे चुभ गया। मैंने सान्त्वना के स्वर में कहा, ''नहीं मेजर चौधरी, इतने हतधैर्य आपको नहीं।''

''मुझे कह लेने दो, प्रधान!''

मैं रुक गया।

''मेरी जाँघ और कूल्हे में चोट लगी थी, अब मैं सेना के काम का न रहा पर आजीवन लँगड़ा रहकर भी वैसे चलने-फिरने लगूँगा, यह तुमने अस्पताल में सुना है। सिविल जीवन में कई पेशे हैं जो मैं कर सकता हूँ। इसलिए घबराने की कोई बात नहीं। ठीक है न? पर—'' मेजर चौधरी फिर रुक गये और मैंने लक्ष्य किया कि आगे की बात कहने में उन्हें कष्ट हो रहा है; ''पर चोटें ऐसी भी होती हैं—जिनका इलाज—नहीं होता...''

मैं चुपचाप सुनता रहा।

''भरती होने से साल-भर पहले मेरी शादी हुई थी। तीन साल हो गये। हम लोग साथ लगभग नहीं रहे—वैसी सुविधाएँ नहीं हुईं। हमारी कोई सन्तान नहीं है।''

फिर मौन। क्या मेरी ओर से कुछ अपेक्षित है? किन्तु किसी आन्तरिक व्यथा की बात अगर वह कहना चाहते हैं, तो मौन ही सहायक हो सकता है, वही प्रोत्साहन है।

"सोचता हूँ, दाम्पत्य-जीवन में शुरू में—इतनी—कोमलता न बरती होगी! कहते हैं कि स्त्री-पुरुष में पहले सख्य आना चाहिए—मानसिक अनुकूलता—"

मैंने कनखियों ने उनकी तरफ़ देखा। सीधे देखने से स्वीकारी अन्तरात्मा की खुलती सीपी खट् से बन्द हो जाया करती हैं। उन्हें कहने दूँ।

पर उन्होंने जो कहा उसके लिए मैं बिलकुल तैयार नहीं था और अगर उनके कहने के ढंग में ही इतनी गहरी वेदना न होती तो जो शब्द कहे गये थे उनसे पूरा व्यंजनार्थ भी मैं न पा सकता...

"हमारी कोई सन्तान नहीं है। और अब—जिससे आगे कुछ नहीं है वह सख्य भी कैसे हो सकता है? उसे—एक सन्तान का ही सहारा होता है... कुछ नहीं! प्रधान, यह 'कम्पैशनेट लीव' अच्छा मजाक है—कम्पैशन भगवान को छोड़कर और कौन दे सकता है और मृत्यु के अलावा होता कहाँ है? अब इति से आरम्भ है! घर!" कुछ रुककर, "वापसी! घर!"

मैं सन्न रह गया! कुछ बोल न सका। थोड़ी देर बाद चौंककर देखा कि गाड़ी की चाल अपने-आप बहुत धीमी हो गयी है, इतनी कि तीसरे गीयर पर वह झटके दे रही है। मैंने कुछ सँभलकर गीयर बदला, और फिर गाड़ी तेज़ करके एकाग्र होकर चलाने लगा—नहीं, एकाग्र होकर नहीं, एकाग्र दीखता हुआ।

तब मेजर चौधरी एक बार अपना सिर झटके से हिलाकर मानो उस विचार-शृंखला को तोड़ते हुए सीधे होकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "क्षमा करना, प्रधान, मैं शायद अनकहनी कह गया। तुम्हारे प्रश्नों के लिए तैयार नहीं था—"

मैंने रुकते-रुकते कहा, "मेजर, मेरे पास शब्द नहीं हैं कि कुछ कहूँ—"

"कहोगे क्या, प्रधान? कुछ बातें शब्द से परे होती हैं—शायद कल्पना से भी परे होती हैं। क्या मैं भी जानता हूँ कि-कि घर लौटकर मैं क्या अनुभव करूँगा? छोड़ो इसे। तुम्हें याद है, पिछले साल मैं कुछ महीने मिलिटरी पुलिस में चला गया था?"

मैंने जाना कि मेजर विषय बदलना चाह रहे हैं। पूरी दिलचस्पी के साथ बोला, "हाँ-हाँ। वह अनुभव भी अजीब रहा होगा।"

"हाँ। तभी की एक बात अचानक याद आयी है। मैं शिलङ् में प्रोवोस्ट मार्शल[1] के दफ्तर में था। तब—वें डिवीजन की कुछ गोरी पलटनें वहाँ विश्राम और नये सामान के लिए बर्मा से लौटकर आयी थीं।"

"हाँ, मुझे याद है। उन लोगों ने कुछ उपद्रव भी वहाँ खड़ा किया था।"

"काफ़ी! एक रात मैं जीप लिये गश्त पर जा रहा था। हैपी वैली की छावनी से जो सड़क शिलङ् बस्ती को आती है वह बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी और उतार-चढ़ाव की

1 सैनिक पुलिस का उच्चाधिकारी प्रोवोस्ट मार्शल कहलाता है।

है और चीड़ के झुरमुटों से छायी हुई, यह तो तुम जानते हो। मैं एक मोड़ से निकला ही था कि मुझे लगा, कुछ चीज़ रास्ते से उछलकर एक ओर को दुबक गयी है। गीदड़-लोमड़ी उधर बहुत हैं, पर उनकी फलाँग ऐसी अनाड़ी नहीं होती, इसलिए मैं रुक गया। झुरमुटों के किनारे खोजते हुए मैंने देखा; एक गोरा फौजी छिपना चाह रहा है। छिपना चाहता है तो अवश्य अपराधी है, यह सोचकर मैंने उसे जरा धमकाया और नाम, नम्बर, पलटन आदि का पता लिख लिया। वह बिना पास के रात को बाहर तो था ही, पूछने पर उसने बताया कि वह एक मील और नीचे नाइ्मिथ्-माई की बस्ती को जा रहा था। इससे आगे का प्रश्न मैंने नहीं पूछा, उन प्रश्नों का उत्तर जानते ही हो और पूछकर फिर कड़ा दंड देना पड़ता है जो कि अधिकारी नहीं चाहते--जब तक कि खुल्लमखुल्ला कोई बड़ा स्कैंडल न हो।''

''हूँ। मैंने तो सुना है कि यथासम्भव अनदेखी की जाती है ऐसी बातों की। बल्कि कोई वेश्यालय में पकड़ा जाए और उसकी पेशी हो तो असली अपराध के लिए नहीं होती, वरदी ठीक न पहनने या अफ़सर की अवज्ञा या ऐसे ही किसी जुर्म के लिए होती है।''

''ठीक ही सुना है तुमने। असली अपराध के लिए ही हुआ करे तो अव्वल तो चालान इतने हों कि सेना बदनाम हो जाए; इससे इसका असर फौजियों पर भी तो उलटा पड़े— उनका दिमाग हर वक्त उधर ही जाया करे। खैर उस दिन तो मैंने उसे डाँट-डपटकर छोड़ दिया। पर दो दिन बाद फिर एक अजीब परिस्थिति में उसका सामना हुआ।''

''वह कैसे?''

''उस दिन मैं अधिक देर करके जा रहा था। आधी रात होगी, गश्त पर जाते हुए उसी जगह के आसपास मैंने एक चीख सुनी। गाड़ी रोककर मैंने बत्ती बुझा दी और टार्च लेकर एक पुलिया की ओर गया जिधर से आवाज़ आयी थी। मेरा अनुमान ठीक ही था; पुलिया के नीचे एक पहाड़ी औरत गुस्से से भरी खड़ी थी, और कुछ दूर पर एक अस्त-व्यस्त गोरा फौजी, जिसकी टोपी और पेटी जमीन पर पड़ी थी और बुश्शर्ट हाथ में। मैंने नीचे उतरकर डाँटकर पूछा, 'यह क्या है?' पर तभी मैंने उस फौजी की आँखों में देखकर पहचाना कि एक तो वह परसोंवाला व्यक्ति है, दूसरे वह काफ़ी नशे में है। मैंने और भी कड़े स्वर में पूछा, 'तुम्हें शरम नहीं आती? क्या कर रहे थे तुम'?''

वह बोला, ''यह मेरी है?''

मैंने कहा, ''बको मत!'' और उस औरत से कहा कि वह चली जाए। पर वह ठिठकी रही। मैंने उससे पूछा, ''जाती क्यों नहीं?'' तब वह कुछ सहमी-सी बोली, ''मेरे रुपये ले दो।''

"काफ़ी बेशर्म रही होगी वह भी!"

"हाँ मामला अजीब ही था। दोनों को डाँटने पर दोनों ने जो टूटे-फूटे वाक्य कहे उससे यह समझ में आया कि दो-तीन घंटे पहले वह गोरा एक बार उस औरत के पास हो गया था और फिर आगे गाँव की तरफ़ चला गया था। लौटकर फिर उसे वह रास्ते में मिली तो गोरे ने उसे पकड़ लिया था। झगड़ा इसी बात का था कि गोरे का कहना था, वह रात के पैसे दे चुका है, और औरत का दावा था कि पिछला हिसाब चुकता था, और अब फौजी उसका देनदार है। मैंने उसे धमकाकर चलता किया। पहले तो वह गालियाँ देने लगी पर जब उसने देखा कि गोरा भी गिरफ्तार हो गया है तो बड़बड़ाती चली गयी।"

"फिर गोरे का क्या हुआ? उसे तो कड़ी सजा मिलनी चाहिए थी?"

मेजर चौधरी थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर बोले, "नहीं प्रधान, उसे सजा नहीं मिली। मालूम नहीं वह मेरी भूल थी या नहीं, पर जीप में ले आने के घंटा भर बाद मैंने उसे छोड़ दिया।"

मैंने अचानक कहा, "वाह, क्यों?" फिर यह सोचकर कि यह प्रश्न कुछ अशिष्ट-सा हो गया है, मैंने फिर कहा, "कुछ विशेष कारण रहा होगा—"

"कारण? हाँ, कारण... था शायद। यह तो इस पर है कि कारण कहते किसे हैं। मैंने जैसे छोड़ा वह बताता हूँ।"

मैं प्रतीक्षा करता रहा। मेजर कहने लगे, "उसे मैं जीप में ले आया। थोड़ी देर टार्च का प्रकाश उसके चेहरे पर डालकर घुमाता रहा कि वह और जरा सहम जाए। तब मैंने कड़ककर पूछा, "तुम्हें शरम नहीं आयी अपनी फौज का और ब्रिटेन का नाम कलंकित करते? अभी परसों मैंने तुम्हें पकड़ा था और माफ कर दिया था।" मेरे स्वर का उसके नशे पर कुछ असर हुआ। जरा सँभलकर बोला, "सर, मैं कुछ बुरा नहीं करना चाहता था।" मैंने फिर डाँटा, "सड़क पर एक औरत को पकड़ते हो और कहते हो कि बुरा करना नहीं चाहते थे?" वह बगलें झाँकने लगा, पर फिर भी सफाई देता हुआ-सा बोला, "सर, वह अच्छी औरत नहीं है। वह रुपया लेती है— मैं तीन दिन से रोज उसके पास आता हूँ।" मैंने सोचा, बेहयाई इतना हो तो कोई क्या करे? पर इस टामी जन्तु में जन्तु का-सा सीधापन भी है जो ऐसी बात कर रहा है। मैंने कहा, "और तुम तो अपने को बड़ा अच्छा आदमी समझते होगे न, एकदम स्वर्ग से झरा हुआ फरिश्ता?" वह वैसे ही बोला, "नहीं सर, लेकिन-लेकिन..."

"मैंने कहा, "लेकिन क्या? तुमने अपनी पलटन का और अपना मुँह काला किया है, और कुछ नहीं।" तभी मुझे उस औरत की बात याद आयी कि वह कुछ घंटे पहले उसके पास हो गया था, और मेरा गुस्सा फिर भड़क उठा। मैंने उससे कहा, "थोड़ी देर पहले तुम एक बार बचकर चले भी गये थे, उससे तुम्हें सन्तोष

नहीं हुआ? आगे गाँव में कहाँ गये थे? एक बार काफ़ी नहीं था!"

"अब तक वह कुछ और सँभल गया था। बोला, सर, गलती मैंने की है। लेकिन-लेकिन मैं अपने साथियों से बराबर होना चाहता हूँ।"

मैंने चौंककर कहा, "क्या मतलब?"

वह बोला, "हमारा डिवीजन छह हफ्ते हुए यहाँ आ गया था, आप जानते हैं। डेढ़ साल से हम लोग फ्रंट पर थे जहाँ औरत का नाम नहीं, खाली मच्छर और कीचड़ और पेचिश होती है। वहाँ से मेरी पलटन छह हफ्ते पहले लौटी थी, पर मैं एक ब्रेकडाउन टुकड़ी के साथ पीछे रह गया था।"

"तो फिर?" मैंने पूछा।

बोला, "डिवीजन में मेरी पलटन सबसे पहली यहाँ आयी थी, बाकी पलटनें पीछे आयीं। छह हफ्ते से वे लोग यहाँ हैं, और मैं कुल परसों आया हूँ और दस दिन में हम लोग वापस चले जाएँगे।"

मैंने डाँटा, "तुम्हारा मतलब क्या है?" उसने फिर धीरे-धीरे जैसे मुझे समझाते हुए कहा, "सारे शिलङ् के गाँवों की, नेटिव बस्तियों की छाँट उन्होंने की है। मैं केवल परसों आया हूँ, किसी से पीछे मैं नहीं रहना चाहता।"

मेजर चौधरी चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। फिर मैंने कहा, "क्या दलील है! ऐसा विकृत तर्क वह कैसे कर सका—नशे का ही असर रहा होगा। फिर आपने क्या किया?"

"मैं मानता हूँ कि तर्क विकृत है। पर इसे पेश कर सकने में मनुष्य से नीचे के निरे मानव-जन्तु का साहस है, बल्कि साहस भी नहीं, निरी जन्तु-बुद्धि हैं, और इसलिए उस पर विचार भी उसी तल पर होना चाहिए ऐसा मुझे लगा। समझ लो जन्तु ने जन्तु को माफ कर दिया। बल्कि यह कहना चाहिए कि जन्तु ने जन्तु को अपराधी ही नहीं पाया।" कुछ रुककर वह कहते गये, "यह भी मुझे लगा कि व्यक्ति में ऐसी भावना पैदा करनेवाली सामूहिक मन:स्थिति ही हो सकती है, और यदि ऐसा है तो समूह को ही दायी मानना चाहिए।"

स्टेशन-वैगन हचकोले खाता हुआ बढ़ता रहा। मैं कुछ बोला नहीं। मेजर चौधरी ने कहा, "तुमने कुछ कहा नहीं। शायद तुम समझते हो कि मैंने भूल की, इसीलिए चुप हो। पर वैसा कह भी दो तो मैं बुरा न मानूँ— मेरा बिलकुल दावा नहीं है कि मैंने ठीक किया।"

मैंने कहा, "नहीं, इतना आसान तो नहीं है कुछ कह देना।" और चुप लगा गया। अपने अनुभव की भी जो एक घटना मुझे याद आयी, उसे मैं मन-ही-मन दोहराता रहा। फिर मैंने कहा, "एक ऐसी ही घटना मुझे भी याद आती है—"

"क्या?"

"उसमें ऐसा तीखापन तो नहीं है, पर जन्तु-तर्क की बात वहाँ भी लागू होती। एक दिन जोरहाट में क्लब में एक भारतीय नृत्य-मंडली आयी थी—हम लोग सब देखने गये थे। उस मंडली को और आगे लीडो रोड की तरफ़ जाना था, इसलिए उसे एक ट्रक में बिठाकर मरियानी स्टेशन भेजने की व्यवस्था हुई। मुझे उस ट्रक को स्टेशन तक सुरिक्षत पहुँचा देने का काम सौंपा गया।"

"ट्रक में मंडली की छहों लड़कियाँ और साजिन्दे वगैरह बैठ गये, तो मैंने ड्राइवर को चलने को कहा। गाड़ी से उड़ी हुई धूल को बैठ ज़ाने के लिए कुछ समय देकर मैं भी जीप में क्लब से बाहर निकला। कुछ दूर तो बजरी की सड़क थी, उसके बाद जब पक्की तारकोल की सड़क आयी और धूल बन्द हो गयी तो मैंने तेज बढ़कर ट्रक को पकड़ लेने की सोची। कुछ देर बार सामने ट्रक की पीठ दीखी, पर उसकी ओर देखते ही मैं चौंक गया।"

"क्यों, क्या बात हुई?"

"मैंने देखा, ट्रक की छत तक बाँहें फैलाए और पीठ की तख्ती के ऊपरी सिरे को दाँतों से पकड़े हुए एक आदमी लटक रहा था। तनिक और पास आकर देखा, एक बाबर्दी गोरा था। उसके पैर किसी चीज़ पर टिके नहीं थे, बूट यों ही झूल रहे थे। क्षण-भर तो मैं चकित सोचता ही रहा कि क्या दाँतों और नाखूनों की पकड़ इतनी मजबूत हो सकती है! फिर मैंने लपककर जीप उस ट्रक के बराबर करके ड्राइवर को रुक जाने को कहा।"

"फिर?"

"ट्रक रुका तो हमने उस आदमी को नीचे उतारा। उसके हाथों की पकड़ इतनी सख्त थी कि हमने उसे उतार लिया तब भी उसकी उँगलियाँ सीधी नहीं हुईं—वे जकड़ी-जकड़ी ही ऐंठ गयी थीं! और गोरा नीचे उतरते ही जमीन पर ही ढेर हो गया।"

"जरूर पिये हुए होगा..."

"हाँ—एकदम धुत्! आँखों की पुतलियाँ बिलकुल विस्फारित हो रही थीं, वह भौंचक्का-सा बैठा था। मैंने डपटकर उठाया तो लड़खड़ाकर खड़ा हो गया। मैंने पूछा, "तुम ट्रक के पीछे क्यों लटके हुए थे?" तो बोला, "सर, मैं लिफ्ट चाहता हूँ।" मैंने कहा, "लिफ्ट का वह कोई ढंग है? चलो, मेरी जीप में चलो, मैं पहुँचा दूँगा। कहाँ जाना है तुम्हें?" इसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया। हम लोग जीप में घुसे, वह लड़खड़ाता हुआ चढ़ा और पीछे सीटों के बीच में फर्श पर धप् से बैठ गया।

"हम चल पड़े। हठात् उसने पूछा, "सर, आप स्कॉच हैं?" मैंने लक्ष्य किया, नशे में वह यह नहीं पहचान सकता कि मैं भारतीय हूँ या अँग्रेज, पर इतना

पहचानता है कि मैं अफसर हूँ और 'सर' कहना चाहिए। फौजी ट्रेनिंग भी बड़ी चीज़ है जो नशे की तह को भी भेद जाती है! खैर! मैंने कहा, "नहीं, मैं स्कॉच नहीं हूँ।"

"वह जैसे अपने से ही बोला, "डैम फाइन ह्विस्की।" और जबान चटखारने लगा। मैं पहले तो समझा नहीं, फिर अनुमान किया कि स्कॉच शब्द से उसका मदसिक्त मन केवल ह्विस्की का ही सम्बोधन जोड़ सकता है... तब मैंने कहा, "हाँ। लेकिन तुम जाओगे कहाँ?"

बोला, "मुझे यही कहीं उतार दीजिए—जहाँ कहीं कोई नेटिव गाँव पास हो।" मैंने डपटकर कहा, "क्यों, क्या मंशा है तुम्हारी?" तब उसका स्वर अचानक रहस्य-भरा हो आया, और वह बोला, "सच बताऊँ सर, मुझे औरत चाहिए।" मैंने कहा, "यहाँ कहाँ है औरत?" तो वह बोला, "सर, मैं ढूँढ़ लूँगा, आप कहीं गाँव-वाँव के पास उतार दीजिए।"

"फिर तुमने क्या किया?"

"मेरे जी में तो आया कि दो थप्पड़ लगाऊँ। पर सच कहूँ तो उसके 'मुझे औरत चाहिए' के निर्व्याज कथन ने ही मुझे निरस्त्र कर दिया—मुझे भी लगा कि इस जन्तुत्व के स्तर पर मानव ताड़नीय नहीं, दयनीय है। मैंने तीन-चार मील आगे सड़क पर उसे उतार दिया— जहाँ आस-पास कहीं गाँव का नाम-निशान न हो और लौट जाना भी जरा मेहनत का काम हो। अब तक कई बार सोचता हूँ कि मैंने उचित किया कि नहीं—"

"ठीक ही किया—और क्या कर सकते थे? दंड देना कोई इलाज न होता। मैं तो मानता हूँ कि जन्तु के साथ जन्तुतर्क ही मानवता है, क्योंकि वही करुणा है; और न्याय, अनुशासन, ये सब अन्याय हैं जो उस जन्तुत्व को पाशविकता ही बना देंगे।"

हम लोग फिर बहुत देर तक चुप रहे। नाकाचारी धार-आली पार करके हमने मरियानी की सड़क पकड़ ली थी; कच्ची यह भी थी पर उतनी खराब नहीं, और हम पीछे धूल के बादल उड़ाते हुए जरा तेज चल रहे थे। अचानक मेजर चौधरी मानो स्वगत कहने लगे, "और मैं मनुष्य हूँ। मैं नहीं सोच सकता कि 'यह मेरी है' या कि 'मुझे औरत चाहिए!' मैं छुट्टी पर जा रहा हूँ—कम्पैशनेटर छुट्टी पर। कम्पैशन यानी रहम—मुझ पर रहम किया गया है, क्योंकि मैं उस गोरे की तरह हिर्स नहीं कर सकता कि मैं किसी के बराबर होना चाहता हूँ। नहीं, हिर्स तो कर सकता हूँ, पर मनुष्य हूँ और मैं वापस जा रहा हूँ घर। घर!"

मैं चुपचाप आँखें सामने गड़ाये स्टेशन-वैगन चलाता रहा और मानता रहा कि मेजर का वह अजीब स्वर में उच्चारित शब्द 'घर!' गाड़ी की घर्र-घर्र में लीन हो जाए; उसे सुनने, सुनकर स्वीकारने की बाध्यता न हो।

उन्होंने फिर कहा, "एक बार मैं ट्रेन से आ रहा था तो उसी कम्पार्टमेंट में छुट्टी से लौटता हुए एक पंजाबी सूबेदार-मेजर अपने एक साथी को अपनी छुट्टी का अनुभव सुना रहा था। मैं ध्यान तो नहीं दे रहा था, पर अचानक एक बात मेरी चेतना पर अँक गयी और उसकी स्मृति बनी रह गयी। सूबेदार मेजर कह रहा था, 'छुट्टी मिलती नहीं थी, कुल दस दिन की मंजूर हुई तो घरवाली को तारीखें लिखीं, पर उसका तार आया कि छुट्टी और पन्द्रह दिन बाद लेना। मुझे पहले तो सदमा पहुँचा पर उसने चिट्ठी में लिखा था कि दस दिन की छुट्टी में तीन तो आने-जाने के, बाकी छह दिन में से मैं नहीं चाहती कि तीन यों ही जाया हो जाएँ।' और इस पर उसके साथी ने दबी ईर्ष्या के साथ कहा था, "तकदीरवाले हो भाई..."

मैंने कहा, "युद्ध में इन्सान का गुण-दोष सब चरम रूप लेकर प्रकट होता है। मुश्किल यही है कि गुण प्रकट होते हैं तो मृत्यु के मुख में ले जाते हैं, दोष सुरक्षित लौटा लाते हैं। युद्ध के खिलाफ यह कदम बड़ी दलील नहीं है—प्रत्येक युद्ध के बाद इनसान चारित्रिक दृष्टि से और गरीब होकर लौटता है।"

"यद्यपि कहते हैं कि तीखा अनुभव चरित्र को पुष्ट करता है।"

"हाँ, लेकिन जो पुष्ट होते हैं वे लौटते कहाँ हैं?" कहते-कहते मैंने जीभ काट ली, पर बात मुँह से निकल गयी थी।

मेजर चौधरी की पलकें एक बार सकुचकर फैल गयीं, जैसे नश्तर के नीचे कोई अंग होने पर। उन्होंने सम्भलकर बैठते हुए कहा, "थैंक यू, कैप्टन प्रधान! हम लोग मरियानी के पास आ गये—मुझे स्टेशन उतारते जाना, तुम्हारे डिपो जाकर क्या करूँगा—"

तिराहे से गाड़ी मैंने स्टेशन की ओर मोड़ दी।

नाटक

उत्तर प्रियदर्शी

गुल के लिए

प्रेरणा

कलिंग के महाप्रतापी विजेता प्रियदर्शी अशोक को सम्राट बनने के बाद वैराग्य हुआ और उसने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले ली, ऐसा इतिहासकार बताते हैं। क्यों? कैसे? इसका कोई उत्तर इतिहासकार नहीं देते।

पाँचवी शती के चीनी यात्री फाह्यान ने बताया है कि पाटलिपुत्र की नगर-सीमा के बाहर उसने एक दीवार देखी थी जो अशोक के बनवाये हुए नरक की प्राचीर बतायी जाती थी।

अशोक पहले प्रचंड स्वभाव का और क्रूर शासक था। उसने एक परम नृशंस व्यक्ति को खोज कर एक नरक बनवाया; इस नरकाधिपति को उसने आश्वासन दिया कि नरक-सीमा में उसकी सत्ता सर्वोपरि होगी—यहाँ तक कि स्वयं राजा भी उसके भीतर आ जाए तो उसके नियम से अनुशासित होगा।

घटना-चक्र में राजा को 'राज-मर्यादा' की रक्षा के लिए वहाँ आना पड़ा।

सातवीं शती के दूसरे चीनी यात्री ह्युएन् त्साङ् ने नरक सम्बन्धी इस कथा की पुष्टि की है!

उन्नीसवीं शती के अन्तिम दिनों में अँग्रेज सैनिक पुरातत्त्व प्रेमी वैडेल ने पाटलिपुत्र में जो खुदाई करायी थी, उसमें उसे ऐसे स्थलीय अवशेष मिले थे जो फाह्यान और ह्युएन् त्साङ् के वर्णन से मेल खाते थे।

क्या नरक के निर्माण, कलिंग-विजय, राजा के दर्प और उस के मोह-भंग में कोई सम्बन्ध रहा? इतिहासकार जिन प्रश्नों का उत्तर नहीं देते, उन्हें क्या कवि-नाटककार पूछ भी नहीं सकता? विजय-लाभ पर पहले अहंकार—फिर अहंकार के ध्वस्त होने पर नये मूल्य का बोध, नयी दृष्टि का उन्मेष—क्या यही सही तर्क-संगति और सहज मनोवैज्ञानिक क्रम नहीं है।

मृत्यु से साक्षात्कार के बिना अमरत्व नहीं मिलता, नरक की पहचान के बिना नरक-मुक्ति का कोई अर्थ नहीं—कठोपनिषद् के नचिकेता से लेकर डिवाइना कामेडिया के दान्ते तक इसके अनेक साक्षी हैं।

उत्तर प्रियदर्शी का पहला आरंगण नयी दिल्ली में त्रिवेदी कला संगम के खुले रंगमंच पर 6 मई 1967 को निष्पन्न हुआ।

पात्र

प्रियदर्शी (अशोक)
मन्त्री
घोर (यम)
भिक्षु
संवादक

(संवादक चार या पाँच होंगे। मुख्य स्वर संवादक 1, स्त्री स्वर संवादक 2, अन्य दो-तीन साधारण स्वर)

वेश

घोर (यम) मुखौटा पहन कर प्रवेश करेगा; वेश चरित के अनुरूप: अन्य सब पात्र साधारण मानव रूप में।

प्रियदर्शी राज-वेश में, मन्त्री पदानुकूल भूषा में; भिक्षु और संवादक-वृन्द सब भिक्षु-वेशी होंगे।

मंच-सज्जा

शुद्ध नाट्य-धर्मी।

पीछे दीवार, दीवार के पार देव-तरु और मन्दिर-कलश की सांकेतिक झलक। दीवार के सामने स्तम्भ के ऊपर पद्मपीठ। यवनिका नहीं होगी।

कक्ष-विभाजन सम्भव हो तो मंच के मध्य में चार अंगुल ऊँचा एक चौकोर कक्ष बनाया जा सकता है जो प्रसंगानुसार राज-भवन की अथवा नरक की परिसीमा निर्दिष्ट कर देगा।

अशोक के नरक की कथा

''सम्राट अशोक पूर्व-जन्म में जब बालक थे और पथ की धूल में खेल रहे थे, तब शाक्य बुद्ध उधर से घूमते हुए, भिक्षा माँगते हुए निकले; बालक ने मुदितमन एक मुट्ठी धूल उठाकर उन्हें दे दी। बुद्ध ने धूल ग्रहण की और फिर उसे नीचे डाल दिया। पर इसी दान का फल बालक को यह मिला कि वह अनन्तर जम्बूद्वीप का राजा हुआ।

''एक बार जम्बूद्वीप में भ्रमण करते हुए राजा ने देखा, दो पहाड़ियों के घेरे में दुष्टों को दंड देने के लिए एक नरक बना हुआ था। मन्त्रियों से यह पूछने पर कि वह क्या है, उन्होंने उत्तर दिया, 'यह प्रेतों के राजा यम का लोक है, जहाँ दुष्टों को यन्त्रणा दी जाती है।' राजा ने सोचा, प्रेत-राज भी दुष्टों को दंड देने के लिए नरक बना सकता है; मैं नरेश्वर क्यों नहीं एक नरक बनवा सकता? उसने तत्काल मन्त्रियों को आज्ञा दी कि एक नरक बनवाएँ जिसमें उसके आदेशानुसार दुष्टों को यन्त्रणा दी जा सके।

''मन्त्रियों के यह उत्तर देने पर कि कोई परम दुष्ट व्यक्ति ही नरक का निर्माण कर सकता है, राजा ने चारों ओर ऐसे व्यक्ति की खोज के लिए चर दौड़ाये। एक ताल के किनारे उन्हें काले रंग का, पीले बाल और हरी आँखों वाला एक दीर्घकाय, बलिष्ठ व्यक्ति मिला जो पैरों से मछलियाँ मार रहा था, और पशु-पक्षियों को निकट बुला कर उनका वध करता जा रहा था—कोई उससे बच कर नहीं जाता था। वे उसे राजा के पास ले गये। राजा ने एकान्त में उसे आदेश दिया : 'ऊँची दीवारों वाला एक बाड़ा बनाओ; उसमें फल-फूल लगाओ, सरोवर बनाओ जिससे लोग उसकी ओर आकृष्ट हों; उसके द्वार भारी और अत्यन्त दृढ़ बनवाओ। जो कोई भीतर आ जाए उसे पकड़ कर पाप के दंड में दारुण यन्त्रणा दो, किसी को बच कर जाने मत दो। अगर मैं भी उसकी परिधि में आ जाऊँ तो मुझे भी न छोड़ो, मुझे भी वैसी यन्त्रणा

दो। जाओ, मैंने तुम्हें नरक का राजा नियुक्त किया।'

"कुछ दिन बाद एक भिक्षु भिक्षा माँगता हुआ उधर से निकला और द्वार के भीतर चला गया। नरक के गणों ने उसे पकड़ लिया और यन्त्रणा देने चले। उसने उनसे थोड़ा अवकाश माँगा कि भोजन कर लें क्योंकि मध्याह्न का समय था। इसी बीच एक और व्यक्ति उधर आ निकला; यम के गणों ने उसे कोल्हू में पीस दिया जिससे रुधिर का लाल झाग बहने लगा। देखते-देखते भिक्षु को एकाएक बोध हुआ कि शरीर कितना नश्वर है, जीवन झाग के बुलबुले सा कैसा असार; और उसे अर्हत् का पद प्राप्त हो गया। तभी नरक के गणों ने उसे पकड़ कर खौलते कड़ाह में फेंक दिया, किन्तु भिक्षु के चेहरे पर अखंड सन्तोष का भाव बना रहा। आग बुझ गयी, कड़ाह ठंडा हो गया; उसके बीचों-बीच एक कमल खिल आया जिस पर भिक्षु पद्मासनासीन था। गण राजा के पास यह समाचार लेकर दौड़े गये कि नरक में एक चमत्कार हो गया है और वह चलकर अवश्य देखें। राजा ने कहा, 'मेरी तो ऐसी प्रतिश्रुति थी कि मैं वहाँ जा नहीं सकता।' गणों ने कहा, 'यह कोई साधारण बात नहीं है, राजा को अवश्य देखना चाहिए, पहला शासन तो बदला जा सकता है।' राजा उनके साथ गया और नरक में प्रविष्ट हुआ। भिक्षु ने उसे धर्मोपदेश दिया जिससे राजा को मुक्ति मिली। उसने नरक तुड़वा दिया और अपने पाप का प्रयश्चित्त किया। तब से वह त्रिरत्न को मानने लगा।"

—फाह्यान (भारत-यात्रा, मगध-यात्रा ई. सन् 405)

"राजा-प्रासाद के उत्तर को कोई दस हाथ ऊँचा एक शिला-स्तम्भ है; यह वह स्थान है जहाँ राजा अशोक ने एक 'नरक' बनवाया था। आरम्भ में जब राजा सिंहासनारूढ़ हुआ तब उसने बड़ी क्रूरता बरती थी; उसने प्राणियों को यन्त्रणा देने के लिए एक नरक रचाया था।'

—ह्युएन् त्साङ् (भारत-प्रवास, ई. सन् 630-644)

हल्के ताल-वाद्यों के साथ चार पाँच भिक्षुवेशी संवादकों का प्रवेश।

संवादक (समवेत) :

नमो बुद्धाय
नमो बुद्धाय
नमो बुद्धाय

संवादक 1 2 :

उसी बुद्ध को नमन,
उसी चरित का स्मरण,
उसी अपरिमित करुणा का
जिस के करतल की छाया में,
यह जीवित संसृत होता है अविराम;

समवेत :

नमो बुद्धाय...

संवादक 3-4 :

जिसके अवलोकित-भर से
कट जाते हैं
माया के पाश,
जिस के चिर-अक्षोभ्य हृदय में अनुपल
लय पाते रहते हैं भव के अविरल ऊर्मि विलास

समवेत :

नमो बुद्धाय—
उसी क्षान्ति, प्रज्ञा को
पारमिता करुणा को
बारम्बार प्रणाम—
नमो बुद्धाय!
नमो बुद्धाय!

स्थान ग्रहण करते हैं।

समवेत :

स्मरण करो...

संवादक 1 :

देवों का प्रिय प्रियदर्शी जब कभी दूसरे भव में
बालक था—अपने घर आँगन में मिट्टी से खेल रहा था
सहसा ठिठक गया :
थे द्वार खड़े
पर्यटक शाक्यमुनि
स्मित-नयन माँगते भिक्षा

समवेत :

स्मरण करो— स्मरण करो...

संवादक 2 :

ओ शिशु अबोध! यह द्वार खड़े
हैं स्वयं तथागत—
बाँट रहे सब को अमोल निधि
सहज मोक्ष की—
माँग रहे कौतुक-भिक्षा!

समवेत :

ओ, स्मरण करो!
उत्तरप्रियदर्शी

संवादक 1 :

स्वयमेश्वर माँग रहे!

संवादक 3 :

मुट्ठी-भर धूल उठा कर
शिशु स्मितमुख, उदार,
देता है :

संवादक 2 :

लो, संन्यासी !

संवादक 3 :

और शाक्यमुनि
हाथ बढ़ा कर ले लेते हैं।

समवेत :

स्मरण करो!

संवादक 3-4 :

धरती के भावी राज-पुरुष के हाथों से मिट्टी लेकर
चौदह भुवनों के राजेश्वर
फिर धरती को ही दे देते हैं—

संवादक 1 :

आशीर्वत् !

समवेत :

स्मरण करो!

संवादक 3-4 :

यों रत्न-प्रसू हो रसा, पुण्य-प्रभवा हो!

दो संवादक उठ खड़े होते हैं और मंच का आवर्त्तन आरम्भ करते हैं।

संवादक 3-4 :

बालक की क्रीड़ा चलती रहती है :
धरती के आँगन की मिट्टी अशेष है
और तथागत की लीला?
चुक जाए सभी कुछ जहाँ,
वहाँ, बस, वही शेष है :

समवेत :

स्मरण करो...

सभी संवादक उठकर मंच का आवर्त्तन करते हैं।

संवादक 1 :

कालचक्र घूमता रहे, युग बदलें, बीतें,
संसारों के बने-मिटें आवर्त्त असंख्य,
सृष्टि-लय, स्फार-संकुचन हों, इतने—
होना भी अनहोने की एक क्रिया बन जाए—
किन्तु क्रान्तदर्शी अकाल वह
एक, अयुत, सत्
वरद-पाणि,
सब देख रहा है :

संवादक 2 :

करुण-नयन, अनिमेष।

संवादक बैठते हैं। बैठते हुए:

समवेत :

(ओ, स्मरण करो!
स्मरण करो!)

तालवाद्य : कालान्तर सूचक

संवादक 1 :

वह आता है
राजपुरुष,
सम्राट
चक्रवर्ती,

संवादक :

जय कर के आस ,द्र
इस महादेश को।
सुजला सुफला सुरसा
मणि-माणिक्य-खनी श्रीवन्ती पुण्य-धरा को!

प्रियदर्शी के प्रवेश का आरम्भ।

संवादक 1 :

वह आता है
राजपुरुष,
सम्राट,
चक्रवर्ती,
शत्रुंजय,

संवादक 3 :

वृष-कन्धर, उल्लम्बबाहु
उन्नत ललाट, भ्रू कसे,
नासिका दर्प-स्फीत,

संवादक 2 :

उर वज्र!

नेत्र-अंगारक
युगल मुकुर में करते प्रतिबिम्बित
कलिंग-लक्ष्मी का घर्षण!

संवादक 3-4 :
रण-प्रांगण में निर्मर्याद प्लवन
शोणित की
स्वर-स्रोत गंगा का!

संवादक 3 :
आता है
राजपुरुष वह...

समवेत :
कौन देवताओं के प्रिय हो,
ओ प्रियदर्शी?

प्रियदर्शी प्रवेश करके मंच का आवर्त्तन
कर रहा है।

समवेत :
राजा आता है
जयी, अप्रतिम,
सर्वदम, देवानां प्रिय,
प्रियदर्शी निःशत्रु?
एकमेव राजेश्वर !

धीरे धीरे ताल वादन।

संवादक 1 :
यों युद्धान्त हुआ। **(ताल)**
सन्ध्या के
चारण गाते हैं मांगल्य मधुर,

घंटियाँ निरन्तर गुँजा रही हैं
आक्षिति, आसमुद्र
इस पृथ्वी-वल्लभ परमेश्वर का कीर्तिनाद!

संवादक 2 :
राजा प्रियदर्शी, जयी, वशी,
वरमाल गले डाले कलिंग-लक्ष्मी की सद्य:कलित
कुसुम-कलियों की—

संवादक 3 :
राजा प्रत्यावर्त्ती, एक, अकेला, देवानां प्रिय, अद्वितीय...

राजा मंच का आवर्त्तन पूरा करके मध्य में रुकता है।

समवेत :
एक अकेला, अद्वितीय !
हाँ, अद्वितीय!
निर्द्वन्द्व! अकेला! एक!

ताल : दर्पभाव

प्रियदर्शी :
गाओ, नान्दी!
भट-चारण-गण!
गगन गूँजने दो
प्रियदर्शी परमेश्वर
राज-राज-राजेश्वर के यश : गान से!

समवेत :
राजा-एक-अकेला...
शत्रुंजय निर्द्वन्द्व!
अकेला राजा—
राजा एक अकेला!

ताल परिवर्तन : करुण सन्देह भाव।

प्रियदर्शी :

पर सन्ध्या की धीरे-धीरे गहराती अरुणाली
अनुराग-रँगी कब होगी?
कब घर-घर की धूम-शिखाओं का सोंधापन
ये आँखें आँजेगा?
कब माँजेगा मेरे मन का कल्मष
मेरे जन-जन का वात्सल्य
अनातंकित, उदार, सोल्लास?
मुग्ध नील नलिनी से अपने
नयनों से
ओ रात!
नखत-नीहार-धुला उजला दुलार
कब दोगी? कब?

राजा एकाएक घूम जाता है।
ताल : दर्प भाव

प्रियदर्शी :

गाओ! नान्दी!
गगन गूँजने दो, भट चारण-गण!
राजा के यश:गान से।

प्रियदर्शी फिर सामने को ओर घूम जाता है।

प्रियदर्शी :

राज-राज-राजेश्वर!
परमेश्वर प्रियदर्शी!
आसमुद्र, आक्षितिज
जहाँ जो दीख रहा है—
मेरा देवानां प्रिय का—शासित है!
प्रियदर्शी का!

प्रियदर्शी मंच का आवर्त्तन करता जाता है; इस बीच संवादक हट जाते हैं। नेपथ्य में ताल-वाद्य प्रबलतर होता जाता है।

प्रियदर्शी :

मेरा शासित!

ताल बदलता है।

किन्तु दिशाएँ
क्यों रंजित होती जाती हैं अनुक्षण
युद्ध-भूमि के शोणित से?... क्यों सन्ध्या की
स्निग्ध शान्ति को चीर,
भंग कर मंगल-गायन का सम्मेलन—
उमड़ा आता है चीत्कार असंख्य स्वरों का?
क्यों नगरी के हर्म्य, सौध,
ऊँची अटारियाँ,
मन्दिर-कलश,
पताक,
देव-तरु,
सब रुंडों की सेना जैसे
अपने मुंड रौंदते अपने ही चरणों से—
बढ़ते ही आते हैं
हाथ बढ़ाये—
दुर्विनीत, दुःशास्य—

(ताल वादन)

असंख्य शत्रुदल!
क्यों ये
ध्वस्त, विजित, विस्मृत,
ये धूल मिल चुके शत्रु,
अनार्य, अकिंचन,
उमड़-उमड़ आते है
अविश्रान्त
ये अशमित प्रेत, तोड़ कर मानो द्वार
नरक कारा के?
क्यों? क्यों? क्यों?

प्रियदर्शी रुक जाता है।
ताल बदलता है। दर्प भाव।

प्रियदर्शी :

प्रियदर्शी !
निःशत्रु ! सर्वदम !
परमेश्वर ।
हः ! उन्हें लौटना होगा। यह प्रमाद
यह प्रेत-उपद्रव
शासित होगा !
अशमित नरक-प्रजा को यह परमेश्वर
कड़ी यन्त्रणा में बाँधेगा !
बाँधेगा—नहीं सहेगा— बाँधेगा
ओ लाल साँझ !
जो नील निशा !
ओ जन-जन के घर-घर के शिला-धूम !
ओ सौध-शिखर के स्वर्ण-कलश, रक्ताग्नि-स्नान !
प्रियदर्शी नहीं सहेगा !
नहीं सहेगा ! बाँधेगा ! बाँधेगा— नहीं सहेगा !

प्रस्थान करने लगता है। अगले समवेत भाषण में मंच के अन्त तक पहुँच जाता है।

संवादक 3, 4, 5 :

(नेपथ्य से)
प्रियदर्शी नहीं सहेगा !
ओ लाल साँझ ! ओ नील निशा।
नहीं सहेगा—कड़ी यन्त्रणा में बाँधेगा !
ओ जन-जन के घर-घर के शिखाधूम !
ओ हर्म्य, सौध, मन्दिर के स्वर्ण-कलश !
रक्ताग्नि-स्नात।
रणक्षेत्र में गिरकर जो हो गये मुक्त
उन सबको
यह पृथ्वी-परमेश्वर नरक-यातना देगा !

संवादक मंच के छोर पर प्रकट होते हुए बोलते हैं।

सं. (समवेत)

कहाँ तुम्हारा नरक, राज-राजेश्वर?
कहाँ प्रजा वह इतर,
वाहिनी पराभूत—
वे प्रतिद्वन्द्वी अशरीरी?

संवादक वहीं से पीदे हट कर अदृश्य हो जाते हैं। प्रियदर्शी मंच के दूसरे छोर से बोलता है।

प्रियदर्शी :

मन्त्री! मन्त्री! प्रतीहार!

दूसरे छोर से मन्त्री का प्रवेश मात्र

मन्त्री :

आज्ञा, राजन्!

प्रियदर्शी :

राजन्? राज-राज राजेश्वर?
तुमने ही क्या ऐसा नहीं कहा था?

मन्त्री :

निश्चय, आर्य, परम भट्टारक!

प्रियदर्शी :

झूठ कहा था?

मन्त्री :

इस पद की मर्यादा सेवक कभी नहीं तोड़ेगा।

प्रियदर्शी :

तो फिर बोलो—
मेरा शासित नरक कहाँ है?

मन्त्री :

महाराज!

प्रियदर्शी :

मैं नहीं सुनूँगा!
नहीं सहूँगा!
नरक चाहिए मुझको!

इन्हें यन्त्रणा दूँगा मैं, जो प्रेत-शत्रु ये मेरे तन में
एक फुरहरी जगा रहे हैं
अपने शोणित की अशरीर छुअन से!
उन्हें नरक!
मेरा शासन है अनुल्लंघ्य!
यन्त्रणा!
नरक चाहिए मुझको!

मन्त्री उलटे पैर पीछे हट जाता है
उद्घोषक प्रवेश करते हैं।

संवादक 1 :

राजा को नरक चाहिए!

संवादक 3-4 :

यह पृथ्वी-परमेश्वर
व्यापक अपनी सत्ता का निकष
मानता है अपने ही रचे नरक को।

समवेत :

सार्वभौम, प्रियदर्शी! नरक कहाँ है! किसका?
किसको? किससे शासित?

संवादक 3-4 :

शत्रु तुम्हारे—हार चुके जो—समर-भूमि में गिरे—
तुम्हारे पार्थिव शासन से तो मुक्त हो गये!

संवादक :

उन का सुख-दुख यन्त्र-यातना-परितोषण-उत्पीड़न—
वशी! और अब वश्य तुम्हारा नहीं रहा!

अन्य संवादक बैठ रहे हैं, पहला बोलता है।

संवादक 1 :

उनके भी शास्ता हैं

समवेत :

किन्तु दूसरे!

संवादक 1 :

वह जिनका है
उनका ही रहने दो।
तुम पृथ्वी का भरण करो।

बैठ जाता है।

समवेत :

स्मरण करो! स्मरण करो!

संवादक 2 :

पार्थिव! पृथ्वी का भरण करो।

प्रियदर्शी का प्रस्थान। दूसरी ओर से उग्रताल वादन के साथ घोर का सवेग प्रवेश।

घोर :

और नरक का
एकछत्र राजत्व मुझे दो। वहाँ एक
मैं शास्ता हूँ—महाकाल!

समवेत :

महाकाल को स्मरण को।
स्मरण करो!
शास्ता को स्मरण करो!

संवादक 2 :

उस एक करुण को शरण करो!

घोर मंच का आवर्त्तन करता हुआ मानो अपने राज्य की सीमा अंकित कर रहा है। संवादक हर पद पर ताल देते रहते हैं।

घोर :

मैं बज्र! निष्करुण! अनुल्लंघ्य! मेरे शासन में
दया घृण्य! ममता निष्कासित!
मैं महाकाल! मैं सर्वतपी!
धराधीश ने मुझे दिया यह राज्य—प्रतिश्रुत होकर
इस घाटी में उसका शासन—(धूल धरा की!)—
झड़ जाएगी
यहाँ एक
मैं, अद्वितीय बल! सार्वभौम! हः!
प्रियदर्शी भी—
परकोटे के पार!—रह परमेश्वर!
फटके इधर कि एक झटक में
मेरे पाश बँधेगा—मेरा शासित होगा—
मुझ समदर्शी यम का कोड़ा सबको निर्मम
यहाँ हाँक लाता है—जहाँ अशम
मेरी ज्वाला की लपलप जीभें
उन्हें चाट लें—

नेपथ्य से उठती हुई नरक की ध्वनियाँ धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगती हैं।

घोर :

मेरे पत्थर
उनको तोड़-तोड़ कर पीसें,
मेरे कोल्हू
उन्हें पेर लें :
लाल कड़ाहों में मेरे, उनके अवयव
चटपटा उठें खा-खा मरोड़!
मेरे गुण उनको उत्तप्त अथःशूलों से बेंध
उछालें, पटकें, रौंदें,
मानों झड़ते पत्ते नुच कर टूट-टूट
अन्धड़ के आगे नाचें, निःसहाय, निःसत्त्व,
पिसें, हों मिट्टी अर्थहीन!

विनाश तांडव करता है। उग्र तालवाद्य,
नेपथ्य से चीत्कार ध्वनियाँ।

घोर :

मैं महाकाल ! मैं यम! अपनी सीमा में
मैं आत्यन्तिक, नियति-नियन्ता, शास्ता दुर्निवार!
मैं घोर
मेरे शासन में
नहीं व्यतिक्रम! दया
द्रोह है ! दंड्य!
यह मेरा संसार-नरक है
सत्ता की मुट्ठी में जकड़ी
यहाँ
कल्पना
तोड़ रही हैं साँस!
नये साँकल के तालों पर
संगीत कराहों का गुंजायमान
अविराम यहाँ— अविराऽऽम!

प्रस्थान करता हुआ।

घोर :

गूँजे! गूँजे! गूँजे!
बढ़ो, गणों! नाचो, ज्वालाओ!
ऐंठन, टूटन! तड़पन!
गूँजे! नाचो!
नाचो! नाचो! नाचो!

घोर का प्रस्थान। साथ साथ नरक की ध्वनियाँ कुछ धीमी पड़ जाती हैं। दूसरी ओर से भिक्षु का प्रवेश। भिक्षु टटोलता हुआ बढ़ रहा है। संगीत : लय परिवर्तन।

भिक्षु :

कहीं होगा मार्ग—
कोई द्वार—कोई सन्धि—कोई रन्ध्र
जिससे स्पर्श वत्सल
पहुँच कर इस दुःख को सहला सके!
क्यों यहाँ इतनी व्यथा है? क्यों
मनुज यों जलें, टूटें, जिन्हें
जीना ही जलन था, साँस लेना छटपटाना—टूटना?
क्यों न इनको भी छुए वह ज्योति
जिसके अवतरण का साक्ष्य
है यह चीवरों का रंग—
मैली धारयित्री धूल, उजली तारयित्री धूप का
यह मिश्रवर्णी रंग!
उतरो, ज्योति! उतरो! मुझे भी आलोक दो।

नरक के स्वर एकाएक उभरकर फिर धीमे: केवल एक तीक्ष्ण चीत्कार।

भिक्षु :

गया वह ! अनजान कोई किन्तु सबका सगा
क्योंकि उसको ज्योति-कर ने छू लिया!...
दुःख है भव की प्रतिज्ञा—संसरण ही दुःख है—

पर एक करुणा की पहुँच है जो
गगन से खींच लाती है किरण वह
घाम जिसका
सब प्रतिज्ञाएँ गला दे! तोड़ दे भव-बन्ध!
नहला दे प्रभा में
मुक्त कर कूटस्थ उस आनन्द को जो
मुक्ति का ही स्वयम्भू पर्याय है।

समवेत :

उसी को स्मरण करो!

भिक्षु :

उतरो, ज्योति! उतरो, मुझे बल दो!
क्षान्ति दो निष्कम्प—ओ करुणे
प्रभामयि! अभय दो!

भिक्षु बढ़कर नरक सीमा में प्रवेश करता है: नरक की ध्वनियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। भिक्षु प्रविष्ट होते ही अदृश्य कशाघात से लड़खड़ाता, रुधिर-पंक से सकुचता, लपटों से बचता सँभल जाता है और फिर भुजाएँ उठा कर बढ़ता है।

भिक्षु :

उतरो, ज्योति! मुझ को क्षान्ति दो निष्कम्प—
बल दो—अभय दो—
करुणा प्रभामय—
स्वयम्भू आनन्द—मुझको मुक्ति दो।

सं. (समवेत) :

स्मरण करो—ओ स्मरण करो
उस दया-द्रवित को स्मरण करो...

नरक के स्वर मानो हार कर धीमे हो जाते हैं। घोर का प्रवेश।

घोर :

पर यह कैसा व्याघात ? नरक-संगीत
हो गया धीमा : ध्वनियाँ चीत्कारों की
चलीं डूब:
खौलते कड़ाहों पर से घटा घुमड़ते काल-धुएँ की
छितरा गयी; आग की लपटें
ठंडी हो कर सह्य हो चलीं—
क्यों? जो सह्य हो गया
वह कैसा फिर नरक?
शिथिलता—नरमी? कोड़े को ही
करुणा का कीड़ा लग गया कहीं तो
फिर यम-यन्त्र रहेगा कैसे?
गणों! कहाँ हो तुम सब?
कालजिह्व ज्वालाओं!

घोर का सवेग प्रस्थान। नरक संगीत बहुत धीमा चालू रहता है।

भिक्षु :

स्मरण करो!
उस दया-द्रवित का वरण करो।
उस सतत करुण को शरण करो!
नमो बुद्धाय
नमो बुद्धाय
नमो बुद्धाय...

भिक्षु मंच की परिक्रमा कर के ध्यानस्थ बैठ जाता है। दूसरी ओर से प्रियदर्शी का प्रवेश। धीमा नरक संगीत चालू रहता है।

प्रियदर्शी :

यह क्या सुनता हूँ? विफल हुई यम-कशा?
नरक-ज्वालाएँ
शमित हुईं?

उत्तप्त कड़ाहों में खिल उठे
कोकनद कमल?
कालझंझा हो मृदुल, बन गया
चन्दनगन्ध समीकरण?
किंकर्त्तव्य, परास्त हुआ मेरा अमोघ प्रतिभू,
यम? वज्र घोर?
परमेश्वर प्रियदर्शी का शासन
व्यर्थ हुआ?

कभी नहीं! झूठे हैं चर-कंचुकी-प्रतीहार! मोहान्ध
हो गये हैं प्रहरी, अधिकृत, अमात्य, मन्त्री, सब
क्लीव हो गये हैं अतिसुख से!
अति-नैर्विघ्न्य शत्रु बन जाता है
साम्राज्यों की सत्ता का! पर यह राजा
जो-कुछ देता है खुले हाथ,
उसको वश में भी रख सकता है।
यम के शासन को अमोघ रहना ही होगा—
वह पृथ्वी-परमेश्वर के प्रतिभू का शासन है—
देवानां प्रिय का—प्रियदर्शी महार्ह का अपना शासन।
प्रियदर्शी महार्ह—

सवेग बढ़ कर नरक की परिधि में प्रवेश करता है; पाशग्रस्त होकर कशाघात से चीत्कार कर उठता है। नरक संगीत स्पष्ट हो उठता है।

संवादक (समवेत) :
पूर्ण हो गया चक्र!

संवादक 2 :
बँध गया राजा—

संवादक 1 :
उसी पाश में

जिसका सूत्र
बँटा था उसके गौरव-दृप्त करों ने!

समवेत :

स्मरण करो!...

घोर :

भोगो, राजा, भोगो! यम के
गणों बढ़ो! लपको!
तुम अपना काम करो!

प्रियदर्शी की यन्त्रणा बढ़ती है, नरक संगीत और तालवाद्य द्रुततर और प्रबल, राजा लड़खड़ाता हुआ रुक रुक कर, बोलता जाता है।

प्रियदर्शी :

यह क्या है प्रसाद? तुम
मेरे अधिकृत हो—प्रतिभू!—सत्ता का
स्रोत तुम्हारी—मैं हूँ—शासन आत्यन्तिक
मेरा है! मत भूलो! घोर!—
तुम्हारी मर्यादा है!

समवेत :

स्मरण करो!

घोर :

और प्रतिश्रुति तेरी?
तेरा शासन, राजा,
क्या मुझको ही अनुल्लंघ्य है?
बँध हुआ है तू भी !
नरक
स्वयं तूने माँगा था!

'मुझको नरक चाहिए!' ले,
प्रियदर्शी, परमेश्वर!
अपनी स्फीत अहन्ता का
यह पुरस्कार! ले! नरक!

छाया-युद्ध। घोर प्रहार करता है और राजा बढ़ता हुआ चलता है। तीखा व एक संगीत : प्रबल तालवाद्य। अन्त में राजा भिक्षु के सामने गिरता है। घोर का उठा हाथ रुक जाता है; फिर वह सहर्ष प्रस्थान करता है।

प्रियदर्शी :

तुम कौन, काषाय-वस्त्रधारी?
कैसे तुम यहाँ?
तुम्हारे चारों ओर
शान्ति यह कैसे?
ये सब क्या सच ही कहते थे—
स्खलित हो गया शासन?
भंग हुई मर्यादा?
क्यों ज्वालाएँ नहीं छू रहीं तुमको? नहीं सालते
कशाघात यम के? क्यों एक सुगन्धित शीतल
दुलराती-सी साँस
तुम्हारे चारों ओर बह रही है
जीवन्त कवच-सी?
क्यों, कैसे, किस चमत्कार-बल से
तुम नरक-मुक्त हो?
ओ संन्यासी!
आह! आऽऽह!

भिक्षु धीरे-धीरे खड़ा होता है।

भिक्षु :

कैसा नरक? वत्स प्रियदर्शी!
कशाघात किसके? ज्वालाएँ कहाँ?

स्खलन भी किस शासन का?
देवों के प्रिय, राज-राज! मर्यादा
है, जो होती नहीं भंग—
शासन भी
है, जो नहीं छूटता;
पर वह सत्ता नहीं तुम्हारी :
शासन सार्वभौम, आत्यन्तिक अनुल्लंघ्य,
वह जो है—
उसका भी उत्स
वहीं है—
(पहचानो तो!)—

समवेत :

स्मरण करो... ओ, स्मरण करो...

भिक्षु :

जहाँ तुम्हारे अहंकार का!
यम की सत्ता
स्वयं तुम्हीं ने दी उसको
तुम हुए प्रतिश्रुत
एक समान अकरुणा के बन्धन में!
नरक! तुम्हारे भीतर है वह! वहीं
जहाँ से निःसृत पारमिता करुणा में
उसका अघ घुलता है—स्वयं नरक ही गल जाता है।
एक अहन्ता जहाँ जगी—भव-पाश बिछे, साम्राज्य बने-
प्राचीन नरक के वहीं खिंच गये :
जागी करुणा—मिटा नरक,
साम्राज्य ढहे, कट गए बन्ध,
आप्लवित ज्योति के कमल-कोश में
मानव मुक्त हुआ!

प्रियदर्शी प्रणत होता है। घोर का प्रवेश:
अचकचाया-सा वह चारों ओर देखता

है और पीछे हटता हुआ अदृश्य होता है।

समवेत :

स्मरण करो!

संवादक 2 :

आप्लावित ज्योति के सागर में
कमलासनस्थ
उस पारमिता करुणा को

समवेत :

स्मरण करो!

भिक्षु :

हाँ, स्मरण करो
अपने भीतर का पद्मकोश
सिंहासन पारमिता करुणा का :
दु:ख, अहन्ता का सागर
जिसके चरणों में खा पछाड़
हट-हट जाता है पीछे!

समवेत :

स्मरण करो।
स्मरण करो।

भिक्षु :

पारमिता करुणा को नमन करो।
उस परम बुद्ध को शरण करो!

प्रियदर्शी उठ खड़ा होता है।

प्रियदर्शी :

कल्मष-कलंक धुल गया! आह!
युद्धान्त यहाँ यात्रान्त हुआ!
खुल गया बन्ध! करुणा फूटी!
आलोक झरा! यह किंकर
मुक्त हुआ! गत-शोक!

नमन करते हुए

प्रियदर्शी :

नमो बुद्धाय!

समवेत :

स्मरण करो!

भिक्षु :

पारमिता करुणा को स्मरण करो।

आगे भिक्षु, पीछे राजा का प्रस्थान। घोर का प्रवेश। घोर धीरे धीरे प्रश्नपूर्वक प्रियदर्शी के वाक्य दुहराता है।

घोर :

यात्रान्त हुआ? खुल गया बन्ध?
करुणा फूटी? आलोक झरा? नर किंकर
गत शोक हुआ? हो गया मुक्त?

हतबुद्धि सा घोर नरक की परिधि के चारों ओर आँख दौड़ाता है। फिर मानो जाग कर धीरे-धीरे बोलता है।

घोर :

प्रियदर्शी अशोक!
ओ—मुक्ति-स्रोत को वरण करो!

चकित, परास्त भाव के प्रस्थान।

समवेत :

ओ—स्मरण करो!...

संवादक उठ खडे होते हैं और धीरे-धीरे प्रस्थान करते हुए तालवाद्य के साथ बोलने जाते हैं।

समवेत :

नमो बुद्धाय!
नमो बुद्धाय!
नमो बुद्धाय!

अदृश्य होने से पहले एकाएक प्रबल स्वर से :

प्रथम उद्.:

ओ, स्मरण करो...

संवादकों के साथ नेपथ्य मे भी भारी अनुगूँज, जो धीरे-धीरे शान्त होती है। •

समवेत :

नमो बुद्धाय!
नमो बुद्धाय!
नमो बुद्धाय!

अदृश्य होते हैं। तालवाद्य विलय।

संवाद

—रमेशचन्द्र शाह

—नन्दकिशोर आचार्य

—विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

—कन्हैयालाल नन्दन

रमेशचन्द्र शाह के साथ संवाद

शाह : **'चौथा सप्तक' की भूमिका में आपने कवि के लिए एक 'मास्क' अथवा 'पर्सोना' की जरूरत पर बल दिया है, बल्कि सच्चाई को प्रस्तुत करने के लिए उसे (मुखौटे को) अनिवार्य माना है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, यह आग्रह इस तरह आपके पहले के काव्य-चिन्तन में नहीं मिलता। तो समसामयिक रचना से आपके असन्तोष का वह कौन-सा आधार था स्पष्ट करें जिससे इस पर ज्यादा बल देने की या इस रूप में बल देने की जरूरत पड़ी?**

अज्ञेय : मैं समझता हूँ कि एक तो काव्य के बारे में जो चिन्तन हुआ उसका सहज विकास था यह। यह बात यहाँ तक ले जाकर मैंने नहीं कही, पर कैसे यहाँ तक पहुँचती है यह तो पहले जो कुछ कहा है उस पर विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा। छायावाद के बारे में मेरी जो धारणा थी उसमें यही बात मैंने कही थी कि उससे पहले का, गुप्तजी के समय तक का, काव्य एक विशेष अर्थ में निर्वैयक्तिक था और उसमें व्यक्ति के स्वर के लिए, कवि के व्यक्तित्व के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं थी। छायावाद के कवियों ने पहले-पहल कविता में कवि के व्यक्तित्व के लिए जगह बनायी। उनकी कविता में कवि की आत्मा भी व्यक्त हो सकती है, जबकि उससे पहले यही था कि कवि को जहाँ तक हो सके अदृश्य किया जाए और कविता में रीति बोले या कथा-वस्तु अगर हो तो वह बोले—कवि भरसक उसमें न प्रकट हो। पन्तजी ने तो इसीलिए स्पष्ट शब्दों में इस बात की शिकायत की थी कि 'कविता के लिए उससे पहले भाषा ही कहाँ थी?' उनका आशय यह नहीं था कि पहले कविता नहीं थी, लेकिन जिस तरह की कविता वह कहना चाहते थे, जिस में कवि का व्यक्तित्व बोले, उसके भाव भी व्यक्ति की भावनाओं के रूप में ही प्रकट हो सकें, उसके लिए भाषा नहीं रही थी। भाषा का संस्कार ऐसा हो गया था कि उस तरह की बात कुछ अटपटी या अनकहनी लगती थी। उन्होंने भाषा में व्यक्ति के स्वर के लिए जगह बना

दी और वही उसका सहज स्वर हो गया—इस हद तक कि यह प्रश्न उठने लगा कि इसमें 'मैं' कुछ जरूरत से ज्यादा बोलता है। कविता को जो कुछ छायावाद से मिल गया था, उसको छोड़े बिना अगर फिर से ऐसी सम्भावना बनानी है कि इस 'मैं' से बड़ा और भिन्न भी कुछ बोल सके, तो क्या उपाय करना होगा? कवि न केवल स्वयं बोले बल्कि दूसरे को भी बुलवा सके—यह कैसे सम्भव होगा? यह सोचे तो फिर नये सिरे से पुराने साहित्य की भी एक पहचान बनती है, क्योंकि उसमें भी एक चेहरा बोलता रहा, उस काव्य में जो चरित्र आते थे उनमें बहुत-से ऐसे थे कि उनकी मार्फत कवि अपनी ही बात कहता था। राधा और कृष्ण तक के बहाने से, उनके निमित्त से,कवि अपनी भावनाएँ भी प्रकट करता था। यानी जो शुद्ध धार्मिक काव्य है उससे अलग, भक्ति और रीति काव्य में बहुत-सा ऐसा था जिसमें कवि अपनी भावनाएँ, अपने भाव, अपने अनुभव प्रकट करता था, लेकिन राधाकृष्ण को या किसी और चरित्र को निमित्त बना कर। तो उससे मेरे सामने यह बात स्पष्ट हुई कि बड़ी बात—अपने से बड़ी बात कहने के लिए, अपने से अलग एक चेहरे की भी आवश्यकता हो सकती है। फिर मैंने यह भी पहचाना कि नाटक में भी तो बराबर यही होता है। और यहाँ तक कि नाटक में यदि कभी कोई महाशक्ति मंच पर आती है तो वह चेहरा पहन कर आती है, जबकि साधारण मानवीय चरित्र अपने मानवीय रूप में भी आ सकते हैं। एक ही नाटक में आप देखेंगे कि कोई बड़ी शक्ति आती है तो वह चेहरा पहन कर आती है और बाकी लोग साधारण मानवीय चेहरा लेकर ही अभिनय में प्रवृत्त होते हैं। तो इससे यह बात और स्पष्ट हो गयी कि चेहरे की उपयोगिता होती है।

इस सन्दर्भ में एक विदेशी रचना का, आधुनिक रचना का विदेशी प्रसंग भी मेरे मन में उभर रहा है। इसलिए मैं जानना चाहता हूँ कि आप का विचार क्या है। जैसे निर्वैयक्तिकता का आदर्श : कि कवि को स्वयं बहुत नहीं बोलना चाहिए? और अच्छी आत्माभिव्यक्ति भी—और एक तरह से काव्य को वस्तुपरकता और आत्मपरकता का द्वैत भी—हल करने की दिशा में दो विचार इस शताब्दी के अँग्रेज़ी काव्य में आये। एक तो एलियट का 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' वाला सिद्धान्त था—कि अपने से बाहर, अपनी जीवनी से बाहर, अपने जीवनगत अनुभव से बाहर या किसी स्थिति की, किसी नाटकीय परिस्थिति की, किसी कहानी की कल्पना करें और उसके जरिये आप अभिव्यक्ति

करें। और दूसरा जो है एक तरह से एलियट से बहुत ही भिन्न किस्म के आधुनिक कवि थे—येट्स—उनका : उन्होंने 'मास्क' की अवधारणा की। लेकिन इन दोनों में दार्शनिक दूरी बहुत है—एलियट के और येट्स के बीच में, 'मास्क' और 'आब्जेक्टिव कोर्रिलेटिव ' के बीच में। येट्स में तो 'फोक बायोग्राफी' का बड़ा महत्त्व है, उसकी अपनी 'सब्जेक्टिविटी', उसके अपने व्यक्तित्व का बहुत महत्त्व है। तो 'मास्क' की अवधारणा से उसकी यह बात नहीं कटती, जब कि एलियट की स्पष्टता निर्वैयक्तिक आदर्श है। तो मैं यह जानना चाह रहा था कि जब आपने आज के कवियों की रचना को देखते हुए और उनके प्रति एक आलोचनात्मक रवैया अख्तियार करते हुए उनकी कविता से या उनके रचना-दर्शन से असन्तोष अनुभव करते हुए जब इस प्रतिमान को सुझाया तो इसमें किस तरह की मुक्ति या किस तरह से बदलाव की क्या उम्मीदें, क्या अपेक्षाएँ आपकी थीं—कि रचना इस तरफ़ जानी चाहिए।

देखिए, आपने जो नाम लिये दोनों ही अपनी-अपनी जगह ठीक हैं, दोनों उपयोगी भी हो सकते हैं। अगर आपका आग्रह ऐतिहासिक वस्तु पर है या आपकी दृष्टि इतिहास को महत्त्व देती है—जैसा कि मैं समझता हूँ कि एलियट ने दिया—तो आप वस्तु-जगत् में ऐसा सम्बन्धकारक खोजते हैं जो कि आब्जेक्टिव कोर्रिलेटिव है, उसके निमित्त से आप अपने ऐतिहासिक रूप को सामने लाते हैं, ऐतिहासिक निर्वैयक्तिक रूप को। इसलिए आपको वस्तु-जगत् में ऐसे सम्बन्धों की खोज उपयोगी जान पड़ती है, आवश्यक भी जान पड़ती है, उसके माध्यम से आप अपनी बात कहते हैं। दूसरी तरफ़ जहाँ तक दृष्टि में संस्कृति पर ज्यादा जोर है—ऐतिहासिक अस्मिता पर नहीं, सांस्कृतिक अस्मिता पर—वहाँ उस आब्जेक्टिव या कि वस्तुतः कोर्रिलेटिव का महत्त्व नहीं है; वहाँ पर मास्क ज्यादा उपयोगी है। क्योंकि सांस्कृतिक वस्तु तो बाहरी होती ही नहीं, वह आभ्यन्तर ही रहती है, इसलिए वह तो चेहरा माँगती है। जो बाहरी वस्तु है, उसके लिए एक बाहरी सम्बन्धकारक भी खोजना पड़ सकता है या उपयोगी हो सकता है; वही आब्जेक्टिव कोर्रिलेटिव है। और मैं समझता हूँ कि एलियट और येट्स की दृष्टि में यह बुनियादी भेद है भी। येट्स में कहीं ज्यादा संस्कृति की चेतना है, सांस्कृतिक अस्मिता की चिन्ता है और इतिहास की नहीं है; जब कि एलियट को उतनी ही ज्यादा इतिहास की चिन्ता है।

मैं समझता हूँ कि आपकी यह बात काफ़ी विचारोत्तेजक है और मुझे सही भी लग रही है। लेकिन यहाँ पर फिर मेरे मन में यह सवाल पैदा होता है कि, जैसा आपने देखा होगा, इधर साहित्य के विचारकों में एक प्रवृत्ति लक्षित की जा रही है। आधुनिक रचना के इस पूरे दौर से ही उनको सन्तोष नहीं मिलता, उसके कारण चाहे कुछ भी हों, जायज या नाजायज कारण। उनका यह कहना है कि रचना के पिछले चालीस वर्ष जो हैं यह एक तरह का विचलन, मुख्यधारा से विचलन है और उससे पहले—नयी कविता, प्रयोगवादी कविता से पहले—हिन्दी कविता सही दिशा में चल रही थी। उनके मत से वह बड़ा सही काव्य था, लेकिन इसको जो बौद्धिक दिशा दी गयी या आधुनिक दिशा दी गयी वह सही नहीं थी। और उसका जो आतंक हुआ या जो प्रभाव पड़ा वह एक तरह से एक विचलन ही है, कविता का स्वाभाविक विकास नहीं हुआ, वह उससे कुंठित हुआ। अब सन्तुलन फिर से सही करने की बात की जा रही है। और मजे की बात यह है कि इस नये आग्रह में, इसके चिन्तन में एक तो आपके द्वारा अभी प्रस्थापित दोनों चीज़ों के—इतिहास और संस्कृति के—किसी के पक्ष या विपक्ष में तर्क नहीं है—न तो सांस्कृतिक अस्मिता के पक्ष में कोई ठोस तर्क सामने आ रहा है और न उस तरह से इतिहासविद्ध रचना-दृष्टि जो एलियट की चिन्ता थी। एलियट वाली तो उनके लिए और भी उपेक्षणीय है, और भी गलत है; क्योंकि इतिहास की चिन्ता तो उनको है, लेकिन वैसी नहीं है जैसी एलियट की है। तो इस प्रसंग में, इस आरोप या नये आग्रह के सामने आप कुछ कहना चाहेंगे?

पता नहीं इसके बारे में क्या कहा जा सकता है क्योंकि इस तरह का चिन्तन बहुत ज्यादा संगत या प्रासंगिक नहीं है। एलियट और येट्स तो दोनों कवि हैं और कविता से उनका बहुत गहरा सरोकार है, कविता की उनको चिन्ता है। जिन लोगों की बात आप करते रहे हैं उनके ऐतिहासिक चिन्तन में कविता की चिन्ता उनको बहुत कम है। एक वैचारिक तारतम्य की चिन्ता तो उनको है, लेकिन उसमें कविता कहाँ तक बचती है इसकी चिन्ता उनको नहीं है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि उसकी बहुत ज्यादा समझ भी उनकी नहीं है। और बहुत-सी चीज़ें जिनकी ये लोग प्रशंसा भी करते हैं, उनमें बहुत कम ऐसी चीज़ें हैं जिनको कविता माना जा सकता है। यहाँ तक

कि कुछ अच्छे कवियों की चीज़ें भी वे चुनते हैं तो जो उनका वास्तविक काव्य है उसको एक तरफ़ कर देते हैं और केवल जो स्वयं उनके विचार या मत-वाद से मेल खाता है उसी की प्रशंसा करते हैं।

यह तो खैर है। अभी आपने रीति-काव्य की बात कही। मुझे याद आता है बहुत शुरू में भी आपने यह जो एक तरह से प्राप्ति की समस्या है, रचने की समस्या है इसी के प्रसंग में, कवि-कर्म की दृष्टि से, व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से ऐसा महसूस किया था कि रीति-काव्य से भी कुछ सीखा जा सकता है। लेकिन अगर कथ्य के पक्ष को लिया जाए, संवेदन के पक्ष को लिया जाए तो रीति हमसे बहुत दूर जान पड़ती है। उसकी मानसिकता से, मनोभूमि से किसी तरह की सहानुभूति स्थापित करना बड़ा कठिन है। इससे जो प्रश्न का रूप मेरे मन में बनता है यह है कि क्या विगत युग की किसी ऐसी कविता या साहित्यिकता से आज का रचनाकार कुछ सीख सकता है जिससे कि उसका मानसिक तादात्म्य बिलकुल भी न हो, जिससे वैचारिक शिल्पी के रूप में सही, कुछ सीख सकता है?

सहानुभूति न हो सके? अगर आप तादात्म्य के लिए मानसिक पक्ष पर जोर दे रहे हैं तब तो उससे हो सकता है जिससे सहानुभूति तो नहीं है, लेकिन जो तर्क की दृष्टि से समान्य जान पड़ता है। बात यह है कि हम जब 'रीति युग' की बात करते हैं तो एक बात भूल जाते हैं या एक ही पक्ष पर हमारा आग्रह रहता है। रीतियों में से केवल एक रीति पर—जिसको यहाँ पर बात स्पष्ट करने के लिए दरबारी रीति भी कह सकता हूँ—दरबारी रीति पर हमारा सारा जोर रहता है। लेकिन रीति तो लोक-साहित्य में भी काम करती है—इसके बावजूद कि लोक-साहित्य का उस तरह कोई व्यक्तिगत रचयिता नहीं माना जाता।

किसी सीमा तक रीति परम्परा का एक अंग भी है—उसका साधन भी है। हाँ, उस रीति से निश्चय ही सीखा जा सकता है, उसकी पहचान भी बनी रहनी चाहिए। बल्कि हर नया आन्दोलन भी, आरम्भ में चाहे जितना विद्रोही भाव ले, जितना रीति-विरोधी मुद्राएँ अपनाये, धीरे-धीरे वह एक रीति गढ़ता है, फिर वह रीति ऐसी हो जाती है कि उसमें जड़ता आ जाती है, फिर उसके विरुद्ध आन्दोलन होता है। आज भी जो लिखा जा रहा है उसमें बहुत-सा ऐसा है कि या तो नयी रीति गढ़ने में योग दे रहा है या रीति

के अनुकूल चलने का प्रयत्न कर रहा है। वहाँ भी अपने निजी अनुभव की या कि वैसे गहरे तादात्म्य की कमी उसमें है, लेकिन रीति का निर्वाह करने का प्रयत्न है क्योंकि उससे सामाजिक स्वीकृति मिलने की आशा उसको होती है।

एक यह भी मेरे मन में प्रश्न उठता है कि साहित्य की जो भी रचनात्मक विधाएँ आज के युग में सक्रिय हैं, क्या ऐसा कहा जा सकता है—या ऐसा कहा जा सकता था—कि उपन्यास और निबन्ध ज्यादा सामाजिक विधाएँ हैं और कविता और कहानी ज्यादा आन्तरिक, ज्यादा निजी विधाएँ हैं; कि इसलिए उनसे अपेक्षाओं का धरातल भी एक जैसा नहीं हो सकता है। पहली बात तो यही कि क्या आप ऐसा मानते हैं?

आपको यहाँ टोकूँ जरा। आप कहानी को कविता से जोड़ रहे हैं और उपन्यास से अलग कर रहे हैं, यह किस आधार पर?

'फार्म' के आधार पर। मुझे लगता है कि कहानी अधिक कलात्मक विधा है और उसकी यह बड़ी भारी सीमा भी है।

या तो आप तीनों को अलग-अलग मान लें—उपन्यास से कहानी को तो अलग करें, लेकिन फिर कविता के साथ उसको कैसे जोड़ते हैं?

कविता के साथ इसलिए जोड़ता हूँ क्योंकि कहानी को एक प्रसंग विशेष, क्षण विशेष पर बहुत एकाग्र करना होता है। एक कौंध सरीखी लपट-सी उसमें...

लेकिन फ़र्क़ यह है कि कहानी में जरूर कुछ घटित होना चाहिए, जबकि कविता में कुछ घटित नहीं होता, कविता स्वयं घटित होती है।

हाँ, इतना अन्तर तो है ही। सिर्फ रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से मुझे ऐसा लगा कि शायद 'पर्सनल से', कहानी और कविता ज्यादा निकट की चीज़ें हैं: और उपन्यास, नाटक शायद ज्यादा...

पर्सनल ऐसे तो जरूर कविता के निकट होता है। कहानी उधर भी हो सकती है और दूसरे छोर पर उपन्यास के निकट भी जा सकती है।

चलिए, यह मैं मान लेता हूँ। तो मैं यह पूछ रहा था कि जैसे कविता की या कि साहित्य मात्र की दो प्रकार की अपेक्षाएँ हैं—जितनी भी परिभाषाएँ हैं उनको मिला कर देखो तो दो प्रकार की अपेक्षाएँ सामने आती हैं। सारी परिभाषाओं का सार जो निकलेगा यह

निकलेगा कि साहित्य जीवन की आलोचना है। एक तो यह निकलता है, दूसरे यह निकलता है कि नहीं, साहित्य एक छिपे हुए जीवन का, जीवन के उस मर्म का जो कि जीवन जीते हुए नहीं देखा जा सकता न अनुभव किया जा सकता है—कि साहित्य उस मर्म का उद्घाटन करता है; जीवन के हार्द में जो जीवन-प्रक्रिया है, उसका जो स्वरूप है उसको उद्घाटित करता है। तो ऐसा माना गया, जैसा मैंने कहा, कि ये दो ज्यादा सामाजिक विधाएँ हैं, ज्यादा समाज-निर्भर विधाएँ हैं, उपन्यास और कहानी। और कविता जो है वह जीवन के छिपे हुए मर्म को उद्घाटित करने वाली या अज्ञात का पता देने वाली है। क्या आप ऐसा मानते हैं।

और उसके साथ जुड़ा हुआ छोटा-सा प्रश्न यह कि क्या आप ऐसा समझते हैं कि आधुनिक रचना में यह बात काफ़ी दूर तक अप्रासंगिक हो गयी है और एक तरह से उलट कर कविता वह धर्म निभाने लगी है और उपन्यास यह धर्म निभाने लगा है?

लेकिन क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि इस तरह का विभाजन तर्क की सुविधा के लिए किया जाता है? क्योंकि वास्तव में तो 'जीवन की आलोचना' और 'जीवन के किसी गहरे मर्म का उद्घाटन या प्रकाशन', ऐसा तो नहीं है कि एक से दूसरा बिलकुल बहिष्कृत हो जाता है। दोनों साथ चलते हैं। असल में मानव की चेतना कितने स्तरों पर एक साथ काम करती है इसकी अहम उपेक्षा करें तभी इस तरह का विभाजन आत्यन्तिक जान पड़ता है; नहीं तो लगातार हम गहराई में देखते हुए आलोचना भी कह रहे होते हैं और आलोचना कर रहे होते समय भी गहराई में देख रहे होते हैं। एक समय हमारा ध्यान एक तरफ़ केन्द्रित होता है या दूसरी तरफ़ केन्द्रित होता है, लेकिन प्रक्रिया में तो सभी चीज़ें साथ चलती रहती हैं। हम जीते भी हैं, और जिये हुए को याद भी करते हैं, और अर्थ भी खोजते हैं जो अर्थ हमें मिलता है उसकी आलोचना भी करते हैं—आलोचना के आधार पर अर्थ खोजते हैं और खोज के आधार पर आलोचना करते हैं। ये इतनी ज्यादा साथ-साथ चलने वाली क्रियाएँ हैं कि विचार करने के लिए, सुविधा के लिए, हम उनको अलग करते हैं, लेकिन वास्तव में तो वे उतनी अलग नहीं होतीं। यह बात मैं आपकी मानता हूँ कि इस प्रकार की विचार की दो धाराएँ रहीं—एक जिसमें एक पक्ष पर बल दिया गया, दूसरी जिसमें दूसरे पक्ष पर बल दिया गया, लेकिन आत्यन्तिक रूप से ये अलग हैं नहीं। एक हद तक

उनकी उपयोगिता है, बस। इतना ही मुझे लगता है। यह तो मैं नहीं मान सकता कि ऐसा उपन्यास नहीं हो सकता, या नहीं होता या नहीं होना चाहिए, जो कि गहराई से जीवन के ऐसे किसी मर्म का उद्घाटन करना चाह रहा हो जो साधारणतया हमारे सामने नहीं आता; या कि दूसरे पक्ष में काव्य जीवन की आलोचना न कर रहा हो।

क्या दो-टूक ऐसा सवाल सार्थक होगा कि आज आपको सबसे ज्यादा सम्भावनाएँ या सबसे ज्यादा जीवन्तता किस विधा में दिखाई देती है—हिन्दी में ही?

एक तो इसका सामान्य उत्तर है—कि सम्भावना सिद्धान्ततः हमेशा काव्य में ज्यादा जान पड़ती है। दूसरे यह होता है कि समय-समय पर समाज की जैसी अवस्था होती है या कि समाज के संवेदन का जो स्तर होता है, या कि किसी समय के जो रचनाकार होते है उनकी प्रवृत्ति जिधर होती है उससे अन्तर पड़ता है। इस दृष्टि से मुझे लगता है कि इस समय नाटक में कुछ नया काम भी हो रहा है और कुछ यह अनुभव भी सभी कर रहे हैं कि नाटक की सम्भावनाओं का पूरा उपयोग नहीं किया जाता रहा। पिछली दो तीन पीढ़ियों में तो उधर ज्यादा जोर है, उसमें विकास की भी ज्यादा सम्भावना है।

लेकिन अभी थोड़ी देर पहले पिछले प्रश्न में, आपने नाटक को भी शायद उपन्यास के साथ रख दिया था। जबकि मैं तो सोचता हूँ कि अगर नाटक को दूसरी तरफ़ रख कर—काव्य के साथ जोड़ कर विचार करें तो मुझे लगता है कि उसमें बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं जिनका उपयोग लगभग नहीं किया गया।

यही प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों नहीं हुआ। नाटक तो लिखे गये—बहुत सारे नाटक लिखे गये लेकिन किसी ने भी—जबकि यह सही है कि 'अन्धा युग' चाहे जिस कोटि का पद्य-नाटक हो, वह मंचित होकर सफल तो हुआ—लेकिन तब से क्यों नहीं जरूरत समझी गयी 'पोएटिक ड्रामा' की? जो कि निश्चित रूप से कविता में भी, नाटक में भी, एक गुणात्मक अन्तर उपस्थित करता—अगर पद्य-नाटक या गीति-नाटक में रचना होती तो। इसका कोई कारण आपके ध्यान में आता है कि ऐसा क्यों नहीं हुआ होगा? पहली बात तो यह कि हिन्दी में शुरूआत में नाटक का जितना आकर्षण था—शुरू-शुरू में नाटक बड़े आकर्षण का

केन्द्र था, भारतेन्दु का सबसे ज्यादा उत्साह, सब से ज्यादा सर्जनात्मक ऊर्जा उसी में झलकती है—नाटक की शुरूआत तो बड़ी उत्साहपूर्ण थी, लेकिन उसके बाद तो बिलकुल चौपट हो गया नाटक ही।

देखिए, अगर आप भारतेन्दु के समय के नाटक की बात कर रहे हैं तो उसको संस्कृत की नाट्य-परम्परा के सन्दर्भ में देखना चाहिए या कि पारम्परिक नाटक के साथ देखना चाहिए। भारतीय नाट्य-परम्परा में यथार्थवादी नाटक का कभी महत्त्व नहीं रहा। एक-आध नाटक ऐसा हो सकता है जिस में कि नाटककार इस तरफ़ गया हो—मुद्राराक्षस जैसा या एक हद तक मृच्छकटिक जैसा भी—लेकिन यथार्थ जो दीखता है उसके पीछे जो ज्यादा गहरा कोई आशय छिपा हुआ रहता है उसको प्रकट करने या उसका उन्मेष करने की ओर नाटककार का ध्यान रहा। मैं समझता हूँ कि समकालीन नाटक—और शायद पूर्वी परम्पराओं से प्रभावित पश्चिमी परम्परा से वापस प्रभावित होता हुआ नाटक—फिर इस ओर थोड़ा आकृष्ट हुआ है कि यथार्थ की यथार्थवत् प्रस्तुति का आग्रह छोड़कर भी चला जा सकता है। बल्कि नाटक में कभी यह प्रयत्न होता ही नहीं कि चीज़ों को विश्वसनीय रूप में यथार्थवत् प्रस्तुत किया जाए। और ब्रेष्ट ने ही शायद इस बात पर पश्चिम में पहले-पहल इतने जोरों से आग्रह किया कि हम तो यह बोध मिटने ही नहीं देना चाहते हैं कि जो आप देख रहे हैं वास्तव में घटित नहीं हो रहा, यह नाटक ही है। तो यह पहचान पश्चिम में यथार्थवादी नाटक की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई, लेकिन उनको प्रेरणा पूर्वी परम्पराओं से मिली थी—चीन की, या जापान की या भारत की परम्परा से। और क्यों कि उन्हें इधर से प्रेरणा मिली, इसलिए यहाँ का जो उस समय यथार्थवादी नाटक पर आग्रह करनेवाला भारतीय नाटककार था, उसने एक बार फिर उस अपनी परम्परा की ओर देखना भी गवारा किया। और अभी व्यवहार में यह बात नहीं उतरी है कि आप नाटक को 'दृश्य काव्य' मान कर कविता के निकट ला सकते हैं; लेकिन सिद्धान्ततः यह बात मानी जाती है, और लोग इसका कुछ अनुभव भी करने लगे हैं। शायद यही कारण है कि अभी वास्तव में काव्य-नाटक फिर से प्रकट नहीं हुआ है, होना चाहिए। अन्धा युग भी सफल तो हुआ, लेकिन उसमें भी जो उसकी वस्तु है—महाभारत से ली गयी—उसमें इतनी शक्ति है कि वहाँ नाटक के काव्य-रूप का भी उपयोग हो रहा है इस बात की ओर कम ध्यान था; उससे आगे क्या सम्भावनाएँ बनती हैं इसकी ओर भी बहुत कम ध्यान था। धर्मवीर भारती ने

भी उससे आगे फिर नाटक नहीं लिखा, और दूसरे लोगों ने भी नहीं। बल्कि पुराना-वस्तु से भी—जिसमें इस तरह का शक्ति संचय होता है जिसका उपयोग किया जा सकता है—लेकर कम ही लिखा। उससे पहले तो कुछ लोगों ने लिखे थे—खंडकाव्य लिखे थे या छोटी नाटिकाएँ लिखी थी, ऐसे खंडकाव्य जिनका मंचीय रूपान्तर बड़ी आसानी से हो सकता था, लेकिन उसके बाद यह नहीं हुआ। शायद कठिनाइयों में एक कारण भाषा से सम्बद्ध भी है। प्रसाद की भाषा हम लोग अब स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह साहित्यिक भाषा है, बोल-चाल की भाषा नहीं है। यह ज़रूरी नहीं है कि मंच की भाषा आज की बोल-चाल की भाषा ही हो, लेकिन अगर आप वस्तु की दृष्टि से भी बिलकुल नया कुछ कर रहे हैं तो फिर यह प्रयत्न होता है। एक चीज़ नयी कर रहे हैं तो उसके लिए जो चीज़ उतनी नयी नहीं है, परिचित है, उसको आधार बनाया जाए—सभी कुछ अपरिचित हो जाएगा तो और अधिक कठिनाई होगी। इसलिए भाषा में तो आग्रह यह रहता है कि आज की बोल-चाल के निकट रहे और वस्तु में कुछ उड़ान भी भरते हैं। जबकि अगर वैसी वस्तु है तो वह माँग करती है कि भाषा भी उसके अनुकूल होनी चाहिए। इससे थोड़ा डरते हैं लोग, हालाँकि कोई कारण नहीं है। मेरा तो जैसे पाठक में विश्वास है वैसे ही रंगमंच के दर्शक में भी विश्वास है कि उसको आप साथ ले चल सकते हैं और वह इस साहस-यात्रा में आपके साथ चलने को तैयार होगा; आपमें इतना सामर्थ्य होना चाहिए कि आपको साथ ले चल सकें।

लेकिन एक बात तो है। जैसा आपने कहा, इधर नाटक में काफ़ी नयी रचना हो रही है, लेकिन जो भी नयी रचना हो रही है नाटक में, उसमें जिसे आप यथार्थवादी कह रहे हैं वही प्रवृत्ति प्रमुख है। इसलिए इस नाटक-बहुलता से नाटक का या यथार्थ का भी कोई खास भला नहीं हो रहा है। इसी के साथ एक बात यह भी पूछना चाहूँगा कि क्या आप समझते हैं कि नाटक को अब भी संस्कृत की नाटक-परम्परा की दृष्टि से देखना चाहिए? यथार्थ के प्रति जिस प्रकार का दृष्टिकोण वहाँ था—गैर-यर्थावादी ढंग से यथार्थ को उजागर करना—क्या आप मानते हैं कि भारतीय मानस या साहित्य के साथ अब भी उसका सम्बन्ध वैसा ही है? या कि हिन्दी में संस्कृत की परम्परा से भिन्न एक-दूसरे प्रकार का मानस हो गया है, अधिक यथार्थवादी मानस—उसकी यथार्थ को देखने

की या साहित्य में यथार्थ को ग्रहण करने की दृष्टि ही बदल गयी है?

ऐसा तो मैं नहीं मानता हूँ। मानव-स्वभाव इतना नहीं बदल गया है इसके बावजूद कि...

मानव-स्वभाव नहीं सांस्कृतिक स्वभाव।

नहीं, मैं नहीं समझता कि वह इतना बदला है। बात सन्दर्भ में ही रखिए। यह तो मान लेता हूँ और यह देखता भी हूँ कि बहुत-सी चीज़ों पर तो यथार्थवादी आग्रह है क्योंकि सांस्कृतिक मूल्यों में उस तरह का बदलाव आया है। लेकिन अप्रकट या अप्रकाशित ही सही, इस तरह की माँगें व्यक्ति में हैं—और दबकर उनमें शायद एक शक्ति का संचय कुछ अधिक हो गया है—जो अधूरी रह जाती है और जिनको इस तरह का नाटक पूरी कर सकता है। आपने कहा कि इधर जो नाटक लिखे जा रहे हैं वे सब यथार्थवादी आग्रह के अनुरूप ही हैं। एक तो यह बात ध्यान में रखिए कि नाटक की परम्परा विशेष रूप से हिन्दी में लगभग मिट ही गयी थी। एक तो पहले नाटक को फिर से समाज में कोई स्थान दिलाना है, जो अब फिल्म और टी.वी. की प्रतियोगिता में आसान काम नहीं है। यह नहीं है कि फिल्म या टी.वी. नाटक की आवश्यकता को बिलकुल मिटा दे सकते हैं; लेकिन इस काम को कठिन वो जरूर बना देते हैं। फिर यह भी है कि उसको फिर से स्थापित करने के लिए आपको शायद ऐसा भी करना हो—या कम से कम यह तर्क आकर्षक जान पड़े—कि पहले जो सामान्य फिल्म देखने वाला है और जो सम्भाव्य नाटक देखने वाला हो सकता है, पहले उसकी रुचि को ध्यान में रख कर आप वास्तविकता को या कि जीवन के बहिरंग को प्रस्तुत करें जिसके सहारे वह आगे बढ़ सकता है, और जिस दूसरे प्रकार के नाटक की बात हो रही है (जो यों भी अल्पसंख्यक और ज्यादा संस्कारी दर्शक के काम का हो सकता है), उस पर बाद में ध्यान देंगे। लेकिन मैं समझता हूँ कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है, दोनों साथ ही साथ चलने चाहिए। यह मान कर भी कि उस तरह के संस्कारों वाला व्यक्ति समाज में अल्पसंख्यक होगा, लेकिन समाज की मूल्य-दृष्टि की स्थापना में उसका महत्त्वपूर्ण योग होता है और कुछ साहस करके आगे बढ़ने की प्रवृत्ति भी उसमें ज्यादा हो सकती है। इसलिए उसकी संख्या कम होने के कारण ही उसको इतना हेय नहीं मान लेना चाहिए। तो काव्य नाटक के लिए जगह है और यह लिखा जाना चाहिए, लिखा ही नहीं

प्रस्तुत किया जाना चाहिए, ऐसा मैं मानाता हूँ।

अब इस बात को थोड़ा-सा एक दृष्टान्त की मदद से देखें। उन दो-चार नाटकों में जिनमें यह महसूस किया जा सकता है कि यथार्थ से उस तरह का सम्बन्ध बना, गैर-यथार्थवादी नजरिये से—जो सिर्फ सतही यथार्थवादी नाटक नहीं है—जैसे 'हयबदन'—उनसे भी एक दूसरी तरह का असन्तोष मन में होता है। आप को ऐसा लगता है कि यहाँ 'बैताल पच्चीसी' की उस कहानी के साथ वैसा सीधा सम्बन्ध नहीं है, बल्कि एक अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यों तो कहा जा सकता है कि यह स्वाभाविक ही है; कि हम बहुत-सी अपनी चीज़ों को अगर ज्यादा प्राणवान सभ्यता से परावर्तित हो गए रूप में ग्रहण करते हैं तो इस में बुरा क्या है? उस तरह से उसमें बुरा कुछ नहीं है। लेकिन एक रचनाकार के लिए, एक नाटककार के लिए आखिर 'हयबदन' नाटक देखने वाला भी उसके प्रति किस तरह से प्रतिक्रिया करेगा? वह शायद एकाएक दोनों का सम्बन्ध ही न देखे—ज़रूरी नहीं है कि उसको अतीत की उस कहानी की याद उस सन्दर्भ में आये ही। क्या आप नहीं समझते कि 'हयबदन' की समस्या मनोवैज्ञानिक स्तर पर 'रेड्यूस' हो गयी है, जबकि मूल कहानी की टैकार ज्यादा है।

मूल कहानी की बात आप कहते हैं तो उसके और हयबदन के बीच एक सीढ़ी तो और है—और वह भी पश्चिमी सीढ़ी है।

वही मैं कह रहा था। 'ट्रांसपोज़्ड हेड्स' के जरिये ही मैं बात कर रहा हूँ।

लेकिन उससे क्या होता है? जिसको आप सीधा सम्बन्ध कहते हैं, साहित्य से तो वैसे सीधे सम्बन्ध कभी बनते नहीं हैं। अगर कभी सीधा सम्बन्ध बनता भी है तो उससे परे उसके जो अकल्पित, अप्रत्याशित और शायद अपूर्वानुमेय प्रभाव होते हैं वही तो ज्यादा महत्त्व रखते हैं। कोई प्रभाव किस-किस तरह काम करेगा, यह बहुत कुछ तो ग्रहीता पर निर्भर करता है, उसके समाज पर निर्भर करता है। तो इसकी इतनी अधिक चिन्ता क्यों होनी चाहिए कि सीधा प्रभाव हो या सीधा सम्बन्ध बने?

देखिए, यह दो स्तरों पर 'डेरिवेशन' हो जाता है। जिस प्रकार का सम्बन्ध किसी भी 'मिथ' से आप जोड़ते हैं तो वह क्यों जुड़ता है? आपको अपनी आत्म-स्थिति की कोई परिभाषा या कोई स्पष्टतर

व्याख्या या कोई उजाला मिल सकता है इसीलिए तो...

न, न; यह कारण नाकाफ़ी है। जुड़ता इसलिए है कि एक तो आपको सीधा सम्बन्ध दीखता है। दूसरे उसके साथ-साथ बहुत-से स्वयं अपने में अलक्षित या कम से कम अनभिव्यक्त प्रश्नों के साथ उतने ही अनभिव्यक्त उत्तर या कि अलक्षित आयाम जो कि कथा में या पुराण-वस्तु में हैं वे भी जुड़ते जान पड़ते हैं। तो एक स्तर पर जो प्रकट है उसका प्रकट वस्तु से सम्बन्ध होता है। दूसरे स्तर पर एक पहचान उभरती है कि इसके नीचे मुझमें कुछ छिपा हुआ था जो कि इस कथा के पीछे छिपे हुए के साथ अपना सम्बन्ध बना रहा है। वह सम्बन्ध ठीक-ठीक क्या है, उसको हम सीधे-सीधे शब्दों में नहीं कह सकते; लेकिन जानते हैं कि एक और स्तर पर सम्बन्ध बन रहा है। और उसकी शक्ति असल में वही है, और वहीं पर है।

क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि लिखे हुए शब्द की बजाय बोले हुए शब्द के प्रति ही आज भी हमारी जनता, साधारण पढ़े-लिखे लोग भी ज्यादा संवेदनशील हैं? क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि जिसे कहते हैं 'लिटरेरी कल्चर', साहित्यिक संस्कृति, साहित्य के प्रति ज्यादा रुझान, ज्यादा व्यसन—वैसा आज भी नहीं हो पाया है?

एक हद तक तो हमेशा ऐसी स्थिति रही है। मेरा खयाल है कि कोई नयी बात अगर है तो यही है कि हम एक बार फिर से पहचान रहे हैं इस बात को। नहीं तो पढ़े-लिखे व्यक्तियों में भी हमेशा वाचिक अभिव्यक्ति का महत्त्व रहा है।

आपकी नजर में क्या यह सम्भव है कि कोई आदमी समाजवादी भी हो और जीवन-जगत के प्रति अत्यन्त धार्मिक दृष्टिकोण रखना भी उतना ही अनिवार्य पाये? क्या इसमें परस्पर विसंगति नहीं है?

विसंगति तो हो सकती है। लेकिन विसंगति हो हमेशा सम्भव है न! ऐसा होना सम्भव है, यह तो हम प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं—क्योंकि अधिकतर समाजवादी तो ऐसे ही हैं। और उतनी गहरी विसंगति भी तो नहीं है—कुछ एक विशेष प्रकार के समाजवादियों को छोड़कर। समाजवादी होना ज़रूरी तौर पर धर्म से कटे हुए होना है, यह तो सिद्ध नहीं होता। लेकिन समाजवादी के मूल में अगर भौतिकवाद हो और उस भौतिकवाद के मूल में अनीश्वरवाद हो, तब तो यह सवाल उठ सकता है।

मैं इसी सवाल को दूसरे रूप में रखूँ। क्या समाजवादी होना एक 'नो-मैन्स लैंड' में होना नहीं है। अगर समाजवाद की उसकी तार्किक परिणति पर ले जाते हैं तो वह मार्क्सवाद या कि कम्युनिज़्म हो जाता है। उसका एक धर्म जैसा तन्त्र है और उसी अनिवार्यता के साथ वह उसको लागू करता है। तो मुझे लगता है कि जो कम्युनिस्ट होता है उसको एक प्रकार के धार्मिक भावावेग का और 'कमिटमेंट' का भी लाभ मिल जाता है और उसकी शायद धार्मिक वृत्ति भी कुछ सन्तुष्ट हो जाती होगी।

अब आप उसको उसका लाभ कहिए या कहिए कि उसके जिस तरह के पूर्वग्रह होते हैं, या कि असल में तो उसकी कमजोरी है इस तरह का धार्मिक मताग्रह, वह भी उसके काम आ जाता है। इस अर्थ में तो उसको लाभ मिल जाता है। या कि वह उसका उपयोग कर लेता है; इसके लिए एक बहाना या रास्ता पा लेता है कि उतना ही कट्टर मताग्रह भी बना रहे जो कि मतवाद के साथ होता है और साथ ही साथ बुद्धि का,तर्क का आग्रह भी निभ जाए। लेकिन समाजवादी के जो मूल्य हैं उनके लिए जरूरत तो नहीं है कि आप ईश्वर को या आत्मा को अमान्य करें। क्यों ज़रूरी है? यह भी ज़रूरी नहीं है कि उसकी मार्क्सिस्ट परिणति ही हों।

साहित्य में भी जितना समाजवाद प्रतिफलित हुआ है उसका दृष्टान्त अगर आप लें तो बर्नार्ड शॉ में, या कि '1984' के लेखक तक को लें—ऐसा एकाएक नहीं कह सकते कि यह धार्मिक दृष्टि...

हाँ इतना जितना राजनीतिक समाजवाद इतिहास का आधार लेकर प्रतिफलित हुआ है, वह एक है। लेकिन अगर आप देखें कि किन लोगों ने वैसा जीवन जिया और समता के आदर्श निबाहे, तो आप पाएँगे कि उनमें सन्त लोग बहुत थे।

हाँ, यह बात तो है। लेकिन अब यहीं पर बुनियादी सवाल खड़ा होता है कि क्या समाजवाद की मूल प्रेरणा इतिहासवाद से ही नहीं निकलती है? अगर नहीं निकलती है तो फिर आप यह कह रहे हैं कि इतिहास को बहुत महत्त्व न देने वाली जो परम्पराएँ हैं उनमें भी समाजवाद का एक नया चिन्तन, एक भिन्न प्रस्थान प्रकट हो सकता है।

हाँ, यही कह रहा हूँ कि ऐसा हो सकता है। और समाजवाद के जितने भी मूल्य हैं वे सब वहाँ से भी सिद्ध हो सकते हैं उस आधार पर भी एक

समतावादी समाज सिद्ध किया जा सकता है और जिया जा सकता है, ऐसा समाज जिसमें कि सरकार की पीठिका नगण्य हो या कि क्रमश : अधिकाधिक नगण्य होती जाए।

इस पर फिर मेरे दिमाग में यह सवाल, प्रतिप्रश्न पैदा होता है कि क्या यह समाजवाद की नयी कल्पना या नया आधार, दर्शन जो प्रस्तुत होगा, वह कहीं पश्चिम में जैसे समाजवाद के शुरू के जो चिन्तक थे, जिनको 'यूटोपियन' कहते थे, यह क्या उधर जाएगा? या उससे किस तरह से भिन्न होगा?

आप कह लीजिए। आज हम जिस दुनिया में जी रहे हैं उसमें समता पर आधारित समाज तो एक यूटोपियन कल्पना ही है। ऐसा कोई समाजवादी देश नहीं है जहाँ पर कि वास्तव में वैसी समता होती हो, वैसी स्वाधीनता होती हो, जिसकी उन लोगों ने कल्पना की थी। सिद्धान्ततः समाजवादी भी उनकी बात तो करते हैं लेकिन ऐसे ही भविष्य में करते हैं। तो भविष्य में ऐसा हो जाएगा जब कि हमारी सारी प्रवृत्तियाँ उसके विरुद्ध हैं—यह तो एक तरह का यूटोपियन चिन्तन है ही। उनलोगों को आप यूटोपियन कहते हैं क्योंकि उनकी कल्पना का देश कहीं नहीं है। देश तो आपकी कल्पना का भी कहीं नहीं है, पर आप का दावा है कि एक काल्पनिक काल में वह जरूर वास्तविक होगा। स्वप्न-काल वैज्ञानिक है, स्वप्न-देश काल्पनिक, यह कहने का क्या आधार है? लेकिन अपने देश में गाँधी जी ने जिस तरह का चिन्तन किया था और उनके बाद उसी दिशा में थोड़ा-बहुत विचार हुआ और पश्चिम में इधर परिवेश को लेकर या इकालार्जी की समस्याएँ उठा कर जिस तरह का चिनतन हुआ है वह भी एक हद तक आप कह सकते हैं कि यूटोपियन है। पर मूल्यों की अवधारणा करनेवाला मानव आदर्श क्यों नहीं गढ़ सकता?

लेकिन पहले वाले 'यूटोपियनिज़्म' से तो वह भिन्न होगा ही। तो क्या इसमें वास्तविक परिस्थितियों की चुनौती है?

उससे तो भिन्न है। और उसके साथ यह आशा भी है, यह बोध भी है कि यद्यपि अभी तक यह एक कल्पना है लेकिन अगर हम इस कल्पना को साकार करने की तरफ़ अपना प्रयत्न नहीं बढ़ाते तो क्रमशः हमारी अवस्था हीन और हीनतर ही होती जाएगी।

क्योंकि आखिर गाँधीजी की जो रामराज्य वाली कल्पना थी वह खाली एक धार्मिक 'सेंटिमेंट' नहीं था। उनके शेष कर्म से मिलाकर

देखने के लिए एक प्रेरणाप्रद विचार तो था ही। यह तो दूसरे चिन्तकों का, जो अपने को चिन्तक समझते हैं उनका दायित्व है कि वे अपने को विकसित करें। तो आपको समाजवादी चिन्तक ऐसे लगते हैं कि उन्होंने गाँधीजी के विचार को या गाँधीजी की दिशा के विचार को भारतीय परिस्थितियों के मुताबिक सामाजिक समता के विचार को विकसित किया हो आज की बौद्धिक जटिलताओं के बीच में—सांस्कृतिक जटिलताओं के बीच में —सांस्कृतिक जटिलताओं के बीच में?

मुझे तो यह लगता है कि आपने जिन यूटोपियनों की बात की—उस समय के यूटोपियन और उस समय के अनार्किस्ट, जो अराजकतावादी थे, अब आज फिर से वे तो नहीं आएँगे। लेकिन आज चिन्तन की जो नयी दिशा है वह भी कुछ अनार्किस्ट नहीं तो कम से कम राज्य-विरोधी तो है ही और उस हद तक यूटोपियन भी है। एक तो बात यह है कि आप भविष्य की कल्पना करके उसके आधार पर वर्तमान को बदलते हैं तो यह यूटोपियन मार्ग ही है। और वर्तमान का संकट देखकर आप एक भविष्य की कल्पना करते हैं और हमेशा वर्तमान पर आग्रह करते हुए ही यह सोचते हैं कि हमें ऐसा भविष्य नहीं चाहिए, ऐसा चाहिए— तो हमारा वर्तमान में कुछ दूसरी तरह का प्रयत्न होता है। और मैं समझता हूँ कि आज इकालाजी को लेकर जो चिन्ता है वह वर्तमान परिस्थिति में से ही निकली हुई चिन्ता है।

इसके अलावा क्या आपको ऐसा नहीं लगता है कि यह जो 'यूटोपियनिज़्म' है या कि भविष्य की कल्पना करने की आदमी की मूल किस्म की प्रवृत्ति है, उसके दो रूप हो सकते हैं—एक तो वह जो कि इतिहास को महत्त्व देने वाला रूप है और दूसरा वह जो अनैतिहासिक मानसिकता या अनैतिहासिक दृष्टि का भी 'यूटोपियनिज़्म' हो सकता है, यानी हेनरी मूर जैसा 'यूटोपियन' या प्लेटो जैसा 'यूटोपियन'। उसके भीतर दूसरी चिन्तनात्मक या कार्मिक सम्भावनाएँ हो सकती है, और रामराज्य जैसा जो कान्सेप्ट है उसकी दूसरी प्रवृत्ति भी हो सकती है।

अब बातचीत तो साहित्य से ही शुरू हुई थी और साहित्यिक समस्याओं की ही चर्चा हम लोग कर रहे थे। फिर एकाएक हम लोग वैचारिक समस्या में खास तौर पर राजनीति में चले गये। तो इन दोनों को मिलाते हुए इसका समापन किया जाए। इस परिस्थिति

का क्या कारण है कि राजनीति में जो दल या जो दर्शन सब से कम फलवान सिद्ध हुआ या सब से कम जिसकी जड़ बन पायी, साहित्य में उसका एक घटाटोप-सा दिखाई देता है?

कैसे?

जैसे यही कि आज जो भी पत्रिकाएँ—पहली बात तो यही कि बुरे सेंस में विकेन्द्रीकरण हो गया है, कोई पत्रिकाएँ नहीं हैं, कोई केन्द्रीय रुचि की या ऐसी पत्रिका जिसमें छप कर आदमी को यह लगे कि किन्हीं साहित्यिक मानकों के आधार पर उसकी रचना को स्वीकार किया गया है या कि जिसमें छपना युवा लेखक के लिए उस तरह का सन्तोष दे सके। लेकिन जो भी पत्रिकाएँ आपके पास हैं, आज कोई भी पत्रिका उठा कर देखिए तो उसमें जिस प्रकार के यथार्थवादी आग्रह काम कर रहे हैं—हर लेखक कहीं न कहीं मार्क्सवाद के आतंक में है या उसके प्रभाव में लिख रहा है। अब यह वास्तविकता है कि नहीं पता नहीं, लेकिन ऐसा भ्रम तो आखिर खड़ा हो ही जाता है। लेखकों के ही संगठन भी—(पहले हुए भी होंगे, लेकिन एक प्रकार से यह 'रिसर्जेंस' ही है) प्रगतिशील संगठन, जनवादी संगठन, लेखकों केऔर संगठन भी—एक तरह से राजनीतिक पार्टी के 'विंग' की तरह ही बन रहे हैं। तो एक ऐसी स्थिति सामने है कि लगता है इसको अगर साहित्य का प्रमाण माना जाए तो किसी बाहर के आदमी को ऐसा भ्रम हो सकता है कि जैसे कि देश में सबसे प्रचलित, लोकप्रिय और प्रभावी राजनीतिक-दर्शन 'कम्युनिज़्म' ही है।

देखिए, उनका तो चिन्तन यही है कि संघर्ष के अनेक मोर्चे है जिनमें एक मोर्चा लेखन वाला है; उनको भी मोर्चे की तरह से संचालित करना है। इसका भी उपयोग उनके उन्हीं उद्‌देश्यों के लिए करना है जो कि साहित्यिक उद्देश्य नहीं है। तो वे जो कर रहे हैं वह उनके दर्शन के भीतर तो समझ में आता है। आप नये लेखक की बात सोचें जो उस दर्शन से परिचित नहीं है या उसका मानने वाला नहीं है; तो वह भी कुछ उधर झुकता है तो इसलिए नहीं कि उसकी वास्तविक सहानुभूति उधर होती है। उसे कोई रास्ता नहीं मिलता, और इस तरफ़ दीखता है कि 'अगर मैं इसके साथ जुड़ जाऊँ तो सफलता का या लोगों के सामने आ जाने का एक उपाय यहाँ से मिल सकता है और यहाँ से मुझे अभिव्यक्ति का एक माध्यम भी मिल

जाएगा और थोड़ी-बहुत प्रशंसा भी मिल जाएगी', तब... इस समय तो यही हो रहा है। सम्भव है कि बाद में यह प्रभाव उसके चिन्तन पर भी पड़े—या इससे उलटा भी हो—लेकिन पहले सफलता पाने के लिए या कि लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए एक उपयोगी और तात्कालिक रास्ता उसको इधर दीखता है। कह सकते हैं कि यह तो उसके द्वारा एक परिस्थिति का उपयोग है और इस संगठन के द्वारा उसकी प्रतिभा का उपयोग है। यह दो-तरफ़ा दोहन तो हो रहा है। साहित्य के लिए यह कोई बहुत स्वस्थ स्थिति नहीं है, यह तो स्पष्ट है। स्वस्थ स्थिति वह होती है जिस में कुछ-एक पत्रिकाएँ नहीं तो कम से कम एक पत्रिका ऐसी हो जिस का यह दावा हो कि साहित्य के अमुक मानदंड हैं—इस तरह का पत्र बहुत अधिक तो नहीं, लेकिन थोड़ा-सा अनुदार तो होगा ही क्योंकि उसको प्रतिष्ठित परम्पराओं पर आग्रह करना है—एक ऐसी पत्रिका हो और लोग मानते हों कि यह प्रतिष्ठित पत्रिका है; और दूसरी तरफ़ अनेक छोटी-छोटी पत्रिकाएँ ऐसी हों जो इसके विरुद्ध आग्रह कर रही हों कि नहीं, ये प्रतिमान अब पुराने पड़ गये हैं और हमें उनको बदलना चाहिए, और लगातार उस पर सब तरफ़ से छोटे-मोटे आक्रमण भी करती रहें और ऐसी नयी रचनाएँ प्रस्तुत करती रहें जो उनके विद्रोह का समर्थन करें। साहित्य के लिए यह स्वस्थ स्थिति होती है कि एक तरफ़ प्रतिमान हो, प्रतिमानों का एक आग्रह हो; और उसके विरुद्ध अधैर्य भी हो। वह तनाव सर्जनात्मक होता है। जब वैसे प्रतिमान कोई रहें ही नहीं और विरोध का हल्ला हो तब तो एक तरह की अराजकता होती है जो कि स्वस्थ नहीं है। वैसी अराजकता की स्थित में हम आ गए थे। और उसमें यह एक दूसरा अनुशासन आया है जो कि बाहर का अनुशासन है, राजनीति का अनुशासन है; जो इस परिस्थिति का उपयोग अपने राजनीतिक हित के लिए कर रहा है। यह तो स्वस्थ स्थिति नहीं है, वास्तविक स्थिति जरूर है। और अगर लोग समझ सकते हैं कि ऐसा हो रहा है तो नया लेखक भी शायद यह समझ सकता है कि उसका इस्तेमाल दूसरों के साहित्येतर उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है और उसके प्रति सतर्क हो सकता है। लेकिन आज लोग जल्दी में तो रहते ही हैं और उनको जल्दी कुछ न कुछ परिणाम चाहिए। यह स्थिति तो है ही।

खालिस समाजशास्त्रीय कारण ज्यादा प्रमुख है बनिस्पत इस शुद्ध राजनीतिक कारण के? आपके उत्तर से ही इसी से लगा प्रश्न मेरे मन में बन रहा है। वह यह कि क्या आप ऐसा नहीं समझते कि ज्यादा फलदायक या स्वस्थ जीवन-दर्शन वह होगा जिसमें कि

सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में तो विकेन्द्रीकरण को स्वाभाविक मान लिया जाए, उस पर बल दिया जाए; लेकिन धर्म में और साहित्य में किसी सीमा तक केन्द्रीकृत होना सबसे ज्यादा अच्छा हो?

विकेन्द्रीकरण को भी स्वाभाविक मानना कठिन है और केन्द्रीकरण भी एक सीमा तक ही है। दोनों ही प्रवृत्तियाँ समाज में काम करती रहनी चाहिए। एक केन्द्र का बोझ भी होना चाहिए और विकेन्द्रित काम के लिए गुंजाइश भी होनी चाहिए, उसके लिए संघर्ष की भी गुंजाइश होनी चाहिए; संघर्ष भी होते रहना चाहिए। जैसा मैंने कहा, एक ऐसा पत्र हो या कहिए कि ऐसा प्रतिष्ठान भी हो जो प्रतिष्ठित मूल्यों पर आग्रह करे और दूसरी तरफ़ उसके विरुद्ध आन्दोलन भी हो, अधैर्य भी हो। यानी एक केन्द्रीय प्रवृत्ति भी हो ओर एक विकेन्द्रीकरण का आग्रह भी हो। यह तो स्वस्थ स्थिति है। समाज में इस तनाव का रचनात्मक परिणाम होता है।

हाँ, ये दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलनी ही चाहिए। क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि जो आप साहित्य के बारे में कह रहे हैं वही कहीं भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर, उसके आदर्श या यथार्थ पर लागू होता है?

हाँ, वह भी है। हमारे समूचे इतिहास में यह चीज़ रही है और इनके बीच का जो तनाव रहा है उसकी रचनात्मक सम्भावनाएँ रही हैं।

उदाहरण के लिए जो कुछ स्वातन्त्र्य-पूर्व युग में घटित हुआ, सत्याग्रह युग में या उससे पहले भी, क्या ऐसा नहीं लगा कि देश के मन में ही बहुत वास्तविक और स्वाभाविक कारणों से एक विभाजन, था, बहुत ही सत्य, बहुत ही सच्चा—एक विविधता थी या कह लीजिए एक आत्म-विभाजन था। जीवन की नयी सम्भावनाएँ, रचनाशीलता, किसी को पश्चिम के नये चिन्तन की तरफ़ जाने में दिखायी देती थी—सिर्फ पश्चिम के तर्क से नहीं बल्कि समूचे संसार के तर्क से, प्रगति के तर्क से—और उसी मानस के अन्दर कहीं अपनी जड़ को पकड़ने की और बह न जाने की, अपने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक और धार्मिक मूल्यों पर जोर देने की जरूरत भी महसूस हो रही थी। तो क्या राजनीति में इस प्रकार का ध्रुवीकरण सम्भव था? कि जैसे एक नेहरुई पार्टी होती, एक गाँधी वाली पार्टी होती जिनका स्पष्ट ध्रुवीकरण हो

सकता—और इस ध्रुवीकरण से ही एक ऐसी राजनीतिक उथल-पुथल होती, हमारे मानस की जो वास्तविकता थी उसी के मुताबिक हमारी राजनीतिक गतिविधियाँ भी चलतीं और दलों का इतना बिखराव नहीं होता? मेरे कहने का मतलब यह है कि जो 'पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी' का एक 'माडल' हमने उठाया और सही कारणों से उठाया, इसके व्यवहार की भी तो नकल की जा सकती थी—कि दो पार्टियों से कैसे बढ़िया चलता है। तो वैसा क्यों नहीं हुआ होगा—याकि अब ऐसी कोई सम्भावना आपको दीखती है—इस नये सबक के बाद?

सम्भावना तो अब नये सबक के बाद दीखती है—लेकिन इसको सबक अभी कैसे कहें जब तक कि इसका प्रमाण नहीं है कि वह सीख लिया गया है! लेकिन संकेत तो उसका यही है कि यह चीज़ सीखनी होगी। तो अगर सीखें—जब जनता पार्टी का शासन हुआ तब भी एक अवसर था कि यह शिक्षा ग्रहण की जाती; लेकिन वह सबक नहीं सीखा गया—तो अब भी आशा की जा सकती है।

आपको ऐसा नहीं लगता कि गाँधीजी के अलावा या गाँधीजी के साथ-साथ और भी जो कुछ चिन्तन राजनीति में सक्रिय लोगों ने किया पिछले पचास वर्षों में—लोहिया, अच्युत पटवर्धन, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण या एम.एन.राय भी, तो उनके विचारों का एक पुनर्मूल्यांकन जैसा करने की जरूरत है?

पुनर्मूल्यांकन करने की जरूरत है। उसको सन्दर्भ में रखकर देखने की भी जरूरत है। और विशेष रूप से यह जो केन्द्रीकरण का या केन्द्रोन्मुखता का आग्रह था और जो केन्द्र विमुख या विकेन्द्रित स्वायत्त जीवन का आग्रह था, इन दोनों के बीच जिस तरह का सन्तुलन बना रहा—महाभारत के समय से ही देखें तो वही स्थिति रही कि एक तरफ़ आग्रह था कि एक शक्तिशाली केन्द्र होना चाहिए और दूसरी तरफ़ यह था कि जो विकेन्द्रित और स्वायत्त समाज है उनकी स्वायत्तता भी बनी रहनी चाहिए। कृष्ण को अगर एक राजनीतिक कूटनीतिक व्यक्ति के रूप में देखें तो भी यह स्पष्ट होता है कि वह भी यही कर रहे थे—एक तरफ़ समाज में केन्द्रीकरण भी कर रहे थे और दूसरी तरफ़ ऐसी स्थितियों से बच भी रहे थे जिनमें कि टकराहट हो। भारत के इतिहास में सबसे रचनात्मक प्रभाव इसी चीज़ का रहा है कि इन दो के बीच जो तनाव है उसका सही उपयोग किया जाए और इस तनाव को मिटा कर किसी एक पक्ष की सम्पूर्ण विजय न होने दी जाए।

मेरा खयाल है यह सही बात है।

तो आपकी इस बात से मैं यह अर्थ ग्रहण करूँ कि न केवल हमारे निकट इतिहास के अनुभव का ग्रहण और मूल्यांकन बल्कि इतिहास या साहित्य का भी बहुत तात्कालिक सन्दर्भों में और बड़ी निपट सांस्कृतिक आवश्यकता की प्रेरणा से अध्ययन होना चाहिए?—न केवल निकट इतिहास का बल्कि जिसे हम 'मिथ' कहते हैं उसका भी?

हाँ, उस स्तर तक हो सकता है और उसमें यही पाएँगे कि एक तरफ़ इसमें अनेक केन्द्रीय समाज और संसार की कल्पना है और उसका सफल व्यवहार है; और दूसरी तरफ़ यह आग्रह है कि सब-कुछ एक है और एक ही केन्द्र है और इन दोनों का सहज सन्तुलन यहाँ निभता चला गया है। इसी को मैं समझता हूँ कि हमारी प्रतिभा की विशेष देन की भावना चाहिए।

क्या कभी-कभी एक बात विचित्र-सी नहीं लगती? कभी भारत ने जहाँ से शुरू किया और आगे बढ़ा, और उधर पश्चिम ने जहाँ से शुरू किया और आगे बढ़ा—ये दो बिलकुल विपरीत दिशाएँ और गतियाँ थीं। आज का सबसे बच्चा 'सायंस', सबसे हाल का 'सायंस' यह पर्यावरण-विज्ञान है, इसे देखें या 'एन्थ्रोपालाजी' (नृतत्व) को देखें—विज्ञान अपने निष्कर्षों से हमें उस किस्म के बोध सा संवेदन की ओर ले जाते हुए प्रतीत होता है जिसकी ओर भारत का 'मिथिक माइंड' शुरू से ही संकेत करता रहा?

जहाँ से हमने आरम्भ किया था? ऐसा कह लीजिए। एक व्यापक परस्पर-निर्भरता का बोध फिर हो रहा है—बिलकुल दूसरे कारणों से।

तो कहीं इसका भयंकर परिणाम यह तो नहीं निकलता कि अगर ऐसा है तो यह ऐतिहासिक नियम है, अनिवार्यता है, कि अब वे तो इधर रह आवें, स्वस्थ हों, और हमें उनकी पूरी इतिहास-प्रक्रिया में से गुजरना पड़ें, जो उन्होंने भोगा है वह हम भुगतें?

नहीं, यह परिणाम तो नहीं निकलता! लेकिन जो समस्या या कि शंका हो सकती है वह यह कि अगर उनकी संस्कृति अभी तक प्राणवान् संस्कृति है, तब वह इस नयी स्थिति को देख कर, इस जोखम को उठाकर, अपने लिए नया रास्ता बनाएगी जो कि उसी संस्कृति का नया रास्ता होगा। लेकिन अगर उसमें ऐसी प्राणवत्ता नहीं रही है और आत्म-विश्वास खोकर वह एक पराया रास्ता अपनाती है, चाहे हमारा ही रास्ता—जैसा कि हम भी कर रहे

हैं, आत्म-विश्वास खोकर उनके रास्ते पर चल रहे हैं—तब जरूर एक खतरनाक स्थिति होगी। लेकिन अगर हममें भी यह पहचान जागती है कि हमारा रास्ता गलत नहीं था, कि कोई कारण नहीं है कि हम आत्म-विश्वास खो बैठें और ऐसा रास्ता अपनाएँ जिसकी गवाही हमारा अनुभव नहीं देता, या अगर हम रास्ता बदलें भी तो इसी कारण बदलें कि वह हमारा नया रास्ता है, तब तो इसमें कोई जोखम नहीं है। इसकी सम्भावनाएँ तो एक ऐसे साक्षात्कार की भी हैं जिसमें दोनों के लिए नयी दृष्टि मिल सकती है।

लेकिन फिर जो विश्व-संस्कृति का स्वप्न दिखाया जाता है उसमें तो यह एक तरह से अनिवार्य मान लिया जाता है कि अत्यन्त विरोधी स्वभाव की संस्कृतियों में भी, अत्यन्त भिन्न प्रस्थान-बिन्दुओं से परस्पर प्रेरित संस्कृतियों का भी परस्पर पास आना और अन्ततः एक हो जाना अनिवार्य है और 'विश्व-सभ्यता', 'विश्व संस्कृति' जैसी कोई एक चीज़ इसी तरह निर्मित होगी। तो आप यह मानते हैं कि ऐसा भी तभी होगा जब कि ये दोनों संस्कृतियाँ अपने-अपने तर्क और अपने भीतरी तर्क से भी अपना मार्ग ढूँढ़ेंगी?

हाँ। अपने अनुभव को जीते हुए और अनुभव के सहारे जीते हुए वे इस तरह के एकीकरण की ओर बढ़ती हैं तो ठीक है। यह सारा जितना जैसा विकास हो रहा है, उससे कई समाज एक-दूसरे के निकटतर आ रहे हैं, प्रभावों का एक दबाव भी पड़ रहा है, उसकी तेजी भी बढ़ती जा रही है। और इन सभ्यताओं में जो प्राणवान् हैं वे प्रभावों को बड़ी आसानी से ग्रहण करके अपना बना लेती हैं। और जिनमें प्राण कम हैं, जो कि वैसे ही मुरझा रही थीं, लगभग मर रही थीं, वे बिलकुल आत्म समर्पण करके दूसरे में डूब जाती हैं, खो जाती हैं।

एक दृष्टि से, बड़े विचलित करने वाले यथार्थ की दृष्टि से, यह लगता है और इसकी अनदेखी करना सम्भव नहीं है, कि किन्हीं मानों में अमेरिका का जैसे भारतीयकरण हो रहा है योग वगैरह के जरिये, उसी तरह से भारत का अमेरिकीकरण हो रहा है। एक सबसे जवान देश जिसकी सभ्यता सबसे ताजी या कि हाल की है, और एक सबसे बूढ़ा या कि पुराना देश? तो यह मूल्यों की या प्रभाव की अदला-बदली है, यह एक तरह का 'सिम्प्टोमैटिक' कलि बड़ा साफ-सा दिखाई देता है। तो 'सिम्प्टम्स'—क्या आप

नहीं मानते कि भारतीय समाज में ये बड़े 'डिस्टर्बिंग सिम्प्टम्स' हैं, जिस तरह की नवधनाढ्यता है और यह टी.वी. वगैरह के प्रति जो पिछले पाँच-एक वर्षों से आकर्षण...

यह जो हमारे समाज में है वह ज्यादा डिस्टर्बिंग है। आपने जो तुलना की, उसमें जो अन्तर है उसको भी ध्यान में रखिए। वहाँ पर जिन लक्षणों की ओर आपने ध्यान दिलाया ये सब तरह--तरह की टटोल हैं। समाज में छोटे-छोटे अंग हैं जो कि असन्तोष के कारण कुछ टटोल रहे हैं। संस्कृति की मुख्यधारा उधर जा रही है, ऐसा नहीं है। यानी यह नहीं कह सकते कि अमेरिकी सभ्यता एक अनुकरण की ओर बढ़ रही है। यह है कि उसके भीतर चिन्ता करनेवाले कई पक्ष हैं। यहाँ पर भारत में जो मुख्य धारा है, और यह भी कह सकते हैं कि जिसको सरकार का भी अनुमोदन प्राप्त है, वही अनुकरण की ओर प्रवृत्त है जबकि जो छोटे छोटे टोह लेने वाले दल हैं वे इसके प्रतिकूल हैं। तो इस समय स्थिति यह है कि मुख्य सभ्यता तो अनुकरण की है और उसके भीतर छोटे-छोटे दल हैं जो अपनी पहचान करने का प्रयास करना चाहते हैं।

मैं समझता हूँ कि आपका यह विश्लेषण बहुत सही है। पर तब तो यह और भी विचलित करने वाला है।

हाँ। चिन्ता की बात यही है।

तब इसका मतलब यह हुआ कि इस चिन्ता का रूप तो इतना भयावह बनता है, जैसाकि हम देख रहे हैं। एक बहुत छोटा-सा उदाहरण : अभी दो-तीन साल के अन्दर यह टेलीविजन नेटवर्क इतनी तेजी से फैला है, लेकिन अभी से इसके परिणाम जो हम अपने सामने सामान्य अनुभव से, निरीक्षण से देख रहे हैं, तो ऐसा लगता है कि जिसे 'रजिस्टेंस', प्रतिरोध कहते हैं वह तो है ही नहीं। बल्कि जो प्रभाव सांस्कृतिक दृष्टि से जितना ही खराब होता है हम उसके प्रति शायद उतने ही बध्य हैं!

हाँ देखिए, टेलीविजन का नेटवर्क कितनी तेजी से फैला है, जिस तरह से फैलाया गया है, उसमें यह तो स्पष्ट था कि केन्द्र की एक आवाज ज्यादा से ज्यादा दूर तक पहुँचाई जा सके, इसका प्रयत्न था। और उसके जवाब में दूसरी तरफ़ से आने वाली आवाज को कम से कम मौका मिले। तो यह तो एक तरह से देश की आवाज को बन्द कर देने का साधन बन जाता है टी.वी.। दूसरी तरफ़ इस बात की ओर तो बिलकुल ध्यान नहीं था कि यह

एक नयी कला है, इसका विकास होना चाहिए। और अब क्यों कि यह रास्ता इतना खुल गया है, ऐसा प्रशस्त हो गया है—सिर्फ एक तरफ़ की आवाज दूसरी तरफ़ पहुँचाने का—इसलिए भीतर से उसको सुधारने या कला का विकास करने, जनमात्र के जीवन को एक नयी अभिव्यक्ति देने और जन की आवाज दूसरे जन तक पहुँचाने की जो सम्भावनाएँ इससे खुलतीं वे तो और भी उपेक्षित हो गयी हैं। यह तो हुआ ही है।

सही बात है। फिर इसका मतलब यह हुआ कि हमें सांस्कृतिक दृष्टि से भी, राजनीतिक दृष्टि से भी, बिगड़ने का, आत्महीन हो जाने का खतरा कोई बाहर से नहीं है, अपने ही भीतर से है। और उद्धारक तत्त्व या कि प्रतिरोध पैदा कर सकने वाला तत्त्व जो है उसके लिए तो फिर सबसे बड़ा उपाय विपक्ष का या कि वैकल्पिक राजनीति का ही जागरण है?

वही है। विकल्प तो वही है। बाहर से जो प्रभाव हैं वे तो होते ही हैं। समर्थ का प्रभाव कम समर्थ पर हो, यह तो स्वाभाविक प्रक्रिया है ही। लेकिन भीतर से तो विकल्प की सम्भावना है। तो जहाँ विकल्प है वहीं गलत चीज़ न चुनी जाए सही चीज़ चुनी जाए इसकी सम्भावना भी है और इसकी जरूरत भी है।

क्योंकि जब सत्ता के लोग—टी.वी. का ही आपने उदाहरण दिया, बड़ा शिक्षाप्रद और तात्कालिक प्रत्यक्ष उदाहरण है यह—सत्ता के लोगों के द्वारा सत्ता का ऐसा दुरुपयोग किया जा सकता है और समाज में कोई नहीं समझता कि यह सत्ता का दुरुपयोग है और इससे क्या उसकी सांस्कृतिक-आध्यात्मिक हानि हो रही है, उसका व्यक्तित्व कितना दुर्बल बनाया जा रहा है या उसका इस्तेमाल, शोषण जैसा किया जा रहा है—आध्यात्मिक शोषण। तो आखिर यह उसको कौन बताएगा, इस 'वल्नरेबुल' समाज को, कि उसका शोषण हो रहा है जो कि महज आर्थिक शोषण से भी ज्यादा भयंकर चीज़ है और जो अगर चलता रहा तो अपने आर्थिक शोषण की भी उसकी समझ कुन्द हो जाएगी। इसका तो निश्चय ही जवाब जो है वह सांस्कृतिक, साहित्यिक उपायों के साथ-साथ और उनसे कहीं ज्यादा भीतर से इसको एक नयी राजनीतिक जागृति के द्वारा ही दिया जा सकता है।

राजनीतिक ही नहीं, एक सामाजिक चेतना भी बढ़नी चाहिए, होनी चाहिए।

मुश्किल यही है कि पहले हमारे समाज में धर्म का जो प्रभाव था वह आज राजनीतिक का हो गया है। इसलिए सामाजिक जागृति के लिए भी एक तरह की राजनीतिक जागृति की पहल आवश्यक हो गयी है। आपने देखा होगा कि धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में भी आज हिन्दुस्तान में ही जो असली है उसके प्रति संवेदनशीलता या श्रद्धा नहीं रह गयी है जितनी कि उसकी जो नकली है या जिसका प्रदर्शन-मूल्य ज्यादा है। अब एक भयानक बात यह तो हुई ही है पिछले वर्षों में, कि समाज को जगाने का जो एक मुख्य माध्यम था धार्मिक या आध्यात्मिक व्यक्तित्व या बोध, वह स्वयं भी तो दुर्बल हो रहा है। या क्या आप ऐसा नहीं मानते हैं?

वह दुर्बल है और यह तो जो बात आपने कही है वह ठीक ही है : उदाहरण के लिए जितने बड़े से बड़े धार्मिक सम्मेलन होते हैं सबके उद्घाटन के लिए अथवा वहाँ मूल्यों की चर्चा के लिए राजनीतिक व्यक्ति को बुलाया जाता है और जिनसे धार्मिक प्रेरणा मिल सकती है वहाँ पर उपेक्षित हो जाते हैं। यह तो है। लेकिन यह तो जो स्थिति में है उसका केवल एक प्रकटीकरण है, इससे वैसी स्थिति पैदा हो जाएगी यह नहीं है। क्योंकि स्थिति ऐसी है, उसका यह लक्षण हमें दिख रहा है। राजनीति क्योंकि प्रदर्शनमूलक है, और धर्म बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि प्रदर्शनमूलक हो, इसलिए पहले तो इस प्रदर्शन को ही अमान्य कर सकें यह सम्भावना हमें पैदा करनी चाहिए। धर्म तो यह बात नहीं मानता कि कोई चीज़ क्योंकि दीखती है इसलिए सच है। इसी बात को पहले तो काटना चाहिए।

आपके चिन्तन में एकाधिक बार यह तथ्य या यह संकेत उभर कर आया है कि यहाँ भारत के बुद्धिजीवी की वह भूमिका या वह परिभाषा अभी मान्य नहीं हुई है जिसे कि पश्चिम में 'इंटेलिजेंशिया' कहा गया है और जिसका वास्तव में कुछ दबाव, कुछ प्रभाव समाज पर, राजनीति पर, साहित्य पर पड़ता है। यह एक शक्ति है। तो उस तरह की बात जब आपने लिखी थी तब से आज तक आप क्या समझते हैं कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग का वैसा कुछ विकास या कि मूल्य उभरना शुरू हुआ है? या क्या उम्मीद की जा सकती है इस 'इंटेलिजेंशिया' से भारत में?

अभी तो ऐसा हुआ नहीं लगता है। अभी तो उसकी पराधीनता या पर-निर्भरता ही कुछ बढ़ी है। इसलिए उसका स्वर स्वाधीन चेतना का स्वर हो

ऐसा तो नहीं है। और इस तरफ़ अभी कुछ विशेष उन्नति भी नहीं हुई है।

तब तो यह और भी निराशाजनक स्थिति है जब धार्मिक 'अथारिटी' के स्रोत पहले की अपेक्षा सूख गये हैं या विकृत हो रहे है, और राजनीतिक 'अथारिटी' के स्रोत तो अप्रामाणिक या विकृत हैं ही। तब जो एक तीसरी चीज़ प्रेरणादायक हो सकती या जो इस भ्रंश को प्रतिरोध दे सकती वह तो फिर अनिवार्य रूप से एक बुद्धिजीवी वर्ग का उदय ही हो सकती थी। वही एक विकल्प हो सकता था। जनता को हम किसलिए जिम्मेदार ठहराएँगें? मान लीजिए कि यूरोप की तुलना में हिन्दुस्तान का मध्यम वर्ग अगर ज्यादा प्रलोभनग्रस्त है या प्रलोभनों के सामने कमजोर है, उसमें आन्तरिक प्रतिरोध कम दिखाई देता है, तो उसके इस भ्रंश के लिए जिम्मेदारी फिर कहीं न कहीं बुद्धिजीवी वर्ग पर ही आती है।

तीसरी सम्भावना तो यही है। अगर यहाँ धर्म-संस्थान का वह स्थान नहीं है—और यहाँ इस देश में उस तरह का धर्म-संगठन रहा भी नहीं है जैसा कि पश्चिम में हुआ क्योंकि धर्म भी मतवाद-केन्द्रित धर्म नहीं था—यहै तो मैं उसकी प्रशंसा ही कर रहा हूँ, लेकिन तथ्य यही है कि यहाँ ऐसा नहीं है—तो यह ठीक है कि तीसरी सम्भावना फिर एक विवेकवान् वर्ग से यानी बुद्धिजीवी वर्ग से हो सकती है।

लेकिन मुश्किल यह है कि ऐसी परम्परा में जैसी भारत की परम्परा है, जो कि यूरोप सें स्पष्टतः अलग परिभाषित की जा सकती है, उनसे ऐसा सीधा प्रभाव डाल सकने वाला, हस्तक्षेप कर सकने वाला, बुद्धिजीवी वर्ग तो उस तरह से मान्य नहीं होता—यानी उस अर्थ में 'इंटेलिजेंशिया' ही नहीं होता, क्योंकि मान्यता प्राप्त होने पर ही किसी का अस्तित्व एक तरह से जायज और संगत होता है। तब फिर मान लीजिए हमारी जनता में कोई सच्चे बुद्धिजीवी हैं भी, आपकी परिभाषा से निकलते भी हैं, तो समाज से उनको मान्यता प्राप्त नहीं होगी। फिर क्या यह भी एक जटिल परिस्थिति नहीं है कि किसी समाज को किसी हद तक बुद्धिजीवी की जरूरत ही महसूस न हो? आप देखिए कि कवि भी एक तरह का बुद्धिजीवी है पश्चिम के मुताबिक, लेकिन जो अपने युग के सबसे समर्थ, सबसे संवेदनशील कवि कहे जा सकते हैं, या जिन्हें आज के भी समर्थ कवि कहा जा सकता है, उनकी कविता के

प्रति एकाएक वैसी दिलचस्पी या ऐसी जिज्ञासा अमूमन अब पढ़े-लिखे लोगों को नहीं होगी। अभी कल मैं रेडियो पर कवि-सम्मेलन में बैठा हुआ था, सभी खासे पढ़े-लिखे लोग वहाँ थे; और मुझे ऐसा लगा कि उनमें मुश्किल से पाँच प्रतिशत भी ऐसे होंगे जो कि उस कविता को पढ़ते हों जिसमें वह बौद्धिक ऊर्जा है, जो भारत के जन-मानस का प्रतिनिधित्व करती हो—और जो कविता के स्तर पर भी यानी 'एस्थेटिक' मानदंडों पर भी खरी हो।

यह तो फिर आपने जो उदहरण लिया है वही गलत जगह से लिया है, गलत चुनाव पर आधारित है। रेडियो कवि-सम्मेलन से आप ऐसी आशा करें क्यों? लेकिन मैंने तो देखा है कि इस देश में अभी तक कवि के प्रति एक तरह की आस्था है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि यह सम्भावना तो अभी है कि कवि प्रबुद्ध वर्ग का प्रतिनिधि बन सके। अभी यह सम्भावना मिटी नहीं है। हाँ, आज की वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है।

यह तो मैं कहना चाहता था कि कवि के प्रति, कवि-रूपी 'इंटेलिजेंशिया' के प्रति, आज भी समाज संवेदनशील है। हालाँकि यह भी है कि पिछले चालीस-पचास वर्षों में हमारी कविता में अनिवार्य कारणों से जो बौद्धिक संस्कार आया है उसके प्रति अभी 'रजिस्टेंस' है, यह मैं कहना चाहता था। अभी उस कविता को स्वाभाविक तौर पर स्वीकर लिया गया हो, उसका सन्देश पढ़ लिया गया हो, सुन लिया गया हो—ऐसा अभी नहीं लगता है।

हाँ, लेकिन यह मान भी लें कि ऐसा अभी नहीं हुआ तो भी यह तो है कि कवि के प्रति एक उन्मुखता है।

उसका कारण तो संस्कार में है।

वही सही। लेकिन वह आशा का एक केन्द्र तो है।

क्योंकि जन-मानस को धार्मिक-आध्यात्मिक बातें भी, उपलब्धियाँ भी काव्य के जरिये ही 'रिसीव' करने का ही अभ्यास रहा है। इसलिए यह 'पॉजिटिव' बात तो है। लेकिन आधुनिक शास्त्रों के भीतर से आने वाले बुद्धिजीवी में और साहित्यिक बुद्धिजीवियों में भी कुछ आमना-सामना हो—लेकिन वह तो है ही नहीं।

शमशेर को गलत जगह पर रखकर यह नहीं कहूँगा कि 'जो नहीं है उसका गम क्या?' पर 'साहित्यिक बुद्धिजीवी' और 'शास्त्रीय बुद्धिजीवी' जैसा

भ्रामक विभाजन हम क्यों स्वीकार करें? कवि किसी भी विद्यानुशासन से आ सकता है—हाँ, कुछ उससे बाहर के भी होंगे। (हिन्दी में साहित्यकारों में दूसरी विद्याओं में दीक्षित लोगों का अनुपात कुछ कम है, पर कुल मिलाकर तो ऐसे लोग बढ़ रहे हैं जो दूसरे क्षेत्रों में निष्णात होकर साहित्य-रचना में आते हैं।) पर फिर सभी की बौद्धिकता को हम एक स्तर पर तो नहीं रखते। पश्चिम में तो पेशेवर सभी लोग इंटेलिजेंशिया में आ जाते हैं। यहाँ, उदाहरण के लिए वकील के बारे में हम थोड़े सतर्क रहते हैं। मैं जो कभी-कभी 'बुद्धिजीवी' और 'बौद्धिक' में भेद करता हूँ वह इसीलिए! जिस संस्कारिता की बात आपने ही, उसमें भी बुद्धि से आजीविका कमाने वाले आदमी की वह प्रतिष्ठा नहीं थी जो कवि की या अध्यापक की—पुरानी परिपाटी का अध्यापक विद्या-दान की बात करता था, वेतन या फीस नहीं लेता था। मैं इस बात को यों कहना चाहता हूँ कि बौद्धिक या प्रबुद्धचेता व्यक्ति की प्रतिष्ठा का—उसमें और निरे बुद्धिजीवी में अन्तर का—एक आधार यह भी रहा कि 'बुद्धिजीवी' वह जो बुद्धि के सहारे समाज को दुहे (चाहे मर्यादाओं को निबाहते हुए ही दुहे), और 'बौद्धिक' वह जो समाज को कुछ दे, समाज के लिए कुछ छोड़े। बौद्धिकता की कसौटियों में इस निस्पृहता को भी जोड़ना, जोड़े रखना, मेरी समझ में गलत तो नहीं था। यदि आज का पढ़ा-लिखा समाज यही मानता है कि 'बिना स्वार्थ के कोई कुछ नहीं करता, और अगर किसी का स्वार्थ दीख नहीं रहा तो उससे और अधिक चौकन्ने रहो', तो यह समाज का दुर्भाग्य ही है, यथार्थवादिता नहीं है। यथार्थ यह है कि आज भी मानव को आदर्श ललकारते हैं, भाव-विगलित भी करते हैं और प्रेरणा भी देते हैं—समूह को भी और इकाइयों को भी। ऐसे लोग बहुत थोड़े दीखते हैं, और क्रम भी होते जा रहे हैं, इसे लक्ष्य कीजिए और दुखी होइए, जरूर होइए—पर वह जो छोटी-सी ज्योति है उसे भी अनदेखा क्यों कीजिए? बल्कि जब तक वह है तभी एक तो बौद्धिक के लिए भी करने को कुछ है, तभी तो बौद्धिक भी आपको दीखेगा—नहीं तो टोटल अन्धकार में वह भी कहाँ है?*

* डॉ. रमेशचन्द्र शाह और अज्ञेय के बीच यह संवाद मार्च 1985 में दिल्ली में हुआ। टेप की प्रतिलिपि को प्रकाशनीय रूप देने के लिए उसका यत्किंचित सम्पादन अज्ञेय द्वारा किया गया।

नन्दकिशोर आचार्य के साथ संवाद

आचार्य : **वात्स्यायन जी, पहला सवाल जो मैं करना चाहता हूँ, वैसे तो आपके पाठक के नाते मुझे उसे आपकी रचनाओं से ही जानना चाहिए। पर कुछ बातें आपने अन्यत्र कही हैं उनके साथ जोड़ कर देखता हूँ तो एक सवाल मेरे मन में उठता है कि एक कलाकार के रूप में, एक कवि के रूप में आपका मुख्य सरोकार क्या है? यह सवाल मैं इसलिए पूछना चाहता हूँ कि बोधगया शिविर में मुझे याद पड़ता है आपने कहा था कि कलाकार रूप की रचना करता है। बल्कि और सब चीज़ें तो समाज में हैं पर यह काम है जो वह करता है। दूसरी ओर कई दफा आपने कहा है कि वह मूल्यान्वेषण करता है, तो वह मुख्य सरोकार रूप की रचना है या मूल्यान्वेषण, आप कैसे इसे देखते हैं?**

अज्ञेय : देखिए, पहला जवाब तो आप जानते हैं। वह यह कि कवि की रचनाएँ जो कहती हैं, और कवि उनके बारे में जो कहता है उसमें दोनों में सामंजस्य ढूँढ़ना आपको ज़रूरी जान पड़े तो कम से कम कवि से उसमें कोई मदद नहीं मिल सकती। यह बिलकुल सम्भव है कि कविता के बारे में कवि जो कहता है उसमें आपसी अन्तर्विरोध भी हो, समय-समय पर कही हुई बातों या एक समय में कही हुई बातों में भी। रचना में और उनमें अन्तर्विरोध भी उतना ही स्वाभाविक है। रचना और दूसरी रचना में वैसा नहीं होता जब तक कि दोनों का हम रचना के स्तर पर विचार करते हैं। क्योंकि आपने सवाल इस रूप में पूछा है इसलिए भी जवाब रिकार्ड कर देता हूँ लेकिन आप जानते ही होंगे। दूसरी बात यह है कि अगर आप ही दो बातों तक सीमित कर देते हैं तो मुझे लगता है कि जो कुछ मैं कहता या सोचता या करता रहा हूँ उसमें आप सिर्फ दो विकल्प क्यों रख रहे हैं? रूप की रचना करता है, मूल्य की चिन्ता करता है और इसके अलावा और भी बहुत-से काम कवि या कि उसकी रचना करती है। लेकिन अगर रूप को व्यापक

अर्थ में लें तो उसमें इनको शामिल किया जा सकता है। मूल्यों की चिन्ता भी आखिर रूप की रचना में योग देती है। रूप का एक पहलू यह है कि कविता जब एक चीज़ बनकर लिखे हुए या छपे हुए रूप में पृष्ठ पर आती है तो एक रूप वो वह है जो आप देख सकते हैं। एक उसका मानस-बिम्ब है। एक उसके बाद ऐसा भी बिम्ब है जिसमें उसके चाक्षुष बिम्बों का एक प्रतिरूप भी होता है और मूल्य-दृष्टि की भी छाप उसमें होती है। यह जो बनता है वह मूल्य-दृष्टि को छोड़ कर नहीं है उसको सम्मिलित करके ही है। पूरा का पूरा समाज ही उस रूप का अंश हो जाता है। कविता में उस रूप के माध्यम से कवि का पूरा परिवेश भी होता है और वह पहचानता भी जाता है। आखिर जिस कवि के बारे में हम कुछ नहीं जानते उसके जीवन की परिस्थितियों को हम उसी रूप की खिड़की में से पहचानते हैं। इसका मतलब है वह वहाँ पर है। वह रूप की रचना करता है। इसका यह मतलब नहीं है कि कोई बुनियादी विरोध इस बात का दूसरी बात के साथ है कि वह मूल्य का चिन्तन भी करता है। सवाल का जवाब सोचने का एक दूसरा तरीका भी है कि आप यह सवाल उठाएँ कि कवि क्या-क्या नहीं करता। या कि हम सभी मान लेते हैं और आप भी प्रश्नकर्ता के रूप में भी मान लेंगे कि कवि रचना करता है तो किस चीज़ की रचना करता है? समाज की रचना वह नहीं करता, परिवेश की रचना वह नहीं करता, मूल्यों की रचना वह बहुत आंशिक रूप में ही करता है, बहुत-सी कविताएँ ऐसी होती है जिनमें नहीं करता है या नहीं कर रहा दीखता है। भाषा की भी रचना वह नहीं करता है। एक-आध शब्द या कि जीवन भर में 10-20 शब्द रच दे तो बहुत बड़ी बात होती है। शब्दों में अर्थ की रचना करता है तो उसी के सहारे वह रूप रचता है। तो जब उनमें से कोई भी रचना वह नहीं करता तो आखिर किस चीज़ की रचना करता है। या तो हम यह कहना छोड़ दें कि वह रचना करता है, उसको सिर्फ कारीगर मान लें। जैसे बढ़ई कुछ चीज़ों को जोड़ कर कुछ बना देता है वैसे ही कवि भी बना देता है। यह नहीं कि वह यह काम कभी नहीं करता। यह भी उसके काम का एक अंश होता है।

हाँ, क्राफ्ट भी एक अंश है।

हाँ, रचना वह करता है तो फिर यह सवाल उठता है। उसी के अधीन यह भी है कि वह एक दिक् की भी रचना करता है और काल की भी रचना करता है। दिक् और काल की रचना करते हुए दोनों से मुक्ति की सम्भावना भी दिखाता है यानी मुक्ति की भी रचना करता है। लेकिन सब की सब रूप के नाते।

यह सवाल मैंने इसलिए पूछा दरअसल कि कई दफ़ा इस बात को लेकर जब हम कला का मूल्यांकन करते हैं या उसका रसास्वाद करते हैं तो उसके साथ भी एक सवाल मूल्यों का जुड़ा रहता है कि सभी कवि, सभी कलाकार रूप की रचना करते हैं लेकिन उनकी जो मूल्य-चिन्ता अलग-अलग दिशा में जाती है ऐसा महसूस किया गया देखा गया। तब यह सवाल उठता है अगर हम यह मान लें कि रूप की रचना में मूल्य की चिन्ता शमिल है या मूल्य की आंशिक रचना भी रूप की चिन्ता में शमिल है तब भी यह सवाल उठता है कि फिर उसकी कला की उत्कृष्टता की या उसकी कसौटी क्या हो? यह सवाल मैं इसलिए पूछ रहा हूँ कि इस बात को लेकर के अच्छे आलोचकों ने और कवियों ने भी अक्सर इस तरह के वक्तव्य दिये हैं, उदहारण के लिए आपके ही सम्पादन में 'तीसरा सप्तक' में विजयदेव नारायण साही ने एक वक्तव्य दिया था जिसमें नीत्शे के बारे में उन्होंने कहा कि उनके विचारों को वह जला देने लायक समझते हैं लेकिन एक काव्यकृति के रूप में उनकी पुस्तक वह हमेशा अपने साथ रखना चाहते हैं। भगवतशरण उपाध्याय ने ठीक वही बात आपके उपन्यासों के बारे में कही है कि वे कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं लेकिन वे मूल्य-दृष्टि से सहमत नहीं। ऐसी स्थिति में उत्कृष्टता का क्या प्रमाण होना चाहिए? स्वयं आपको किसी ऐसे द्वन्द्व का सामना करना पड़ा है? आप तो बहुत पढ़ते भी रहे हैं?

एक तो बात यह है कि विचार से सहमत या असहमत भी हुआ जा सकता है। और कोई यह कह सकता है कि मैं इन विचारों से सहमत नहीं हूँ लेकिन रूप में सहमत या कि असहमत नहीं हुआ जा सकता। या तो आपको दीखता है या कि आप को नहीं दीखता है। आप यह नहीं कह सकते कि मैं इसे देखने से असहमत हूँ। जो दीखा उसका भी मूल्यांकन करने के बारे में आपकी दृष्टियाँ अलग-अलग हो सकती हैं। मैं समझता हूँ कि इस तरह की बात कोई कह सकता है और वह अर्थहीन नहीं है। कोई कह सकता है कि मैं इस अमुक व्यक्ति के विचारों से सहमत नहीं हूँ। लेकिन विचारों से सहमत नहीं हूँ यह बात वास्तव में रचना के बारे में नहीं है, यह तो उस व्यक्ति के विचारों के बारे में है—जिसकी रचना उसने नहीं की है। रचना के माध्यम से विचार भी व्यक्त हुए तो आप हुआ कीजिए विचारों से असहमत! विचारों को एक तरफ़ रखकर भी रचना पर विचार हो सकता है और यह विचार कर लेने के बाद फिर विचारों को उसके साथ जोड़ा जा सकता है कि यह जो

आधार होना चाहिए रूप को देखने, परखने का, उस पर यह खरी उतरती है लेकिन उसका इस्तेमाल जिन विचारों को प्रकट करने के लिए किया गया है वे हमको स्वीकार नहीं है। मैं तो ऐसी बहुत-सी कविताओं का प्रशंसक हूँ जिनमें ऐसे विचार व्यक्त किये गये हैं जो कि मुझको अमान्य हैं।

कुछ उदाहरण देंगे इस तरह के?

इससे क्या अन्तर पड़ेगा! नीत्शे भी एक उदाहरण है ही। मैं भी यह बात मान सकता हूँ कि मैं इन विचारों से सहमत नहीं हूँ लेकिन विचारों से असहमति प्रकट करते हुए भी मैं यह कहना चाहूँगा कि नीत्शे की रचनाओं में एक अन्तर्दृष्टि भी है जिसका कि मूल्य है। उस अन्तर्दृष्टि को तो मैं स्वीकार करता हूँ, उससे बहुत गहराई में उन चीज़ों को देखा और पहचाना गया है जिन चीज़ों को लोगों ने उनसे पहले नहीं देखा था। पर उसके बाद, विचार के द्वारा उस अन्तर्दृष्टि से जिन परिणामों तक वह पहुँचा वे परिणाम आपको अस्वीकार भी हो सकते हैं। लेकिन जो उसको दीखा, उसका महत्त्व तो फिर भी बना रह सकता है। आप दूसरे परिणाम निकाल सकते हैं लेकिन यह तो मानना होगा कि उसने कुछ देख लिया जो कि उससे पहले कोई देख नहीं पा रहा था।

तो क्या यह मानें कि कला की उत्कृष्टता के लिए फिर विचारों पर या कवि की मूल्य-चिन्ता, किस दिशा में जा रही है उस पर अधिक विचार नहीं किया जाना चाहिए? यह सवाल मैं इसलिए भी पूछ रहा हूँ कि आप भी यह मानते रहे हैं कि कविता का, साहित्य का, कलाओं का असर संवेदना के बदलाव पर पड़ता है।

हाँ, रचना संवेदन को एक नया संस्कार देती है। चीज़ों को देखने, पहचानने-समझने, उनके प्रतिकृत होने की प्रक्रिया दूसरी हो जाती है। इस दृष्टि से तो उसका महत्त्व है; और इस दृष्टि से इसका विचार होना चाहिए कि कविता क्या करती है। क्या है, इसका विचार अपनी जगह है। क्या करती है, इसका विचार अपनी जगह है। वह भी होना चाहिए। लेकिन केवल उतने तक सीमित नहीं रहना चाहिए।

लेकिन जब विचारों की वांछनीयता या संवेदना की दिशा की वांछनीयता का, सवाल उठता है तब सामाजिक सन्दर्भ में वह सवाल इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि किसी कलाकार के विचारों की अनेदखी भी नहीं की जा सकती। अगर कभी लगता है कि वे

विचार अस्वस्थ हैं तो उसे उत्कृष्ट कलाकार मानने में या उस कला को मानने में कुछ संकोच-सा होने लगता है। ऐसा नहीं होता?

नहीं, एक तो वांछनीय आप कहते हैं तो इस शब्द के आशय पर विचार होना चाहिए। यानी कोई एक परिणाम है जो कि आप का काम्य है। आपके लिए वह चीज़ वांछनीय है जो आपको आपके चाहे हुए फल देती है। यह ज़रूरी तो नहीं है कि कवि ने भी वही चाहा हो या कि रचना भी वही चाहती हो। तो वह प्रभाव आपकी दृष्टि से अवांछनीय होगा। लेकिन यह भी बिलकुल सम्भव है कि समग्र मानव के लिए यह कल्याणकारी भी हो। अस्वस्थता की बात : अगर कोई भी एक जो साधारण स्थिति या कि अवस्था या मानसिकता है उससे इधर-उधर जाना, किसी भी हद तक असाधारण होना भी अस्वस्थता है, तब तो कभी कोई कवि स्वस्थ नहीं होता, कोई रचना स्वस्थ नहीं होती!

इस अर्थ में मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं उसी अर्थ में कह रहा हूँ जिसमें विचार आप को अमान्य हैं। या इस तरह के और भी लेखक हो सकते हैं जिनके विचारों में कुछ रुग्णता लगे लेकिन यह लगे कि कलाकार बड़े हैं, कलात्मक उत्कृष्टता उनमें है। तो ऐसी स्थिति में अगर उनकी आलोचना—बल्कि मैं तो कहूँगा कुछ लोग भर्त्सना भी करते हैं जो मैं ठीक नहीं मानता—पर आलोचना अगर होती है इस आधार पर तो उसे क्यों गलत माना जाए?

नीत्शे का ही एक उदाहरण सामने रखें तो उसने पूरी पश्चिमी सभ्यता के ही एक बहुत बड़े रोग को पहचाना। वह स्वयं भी स्वस्थ नहीं था। रोगी था—काफ़ी विकट रूप में रोगी था : उस रोगी का भी रोग था जिसको उसने पहचाना! उसके अलावा ऐसे रोगों का जो कि उससे जुड़े हुए थे उनका भी रोगी था। लेकिन वह पहचान उसने की जो पहले नहीं थी। तो हम उसको रोगी तो मानते हैं लेकिन उस पहचान का महत्त्व स्वीकार करते हैं क्योंकि वह पहचान मनुष्य के, मानव मात्र के, स्वास्थ्य में योग दे सकती है।

हाँ, यह कह सकते हैं कि उस रुग्णता की पहचान वह साहित्य में कराता है। इस दृष्टि से तो वह काम का हो सकता है। पर उसका समाज पर जो असर पड़ता है उसे हम कैसे ठीक मानें? यह सवाल इसलिए मैं और पूछना चाह रहा था कि आपने ही एक दफा कहा था...

नीत्शे का प्रभाव समाज पर पड़ा। जिस तरह की आलोचना का उल्लेख आप कर रहे हैं वह भी उसी समाज में से आ रही है जिसका नीत्शे एक अंग था, जिसको उसने प्रभावित किया—और समाज का बहुत बड़ा भाग, आलोचकों में भी अधिसंख्य लोग, उसकी अन्दृष्टि से प्रभावित हुए—जो कि अच्छा प्रभाव है।

नहीं, मैं यह सवाल इसलिए भी पूछना चाह रहा था कि एक दफ़ा आप ही ने अपनी एक टिप्पणी में यह कहा है कि सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध दोनों साथ ही रहते हैं। क्योंकि वे एक ही चेतना की उपज हैं। क्योंकि एक कलाकार जब सौन्दर्य की रचना करता है तो शिवत्व का भाव उसमें सन्निहित रहता है क्योंक वह एक ही चेतना में रचता है। तो ऐसी स्थिति में अगर सौन्दर्य-बोध में और मूल्य-बोध में हमें कोई द्वैत दिखाई देता है या ऐसा लगता है कि सौन्दर्य-बोध से हम सहमत हैं और मूल्य-बोध से हम सहमत नहीं हैं, तो क्या यह रचने वाली चेतना या ग्रहण करने वाली चेतना दोनों मे से कहीं किसी का कोई द्वैत नहीं दीखता?

जहाँ तक मुझे याद है कि उस लेख में भी मैंने यही कहा है कि मैं चाहता हूँ कि इन दोनों में कोई विरोध न हो, और मैं मान सकूँ कि कोई विरोध नहीं है या विरोध नहीं होता तो इसका मतलब यह है कि उसका कोई प्रमाण मैं नहीं प्रस्तुत कर सकता। वहाँ भी मुझे यह लगा कि इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि वास्तव में ऐसा है। मैं चाहता हूँ कि रचना ऐसी ही हो कि दोनों कसौटियों पर खरी उतरे। मैं सोचता हूँ कि अब भी स्थिति तो वहीं है; दोनों कसौटियाँ कविता पर लागू की जा सकें और दोनों पर कविता खरी उतरे तब हम उसको पूरी तरह स्वीकार करें। उसमें यह शंका निहित है कि ऐसा नहीं भी हो सकता है। तब हम क्या करें? इसका कोई सामान्य उत्तर तो फिर मैं नहीं दे सकता। यह उत्तर जरूर बनता है कि तब फिर उस पर विचार करें कि किस दृष्टि से हम उसको महत्त्व दें और कहाँ तक इसको मर्यादित भी करें। कुछ रचनाओं के बारे में यह कह सकते हैं कि यह सुन्दर तो नहीं है लेकिन यह जो बात कह रही है वह ठीक बात कह रही है, हमारे काम की है। क्या यह कहना उसको रचना के या कला के क्षेत्र से बाहर कर देना होगा? मुझे लगता है कि हाँ, ऐसा होगा, लेकिन इसको लेकर कोई बहुत दावा नहीं करना चाहता हूँ। दूसरी तरफ़ क्या किसी रचना के बारे में यह कहा जा सकेगा कि 'सुन्दर है और हमारे संवेदन को छूती है

लेकिन शायद कल्याणकारी नहीं'? निश्चय ही ऐसी रचनाएँ होती हैं। बल्कि आज-कल अधिकतर जो रचनाएँ सामने आती हैं उनके बारे में यही कहा जा सकता है कि संवेदन को छूती हैं, प्रभावित भी करती हैं, लेकिन शायद शिव नहीं है। तो उनको क्या कहा जाये? उनके बारे में भी अन्तिम रूप से यह निर्णय दे देना कि ये इसलिए कला नहीं हैं, इसमें मुझे थोड़ा संकोच होगा।

इन दोनों में से जब आप को चुनाव करना होता है, आपकी प्राथमिकता का सवाल होता है, तो मुझे लगता है कि आप उस रचना को अधिक महत्त्व देते हैं जो कि कला है चाहे उसमें उसके विचार आपकी दृष्टि से मान्य न हों। दूसरी ओर ऐसी रचना के विचार जो आपको मान्य हों और कल्याणकारी लगते हों लेकिन कला की दृष्टि से जो सुन्दर न हों उसे आप कम महत्त्व देते हैं। या नहीं देते हैं?

शायद यह बात ठीक है। एक तो मूल्य-दृष्टि समय-सापेक्ष यानी समाज-सापेक्ष है। समाज-सापेक्ष है, इसका मतलब यह तो है ही कि समय-समय पर बदलती है। इसका यह भी मतलब है कि उसको अस्वीकार कर देना हमेशा समाज के बस की बात है। लेकिन इससे अलग अगर कोई सौन्दर्य-बोध है तो वह समाज-सापेक्ष नहीं है, वह व्यक्ति-सापेक्ष है। इसलिए उसको महत्त्व देना रचना का अंग हो जाता है। अगर कोई चीज़ सामाजिक मूल्यों से अलग सुन्दर या असुन्दर हो सकती है तो उसका सौन्दर्य जो देखता है उसका वह देखना अद्वितीय देखना है। फिर उसके बाद अगर मूल्यों की दृष्टि से वह घटिया है तो समाज उनको अस्वीकार कर सकता है। लेकिन अगर वह देखने से इनकार कर देता है तब वह समाज की एक क्षति है जिसकी पूर्ति समाज नहीं कर सकता।

इसी के साथ एक और सवाल जो मुझे लगता है जुड़ा हुआ है वह परम्परा का सवाल है। क्योंकि जब आप समाज की सौन्दर्य-दृष्टि की बात करते हैं और उसकी सामाजिक संवेदना की बात करते हैं तो वह समाज की एक परम्परा का सवाल है : कोई भी समाज एक परम्परा में जीवित रहता है और उसकी मूल्य-दृष्टि और सौन्दर्य-दृष्टि दोनों के रूपायन में उस परम्परा का बड़ा योगदान रहता है। और आप मानते हैं कि एक कवि भी परम्परा से मुक्त नहीं हो सकता; वह लगातार उसी में रहता है। उसी का नया

सर्जन करता है लेकिन उसी में रहता है। इस बात को दूसरी तरह से भी आपने कहा है कि कविता कविता में से निकलती है और रूप रूप में से निकलता है। पर दूसरी ओर आपने कुछ जगहों पर यह भी कहा है कि स्थितियों में, सामाजिक स्थितियों में, सामाजिक सन्दर्भों में जो परिवर्तन होता है वह कविता में परिवर्तन करता है। शायद 'तार सप्तक' की—या पूरा नहीं याद आ रहा है कि किस सप्तक की—भूमिका में यह बात उठी है कि इसी परिवर्तन के कारण कवि नयी प्रणालियाँ खोजता है सम्प्रेषण की। तो क्या इन दोनों में आप कोई विरोध नहीं देखते या इन दोनों को आप एक साथ सच मानते हैं?

इनमें विरोध कहाँ है!

इसलिए कि फिर कविता क्यों बदलती है? कविता में परिवर्तन कविता के अपने दबाव की वजह से होता है या सामाजिक परिवर्तन की वजह से होता है?

देखिए, एक तो कविता कविता में से निकलती है, और जब निकलती है तो उस परम्परा में जुड़ जाती है जिसमें से और कविताएँ निकलेंगी—यानी वे थोड़ी-सी बदल गयी हैं। परम्परा लगातार बदलती जाती है इसलिए कि वह किसी चीज़ को मिटाकर उसका स्थान नहीं लेती बल्कि उसमें जुड़ कर उसका रूपान्तर कर देती है। और स्मृति में तो वह सारी चीज़ बनी रहती है। लेकिन सिर्फ परम्परा बदल रही है, या कविता में से कविता निकलने के कारण वही बदल रही है, ऐसा तो नहीं है। ग्रहीता का संवेदन भी तो लगातार बदल रहा है; कविता ग्रहण करने के नाते बदल रहा है और बाहर के कारणों से भी बदल रहा है। इसका मतलब यह है कि सम्प्रेषण की शैलियाँ और उसकी जरूरतें भी बदलती जाती हैं। तो कविता में से कविता निकलने के कारण जिस तरह के परिवर्तन अपेक्षित होते हैं उसके अलावा और भी परिवर्तन अपेक्षित होते हैं सम्प्रेषण की स्थितियाँ बदल जाने के कारण। तार सप्तक में शायद मैंने दूसरे तक पहुँचने की बात पर इतना बल नहीं दिया था; बाद में अधिक जोर उस पक्ष पर दिया है। दूसरे तक पहुँचने की इच्छा और उसके सामर्थ्य की पहचान को मैं रचना-कर्म का अनिवार्य अंग मानता हूँ। अपने को कह देना ही काफ़ी नहीं है। यह विश्वास उसके साथ बनना चाहिए कि अगर अपने को कहा तो कहने का मतलब ही यह है कि दूसरों तक पहुँचने योग्य उसे बनाया। दूसरे पक्ष का लगातार विचार भी

कवि के कर्म के साथ मैं जोड़ देता हूँ। तार सप्तक में इतना आग्रह नहीं है। लेकिन महत्त्व इसको देता हूँ।

यह जो सम्प्रेषण की परिस्थितियों की बदलाव से कविता में बदलाव आता है उसके बारे में आपने कई दफा काफ़ी कुछ कहा है। खास तौर से वाचिक परम्परा से पठ्य परम्परा तक आने में कविता का जो परिवर्तन है उसके बारे में जब आपने कहा कि सम्प्रेषण की परिस्थितयों में और सम्प्रेषण के साधनों में जो परिवर्तन हुआ उसकी वजह से कविता में एक संरचनागत परिवर्तन सम्भव हुआ और वह बड़ा बुनियादी परिवर्तन था। अब इसको शरारत भरा सवाल न मानें, लेकिन मुझे कई दफा यह लगता है कि यह ठीक उसी तरह की बात है जो सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में मार्क्स ने कही थी, कि 'मीन्स एंड टूल्स ऑफ प्रोड्क्शन' में परिवर्तन होता है तो उससे समाज का सारा ढाँचा बदलता है और उस समाज की सारी संरचना में एक तरह का परिवर्तन आता है। तो इसी तरह आप जब 'मीन्स एंड टूल्स ऑफ कम्युनिकेशन' में परिवर्तन की बात करते हैं और उससे पूरी कविता में परिवर्तन की बात करते हैं तो क्या यह नहीं लगता कि काव्य-चेतना को एक बाहरी—आन्तरिक दबाव के बजाय एक बाहरी प्रभाव के द्वारा परिवर्तित आप मान रहे हैं?

नहीं। यह तुलना, ऐसा तो नहीं है कि नहीं हो सकती। इसमें तर्क के ढाँचे में एक समानता है। लेकिन मैंने वाचिक परम्परा की जो बात कही, उससे जो परिणाम मैंने निकाले, उनमें एक यह है कि जब हम वाचिक सम्प्रेषण से इस छपी और लिखी कविता की ओर आते हैं तब हमारी रूप की परिभाषा बदल जाती है और संरचना का महत्त्व हो जाता है। तो औजार के रूपान्तर से समाज में जो परिवर्तन आते हैं उनसे आपको तुलना करनी हो तो यह कहना होगा कि जैसे यहाँ पर रूपाकार बदला है वहाँ पर जो चीज़ बनायी गयी—अगर आप 'बनाने' में रचना और सिर्फ कारीगरी का भेद छोड़ भी दें तो—जो चीज़ बनायी गयी उसका सामाजिक महत्त्व कुछ दूसरा हो जाएगा। और—उस को समाज तक पहुँचाने की प्रक्रिया भी बदल जाएगी। और यह ठीक है कि यन्त्र के द्वारा या कि बड़े पैमाने के यन्त्र से चीज़ें बनाये जाने से पहले जैसा होता था उसमें कारीगरी का (जब तक दस्तकारी के स्तर पर थी) एक कलात्मक मूल्य था जो कि बाद में नहीं रहा। बाद में वह चीज़

बिक्री के लिए हो गयी, जिंस हो गयी; उसके पहले उसका एक कलात्मक महत्त्व बना रहता था। तो तुलना का आधार यह होगा कि परिवर्तन तो हुआ; जो चीज़ श्रम के द्वारा बनायी जाती थी उसका समाजिक मूल्य उसके उपयोग से जुड़ गया। इस आधार पर तुलना आप कर सकते हैं, और आज कविता का क्या उपयोग होता है यह भी आप देख सकते हैं। लेकिन दूसरे स्तर पर वह बात लागू नहीं होगी।

नहीं, पर अगर कविता में उसकी वजह से कोई परिवर्तन सम्भव होता है तो क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि चेतना पर औजारों का प्रभाव पड़ता है?

चेतना पर औजारों का प्रभाव भी पड़ता है इसलिए कि चेतना का एक अंग यह पहचान भी है कि इन औजारों से मैं क्या कर सकता हूँ? या कि जो मैं इन से कर सकता हूँ उसकी क्या सीमाएँ हैं जब तक मैं अपने को इन औजारों तक सीमित रखता हूँ।

लेकिन शायद उसकी दिशा की वे औजार नियन्त्रित नहीं करते—

नहीं करते। चेतना तो इससे बड़ी चीज़ है।

और वह औजार का अपने हित में इस्तेमाल करती है बजाय इसके कि औजार उसका इस्तेमाल करें। और वह किसी एक निश्चित दिशा की ओर हमेशा नहीं ले जाती। लेकिन एक फ़र्क़ जो मुझे दिखाई देता है वाचिक परम्परा की कविता में और अब जो कविता लिखी जा रही है उसमें, जैसे एक केन्द्रीय मुहावरा बन गया है; केन्द्रीय संवेदना तो युगों की रहती है और वह साहित्य में व्यक्त हो सकती है, लेकिन एक केन्द्रीय मुहावरा-सा बन गया है और इसका एक नतीजा यह हुआ है कि जो अलग-अलग इलाकों में रहने वाले हैं, जो अलग-अलग सामाजिक परिस्थितियों में रहने वाले कवि हैं, अलग-अलग परिवेश में—(प्राकृतिक परिवेश में भी उसमें शमिल करता हूँ)—रहनेवाले कवि हैं, उनकी कविताओं में जो विशिष्टता अलग-अलग परिवेश में रहने की वजह से दिखाई देनी चाहिए थी वह कम दिखाई देती है और एक सार्वभौम मुहावरा-सा इनकी कविता में दीखने लगा है। अगर कहीं भेद होता है तो विचारों की वजह से कुछ भेद नजर आता है। तो क्या यह स्वस्थ चीज़ है कविता के विकास के लिए?

देखिए, तर्क का जो रूप आप अभी बहस में लाये उसी का इस्तेमाल यहाँ करके कहूँ कि अगर आप यन्त्रोद्योग वाले तर्क कविता पर लागू करेंगे तो अनिवार्यतया यह परिणाम होगा कि—

उसी की ओर मैं संकेत करना चाह रहा था।

एक तो आप यन्त्र-विधियाँ बाहर से लाएँगे और उन्हें कविता पर लागू करेंगे, जैसे टेक्नोलॉजी इम्पोर्ट की जाती है, तो उससे एक एकरूपता तो आएगी ही। जहाँ कविता का ऐसा इस्तेमाल हो रहा है—टेक्नोलॉजी के स्तर पर आप मुहावरा भी ला रहे हैं, वहाँ उसमें एकरूपता भी आएगी बल्कि एक केन्द्रीय समानता तो अपेक्षित ही होगी। जिस तरह का वैविध्य और विचित्रता दस्तकारी के स्तर पर सम्भव होती है और काम में भी बनी रहती है, वह इस स्थिति में नहीं रह सकती। तो यहाँ पर फिर आप को चुनना होगा कि आप क्या चाहते हैं और उसके लिए आप कितना दाम देने को तैयार हैं। मैं उस पक्ष का हूँ जो कि दस्तकारी को फिर भी महत्त्व देगा : मैं कहूँगा कि टेक्नोलॉजी उतनी ही लानी चाहिए जितनी हमारे काबू में रहे—यह हमको स्वीकार नहीं है कि वह हम पर हावी हो जाए। और इसी तर्क को आप चाहें तो कविता के क्षेत्र में भी ला सकते हैं। क्यों कि बड़े-बड़े प्रेस हैं जो कि बहुत बड़ी ग्राहक-संख्या वाली पत्र-पत्रिकाएँ निकालने लगे हैं और उनको एक जिंस के रूप में कविता की भी ज़रूरत है। उनके लिए तत्कालीन लोकप्रिय मुहावरे में आप कविता, कहानी, उपन्यास सब कुछ रच कर देते चलिए! यह तो उस व्यवसाय का तर्क है। लेकिन अगर हम इस स्थिति की बात कर रहे हैं तो उस सम्भावना की बात करनी चाहिए जो कि इस परिस्थिति का या परिस्थिति के दबाव का मुकाबला भी कर सकती है और मानवता को इस टेक्नोलॉजी की गुलामी स बचाने की कोई आशा दे सकती है।

तो क्या पिछले कुछ अरसे से जो आप फिर वाचिक परम्परा का कुछ आग्रह करने लगे हैं और उसके तत्त्व—यह नहीं कि ठीक उसी तरह से वापस उसको पुनर्जीवित किया जाए लेकिन उसकी कुछ विशेषताओं को, उसके बुनियादी तत्त्वों को—आज की कविता के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं—क्या उसकी वजह यही है?

यह विचार भी उसके साथ जुड़ जाता है, लेकिन वाचिक परम्परा की बात जो करता हूँ तो एक तो उसका सन्दर्भ यह है कि हमारा देश अभी तक दो-तिहाई निरक्षर है। दो-तिहाई तो बिलकुल निरक्षर है; इसका यह मतलब

भी नहीं कि एक-तिहाई पुस्तकें पढ़ता है या पढ़ भी सकता है। साक्षर है, बस इतना ही है। जहाँ पढ़ने वालों की संख्या इतनी कम है लेकिन साहित्य से या रचना से या काव्य से जुड़नेवालों की संख्या उन लोगों में भी काफ़ी है जो कि निरक्षर है, वहाँ ध्यान रहना चाहिए कि हमारे पूरे समाज का एक संस्कार अभी बचा हुआ है जिसका उपयोग हो सकता है। इस सांस्कृतिक संस्कार के आधार पर रचना को जन-साधारण तक यानी कि निरक्षर समाज तक भी पहुँचाने के लिए वाचिक परम्परा को महत्त्व देना चाहिए। सम्प्रेषण की विधियों के बारे में वहाँ से बहुत-कुछ सीखा जा सकता है—या कि सीखा हुआ, जाना हुआ तो वह है, उसको भुलाये जाने से बचाया जा सकता है। दूसरा कारण उस पर बल देने का यह हुआ कि जब जो नये संचार माध्यम आये हैं, जिनमें श्रव्य की सम्भावनाएँ बहुत हैं, ये वाचिक परम्परा का दूसरा और वर्तमान परिस्थिति में कहना चाहिए कि अँधेरा पक्ष हैं। क्योंकि वाचिक परम्परा में श्रुति का संस्कार रहा और सुनकर ही संस्कार ग्रहण किये जाते रहे; इसलिए अगर आज हम अपने कान को यन्त्रों का—और वह भी सरकारी या कि बड़े संगठनों के यन्त्रों का—गुलाम हो जाने देते हैं तो हम उस पूरी वाचिक परम्परा की जो रचनात्मक सम्भावनाएँ थीं उनकी रचनात्मकता मिटाकर उनको भी गुलामी में परिवर्तित कर देते हैं। इससे बचने के लिए भी इस चीज़ पर बल देना चाहिए कि वाचिक परम्परा में रचनात्मक संस्कार बनाने की बहुत-सी सम्भावना है और उस सामर्थ्य की रक्षा इस परिस्थिति से करनी चाहिए।

यह जो अभी आपने नये संचार-साधनों की बात कही, इससे एक और बात मेरे मन में उठती है (जिसकी थोड़ी चर्चा जम्मू के शिविर में भी हुई)। यह जो नयी तरह की सम्प्रेषण परिस्थिति दूरदर्शन के जाल ने हमारे देश में पैदा की है, तत्काल ऐसा नहीं लगता कि इसे रोका जा सकेगा; लगता है कि लोगों का यह आकर्षण जो है वह इतना अधिक है, जन-साधारण का भी, कि लेखक अगर उसका सर्जनात्मक इस्तेमाल नहीं करता है या उस दिशा में नहीं सोचता है और इस नयी सम्प्रेषण परिस्थिति की सही पहचान अगर उसके साहित्य में विकसित नहीं होती और उसके अनुरूप वह नयी प्रणालियाँ नहीं खोजता है तो शायद उसकी कविता कुछ पीछे रह जाए। एक सिद्धान्त के रूप में अगर हम यह मान लें कि सम्प्रेषण परिस्थितियों में और साधनों में बदलाव से कविता में भी कुछ बदलाव आता है, तो अब किस तरह का बदलाव आप देखते हैं?

क्या चीज़ उन नयी सम्प्रेषण-परिस्थितियों में आनी चाहिए?

अब जो मैं वर्तमान परिस्थिति में देखता हूँ—यह तो है कि इन चीज़ों का एक बड़ा प्रबल आकर्षण है, एक सम्मोहन-सा है टी.वी. का। केवल इसलिए नहीं कि एक स्टेटस सिम्बल बन गया है टी.वी. सैट, इसलिए भी कि माध्यम का सामर्थ्य है सीधे-सीधे लोगों तक पहुँचने का, घर में, झोंपड़ी के भीतर भी पहुँचने का। यह आपने देखा होगा कि पिछले वर्ष लगातार कितनी तेजी से दूरदर्शन का जाल, नेटवर्क के अर्थ में भी और—

जाल ही के अर्थ में कहना चाहिए!

जाल के अर्थ में भी कितनी तेजी से फैलाया गया और इस बात की कितनी प्रशंसा की गयी, इस बात का श्रेय लिया गया, कि सारे देश तक आवाज पहुँचाने की व्यवस्था हमने कर दी है। लेकिन इस बात को तो उतना स्पष्ट रूप से सामने नहीं लाया गया कि यह सारी की सारी एकतरफ़ा व्यापार की व्यवस्था है। एक केन्द्र से निकलने वाली आवाज देश के कोने-कोने की आवाज भी वापस केन्द्र तक पहुँचे, इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। हालाँकि इसकी सम्भावना भी तो उसमें दूसरे पक्ष से निकलती है। जो जाल फैलाया गया है वह इसलिए है कि एक दिशा में प्रभावों का प्रवाह तेजी से और दूर-दूर तक हो सके। दूसरी दिशा में भी वैसा होना चाहिए, इसकी कोई खास चिन्ता नहीं है। लेकिन इसके बावजूद इसका बड़ा प्रबल आकर्षण है। तो यह स्थिति तो आएगी। इस पहचान में लोगों को समय लगेगा कि जितना इसमें सामर्थ्य है उससे जितनी सम्भावनाएँ खुलती हैं उतने ही उसके ख़तरे भी हो गये हैं। इस समय तो प्रयत्न यही है—सरकार का भी और समृद्ध संगठनों का भी—कि जल्दी से जल्दी इस शक्ति का उपयोग करके ऐसी स्थिति ले आयी जाये कि सुनने वाला हमेशा के लिए हमारा गुलाम हो जाए। अब कवि के लिए या साहित्यकारों के लिए प्रश्न यह बनता है कि या तो हम इसका विरोध करते हुए परिस्थिति से और इन सभी सम्भावनाओं से कट जाएँ, एक तरफ़ डाल दिये जाएँ—यह सम्भावनाएँ हैं और ऐसा हुआ भी है—या हम भी साथ बहते चलें।

हाँ, पर खतरा आखिर एक सर्जनात्मक चुनौती होता है।

सच्चाई यह है कि कवि का या कि साहित्यकार का आज के इस समाज में वह स्थान नहीं है, जो कि पहले कवि का होता था। न लोगों के बीच वह सम्मान है, और न वह शक्ति उसके पास है। दूसरा सवाल यह बनता है कि क्या कवि यह यत्न कर सकता है कि इस चीज़ में शामिल होकर उसको

यथासम्भव इस परिस्थिति से उबार सके, बहाव में साथ बह कर उसे मोड़ दे सके? मैं नहीं जातना इसका क्या जवाब है, कि वास्तव में वह ऐसा कर सकता है या नहीं। लेकिन अगर कोई ईमानदारी से इसका प्रयत्न करना चाहता है तो मैं उस प्रयत्न का श्रेय उसको देने के लिए तैयार हूँ। करके देख ले कि क्या हो सकता है। और अगर वह यह नहीं करता, पर उससे अलग हो कर चाहता है कि टी.वी. के बिना भी या कि जिसके पास टी.वी नहीं है या जो नहीं देखते उन तक पहुँचे, तो उसके प्रयत्न को भी मैं अमान्य नहीं करता। मेरा खयाल है दोनों तरह की कोशिशें होंगी। कम से कम मैं यह नहीं कह सकता कि इनमें से एक गलत है और दूसरी सही है। दोनों होनी भी चाहिए। उन लोगों तक भी पहुँचना चाहिए जो कि यह नहीं मानते कि हम टी.वी. के बिना सभ्य समाज के अंग नहीं रहते, और उन लोगों तक भी पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए जो टी.वी. को महत्त्व देते हैं—कि टी.वी. के माध्यम से भी कुछ अच्छे संस्कार लोगों तक पहुँचाये जा सकें—रचनात्मक या सांस्कृतिक जीवन के संस्कार। राजनीति की बात मैं नहीं कह रहा हूँ।

मैं जो बात इंगित करना चाह रहा हूँ वह यह भी है कि यह जो एक नयी सम्प्रेषण-परिस्थिति हमारे सामने पैदा हुई, इसके कारण से जो चुनौती कवि के सामने आती है जिसका मुकाबला उसे अपने माध्यम से ही करना है। उसी की मदद से करना है, तो उससे कविता में क्या कोई और रूपगत परिवर्तन की सम्भावना आप देखते हैं जैसी आपने वाचिक परम्परा से पठ्य परम्परा की कविता के सिलसिले में देखी? क्योंकि अगर एक समाज में लम्बे समय तक टी.वी. का प्रयोग होता है तो (चाहे कवि दूसरी तरह से पहुँचना चाहता रहे, मैं नहीं कहता कि वह न पहुँचे) समाज का जो ग्रहण-संस्कार है उसमें एक संरचनागत परिवर्तन भी लम्बे समय तक होता है। जैसा कि अखबार पढ़ने वाला आदमी धीरे-धीरे सुनने की बजाय पढ़ना पसन्द करता है। तो जैसे एक पठ्य परम्परा ने एक संरचनागत परिवर्तन कविता में किया, क्या उसी तरह का कोई परिवर्तन अब आप सम्भव देखते हैं?

कुछ परिवर्तन तो होगा। कुछ शायद हो भी रहा है—स्पष्ट तो नहीं हुआ है। जो हो रहा है। वह शायद अच्छा नहीं है। यानी रेडियो और टी.वी. पर, खास कर टी.वी पर, जिस तरह के कवि-सम्मेलन और मुशायरे होने लगे हैं...

वह तो वाचिका परम्परा या पठ्य परम्परा की ही चीज़ें सामने आती हैं वहाँ से—उसमें नया तो नहीं लगता है कुछ।

हाँ, लेकिन उस परम्परा की जो कमजोरियाँ थीं उनका ज्यादा उपयोग होता है, क्योंकि आग्रह तो लोकप्रियता की ओर है। क्योंकि इनकी लोकप्रियता का उपयोग फिर दूसरे प्रयोजनों के लिए किया जाता है। ऐसे कार्यक्रम का स्पांसर अपनी चीज़ का विज्ञापन करने के लिए कवि-सम्मेलन और मुशायरे का उपयोग करता है। इसलिए इसका बहुत महत्त्व है कि जो चीज़ वहाँ सुनायी जाए, कवियों का जो रूप, जो छवि दीखे वह लोगों को आकर्षित करे। फिर उसके बाद तेल-साबुन बेचना हो, सिगरेट-तम्बाकू बेचना हो, फटफटिया बेचना हो, खाने-पीने की चीज़ें बेचना हो, कुछ भी बेचना हो—उसका इस्तेमाल फौरन करें! लेकिन यों जो प्रभाव पूरे समाज पर या सम्प्रेषण की पूरी परिपाटी पर पड़ता है, उसका कुछ अच्छा उपयोगी भी हो सकता है यदि वैसा लक्ष्य हो। एक तो मेरा खयाल है कि काव्य-वाचन को फिर से नया महत्त्व दिया जा सकता है—और शायद दिया भी जा रहा है। रंगमंच का उपयोग भी काव्य को प्रस्तुत करने के लिए बढ़ेगा, और बढ़े तो अच्छा है।

और कुछ मिश्र माध्यम भी हो, जैसे वाणी भी है जो कि कवि का पहला माध्यम था। उसके साथ कुछ उसका यान्त्रिक विस्तार भी हो और कुछ छवियाँ भी उसके साथ प्रसारित की जाएँ, या चल-चित्र का भी इस्तेमाल हो या नाटकीय मंचन इत्यादि; जिसको कविता की मिश्र प्रस्तुति कह सकते हैं। मेरा खयाल है कि उधर कवियों का भी और दूसरों का भी ध्यान जाएगा। यह भी अच्छा ही है। इसके सहारे फिर उन अर्थों को भी समाज के सामने लाया जा सकेगा जो कि समाज के लिए महत्त्व रखते हैं, उसके संवेदन को समृद्धतर बना सकते हैं और उस छिछलेपन से बचा सकते हैं जो टी.वी. के लिए आकर्षक होता है।

अब मैं फिर वही परम्परा की बात की ओर लौटना चाहूँगा। जब हिन्दी का कवि परम्परा की बात करता है तो उसमें कहीं भारतीयता के संस्कार की बात भी करता है। अब भारतीयता को आप किस तरह व्याख्यायित करते हैं? विशिष्ट दार्शनिक परम्परा के रूप में देखते हैं या कोई और संस्कारों की परम्परा के रूप में देखते हैं, संवेदनागत परम्परा के रूप में देखते हैं? कैसे इसे परिभाषित करेंगे?

दार्शनिक परम्परा भी उसका एक अंग होनी चाहिए। लेकिन एक समग्र अस्मिता का ही महत्त्व होना चाहिए। भारतीयता का मतलब है भारतीय अस्मिता की पहचान—व्यक्ति के सामने एक आत्म-बिम्ब हो जो कि भारतीय हो। लेकिन यह भी है कि उसको सीढ़ी में एक स्थान पर मैं रख देना चाहूँगा क्योंकि भारतीय हो जाने के नाते ऐसा नहीं है कि मनुष्य मनुष्य नहीं रहेगा। तो एक शर्त यह रहेगी कि एक मानव के नाते मैं क्या हूँ, कहाँ हूँ—मानवता की एक पहचान होनी चाहिए। फिर दूसरी तरफ़ मैं जिस प्रादेशिक समाज में जीता हूँ वह है—यहाँ पर ऐसे समाज हैं, जन-जातियाँ हैं, वन-जातियाँ हैं, जिन का जीवन उस बिरादरी के बाहर बहुत कम जाता है। बाहर के प्रभाव उनमें आते जरूर हैं—चीज़ें महँगी होती हैं या दुर्लभ हो जाती हैं और उसका असर उन पर पड़ता है; फिर शहरी लोगों द्वारा शोषण तो है ही। लेकिन उनका सामान्य सांस्कृतिक जीवन उसी एक बिरादरी की सीमा में रहता है।

भारतीयता की बात के साथ ही एक और सवाल जुड़ा हुआ है। खास तौर से आपने एक-आध दफा इस तरह के वक्तव्य भी दिये है जिन्हें देखते हुए मैं समझता हूँ कि पुनर्जन्म या कर्मवाद की बात के बिना भारतीय जीवन-दृष्टि का विचार सम्भव नहीं होता। खास तौर से काल की आपकी जो कल्पना है, चक्राकार, वह भी कहीं-कहीं पुनर्जीवन या पुनर्जन्म की बात पर आधारित है या उसको पुष्ट करती है या दोनों ही एक दूसरे को पुष्ट करती हैं। लेकिन आप पुनर्जन्म को नहीं मानते बल्कि जहाँ तक मुझे स्मरण होता है एक-आध जगह पर आपने कहा भी है कि पुनर्जन्म मैं स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में भारतीय जीवन-दृष्टि से या भारतीय संस्कार से कैसे अपने को जुड़ा अनुभव करते हैं? क्योंकि यह तो भारतीय संस्कार का एक हिस्सा है पुनर्जन्म?

भारतीयता की बात तो मैंने की है; लेकिन एक तो पुनर्जन्म की बात ज़रूरी तौर पर भारतीयता का अंग नहीं है। दूसरे, मैंने ठीक यह नहीं कहा कि मैं इसे नहीं मानता। इतना ही कहा है कि पुनर्जन्म को मानना अनिवार्यतया उस काल की मेरी अवधारणा से जुड़ता नहीं है। उसके बिना भी काम चलता है। तो जितनी कम चीज़ें मान कर काम चल जाए उतना ही ठीक है।

लेकिन फिर भी पुनर्जन्म एक ऐसी धारणा है जिससे किसी तरह की टकराहट के बिना भारतीय जन कैसे रह सकता है?

बात इतनी ही है कि मैं पुनर्जन्म मानना ज़रूरी नहीं समझता; यही मैं कह सकता हूँ। इसका प्रमाण नहीं है कि पुनर्जन्म नहीं होता। उसे मानना अनावश्यक है, बस इतने तक ही मानता हूँ। यों काल की जैसी अवधारणा है, चक्रगति की जो बात है, उससे मैं समझता हूँ कि पुनर्जन्म की बात को मन से पीछे कहीं रखते हुए यह कहें कि जीवन में अवस्थिति का निर्णय करने के लिए एक तो दिक् का विचार करना होता है कि कोई चीज़ 'कहाँ' है, दूसरे काल का विचार करना होता है कि कोई चीज़ 'कब' है। और तीसरे कह लीजिए कि अस्ति का, अस्मिता का विचार करना होता—कि कौन है। तो पुनर्जन्म में यह जो मान लेना है कि दुबारा फिर वही संयोग होगा कि वही दिग्बिन्दु, वही काल-बिन्दु और अस्मिता का भी वही जब इकट्ठे होंगे, यह मानना मुझे अनावश्यक जान पड़ता है। काल की चक्रगति है, लेकिन जिसको अस्मिता कहते हैं उसे—आत्मा को अमर मान भी लें तो—कहीं ज्यों का त्यों वही पुंज इकट्ठा होता है यह मानना अनावश्यक है। वह कहीं बना रहता है, या किसी विश्वात्मा में एक हो कर रहता है, कोई ऐसी बड़ी चेतना है जिसमें वह भी चला जाता है और उसी में एक बिन्दु कभी अलग होकर फिर रूप लेता है—इस रूप में, अगर आप इसको पुनर्जन्म कहें, यानी कहें कि कुछ है जो मिटता नहीं है और बार-बार प्रकट होता है, तो इसका परिणाम यह नहीं निकलता कि वह ठीक नहीं है। लेकिन अगर आप पुनर्जन्म की परिभाषा ही ऐसी करें तब दूसरी बात हो जाती है। मैं तो सोचता हूँ जिस तरह हम एक निरवधि काल की कल्पना करते हैं, जैसे एक महासागर है उसमें से एक बूँद आप ले लीजिए या उसमें लहरें आती हैं—पुरानी कल्पना भी यह रही है कि एक उसका स्थिर रूप है और एक उसकी सतह पर लहरें आती रहती हैं—इसी तरह चेतना का भी एक महासागर हो सकता है जिसका एक अशेष और अनन्त रूप है और जिसमें जब-तब लहरें उठती रहती हैं—ऐसा मान सकते हैं। मैं जब पुनर्जन्म की बात को अनावश्यक मानता हूँ तब इस रूप की बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि ठीक उसी इकाई के फिर किसी तरह प्रकट होने की और पिछले जन्म की स्मृति वगैरह की बात करता हूँ। यह सब मानना अनावश्यक है।

स्मृति तो नहीं, लेकिन कर्मवाद का सिद्धान्त यह जरूर मानता है कि जिसे आप अस्मिता का पुंज कहें या आत्मा कहें वह जब तक विश्वात्मा में विलीन नहीं हो जाती—अगर वह हो जाती है तो उसके बाद अगर उसमें से कुछ निकलता है तब तो वह दूसरा कुछ

हो सकता है फिर भी तात्त्विक अन्तर उसमें नहीं होता—तब तक वह वही है। दूसरे, यह कहना भी एक तरह से भाषा का प्रयोग ही है, इसके अलावा कुछ नहीं है। लेकिन उसमें विलीन होने से पहले भी और देह के न रहने पर दुबारा वह देह धारण करती है तो वही पुंज अस्मिता का है। दिक् और काल तो बदलते हैं लेकिन अस्मिता का पुंज वही रहता है, उसकी पहचान चाहे तात्त्विक स्तर पर न हो पर उसकी बाहरी पहचान जरूर बदलती है। यह जो धारणा है पुनर्जन्म की मैं उसके बारे में बात कर रहा था?

देखिए, कर्मवाद के साथ इसको जोड़ते हैं तो मेरा खयाल है कि वहाँ पर एक दूसरी समस्या उसके साथ जुड़ी होती है—कि किसी ने जो अच्छे-बुरे कर्म किये उसका फल उसी को न मिल कर अगर किसी दूसरे को मिलता है तो वह कैसे न्याय हुआ? फल उसी को मिलना चाहिए। अगर वह एक जीवन जी के फिर वही वह नहीं रहा तो फल उसको कैसे मिलता है? और एक के कर्म के कारण दूसरे को लाभ या कष्ट हो, तो फिर ऐसा लगता है कि इस विश्व में कहीं न्याय नहीं है। इस बारे में आसान जवाब तो यही है कि 'मैं नहीं जानता कि न्याय है।' लेकिन मानना चाहता हूँ कि कुल मिला कर न्याय भी हो जाना चाहिए या एक सन्तुलन बनना चाहिए; और अगर सचमुच हम ऐसा मान लेते हैं कि ये अलग-अलग इकाइयाँ नहीं हैं, तो यह मानने में भी कोई बहुत बड़ी कठिनाई नहीं रहती कि फिर जो न्याय होता है या सन्तुलन बनता है वह उस बड़े पैमाने पर जा कर बनता है; छोटी-छोटी इकाइयों का अलग-अलग एक समीकरण बने यह तब अनावश्यक जान पड़ता है; यह शायद सम्भव भी नहीं है। लगता है कि ऐसा नहीं होता होगा; किसी बड़े पैमाने पर जा कर ही सब चीज़ों का हिसाब बराबर होता होगा।

निरन्तर आपकी कविता में रूप के प्रति एक आकर्षण मिलता है। दूसरी ओर अरूप के प्रति भी उतना ही आकर्षण मिलता है। बल्कि कहीं-कहीं लगता है—जैसे एक चिड़िया आ गयी वाली कविता है, उसका शीर्षक भूल रहा हूँ—जिसमें यह कहा गया है एक अरूप को उधार देते मानो डर लगता है, न जाने ऐसा कौन है। दूसरी ओर यह भी है जैसे 'आँगन के पार द्वार' की कविताएँ हैं, जिनमें है कि 'रूपों में एक अरूप सदा खिलता है' या कि 'आत्मा की भाँवरें महाशून्य के साथ रची गयीं।' तो क्या इन दोनों

में आप कोई अन्तर्विरोध नहीं देखते—इन दो तरह की अभिव्यक्तियों में?

जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं तो यह कह सकता हूँ कि अगर उसमें विरोध है भी, या किसी को दीखता है, तो मुझे क्या!

आपको क्या लगता है?

आप बताइए कि विरोध क्या आपको दीखता है?

मुझे लगता है एक तरफ़ अरूप के प्रति इतना आकर्षण है और सभी रूपों में एक अरूप को देखते हैं, वह 'महाशून्य' भी अरूप ही है जिस के साथ आत्मा की भाँवरें रची जाती हैं। दूसरी ओर निरन्तर आप एक रूप को ही महत्त्व दे रहे हैं और जहाँ मन में एक सन्देह है, एक डर जो उस कविता में प्रकट होता है जहाँ उस अरूप को उधार देते हुए मन डरता है—यानी अरूप के प्रति समर्पण करते हुए मन डरता है— तो क्या इसमें ऐसा नहीं लगता कि ये दो तरह की मन:स्थितियों में लिखी हुई कविताएँ हैं? जबकि हुआ यह कि 'आँगन के पार द्वार' वाली कविता पहले लिखी गयी है, यह बाद में— छपी तो बाद में ही है, यह बिलकुल तय है; मैं नहीं जानता कि लिखी कब? क्यों कि एक कविता 'आँगन के पार द्वार' की है और दूसरी 'कितनी नावों में कितनी बार' की पहली कविता है।

नहीं। एक तो यह है कि दार्शनिक को अपने सारे विचारों में जिस तरह का सामंजस्य चाहिए, कवि को उसकी आवश्यकता नहीं होती; और अगर वह उसके पीछे जाए तो फिर एक दूसरी नीरसता ही उसको मिल सकती है। इस अर्थ में तो फिलासफी में और काव्य में एक अन्तर है। वैसी कंसिस्टेंसी कवि को प्रयोजनीय नहीं है। नहीं तो इस तरह के दार्शनिक सवाल भी उठ सकते हैं कि यह जो शून्य की बात आप करते हैं तो बौद्ध दर्शन में जाते हैं, और अरूप की बात करते हैं तो वेदान्त में जाते हैं— यह सब क्या घपला है?

मैं केवल संवेदनागत बात कर रहा हूँ।

शून्य भी मेरे लिए तो वह नहीं है जो कि अंग्रेज़ी का वैकुअम है। इसको अगर आप अन्तर्विरोध ही मानते हैं तो ठीक है, वह तो कविता में होता है और इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए! और अगर वैसा नहीं है तो रूप और अरूप की जो बात है, अगर ऐसा है कि "रूपों में एक अरूप सदा खिलता है", तो क्यों नहीं दोनों के प्रति आकर्षण होना चाहिए? और क्यों नहीं यह

प्रश्न सबके सामने आते रहना चाहिए कि दोनों में क्या सम्बन्ध है, कि हम एक के माध्यम से कैसे दूसरे को पहचानें?

नहीं; यह सवाल इसलिए भी थोड़ा-सा महत्त्वपूर्ण लगता है कि अरूप के प्रति अगर केवल इस तरह का सन्देह ही व्यक्त हुआ होता और वह कविता में पहले हुआ होता, —अब मैं नहीं जानता क्या क्रम रहा होगा—तब तो मुझे विकास के क्रम में लगता कि शायद ऐसा सम्भव है। लेकिन जिस दृढ़ता के साथ, बहुत गहरे विश्वास के साथ यह बात कही गयी है कि "रूपों में एक अरूप सदा खिलता है" और उसके साथ जुड़ी हुई दूसरी कविताओं में, उसके बाद की कविताओं में, सन्देह है, तो मुझे थोड़ा-सा लगा कि ऐसा क्यों है? इसलिए मैंने यह सवाल पूछा। यह तो मैं मानता हूँ कि कविता में इस तरह का अन्तर्विरोध महत्त्वपूर्ण नही है। बल्कि शायद यह कहना चाहिए कि कवि की संवेदना ही इन सबको अपने घेरे में, परिधि में, लेती है क्योंकि वह केवल तर्क के आधार पर तय नहीं करता है।

सिर्फ कविता की बात न करके कवि की ही बात करें तो इस कवि की शिक्षा-दीक्षा तो जितनी भारतीय चिन्तन में हुई उतनी ही विज्ञान में। बल्कि जो औपचारिक शिक्षा थी वह तो विज्ञान की हुई—भौतिक विज्ञान की। फिर राजनीति की जो पहली दीक्षा हुई उसमें जड़वाद को महत्त्व दिया गया था जो विज्ञान का तत्कालीन रूप भी था। (विज्ञान ने भी उतनी दृढ़ता से जड़ पदार्थ से सृष्टि मात्र की उत्पत्ति मानने का आग्रह छोड़ा नहीं तो कम जरूर कर दिया—या यह कहा कि इस बारे में हम जानते नहीं हैं। यह भी बाद की बात हुई।) तो अगर चिन्तन वैसा है और कविता में पहले इस तरह के आग्रह प्रकट होते हैं या उससे भिन्न आग्रह नहीं प्रकट होते हैं तो इसको चिन्तन का स्वाभाविक या कि दीक्षा के आधार पर आत्म का विकास मानना चाहिए। मैं एक तो चेतना की अपनी सत्ता मानता हूँ। कैसे पहले के जड़वाद के साथ, या भौतिक विज्ञान के आग्रहों के साथ इस बात का मेल बैठाता हूँ, इसका मेरे पास कोई जवाब नहीं है। इतना ही है। इसके प्रतिकूल आग्रह लेकर चलें तो भी यह सारा विश्व समझ में नहीं आता : समस्याएँ बनी रहती हैं। विज्ञान भी यह कहता है कि उतना ही मान कर चलना चाहिए, कम से कम मानना चाहिए, उतना ही जितने से कि जो तथ्य सामने हैं वे समझ में आ सकें। मैं यह कहूँ कि मुझे जान पड़ता है कि चेतन तत्त्व को मानने से कुछ चीज़ें समझी जा सकती हैं जो अन्यथा नहीं समझी जा

सकतीं; काव्य के लिए यह आधार काफ़ी है। और अगर जुड़ाव की बात भी करते हैं, विश्व से जुड़ने की बात भी करते हैं, तो यह चेतन के स्तर पर ही होता है। जड़ से जड़ के जुड़ने का कोई आग्रह कविता में कुछ अर्थ नहीं रखता।

कहीं भी अर्थ नहीं रखता?

हाँ, चेतन से जुड़ने का ही अर्थ होता है। पंचत्व-प्राप्ति की बात छोड़िए!

चेतना की स्वतन्त्र सत्ता की बात आपने की। और अभी थोड़ी देर पहले एक विश्व-चेतना या एक परम चेतना की बात भी आपने की—कि उसमें से छोटी-छोटी चेतनाएँ उभरती हैं और फिर उसमें विलीन होती हैं। रूप और अरूप की बात भी हुई। तो क्या उस चेतन सता का कोई स्पष्ट रूप भी आप मानते हैं; उस परम चेतन सत्ता का कोई भी रूप आप मानते हैं या अरूप ही उसे मानते हैं? दूसरे शब्दों में कहूँ तो क्या उसे ईश्वर जैसी किसी अवधारणा के निकट समझते हैं?

पता नहीं। इससे ज्यादा कोई निश्चयात्मक जवाब तो कभी मेरे सामने नहीं आया। हो सकता है, लेकिन मैं नहीं जानता।

एक कवि के रूप में आपकी संवेदना में किस तरह का अहसास होता है? दार्शनिक रूप में या चिन्तन से उसको पुष्ट करें यह आवश्यक नहीं है—तर्क से पुष्ट करने की बात नहीं कर रहा हूँ।

दोनों ही हो सकते हैं, दोनों ही स्वीकार हो सकते हैं; दोनों ही समृद्धि दे सकते हैं। और मेरा इनके बीच अभी अपना कोई चुनाव नहीं हुआ है।

जब आप एक कविता में यह कहते हैं कि "तू बढ़ा कर हाथ सहसा खींच लेता, गले मिलता है", तो जो 'तू' है वह क्या कोई अरूप ही है, या आपके मन में कोई इसका रूप भी है? स्पष्ट न हो तो भी क्या एक रूप है उसका?

नहीं; इसमें आगे बढ़ेंगे तो भाषा की सीमाओं का भी विचार वहाँ करना पड़ेगा।

अरूप भी हो सकता है, यह तो मैं मानता हूँ। अरूप के लिए भी 'तू' का इस्तेमाल तो हो सकता है।

हाँ। पर इस तरह की बातों से यह परिणाम निकालना ठीक नहीं होगा कि मैं उस रूप में ईश्वर में—

ईश्वर चाहे न सही, क्योंकि इस कविता में पहले जो बात कही गयी है वह यह है कि —

पश्चिमी परिभाषा में जिसे पर्सनल गॉड कहते हैं— मैं नहीं जानता।

लेकिन इस कविता में पहले जो कहा गया है, कि एक रूपातीत पुनीत गहरी नींव है और उसमें से तू बढ़ा कर हाथ सहसा खींच लेता है— तो रूपातीत की स्थिति तो पहले से है और उसमें से एक और 'तू' पैदा होता है। यह सवाल इसलिए मन में उठता है कि रूपातीत में से कोई एक और रूप निकलता है, वह 'तू' है, या रूपातीत का भी कुछ और आधार है वह 'तू' है। इस तरह...

नहीं; इसका जवाब मैं नहीं जानता, और आवश्यक भी नहीं है। क्योंकि हाथ बढ़ा कर जिसे ग्रहण किया जाता है वह भी उस स्तर पर तो चेतना का ही पुंज है। कोई सरूप चीज़ नहीं है जिसको ग्रहण किया जा रहा है। एक तरफ़ अगर चेतना को ग्रहण किया जा रहा है तो दूसरी तरफ़ भी चेतना के द्वारा ही ग्रहण किया जा रहा है; इतना तो उसमें है। लेकिन इससे ज्यादा रूप उसे देना अनावश्यक है। मैं यह भी सोचता हूँ कि गॉड की प्रेज़ेंस की प्रतिज्ञा के बिना भी डिवाइन की प्रेज़ेंस की बात सोची जा सकती है— और उस तत्त्व के अनुभव का महत्त्व है।

ठीक है।

काल-बोध की ही कुछ और बात करना चाहता हूँ। एक तरफ़ आपने भारतीय काल-बोध की या जिसे पूर्वी कह सकते हैं उसकी चर्चा करते हुए उसको चक्राकार माना है,वर्तुलाकार माना है, और दूसरी ओर पश्चिमी काल-बोध को आपने एक-रेखीय माना है या कि ऐतिहासिक काल इसे कहा है। बल्कि सावधि काल भी उसे कह सकते हैं। लेकिन लगता यह है कि पश्चिम में भी अन्ततः इस सावधि काल को लाँघ कर, उसको ट्रांसेंड कर के, निरवधि काल में प्रवेश ही जीवन का उद्देश्य है। क्योंकि अन्ततः 'पैराडाइज रीगेन' करना है; जो बात हिब्रू परम्परा से शुरू होती है और उससे निकली हुई सारी परम्पराओं में हम को दिखाई देती है। तो इस सावधि काल में भी यही लगता है कि यह एक ऐसे बड़े उन्नत काल का एक हिस्सा है और हमारे यहाँ भी अगर वर्तुल है या चक्र है तो उसका एक हिस्सा। एक 'लाइन', एक रेखा हो जाती है। इसलिए हमारे यहाँ भी ऐतिहासिकता को बिलकुल नकारा तो

नहीं जा सकता। मानव-जीवन तो यहाँ भी एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में है—ऐतिहासिक काल से उसका कर्म बँधा हुआ है। पर ऐसा मानते हैं कि उसके बाद वह उसमें से निकल जाती है; इसलिए ऐतिहासिक काल से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं है।

ऐसा नहीं मानते कि उससे जो वृहत्तर वृत्त है उसमें उसकी पहुँच नहीं है या कि उससे वह नहीं जुड़ता। पश्चिमी चिन्तन में जो मनुष्य को केन्द्र में रखकर ऐतिहासिक काल की कल्पना होती है, उसका एक आरम्भ और एक अन्त है जो कि हमारी परिभाषा के काल के उस महावृत्त का एक हिस्सा है और वह वृत्त बहुत बड़ा है इसलिए उसका अंश रेखा जैसा भी दीख सकता है—उसकी थोड़ी गोलाई जो है उसकी उपेक्षा भी हो सकती है। और उस टुकड़े का विचार करें तो उसमें तो आदि और अन्त दोनों हैं ही। लेकिन हम तो वहाँ समाप्त नहीं करते। विचार के लिए उतना अंश भी देख सकते हैं। उनके आपने पैराडाइज लॉस्ट और रीगेंड दोनों की बात भी की : उसमें अगर आदम ही पैराडाइज से निर्वासित होता है और आदम ही वापस पहुँचता है तो उसके भी दो छोर या दो सीमाएँ हैं। उससे आगे या पीछे के काल की अवधारणा सैद्धान्तिक या थ्योरी रूप से तो है लेकिन विचार से नहीं लायी जा रही। उनके देवताओं का—यानी फरिश्तों का भी तो एक आरम्भ होता है फिर वे अमर होते हैं; यानी एक ऐसा काल भी है जो कि अनादि तो नहीं है लेकिन अनन्त है। यों उसको मानने में तो अधिक कठिनाई नहीं है। क्योंकि हम जिस विश्व को जानते हैं, यह नहीं जानते कि इसका आरम्भ कब हुआ और ऐसा भी कहने वाले लोग हैं कि इसका आरम्भ कभी तो जरूर हुआ—यानी यह भी अनादि तो नहीं है लेकिन (शायद) अब अनन्त है। एक अनुमान यह भी है कि जो अनाद्यन्त काल है उसकी बात तो फिर दूसरी हो जाती है। ऐतिहासिक काल सिर्फ एक रेखा में चलनेवाला है, इतना ही नहीं है, वह एक ही दिशा में चलता है, लौट कर नहीं आ सकता उस रेखा पर भी; वह मरणोन्मुख है, यानी अन्त की ओर उन्मुख है, उसकी एक अन्त की ओर बढ़ने वाली दिशा है। हम जिस चक्रगति की बात करते हैं उसमें ऐसा कोई अन्त तो नहीं होता।

हाँ, पर इसमें भी, इसाई मत में भी जो अन्त होता है उसके बाद भी एक निरवधि काल है। पुनः स्वर्ग में पहुँचने के बाद का जो काल है। यह नहीं है कि उसके बाद सृष्टि नष्ट हो जाती है— उसके बाद भी उसमें एक निरन्तरता बनी रहती है। लेकिन कोई मानवीय काल वहाँ नहीं रहता। तो यदि एक निरवधि काल की कल्पना

वहाँ भी इस तरह हो जाती है, तो फिर बुनियादी फ़र्क़ क्या होता है दोनों स्थितियों में?

निरवधि तो फिर उसको नहीं कह सकते। सिर्फ अन्तहीन कह सकते हैं। या—

या कालहीनता की स्थिति कह सकते हैं, 'टाइमलेसनेस' जिसे कहा जाता है।

हाँ।

एक बात और मैं जानना चाहता हूँ क्योंकि आपने उसकी भी काफ़ी चर्चा की है क्योंकि काल-बोध संस्कृति का मुख्य आधार है, और हमारे कला-रूपों पर भी काल-बोध और दिग्बोध का प्रभाव रहता है क्योंकि वे इन्हीं को व्यक्त करते हैं, तो अगर पश्चिमी काल-बोध में और भारतीय काल-बोध में या पूर्वी काल-बोध में कोई फ़र्क़ आप देखते हैं—जो कि आप देखते हैं—तो इन दोनों संस्कृतियों के काव्य-रूपों में क्या संरचनागत कोई फ़र्क़, बुनियादी अन्तर आप पाते हैं?

पहली बात तो यह है कि थोड़ा-सा संशोधन करूँ। संस्कृतियों का आधार भाषा है। भाषा के बिना संस्कृति नहीं है। और काल-बोध के बिना भाषा नहीं है। इसलिए संस्कृतियों में विशिष्ट काल-बोध पाते हैं और उनकी समस्याएँ भी भाषा के साथ जुड़ी हुई हैं, उससे अलग नहीं की जा सकतीं। आपने जो सवाल उठाया वह शायद भाषा के बारे में नहीं है; वह लय के बारे में अधिक हो जाता है शायद।

वह तो मैं अब पूछने वाला हूँ। अभी तक तो कला-रूपों के बारे में ही पूछ रहा था।

कला-रूपों के बारे में? उपन्यास में तो ऐसा काल होता है। आवर्ती काल भी वहाँ पर है हमारी कहानियों में। पूर्वी देशों की कहानियों में ही आवर्ती काल का उल्लेख है, पश्चिम की नहीं। उनमें एक दूसरी तरह के काल का संकेत तो कभी-कभी मिलता है। मैंने विस्तार से इसका विचार अपनी पुस्तक संवत्सर में किया है। कहानियों के आरम्भ में इस तरह के संकेत मिलते हैं जहाँ कि एक सनातन, अनन्त वर्तमान की कल्पना है। (ऐसा दूसरी सभ्यताओं में भी है।) काव्य में, यानी काव्य के उस रूप में जिसको आज काव्य कहते हैं, यानी कविता में, तो यह बात छन्द के साथ जुड़ती है।

उपन्यास, कहानी वगैरह और नाटक बाहर चले जाते हैं। वहाँ भाषा के साथ तो समस्या जुड़ी रहती है लेकिन कविता के साथ फिर वह लय की समस्या हो जाती है। हाँ, भारतीय संगीत में जरूर काल का एक ऐसा बोध दीखता है जो कि पश्चिम के काल-बोध से अलग है यानी उनके संगीत में जो दीखता है उससे अलग है। और उसमें यह जो सम पर लौटना है बार-बार, यह काल के आवर्तन का एक रूप है। वहाँ पर तो मैं समझता हूँ फ़र्क़ है, काल का अन्तर है। बाकी काव्य में लय में कहाँ यह दीखता है, यह शायद सोचने की बात होगी : तत्काल उदाहरण तो नहीं दे सकता।

मुझे लगता है कि सैद्धान्तिक स्तर पर अगर यह मान लेते हैं तो यह दीख सकना चाहिए काव्यों में, खास तौर से इसलिए भी कि कविता क्योंकि साहित्य का सबसे प्राचीन रूप है और दो संस्कृतियों में या काल-दृष्टियों में यह भेद है तो इन दोनों काल-दृष्टियों से उपजने वाली कविता में भी और उसके खास तौर से लय-विन्यास में यह भेद होना चाहिए। 'डेस्क्रिप्शन' के रूप में या उक्ति के रूप में तो शायद बहुत जगह देखा भी जा सकता हो; लेकिन उसको पूरी संरचना में यह दिखाई दे सकना चाहिए, मेरा ऐसा खयाल है। यदि यह नहीं दिखाई देता तो कहीं...

काव्यों में या साहित्य में कहें तो दीखता है। इतिहास की जो परिभाषा है उसमें भी यह ठीक है। (इतिहास और हिस्टरी में अन्तर है।) और अनुष्ठानों के साथ जो कथाएँ जुड़ी होती हैं उनमें भी कुछ यह होता है।

अन्य भी जगहों पर यह दीखता है। इसलिए यह सवाल मेरे मन में उठा है। कविता की संरचना में भी दीख सकना चाहिए। इसके लय-विन्यास में भी दीख सकना चाहिए।

इसके अलावा भी कुछ और सवाल मैं करना चाहता था। वह कुछ संकोच के साथ कर रहा हूँ, आपकी कविताओं के बारे में ही। आपकी कविताओं में खास तौर से जिस गुण की बहुत चर्चा हुई है वह यह कि एक बहुत ही असाधारण काव्य-संयम उनमें दिखाई देता है। लेकिन कहीं-कहीं, बल्कि कह सकता हूँ, उतनी ही सीमा तक शायद इस तरह की कविताएँ दिखाई देती हैं जो किन्हीं दूसरी कविताओं की व्याख्या-सी करती रहती हैं, या उन्हीं में अन्त में अनुभव की एक व्याख्या जैसी हो जाती है। वह व्याख्या 'पोएटिक' होती है इसमें कोई सन्देह नहीं, पर लगता है जैसे पूरी

कविता के अन्त में एक जोड़-सा है। इसके लिए मैं 'असाध्य वीणा' के अन्तिम अंश को कोट कर सकता हूँ। 'एक बूँद सहसा उछली' वाली जो कविता है उसके भी अन्तिम अंश को मैं कोट कर सकता हूँ। मुझे लगता है उसके बिना भी वह सारा अनुभव काव्यात्मक स्तर पर सम्प्रेषित होता है—चाहे उक्ति के रूप में सम्प्रेषित न होता हो, सीधा विचार के रूप में सम्प्रेषित न होता हो। क्या काव्यानुभव को विचार के रूप में सम्प्रेषित करना आप इतना अनिवार्य मानते हैं?

ये जो आपने दो उदाहरण दिये, ये तो बिलकुल अलग-अलग तरह के हैं। जो छोटी कविता है उसमें वह जो दीखता है—उछलती बूँद का आलोकित हो उठना—वह तो इतना छोटा, इतना सघन अनुभव है कि उस 'उन्मोचन' की भावना ही उसमें प्रधान है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि उसमें स्टेटमेंट है। एक ही इकाई है उस आलोकित बूँद को देखना और उसी क्षणिक झाँकी में मुक्ति का अनुभव, उसकी पहचान। अगर वह बिना कहे भी कही जा सकती है तो उससे और अच्छी कविता होगी; लेकिन उसकी छोटी रचना में वह कह भी दी जाए तो इकाई टूटती नहीं। लेकिन 'असाध्य वीणा' के अन्त में जो बात है वह तो बिलकुल दूसरी है। उसका आप आरम्भ देखिए। आरम्भ बड़े नाटकीय ढंग से होता है—"आ गये प्रियम्वद, केश कम्बली, राजा ने आसन दिया"—वगैरह। आ गये तो आ गये; उसके बाद कहानी चल पड़ती है तो इस प्रकार एकाएक उसके पाठक या श्रोता को हम एक काव्य के दूसरे आयाम में ले जाते हैं जिसमें यह घटना होती है और कहना चाहिए इतिहास की परिभाषा में इति ह आस—वह घटना घटित होती ही चली आयी है अब तक। अन्त में जो युक्ति है वह इसलिए अपनायी गयी है कि उस काल में हम श्रोता या पाठकों को वापस सामान्य काल में ले आते हैं—"युग पलट गया/उठ गयी सभा/सब अपने-अपने काम लगे/...यों मेरी वाणी भी मौन हुई...।"

यह भी एक तरह से अनावश्यक होता है—कहानी तो इससे पहले समाप्त हो गयी जब "केश कम्बली गुफा-गेह में चला गया।" लेकिन वह काल समाप्त हो गया। उसके बाद पाठक को जब सीधे सम्बोधन करते हैं तो उसे उस देश-काल से, उस घटना से, खींच कर उसके सामान्य जीवन में प्रतिष्ठित करते हैं—सीधे सम्बोधन से एक प्रकार से सामान्य स्थिति में ले आते हैं। और सामान्य स्थिति में ले आना क्यों ज़रूरी है, इसका एक उत्तर यह भी है इस प्रकार उस दूसरे काल की जो चुनौती है उससे हम पाठक/

श्रोता को बचा भी लेते हैं और मुक्त भी नहीं करते।

नहीं, मैं जो कहना चाह रहा था वह दूसरे ही अंश के बारे में था। मैं यह भी जानना चाहता था लेकिन इसके साथ-साथ यह कि प्रियम्वद को जब राजा और सब लोग 'धन्य-धन्य' कहते हैं, श्रेय देने लगते हैं, जब कवि यह कहलाता है कि— "श्रेय नहीं कुछ मेरा, मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में/जो कुछ सबने सुना, वह तो सब-कुछ की तथता थी"—आदि, इस तरह की जो पंक्तियाँ हैं—तो मुझे लगता है पूरी कविता का एक सारांश दिया गया है। जो काव्यानुभव के पूरे रेशे-रेशे में फैला हुआ है उसका इस तरह अलग एक जिस्ट निकाल कर दिया गया है इन पंक्तियों में। वह अपने में बहुत पोएटिक है, पर क्या आवश्यकता थी उसे इस तरह से रखने की?

इसकी आवश्यकता यह थी कि इसको हटा कर आप देखिए कि बात बनती है या नहीं। दृष्टान्त काव्य में तो सबका सब दृष्टान्त ही होता है। असल बात तो वही होती है जो निष्कर्ष के रूप में निकले।

लेकिन एक आधुनिक कवि के रूप में, खास तौर से एक ऐसे कलाकार के रूप में जो कि इतना सक्षम है कि बिना उसके सारी बात कह सकता है—पूरी कविता अभिव्यक्त करती है सारी बात—पेड़ के साथ ही लगाव है। इसलिए मुझे लगा कि यह सम्प्रेषण का जो आग्रह आपका रहता है उसकी वजह से है या किसी काव्यात्मक अनिवार्यता की वजह से ऐसा हुआ है? मैं जब भी कविता को पढ़ता हूँ तो वह भाव पहले से आ चुका होता है मेरे मन में। तब मुझे लगता है अलग से इसको लाने की क्या आवश्यकता थी?

पहली बार पढ़ी थी तब से यह बात सच है या बाद में जब पढ़ी तब से यह सच है?

पहली बार पढ़ी थी तब से यह बात सच है इतना तो अब नहीं स्मरण करके कह सकता; पर यह जरूर है उसको पढ़ता हूँ तो लगता है कि हाँ, यह बात समझ में आ रही है।

मैं समझता हूँ कि जो संस्कारवान् पाठक है, सम्भव है उसको वही बात समझ आ जाए जहाँ "काँपी थीं उँगलियाँ" वाला उल्लेख है—वह पाठक वहीं भाँप जाएगा कि पूरी कथा क्या है। लेकिन सभी लोग वैसा करेंगे ऐसा

मुझे नहीं लगता। फिर जो 'अवतरित हुआ ब्रह्म का मौन' वाली बात है : ठीक है कि एक स्टेटमेंट है, लेकिन संगीत ने क्या किया—बिना बताये शायद पाठक वहाँ तक नहीं पहुँच सकता है।

यह तो ठीक है। अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग जो 'मीनिंग' है जो वे सुनते हैं—समझ में आता है कि वह बताना भी ज़रूरी था।

अगर इतना ही कहा गया कि संगीत का यह सब असर हुआ, तो फिर तो उसके बाद मैं समझता हूँ यह कहना अपेक्षित है कि 'यह मैंने नहीं किया, यह आप सब लोगों ने स्वयं किया, आप ही में इसकी सम्भावना है।' नहीं तो सारी बात झूठी हो जाती है। अगर प्रियम्वद को इसका श्रेय है—यह प्रभाव पैदा करने का—तब तो सारी कविता में जो कुछ कहा गया है उसका एक तरह से नकार हो जाता है।

हाँ, चरित्र के रूप में अगर प्रियम्वद को देखें तब तो शायद यह बात ठीक लगता है जो आप कहते हैं। लेकिन यह लगता है कि आखिर यह चरित्र भी जो चुना गया वह एक अनुभव को व्यक्त करने के लिए ही चुना गया है। उस चरित्र को इस तरह से उस अनुभव के अनुकूल ही प्रस्तुत किया गया है। तब यह लगता है कि वह चरित्र उस तरह से भी जब बात को रख रहा था, उसके बाद केवल आवर्जन करना ही, राजा को धन्यवाद से रोकना ही पर्याप्त होता। हो सकता है यह उस तरह की ही बहस हो जैसी कि इस कविता की दो पंक्तियों को लेकर चलायी जाती रही है। हो सकता है यह आप ठीक ही कह रहे हों पर...

मैं समझता हूँ "यह तो सब-कुछ की तथता थी" यह कहना, और उसमें यह ध्वनित करना कि यह आपकी ही तथता है उसको पहचानिए— चुनौती तो वही है और सन्देश भी वही है।

दूसरी बात जो मैं कविताओं के बारे में ही कहना चाह रहा था—यह अक्सर आरोप की भाषा में ही कही जाती रही है पर मैं उस तरह से नहीं कहना चाहता—मैं यह जरूर जानना चाहता हूँ कि समकालीन बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का प्रभाव आपकी कविता पर नहीं दिखाई देता और कुछ घटनाओं का दिखाई देता है—उदाहरण के लिए पाकिस्तान के साथ जो युद्ध हुआ उसका असर दीखता है और कुछ कविताएँ आपने लिखी हैं उस समय,

युद्ध के समय। लेकिन बांग्लादेश के समय का और उसके पहले चीन के साथ जो युद्ध हुआ उसका इस तरह का स्पष्ट असर नहीं दिखाई देता। इसकी क्या वजह रही होगी।

एक तो यह है कि जिन दो की जो आपने तुलना की उनमें एक तो मेरे अनुभव के क्षेत्र में काफ़ी प्रत्यक्ष था और दूसरे का वैसा अनुभव नहीं था। दूसरे, बांग्लादेश वाली घटनाओं का भी उल्लेख है; उतना सीधा नहीं है क्योंकि उतना सीधा वह मेरे अनुभव के क्षेत्र में आया नहीं-लेकिन ऐसी कविताएँ हैं जिनका सम्बन्ध (मसलन) शेख़ मुजीब से था। मैंने कविता में नाम उनका नहीं लिया, लेकिन कविता का सम्बन्ध है उनसे। यह तो ज़रूरी नहीं होता कि घटनाओं का सीधे-सीधे उल्लेख किया जाए और उसमें कोई पक्ष लिया जाए—वह तो अपने आप दीख जाता है कि कवि कहाँ है।

सामान्यत: यह मानते हैं कि चीन के युद्ध के बाद या उससे भारतीय समाज में एक मोह-भंग की शुरूआत होती है— आज़ादी के बाद से जो एक तरह के भ्रम में जीवित रहा समाज। उसके बाद राजनीति में भी काफ़ी परिवर्तन होते हैं और दूसरी तरह से परिवर्तन होते हैं। कविता में भी एक अलग तरह का परिवर्तन तब से दीखता है बहुत-से कवियों में—जो पहले लिखते रहे उनमें भी, जिन लोगों ने उसके बाद लिखा उनमें भी। क्या आप ऐसा कहना ठीक मानते हैं कि मोह-भंग के नाम से एक काव्य-धारा शुरू हुई?

नहीं, ऐसा तो मुझे नहीं लगता उससे हुआ। जो एक झूठी आदर्शवादिता थी भारतीय समाज में, उसको जरूर उससे एक झटका लगा और राजनीति एक व्यावहारिक स्तर पर आयी, जहाँ कि आदर्श छोड़ भी जाते हैं, बदले भी जाते हैं, सौदे भी होते हैं, इत्यादि—जो सब व्यावहारिक राजनीति का अंश है। लेकिन जो मोह-भंग हुआ वह सिर्फ चीन की जिस तरह की मैत्री के बारे में लोग कल्पना करते थे और विश्व-मैत्री की जैसी कल्पना करते थे उसके बारे में हुआ। राजनीति में मित्र और अमित्र समय-समय पर बदलते रहते हैं—जिसका जैसा राजनीतिक उद्देश्य या प्रयोजन हो, उसके आधार पर—यह समझ विकसित हो गयी। लेकिन भारतीय राजनीति में जो मोह भंग हुआ उसके कारण और भी थे। आज़ादी से जिस तरह की अपेक्षाएँ बन गयी थीं वे पूरी नहीं हुईं। कहना चाहिए कि वास्तव में वह आज़ादी ही अधूरी हुई है यह ज्ञान धीरे धीरे प्रकट हुआ। मोह-भंग तो उसके साथ जुड़ता है।

यह तो मैं नहीं कहूँगा कि आपने राजनीतिक या सामाजिक विषयों पर कविताएँ नहीं लिखीं या इस तरह की चेतना बिलकुल ही आपकी कविताओं में नहीं मिलती क्योंकि मैं जानता हूँ कि वह बहुत-सी जगहों पर है। लेकिन फिर भी यह जरूर लगता है कि अगर आपकी कविताओं का एक प्रतिनिधि संकलन कोई भी तैयार करे तो उसमें उस तरह की कविताएँ नहीं होंगी और काव्यगत—

नहीं होंगी, ऐसा तो नहीं।

नहीं होंगी का मतलब मुझे लगता है कि अगर उत्कृष्ट कविताएँ मुझे चुननी हों तो शायद वे कविताएँ कम होंगी या सम्भवतः बिलकुल नहीं होंगी जो राजनीतिक विषयों से सम्बन्धित कविताएँ आपने लिखी हैं या कुछ घटनाओं से प्रेरित होकर लिखी हैं। वे कविताएँ दूसरी हैं, जिनका मैं नहीं जानता नामकरण कैसे किया जाए, लेकिन जिन्हें सामान्यतया 'पर्सनल पोएम' या आध्यात्मिक कविता कह सकते हैं, 'लव पोएम' कह सकते हैं, इस तरह की कविताएँ उसमें ज्यादा होंगी। और आपकी काव्य-प्रतिभा भी सर्वाधिक उनमें ही मुझे लगता है अभिव्यक्त हुई हैं, ज्यादा 'मैच्योरिटी' के साथ हुई है। ऐसा क्यों है? क्या आपका जुड़ाव उनसे बहुत गहरे स्तरों पर नहीं रहा है? या जब तक चीज़ें 'पर्सनल एक्सपीरिएंस' तक नहीं पहुँचीं तब तक, गहरे स्तरों तक नहीं पहुँचीं तब तक, उनका काव्य-रूप भी उतना 'मैच्योर' नहीं हुआ है?

ऐसा क्यों है, इसका तो कवि क्या जवाब दे सकता है?

आपको खुद लगता है या नहीं?

है तो है, बस—यही जवाब इसका हो सकता है। लेकिन उस तरह की चेतना नहीं है, या कुल मिलाकर मेरे लेखन में व्यक्त नहीं हुई है।

यह तो मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ कि हुई है।

हाँ, आप कह भी नहीं रहे हैं। कविताओं में कम हुई है। इसको दूसरी तरह मैं यों भी कह सकता हूँ कि दूसरी विधाओं में हुई है।

यों कहूँ कि पत्रकारिता में...

यह भी है कि इधर की हिन्दी कविता का एक संकलन तैयार करें तो उसमें

वह पक्ष लगभग अनुपस्थित होगा जो कि मेरी कविताओं में है; और राजनीति की बहुत-सी कविताएँ होंगी!

नहीं, यह बात इसलिए भी कभी-कभी मुझे आश्चर्यजनक लगती है कि आपका सामाजिक सवालों के साथ, राजनीतिक सवालों के साथ और आर्थिक सवालों के साथ एक पत्रकार के रूप में जो जुड़ाव रहा है, और निरन्तर आप उन पर विचार करते रहे, चिन्तन करते रहे; लिखते भी रहे सामाजिक सवालों के बारे में भी, सारे समाज की कमियों की ओर संकेत भी एक पत्रकार के रूप में करते रहे हैं—शायद ही कोई घटना ऐसी हुई हो जिस पर उन दिनों में आपने कोई 'कामेंट' न किया हो—तो ऐसी स्थिति में फिर कविता में वह चीज़ क्यों नहीं आ पाती?

एक तरह से आपको ऐसा नहीं लगता है कि आपके सवाल में ही उसका जवाब भी है? अगर कुछ बातें कहने के मेरे पास दस और साधन थे, और कुछ बातें कहने का सिवाय कविता के कोई रास्ता नहीं था, तो ऐसा क्यों नहीं होना चाहिए? एक तो यह है कि अगर ये सब बातें मैंने न कही होतीं तो किसी ने न कही होतीं। दूसरे यह कि मैं भी उन्हें कह सकता था तो कविता में ही कह सकता था; और दूसरी बातें अन्य विधाओं में भी कही जा सकती थीं और कही गयीं।

हाँ। इसीलिए लगता है—यह तो समझ में आता है—कि जो सामाजिक दायित्व है वह पूरा भी होता है। पर कविता में जैसी बहुत-सी बातें आती भी हैं, वे उतनी गहराई के साथ नहीं आतीं तो लगता है कहीं चेतना के बहुत गहरे स्तरों पर कहीं इन सवालों के साथ जो जुड़ाव है वह अस्तित्वगत स्तर पर महसूस नहीं करते, केवल नैतिक स्तर पर महसूस करते हैं। क्या ऐसा है?

इन सवालों का मैं नहीं जानता कि 'हाँ' या 'न' में क्या जवाब दे सकता हूँ। लेकिन यह जरूर है कि राजनीतिक प्रश्नों को लेकर मैंने राय प्रकट की है और उसके बारे में किसी को सन्देह में नहीं रखा और या रहने दिया। लेकिन इसके साथ-साथ जो राजनीतिक कर्म है वह नहीं किया; यह सवाल बन सकता है कि अगर ऐसे विश्वास थे तो कर्म में क्यों नहीं प्रकट हुए? और इसका जवाब भी यह होता है कि क्यों कि मैं क्रियात्मक राजनीति में नहीं जा रहा था इसलिए इससे अधिक...

उसमें भी आप गये। जब आवश्यकता थी तब तो गये ही।

उससे अधिक अनावश्यक था। लेकिन मेरी जो भी राय है, जो भी कह लीजिए स्टैंड है, वह तो स्पष्ट रहा है। उतना काफ़ी है। उससे आगे अगर...

शायद विरोध का कारण भी ज्यादातर वही रहा है मुझे लगता है—इस राय का ऐसा स्पष्ट होना ही! मेरा सवाल कविता ही को लेकर था। बाकी जगह विचार नहीं स्पष्ट है यह तो मैं नहीं कहता। बल्कि है, और बहुत साफ है। इसलिए कोई सन्देह नहीं।

इसमें तो इतना ही कहना है कि आपकी यह बात शायद सही है कि कविता में यह चीज़ें कम प्रकट हुई है। नहीं है, या जितनी कम अभिव्यक्ति है उसके बावजूद भी वह बड़ी स्पष्ट नहीं है, मैं ऐसा तो नहीं मानता।

नहीं, स्पष्ट तो है। पर उतनी गहरी नहीं है जितनी प्रकृति की कविताओं में, प्रेम की कविताओं में या आध्यात्मिक अनुभव की कविताओं में। कहा जाए कि उनमें जिस तरह की 'इंटेन्सिटी' है वैसी—

उस क्षेत्र या उस दिशा में अनुभव मात्र में ज्यादा हुए है, गहरायी में ज्यादा रहे हैं।

बल्कि क्या यह नहीं है कि राजनीति और अन्य चीज़ें कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, इस तरह से एक आध्यात्मिक अर्थों में या बहुत गहरे भावनात्मक अर्थों में हमारे अस्तित्व का हिस्सा नहीं बनतीं जिस तरह से कि आध्यात्मिक या इस तरह के सौन्दर्य के अनुभव बनते हैं?

आप यह पूछ रहे हैं कि बन नहीं सकती?

हाँ।

यह तो मुझे नहीं मालूम। सामान्यतया, हाँ, ऐसा मान भी सकता हूँ। पर राजनीतिक सिद्धान्तों की चुनौती कभी उतनी गहरी नहीं हो सकती, यह नहीं कहूँगा। व्यावहारिक राजनीति की नहीं होती, यह ठीक है। पर सिद्धान्तों को लेकर आध्यात्मिक स्तर का लगाव आपको और कहाँ दीखता है—कविता में, समाज में, या हमारी राजनीति में भी? ठोस व्यावहारिक समाज में जी रहे हैं हम!*

* यह संवाद दिसम्बर 1985 में दिल्ली में हुआ।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के साथ संवाद*

वि.प्र. तिवारी : आप एक लम्बे समय से रचना और आलोचना के केन्द्र में रहे हैं। आपका जो मूल्यांकन हुआ है उसके बारे में आपकी क्या प्रतिक्रिया है? क्या आपको समझने की सही कोशिश हुई है?

अज्ञेय : मुझे इससे सन्तोष है कि लगातार आलोचना हुई है—जिससे समझा जा सकता है कि कुछ न-कुछ उत्तेजना की सामग्री मेरे लेखन में रही है। मेरे सन्तोष के लिए यही काफ़ी है। प्रशंसा कभी अच्छी भी लगती है पर हमेशा नहीं—तब तो बिलकुल नहीं जब दीखता है कि उसके पीछे मूल्य विवेक नहीं है या कसौटियाँ ही गलत है। वैसी प्रशंसा से ग्लानि ही होती है।

प्रतिकूल आलोचना से क्या आपने कुछ सीखा भी?

कुछ सीख सकते हैं तो उसी से। प्रशंसा से क्या सीखना है? हालाँकि प्राय: अनुभव हुआ कि आलोचक ने मेरे लिए कुछ नयी बात नहीं कही है बल्कि बहुत सा ऐसा कहा है जिसे मैं ज़रूरी नहीं समझता। जब प्रतिकूल आलोचना एक जानी हुई प्रतिज्ञा या पूर्वधारणा पर आधारित हो तो स्पष्ट है कि मुझे भी पहले से पता होगा कि आलोचक क्या कहेगा! हाँ, यह फिर भी सीख सकता हूँ कि उस पूर्वग्रह को तोड़ने के लिए क्या कर सकता हूँ। यह सम्प्रेषण की एक समस्या है।

आपके विषय में इधर कुछ शोध-कार्य भी हुए हैं। उन्हें देखकर कैसा लगा आपको?

बहुत अधिक तो देखे भी नहीं हैं, जो देखे हैं उनसे प्राय: बड़ी निराशा होती रही है। एक तो तीन-चार बने-बनाये ढर्रे हैं जिनमें तथाकथित 'शोध' सामग्री बैठा दी जाती है। दूसरे नाम को 'मनोवैज्ञानिक', 'समाजशास्त्रीय', 'ऐतिहासिक', 'दार्शनिक' और 'गणितीय' तक शोध होते हैं, लेकिन इन

* अज्ञेय जी से यह बातचीत उनके निवास स्थान पर 11 अक्टूबर 1976 को हुई। इस बातचीत में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के साथ केदारनाथ सिंह, परमानन्द श्रीवास्तव तथा वागीश शुक्ल शामिल थे।

विधाओं से इसका सम्बन्ध बहुत कम होता है और निर्देशक या परीक्षक भी इन विषयों के विद्वान नहीं होते। हिन्दी का हर अध्यापक-निदेशक सर्वज्ञ होता है ऐसा मान लेना मेरे लिए तो असम्भव है, उन्हें स्वयं ऐसा मानने में संकोच क्यों नहीं होता वे ही जानें!

स्वाभाविक है कि इस तरह के शोध-कार्य में जिन चीज़ों का महत्त्व होना चाहिए उनकी उपेक्षा ही होती है। एक ही उदाहरण ले लीजिए—कथा या उपन्यास की विधा में काल की अवधारणा की कितनी समस्याएँ उठती हैं और उनका हल निकालने के लिए उपन्यासकारों ने कितने प्रकार की युक्तियाँ निकाली हैं—किस प्रकार समस्याओं के समाधान की इस खोज ने ही उपन्यास की विधा के विकास को रूप दिया है। इसकी कहीं चर्चा नहीं होती। विदेशी आलोचकों के उद्धरण दे दिये जाते हैं—हिन्दी में शोध का प्रधान अंग दूसरों का उद्धरण होता है!—और यह बता दिया जाता है कि भारतीय लेखक ने शिल्प की अमुक युक्ति विदेश के अमुक उपन्यासकार से ली। कथावृत्त में कोई आभ्यन्तर आवश्यकता भी हो सकती है जिसके कारण अमुक युक्ति ग्राह्य होती है—यह सवाल ही नहीं उठता। पश्चिम में भी उपन्यास की विधा में कोई नयी युक्ति क्यों आयी, किस आवश्यकता के कारण आयी और कहाँ तक उस समस्या को सुलझा सकी जिसके कारण वह आवश्यक हुई थी; यह सब पूछना तो दूर की बात हो जाती है।

इधर आपने कुछ अलग से ही काल-चिन्तन किया है। हम उस सम्बन्ध में आपके विचार जानना चाहेंगे। विशेष रूप से हम यह जानना चाहेंगे कि क्या इतिहास से परे काल की अवधारणा हो सकती है?

विज्ञान जब काल की नयी परिभाषा देता है तब विज्ञान की समस्याओं में ऐतिहासिक काल की समस्या आती है। हमारे अनुभव में कोई भी घटना ऐतिहासिक क्रम से नहीं होती। ऐतिहासिक काल और अनुभव का काल—दोनों दो चीज़ें हैं। अनुभव की संरचना में काल हमेशा उलटी दिशा में चलता है। परिणाम पहले और कारण बाद में अंकित होता है। भारतीय काल चिन्तन में काल के एक से ज्यादा आयाम रहे। एक महाकाल की धारणा भी रही।

इन सब प्रश्नों पर तो मेरी एक पुस्तक ही आ रही है—संवत्सर, इसलिए इसकी विस्तार से चर्चा नहीं करूँगा। लेकिन एक बुनियादी प्रश्न पूछा जा सकता है : अगर कथा—विशेष रूप से कथा, लेकिन साधारणतया काव्य-रचना मात्र—काल में अवस्थित होती है, घटित का एक रूप है, तो अगर

हमारी काल की अवधारणा आदिकाल से ही अलग प्रकार की रही है, तब क्यों नहीं हमारा कथा-साहित्य और हमारा काव्य एक विशिष्ट प्रकार का होगा विशिष्ट रूपाकार लेगा? ये विशिष्ट रूपाकार क्या हैं, क्या हो सकते हैं? अगर मैं भारतीय हूँ—और अगर नहीं तो वही क्या अस्वास्थ्य नहीं है?—अगर मैं भारतीय हूँ तो मेरे लिए यह क्यों आवश्यक है कि मैं पश्चिमी उपन्यास लिखूँ, यानी कथा को एक पश्चिमी रूपाकार में ढालूँ? या यह क्यों अनावश्यक है, या दोष है, या 'अनाधुनिकता' है, कि मेरी कथा भारतीय अवधारणाओं के आज के सन्दर्भ तक प्रक्षिप्त करे?

आपकी कविता में काल का क्या रूप है?

स्वभावत: कई रूप हैं और जैसे-जैसे काल के अनेक आयामों की मेरी पहचान बढ़ती गयी है वैसे-वैसे मैंने अपनी रचना में भी उन्हें प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया है बल्कि मैंने क्या प्रयत्न किया है--स्वाभाविक है कि अगर काल के विभिन्न आयामों का बोध मुझे है तो मेरे अनुभव की संरचना भी उन्हीं के अनुरूप कई आयामों पर संघटित होगी। यों एक तत्त्व मेरी कविता में शुरू से रहा है जिसकी ओर एक आध व्यक्ति का ही ध्यान गया है और वह भी ऐसे व्यक्ति का जो स्वयं आलोचक कम और कवि अधिक है—जैसे त्रिलोचन। यह है कविता में नाटकीय तत्त्व या नाटकीय स्थितियों का प्रक्षेपण। और नाटकीय स्थिति स्पष्ट ही काल में अवस्थिति का प्रश्न है, काल के आयामों को प्रस्तुत और सम्प्रेषित करने की समस्या का रूप है। इस दिशा में मैंने अवश्य ही अँग्रेज़ी कवि रॉबर्ट ब्राउनिंग से कुछ सीखा। लेकिन संस्कृत और प्राकृत साहित्य से भी बहुत अधिक सीखा। दोनों का मुक्तक काव्य और सुभाषितों का भंडार आज के कवि को बहुत कुछ सिखा सकता है—वस्तु अथवा अभिप्रायों की दृष्टि से नहीं बल्कि अनुभव की संरचना और उसे सम्प्रेष्य रूप दे सकने की दृष्टि से।

कतिपय आलोचक ऐसा मानते हैं कि 'असाध्य वीणा' आपकी सर्वोत्तम उपलब्धि है।

उसे लोग अच्छा मानें, यह तो मुझे अच्छा भी लगेगा, लेकिन सर्वोत्तम है इसका फैसला तो तभी होगा जब जो कुछ लिखना है सब लिख चुकूँगा। मैं अभी से मान लूँ कि अमुक एक रचना मेरी सर्वोत्तम रचना है—यानी थी—तो फिर और लिखूँगा क्यों? बाकी किसके क्या अच्छा और क्या सबसे अच्छा लगता है, यह निर्णय करने का उसे पूरा अधिकार है—दूसरों को वैसा मानने को मनाने का भी अधिकार है।

नये मूल्यों और नये प्रतिमानों की इधर जो चर्चा होती रही है उनके बारे में आपका क्या विचार है?

इधर 'नयी कविता के प्रतिमान' और 'कविता के नये प्रतिमान' जैसे विश्लेषण किये गये। मैं दोनों से सहमत नहीं। किसी भी समय की कविता को उसी समय में पहचानने के लिए कुछ नये मानदंड ज़रूरी होते हैं, हालाँकि यह आवश्यक नहीं है कि वे मानदंड कालान्तर में भी बने रहें। यानी यों समझ लीजिए कि दो कसौटियाँ होती हैं; एक कसौटी पर हम अपने समय की रचना का मूल्यांकन अपने समय में ही करते हैं, और एक दूसरी कसौटी होती है जिस पर हम रचना को केवल पूर्ववर्ती ही नहीं बल्कि परवर्ती रचना के साथ भी जोड़कर उसकी परीक्षा करते हैं। यानी अपने समय की समकालीन परीक्षा में सन्दर्भ केवल अतीत होता है, (वर्तमान तो है ही), भविष्य नहीं; लेकिन किसी दूसरे युग की कविता का विचार करते समय हम केवल उसके अतीत तक सीमित न रहकर परवर्ती विकास को भी देखते हैं।

जब मैं कहता हूँ कि आज की कविता के आज मूल्यांकन में सन्दर्भ केवल अतीत है, भविष्य नहीं, तो उसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि मैं केवल किसी पुराने मानदंड से समकालीन कविता की जाँच का अनुमोदन कर रहा हूँ, बल्कि उससे ठीक उलटा। समकालीन कविता की समकालीन समीक्षा में हम पुराने निकर्ष पर आज की रचना की परख नहीं बल्कि आज की रचना पर पुराने निकर्ष की परख कर रहे होते हैं। कल जब हम आज की रचना की परीक्षा करेंगे तब आज के निकष भी उतने ही परीक्षणीय हो गये होंगे जितने कि पुराने मानदंड आज हैं। मैंने कहा कि दो कसौटियाँ होती हैं; और दोनों से हमें अलग-अलग तरह की लेकिन परस्पर-पूरक जानकारी मिलती है।

यह खेद की बात है कि अधिकतर नये प्रस्तावित मानदंड साहित्य क्षेत्र के बाहर के हैं।

कुछ तो बहुत ज्यादा अन्दर के हैं— जैसे तनाव, विसंगति और विडम्बना।

हाँ, इनके आधार पर हम समझ सकते हैं कि कविता क्यों और कैसे लिखी जा रही है। उनसे उसकी प्रामाणिकता का विवेचन सम्भव है पर कालान्तर में भी वह श्रेष्ठ रचना बनी रहेगी, इसका उत्तर इनसे नहीं मिलता। महत्त्वपूर्ण

यह है कि कोई रचना कितना सम्प्रेष्य है। समाज से उसका रिश्ता क्या है? सम्प्रेषण ही केन्द्रीय समस्या है जिसकी प्रायः उपेक्षा हुई है। वाचिक परम्परा में समाज प्रत्यक्ष होता है। रचनाकार उसे तत्काल प्रभावित करता है और वह रचनाकार को। किन्तु दूसरी स्थिति में रचना लिखी जाने के बाद बरसों पड़ी रहती है। फिर मुद्रित होती है। इस प्रकार मुद्रित साहित्य के युग में दूरी बढ़ती है जो अलगाव (एलिएनेशन) पैदा करती है। यह परिस्थिति में ही निहित है। यहाँ किताब मानो दीवार के रूप में प्रेषक (कवि) और गृहीता (समाज) के बीच रहती है। जब प्रत्यक्ष नहीं है कि पढ़ेगा कौन, तो कल्पित श्रोता को ही सम्बोधन सम्भव है। कवि अपने ही एक अंश को श्रोता बनाकर कविता कहता है। उसी से वह जानता है कि सम्प्रेषण हुआ है या नहीं—कि कविता सम्प्रेष्य हो गयी कि नहीं। यह हो सकता है कि उसका यह निर्णय गलत भी हो; वह कितना सही है यह इस पर भी निर्भर करेगा कि वह कहाँ तक समग्र समाज से एकात्म है—क्योंकि जैसा वह स्वयं होगा वैसा ही तो कल्पित श्रोता अपने भीतर से रचेगा। फिर भी सम्प्रेष्यता के बारे में जिज्ञासा हर रचना-कर्म का अंग होती है : यह रचना प्रक्रिया का एक अविभाज्य अंग है।

विडम्बनाओं में एक यह भी है कि आज लेखक जिस भारतीय समाज के लिए लिखता है उसका दो-तिहाई या तीन-चौथाई तो निरक्षर ही है। एक तिहाई साक्षरों में भी पढ़ने वाले तो थोड़े से ही हैं। फिर साक्षरों में बहुत से साक्षर होते हुए भी अपेक्षया अधिक विद्या-विहीन हैं क्योंकि वे पारम्परिक सभी कसौटियाँ खो चुके हैं; जबकि निरक्षरों में कुछ ऐसे भी हैं जिनके पास वाचिक-परम्परा से अवशिष्ट कसौटियाँ बची हुई हैं। इससे विडम्बना का रूप और भी जटिल हो जाता है।

क्योंकि आज का भारतीय लेखक सबसे पहले आज के लिए लिखता है और भारत के लिए लिखता है, इसलिए यह जानते हुए लिखता है कि समाज का बहुत बड़ा भाग उसे पढ़ेगा नहीं, पढ़ सकेगा नहीं; केवल अल्पांश पढ़ सकेगा : साथ ही वह यह भी जानता है कि उस अल्पांश का भी एक बड़ा हिस्सा अधिक अजनबी होगा—और समाज के बहुत बड़े भाग का जो अंश कसौटियों से उतना अजनबी नहीं होगा, उस तक रचनाएँ पहुँचेगी नहीं क्योंकि वह निरक्षर होगा।

भविष्य में तो पहुँच सकती हैं?

ऐसी आशा तो करनी चाहिए। मैं भी करता हूँ। लेकिन 'मैं भविष्य के लिए

लिख रहा हूँ' इसका अर्थ यह लगा लें कि इसलिए आज का पाठक मेरे लिए महत्त्व नहीं रखता, बड़ा खतरनाक होगा। इस रपटन पर कई समकालीन लेखक फिसल चुके हैं। जो लेखक अपने काल के विवेकवान पाठक को नहीं छू सकता वह भविष्य के बारे में किसी अनुमान के सहारे खड़ा नहीं हो सकता। सिद्धान्ततः इस बात को हम सम्भव मान भी लें कि कोई लेखक, जिसे आज कोई नहीं समझता, भविष्य में एकाएक महत्त्व पा जाएगा तो भी इसके सहारे हम आज नहीं चल सकते। मैं जानता हूँ कि कुछ लेखक अपने जमाने में पागल समझे गये जिन्हें कालान्तर में सम्मान मिला। लेकिन इससे यह परिणाम निकालने में असमर्थ हूँ कि मेरा लक्ष्य ही यह होना चाहिए कि मैं अपने जमाने में पागल समझा जाऊँ।

क्या नयी कविता में भक्ति-तत्व को या श्रद्धा को आप बिलकुल अप्रासंगिक मानते हैं?

आपके प्रश्न का उत्तर देने से पहले एक-दो पारिभाषिक बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए। 'नयी कविता' से आपका आशय आज का एक लेखन-सम्प्रदाय भी हो सकता है और आज की समस्त कविताएँ भी हो सकती हैं। फिर जब आप किसी चीज़ को 'अप्रासंगिक' कहते हैं तो प्रश्न यह उठता है कि किस आधार-भूमि पर खड़े होकर आप उसे तौल रहे है। मैं मान लेता हूँ कि आप एक काव्य आन्दोलन की बात न करके समग्र समकालीन कविता की बात कर रहे हैं। यह भी मान लेता हूँ कि आपका प्रश्न किसी भी प्रकार की श्रद्धा नहीं, धार्मिक श्रद्धा व भगवत भक्ति से सम्बन्ध रखता है। इस सन्दर्भ में मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर आप मानते हैं कि किसी समय यह देश श्रद्धालु, धर्म विश्वास और ईश्वर-भक्त था और आज वैसा नहीं है, तो कहीं-न-कहीं तो टूटन या परिवर्तन दीखना चाहिए? विश्वास चाहे एकाएक टूटा हो, चाहे धीरे-धीरे जर्जर हुआ हो, साहित्य में उसका प्रतिबिम्ब तो कहीं मिलना चाहिए। वह कहाँ है? एक श्रद्धावान समाज कालान्तर में श्रद्धा विहीन समाज बन गया तो उस संक्रमण के लक्षण कहाँ हैं? उस संक्रमण काल का साहित्य कौन-सा है? कहीं-कहीं आपको आध्यात्मिक शंका का काव्य मिल जाएगा लेकिन जिन कवियों की रचना में मिलेगा उन्हें भी आप अन्ततोगत्वा अस्तित्व कवि ही पाएँगे। तब फिर प्रश्न का रूप कुछ बदल जाता है। अगर संक्रमण कभी हुआ ही नहीं तब दो में से एक बात माननी पड़ेगी—या तो भारतीय समाज आज भी श्रद्धावान है तो भक्ति की चर्चा या काव्य में उसकी अभिव्यक्ति, स्पष्ट ही प्रासंगिक हो जाती है, और

अगर पहले भी कभी श्रद्धावान नहीं था तब आज जो टूटन और आध्यात्मिक संत्रास वगैरह की चर्चा होती है, वह सब भी एक आयातित फैशन है, पाखंड है। आयातित इसलिए कि पश्चिम के साहित्य में तो वह स्पष्ट दीखता है, और वहाँ उसका कारण भी दीखता है यानी वहाँ हम देख सकते हैं कि श्रद्धा के टूटन का युग साहित्य में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है और विश्वास बनाये रखना चाहने पर भी उसमें असफल होने का आध्यात्मिक क्लेश भी साहित्य में पहचाना जाता है। भारत में ऐसा नहीं है।

स्वयं आपके लेखन में क्या भक्ति-चेतना है? और है तो उसका स्वरूप क्या है?

इसकी चर्चा मुझे क्यों करनी चाहिए। रचनाएँ पाठक के सामने हैं : वह जो समझे! हाँ, इतना कह सकता हूँ कि लिखते समय अपने से बड़ा कुछ पहचानता हूँ— जो कुछ भी मैं मूल्यवान समझता हूँ उस सबसे बड़ा कुछ। उसे आप भक्ति-चेतना मानें तो मुझे आपत्ति नहीं।

क्या आपकी राय में कवि को राजनीति-निरपेक्ष रहना चाहिए?

मैं इसे इस रूप में रखूँगा कि कवि राजनीति से निरपेक्ष नहीं हो सकता, कविता राजनीति से निरपेक्ष हो सकती है।

राजनैतिक कविता के बारे में आप क्या सोचते हैं?

वास्तव में राजनैतिक कविता कुछ नहीं होती; कविता, कविता ही होती है : ऐसी हो सकती है कि राजनैतिक प्रेरणा से लिखी गयी हो, ऐसी भी हो सकती है जिसका राजनैतिक प्रभाव हो; जैसे कि ऐसी भी हो सकती है जिसकी प्रेरणा या जिसका प्रभाव धार्मिक या आध्यात्मिक हो। फिर कविता ऐसी हो सकती है जिसमें किसी एक राजनीति दर्शन का आभास मिलता हो—जैसे कि कविता ऐसी हो सकती है जिसमें किसी एक या दूसरे धर्म-दर्शन की झलक हमें मिले, उसकी मूल्य-व्यवस्था की प्रतिष्ठा हो। ऐसे प्रभाव के कारण या उसमें निहित मूल्य-बोध के कारण आप कविता को धार्मिक या राजनैतिक आदि कह लें तो कह सकते हैं। और भी ब्यौरे में जाकर ईसाई कविता या हिन्दू कविता या मर्क्सिस्ट कविता आदि भी कह सकते हैं। ऐसे पद निरर्थक नहीं हो जाएँगे, लेकिन इसीलिए कि यह स्पष्ट रहेगा कि ये विशेषण काव्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते हैं बल्कि उसमें पहचाने जा सकने वाले तत्त्व की एक कोटि का निरूपण कर रहे हैं।

दूसरी ओर अगर राजनैतिक कविता से आपका आशय राजनैतिक लक्ष्यों की

पूर्ति या राजनैतिक आन्दोलनों के समर्थन के लिए लिखी गयी कविता से है तो मैं कहूँगा कि ऐसी रचनाएँ राजनैतिक तो अवश्य हो सकती हैं, कविता वे नहीं भी हो सकती हैं। काव्य वे हैं या नहीं इसका निर्णय उनकी राजनैतिकता पर निर्भर नहीं करेगा। यानी यों भी कह सकते हैं कि 'राजनैतिक कविता' काव्य की विधा और उसके शिल्प का राजनैतिक उपयोग है।

नि:सन्देह किसी भी साहित्यिक विधा का ऐसा उपयोग किया जा सकता है और केवल राजनीति के लिए ही नहीं, और अनेक साहित्येतर उद्देश्यों के लिए भी। विज्ञापन के लिए भी कविता-कहानी का शिल्प काम में लाया जा सकता है और काम में लाया जाता है। कपड़ा और सब्जी तरकारी और मिठाई बेचने के लिए भी काम में लाया जाता है। हम चाहें तो 'राजनैतिक' कविता की तरह 'विज्ञापनीय' कविता की भी चर्चा कर सकते हैं। और अपने क्षेत्र में वह भी उतनी ही संगत होगी। ऐसी 'कविता' की सफलता की कसौटी तो यही होगी न, कि जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह लिखी गयी उसमें योग देती है या नहीं? अगर वह लक्ष्य साहित्यिक नहीं है तो वह कविता भी कविता नहीं है—सफल पद्य होकर भी।

प्रतिबद्ध कविता के बारे में आपका क्या खयाल है?

यही कि प्रतिबद्ध कविता लेखक की कविता है तो 'प्रतिबद्ध' कविता है। यदि प्रतिबद्ध लेखक की नहीं है तो फिर नहीं है। वह कविता है कि नहीं, इसकी परख के लिए मैं तो यह देखूँगा कि रचना की दृष्टि कितनी सच्ची है।

सन् साठ के बाद की कविता पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

उसमें मुझे ऐसा बहुत कम मिलता है जिसकी मैं काव्य से अपेक्षा करता हूँ। भाषा के कुछ नये गुण मिल जाएँगे, कुछ नये बिम्ब मिल जाएँगे वगैरह। लेकिन इतना तो काफ़ी नहीं होता। अच्छे काव्य में सच्चाई की नयी पहचान होती है—ऐसी पहचान कि जिसके बाद पाठक अपने को भी एक नये रूप में पहचानता है—यानी अपने में उस नयी पहचान के सामर्थ्य को पहचानता है और यह भी देखता है कि इस प्रकार एक सीढ़ी आगे बढ़ जाने के बाद अब पीछे लौटना सम्भव नहीं रहा है। इस अर्थ में अच्छा काव्य संसार को बदलता है चाहे कितना ही थोड़ा-थोड़ा करके। इस गुण का 60 के बाद की कविता में खासा अभाव है।

आपके सवाल का जवाब एक-दूसरे ढंग से भी दे सकता हूँ। कुछ लोग तो,

खैर पुस्तकें पढ़ते नहीं और रखते भी नहीं, लेकिन जो लोग पढ़ते हैं और पुस्तकें संग्रह करते हैं उनकी भी दृष्टियाँ अलग-अलग होती हैं। मैं अपनी बात कहूँ : कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनके बीच और जिनके साथ मैं रहना चाहता हूँ। यह ज़रूरी नहीं है कि रोज उन्हें पढ़ूँ या सबको बार-बार पढ़ूँ। लेकिन अपने आसपास उनके बने रहने से एक अपना संसार बने रहने का बोध होता है। कुछ चित्र भी ऐसे होते हैं और चीज़ें भी ऐसी होती हैं। इस कोटि की पुस्तकों के अलावा कुछ ऐसी होती हैं जिन्हें हम इसलिए रखते हैं कि उनकी किसी वक्त भी जरूरत पड़ सकती है। ये पुस्तकें हमारे परिवेश या हमारे संसार को बनाने वाली नहीं होंगी, केवल सुविधा की दृष्टि से पहुँच के भीतर रखी जाती हैं। मैं कहूँ कि साठोत्तरी कविता के बहुत से संग्रह मेरे पास हैं तो ऐसा इसलिए नहीं है कि उनके बीच मैं रहना चाहता हूँ या कि उनसे मुझे अपने संसार के बनने का बोध होता है : उन्हें इसलिए रखता हूँ कि उनकी जरूरत पड़ सकती है।

छन्दोबद्ध कविता का क्या भविष्य है?

छन्द का अर्थ केवल तुक या बँधी हुई समान मात्रा नहीं है। तुक छोड़ देते ही छन्द टूट जाता है यह मैं नहीं मानता। छन्द योजना का ही एक नाम है। जहाँ भाषा की गति नियन्त्रित है वहाँ छन्द है। तुक इस संयोजना अथवा नियन्त्रण का केवल एक प्रकार है। हमारे काल में तो कविता ने प्रायः तुक को छोड़ कर अपने को उपलब्ध किया है— तुक द्वारा संयोजन में एक प्रकार की कृत्रिमता आती देखकर कविता ने नियन्त्रण और संयोजन के दूसरे स्तरों और प्रकारों का सन्धान किया है।

रूप तो छन्द से भी व्यापकतर चीज़ है। जहाँ कविता का प्रश्न होता है वहाँ छन्द से भी आगे बढ़कर हम रूप का प्रश्न उठा रहे होते हैं—बल्कि उस रूप को पहचानने, आत्मसात करने और सम्प्रेष्य बनाने का ही साधन छन्द है।

बोलचाल की भाषा को सर्जनात्मक भाषा बनाने में क्या समस्याएँ आती हैं?

बोल-चाल की भाषा को लेकर एक भ्रान्ति काफ़ी दूर तक फैली हुई है। एक चीज़ है बोल-चाल की भाषा की अन्विति : एक दूसरी चीज़ है बोल-चाल की भाषा की शब्दावली। सर्जनात्मक भाषा का प्रश्न इन दोनों से आगे तक जाता है। कविता निरन्तर विशिष्ट शब्दावली को छोड़ कर साधारण

शब्दावली को अपनाने का प्रयत्न करती रही है : पद्य में प्रचलित और सम्भाष्य कृत्रिम अन्वितियों को छोड़ कर वह बोल-चाल की भाषा की सहज अन्विति के निकटतम आने का भी प्रयत्न करती रही है। लेकिन यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि रचनात्मक भाषा और बोल-चाल की भाषा एक हो गयी है। कवि जाने-पहचाने शब्दों का प्रयोग करता है। उन्हें यथा सम्भव जाने-पहचाने या सहज ग्राह्य अनुक्रम में ही रखता है। लेकिन उन्हीं शब्दों से वह नये अर्थ की सृष्टि करता है। यानी शब्द परिचित हैं, लेकिन शब्द प्रयोग विशिष्ट और रचनात्मक हो जाता है, एक हद एक तो यह साधारण अन्विति के विचलन से होता है: फिर यह परिचित शब्दों को ही अभूतपूर्व परिवेशों में बैठाने से भी होता है इत्यादि। कवि कभी अभिधा की अवज्ञा या उपेक्षा नहीं करता है : लेकिन कभी अपने को उतने-भर से बाँध कर भी नहीं रखता। जो कविता केवल अभिधेयार्थ तक अपने को सीमित रखता है उसकी कविता उतनी ही इकहरी होती है जितना हमारा एक प्रयोजनवती भाषा का साधारण व्यवहार। एक बार पढ़ने में ऐसी कविता चुटीली भी जान पड़ सकती है लेकिन उससे आगे उसमें कुछ नहीं रहता। अखबार पढ़ने वाले रोज नये अखबार की प्रतीक्षा करते हैं और कभी-कभी यह प्रतीक्षा आतुर भी हो सकती है : लेकिन पढ़ लिये जाते ही अखबार रद्दी हो जाता है—या थोड़े से लोगों के लिए उस दूसरी कोटि में आ जाता है 'जिसकी कभी जरूरत पड़ सकती है।'

मैं जानता हूँ कि आपके सवाल का पूरा जवाब यह नहीं है। सच कहूँ तो यह जवाब ही नहीं है। सर्जनात्मक भाषा बनाने की समस्याओं का कोई अन्त थोड़े ही है। हर कवि के लिए ही नहीं, हर रचना के लिए समस्याएँ अद्वितीय रूप में आती हैं और रचना हो जाने के बाद ही वास्तव में इस प्रश्न का सही विचार होता है कि क्या समस्या थी और उसका क्या निराकरण हुआ। यानी रचनात्मक भाषा की समस्याएँ भविष्यत् के रूप तक नहीं देखी जातीं : अतीत के रूप में ही दीखती हैं। यों हम ऐतिहासिक दृष्टि से लम्बी-चौड़ी सूची बना सकते हैं। जो दूसरों के लिए उपयोगी भी हो सकती है।

गद्य भाषा और काव्य भाषा में भेद का आधार क्या हो?

आधार क्या हो, इसका जवाब तो क्या दूँ। क्या भेद है इसका कुछ संकेत तो मैंने रख ही दिया। गद्य भी तो अनेक प्रकार का होता है। जहाँ प्रयोजन प्रधान है या किसी निभ्रान्त जानकारी का सम्प्रेषण अभीष्ट है वहाँ गद्य

इकहरा भी हो सकता है और वहाँ शब्दों का पर्यायत्व भी माना जा सकता है—एक शब्द के बदले दूसरा शब्द हम कोश से लेकर रख सकते हैं। लेकिन रचनात्मक गद्य में स्थिति इतनी सरल नहीं रहेगी और हम क्रमश: उन जटिलतर स्थितियों की ओर बढ़ते जाएँगे जो काव्य-भाषा के सामने आयी हैं। यों कुछ मोटे भेद किये जा सकते हैं। बलाघात और काकु का महत्त्व गद्य में अधिक होता है। काव्य में स्वर मात्रा का नियन्त्रण अधिक महत्त्व रखता है। स्वर मात्रा का नियन्त्रण काव्य-भाषा की गति को धीमा करता है। यह नियन्त्रण उस सतही नियन्त्रण से अधिक गहरा होता है जो गद्य में लक्षित होता है। इस गहराई के कारण ही काव्य में बहुत कुछ ऐसा भी सहज भाव से कहा जा सकता है जो गद्य में शील विरुद्ध या संगोप्य या अश्लील तक जान पड़ सकता। गद्य की भाषा में जो भाव असंयत जान पड़ते हैं काव्य-भाषा में इस गम्भीरतर अनुशासन के कारण संयत हो जाते हैं।

बुनियादी बात यह है कि गद्य का सीधा संबंध भाषा से है। काव्य का भाषा से नहीं बल्कि शब्द से और उसकी सत्ता से।

आप अपने रचनात्मक विकास के क्रम में कुछ विशेष लेखकों से प्रभावित भी हुए होंगे? क्या कुछ नाम लेंगे?

प्रभावित तो अनेकों से हुआ हूँगा लेकिन नाम गिनाना तो कठिन है और उसमें जोखिम भी है। हम जो कुछ पढ़ते हैं सभी से प्रभावित होते हैं। प्रभाव अनुकूल भी होते हैं प्रतिकूल भी। फिर अच्छा लगने और 'प्रभावित होने' में अन्तर भी है—महत्वपूर्ण अन्तर। कई बार ऐसा होता है कि हम अपेक्षया साधारण लेखकों से भी प्रभावित होते हैं—उनसे कुछ सीखते भी हैं। नाम गिनाते समय लोग यह भी सोचते हैं कि अच्छे और बड़े साहित्यकारों के नाम गिनाये जाएँ जिससे कि सुनने वाला यह भी जाने कि हम अच्छा साहित्य पढ़ते रहे हैं। मैंने भी बहुत-सा अच्छा साहित्य पढ़ा है—महान् कवियों और कथाकारों की चीज़ें पढ़ी हैं—मैं चाहता हूँ कि आप ऐसा विश्वास करें लेकिन मैंने भी ऐसा बहुत कुछ पढ़ा है जो बिलकुल घटिया था, और यह सिर्फ संपादक होने के नाते नहीं—मनोरंजन के लिए भी, वक्त काटने के लिए भी। और यह नहीं कह सकता कि इस घटिया साहित्य से भी कुछ सीखा नहीं : बल्कि उपन्यास और कथा कि विधा में तो यह भी कहा जा सकता है कि कई घटिया साहित्यकार बड़े कुशल-शिल्प विशारद होते हैं और शिल्प की दृष्टि से उनसे अधिक सीखा जा सकता है।

बहुत पढ़ने से क्या रचनाकार की मौलिकता पर असर नहीं पड़ता?

मैंने कहा न कि असर तो सब-कुछ का पड़ता है। वैसे यह मैं मानता हूँ कि पंडित कवि की कविता कुछ अलग प्रकार की होती है या हो जाती है। सभी भाषाओं में ऐसे कवि हुए हैं जिन्हें पंडित कवि कहा गया है। पर मैं यह नहीं मानता कि पढ़ने से मौलिकता घटती है—मौलिकता होगी तो घटेगी क्यों? पढ़ने से कवि को लाभ भी हो सकता है, उसकी रचना में गहराई भी आ सकती है, व्यंजना का क्षेत्र भी बढ़ सकता है। शर्त यही है कि कवि पांडित्य में खो न जाए—अपने पाठक या समाज को भूल न जाए।

क्या कुछ ऐसी भी महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं जिन्होंने आपके लेखन को विशेष रूप से प्रभावित किया है?

जरूर हैं और होंगी। लेकिन लेखक का एक निजी जीवन भी होता है जिसे कम से कम उसे स्वयं तो निजी ही रहने देना चाहिए। मैं तो निजी जीवन की सुरक्षा को हमेशा विशेष महत्व देता रहा हूँ और आज और भी अधिक देता हूँ जब जीवन की निजता एक ओर यांत्रिक सभ्यता के विकास से और दूसरी ओर व्यवसायी पत्रकारिता से और भी आक्रांत होती जा रही है। यांत्रिक सभ्यता का दबाव तो निर्वैयक्तिक माना जा सकता है। व्यवसायी पत्रकारिता की प्रवृत्ति जैसी होती जा रही है कि उसे साहित्य के गुण-दोष में रुचि नहीं रहती, न वह अपने पाठक का गुण-दोष विवेक बढ़ाती है। उसकी दिलचस्पी साहित्यकार को उघाड़ने-उघेड़ने में अधिक रहता है और इसी सनसनी की एक अस्वस्थ तलाश उसे रहती है—उसी के नशे की आदत वह बढ़ाती है।

जिन घटनाओं ने मेरे लेखन को प्रभावित किया उनका प्रभाव लेखन में मिलेगा ही। लेखन में जितना मिलेगा उतना ही संगत होगा। नहीं तो जिस लेखक के जीवन की जानकारी हमें नहीं है क्या उसके साहित्य का मूल्यांकन हमारे लिए असम्भव हो जाता है? कालिदास या भवभूति के जीवन की घटनाओं के बारे में हम कितना जानते हैं? अवश्य ही उनके जीवन में कुछ न कुछ महत्वपूर्ण घटित हुआ होगा।

इधर की आलोचना में 'ईमानदारी' और 'प्रामाणिक अनुभूति' की माँग बहुत की गई है। एक लेखक के रूप में आप इसे किस रूप में स्वीकार करते हैं?

माँग तो अवश्य बहुत हुई है, लेकिन जिन लोगों ने माँग पर बहुत ज्यादा

बल दिया उन सबने उसकी पूर्ति का भी उतना सात्विक प्रयत्न किया हो ऐसा तो मुझे नहीं लगता। असल में ये दोनों शब्द कुछ समकालीन मतवादी प्रवृत्तियों कें साथ जुड़े हुए हैं और उन्हीं के संदर्भ में समझे जा सकते हैं। पहले का कवि ईमानदार नहीं था या उससे ईमानदारी अपेक्षित नहीं रही हो, ऐसा नहीं था; फिर भी ईमानदारी की उतनी चर्चा साहित्य और साहित्य विवेचन के क्षेत्र में नहीं होती थी क्योंकि ईमान जिन चीज़ों पर होता था या जिन चीज़ों पर होना आवश्यक माना जाता था—साहित्य में भी, सामाजिक जीवन में भी—उनके बारे में पूरा समाज प्राय: एकमत था। यानी पूरे समाज का जीवन एक ही मूल्य व्यवस्था से अनुशासित था। ईमान एक था, ईमानदारी एक थी। अब ऐसा नहीं है। लम्बे विश्लेषण का तो अवसर यह नहीं है, लेकिन मोटे-तौर पर कहें कि मतवादी आग्रहों से विभाजित समाज में अनेक मूल्य दृष्टियाँ है और विभिन्न मूल्य-अवस्थओं के अपने-अपने अनुयायी हैं। जो दूसरे मतवादों और उनकी मूल्य दृष्टियों पर शंका करते हैं उनके लिए दल-निष्ठा का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया है और साहित्यिक सम्प्रदायों में भी लगभग उतना ही महत्व रखता है जितना राजनैतिक सम्प्रदायों में। इसीलिए ईमानदारी की इतनी चर्चा है और अपनी बिरादरी से बाहर के सभी लेखकों की ईमानदारी पर प्रश्नचिह्न लगाया जाता है।

प्रामाणिक अनुभूति की बात भी ऐसी ही है, बल्कि शायद कुछ जटिलतर है। प्राचीन युग में और रीतिकाल तक 'प्रामाणिक अनुभूति' की कोई चर्चा नहीं होती। औचित्य का विचार होता है, जिसका सम्बन्ध कवि की अनुभूति से नहीं, अनुभूतियों के साधारणीकृत रूप से और काव्य में प्रस्तुत स्थिति के साथ उस रूप के सामंजस्य से है। और परम्परा में हमेशा कवि ऐसी बातों की भी चर्चा करते रहे जिनकी अनुभूति का कोई सवाल ही नहीं उठता था, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि प्रामाणिकता का अनुभूति से संबंध ही नहीं जोड़ा जाता था।

कवि की ओर से कोई दावा न हो कि वह जो लिख रहा है अनुभूति के आधार पर लिख रहा है, और फिर भी उसे बेईमान मानने की किसी को न सूझे—ऐसा क्यों था?

अनुभूति की बात कवि के व्यक्तित्व से जुड़ी हुई है। जिस काव्य में कवि का व्यक्तित्व प्रधान नहीं होता उसमें अनुभूति की दुहाई नहीं दी जाती। वाचिक परम्परा का समूचा काव्य रीति-प्रधान है : उसमें कहीं कवि के व्यक्तित्व की छाप अपेक्षित नहीं है बल्कि उसे दोष भी माना जा सकता है।

और उसमें कहीं अनुभूति का प्रमाण भी नहीं माँगा जाता है—यानी रचनाकार की अनुभूति का प्रमाण, बल्कि अनुभूति के प्रामाण्य का सवाल उठता है तो दूसरे पक्ष की अनुभूति को लेकर—गृहीता समाज की अनुभूति को लेकर। यानी सवाल यह नहीं होता कि कविता में जो है उसे कवि की अनुभूति कहाँ तक प्रमाणित करती है (और वह कहाँ तक कवि की अनुभूति को प्रमाणित करता है), सवाल यह बनता है कि वह कहाँ तक सामाजिक की अनुभूति में प्रमाणित होता है—जो कि साधारणीकरण की समस्या का एक पहलू है।

पिछले दिनों के लेखन में कुछ शब्द बार-बार उछाले गये हैं, जैसे 'यथार्थ', 'आधुनिकता-बोध', 'विद्रोह' और 'क्रान्ति' आदि। एक रचनाकार की हैसियत से आपके निकट इन शब्दों का क्या अर्थ है?

सुनिए, जिन चीज़ों पर विस्तार से और हाल ही में लिख चुका हूँ उन पर कुछ न कहलाइए तो क्या? 'यथार्थ' की और आधुनिकता बोध की और परम्परा की प्रासंगिकता की काफ़ी चर्चा मैंने की है, 'भवन्ती' में, 'अन्तरा' में; कहानी संग्रह की भूमिकाओं में और कुछ व्यायानों में जो छप गये हैं या छप रहे हैं। उन बातों को दोहराने से भी लाभ नहीं और है यहाँ कोई जवाब दे देने से कुछ सिद्ध नहीं होता।

'विद्रोह' और 'क्रान्ति'—इनके बारे में जरूर कुछ सोचने को है। सोचने को है तो कहने को भी होगा। लेकिन अभी तुरन्त नहीं जानता कि क्या कहूँ। इनकी जो परिकल्पना 'शेखर : एक जीवनी' के चरित-नायक की थी वह आज मेरी नहीं है, इतना तो कह सकता हूँ। रोमानी भावना का मुलम्मा काफ़ी कुछ उतर चुका है, यह पहचानता हूँ कि अपनी दृष्टि के विकास से जो परिवर्तन होता है या हो सकता है वह अधिक गहरा और टिकाऊ होता है। यह भी कि जब हम दूसरे के विवेक से अपने विवेक को बड़ा मान कर जाने-अनजाने मूल्य-निर्धारण का ठेका ले लेते हैं तब तेजी से और बल-पूर्वक परिवर्तन तो ला सकते हैं, लेकिन वे टिकते नहीं और यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सब सही ही होंगे। बल्कि ऐसी हिंसा—शारीरिक या मानसिक या और भी सूक्ष्म स्तर की हिंसा—उसी स्तर पर वैसी ही प्रतिहिंसा भी अवश्य जगाएगी।

क्या रचनाकार के लिए किसी खास विचारधारा को स्वीकार करना उसकी रचना के हित में होता है?

विचारधारा हर किसी की होती है—उसके बिना आदमी विवेकवान प्राणी कैसे है? लेकिन यहाँ विचाराधारा का अर्थ है एक जीवनदृष्टि, एक मूल्य-पद्धति और आचरण अथवा कर्म के बारे में एक वरीयताप्राप्त दृष्टिकोण। और अगर इनके बिना जीना ही नहीं होता तो यह सवाल कुछ महत्त्व नहीं रखता कि ये रचना के हित में है या नहीं। लेकिन आपका प्रश्न शायद विचारधारा से उतना नहीं जितना मतवाद से सम्बन्ध रखता है—फिर ये मतवाद चाहे राजनैतिक हो अथवा धार्मिक, चाहे कुछ और। मतवादों के बारे में कहूँ कि वे जरूर रचना में बाधक हो सकते हैं। विचारधारा और मतवाद में यह भेद करना चाहूँगा कि जो विचार या मत सम्प्रदाय भी लेखक के जीवन में ऐसा रच गये हैं कि कर्म के बारे में द्वैत या तनाव पैदा नहीं करते उन्हीं को मैं किसी रचनाकार की विचाराधारा कहूँगा और उनसे कोई अहित नहीं होता जहाँ हमारा विवेक हमें एक प्रकार के कर्म की प्रेरणा देता हो—निजी जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले कर्म की या सामाजिक कर्म की—और हमारा मतवाद एक दूसरे प्रकार के कर्म या आचरण का निर्देश देता हो वहाँ समस्या होती है। सिद्धान्ततः तो ऐसा हो सकता है कि ऐसे द्विभाजित मानस का तनाव रचना के लिए भी प्रेरक हो, लेकिन वस्तुतः ऐसा नही होता है क्योंकि रचनाशील तनाव व्यावहारिक जगत तक सीमित नहीं होते बल्कि उनकी जड़ें अवचेतन तक फैली हुई होती है। इसीलिए कहूँ कि मतवाद रचना में सहायक नहीं होते। इसका मतलब यह नहीं है कि रचनाकार के अपने मताग्रह नहीं हे सकते या कि उसका सामाजिक काम उनसे प्रेरित नहीं होना चाहिए। लेकिन वह क्षेत्र दूसरा है।

कविता के मूल्यांकन का आधार कविता में हो या कविता के बाहर?

कविता के बाहर आप किसको मान रहे हैं? कविता तो सम्प्रेषण है और सम्प्रेषण में हमेशा दूसरा पक्ष मौजूद है—उसे कविता के बाहर कैसे माना जा सकता है। रही बात उन मूल्यों की जो कि पहले से प्रतिष्ठित चले आये हैं। उनके मामले में देखना यह होगा कि वे किस सीमा तक कविता के काम के हैं, सम्प्रेषण की नयी पृष्ठभूमि में कहाँ तक कवि के सहायक हैं। यों तो मूल्यांकन का आधार–कविता को ग्रहण करने वाला पक्ष ही होता है। कवि तो रचयिता है, रचना का मूल्यांकन थोड़े ही करता है।

रचनाकार का बुनियादी सरोकार क्या होता है?

इस सम्बन्ध में मैं तो सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि मेरे लिए महत्त्व की

बात यह है कि अपने और अपने आसपास के बीच जो सम्बन्ध है उसे जानने पहचानने का प्रयत्न करूँ—उसके सभी स्तरों को उनकी समग्रता ओर जटिलता में और पहचान के सहारे उस स्वाधीनता को बढ़ाऊँ और पुष्ट करूँ जो मेरे मानव की सबसे मूल्यवान उपलब्धि है। मेरा आभ्यन्तर जगत भी मेरा आस-पास हो जाता है जब मैं उसकी ओर देखता हूँ : इसलिए अपने आपसे अपना सम्बन्ध पहचानना भी आसपास से अपने सम्बन्ध की पहचान का ही एक पहलू हो जाता है। और मानव की स्वाधीनता मानव मात्र की होने के कारण अविभाज्य है : किसी एक भी स्वाधीनता को विक्षत या सीमित करके दूसरे की स्वाधीनता नहीं बढ़ायी जाएगी।

रचनाकार की स्वतन्त्रता से क्या अभिप्राय है? कौन सी शक्तियाँ उसे बाधित करती हैं? रचना के लिए आदर्श राज्य-व्यवस्था कौन-सी है?

मैं तो अभी तक मानता हूँ कि सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था वही है जिसमें शासन सबसे कम हो। लेकिन यह मैं जानता हूँ कि यन्त्रोद्योग के विकास के साथ जीवन में विराट संगठन का महत्त्व बढ़ता जाता है। उस पैमाने पर संगठन और व्यवस्था करना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए सरकार का कार्यक्षेत्र निरन्तर फैलता जा रहा है। यह पहचानना ज़रूरी है कि सरकार हमें वही दे सकती है जो वह पहले हमसे ले लेती है; शून्य में से वह कोई समृद्धि या सुविधा या सुरक्षा या स्वतन्त्रता हमें नहीं देती। तो हमें सोचना होगा कि जब हम सरकार से कुछ माँगते हैं, तो उस अपेक्षा में ही पहले ठीक वही चीज़ सौंप दे रहे हैं जिसकी हमें अपेक्षा है। इसलिए मैं चाहूँगा कि सरकार से हमारी अपेक्षाएँ भी कम से कम हों अगर हम चाहते हैं कि हमारे जीवन में उसके पंजे की पहुँच कम से कम रहे।

आदर्श राज्य-व्यवस्था कौन-सी हो इस प्रश्न का उत्तर बिना उसे एक-दूसरे प्रश्न के साथ जोड़े नहीं दिया जा सकता—कि आदर्श आत्मानुशासन कौन-सा हो। मैं चाहता हूँ कि राज्य की अपेक्षाएँ मुझसे कम-से-कम हो क्योंकि मैं जानता हूँ कि राज्य पर मेरी निर्भरता भी कम से कम हो।

यों रचनाकार की स्वतन्त्रता के आयाम दूसरे भी हैं। मेरी समझ में स्वतन्त्रता एक बुनियादी मूल्य है। मेरा मानवत्व और मेरी स्वतन्त्रता एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़े हैं। इस पर भी मैंने अन्यत्र लिखा है जिसे यहाँ नहीं दोहराऊँगा।

आज के यान्त्रिक, तकनीकी और राजनीतिक दबाव के युग में साहित्य का क्या भविष्य है?

ये सभी पूर्वानुमेय हैं— सभी प्रतिज्ञा और पूर्वानुमान के आधार पर आगे बढ़ते हैं। रचनाशील मानस अप्रमेय है। इसी में साहित्य का भाष्य है: वह अप्रमेय और अननुमेय मानव की सम्भावनाओं के उन्मेष का क्षेत्र है। साहित्य रचना में मनुष्य अपनी अकल्पित और अपूर्व सम्भावनाओं को पहचानता और आत्मसात करता है। अपनी स्वाधीनता और अपनी रचनाधर्मिता को अभिव्यक्ति भी देता है और स्वायत्त भी करता है। साहित्य असीम की देहरी है।

कन्हैयालाल नन्दन के साथ संवाद

प्राय: ऐसा सुनने को मिलता है कि अज्ञेय जी बहुत कम बोलने वाले, हास परिहास से परे अपने नाम की तरह 'अज्ञेय' रहना पसन्द करते हैं। मेरा व्यक्तिगत अनुभव अज्ञेयजी के साथ इसके बिलकुल विपरीत रहा है। यह सही है कि वे उन्मुक्त ठहाकों वाले आदमी नहीं हैं, लेकिन वे हास- परिहास से बिलकुल विमुख रहते हैं, ऐसा बिलकुल सही नहीं है। बातचीत में निकटता स्थापित कर लेने के बाद उनके व्यक्तित्व में इन पहलुओं का भी भरपूर आनन्द द्रष्टा से प्राप्त हो सकता है। आभिजात्य और सम्भ्रान्तता दोनों शब्द यदा-कदा उनके साथ चस्पाँ कर दिये जाते हैं। सम्भ्रान्तता के सन्दर्भ में उन्होंने एक बार कहा था, "सम्भ्रान्त शब्द पर मुझे थोड़ी हँसी आती है। हम लोगों ने यह शब्द बांग्ला से ले लिया जहाँ 'सम्भ्रान्त महिलाएँ' बहुत होती थीं। शायद मान लिया जाता था कि कुलीन होंगी तो बराबर सम्भ्रम में रहती होंगी। मुझे कोई विशेष सम्भ्रम नहीं है। यह कह लीजिए कि मैं विशेष सम्भ्रम में नहीं रहता। यों बहुत सी बातें मैं कहता नहीं तो ऐसा नहीं है कि उसके अस्तित्व की जानकारी मुझे नहीं होती। जो कुछ जानता हूँ, सब कहता नहीं। सब कहना आवश्यक भी नहीं है। सर्जक का काम कूड़ेदान उलटना नहीं है। न कूड़ेदान को समाज के बीच में लाकर उलट देना ही एकमात्र यथार्थवाद है। वैसी प्रदर्शनकारी प्रवृत्ति अपरिपक्वता का ही लक्षण है और भाषा की अमूल्य और अपार निधि मनुष्य को आखिर मिली किसलिए है? उसकी प्रतिभा ने रची किसलिए है? एक संकेत से जितना बड़ा यथार्थ दिखाया जा सकता है, उतना दिखाने में बड़ी से बड़ी पोथी भी असमर्थ है। मैं यही चाहता हूँ कि मानव की प्रतिभा ने जितने भी साधन उपलब्ध किये हैं उनका श्रेष्ठ उपयोग करूँ और मितव्ययिता सर्जनाशक्ति की एक सहज प्रवृत्ति है।"

एक बातचीत में उनके कहे हुए उनके शब्दों के साथ यहाँ प्रस्तुत बातचीत के दो अंश उनके व्यक्तित्व और उनके चिन्तन के साथ सामाजिक दायित्वों पर प्रकाश डालते हैं। उनके द्वारा स्थापित वत्सल न्यास, जिसे उन्होंने ज्ञानपीठ पुरस्कार के रूप में प्राप्त एक लाख रुपये के अतिरिक्त एक लाख अपनी ओर से डालकर नियोजित किया है, हिन्दी साहित्य की एक अभूतपूर्व घटना है।

नन्दन : आज का पाठक अपने लेखक के बारे में और भी बहुत कुछ जानने को उत्सुक हैं—उसका स्वभाव, उसका रहन-सहन, व्यक्तिगत रुचियाँ-अरुचियाँ, लेखन-प्रक्रिया, अनुभवों के दायरे-बहुत कुछ जानना चाहते हैं पाठक। प्रायः होता यह है कि बहुत सारे लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन की बहुत-सी बातें बताना नहीं चाहते, पूछने पर भी उनको गोल कर जाते हैं। खासकर आपके व्यक्तित्व के बारे में तो एक मिथ-सी बनी हुई है कि वे सचमुच 'अज्ञेय' हैं। यह मिथ है या इसमें कुछ सच्चाई भी है?

अज्ञेय : यों मैं तो समझता हूँ कि यह ज़रूरी नहीं है कि लेखक के बारे में पाठक बहुत कुछ जाने। रचना से ही उसका सम्बन्ध होना चाहिए। रचना से ही लेखक की पहचान होनी चाहिए। मिथ की बात मुझे मालूम है कि ऐसा मिथ मेरे बारे में है। कुछ लोगों ने बनाया है और कुछ समझिए कि मैंने भी बन जाने दिया है क्योंकि ऐसी दूरी अगर बनी रहती है और पाठक रचना के जरिए ही लेखक तक जाता है तो अच्छा ही है, इसमें बुरा क्या है? आखिर प्राचीनकाल के लेखकों के बारे में अगर हम कुछ नहीं जानते तो ऐसा तो नहीं है कि उनका साहित्य हम नहीं पढ़ सकते।

लेकिन प्राचीन काल के और आज के पाठक में बड़ा फ़र्क़ है। और अब लेखक और पाठक के बीच, इस धरातल पर भी, दूरी क्यों रहनी चाहिए?

साहित्य का रसास्वादन करने के लिए , या कि उसका मूल्यांकन करने के लिए यह ज़रूरी तो नहीं है। उस समय भी लोग साहित्यकार के बारे में जानना जरूर चाहते रहे होंगे।

उस समय के लेखक, हमें लगता है, खुली किताब की तरह रहते थे कि जो कोई जो कुछ जानना चाह, जाकर देख ले। ऋषि-मुनियों का-सा जीवन था। आज के लेखक के साथ यह सम्भव नहीं है कि पाठक आये और किताब की तरह आपको पढ़ जाए।

अगर ऋषि-मुनियों वाली बात भी ठीक मान लें, जो कि मैं नहीं समझता कि तब भी साहित्यकार ऋषि-मुनियों की तरह रहते थे। जितना कुछ पढ़ने और जानने को मिला है, उनके बारे में, उससे तो ऐसा नहीं लगता। लेकिन अगर वह बात ठीक भी मान लें तो भी साहित्यकार को सोचने-पढ़ने-लिखने और अपना काम करने के लिए समय भी चाहिए, एकान्त भी चाहिए और इन दोनों से बढ़कर वास्तव में जिसे 'प्राइवेसी' कहते हैं वह भी

चाहिए। और आज का हमारा समाज सारा समाज सबसे पहले उसी को नष्ट करने की ओर प्रवृत्त होता है। खासकर अखबार और पत्रिकाएँ यही सबसे पहले करती हैं।

समाज की इस प्रवृत्ति से आपकी 'प्राइवेसी' में जब खलल पड़ता है तो आपको नाराजगी होती है?

देखिए, यह स्वाभाविक है। हम अगर घर में रहते हैं तो यह चाहते हैं कि हमारा आँगन है, हम इसमें शान्ति से बैठें, तो यह न लगे कि चारों तरफ़ से लोग देख रहे हैं कि हम क्या कर रहे हैं। ऐसा नहीं कि हम कुछ चोरी कर रहे हैं या कि कोई बुरा काम कर रहे हैं, लेकिन यह होना चाहिए कि यहाँ जब हम हैं तो हम अपने साथ हैं। खामखाह किसी की निगरानी में नहीं बैठे हैं। लेखक के लिए यह चीज़ और भी ज्यादा ज़रूरी होती है।

कुछ ऐसी भी बातें होंगी जिन पर आप इस निगरानी से भी ज्यादा रिएक्ट करते होंगे यानी, कौन-सी चीज़ ऐसी है जिससे आपको सबसे ज्यादा, सख्त नफरत है?

सख्त नफरत तो क्या बताऊँ, मुझको बातचीत में सामाजिक शिष्टाचार में पाखंड से बहुत खीज होती है; तिलमिलाहट होती है।

आप उस तिलमिलाहट को बाहर व्यक्त भी करते हैं या पी जाना ठीक समझते हैं?

पी जाना ज़रूरी नहीं है। कभी-कभी व्यक्त भी करता हूँ। लेकिन पाखंड से तकलीफ बहुत होती है।

अगर एक तरफ़ मैंने यह पूछा है तो दूसरी तरफ़ यह भी जानना चाहूँगा कि ऐसी कौन-सी चीज़ है जो आपको सबसे ज्यादा बाँधती है?

यह तो मैं जानता भी नहीं हूँ, इस तरह से सोचता भी नहीं हूँ। तुरन्त इसका जवाब नहीं दे सकता।

अगर सोच के देने को हो तो कुछ दिन बाद पूछ लेंगे... वैसे आपके लेखन में ऐसा कोई पात्र है जिसके प्रति आप कभी भी ऐसा महसूस करते हैं कि उसके साथ आप न्याय नहीं कर सके। या जो कुछ भी लिख सके अभी भी ऐसा महसूस करते हैं कि उसमें और बहुत कुछ है जो उसके बारे में लिखा जा सकता है—या कहीं वह 'हांट' करता है?

ऐसा होता है कि लेखन में दो तरह के पात्र आते हैं। एक तो वह जो कि कहना चाहिए कि बिलकुल रचे गये या गढ़े हुए पात्र। कुछ पात्र, विशेष अपने परिचय में आये हुए लोगों पर आधारित होते हैं या उनसे सम्बद्ध किसी समस्या के कारण बनते हैं। और इस तरह के पात्रों का लेखन में आना एक तरह से उनके उस प्रभाव से मुक्त हो जाना होता है, उसकी हांटिंग से मुक्ति। हांट तो वही करते हैं जो कि अभी तक सामने नहीं आये।

कोई ऐसा पात्र जिसको प्रस्तुत करके आपको सबसे अधिक सन्तुष्टि मिली हो?

मेरा नया उपन्यास, जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ, लिखकर मैंने रोक लिया थोड़ा परिवर्तन के लिए, उसमें वह पात्र वास्तव में आता तो नहीं है लेकिन एक पात्र को लेकर जो बीसियों बरस तक मेरे मन में समस्या रही है, वह आती हैं। जब मैं क्रान्तिकारी संगठन में था तब हमारे एक साथी थे, जिन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी कि अगर कभी पुलिस से लड़ाई में उनकी मृत्यु हो जाए जिसकी सम्भावना तो बराबर रहती थी, तो उनका शरीर बेचकर और उससे जो भी आय हो वह आन्दोलन के काम में लगा दी जाए। जब यह बात सुनी थी तब भी कुछ अजीब-सी लगी थी, लेकिन संयोगवश ऐसा हुआ कि पुलिस से मुठभेड़ में उनको गोली लगी और उनकी मृत्यु हो गयी। तब यह सवाल सामने आया कि क्या उनकी इच्छा, जो उन्होंने घायल होने के बाद भी प्रकट की थी, उसे पूरा किया जाए? आप जानते हैं कि जिसे अन्तिम इच्छा कहा जाता है उसके प्रति किस तरह का भाव हमारे समाज में है। यह बात एक नैतिक संकट के रूप में सामने आयी। अन्त में उसकी उपेक्षा ही की गयी और उनका दाह-कर्म विधिवत् जो हो सकता था, हो गया। लेकिन इस बात को लेकर एक समस्या मेरे मन में बनी रही, उसकी नैतिकता को लेकर। जो मर जाता है वह तो एक तरह से इस सब झमेले से मुक्त हो जाता है लेकिन बाकी लोगों के लिए समस्या बनी रहती है।

'शेखर' के तीसरे भाग में एक पैरा में इस घटना का उल्लेख था लेकिन समस्या वही बनी रही और यह जो उपन्यास है यहीं से इसी बात से शुरू होता है। पूरा उपन्यास इसी के आसपास बुना गया है। यह एक उदाहरण है ऐसी चीज़ का जो कहना चाहिए कि हांट करती है।

'शेखर' और 'नदी के द्वीप' के बाद आपने जो उपन्यास का अपना ढाँचा रखा वह बिलकुल बदला हुआ है। कोई कारण?

नहीं, ऐसी बात नहीं है। न तो मैंने यही सोचा कि जैसे उपन्यास मैंने पहले लिखे हैं, वैसे ही मुझे लिखने हैं, न यह सोचा कि उससे भिन्न लिखने हैं। लेकिन अगर हर उपन्यास अपने पहले के उपन्यास से कुछ भिन्न लगता है या भिन्न दिशा में जाता लगता है तो उसको अच्छा ही समझना चाहिए। एक जो अन्तर इससे पहले के उपन्यासों में और 'अपने-अपने अजनबी' में हुआ, उसका कारण बिलकुल बाहरी है। 'अपने-अपने अजनबी' लिखाया गया है और पहले वाले उपन्यास लिखे गये।

लिखाया गया से क्या मतलब? मेड टू ऑर्डर?

जी नहीं, सारा डिक्टेशन करके। और इसका मतलब यह है कि उपन्यास जब रचा जा रहा था उस ममय मैं अपनी ही आवाज, अपने ही बनाये हुए वाक्य साथ-साथ सुन भी रहा था। मैं समझता हूँ कि इसका भी प्रभाव होता है। इसका भाषागत जो प्रभाव पड़ा वह ऐसा पड़ा कि भाषा को साधारण समाज के निकटतर ले जाए। इसके पहले के उपन्यास भाषा की दृष्टि से संस्कृतनिष्ठ हैं।

आपका यह जो नया उपन्यास है यह दिमाग से ज्यादा जिलाएगा या भावना से ज्यादा जिलाएगा?

मैं तो समझता हूँ इसमें दोनों हैं। और अगर उसको पढ़ने के बाद आप यह नतीजा निकालें कि उसके लेखक में फिर दिमाग और दिल का एक सन्तुलन आ गया तो अच्छा ही है।

जब आप सैनिक जीवन जी रहे थे तो उस वक्त आप यह समझते थे कि इन सारे अनुभवों को लेखन के लिए इस्तेमाल करना है? यानी वैरायटी ऑफ एक्सपीरियेंस के लिए गये थे।

नहीं, ऐसा तो नहीं था कि मैं सोच रहा हूँ कि अनुभव संग्रह इसलिए कर रहा हूँ कि इनसे बाद में मुझे काम लेना है। अपने अनुभवों के प्रति इस तरह का मेरा मनोभाव कभी नहीं रहा। मैं जानता हूँ कुछ लेखक ऐसा करते हैं कि चलो कुछ नया अनुभव संग्रह कर आएँ। और ऐसे दो-एक लेखकों से परिचित भी हूँ जो सोचते हैं कि चलो कहीं एक नया प्रेम-प्रसंग हो जाए तो कहानी के लिए सामग्री मिल जाएगी। दरअसल मैं इसको जीवन के प्रति एक तरह की बेईमानी समझता हूँ। जो अनुभव सहज ढंग से जीते हुए आएँ, उन्हीं के प्रति उन्मुक्त रहना चाहिए। उनमें से जो लिखने के काम के भी हों, उनके बारे में लिखा जाए, वह दूसरी बात है। लेकिन सिर्फ इस तरह का अनुभव संग्रह करने के लिए जिएँ, ऐसा लेखक मैं नहीं हूँ।

किसी हिन्दी लेखक से उसके प्रेम-प्रसंगों की चर्चा चलाएँ तो वह कतराकर निकल जाना चाहता है, बताने में डरता है। आत्मस्वीकृतियों का वह खुलापन हिन्दी में नहीं के बराबर मिलता है। बाहर के लेखकों की बातचीत, आत्मकथाएँ पढ़ते हैं तो बड़ा खुलापन मिलता है उनमें। अपने यहाँ आत्म-स्वीकृतियों का माहौल क्यों नहीं बनता?

मैं यह बात नहीं मानता कि विदेश में लोग बड़ी आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। दोनों बातें होती हैं— वहाँ भी और यहाँ भी। जो सच है वह भी बताएँगे क्योंकि उनके साथ बहुत गहरा सम्बन्ध नहीं हुआ, सतही सम्बन्ध रहा है और यह भी समझिए कि उन्हें एक मौका मिला है कि कुछ गढ़कर सुना दें। क्योंकि, खासकर प्रेम-प्रसंगों के बारे में व्यक्ति का अहंकार ऐसा है कि उसे सोचना अच्छा लगता है और दूसरे को यह मनवाना अच्छा लगता है कि मेरे पास इतने अधिक अनुभव हैं। पश्चिम में जिन लोगों ने आत्मकथाएँ भी लिखी हैं, तो यह तो प्रमाणित भी है कि उन्होंने झूठे, बिलकुल कल्पित प्रेम-प्रसंग लिखे हैं, बहुत अच्छी जो आत्मकथाएँ हैं जैसे कैसानोवा की आत्मकथा है, उसमें कैसानोवा के बारे में जब एक बार प्रसिद्ध हो गया कि वह एक ऐसा दिलफेंक व्यक्तित्व है, आज के मुहावरे में कहें कि अपना बिम्ब उसने ऐसा बना लिया तो उसके बाद उसने अपनी आत्मकथा में बहुत से कल्पित प्रेम-प्रसंग भी जोड़ दिये। इतिहासकारों ने बाद में पता लगाया कि वास्तव में ये घटनाएँ ऐसी हुई नहीं थीं। एक बात और...

भारतीय समाज और पश्चिम के समाज में थोड़ा-सा अन्तर है कि वहाँ विश्लेषण की प्रवृत्ति ज्यादा है। यहाँ पर साधारणतया नहीं होगी। अपने यहाँ समाज में भी इस तरह की बात को आत्मस्वीकार नहीं, बल्कि आत्मप्रदर्शन माना जाता है। ऐसा नहीं कि पूरा समाज इसे नहीं स्वीकार करता, या कर नहीं सकता। लेकिन समाज की अधिकांशतया स्थिति यही है।

आपसे अगर कोई आपके प्रसंगों के बारे में पूछे तो मैं मानता हूँ कि न आप उसे गढ़ के बताना चाहेंगे, न छिपाना चाहेंगे। फिर भी कहीं न कहीं मेरे मन में दुविधा है कि यहाँ वह ईमानदार आत्मस्वीकृति की स्थिति चूँकि पैदा ही नहीं हुई, इसलिए...

मैं समझता हूँ कि इससे ठीक उलटा, कम से कम तर्क के लिए तो निश्चय ही, उदाहरण दे सकता हूँ। कोई लेखक अपने प्रेम-प्रसंगों के सन्दर्भ में

अपने बारे में कुछ कहे या आत्मस्वीकार करे, यहाँ तक तो मैं मानता हूँ लेकिन उसके जीवन में दूसरे जिन लोगों से उसका परिचय या सम्बन्ध रहा, उन व्यक्तियों के बारे में वह किस आधार से कुछ भी कह सकता है, बिना यह जाने कि इससे उस व्यक्ति को कैसा लगेगा। बिना उसकी अनुमति या अस्वीकृति के कोई कैसे इस तरह की बातें अपने बारे में कह सकता है। पश्चिम में जो लोग आत्मकथा लिखते हैं या तो वे उसके साथ यह शर्त कर देते हैं कि इसका प्रकाशन अमुक व्यक्ति की अनुमति के बिना नहीं होगा या कि अमुक-अमुक व्यक्तियों के जीवनकाल में नहीं होगा। इसका मतलब है कि आत्म-स्वीकार करते हुए भी वे सीमा का उल्लंघन नहीं करते। लेकिन यहाँ जो दो-एक आत्मकथाएँ लिखी गयी हैं उनमें लोगों ने दूसरों के बारे में ऐसी बातें कह दी हैं जिनसे स्वाभाविक है कि दूसरी दृष्टि से देखा हो। कुछ के बारे में तो मैं जानता हूँ कि मैंने उन्हीं घटनाओं को देखा तो उसी दृष्टि से नहीं देखा, जिस दृष्टि से लेखक लिख रहा है। यह जानता हूँ कि उससे कई लोगों को कष्ट होगा तो किस अधिकार से, बल्कि किस अहंकार से आदमी ऐसी बातें कह जाए जिनमें दूसरों पर आरोप है। जिनके जवाब देने का मौका उनको नहीं है।

आप अकेले रहने के आदी रहे हैं, विदेशों में भी रहे। ऐसी स्थिति में स्वयंपाकी होना अनिवार्य होता है।

रहा हूँ। खाना बना लेता हूँ। अच्छा भी बना लेता हूँ। ऐसा भी था कि मेरे कुछ मित्र थे जो आपस में एक-दूसरे को निमन्त्रित करते थे और कहते थे कि आप सब आओ, हमारे यहाँ खाना खाओ, वात्स्यायन आकर खाना बनाएगा। लेकिन अब तो समय कम मिलता है।

सबसे अच्छी क्या चीज़ बनाते थे?

जिसने खाया हो वही बताए।

अध्ययन करने में आप किसी विशेष स्थिति में विशेष तन्मय हो जाते हैं? कुछ लोग खड़े-खड़े किसी किताब को पढ़ने में अधिक तन्मय हो जाते हैं। आपके साथ ऐसी कोई...

यह तो मेरे साथ लिखने में भी होता है। मैं खड़े-खड़े लिखता भी हूँ। पढ़ने में कोई चीज़ अच्छी लगे तो कोई ठिकाना नहीं कि खड़े-खड़े या बैठे-बैठे, बस में बैठे हुए या सड़क पर चलते हुए भी यह क्रम चल सकता है।

कैसी चीज़ें आपको पढ़ने में ज्यादा जँचती हैं ? कविता, आत्मकथाएँ, चिन्तनप्रधान लेख, दार्शनिक विवेचन... कहानियाँ...।

कविता में तो कभी-कभी कविता छोटी होती है इसलिए उस स्थिति से उद्धार भी जल्दी हो जाता है। बाकी उपन्यासों में प्राय: होता है, काफ़ी लम्बे उपन्यास भी बड़े तन्मय भाव से पढ़ सकता हूँ। निबन्ध भी पढ़ सकता हूँ। जीवनियों में तो प्राय: ऐसा नहीं हुआ। बहुत कम ऐसी जीवनियाँ मिली हैं।

आपने खुद ही इशारा किया कविता छोटी होती है इसलिए जल्दी उद्धार होने की बात होती है। कम समय लगता है इसलिए तो यह छोटी चीज़ें पढ़ने का ज्यादा रिवाज चल पड़ा है। उससे आपको ऐसा नहीं लगता कि बड़ी चीज़ें लिखने का रिवाज धीरे-धीरे खत्म हो जाएगा।

नहीं, मुझे ऐसा नहीं लगता। छोटी चीज़ें पढ़ने वाले लोग बहुत हैं। उसके साथ उनमें भी शायद कुछ लोग ऐसे हों जो पहचानते है कि हमने मनोरंजन के लिए छोटी चीज़ पढ़ी, लेकिन जो मूल्यवान चीज़ है वह शायद इससे ज्यादा विस्तार माँगती है, मैं तो समझता हूँ कि बड़े उपन्यास के लिए अभी क्षेत्र है और आगे और भी बड़े-बड़े उपन्यास लिखे जाएँगे।

पिछले एकाध साल में कोई ऐसी औपन्यासिक कृति आपकी दृष्टि में आयी जिसे पढ़कर आपको लगा हो कि सन्तोष हुआ ?

हिन्दी में तो नहीं, विदेशी उपन्यासों में कुछ अच्छे लगे। एक युगास्लाव उपन्यासकार के उपन्यास मुझे पिछले दिनों बहुत अच्छे लगे। यों अच्छा कवि, वास्तव में ऐसा दहला देने वाला कवि दस-बीस-पचास साल में एकाध होता है। उपन्यासकार भी पीढ़ी में एकाध हो तो काफ़ी मानना चाहिए।

कभी-कभी एक कविता पूरे उपन्यास से ज्यादा बड़े कैनवास को ढकती मालूम होती है, किसी बड़े से बड़े उपन्यास के समकक्ष खड़ी भी हो सकती है और उससे ज्यादा दहला देने वाली हो सकती है।

हाँ, यह हो सकता है लेकिन ज़रूरी भी नहीं है कि इस क्षमता के बावजूद वह याद रहे।

पिछले दिनों 'न्यास' की बात आपने जो उठायी है, यह बात आपके मन में कब पैदा हुई? ज्ञानपीठ से एक लाख की पुरस्कार-प्राप्ति के वक्त कि इस राशि के उपयोग का क्या होगा? या पहले ही आपके मन में ऐसी कोई परिकल्पना थी?

नहीं, जिस तरह का काम सोचता हूँ, उसकी तो कल्पना थी कि कुछ ऐसा काम होना चाहिए, साधन उसके लिए जहाँ से भी उपलब्ध हों उस पुरस्कार की घोषणा हो गयी तब यह भाव तो मन में था ही कि इस राशि को इस वक्त अपने काम में नहीं लगाऊँगा। और तब यह बात उसके साथ अपने आप जुड़ गयी कि अपने काम में अगर नहीं लगाता हूँ, तो फिर जिस तरह के काम सोचता हूँ कि होने चाहिए, उसमें लगाना चाहिए। फिर यह बात भी मन में उठी कि वह यह तो होगा कि पुरस्कार हमने नहीं लिया, इस काम में लगा दिया लेकिन अगर नहीं लिया तो अपनी तरफ़ से क्या किया? तो हमने सोचा कि... और जोड़ देना चाहिए।

मेरा ख़याल है, आप इस मामले में समर्थ भी थे और शायद आप ही यह काम कर भी सकते थे। एक साहित्यकार के जरिये इतना बड़ा काम पहले मर्तबे हो रहा है या इसके पहले भी और कभी ऐसी कोई चीज़ आपके देखने में आयी है, जो आपका मॉडल बन सके इस काम के लिए?

पता नहीं, साहित्यकारों में तो नहीं, बल्कि यह कभी-कभी सोचा करता था कि साहित्यकारों ने ऐसा काम क्यों नहीं किया। करना चाहिए जो समर्थ थे, सम्पन्न थे और जिनके ऊपर दूसरी कोई जिम्मेदारियाँ बहुत ज्यादा नहीं थीं वे भी क्यों नहीं ऐसा काम करते, ऐसा तो सोचता था।

मतलब मैं अपनी जानकारी के लिए चाहूँगा कि ऐसे साहित्यकारों में किसे आप मानते थे कि कुछ लोग कर सकते थे, जिनके पास इतना पैसा था यानी एक लाख रुपया एक साथ होना या निकाल सकना, यह सहज बात तो नहीं लगती?

सहज न सही लेकिन समझता हूँ असम्भव तो नहीं थी।

तो ऐसे लोग थे हिन्दी साहित्य में जो?

इस दृष्टि से भी लीजिए कि जिनको यह पुरस्कार मिला और उन्हें यह न भी मिला होता तो उन पर ऐसा कोई आर्थिक बोझ नहीं था। यानी अगर इसके बिना भी उनका काम चलता था तो इसको तो वे दूसरे काम में भी

लगा सकते थे।

सुना है कि कुछ लोगों ने ऐसी इच्छाएँ व्यक्त की थीं। ऐसा नहीं कि बीच-बीच में सुनने में आता था कि वे इस पैसे को इस रूप में इस्तेमाल करेंगे, मगर यह बात शायद बहुत श्रेयस्कर है कि जितना पैसा आपको वहाँ से मिला, उतना ही अपनी तरफ़ से जोड़कर; जिसके लिए मेरा खयाल है कि आगे वाली पीढ़ियाँ आपको निश्चित रूप से साधुवाद देंगी। इनकी योजना में कौन-सी चीज़ें आपने सम्मिलित की हैं?

अभी योजना को व्यापक रखा है। जो रखा है, यह तो इसलिए था कि अगर साधन हों तो इनमें से कोई भी काम करने में कठिनाई न हो। क्योंकि एक बार न्यास का रजिस्ट्रेशन हो जाने के बाद तो उसमें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं होता। इसलिए यह तो इसलिए रखा गया कि यह सब काम मेरी समझ में करने लायक हैं। इनमें से जब जो सम्भव हो वह करें तो इस कारण कोई कठिनाई न हो कि इसकी व्यवस्था ही नहीं की गयी थी। लेकिन इस क्रम में सोचता हूँ, तो सोचता हूँ कि व्याख्यानमाला और शिविर की व्यवस्था सबसे पहले करनी चाहिए और मेरा खयाल है कि 1981 में ये दो तो शुरू हो जाएँगे।

यह जो व्याख्यानमाला की परिकल्पना है आपकी, यह अलग-अलग जगहों में होने को है, एक जगह क्यों नहीं रखना चाहते आप, जैसे कि किसी एक यूनिवर्सिटी में?

स्थान उसका बदलता रहे तो मुझे ता लाभ उसमें दिखते हैं। एक तो व्याख्यान पुस्तक-आकार छपने के लिए हैं, इसलिए जो एक तरह का लाभ तो सारे देश को हो ही सकता है, कहीं भी, कोई भी उसको पढ़ सकेगा। लेकिन स्थानीय संयोजन अगर अलग-अलग जगह होता तो एक तो न्यास के ऊपर व्यवस्था का बोझ कम हो जाएगा और अलग-अलक इलाक़ों के लोगों को इस काम के बारे में कुछ पता लगेगा। इसमें भी उनकी रुचि बढ़ेगी। मैं तो चाहता हूँ कि अधिक लोग इसके साथ अपने को जुड़ा हुआ मानें।

मगर जैसे मान लीजिए, चंडीगढ़ में टैगोर सीट बना दी गयी, वहाँ उसकी एक व्यवस्था, निश्चित ढंग से स्थायी रूप से चलती रहती है। केवल आदमी बदलता रहता है। उसका एक इम्पैक्ट खासतौर

से स्थायी रूप से भी पड़ता रहता है। इसमें क्या दिक्कत महसूस करते हैं आप?

नहीं, उसमें दिक्कतें नहीं हैं। वह भी सम्भव होता है तो तब होता है कि अगर आप योजना विश्वविद्यालय को दे दें। फिर उससे आगे सारी व्यवस्था उस पर छोड़ दें। क्योंकि वैसे नहीं कर रहे हैं, इसलिए उसकी उपयोगिता इससे कुछ अधिक तो नहीं जान पड़ती।

मगर उससे न्यास का काम थोड़ा बढ़ जाएगा, बजाय इसके कि व्यवस्था कम हो; जैसा आप सोच रहे हैं। जैसे कि हर बार के लिए अलग स्थान की तलाश करनी होगी।

नहीं, न्यास का काम तो होगा कि व्याख्यानों के लिए किसी व्यक्ति को निमन्त्रित करे, यह काम वह करेगा। और बाकी स्थानीय शोध-संस्थाओं की जो व्यवस्थाएँ होती हैं—लोगों को आमन्त्रित करना, बैठना, हॉल वगैरह का प्रबन्ध करना—ये मब काम कोई भी संस्था खुशी से करेगी। मैं तो आश्वस्त हूँ कि ऐमी संस्थाएँ होंगी जो चाहेंगी कि व्याख्यान उनके यहाँ हों।

इतने सारे काम के लिए आप समझते हैं दो लाख रुपये स्थायी निधि के रूप में जमा करना पर्याप्त होगा? या आप अपनी तरफ़ से कुछ-न-कुछ जोड़ते चले जाएँगे? यानी उसके अलग ढंग से जुटाने की क्या व्यवस्था होगी?

उसके बारे में 'हाँ-ना' तो कुछ नहीं कह सकता कि मैं अभी और क्या करूँगा, लेकिन योजना यह भी थी कि न्यास के मित्रों का एक मंडल हो और उनसे एक राशि आजीवन सदस्यता शुल्क के रूप में ली जाए और इसके जो प्रकाशन हैं, वे सब उनको उसके बाद मुफ्त मिलते रहें। जो उनके आयोजन हों, उनकी सूचना और उनके निमन्त्रण भी उनको मिलते रहें। तो इसमें भी एक तरफ़ यह धारणा है कि इस तरह से कुल जो निधि है, वह बढ़ जाएगी और इसमें रुचि रखने वाले लोगों का संग्रह बराबर होता रहेगा। मैं चाहता हूँ कि फिर इसके बाद उचित समझें तो जैसा वे चाहें, उसको चलाएँ भी, यह तो उन्हीं की निधि है।

एक बिलकुल विपरीत तरीके की बात, कहना चाहिए कि शंका की बात कर रहा हूँ। जब इस तरह के मित्र तलाशने शुरू होते हैं तो बहुत सारे लोगों के मन में कुछ शंकाएँ भी पैदा होने लग जाती

हैं। लोग मानने लग जाते हैं कि ठीक है साहब, मैंने पैसे दे दिये, अब बाकी क्या हो रहा है और उसका काम कैसे कर रहे हैं, कुछ पता नहीं। लोगों के चुनाव के सन्दर्भ में भी इन तरह की शंकाएँ भी पैदा न हों, इसके लिए भी कुछ व्यवस्था मन में है? क्योंकि आगे चलकर कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ आती ही हैं।

मैं तो यह समझता हूँ कि काम फूलता है। और बाकी भविष्य में जो भी शंकाएँ हो सकती हैं जो भी गलत हो सकता है, उस सबकी व्यवस्था हम करने चलें या समझें कि हम आज कर सकते हैं, तो इसको तो मैं कहता हूँ, और प्रायः कहता हूँ, कि यह भगवान बनने का खेल मुझे पसन्द नहीं है। निष्ठापूर्वक काम किया जाए और विवेक के साथ किया जाए, तो ऐसा नहीं है कि लोग देखते नहीं हैं।

असल में पुरस्कारों की सुविधाएँ देने की जहाँ-जहाँ भी स्थितियाँ बनी हैं, वहाँ ऐसा देखने में आया है कि व्यक्ति के चुनाव में यह तो थोड़ा-बहुत माना जा सकता है कि इस व्यक्ति को नहीं लिया जाता, उस व्यक्ति को लिया जाता है या इस मर्तबे नहीं लिया गया, अगले मर्तबे लिया जाएगा। मगर प्रायः ऐसा देखा गया है कि वैचारिक धरातल पर कुछ ग्रुप्स जैसे बनने शुरू हो जाते हैं, बन जाते हैं। तो न्यासधारी मंडल जो हैं, उसमें जितने नाम मैंने देखे हैं, उनमें नई पौध को पकड़ने, उसे जाँचने की क्षमता में हो सकता है कि अभी नहीं, आगे चलकर लोग शंका करने लग जाएँ या उनकी क्षमता में शंकाएँ करने लग जाएँ, ऐसा मेरे मन में वे नाम देखने से आता है!

तो उसका उपाय भी तो वही करेंगे। और यह गुंजाइश तो है ही कि उस काम को आरम्भ करने के लिए वे देखें कि कितने न्यासधारी हो गये। वे अपनी संख्या तो बढ़ा ही सकते हैं।

क्या यह उचित नहीं कि नयी जनरेशन से भी, जिन्हें आप उचित समझते हैं, बिना किसी भेदभाव के कम ः कम एकाध नाम उसमें सम्मिलित कर सकें।

मुझे नहीं मालूम कि इसके क्या औचित्य हैं और कोई सहायता कर सकता है तो उसकी क्या बाधा है, बिना न्यास का सदस्य हुए; यह भी मैं नहीं जानता।

ना, बाधा तो कुछ नहीं होती मगर अपनी तरफ़ से एक तरीके का खुला हुआ संकेत तो नयी पीढ़ी को मिलता। कोई आपकी आकर मदद करे तो इसमें किसी को बाधा तो नहीं होगी और मेरा खयाल है कि न्यास का उसमें भला ही होगा। मगर इस तरह की चीज़ अगर न्यास की तरफ़ से भी होती तो क्या बुराई थी।

सिद्धान्ततः कोई बुराई नहीं है, लेकिन जो भी, जिस व्यक्ति को भी कोई न्यास सौंपा जाए तो उसकी पात्रता का कुछ संकेत तो होना ही चाहिए। नहीं तो जो न्यासाधिकारी हैं वे किसी युवा व्यक्ति को इस योग्य समझेंगे या उसमें कोई लक्षण या प्रमाण देखेंगे इस बात के कि, वह यह काम कर सकता है तो मुझे आशा है, ज़रूर ऐसा करेंगे। लेकिन नया या अनुभवहीन होना अपने आप में गुण नहीं है।

मगर दुर्गुण भी नहीं होना चाहिए।

हाँ।

एक और खतरे की तरफ़ से आगाह करना चाहता हूँ कि ऐसी स्थितियों में पुरस्कार प्रदान करने या इस तरीके की सीट देने में एक चारा डालने वाली सिचुएशन न बन जाए! इसके लिए भी कोई न कोई व्यवस्था रहनी चाहिए।

मैं तो यह मानकर नहीं चलता कि जो भी काम जिनको सौंपा जाए, सबसे पहले इसकी व्यवस्था की जाए कि उनमें हमको सन्देह है तो उसकी क्या काट की जाए। यह आप कहें कि किसी आदमी को कोई काम देने से पहले विचार कर लिया जाए, वह ठीक है। लेकिन जिसको जो काम सौंपा, उस पर फिर विश्वास करना चाहिए कि वह निष्ठा के साथ करेगा।

यह असल में मैंने इसलिए कहा, जैसे मान लीजिए, सरकारों के जो पुरस्कार दिये जाते हैं तो अकसर वह एक तरीके से चारा जैसा डालना हो गया है... जो अधिकारीगण हैं उनके आसपास चक्कर लगाइए... तो इस तरीके की चीज़ें नहीं पनपें। उसकी प्रतिष्ठा ज्यों की त्यों, जिस उद्देश्य से शुरू की गयी है वही रहे। उसका उद्देश्य और वही उसकी प्रतिष्ठा भी बने, इसकी तरफ़ संकेत कर रहा हूँ।

मान लीजिए किसी को फेलोशिप दे रहे हैं, तो कुछ फेलोशिप तो ऐसी हैं, जिनमें फेलोशिप दे दी गयी, उसमें पुस्तक लिखी गयी और वह पुस्तक न्यास की बन गयी और न्यास ने उसको छापा। क्या यह ज़रूरी होगा कि

इस तरह के फेलोशिप देने के बाद कोई बाइंडिंग लगायी जाए कि यह काम वह करे ही।

बिलकुल! यह काम तो वह करे ही। करेगा ऐसा विश्वास होगा, लेकिन करे ही, इस तरह की कोई शर्त उसके साथ नहीं होगी।

मतलब यह कि फेलोशिप अनुभव-संचय मात्र के लिए भी दी जा सकती है?

दो तरह के लक्ष्य हैं। एक तो ज्ञानवृद्धि के लिए अनुभव-संचय के लिए कोई-कोई काम करना चाहता है। उसके लिए जानकारी प्राप्त करने के लिए दस्तावेज देखने के लिए या कोई विशेष समाज भी देखने के लिए उपन्यास के लिए, आवश्यक हो सकता है। किसी एक स्थान में जाकर रहे तो उसके लिए भी उसमें गुंजाइश रहेगी और किसी ने इस तरह का संचय कर लिया हो और वह चिन्ताओं और व्यावधानों से मुक्त होकर शान्ति से लिखना चाहे तो उसके लिए भी व्यवस्था हो सकेगी।

कुछ भवन-निर्माण वगैरह की व्यवस्था नहीं है? जैसे मान लीजिए दिल्ली में कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ बाहर का कोई साहित्यकार आकर और बिना किसी वैचारिक धारा से जुड़े या कटे, सहज साहित्यिक मात्र होने के नाते, कहीं ठहर सके। बन सके कोई ऐसी चीज़, यह इस योजना में सम्मिलित नहीं?

नहीं, कोई किसी तरह का भवन-निर्माण करने की तो योजना मेरी नहीं है और सोचता हूँ कि यह काम दूसरे लोग भी कर सकते हैं और करना भी चाहिए और शायद उनको इस तरह के काम में मरी अपेक्षा ज्यादा रुचि भी होगी। मैं सोचता हूँ तो ऐसे स्थान की बात जरूर सोचता हूँ जहाँ कुछ संग्रह करके रखा जा सके, जो कि ट्रस्ट के सम्भाव्य उद्देश्यों में एक संग्रह का भी काम है, उसके लिए जगह मिल जाए। लेकिन ज़रूरी नहीं कि उसके लिए भवन बनाया ही जाए। उसके लिए अगर रियायती किराये पर भी जगह मिल जाए, तो भी मैं उससे बिलकुल सन्तुष्ट हूँ।

जो आरकाइव बनाने की योजना है जिसकी तरफ़ शायद आप संकेत कर रहे हैं, उस आरकाइव के लिए मात्र कहना चाहिए कि लिखित साहित्य की ही व्यवस्था होगी, या जो वाचिक परम्परा में जुड़ा हुआ साहित्य है, उसकी भी?

ऐसा मैं कई वर्षों से सोचता रहा कि ऐसी भी जगह होनी चाहिए जहाँ

वाचिक के टेप बनवाकर सुरक्षित रखे जाएँ, लोग सुन भी सकें उनको। पांडुलिपियों में पुरानी पांडुलिपियाँ नहीं, जो आज लोग लिख रहे हैं उनको। इस तरह ये चीज़ें भी अगर उपलब्ध हों तो उनको भी संग्रह करके रखा जाए, इस सबके लिए कोई उपयुक्त जगह हो।

इसमें साहित्य ही मात्र लक्ष्य रहेगा, या अन्य कलाओं को भी उसमें आप सम्मिलित करना चाहते हैं?

यह तो जो न्यासधारी होंगे, उनकी समझ में जो आएगा, उसकी सीमाओं के भीतर वे करेंगे।

वैसे आपकी परिकल्पना में क्या ऐसा भी है कि साहित्येतर विषय की कलाओं को इसमें शामिल किया जा सके। मान लीजिए कि आप किसी को छात्रवृत्ति देना चाहते हैं या फेलोशिप देना चाहते हैं तो किसी चित्रकार को भी यह छात्रवृत्ति या फेलोशिप दी जा सकती है?

नहीं, इतने तो साधन नहीं हैं, इसलिए वैसा विस्तार तो बहुत ठीक नहीं समझता। साहित्य से जुड़ी हुई कोई बात हो तो इतना ही कह सकता हूँ कि वह त्याज्य नहीं होगी। लेकिन शुद्ध चित्रकला, संगीत या मूर्तिकला वगैरह के लिए मेरा विचार नहीं है।

मगर कई बार ऐसा होता है कि कुछ विधाएँ एक-दूसरे को काटती हुई भी चलती हैं या अनुभव-संचय की जो बात आपने की है। अगर इस तरीके से इस न्यास का क्षेत्र व्यापक कर दिया जाए, तो हर्ज क्या है इसमें?

कोई हर्ज नहीं। उसके लिए साधन तो हों। लेकिन राइटर के लिए अनुभव-संचय की बात है तो यह अनुभव, जो कि राइटर के लिए आवश्यक है, वह तो इसमें आ ही जाएगा।

साहित्य में ही मान लीजिए जो अनेक विधाएँ हैं—कविता, कहानी, उपन्यास या नाटक—इसमें भी कोई सीमा रेखा रहेगी या?

नहीं, इसमें कोई सीमा रेखा नहीं है बल्कि यह प्रश्न भी स्पष्ट किया गया है कि राइटर का अर्थ उदार से उदार जितना लिया जा सकता है वह होगा और ये सब साहित्यिक विधाएँ हैं ही, इनमें तो कोई कठिनाई होनी नहीं चाहिए।

वैसे इसमें पुरस्कार की भी योजना है कि पुरस्कार भी दिया जाए अच्छी कृतियों को?

नहीं।

आजकल मिलने वाले पुरस्कारों के बारे में आपका क्या खयाल है?

क्या जरूरत है उसके बारे में अलग से खयाल बताने की। उनमें यह खयाल है और इतना कहना संगत भी है कि अगर उनकी प्रतिक्रिया गोपन न हो, जो निर्णायक हैं उनके नाम भी सामने आएँ और जो उनकी प्रशस्तियाँ हैं वे भी सामने आएँ, तब मैं समझता हूँ कि पुरस्कार की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। क्योंकि जैसा मैंने बार-बार कहा है कि पुरस्कारों का महत्त्व इस बात से नहीं होता कि उसके साथ रकम या सुविधा क्या मिलती है, इन बातों से होता है कि किन लोगों के निर्णय से वह पुरस्कार दिया गया और निर्णय मे उन्होंने उसमें क्या गुण देखे और उनकी दृष्टि कहाँ तक प्रामाणिक है। इसी से पुरस्कार का सम्मान बनता है।

कुछ पुरस्कार तो ऐसे मिलने लगे हैं जहाँ कि कहना चाहिए सदाव्रत जैसे बाँटा जाता है। इससे पुरस्कार की महिमा घटती है; यहाँ तक कि पुरस्कार स्वीकार करने वाले की भी महिमा उसमें घटती है। ऐसे पुरस्कारों के बारे में आपका क्या खयाल है?

यह तो आपने राय दे ही दी

नहीं, अगर आप उससे सहमत हैं तो मैं भी मानूँ कि मेरी राय ठीक है मैं इसलिए आपसे जाँचना चाहता हूँ।

ऐसे पुरस्कार तो ज्यादातर सरकारी संस्थाओं के द्वारा दिये जाते हैं। उनको यह समझना चाहिए कि सरकार रुपये बाँट रही है और रुपये की एक उपयोगिता है, बस!

न्यास की तरफ़ से कोई पत्रिका निकालने की भी योजना पर आपने विचार किया?

अभी तो मैं कहूँगा कि विचार कर रहे हैं। उसे पत्रिका कहें या पुस्तक जैसी कोई चीज़ कहें। वर्ष में एक या दो बार एक ऐसा प्रकाशन हो, जिसका उद्देश्य कृति साहित्य सामने लाना उतना नहीं जितना कि उसके लिए एक प्रतिमान उपस्थित करना हो। इस समय तो हिन्दी में एक भी साहित्यिक

पत्रिका नहीं है और इसलिए कोई प्रतिमान स्थापित किया जा रहा हो या कोई साहित्यिक निकष हो, ऐसा भी नहीं है। मुझे लगा कि इस परिस्थिति में लिखा तो जा रहा है, लेकिन उसके परीक्षण और मूल्यांकन के लिए मानदंडों की स्थापना का काम नहीं हो रहा है। मुझे इसकी उपयोगिता ज्यादा मालूम हुई कि ऐसा कोई प्रकाशन हो। अब वह नियतकालिक हो या अनियतकालिक हो, इसका उतना महत्त्व नहीं है और बहुत ज्यादा अंक उसके एक साल में निकलेंगे तो शायद उसके लिए सामग्री भी नहीं मिल पाएगी। इसलिए मैं सोचता हूँ कि एक या दो का आयोजन करना चाहिए और अभी जो खोज हो रही है, उसमें यह भी है कि अगर किसी प्रकाशक से इस तरह का सहयोग हो जाए कि प्रकाशन के लिए सामग्री हम सम्पादित करके दे दें और उसके बाद जितना जो व्यवसाय का पक्ष है, वह सँभाल ले, तो न्यास के ऊपर बहुत अधिक बोझ नहीं होगा और काम भी सब आसानी से हो जाएँगे। लेकिन कहना चाहिए कि अभी यह पड़ताल की ही स्थिति में है।

मैं यहाँ मानूँ कि वह प्राय: आलोचना की या समीक्षा की किताब होगी। किताब कहना ही उचित समझेंगे। जो छह महीने में या साल में एक बार निकलेगी।

आलोचना की या आलोचनाशास्त्र की भी।

मगर क्या उससे बेहतर यह नहीं होगा कि जिन कसौटियों को आप निर्धारित कर रहे हैं, उन्हीं कसौटियों पर खरा उतरने वाला साहित्य भी उसमें जुड़ता चला जाए?

यह भी हो सकता है, लेकिन जितना-जितना काम सम्भव हो उसको शुरू करके बढ़ाया जाए, तो ठीक है।

मगर जब कसौटी निर्धारित की जा रही है तो उसी सन्दर्भ में समकालीन लेखन को स्थापित भी करते चलें या उस में स्थान भी देते चलें, तो शायद उन लोगों के लिए भी वह पत्रिका या बुलेटिन या जर्नल महत्त्वपूर्ण हो सकेगा, जो मात्र समीक्षा में या मात्र कसौटी के बारे में जानकारी लेने में दिलचस्पी नहीं रखते, जो उस साहित्य को, कृति साहित्य को, पढ़ना चाहते हैं उनके लिए भी वह उतना ही उपयोगी हो सकता है?

ना, इतना स्थान भी नहीं होगा और साल में एक या दो बार आपने कुछ ऐसी

रचनाएँ उपस्थित कर भी दीं, तो उसका उतना असर नहीं होगा। सम्भावना ज्यादा यह होगी कि जैसे रचना साहित्य की पत्रिका में आलोचना या समीक्षा होती है, तो वैसो वह हो।

* * *

परिशिष्ट : एक

सीता निवास,
बनारस-5
अप्रैल 5,1954

प्रिय अज्ञेय जी,

अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि मैंने इधर आपको कई कई पत्र दिये किन्तु एक भी उत्तर नहीं। ब्लाकों की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि विश्वविद्यालय इस समय कला भवन का एक एलबम निकलवा देने को प्रस्तुत है। कृपया इस ओर दत्तचित हूजिए।

पत्र वाहक श्री वरुआ जी एक बड़े उत्साही नवयुवक हैं और दद्दा का समादर ग्रन्थ निकालने के लिए कृतसंकल्प हैं।

मैं निम्नलिखित शर्तों पर उन्हें अपना सहयोग देने के लिये प्रस्तुत हूँ—

1. इस कार्य के लिए एक प्रतिष्ठित प्रतिनिधि समिति संगठित की जाये जिसमें सीतारामजी सेक्सरिया और भागीरथजी कानोड़िया अवश्य रहें।
2. सम्पादक मंडल में बरुआ जी का होना नितान्त आवश्यक है। साथ ही मेरे सन्तोष और सहयोग के लिए मोहन सिंह सेंगर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, और सर्वोपरि अज्ञेय अवश्य रहें। बिना इन तीनों व्यक्तित्वों के मैं किसी प्रकार का सहयोग देने में असमर्थ रहूँगा।
3. मैटर के अन्तिम एरेंजमेंट, चित्रों के चुनाव और ग्रन्थ की साज-सज्जा का भार एक-कलम अज्ञेय पर रहेगा और उनके सहायक रूप सर्वश्री अम्बिका प्रसाद दूबे, आनन्दकृष्ण, विजयकृष्ण और कृष्णदास काम करेंगे। किसी पाँचवें व्यक्ति का हस्तक्षेप इस विषय में मुझे स्वीकार वा सह्य न होगा।
4. योजना बहुत भारी भरकम न बनाकर ऐसी सुबुक और सुन्दर बनायी जाए कि वह चल जाय। साथ ही वह दद्दा की पद-मर्यादा के अनुरूप गौरवशालिनी भी हो।

आशा है, आप मेरी बातों से सहमत होंगे और इसमें जो कुछ छूट वा कमी रह गयी होगी, उसकी पूर्ति कर देंगे। मैंने ऊपर जो नाम दिये हैं उनके अतिरिक्त सम्पादक मंडल और परामर्श मंडल में जो भी विशिष्ट नाम उचित हों, अवश्य रखे जाएँ। किन्तु कार्य का विकेन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए।

श्रीबरुआ जी लगभग पन्द्रह दिन यहाँ रहे हैं। उनमें कार्यनिष्ठा और कार्यशक्ति दोनों हैं। इस समय में उन्होंने दद्दा के पूरे पौने दो सौ पत्र टाइप किये और उनके आरम्भिक अंश पर मेरा दीबाचा भी लिया। उन्हें दिल्ली जाना है अन्यथा मैं इन सभी पौने दो सौ पत्रों पर टिप्पण लगवा देता। मैंने उन्हें सलाह दी है कि दद्दा को यह सामग्री दिखा कर उनका आदेश प्राप्त करें, क्या इसमें से अभी प्रकाश में आवे, क्या नहीं। आप भी इस सम्बन्ध में उचित परामर्श दीजिएगा और स्वयं सब बातें दद्दा से डिस्कस कर लीजिएगा। मैं जानता हूँ कि वे उस स्तर पर पहुँच गये हैं जहाँ से 'स्व' के विषय में भी तटस्थ सम्मति दी जा सकती है। कृपया यह पत्र दद्दा को सुना दीजिएगा।

दिल्ली में बरुआजी दद्दाकी एक मृवी तैयार कराना चाहते हैं। इस कार्य में भी आपका पथ-प्रदर्शन आवश्यक होगा, उसे प्रदान कीजिएगा।

शेष प्रसन्नता।

स्नेही,
रायकृष्ण दास

श्री अज्ञेय
नयी दिल्ली

●

श्री .

चिरगाँव
12.2.51

प्रियवर,

आपके अस्पताल में होने की बात जानकर चिन्ता में था कि दद्दा के नाम आपके पत्र को पढ़कर कुछ चिन्ता मिटी। कुछ ही। क्योंकि श्रीनिवास से कही वह बात ध्यान में है कि अच्छा हूँगा तो फिर भेड़ाघाट का स्नानार्थी (भेड़ा?) बनूँगा। आप समझते हैं कि आप बौद्धिक हैं, इसलिए 'भेड़ा' नहीं बन सकते। पर ऐसी दु:साहसिकता, जिससे आप अपने बन्धुओं को चिन्तित ही करें क्या किसी ख्याति वाञ्छा का 'भेड़ा' बनना नहीं है? मैं तो समझता हूँ, है। पर यह अप्रिय प्रसंग जाने दूँ। पत्र लिखकर कुछ चिन्ता दूर कर दी, इस समय यही बहुत है।

भैया कल इलाहाबाद-काशी के लिए प्रस्थित हुए। मैं भी तैयार था, पर जी

नहीं बोला। आपका पत्र उनके पास भेज रहा हूँ। सुमित्रा भी उनके साथ ही गये हैं।

मैं इधर दूसरे काम में लगा हूँ। इसलिए 'प्रतीक' के लिए कुछ दिन की और छुट्टी रहेगी।

'जयदोल' मिल गया। एक कहानी पढ़ी। नाम नहीं बताऊँगा। इसमें योग्यता का परदा खुल जाने से बच जाता हूँ। पर इधर बहुत समय से ऐसी सुन्दर कहानी नहीं पढ़ी थी। परसों पढ़ी थी। लगता है, कोई बढ़िया आम खाने को मिला था। दो दिन होने को हैं, पर बीच-बीच में उसकी सुगन्धित डकार से जी प्रसन्न हो जाता है।

सस्नेह,
सियारामशरण
16.11.62

●

आदरणीय,

आपका 4 तारीख का कृपा पत्र मिला। आपके संकेत के अनुसार द्वारा श्री आर.एस.मलिक, 5/90, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली के पते पर हमने सेम्पोजियम वाले अंक की चार प्रतियाँ भिजवा दी हैं। आप दिल्ली लिख दें जिससे कि फिलीपीन लेखक को वे प्रतियाँ वहाँ से भेज दी जाएँ।

पुस्तक योजना के लिए जो सूचनाएँ आपने दी थीं उन्हें यथाविधि तुरन्त पुस्तक योजना विभाग को दे दी है। इस सम्बन्ध में आपको अलग से पत्र मिलेगा। उस विभाग से भी पता चला कि 'नदी के द्वीप' के बारे में अनुबन्ध पत्र ता. 24.10.62 को रजिस्ट्री से यहाँ से भेजा गया था। आशा है आप को मिल चुका होगा।

भारती जी अभी छुट्टी पर हैं। आते ही वे आपको लिखेंगे। धर्मयुग के उपयुक्त वहाँ से कोई सामग्री भेजने की कृपा कीजिएगा।

आपका
नन्दन

श्री स. ही वात्स्यायन,
एन.ई.लांग्वेजेस, युनिवर्सिटी केलिफोर्निया,
बर्कले-4

●

16 नवम्बर, 1962

श्री स.ही.वात्स्यायन,
कैलिफोर्निया, यू.एस.ए.

प्रिय महोदय,

आपका दिनांक 9-11-62 का पत्र मिला। धन्यवाद। शीघ्र ही आपका प्रस्ताव अधिकारियों के सम्मुख विचारार्थ रखा जाएगा और निर्णय की सूचना यथा समय दी जाएगी।

'नदी के द्वीप' के अनुवाद के सम्बन्ध में जो अनुबन्ध पत्र हमने आपके पास भेजा था उसके सम्बन्ध में आपने अपने पत्र में कुछ भी नहीं लिखा है। क्या वह रजिस्ट्री अब तक आपको नहीं मिली? इस सिलसिले में, नन्दन जी से सूचना मिलने पर, हमने 14 नवम्बर को एक और पत्र आपको भेजा है। आशा है अनुबन्ध पत्र पर हस्ताक्षर कर शीघ्र ही उसे लौटाने की कृपा करेंगे।

भवदीय

विश्वंभर श्रीवास्तव
कृते धर्मवीर भारती
सम्पादक, पुस्तक योजना

●

अज्ञेय का पत्र केदारनाथ अग्रवाल के लिए

मेरा पता : पोस्ट बॉक्स 864
नयी दिल्ली
25.3.53

प्रिय केदार जी,

आपका 10.2.53 का पत्र मिला था। उस समय कार्य व्यस्थ होने के कारण केवल आवश्यक कार्रवाई करके रह गया, पत्र की इतर बातों का उत्तर, सोचा, बाद में निजी तौर पर दूँगा।

आप, जान पड़ता है, हर बार अप्रासंगिक बातें करके 'स्पष्टवादिता' की दुहाई दे लेते हैं। अब स्पष्टवादिता के नाम पर दो एक बात मैं भी कहूँ तो क्षमा करें।

आपका पत्र उस कुंठित मनोवृत्ति का परिचायक है जो, खेद के साथ कहना पड़ता है, अधिकतर 'प्रगतिवादी' लेखकों की होती है। वे स्वत: अपने को सबकी ओर से बन्द करके, पूर्वग्रहों और आधारहीन विश्वासों धारणाओं का पुंज बन कर,

दूसरों को दोष देने चलते हैं और स्वयं नहीं देखते कि वे किस संकीर्णता के शिकार हैं।

रेडियो की बात नहीं कहता— उसके बारे में भी आपकी धारणाएँ भ्रान्त हैं ऐसा समझता हूँ, पर उसकी सफाई देने से मुझे क्या मतलब? वह स्वयं जाने। पर आप को सर्वत्र कुचक्र क्या इसीलिए नहीं दीखता कि आपने अपने को यह विश्वास दिला लिया है कि जिसे आपने 'दुश्मन' गिन लिया वह ज़रूर कुचक्री भी होगा ही?

मेरा पत्र पाकर आपकी 'स्वाभाविक प्रक्रिया' यह हुई कि आप 'उपेक्षा कर जायें' और 'उन महामानी अज्ञेय' को लिख दें कि उनका 'आप पर कोई अधिकार नहीं है।' धन्य है इस प्रक्रिया की 'स्वाभाविकता'। मैं आपसे पूछ सकता हूँ, कब कोई ऐसी बात हुई जब आप ने सौजन्य प्रकट किया हो और 'अज्ञेय' ने उपेक्षा की हो? बल्कि इससे उलटे उदाहरण ही कदाचित् गिनाये जा सकते। एक पत्र का उत्तर देने के लिए आपको 'महामानवतावाद' की ज़रूरत पड़ी— साधु, साधु हे महामानव, जिसने उस आकाशभेदी पीठिका से उत्तर कर इस निरे मानव की ओर झाँका।

आपने मुझ से अपनी पुस्तकें न भेजने की शिकायत की है। स्वयं आपने कभी पुस्तक भेजी, यह नहीं पूछूँगा, क्योंकि मैं साहित्यिक मात्र से नहीं माँगता, केवल स्नेहियों से माँग सकता हूँ। मैं अपने स्नेही जनों को पुस्तकें स्वयं भेजता हूँ, वह स्नेह की अभिव्यक्ति होती है। साहित्यिकों में भी उन्हें भेजता हूँ जो पढ़ेंगे या पढ़ना चाहेंगे। आप इस श्रेणी में हैं, इसका कभी कोई संकेत नहीं मिला। यह जानता हूँ कि आपकी बिरादरी के लोग गालियाँ देते हैं और मुझे निरन्तर isolate और liquidate करते रहते हैं क्योंकि मैं (आप ही के शब्दों में!) 'दुश्मन' जो ठहरा— पर चोरी छिपे मेरी पुस्तकें पढ़ते हैं, अधिकतर गालियाँ देकर अपना 'धर्म' निबाह चुकने के बाद। यह जानता तो हूँ, पर इसके लिये किताबें बाँटने का दम्भ क्यों करूँ? आपको मेरे संग्रह में अपनी कविताएँ देने या न देने के प्रश्न पर 'अनुमति' लेनी पड़ी थी। मेरा साहित्य पढ़ने की अनुमति आपने ले ली? मुझे सूचित कीजिएगा, कौन-सी पुस्तक पढ़ने की अनुमति मिली, कौन सी आप पढ़ना चाहेंगे, मैं सहर्ष भेजूँगा। यह जानते हुए भी, कि उसके बाद आपको उसके सम्बन्ध में क्या राय प्रकट करनी होगी।

इस समूचे पत्र को धृष्टता न समझें स्पष्टवादिता है, पर विनीत। आपके मानसिक स्वास्थ्य की जिसका पहला लक्षण है स्वतन्त्र चिन्तन मुझे बहुत चिन्ता है, उसकी रक्षा और वृद्धि की कामना करता हूँ।

आशा है आप प्रसन्न हैं।

शुभैषी
(ह. वात्स्यायन)

अज्ञेय का पत्र राजेन्द्र मिश्र के लिए

1 दिसम्बर, 1986

प्रियवर,

आप का पत्र पाकर एक सुखद आश्चर्य हुआ। आप को और अर्चना जी को याद करता रहता हूँ और ध्यान आता रहता है कि वर्षों से भेंट नहीं हुई है। अब 1987 में भेंट होने की सम्भावना कर रहा हूँ लेकिन अभी कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं बना है। इस बीच एक बार झाँसी चिरगाँव जाने की आशा करता हूँ पर उसका भी कोई पक्का कार्यक्रम अभी नहीं बना है। छतरपुर में दद्दा की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की बात हो रही है, उस अवसर पर जाना सम्भव हुआ तो वहाँ जाऊँगा।

आप की पुस्तक की योजना से थोड़ा कौतूहल हुआ। यों पुस्तकों में जो छपा हुआ है, विशेषकर उन पुस्तकों में जो अभी उपलब्ध हैं और जिनके लेखक अभी स्वयं अप्रासंगिक नहीं करार दे दिये गये हैं (जैसा कि मध्य प्रदेश में मैं) उसी को फिर से संग्रहीत कर देना विशेष उपयोगी तो नहीं जान पड़ता थोड़ी सी सुविधा उस शोधकर्ता को ज़रूर हो जाएगी जो अधिक पढ़ना नहीं चाहता। शायद ज़्यादा अच्छा यही हो कि आपने जिन लेखकों के नाम लिये हैं उन से नये लेख माँगे जायें। चाहे फिर यही हो कि पुराने लेखों को आलोच्य लेखक की बाद की रचनाओं के आधार पर संशोधित संवर्धित कर दिया जाये।

पुस्तकाकार छप चुके लेखों की बात ही हो तो दो-एक नाम और जोड़े जा सकते हैं। और अगर पुस्तक का बन्धन न हो, पत्र-पत्रिकाओं की बात भी सोची जा सकती हो तो कुछ नाम और भी जोड़ सकते हैं। आप की सूची के अलावा जिन लेखकों की आलोचनाएँ मुझे सविवेकपूर्ण लगी हैं उन में पं. विष्णुकान्त शास्त्री, डॉ. नन्द किशोर आचार्य, डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, श्रीमती राजी सेठ, डॉ. महेन्द्र मधुकर, डॉ. निर्मला शर्मा, डॉ. महाराज कृष्ण वोहरा के नाम ले सकते हैं। यों तो हरिशंकर परसाई, नागार्जुन, नवल, कमलेश्वर आदि की भी आलोचनात्मक दृष्टियाँ हैं जिन की बानगी आलोचना ग्रन्थ के पाठकों को मिलनी चाहिए। लेकिन मैं शायद अधिक कुछ कह गया-- आपने जितनी राय माँगी थी उससे आगे चला गया। ऐसा हुआ हो तो उतनी बात को भुला दें।

आशा है आप सपरिवार प्रसन्न हैं। अर्चना जी को मेरा सादर नमस्कार दें।

आपका

(सच्चिदानन्द वात्स्यायन)

डॉ. राजेन्द्र मिश्र,

रायपुर (म.प्र.)

अज्ञेय (स.ही. वात्स्यायन, 1911–1987) का प्रकाशित कृतित्व

काव्य

भग्नदूत (1933)
चिन्ता (1942)
इत्यलम् (1946)
प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स (अँग्रेज़ी में, 1946)
हरी घास पर क्षण भर (1949)
बावरा अहेरी (1954)
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (1957)
अरी ओ करुणा प्रभामय (1959)
आँगन के पार द्वार (1961)
कितनी नावों में कितनी बार (1967)
क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (1968)
सागर-मुद्रा (1969)
पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (1970)
महावृक्ष के नीचे (1977)
नदी की बाँक पर छाया (1981)
ऐसा कोई घर पर आपने देखा है (1986)
सदानीरा (दो जिल्दों में, 1929 से 1980 तक की सम्पूर्ण कविताएँ, 1986)
सर्जना के क्षण (संकलन, 1979)

उपन्यास

शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग (1940-41)
शेखर : एक जीवनी, दूसरा भाग (1944)
नदी के द्वीप (1951)
अपने-अपने अजनबी (1961)

कहानियाँ
विपथगा (1937)
परम्परा (1944)
कोठरी की बात (1945)
शरणार्थी (1948)
जयदोल (1951)
अमरवल्लरी (1954)
ये तेरे प्रतिरूप (1961)
कड़ियाँ (1971)
छोड़ा हुआ रास्ता (सम्पूर्ण कहानियाँ- 1)
लौटती पगडंडियाँ (सम्पूर्ण कहानियाँ-2)
मेरी प्रिय कहानियाँ

यात्रावृत्त
अरे यायावर रहेगा याद (1953)
एक बूँद सहसा उछली (1960)

ललित-निबन्ध
सबरंग (कुट्टिचातन् नाम से 1956)
सबरंग और कुछ राग (1982)
कहाँ है द्वारका (1982)
छाया का जंगल (1984)

आलोचना और चिन्तन
त्रिशंकु (1945)
आत्मनेपद (1960)
आत्मपरक (1983)
कवि-दृष्टि (1983) (भूमिकाएँ)
भवन्ती (1972)
अन्तरा (1975)
शाश्वती (1979)
अद्यतन (1977)
संवत्सर (1978)

जोग लिखी (1977)
स्रोत और सेतु (1978)
युगसंधियों पर (1981)

अनुवाद

श्रीकान्त (शरत् के उपन्यास का अँग्रेजी में, 1944)
द रेज़िग्नेशन (जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' का अँग्रेजी अनुवाद, 1946)
गोरा (रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास का हिन्दी में)

सम्पादित ग्रन्थ

आधुनिक हिन्दी साहित्य (1949)
तारसप्तक (1943)
दूसरा सप्तक (1951)
तीसरा सप्तक (1959)
चौथा सप्तक (1978)
पुष्करिणी (1959)
नए एकांकी (1952)
नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ (संयुक्त रूप से, 1949)
रूपाम्बरा (हिन्दी प्रकृति काव्य-संकलन, 1960)
सर्जन और सम्प्रेषण (वत्सल निधि लेखक शिविर, लखनऊ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1984)
साहित्य का परिवेश (वत्सल निधि लेखक शिविर, आबू, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1985)
साहित्य और समाज परिवर्तन (वत्सल निधि लेखक शिविर, वृन्दावन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1986)
सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा (वत्सल निधि लेखक शिविर, बरगी नगर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1986)
समकालीन कविता में छन्द (वत्सल निधि लेखक शिविर, बोधगया, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1987)
स्मृति के परिदृश्य (संवत्सर व्याख्यानमाला, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1987)
भविष्य और साहित्य (वत्सल निधि लेखक शिविर, वृन्दावन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1989)

परिशिष्ट : तीन

अज्ञेय का जीवन वृत्त

नाम सच्चिदानन्द वात्स्यायन
बचपन का नाम सच्चा
ललित निबन्धकार नाम— कुट्टिचातन
रचनाकार नाम— अज्ञेय
(जैनेन्द्र-प्रेमचन्द का दिया नाम है अज्ञेय)
माता-पिता— व्यन्तो देवी - पंडित हीरानन्द शास्त्री

1911 (7 मार्च) जन्म कुशीनगर (कसया) जिला देवरिया (उ.प्र.) में एक पुरातत्व उत्खनन शिविर में।

1915 बचपन लखनऊ में, संस्कृत मौखिक परम्परा से शिक्षा का आरम्भ।

1919 श्रीनगर एवं जम्मू में, संस्कृत, फारसी और अँग्रेज़ी की प्रारम्भिक शिक्षा।

1921 उडुपी (नीलगिरि) में मध्वाचार्य संस्थान में यज्ञोपवीत संस्कार।

1925 नालन्दा एवं पटना में स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल, राय बहादुर हीरालाल और स्व. राखालदास बन्द्योपाध्याय का सम्पर्क मिला।
स्व. राखालदास बन्द्योपाध्याय से बाँगला सीखी।
सन 1921 में माँ के साथ जलियाँवाला कांड की घटना को लेकर पंजाब यात्रा के फलस्वरूप देशभक्ति का संकल्प और अँग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रति विद्रोह की भावना।
पंजाब से 1925 में प्राइवेट हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की।

1927 इंटर, साइन्स क्रिश्चियन कॉलेज, मद्रास।

1929 बीएससी, फारमन कालेज, लाहौर से प्रथमश्रेणी में प्रथम।
मद्रास में अँग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर एण्ड[illegible] के साथ टैगोर मंडल की स्थापना।
लाहौर में अमरीकी प्रोफ़ेसर जे.बी.बनेड एवं प्रोफ़ेसर डेनियल से सम्पर्क।
लाहौर में क्रान्तिकारी जीवन का श्रीगणेश हिन्दुस्तान रिपब्लिकन पार्टी

से जुड़े चन्द्रशेखर आजाद, भगवतीचरण वोहरा, सुखदेव के सम्पर्क में आने पर हुआ।
पहली, कहानी, 1924 में।

1936 क्रान्तिकारी जीवन।
हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी में सक्रियता।
कहीं पर देवराज, कमलकृष्ण एवं वेदप्रकाश नन्दा से परिचय।
1930 में भगतसिंह को छुड़ाने का प्रयत्न। लेकिन भगवतीचरण वोहरा के एक घटना में शहीद हो जाने के कारण योजना का स्थगन।
दिल्ली में हिमालियन ट्वायलेट्स फैक्ट्री में बम बनाने का कार्य क्रान्तिकारी मित्रों के साथ आरम्भ किया, जिसकी परिणति अमृतसर में ऐसी ही फैक्ट्री कायम करने के सिलसिले में 15 नवम्बर 1930 में देवराज एवं कमल कृष्ण के साथ गिरफ्तारी में हुई।
एक महीने लाहौर जेल में। तत्पश्चात् अमृतसर की हवालात में बन्द रहे।
1931 में अन्य मुकदमा जो 1933 तक चला। दिल्ली जेल में कालकोठरी में बन्दी रहे। इसी बीच 'चिन्ता' काव्य एवं 'शेखर : एक जीवनी' यहीं पर सृजित हुआ। साथ ही 'भग्नदूत' की कविताओं का प्रकाशन।
सन् 1931 में अपने में घर में नज़रबन्द। घर लौटने पर माता की मृत्यु पर दुख तथा पिता की नौकरी से सेवा निवृत्ति।
क्रान्तिकारी जीवन में 'रावी' के तट पर छलाँग लगाने से घुटने की टोपी उतर गयी जिसकी पीड़ा जीवन-भर झेलते रहे।

1936 जीवन में आजीविका की तलाश। 'सैनिक' अख़बार आगरा में श्री कृष्णदत्त पालीवाल के साथ सालभर 'सैनिक' के सम्पादक मण्डल में रहे।
इसी समय किसान आन्दोलन में सक्रिय रहे।
इसी अवधि में रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्रगुप्त, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे तथा नेमिचन्द्र जैन से परिचय हुआ।

1937 पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह पर 'विशालभारत' में गए। लगभग डेढ़ वर्ष वहाँ रहे। यहीं पर पुलिनसेन, बुद्धदेव वसु एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ बलराज साहनी से परिचय में आए।
व्यक्तिगत कारणों से 'विशाल भारत' छोड़कर पिता के पास बड़ौदा रहे।

विदेश जाने का कार्यक्रम युद्ध छिड़ जाने के कारण स्थगित करना पड़ा और रेडियो में नौकरी कर ली। इस दौरान साहित्य के अनेक पक्षों से गहन सम्पर्क हुआ। सन् 1937 में ही 'विपथगा' का प्रकाशन।

1940 जुलाई 1940 में सिविल-पद्धति से बंगाली युवती सन्तोष से विवाह। अनमन होने से अगस्त 1940 में ही सन्तोष से अलग हो गये। सन् 1946 में पूरी तरह विवाह-विच्छेद।

1941 'शेखर:एक जीवनी' का प्रकाशन। हर ओर विरोध और प्रशंसा का दौर।

1942 दिल्ली में अखिल भारतीय फासिस्ट विरोधी सम्मेलन का आयोजन एवं प्रगतिशील लेखक संघ के सदस्यों सहित, कृशनचन्दर एवं शिवदानसिंह के साथ। इसी सम्मेलन में प्रगतिशील गुट का अलगाव। इसी वर्ष 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' का सम्पादन।

1943 'तारसप्तक' का सम्पादन। हिन्दी आलोचना में भूचाल।
सेना में नौकरी-असम में बर्मा फ्रंट पर नियुक्ति।

1944 'शेखर: एक जीवनी' के दूसरे भाग का प्रकाशन।
'परम्परा' का प्रकाशन।

1945 सेना की नौकरी से मुक्ति पाने का आवेदन जो 1946 में स्वीकृत।
'कोठरी की बात' प्रकाशन।

1946 गुरुदासपुर पंजाब में पिता की मृत्यु से भारी धक्का।
मेरठ साहित्य परिषद की स्थापना।
इत्यलम् 'प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोयम्स' एवं जैनेन्द्र के उपन्यास 'त्यागपत्र' का 'दि रिजिग्नेशन' नाम से अँग्रेज़ी अनुवाद का प्रकाशन।

1947-55 इलाहाबाद और फिर दिल्ली से 'प्रतीक' पत्रिका का सम्पादन।
दिल्ली आल इंडिया रेडियो में कार्य। इसी काल में 'बावरा अहेरी', 'नदी के द्वीप', अरे यायावर रहेगा याद' तथा 'जयदोल' का प्रकाशन।
सांस्कृतिक स्थलों का भ्रमण।
'दूसरा सप्तक' का 1951 में सम्पादन।
मानवेन्द्र राय के साथ गहन सम्पर्क तथा प्रभाव।
'थॉट' अँग्रेज़ी पत्रिका सम्पादन।
अँग्रेज़ी पत्रिका 'वाक्' का सम्पादन।

1955-56 यूनेस्को की ओर से भारत-भ्रमण। कपिला मलिक से विवाह।

1957-58 जापान-भ्रमण। जेन बुद्धिज्म का प्रभाव।
'इन्द्रधनुष रौंदे हुए' का प्रकाशन। कुछ समय तक इलाहाबाद में निवास।

1958-60 'तीसरा सप्तक' का 1959 में सम्पादन।
यूरोप-भ्रमण एवं 'पिएर-द क्विर' में मठ में एकान्तवास।

1961-64 'आँगन के पार-द्वार' काव्य संग्रह पर साहित्य अकादेमी, दिल्ली से पुरस्कार।
कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रोफ़ेसर।
'अपने अपने अजनबी' उपन्यास का प्रकाशन।
इस बीच अमेरिकी कवियों के सहयोग से हिन्दी कवियों और अपनी कविताओं के अनुवाद किए।

1964-71 'दिनमान' साप्ताहिक का सम्पादन।
इसी बीच आस्ट्रेलिया, पूर्वी यूरोप के देशों, सोवियत यूनियन एवं मध्य यूरोप के देशों की यात्रा एवं व्याख्यान। 1969 में 'दिनमान' से अलग हो गए। तत्पश्चात् कुछ समय तक बर्कले विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफ़ेसर।

1971-77 सन् 1971-72 में जोधपुर विश्वविद्यालय में 'तुलनात्मक-साहित्य' के प्रोफ़ेसर।
1973-74 में जयप्रकाश नारायण के अनुरोध पर 'एवरी मेन्स वीकली' का सम्पादन।
दिसम्बर 1973 में 'नया प्रतीक' का प्रकाशन-सम्पादन।
अल्मोड़ा के पास उत्तर वृन्दावन में श्रीकृष्ण प्रेम आश्रम में कुछ समय निवास।
1976 में छ: माह के लिए हाइडेलबर्ग जर्मनी विश्वविद्यालय में अतिथि प्रोफ़ेसर।
आपातकाल का गहरा विरोध या उद्विग्नता।

1977-80 प्रमुख हिन्दी दैनिक 'नवभारत टाइम्स' का सम्पादन।
'कितनी नावों में कितनी बार' कविता संग्रह पर 'भारतीय ज्ञानपीठ' पुरस्कार।
1979 में पुरस्कार राशि के साथ अपनी राशि जोड़कर 'वत्सल निधि' की स्थापना— 1980 में।
'चौथा सप्तक' का सम्पादन।

1980-87 'वत्सल निधि' के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष लेखन शिविरों, हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानों एवं रायकृष्णदास व्याख्यानों का आयोजन।
'जय जानकी यात्रा' एवं 'भागवत भूमि यात्रा' का आयोजन। जिसमें

प्रमुख लेखक सम्मिलित होते रहे।
1983 में स्त्रगा-यूगोस्लाविया के कविता सम्मान 'गोल्डनरीथ' से सम्मानित।
1984 में हालैंड के पोयट्री इंटरनेशनल में भागीदारी।
1985 में साहित्य अकादेमी के शिष्टमंडल में चीन यात्रा।
1986 में फ्रेंकफर्ट पुस्तक मेले में शिरकत।
1987 में 'भारत-भारती' सम्मान की घोषणा।
भारत-भवन, भोपाल में आयोजित, 'कवि भारती' समारोह में भागीदारी
4 अप्रैल 1987 की सुबह, दिल्ली में देहावसान।

□□□
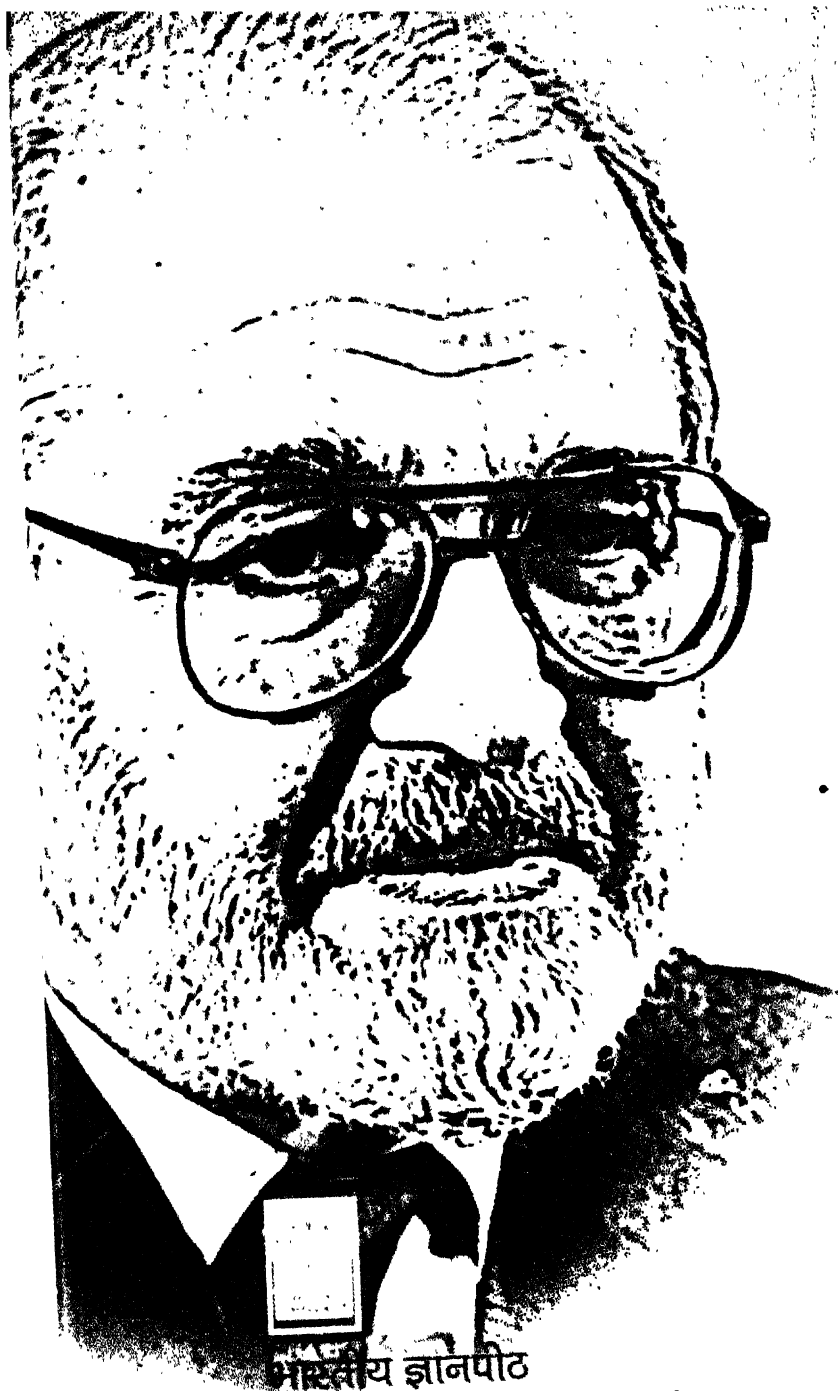
भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन